श्रीपट्टाभिरामाभिनन्दनग्रन्थः

SHRI PATTABHIRAMA FELICITATION VOLUME

श्रीपट्टाभिरामशास्त्री–अभिनन्दनसमितिः, दिल्ली

१९८१

महामहोपाध्याय-शास्त्ररत्नाकर-वेदविशारद
ब्रह्मश्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिपादानाम्

अन्तेवासिभ्यः

श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिभ्यस्तेषां पञ्चसप्ततितमे प्रकाशवर्षे
तच्छिष्यैः सुहृद्भिः प्रशंसकैश्च

समर्पितः—

अभिनन्दनग्रन्थः

SHRI PATTABHIRAMA SHASTRI FELICITATION VOLUME

PRESENTED TO

SHRI PATTABHIRAMA SHASTRI

ON THE OCCASION OF HIS 75th LUMINOUS YEAR

BY HIS

STUDENTS, FRIENDS AND ADMIRERS

श्रीपट्टाभिरामशास्त्री अभिनन्दनग्रन्थ समिति
Shri Pattabhirama Shastri Felicitation Committee

© प्रकाशक
डा० मण्डन मिश्र–संयोजक
श्री पट्टाभिरामशास्त्री—अभिनन्दन-समिति
१०ए/२२ शक्तिनगर, दिल्ली–११०००७

© *Publisher*
Dr. Mandan Mishra, Convener,
Acharya Shri Pattabhirama Shastri
Felicitation Committee
10A/22 Shakti Nagar, Delhi-110007

प्रथम संस्करण . नवम्बर, १९८१

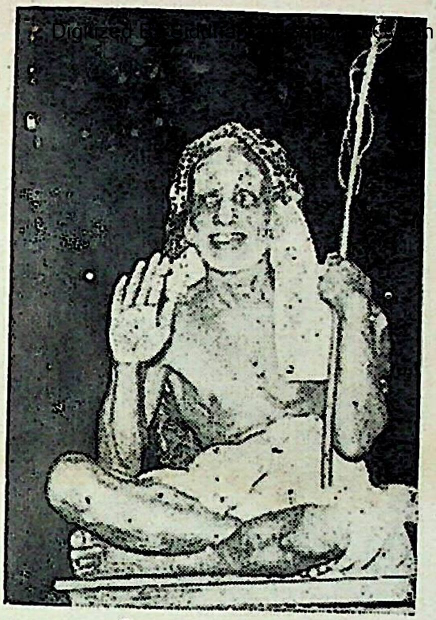
मूल्य : २०० रुपये

First Edition : November, 1981

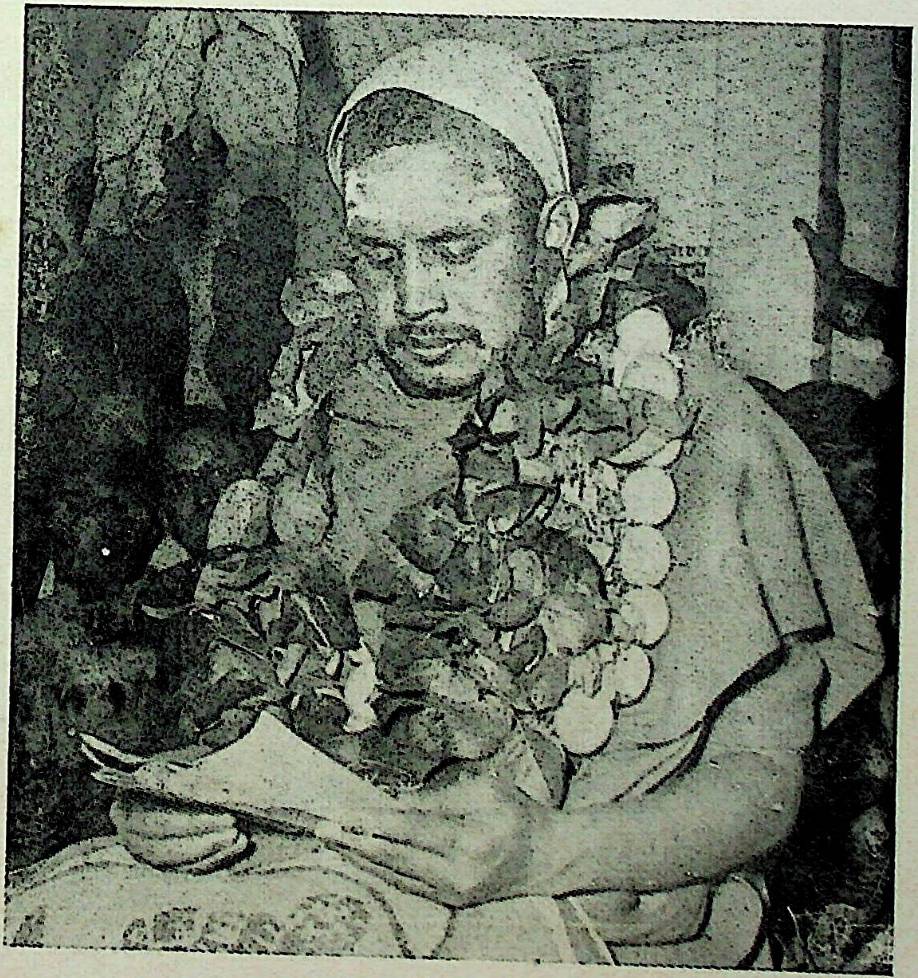
Price : Rs. 200/-

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी।

Printer
Tara Printing Works, Varanasi.



जगद्गुरु श्री काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर
शङ्कराचार्य श्रीचन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती स्वामी जी



जगद्गुरु श्री काञ्चीकामकोटि पीठाधिपति शङ्कराचार्य श्री जयेन्द्रसरस्वती स्वामी जी



ब्रह्मश्री म० म० पं० चिन्नस्वामीशास्त्री जी तथा माता धर्मपत्नी कमलाम्बा जिन्होंने श्री शास्त्री जी को विद्या के साथ साथ सर्वस्व प्रदान किया

श्री पट्टाभिरामशास्त्री अभिनन्दन ग्रन्थ

सम्पादक मण्डल

१. डा० गोरीनाथ शास्त्री
कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

२. डा० आर० एन० दाण्डेकर
अध्यक्ष, अन्ताराष्ट्रसंस्कृतविद्यामहामण्डल, पूना।

३. पद्मविभूषण डा० शिवराम मूर्ति
भूतपूर्व निदेशक, राष्ट्रिय संग्रहालय, जनपथ,
नई दिल्ली।

४. आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल
भूतपूर्व कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

५. डा० रामकरण शर्मा
निदेशक, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान।

६. डा० प्रभाकर नारायण कवठेकर
अध्यक्ष, केन्द्रीय संस्कृत मण्डल, नई दिल्ली।

७. डा० जयमन्त मिश्र, कुलपति, संस्कृत विश्वविद्यालय,
दरभंगा।

८. श्री विद्या भास्कर
भूतपूर्व प्रधान सम्पादक, आज
वाराणसी।

९. डा० रसिक बिहारी जोशी
प्रोफेसर संस्कृत, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

१०. डा० रामचन्द्र द्विवेदी
अध्यक्ष, कला संकाय, राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

११. प्रो० मुकुन्द माधव शर्मा
अध्यक्ष संस्कृत विभाग, गोहाटी विश्वविद्यालय,
गोहाटी।

१२. डा० एम० डी० बालसुब्रह्मण्यम्,
प्राचार्य, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
तिरुपति।

१३. डा० ई० ए० सोलोमन,
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय
अहमदाबाद।

१४. डा० सी० आर० स्वामिनाथन्,
सहायकशिक्षा-सलाहकार (संस्कृत), केन्द्रीय शिक्षा
मंत्रालय, नई दिल्ली।

१५. डा० हेरम्ब चैटर्जी शास्त्री,
प्रोफेसर पाली एवं प्राकृत विभाग, राजकीय संस्कृत
महाविद्यालय, कलकत्ता।

१६. श्री भगवान् दत्त शास्त्री राकेश,
संयुक्त मंत्री, अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा
सम्मेलन, कलकत्ता।

संयोजक

१७. डा० मण्डन मिश्र
(प्रधान सम्पादक)
प्राचार्य—श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली।

१८. डा० रामनारायण चतुर्वेदी
निदेशक—संस्कृत शिक्षा, राजस्थान सरकार,
जयपुर।

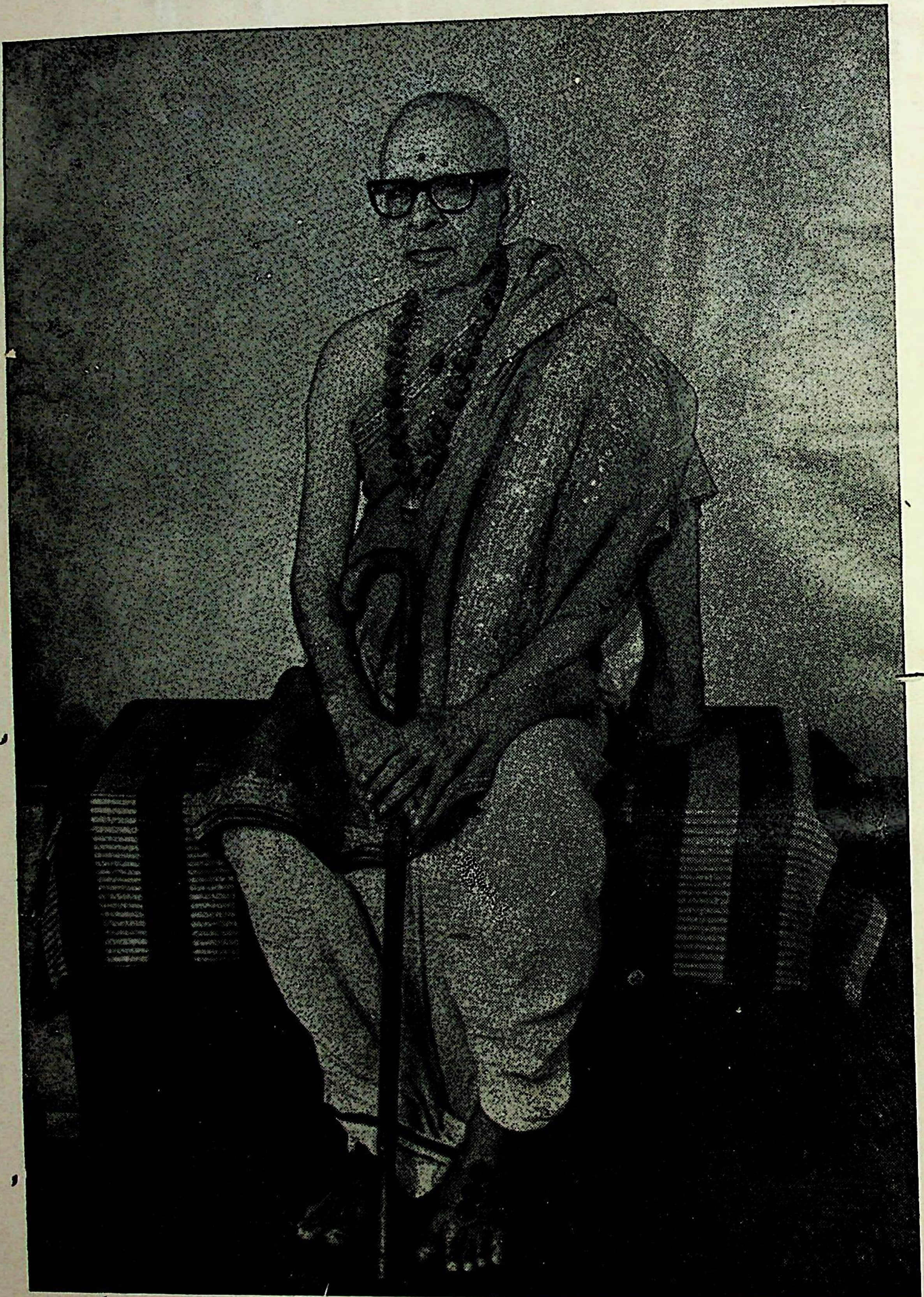
संयुक्त संयोजक

१९. डा० गजानन शास्त्री मूसलगांवकर
(सम्पादक) भूतपूर्व अध्यक्ष, मीमांसा धर्मशास्त्र
विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी।

२०. डा० वाचस्पति उपाध्याय
रीडर, संस्कृत, दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली।

SHRI PATTABHIRAMA SHASTRI FELICITATION VOLUME

EDITORIAL BOARD



पं० पट्टाभिराम शास्त्री, "शास्त्ररत्नाकर"

आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री

(संक्षिप्त परिचय)

पण्डितराज विद्यासागर श्री पट्टाभिराम शास्त्री हमारी प्राचीन परम्परा के विद्वान् हैं। वे दिखावे और प्रदर्शन से दूर रह कर सरस्वती की आराधना करने में विश्वास रखते हैं। उन्होने अपने जीवन का सर्वोत्तम काल पठन-पाठन और अध्ययन में लगाया है। वे संस्कृतसाहित्य, मीमांसादर्शन, योगतन्त्र और वैदिक साहित्य के अथक अध्येता और पण्डित हैं और उन्होंने इन विषयों पर अनेक पुस्तकों की रचना की है। उनकी गणना देश के चोटी के संस्कृत विद्वानों में है और वह वेद, शिक्षा, मीमांसा, योगतन्त्र जैसे दुरूह, जटिल और पांडित्यपूर्ण विषय की व्याख्या करने के पूरी तरह अधिकारी हैं।

श्री पट्टाभिराम शास्त्री का जन्म १९०८ में मद्रास प्रान्त के पैलशूर गांव (कांची मण्डल) में हुआ। बनारस से मीमांसाचार्य, साहित्याचार्य एवं न्यायाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद शास्त्री जी हिन्दू विश्वविद्यालय में सहायक प्रोफेसर और फिर प्रोफेसर हो गए। १९४५ में मालवीय जी ने जयपुर राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री सर श्री मिर्जा इस्माइल के अनुरोध पर उन्हें महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर के प्राचार्य पद पर भेज दिया। १९५२ में उन्होंने कलकत्ता विश्वविद्यालय से मीमांसा आचार्य के रूप में कार्य करने का निमंत्रण स्वीकार किया। इसके बाद वे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्य, मीमांसा और योगतंत्र विभाग के अध्यक्ष नियुक्त किए गए, जहाँ से उन्होंने पहली जनवरी, १९७४ को विश्राम ग्रहण किया। वर्तमान में वे विश्वविद्यालय के संमानित प्राध्यापक के रूप में संस्कृत वाङ्मय की सेवा कर रहे हैं।

शास्त्री जी एक प्रौढ दार्शनिक, रसिक साहित्यकार, सरस अध्यापक, श्रेष्ठ लेखक, प्रभावशाली वक्ता एवं योग्य शासक हैं। उत्तर प्रदेश में मीमांसा प्रचार के अतिरिक्त राजस्थान जैसे विस्तृत प्रदेश में मीमांसा का स्रोत संचार तथा राजस्थान विश्वविद्यालय में प्राच्यविद्या—संकाय एवं राजस्थान सरकार द्वारा संस्कृत निदेशालय की स्थापना कराना उनकी अनुपम देन है। बंगाल में उनके ही प्रयत्न से 'अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन' का अधिवेशन तत्कालीन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसादजी के मुख्य अतिथित्व में सम्पन्न हुआ और उसी सम्मेलन में डा० राजेन्द्र प्रसाद ने उन्हें 'विद्या-वारिधि' की उपाधि से विभूषित किया। भारत के राष्ट्रपति जी ने भी भारत सरकार की ओर से १९७३, ७४ से संस्कृत सेवाओं के उपलक्ष्य में उनको सम्मान प्रमाण-पत्र प्रदान किया। श्रीकांची कामकोटि पीठ के जगद्गुरु शंकराचार्य एवं देश के प्रतिष्ठित विद्वानों ने आपको शास्त्ररत्नाकर और मीमांसा-न्यायकेसरी जैसी उपाधियों से विभूषित किया। जयपुर के महाराजा स्वर्गीय सवाई मानसिंह ने आपको 'विद्यासागर' की उपाधि से सम्मानित किया।

शास्त्री जी केन्द्र और राज्य सरकारों, राजा महाराजाओं, उद्योगपतियों एवं सामान्य जनता के समान रूप से आदर के पात्र रहे हैं। उत्तर प्रदेश संस्कृत एकेडेमी ने १९८० में संस्कृत विद्वानों को दिया जाने वाला पन्द्रह हजार रुपये का सर्वोच्च पुरस्कार उनको प्रदान किया है। केन्द्र सरकार की उच्चतम समितियों के वे सदस्य हैं और भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय ने जयपुर में आयोजित अखिल भारतीय वैदिक सम्मेलन जैसे अनेक समारोहों में अध्यक्ष के रूप में उन्हें आमंत्रित कर सम्मानित किया है। १५ अगस्त, १९८१ को केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित संस्कृत दिवस समारोह में' यह पहला अवसर था जब भारत सरकार ने एक विद्वान को मुख्य अतिथि के रूप में आमंत्रित किया और वे मुख्य अतिथि थे—आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री।

श्री शास्त्री जी ने सैकड़ों गम्भीर विद्वान् तैयार करने के साथ-साथ संस्कृत और भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाली अनेक संस्थाओं को संरक्षण और प्रोत्साहन प्रदान किया है। उन्होंने दक्षिण में जन्म लेकर सारा जीवन उत्तर भारत को समर्पित कर दिया। दाक्षिणात्य होते हुए भी संस्कृत के साथ-साथ उन्होंने राष्ट्रभाषा हिन्दी के साहित्य को भी समृद्ध किया। महामना मालवीय जी के शब्दों में शास्त्री जी 'विद्या एवं विनय की मूर्ति हैं।'

शास्त्री जी ने पचास से भी अधिक ग्रन्थों का लेखन और संपादन किया है। आपकी लेखनी से मीमांसा ग्रन्थों का पुनरुद्धार हुआ है और मीमांसा-वाङ्मय को नवजीवन मिला, यह भी कहा जाय, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वर्तमान में इस वृद्धावस्था में भी वे लगभग प्रतिदिन अध्ययन अध्यापन और लेखन का कार्य कर संस्कृत-साहित्य के अभ्युदय में लगे हैं और "वेद मीमांसा अनुसन्धान केन्द्र" (अखिल भारतीय संस्कृत शिक्षा सम्मेलन) के निदेशक के रूप में वेद और मीमांसा पर विशेष अनुसंधान कार्य करा रहे हैं।

विद्या के साथ बहुत से विद्यार्थियों को आपने भोजन, वस्त्र और पुस्तकों की सुविधा देकर बच्चों की तरह पाला है। इस उपकार में उनकी धर्मपत्नी पूजनीया श्रीमती शारदाम्बा का योगदान विशेष महत्त्व रखता है।

देश के कोने-कोने में आप सैकड़ों स्नातक विभिन्न विश्वविद्यालयों के आचार्य एवं अध्यक्ष, निदेशक, प्राचार्य और प्राध्यापक के रूप में प्रतिष्ठित स्थानों पर विराजमान हैं। वे अद्भुत शिष्य सम्पदा के धनी हैं। विद्वानों के अतिरिक्त अनेक राजा महाराजा, उद्योगपति, राजनेता, विदेशी विद्वान् भी उनके शिष्यों की सूची में सम्मिलित हैं। जो भी उनके सम्पर्क में आया है, वह उनमें प्राचीन आचार्यों के समान श्रद्धा और निष्ठा रखता है तथा आचार्य के रूप में उनकी अर्चना कर अपने को कृतकृत्य समझता।

संस्कृत और भारतीय संस्कृति के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में उनकी सेवाएं अतुलनीय हैं। उनकी लेखनी ने एक ओर तो वेद और दर्शन के गम्भीर से गम्भीर ग्रन्थों पर काम किया है तो दूसरी ओर सामान्य जनता को संस्कृत का ज्ञान कराने के लिये प्राथमिक पुस्कें (प्राइमरी रीडर्स) भी लिखी हैं। कलकत्ता और वाराणसी में वे अपने घर पर बालकों, प्रौढ़ों एवं वृद्धों को प्राथमिक संस्कृत शिक्षा देने का काम भी उतनी ही रुचि से करते रहे हैं, जितनी रुचि से वेद पढ़ाते रहे हैं। शास्त्री जी संस्कृत की सैकड़ों संस्थाओं के प्रेरक, संस्थापक, पदाधिकारी और जीवनदाता रहे हैं। भारत के उपराष्ट्रपति श्री बा० दा० जत्ती ने इन्हीं सर्वतोमुखी सेवाओं के लिए श्रीलालबहादुरशास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के मंच से अभिनन्दन पत्र भेंट कर शास्त्री जी को सम्मान प्रदान किया है।

डॉ० मण्डन मिश्र

ACHARYA SHRI PATTABHIRAMA SHASTRI

BRIEF INTRODUCTION

Panditaraj Vidyasagar Shri Pattabhirama Shastri is one of the luminous traditional scholars of India. While keeping himself away from self publicity, Shri Shastri has always been a staunch devotee of goddess Saraswati. He has dedicated his whole life to the acquisition of knowledge and imparting it to others. He is a profound scholar of Sanskrit Literature, Mimamsa-Phiolsophy, Yoga, Tantra, Vedik Literature, and so on. He has written a number of books on these subjects. He occupies an eminent place in the galaxy of Sanskrit scholars and has been rightly held as an authority on a difficult subject like Veda, Shiksha Mimansa, Yoga-Tantra He is perfectly equipped to explain its abstruse texts.

Shri Pattabhiram Shastri was born in Pelasur Village (Kanchi Mandal) of Madras province in 1908. After receiving the degree of Acharya in Mimansa, Sahitya and Nyaya, Shri Shastri was appointed as Asstt. Professor and subsequently as Professor in the Banaras Hindu University. At the request of Shri Mirza Ismail, the then Prime Minister of Jaipur, Pt. Madan Mohan Malaviya asked Shri Shastri Ji to join as Principal of Maharaja Sanskrit College, Jaipur in the year 1945. Shri Shastri was invited by Calcutta University to grace the chair of Mimansa Acharya in 1952. Thereafter, he was appinted as Head of the department of Sahitya, Mimansa and Tantra, in Varanaseya Sanskrit University, from were he retired in January, 1975. Presently, he is serving as honorary Professor in the Sanskrit University and is still enriching Sanskrit Language and Literature.

Shri Shastri Ji is an eminent Philosopher, a refined literature, a devoted teacher, a prolific writer, and fine orator and also an able administrator. In addition to propagating the lore of Mimansa Shastra in Uttar Pradesh, he has introduced the studies of Mimansa in other provinces such as Rajasthan as well. Getting the Oriental Faculty opened in Rajasthan University and also persuading the Rajasthan Govt to establish Sanskrit Directorate there, represent some of his memorable contributions. On account of his efforts, a Session of Akhil Bharatiya Sanskrit Sahitya Sammelan was held at Calcutta where Dr. Rajendra Prasad, the then President of India was the Chief Guest. On the eve of that very function Dr. Rajendra Prasad conferred the title of 'Vidya Vachaspati' on Shri Shastri. In recognition of his services in the field of Sanskrit, Shri Shastri received the certificate of honour from the President of India in the year 1973-74. The Jagat Guru Shri Shankaracharya of Kanchi Kama Koti Peeth and other eminent scholars conferred on him various titles, like **Mimansa-Nyaya Kesari** and **Shastra-Ratnakara**. The late Maharaja of Jaipur, Shri Sawai Mansingh honoured Shri Shatri Ji by conferring on him the title of **'Vidyasagar'**.

Shastri Ji is equally respected by Central and State governments, royal houses, industrialists and the common people. Uttar Pradesh Sanskrit Academy awarded him the highest reward of Rs. 15,000/-in the year 1980. He is Member of top level committees of the Central

Government. The Education Ministry of the Government of India has honoured him several times by inviting him to preside over several functions and conventions like Akhil Bharatiya Vaidic Sammelan. For the first time, the Education Ministry of the Government of India invited a scholar as Chief Guest in the function of 'Sanskrit Divasa' on 15th August, 1981 and that scholar was Shri Pattabhiram Shastri.

Besides preparing hundreds of disciples, and eminent scholars, Shri Shashtri Ji has provided patronage and encouragement to various institutions in the field of Sanskrit and Indian Culture. Though he was born in South, he dedicated his life to the North. Even being a Southerner, he contributed to the development of Hindi Literature in addition to that of Sanskrit. In the words of honourable Late Shri Malaviyaji, Shri Shastri Ji is the embodiment of learning and humility.

Shastri Ji has written and edited more than fifty books. It will, thus, not be an exaggeration to say that he has rediscovered a number of Mimansa texts and Mimansa Shastra has got a new life through his pen.

Even in this ripe old age, he devotes 15 hours daily to the teaching, reading and writing and thus enriching Sanskrit Literature. At present he is directing research project on Veda and Mimansa as Director, Veda-Mimansa Research Centre (Akhil Bharatiya Sanskrit Shiksha Sammelan).

In addition to free coaching, Shastri Ji has been providing the scholars with various facilities such as free boarding, lodging and books and thus treats his students as his own children. In this context, the contribution made by his worthy wife, respected Sharadamba Ji, has its special importance.

Hundreds of his students are serving in different Universities as Heads, Directors, Principals and Teachers all over the country. He has a very prosperous family of learned disciples. In addition to Indian scholars, a number of rulers, Industrialists, Politicians, and Foreign Scholars from the list of his disciples. Who-so-ever happens to come into his contact is very much influenced by him and spontaneously develops serene faith and respect towards him.

His services in the field of the development and propagation of Sanskrit Literature are incomparable. On one hand he has worked on the serious texts like that of the Veda and Philosophy and on the other has written 'Primary Readers' for Sanskrit learners. He had been taking same interest in teaching primary Sanskrit to children, adults and old people at his residence in Calcutta; and Varanasi as he has shown in teaching Philosophy to the scholars. Shastri Ji has been an inspiror, founder, and the organiser of hundreds of Saskrit Institutions. For his many-fold services, Hon'ble Vice-President of India. Shri B. D. Jatti has honoured Shastri Ji by offering him 'The Abhinandan Patra' on the eve of a felicitation function organised by Shri Lal Bahadur Shastri Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, New Delhi.

Dr. Mandan Mishra

श्री पट्टाभिराम शास्त्री अभिनन्दन समारोह

अभिनन्दन ग्रन्थ का समर्पण

मुख्य अतिथि

माननीया श्रीमती इन्दिरा गांधी

अध्यक्ष

पं० कमलापति त्रिपाठी

स्थान

प्रधानमंत्री निवास, नई दिल्ली

२४ दिसम्बर, १९८१ ई०, प्रातः ८-३० बजे

संयोजक

डा० मण्डन मिश्र (प्रधान सम्पादक)

समर्पण समारोह की कार्यवाही

समर्पण

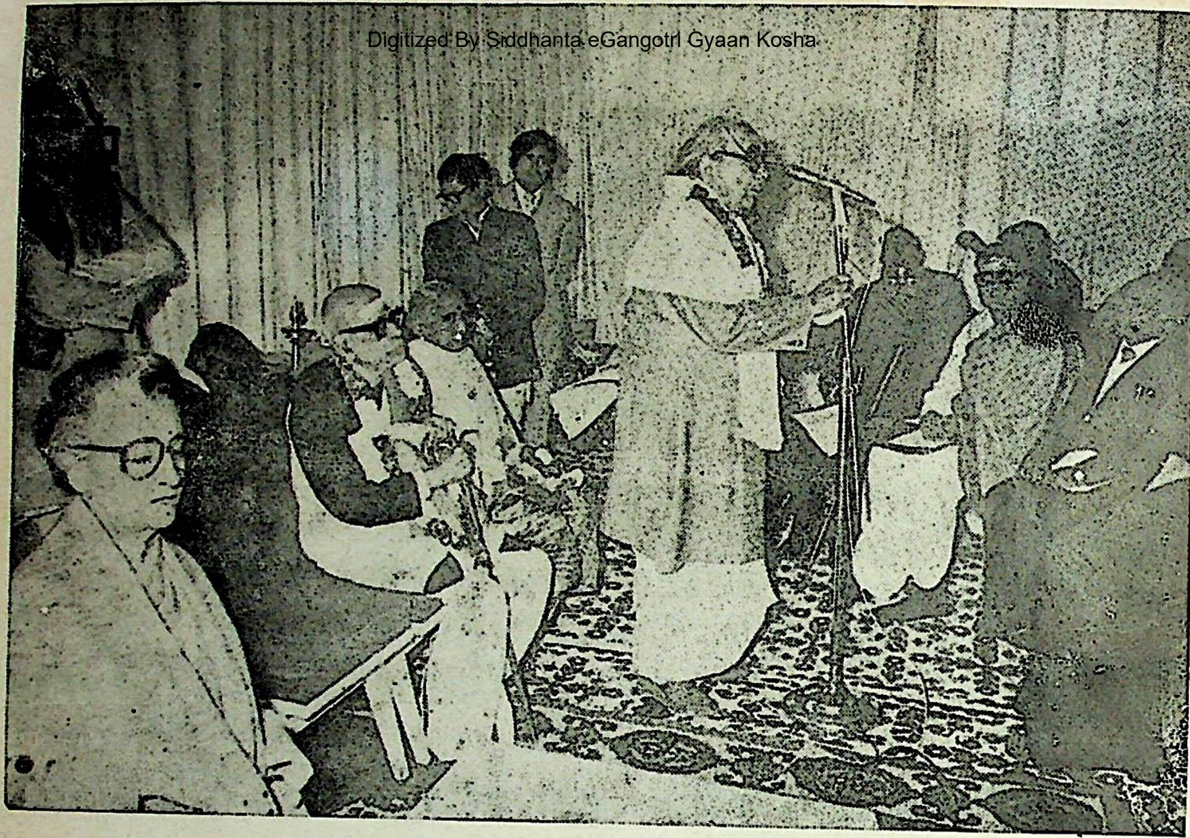
अभिनन्दन ग्रन्थ समारोह का कार्यक्रम दिनांक २४ दिसम्बर, १९८१ ई० को ठीक ८-३० बजे प्रधानमंत्री निवास में प्रारम्भ हुआ। समारोह का स्थल बहुत ही सुरुचिपूर्ण था और प्रधानमंत्री सचिवालय के प्रबन्ध से एक बहुत ही सुसज्जित कक्ष में यह आयोजन किया गया था। माननीया प्रधानमंत्री जी के पदार्पण पर अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष पं० कमलापति जी त्रिपाठी सचिव एवं प्रधानसम्पादक डा० मण्डन मिश्र ने द्वार पर माननीया प्रधानमंत्री जी का स्वागत किया।

समारोह के प्रारम्भ में केन्द्रीय सरकार के संस्कृत के सहायक शिक्षा सलाहकार डा० सी० आर० स्वामिनाथन् ने वैदिक मंगलाचरण किया और कांची मठ की ओर से जिसके कि आचार्य श्री शास्त्री जी परम्परागत शिष्य हैं, शास्त्री जी को प्रसाद और आशीर्वाद समर्पित किया।

अपने स्वागत-भाषण में डा० मण्डन मिश्र ने कहा कि यह भारतीय विद्या और भारतीय संस्कृति का सम्मान है। ग्रन्थ के सम्पादक मण्डल में सारे देश के प्रतिष्ठित विद्वान् शामिल हैं और इसमें संसार के विख्यात विद्वानों के लेख प्रकाशित हैं। इससे ग्रन्थ की गरिमा का परिचय मिल जाता है। श्रद्धेय पं० कमलापति जी त्रिपाठी जैसे महान् मनीषी अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष हैं। इसके अतिरिक्त इस सारे प्रसंग की महिमा के बारे में अधिक क्या कहूँ ? माननीया प्रधानमंत्री जी की उपस्थिति ने वह सब कह दिया है जो कोई भी भाषा या कविता नहीं कह सकती।

इन्हीं शब्दों के साथ मैं माननीया प्रधानमंत्री जी, पूज्य पण्डित जी आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी, माता जी और आप सबका स्वागत करता हूँ।

इसके अनन्तर अभिनन्दन समिति के अध्यक्ष के रूप में पं० श्री कमलापति जी त्रिपाठी और मुख्य अतिथि के रूप में माननीया प्रधानमंत्री जी एवं आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी ने संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित भाषण दिया जो अविकल यहां उद्धृत किया जा रहा है।



अभिनन्दन-समिति के अध्यक्ष पं० कमलापति जी त्रिपाठी अभिभाषण करते हुए



समारोह में उपस्थित विद्वत्मण्डली मुख्यतया डा० (श्रीमती) कपिला वात्स्यायन, (केन्द्रीय संयुक्त शिक्षा सलाहकार) आचार्य श्री बदरीनाथ शुक्ल (भू० पू० कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय) श्रीमती कुमुद जोशी (केन्द्रीय उप-सूचना मंत्री) डा० सत्यव्रत शास्त्री एवं डा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर ।

पण्डित कमलापति जी त्रिपाठी का अभिभाषण

प्रधानमंत्री जी, पण्डित श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी और बन्धुओं !

आज हम एक बहुत बड़े मूर्धन्य विद्वान् की अर्चना करने और उन्हें अभिनन्दन ग्रंथ भेंट करने के लिये यहाँ आयोजन कर रहे हैं। इन्दिराजी ने कृपा की है कि इतना व्यस्त होने पर भी उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार की और यहाँ उपस्थित हैं। पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री का तमिलनाडु के एक गाँव में जन्म हुआ। तिरुपति में शिक्षा ग्रहण की इसके बाद उच्च शिक्षा के लिये काशी गये जो संस्कृत की शिक्षा दीक्षा के लिये स्वयं प्रसिद्ध है। पण्डित जी राष्ट्रीय विचार के प्रगतिशील व्यक्ति और मूर्धन्य विद्वान् हैं। मीमांसा, योग, न्याय और दर्शन जैसे गम्भीर विषयों के अतिरिक्त रसपूर्ण साहित्य के ये प्रकाण्ड पण्डित हैं। सारा जीवन इन्होंने पठन-पाठन में लगा दिया। दक्षिण से शिक्षा ग्रहण कर काशी आये और फिर उत्तर भारत और समस्त देश को अपनी सेवायें अर्पित कर दी। उनके हजारों शिष्य हैं, जो ऊँचे-ऊँचे स्थानों पर बैठे हुए हैं। हिन्दू विश्वविद्यालय में मालवीय जी महाराज इन्हें पकड़ कर ले गये। मालवीय जी महाराज के कहने पर ही ये महाराजा संस्कृत कालेज जयपुर में प्राचार्य होकर गये। कलकत्ता और संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी में रहे। ये विद्वान् तो हैं ही, लेखक भी हैं। पचासों लेख लिखे हैं और सम्मानित हुए हैं। अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन में राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू ने उन्हें विद्यावाचस्पति उपाधि से विभूषित किया। आज उनका अभिनन्दन करने के लिये हम उपस्थित हुए हैं। हमारे देश में जितने प्रयोग हुए हैं और अनुभूतियां हैं वे संस्कृत में सुरक्षित हैं। चाहे धर्मशास्त्र हों, चाहे राजनीति हो, चाहे साहित्य हो, काम शास्त्र हो या अन्य कोई विषय हो, सभी प्रकार की धरोहर संस्कृत में है। इन पण्डितों से हमारा देश उऋण नहीं होगा, जिन्होंने कठिन तपस्या करते हुए, समाज से उपेक्षित होते हुए भी कठिनाई से जीवन विताते हुए भी संस्कृत की रक्षा की, उसको जीवित रक्खा, वह आज भी हमारे उत्तराधिकार में चला आ रहा है। अपनी संस्कृति, संस्कृत और सभ्यता के नाम पर मस्तक ऊँचा कर भारतवासी आज भी उन्हीं के कारण चल पाते हैं। हमारे देश में ही नहीं, आज विदेशों में भी संस्कृत पर काम हो रहा है। यहाँ तक कि विज्ञान के क्षेत्र में, ज्योतिष के क्षेत्र में, दर्शन के क्षेत्र में और हर क्षेत्र में हमने प्रयोग किये हैं, चिन्तन करते रहे हैं और उन सबकी अनुभूतियाँ आने वाली नस्लों के लिये छोड़ गये हैं। मुझे प्रसन्नता है कि इन्दिराजी के नेतृत्व में भारत सरकार ने संस्कृत के विकास के लिये बहुत काम किया है। अभी काशी में संस्कृत का सम्मेलन हुआ—उसमें सारी दुनियां के विद्वान् इकट्ठे हुए। संस्कृत का डाइरेक्टरेट है। प्रकाशन भी किये जाते हैं। दिल्ली में संस्कृत विद्यापीठ की स्थापना हुई और भी ५ विद्यापीठ बने। दिल्ली में लालबहादुर शास्त्री विद्यापीठ प्रसिद्ध संस्था है। मण्डन जी उसके यहाँ बैठे हुए हैं। इन संस्थाओं को बढ़ाने की कोशिश की जा रही है, करोड़ों रूपया खर्च किया जा रहा है। इन्दिराजी के नेतृत्व में उनको और बढ़ाने और विकास करने की दिशा में कार्य चल रहा है। दो तीन संस्कृत के विश्वविद्यालय भी हो गये हैं। एक बनारस में है, एक दरभंगा में है। संस्कृत के विकास की बड़ी चेष्टा भारत सरकार की ओर से हो रही है। पर संस्कृत के पण्डितों की बड़ी दुर्दशा आज भी है। हजारों संस्कृत पाठशालाएँ हैं, जिनमें सैकड़ों पण्डित हैं। प्रातः से सायंकाल तक पण्डित लोग पढ़ाते रहते हैं। विना

भूख, प्यास की और अन्य बातों की चिन्ता किये बिना। उनमें लगन है, त्याग भावना है। उन में उच्च कोटि के सैकड़ों विद्वान् हैं। उन्हें वेतन प्राथमिक विद्यालयों के अध्यापकों से भी कम मिलता है।

संस्कृत हमारी धरोहर है। आज भी हम उपनिषदों के नाम पर गर्व से मस्तक ऊँचा करते हैं। उपनिषदों में गहन चिंतन धारा भरी पड़ी है। उनके लिखने वाले कौन हैं—इसका किसी को पता नहीं। किसी ने अपने विज्ञापन कराने की कोशिश भी नहीं की। संस्कृत का विकास हो, यह हम चाहते हैं। मैं तो यह मानता हूँ कि जब तक संस्कृत न जानिये, आप भारत को नहीं समझ सकते। भारत को समझने के लिये संस्कृत को समझना चाहिये। मैं संस्कृत का विद्वान् तो नहीं, पर मेरी परम्परा संस्कृत की है और मेरी संस्कृत के प्रति बड़ी श्रद्धा है। आज इन्दिराजी को मैंने कष्ट दिया, इसलिये कि पण्डित जी को अभिनन्दन ग्रंथ उन्हीं के हाथ से समर्पित किया जाये, तो देश के एक मूर्धन्य विद्वान् का एक प्रकार से आदर तो होगा ही, साथ-साथ संस्कृत को भी बल मिलेगा। मैं उन से प्रार्थना करता हूँ कि अभिनन्दन ग्रंथ पण्डित जी को समर्पित करें।



अभिनन्दन ग्रन्थ पर हस्ताक्षर करते हुए माननीया प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी जी सामने डा० मण्डन मिश्र (प्रधान सम्पादक) खड़े हैं।

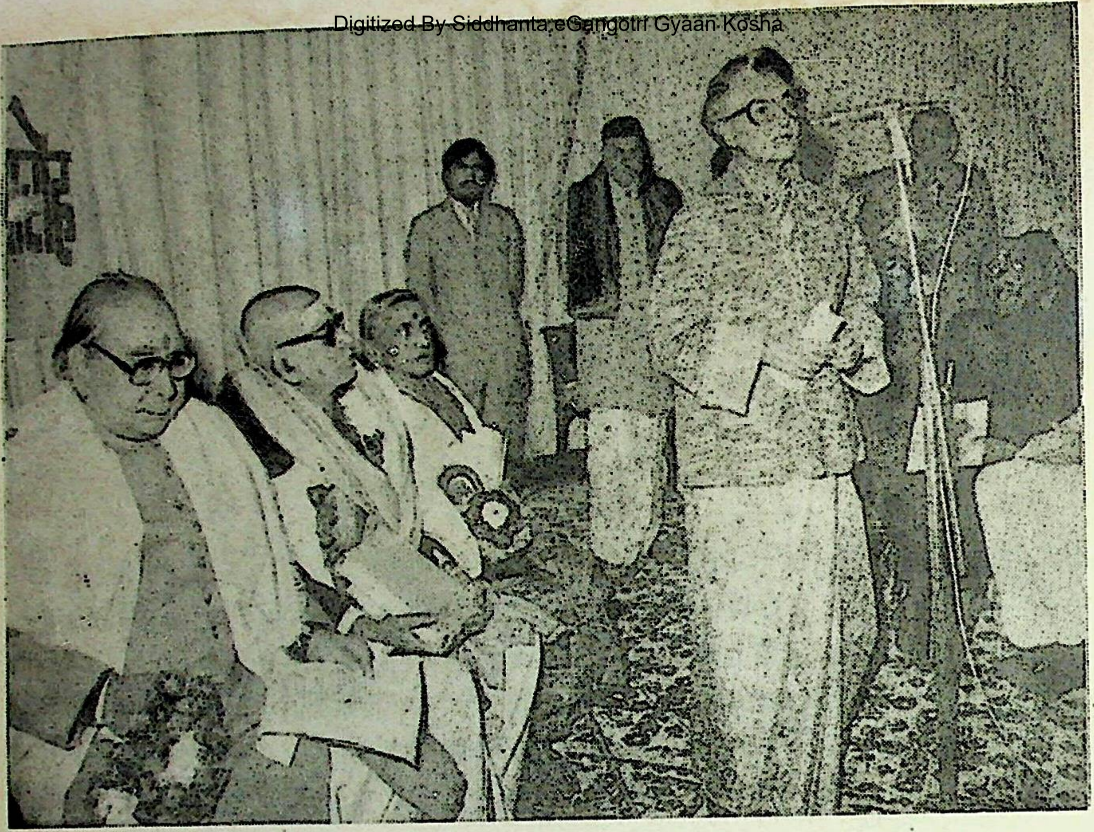
प्रधानमंत्री माननीय श्रीमती इन्दिरा गांधी जी का भाषण

पंडित कमलापति जी, पण्डित जी, उपस्थित सज्जनों, वहनों !

मेरे लिए तो यह वहुत सौभाग्य का और खुशी का अवसर है कि भारत के परम्परा के एक महान् विद्वान् आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री को यह अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का अवसर मिला है। शास्त्री जी का जन्म जैसे पंडित जी ने आपको अभी वतलाया दक्षिण में हुआ। एक प्रसिद्ध विद्या केन्द्र में कांचो मंडल में और वहां से वह एक उत्तर भारत का प्रसिद्ध नगरी वाराणसी में आए जो विद्वानों के लिए एक आकर्षण केन्द्र सदियों से रहा है। वहां पूज्य पण्डित मालवीय जी से उनका सम्पर्क हुआ और मालवीय जी ने जैसा आपको वताया गया है, उनकी प्रतिभा से प्रभावित होके उन्हें जयपुर के महाराजा संस्कृत कालेज के प्राचार्य पद पर भेज दिया। शास्त्री जी ने सैंकड़ों विद्वानों को मार्गदर्शन और प्रेरणा दी है। वे भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ माने जाते हैं। वाणी और शब्दों पर उनका सुन्दर काबू है।

आचार्य जी संस्कृत के एक प्रखर विद्वान् हैं। संस्कृत और भारत के प्राचीन गौरव का अटूट सम्वन्ध है। इसके विषय में पंडित जी ने आपको काफी कुछ कहा ही। हमारा कोशिश तो है कि जहाँ तक वने, संस्कृत को प्रोत्साहन दें। आजकल की दुनिया में इतना ज्यादा सीखने को लोगों के एक भण्डार सा है कि उसमें चुनने में कुछ चीजें कभी पीछे हो जाती हैं, कुछ चीजें आगे हो जाती है लेकिन संस्कृत हमारी सभी मातृभाषाओं में थोड़ा या ज्यादा निवास करती हैं और मातृभाषा अच्छी तरह से जानने के लिए उसकी यह जड़ को अगर पहचानें तो यह स्वाभाविक है कि ज्यादा अच्छी मातृभाषा भी जानेंगे। पहले संस्कृत या दूसरे ऐसे भाषायें कहलाती हैं ग्रीक हैं उनका पढ़ना आवश्यक माना जाता था केवल भाषा की जड़ समझने बूझने के लिए नहीं। लेकिन एक मन की एक डिस्पिलिन होती थी जिससे समझा जाता था कि कोई भी दूसरा विषय सीखे तो उसमें वह तेजी एक गहराई आयेगी जो बिना इसके न हो सके लेकिन आहिस्ता आहिस्ता बाहर के जो बड़े विश्वविद्यालय है, उन्होंने भी लैटिन ग्रीक इत्यादि छोड़ दिया है। यहां सस्कृत के पैर अभी भी जमे हैं और हमारी तो पूरी आशा है कि जमे रहेंगे और आप सब विद्वान् गण पंडित जी दोनों पण्डित जी-जो यहां बैठे हैं, इनका इसमें मार्ग-दर्शन मिलता रहेगा।

आज संस्कृत को गुरू शिष्य परम्परा में पढ़ने की आवश्यकता है। यह हमारी अखण्ड परम्परा का एक स्रोत हैं। शास्त्री जी के जीवन का आदर्श है सादगी और उच्च विचार। उन्होंने अपनी विनम्रता से कई लोगों को प्रभावित किया। ऐसे गुरू को यह अभिनन्दन-ग्रन्थ देते हुए मुझे खुशी है। मैं उनके दीर्घ जीवन की कामना करती हूँ।



माननीया प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी जी अभिभाषण करते हुए—पीछे दायें से—पं० कमलापति जी त्रिपाठी, आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री, श्रीमती शारदाम्बाजी, श्री भास्कर मिश्र एवं डा० मण्डन मिश्र ।



आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी को अभिनन्दन ग्रन्थ को समर्पण करती हुई माननीया प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गान्धी जी पास में—पं० कमलापति त्रिपाठी एवं डा० मण्डन मिश्र ।

आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा आभार प्रदर्शन

माननीया प्रधानमंत्री जी, पूजनीय पंडित जी तथा मेरे हितैषी बन्धुओं !

परमेश्वर की असीम कृपा एवं गुरजनों के अमोघ अनुग्रह से आज तक मेरा जीवन संस्कृत के अध्ययन अध्यापन में व्यतीत हुआ। इसी के फलस्वरूप माननीया इन्दिराजी के द्वारा यह वड़ा सम्मान मुझे प्राप्त हुआ। आज मैं उन गुरूजनों का स्मरण करता हूँ जिन्होंने अपने आत्मजों से भी अधिक वात्सल्य से पालन-पोषण के द्वारा विद्यादान से मुझे अनुगृहीत किया। मैं मानता हूँ कि आज का यह सम्मान मेरे गुंरूजनों का ही है। पूज्यपाद म० म० पं० चिन्नस्वामी शास्त्री जी तथा पण्डितवर श्री महादेव शास्त्री जी तथा अन्य गुरूजनों का मैं सर्वथा अधमर्ण हूँ।

संस्कृत वाणी भारतवर्ष की ही नहीं, अपितु सारे विश्व की भाषाओं की जननी हैं और सभी संस्कृतियों का स्रोत है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि माननीया इन्दिरा जी के नेतृत्व में संस्कृत के छात्र एवं अध्यापक अपने अध्ययन अध्यापन में लगकर परंपरागत शास्त्रों का रक्षण करते हुए उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनेंगे। आज सरकार के द्वारा संस्कृत के लिए समुचित पोषण मिल रहा है, माननीया इन्दिरा जी के नेतृत्व में और पर्याप्त पोषण मिलता रहेगा। किन्तु हम बुद्धिजीवियों का भी नितान्त कर्तव्य है कि राष्ट्रहित के निमित्त सुनियोजित जिस बीस सूत्री पद्धति को प्रधान मंत्री जी ने अपनाया है उसमें हमें सम्मिलित होना है। इस संदर्भ में मेरे हितैषियों डा० मण्डन मिश्र, डा० रामनारायण चतुर्वेदी, पं० भगवानदत्त शास्त्री राकेश, डा० गजानन शास्त्री आदियों का इस मंत्र के अर्थ की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ।

'मैं इस राष्ट्र में पैदा हुआ हूँ, कीर्ति और समृद्धि मुझे प्राप्त हो, क्षुत्-भुखमरी पिपासा-प्यास रूपी मल से दूषित ज्येष्ठा अलक्ष्मी-दारिद्रय का राष्ट्र में नाश करता हूँ।'

'प्रादुर्भूतोऽस्मि राष्ट्रेऽस्मिन् कीर्तिमृद्धि दधातु मे
क्षुत्पिपासामलां ज्येष्ठामलक्ष्मीं नाशयाम्यहम्' ॥

प्रधानमंत्री जी इस ऋचा के अर्थ को यथार्थ करने का संकल्प कर तदनुसार कार्य कर रही हैं। इस पवित्र कार्य में हम लोग भी जुट जांय। मैं अपनी आराध्य देवता से प्रार्थना करता हूँ कि प्रधानमंत्री जी का यह संकल्प सफल हो और हमारा राष्ट्र विकसित होकर फूलता फलता रहे।

समारोह के अन्त में अन्ताराष्ट्रीय ख्याति के विद्वान् एवं राष्ट्रिय संग्रहालय के भूतपूर्व महानिर्देशक डा० शिवराम मूर्ति ने अपने धन्यवाद भाषण में भारतीय गुरू परम्परा का शास्त्रीय विश्लेषण किया और उस परम्परा में आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी के महत्वपूर्ण स्थान का विश्लेषण किया।

समारोह राजधानी के इतिहास में अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्यक्रम था जिसमें केन्द्रीय मंत्री श्री भगवत झा आज़ाद, उपसूचना मंत्री श्रीमती कुमुद बेन जोशी, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी (आइ) की महासचिव श्रीमती राजेन्द्र कुमारी वाजपेयी, शिक्षा-मंत्रालय की संयुक्त सलाहकार डा० श्रीमती कपिला वात्स्यायन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति आचार्य श्री वदरीनाथ शुक्ल, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के निदेशक डा० रामकरण शर्मा, डा० सत्यव्रत शास्त्री "नवभारत टाइम्स" और "आज" के भू० पू० प्रधान सम्पादक श्री अजितकुमार जैन एवं श्री विद्याभास्कर (गोस्वामी) गिरिधारी लाल शास्त्री राजस्थान सरकार के उपशिक्षा सचिव श्री सिन्हा आदि विशिष्ट विद्वान् उपस्थित थे।

समारोह राजधानी का एक अभूतपूर्व आयोजन था—जिसको आकाशवाणी, दूरदर्शन, समाचार-पत्रों के प्रतिनिधियों ने विशेष रूप से महत्वपूर्ण स्थान देकर संमानित किया।

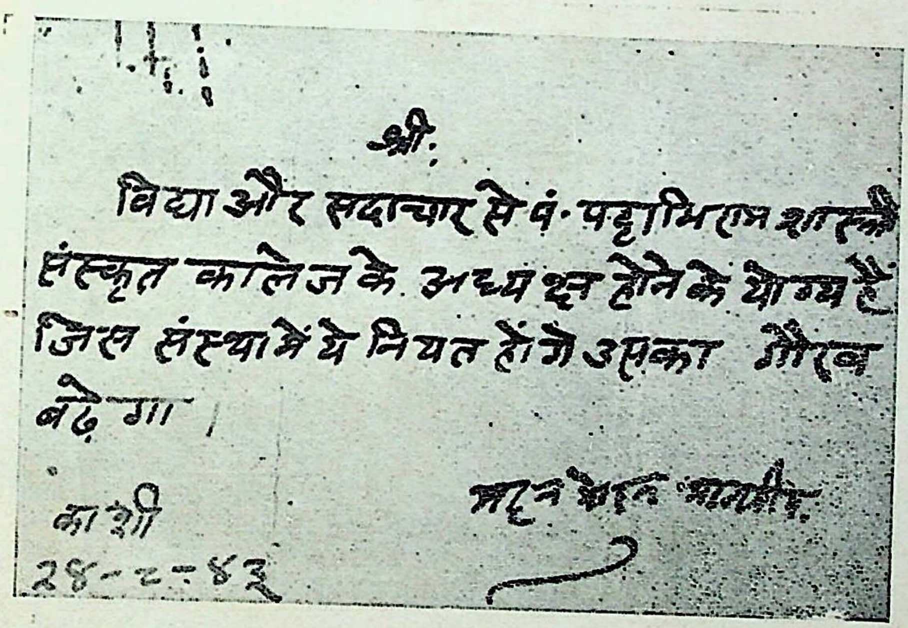


अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विद्वान् डा० शिवराम मूर्ति जी धन्यवाद भाषण करते हुए

प्रधानसम्पादक की प्रणामांजलि

पूज्यपाद आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी को उनके हीरकजयन्ती-वर्ष की पूर्णता पर यह अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का संकल्प पूर्ण हो रहा है—इससे बढ़कर हम लोगों के लिये गौरव का प्रसंग और क्या हो सकता है।

मैंने शास्त्री जी के प्रथम दर्शन जयपुर में सन् १९४५ में किये—जब मैं महाराज संस्कृत कालेज जयपुर में शास्त्री में पढ़ने के लिए गया। वे कुछ ही समय पूर्व कालेज के प्रधानाचार्य हो कर आये थे। मुझे उनमें एक आकर्षक, प्रभाव ... देखने को मिला। हमारे इस व्यवहार का पहला माध्यम संस्कृत भाषा थी। मेरे जैसे ... और उन्होंने मुझे ... रूप में उनको पाकर


श्री:
विद्या और सदाचार से पं. पट्टाभिराम शास्त्री संस्कृत कालेज के अध्यक्ष होने के योग्य हैं जिस संस्था में ये नियत होंगे उसका गौरव बढ़ेगा।

काशी
28-2-43

... और मीमांसान्याय- ... से बचाने के लिए ... क्रम दिन-दिन इतना ... लिये और फिर वे ... पुत्र से भी बढ़कर ... त का गौरव है कि ... विद्या-वंश में और ... प्राप्त है। (वंशो ... (उनकी धर्मपत्नी)

... नाओं की अनेक ... उनने मेरे जैसे अनेक ... वे उनकी गणना या कीर्तन को उचित नहीं मानते। न उनके समक्ष कहने पर वे उसको स्वीकार ही करने को तैयार होते हैं—वे सदा यही कहेंगे कि उनके शिष्य जो भी कुछ हैं—केवल अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर हैं। वे सम्पन्न शिष्य-संपदा के धनी हैं। एक ओर बिडला, सिंहानिया, गोयनका, धानुका, मेहता आदि श्रेष्ठ परिवारों की योग्य संतति उनकी शिष्य परम्परा में है। दूसरी ओर उनके एक भारतीय शिष्य डाक्टर विमल कृष्ण मतिलाल आंक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, लन्दन में दूसरे डाक्टर टी० वेंकटाचार्य टोरंटो विश्वविद्यालय, कनाडा में प्रोफेसर हैं। एक अमेरिकन छात्र इलियट ऐमसर्न विधि-विवेक का अंग्रेजी में अमेरिका में अनुवाद कर रहें हैं। एक विद्वान् शिष्य डा० मुकंद माधव शर्मा, गोहाटी विश्वविद्यलय, आसाम में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, दूसरे डाक्टर वाचस्पति उपाध्याय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलसचिव और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति पद से आकर दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर हैं। तीसरे डा० रामनारायण चतुर्वेदी राजस्थान सरकार के संस्कृत शिक्षा विभाग में निदेशक हैं। इन साक्षात् शिष्यों से भी बढ़कर सारे देश में उनके अनुयायियों और भक्तों की संख्या असीम है—जो उनका गुरु ही के रूप में सम्मान करते है। वे उत्तर और दक्षिण के

प्रधानसम्पादक की प्रणामांजलि

पूज्यपाद आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी को उनके हरीकजयन्ती-वर्ष की पूर्णता पर यह अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का संकल्प पूर्ण हो रहा है—इससे बढ़कर हम लोगों के लिये गौरव का प्रसंग और क्या हो सकता है।

मैंने शास्त्री जी के प्रथम दर्शन जयपुर में सन् १९४५ में किये—जब मैं महाराज संस्कृत कालेज जयपुर में शास्त्री में पढ़ने के लिए गया। वे कुछ ही समय पूर्व कालेज के प्रधानाचार्य हो कर आये थे। मुझे उनमें एक आकर्षक, प्रभाव वैदुष्य और संरक्षणपूर्ण व्यक्तित्व देखने को मिला। हमारे इस व्यवहार का पहला माध्यम संस्कृत भाषा थी। मेरे जैसे १५-१६ वर्ष के छात्र से राजस्थान जैसे प्रदेश में संस्कृत सुनने पर उनकी प्रसन्नता की सीमा नहीं रही और उन्होंने मुझे "मीमांसा" पढ़ाना स्वीकार किया। राजस्थान में मैं इस विषय का पहला विद्यार्थी था—जो गुरु के रूप में उनको पाकर निहाल हो गया।

पढ़ने के पहले ही दिन बिना मेरे कहे स्थिति का उन्हें जब अनुमान हुआ, एक नई धोती और मीमांसान्याय-प्रकाश पुस्तक उन्होंने मुझे दी। तीसरे चौथे दिन जब भीगते हुए उनके घर पढ़ने पहुँचा तो मुझे पानी से बचाने के लिए उन्होंने एक छाता मंगा कर दिया। विद्या-दान के साथ मेरी सुख-सुविधाओं का ध्यान रखने का यह क्रम दिन-दिन इतना बढ़ता गया कि आखिर एक दिन मेरे बिस्तर और सामान उन्होंने चपरासी को भेजकर अपने घर मंगा लिये और फिर वे जब तक जयपुर रहे, मैं उन्हीं के घर रहा। उन्होंने मुझे एक आश्रित बालक की तरह न रखकर औरस पुत्र से भी बढ़कर लाड-प्यार से रखा—जिसका परिणाम यह हुआ कि वास्तव में मैं उनका पुत्र बन गया। मुझे इस बात का गौरव है कि आज उनके समस्त परिवार और सारे संस्कृत जगत् में हमारा पिता पुत्र का सम्बन्ध प्रसिद्ध है। वैसे भी विद्या-वंश में और वे मेरे जैसे सहस्त्रों शिष्यों के पिता हैं और विद्या-वंश को हमारी परम्परा में जन्म-वंश से पहला स्थान प्राप्त है। (वंशो द्विधा-विद्यया जन्मना च) यह सब स्नेह-संसार केवल मुझे ही नहीं, प्रत्येक छात्र को विशेषतः माताजी (उनकी धर्मपत्नी) के आश्रय में प्राप्त रहता है।

गुरु जी के अभिनन्दन की पृष्ठभूमि में मेरे जैसे अनेकों शिष्यों तथा अनुयायियों की भावनाओं की अनेक श्रृंखलायें हैं। ऐसी कई एक विभूतियां उनमें हैं—जिनके दर्शन भी धीरे-धीरे कम होते जा रहे हैं। उनने मेरे जैसे अनेक स्नातकों के लिए इसी तरह पढ़ने पढ़ाने से लेकर बड़े-बड़े पदों तक पहुँचाने के कार्य किये हैं—लेकिन वे उनकी गणना या कीर्तन को उचित नहीं मानते। न उनके समक्ष कहने पर वे उसको स्वीकार ही करने को तैयार होते हैं—वे सदा यही कहेंगे कि उनके शिष्य जो भी कुछ हैं—केवल अपनी योग्यता और क्षमता के आधार पर हैं। वे सम्पन्न शिष्य-संपदा के धनी हैं। एक ओर बिडला, सिंहानिया, गोयनका, धानुका, मेहता आदि श्रेष्ठ परिवारों की योग्य संतति उनकी शिष्य परम्परा में है। दूसरी ओर उनके एक भारतीय शिष्य डाक्टर विमल कृष्ण मतिलाल आंक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, लन्दन में दूसरे डाक्टर टी० वेंकटाचार्य टोरंटो विश्वविद्यालय, कनाडा में प्रोफेसर हैं। एक अमेरिकन छात्र इलियट ऐमसर्न विधि-विवेक का अंग्रेजी में अमेरिका में अनुवाद कर रहे हैं। एक विद्वान् शिष्य डा० मुकुंद माधव शर्मा, गोहाटी विश्वविद्यालय, आसाम में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष हैं, दूसरे डाक्टर वाचस्पति उपाध्याय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के कुलसचिव और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के प्रति कुलपति पद से आकर दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर हैं। तीसरे डा० रामनारायण चतुर्वेदी राजस्थान सरकार के संस्कृत शिक्षा विभाग में निदेशक हैं। इन साक्षात् शिष्यों से भी बढ़कर सारे देश में उनके अनुयायियों और भक्तों की संख्या असीम है—जो उनका गुरु ही के रूप में सम्मान करते है। वे उत्तर और दक्षिण के

एक समर्थ संगम हैं, जिनकी परम्परा ने सारे जगत् के कोने कोने को अपनी ज्ञानराशि की चलती फिरती प्रतिमूर्तियों से सुशोभित किया है। यही कारण है कि उनके स्मरण-मात्र से हमारा मस्तक गर्व से उन्नत हो जाता है और छाती फूल जाती है।

वे संस्कृत और भारतीय संस्कृति के निष्ठावान् आराधक हैं। यह सर्व-विदित है कि राजधानी से (दिल्ली) संस्कृत की जागृति की दुन्दुभि बजाने का संकल्प अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के कलकत्ता अधिवेशन में श्रद्धेय स्व० राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र बाबू की उपस्थिति में लिया गया था—उसी का परिणाम दिल्ली में संस्कृत विद्यापीठ स्थापना, भारत सरकार का संस्कृत की ओर विशेष ध्यानाकर्षण और फिर परंपरया अन्य विद्यापीठों के साथ राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान आदि का उदय है। कलकत्ता के इस अधिवेशन के सूत्रधार आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री ही थे—जो अपनी तीसरी कन्या सौ० सावित्री के विवाह में मद्रास में केवल दो दिन रहकर विवाह का अपूर्ण काम छोड़कर व्यवस्था के लिये अपने व्यय पर वायुयान से कलकत्ता आ गये थे। आज ७५ वर्ष पूर्ण हो जाने पर भी किसी भी पवित्र उद्देश्य की पूर्ति के लिए न उनके उत्साह में कोई कमी है और न त्याग में। वे इन सब कार्यों के लिए किसी पद की भी अपेक्षा नहीं करते।

साहित्य-साधना के वे स्रोत हैं। कभी भी उनके यहां जाइये, आप उन्हें पढ़ते हुए, पढ़ाते हुए, कुछ लिखते हुए या बड़ी दूरबीन लेकर पांडुलिपियां सम्पादित करते हुए देखेंगे। उनके यहां से कोई निराश नहीं लौट सकता। आज के छोटे-छोटे व्याख्याताओं को मैं देखता हूं—जब उनसे कोई पढ़ने के लिए समय मांगता है, तो ऐसा लगता है—जैसे उन पर कोई पहाड़ टूट गया हो। पर शास्त्री जी के यहां छठी कक्षा का विद्यार्थी और बड़े से बड़ा प्रोफेसर समान रूप से जाकर संस्कृत पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त कर सकते हैं—उनको समान रूप से माधुर्य, आदर और स्नेह प्राप्त होता है।

उनके व्यक्तित्व की समस्त विशेषतायें उनके शरीर पर भी मूर्तिमान हो गई हैं। वे असाधारण सुन्दर हैं और उनका भस्म से सुसज्जित भव्य भाल साक्षात् भगवान् शंकर का रूप लगता है। उनके मुख पर प्रशान्त लालित्य और भारतीय ऋषि की ओजस्विता एक साथ देखने को मिलती है। निश्चय ही कुछ अलौकिक सिद्धियां भी उनके पास हैं, जिनकी चर्चा करना वे उचित नहीं मानते। पर कई बार सार्वजनिक कल्याण के लिये उनका प्रयोग मैंने देखा है। उसी प्रकार के एक प्रयोग से उनने राजस्थान में एक ऐसे मन्त्री से जो संस्कृत के अनुकूल नहीं माने जाते थे—माध्यमिक कक्षाओं में संस्कृत को अनिवार्य कराया था—जो अभी भी चल रही है।

त्याग उनके जीवन का महत्वपूर्ण अंग है। उन्होंने कभी किसी से कोई अपेक्षा नहीं की। उनकी चार पुत्रियां, उनके चारों दामाद और उनका भरा-पूरा परिवार उनके दिव्य अंश हैं—जिनमें एक-एक से मिल कर आप परम प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। बड़े दामाद श्री सी० आर० श्रीनिवासन ने रेल मन्त्रालय के बड़े पद से स्वयं विश्राम ग्रहण किया है और अभी अमेरिका में हैं। बड़ी पुत्री श्रीमती विजया संस्कृत हिन्दी की विदुषी हैं। शास्त्री जी की अध्यापनप्रतिभा, दृढ़ता और श्रम उसमें साकार हुआ है। उनकी एक दोहित्री श्रीमती कला अमेरिका में प्रसिद्ध डाक्टर हैं—दूसरी दौहित्री सौ० भानु बम्बई में अर्थशास्त्र की प्रोफेसर है—बड़ा दौहित्र चि० रवि बंगलौर में इंजीनियर हैं। द्वितीय कन्या सौ० सरस्वती में शास्त्री जी की साधना और भक्ति प्रतिफलित हुई है। उसके पति श्री ए० आर० रामनाथन इंजीनियर है और फरीदाबाद की एक फर्म इलेक्ट्रोनिक्स में कार्यकारी निदेशक हैं। उनके एक मात्र पुत्र श्रीधर कर्नाटक में इंजीनियरी पढ़ रहे हैं। तृतीय पुत्री सौ० सावित्री शास्त्री जी की साहित्यिक वाग्मिता और निश्छलता की प्रतिमा हैं—जिसके पति श्री एम० सी० जयरामन केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय में उपसचिव हैं। उनके पुत्र श्रीगणेश जालंधर में कृषि विज्ञान का अध्ययन कर रहे हैं और पुत्री गीता स्कूल में पढ़ती है। सबसे छोटी लड़की सौ० शान्ति में शास्त्री जी की सरलता और प्रसाद

अवतरित हुआ है । उसके पति श्री उपेन्द्रन ऊटी मद्रास में टी-एस्टेट के मैनेजर हैं । उनको पुत्री सुषमा और पुत्र मनीष मद्रास में पढ़ते हैं । इस प्रकार भरे पूरे पारिवारिक सुख से सम्पन्न होते हुए भी वे सर्वथा अध्ययन, अध्यापन व अध्यात्म में ही लीन हैं । उनके सारे परिवार पर उनके अपरिग्रह का प्रभाव है । यही कारण है कि शास्त्री जी ने अपना वाराणसी वाला मकान और अपना बड़ा पुस्तक संग्रह भी जगद्गुरु कांची-शंकराचार्य जी के निर्देश पर दान में देने का संकल्प किया है ।

यह ग्रन्थ स्वीकार करना हम लोगों पर उनके अनुग्रह का ही लक्षण है—क्योंकि उनके लिए तो कोई ऐसा सम्मान नहीं है—जो उनको अपने आप ही प्राप्त नहीं हुआ हो । पहले पूज्य महामना मालवीय जी का स्नेह उन्हें मिला—रियासतों के समय में जयपुर महाराजा ने उन्हें विद्यासागर की उपाधि और जागीर से विभूषित किया—स्वतंत्रता के अनन्तर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र बाबू ने विद्यावाचस्पति की उपाधि राष्ट्रपति श्री वि० वि० गिरि ने "सर्टीफिकेट आफ आनर" उपराष्ट्रपति श्री जत्ती ने अभिनन्दन पत्र और उत्तरप्रदेश के राज्यपाल ने १५ हजार रूपये का पुरस्कार समर्पित किये । राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् और स्व० प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री से उन्हें सदा आदर मिला । इसमें प्राप्त शुभकामना संदेश यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि किस प्रकार वे समान रूप से महान् आचार्यों, राज्यपालों, मंत्रियों, उद्योगपतियों, विविध राजनैतिक दलों के नेताओं, अधिकारियों एवं बुद्धिजीवियों के आदर और स्नेह के पात्र रहें हैं । इसमें देश-विदेश के भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विभिन्न विषयों पर जो लेख दिये हैं—वे भी उनके जीवन की विविधता और सारे देश में उनके आदर-सम्मान के प्रतीक हैं । देश के उच्चकोटि के संस्कृत विद्वानों ने इसके सम्पादक-मण्डल की सदस्यता स्वीकार कर उनके प्रति अपना आदर व्यक्त किया है । राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित संस्कृत के महान् कवि आचार्य **श्री अमीरचन्द्र शास्त्री** ने **"त्र्यवराभिरामम्"** नाम से उनका काव्यमय जीवनचरित लिख कर एक आदर्श सम्मानांजलि दी है ।

इसके प्रकाशन और सम्पादन में हुई त्रुटियों से हम अवगत हैं । उनके लिए क्षमा मांगने के अतिरिक्त अब कोई विकल्प नहीं है । आचार्य **श्री भगवान् बस शास्त्री** (कलकत्ता) और इसके सम्पादक विद्वत्प्रवर आचार्य **डा० गजानन शास्त्री मुसलगांवकर** जैसे आदरणीय बन्धुओं के योगदान के अभाव में इसको आकार मिलना सर्वथा असम्भव होता । शुभकामनायें देने वालों के सन्देश, सम्पादक मण्डल के सदस्यों का मार्गदर्शन और इसके लेखकों के अनुपम सहयोग ने हमारे लिये संबल का काम किया है ।

तारा प्रिंटिंग वर्क्स, वाराणसी के श्री रमाशंकर पंड्या द्वारा इसके मुद्रण की व्यवस्था कर ग्रन्थ का सौन्दर्य बढ़ाया है । मैं इन समस्त महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता की अंजलि एवं माता जी सहित गुरु जी के चरणों में भवानी विश्वनाथ के रूप में प्रणाम अर्पित करता हूँ ।

दीपावली, १९८१

डा० मण्डन मिश्र

सम्पादकीयम्

यस्यास्यमब्जमुपलभ्य वचोऽधिदेवी
सप्तस्वरानवसरेऽखिलकर्णपेयान् ।
शश्वन्निनादयति तं यमिनामधीशं
वागीशमेव **करपात्रगुरुं** नमामि ॥ १ ॥

यस्य प्रशस्य पदपद्मपरागलेपा-
न्मन्दोऽप्यमन्दमहिमानमुपैति लोके ।
लोकोत्तरं जगति पण्डितराजमीड्यं
राजेश्वरं जितगुरुं गुरुमानतोऽस्मि ॥ २ ॥

उत्सृज्य दुस्त्यजमहाविषयाभिलाषं
शान्तं समस्तविबुधार्चितपादपद्मम् ।
विद्याप्रदं सततमात्मरसे निमग्नं
तातं **सदाशिव**महं हृदि भावयामि ॥ ३ ॥

मीमांसकप्रवरपण्डितमण्डलीनां
चूडामणिं सपदि विश्रुतकीर्तिराशिम् ।
मीमांसकप्रणयनार्थमखिन्न**चिन्न-
स्वामी**ति विज्ञगुरुदेवपदं स्मरामि ॥ ४ ॥

यः श्रद्धया श्रमभरेण गुरूनुपास्य
लेभे निधिं निगमवाक्यविचारणायाः ।
शास्त्रान्तरेऽप्यसदृशीं गतिमाप्नुवानं
पट्टाभिराममभिरामगुरुं नमामि ॥ ५ ॥

देवान्महामहिमपण्डितसार्वभौमाद्
विद्यार्णवात् सुकविमण्डलमण्डनाद्यः ।
काव्यानुशासनमशेषमधीत्य सम्य-
गाशामुखानि यशसा धवलीकरोति ॥ ६ ॥

आन्वीक्षिकीप्रभृतिदुर्गमशास्त्रजातम्
प्रख्यातदेशिकगणात् समधीत्य यत्नात् ।
सर्वासु दिक्षु विशदप्रतिभाप्रकर्षात्
कीर्तिं स्थिरां तरुण एव ततान लोके ॥ ७ ॥

अध्यापने प्रवचने रचनानुबन्धे
निर्देशने विवरणे वरणे गुणानाम् ।
अन्वेषणे विबुधसंसदि शास्त्रतत्त्व-
सम्बोधने सुकविकर्मणि शासने च ॥ ८ ॥

देशस्य विश्रुततमानि निषेव्य विद्या-
पीठान्यनन्यगुणगौरवदीप्तभासा ।
कर्मण्यताप्रणयमद्वयशीलसंविद्धाम्ना
स्वशिष्यनिवहान् प्रमुखान् युयोज ॥ ९ ॥
मेरुं पराभवति यो निजदेहकान्त्या
चान्द्रीं श्रियं हसति सुस्मितवैभवेन ।
बुद्ध्योन्नतिं हरति देवगुरोरुदारां
काव्यं च काव्यविधयाऽधरयत्यजस्रम् ॥ १० ॥
देशे विशेषविदुषां गणनाप्रसङ्गे
संख्यायते सपदि यस्य परःसहस्रम् ।
शिष्य-प्रशिष्यनिवहो विनयावृतारो
हारोपमः सुरगिरो महनीयकीर्तिः ॥ ११ ॥
शंसन्ति यस्य चरितानि सुधीन्द्रमाला
मेरूपमा यमवतामपि चाग्रगण्याः ।
सन्तो महान्त इह शासनसूत्रधारा
वात्सल्यमुग्धहृदयाः सुधियश्च शिष्याः ॥ १२ ॥
श्रीमद्गुरोश्चरणपङ्कजयोः सपर्या-
पर्याकुले सपदि जाग्रति विज्ञवर्गे ।
सारस्वतं विबुधदुर्लभतत्त्वबोधं
ग्रन्थं समर्पयितुमाहितवान् विचारम् ॥ १३ ॥
योऽभ्यर्चितो जगति दुर्गमशास्त्रबोधात्
सौजन्यसंवलितकर्मठतानुरागात् ।
तस्याभिनन्दनविधौ विविधार्थसारं
ग्रन्थं समर्पयितुमेष उपक्रमो नः ॥ १४ ॥
अत्र क्षरत्यमृतमर्चितदेवभाषा
सम्मानिता श्रियमुदञ्चति **राष्ट्रभाषा** ।
कीर्तिं च गायति सितामिह **विश्वभाषा**
भाषात्रयी त्रिपथगेव पुनातु विश्वम् ॥ १५ ॥
सूते सुखानि पुरुषार्थचतुष्टयीव
पुंसां सदाभिमतमेव पुरो दधाना ।
स्तम्भात्मिका सुरचनार्थचतुष्टयीह
ग्रन्थे स्थिरत्वमुपपादयतु प्रकामम् ॥ १६ ॥
सुप्रेरके सुघटके सकलार्थसिद्धि—
सन्धानबन्धुरसदध्यवसायरूपे ।
सर्वासु दिक्षु सततं प्रसरत्प्रतापे
श्रीमण्डने सुकृतिनीष्टफलं कलं नः ॥ १७ ॥

सँय्योजनं विरचनं फलवत्प्रयास—
माधातुमेष विबुधैरभिषिक्तमूर्धा ।
ग्रन्थप्रकाशनविधौ धनसङ्ग्रहेण
साधं समस्तपरवस्तु समग्रहीद् यः ॥ १८ ॥
तं मण्डनं विबुधमण्डनमार्यमिश्रं
प्रेम्णा स्मरामि सहयोगविधौ धुरीणम् ।
यस्याधिगम्य बहुमूल्यमुदारयोगं
सम्पादने सफलतामहमावहामि ॥ १९ ॥
येषां निबन्धकवितादिसुवर्णरत्नै—
र्ग्रन्थोऽभिनन्दनविधौ सुविभूषितोऽयम् ।
मत्प्रार्थनाप्रणयपूरणपण्डितेभ्य—
स्तेभ्योऽर्पयामि विनतोऽमितधन्यवादान् ॥ २० ॥
जीव्याच्चिराय(न्निरामय) स रवीन्द्रकुमारभृङ्गी
वैदग्ध्यमुग्धहृदयोऽपि च कृष्णकान्तः ।
विद्याधर प्रभृतयो व्यतरन् कृपार्द्राः
साहाय्यमत्र भुवि ते मुदिता जयन्तु ॥ २१ ॥
अज्ञानतोऽपि मनसोऽप्यतिचञ्चलत्वात्
सम्पादने यदभवत् स्खलनं मदीयम् ।
उत्सार्य तत् सहृदयैरवधारणीयं
निर्दूषणं सुमनसां हि कुलव्रतं तत् ॥ २२ ॥
विद्यावतां सुकृतिनां कविकुञ्जराणां
नित्यं परोपकरणाय च दीक्षितानाम् ।
अभ्यर्चनावसरमाप्य परं प्रसाद—
मास्वादयन्ति हृदये कृतिनः स्वभाग्यात् ॥ २३ ॥
सारस्वतोपकरणेन कृता सपर्या
सारस्वतेयमुदितं परिवर्धयेच्चेत् ।
सन्तोषमेष्यति ततोऽनुरतोऽर्चनेषु
सर्वोऽपि पूजकजनो नमनीयकर्मा ॥ २४ ॥

विद्वज्जनकृपाकन्दमानन्दैकनिकेतनम् ।
सेवमानो मुदं विन्दन् रमतेऽत्र गजाननः ॥

गुरुचरणचञ्चरीकः
मुसलगाँवकरोपनामा गजाननशास्त्री

विषय सूची

द्वितीयो भागः

हिन्दी लेखाः

तृतीयो भागः

आङ्ग्ललेखाः

चतुर्थो भागः

श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिभिस्तत्र तत्र कृतभाषणानां लेखानाञ्च सङ्ग्रहः

श्रीचन्द्रमौलीश्वराय नमः

श्रीशङ्करभगवत्पादाचार्यं परम्परागत श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधिपति
जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्यस्वामिनां श्रीमठसंस्थानम्, काञ्चीपुरम्–६३१५०२

शुभाशीर्वादः

वेदविशारद—पण्डितसार्वभौम-मीमांसाकेसर्याद्यनेक-विरुदविभूषिताः दक्षिणापथेषु विश्रुतकीर्तयः श्रीमन्तश्चिन्नस्वामिशास्त्रिणः पण्डिताः। विद्वन्मणयश्चैते कलिकातायां वाराणस्याञ्च स्वीयपाण्डित्य-वैदग्ध्यप्रागल्भ्यात् मीमांसाशास्त्रे बहून् शिष्यान् समग्रव्युत्पत्तिसम्पन्नानकार्षुः, बहून् ग्रन्थांश्च व्यलिखन्।

एतेषाञ्च पण्डितप्रवराणां शिष्येष्वग्रगण्याः पण्डितराजपदालङ्कृताः पण्डिताः पट्टाभिरामशास्त्रि-महोदयाः। ये गुरुभक्तौ निरुपमाः सदाचारानुष्ठाननिरताः गुरुरिव मीमांसाशास्त्रे परिपूर्णवैदुष्य-सम्पन्नाश्च। एते च स्वगुरूणां श्रीमतां चिन्नस्वामिशास्त्रिणां सकाशात्पूर्वमुत्तरञ्च तन्त्रं कवितार्किककेसरिणां श्रीमहादेवशास्त्रिणां सकाशाच्च साहित्यं न्यायशास्त्रञ्च समग्रं बुध्वा पण्डितकुलावतंसाः परिलसन्ति। बहवश्च शिष्या एतेषामपि, बहवो ग्रन्थाः स्वप्रतिभाप्रभवाः प्रकाशिताश्च। अधुनाप्येते स्वेनैव स्थापिते वेदमीमांसानुसन्धानकेन्द्रे वाराणस्यां गवेषणपरायणाः वर्तन्ते।

एवंविधवैदुष्ययशस्संवलितानिमान् पण्डितान् अभिनन्दनग्रन्थतल्लजेन सभाजयिष्यन्तीति निशम्य नितरां सन्तुष्टाः स्मः। सभाजनमहोत्सवोऽयं सफलीभवतु, श्रीशास्त्रिणश्चायुरारोग्यसम्पन्नाः सुचिरं शास्त्रपारम्पर्यं परिपोषयन्त्वित्याशास्महे।

नारायणस्मृतिः

शुभाशीर्वादः

श्रीमत्सु मण्डनमिश्रमहाभागेषु सादरा विज्ञप्तिः।

भवद्भिः प्रहितं पत्रं श्रीचरणानां सन्निधौ समर्पितम्। विदुषां श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणां अभिनन्दनार्थं तेषां अनुयायिभिः अभिनन्दनग्रन्थः समर्पयिष्यते इति श्रीचरणाः आवेदिषुः। श्रीमन्तः शास्त्रिणः मीमांसाशास्त्रे अधिगतवैदुष्याः दर्शनान्तरेष्वपि अवाप्तपरिचितयः नैकान् छात्रान् शास्त्रे विनीतान् अतानिषुः। अतस्तेषां छात्रैः संकल्पितोयऽमुद्यमः औचितीं आवहत्येव।

श्री शारदाचन्द्रमौलीश्वरयोः अनुकम्पया उद्यमोऽयं फलेग्रहिर्भूयादिति आचार्यपादा आशासते।

श्रीमठाधिकारी
श्री जगद्गुरु शंकराचार्य
श्री शारदापीठम्, श्रृंगेरी (कर्नाटक)

श्रीसर्वेशो जयति

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्यचक्रचूडामणीनां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां द्वैताद्वैत प्रवर्त्तकानां यतिपतिदिनेशानां राजराजेन्द्रसमभ्यर्चितचरणारविन्दानां भगवन्निम्बार्काचार्यपीठ विराजमानानामनन्तानन्तश्रीविभूषितानां जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यश्री-श्री जी श्री राधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यपादानां

शुभाशीर्वादः

सुर-सरस्वती-सेवा-व्रतिनो भारतीय-संस्कृति-समुपासका निगमागमनिचयपारदृश्वानः सुरुचिर-रचना-रचयितारो विद्वत्कवयः श्रुति मीमांसा-मर्म-वेत्तारः शास्त्रार्थकण्ठीरवा अध्यापन-कला-कुशलाः कुशाग्रशेमुषीका विद्यावाचस्पति-मीमांसान्यायकेसरि-विद्यासागर-प्रभृति विविधोपाधिविभूषिताः प्रशासन-पटवः **श्री पट्टाभिराम शास्त्रिवर्य्या** निर्जर-भारती-साहित्य-समृद्धिमनुतिष्ठन्तः सनातनधर्ममभिवर्द्धयन्तश्च दीर्घायुष्यमवाप्नुयुरिति सर्वजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारणमनन्ताचिन्त्य-स्वाभाविकगुणशक्त्यादिभिर्बृहत्तमं ब्रह्म-शिवादिवन्दितं करुणावरुणालयं नित्य-निकुञ्ज-विहारिणं श्रीराधासर्वेश्वरं प्रभुमभ्यर्थयामहे वयमिति ।

माघी पूर्णिमा
सं० २०३६ वि०

श्रीचरणानामनुज्ञया विज्ञापयति
व्रजवल्लभशरणः
अधिकारी (वेदान्ताचार्य, पञ्चतीर्थः
अ० भा० श्री निम्बार्काचार्यपीठस्य

श्रीहरिः शरणम्

अस्मच्छिष्यकोटिप्रविष्टस्य वाक्यशास्त्रविचक्षणस्य समधिगतचतुरस्त्रवैदुष्यस्य श्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिमहोदयस्य सम्पत्स्यमानाभिनन्दनसमारोहसमाचारमाकर्ण्य कमप्यमन्दमानन्दमनुभवामः ।

एतादृशस्य लौकिकाऽलौकिकव्यवहारनिष्णातस्य महापण्डितस्याभिनन्दनं स्थाने एव नात्र संवीतिः । अत्रावसरे नारायणस्मृतिपूर्वकमदीयान्याशीर्वचांसीति शम् ।

करपात्र स्वामी
वाराणसी

VICE-PRESIDENT
INDIA

NEW DELHI

July 29, 1981.

I am glad to learn that a Felicitation Volume will be presented to Acharya Pattabhiram Shastri, Honorary Professor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi in August, 1981. Shastriji's services in the field of the development and propagation of Sanskrit Literature are invaluble. I send my best wishes for the success of the function.

M. HIDAYATULLAH

BAL RAM JAKHAR
Speaker, Lok Sabha

NEW DELHI
Dated : 13-8-1981

I am very happy to know that the associates and admirers of Acharya Shri Pattabhiramji Shastri have decided to bring out a Felicitation volume consisting of scholarly contributions in areas to the study of which Acharyaji devoted his life. An eminent scholar of Sanskrit and Vedic lore, philosopher and literateur, prolific writer, teacher *par excellence* and forceful speaker, Shri Pattabhiramji is truly cast in the mould of the great acharyas who combined profound learning and wisdom with a generous and active concern for the good of society. We are indebted to him for his valuable service to Sanskrit language, literature and Indian philosophy—to their enrichment as well to the promotion of greater public interest in these priceless treasures of our cultural heritage.

I take this opportunity to pay my own tribute to Acharyaji and wish him a long and healthy life and many years of creative and fruitful endeavour.

BAL RAM JAKHAR

RAJ BHAWAN
LUCKNOW

July 10, 1981.

I deem it an honour to associate myself with the plan for presentation of a Felicitation Volume to Acharya Sri Pattabhiram Shastri, Honorary Professor, Sampurnanand Sanskrit University, by his associates, disciples and admirers as a token of their love and reverence and gratitude to him for the services rendered to the cause of Sanskrit and Indian Culture.

The respected Acharyaji is not only a renowed scholar of Mimamsa Darshan, Yogatantra and Sanskrit and Vedic literature, he has nursed and nurtured and numerous organisations engaged in the promotion of Sanskrit and Indian Culture. His true greatness lies in the fact that he was wielded his powerful pen on such serious subjects as the Vedas and Philosophy but has also written Primary Readers for general readers in order to acquaint them with the Sanskrit language and literature. To quote Mahamana Pandit Madan Malaviya, he is 'a symbol of learning and humanity'.

It is only appropriate that in the Felicitation Volume being prepared for presentation to him, separate parts have earmarked for Mimamsa Darshan, Yogatantra and Sanskrit and Vedic Literature, the subjects dear to the heart of Acharyaji.

I take this opportunity to wish long life to Acharyaji in the service of the country and enrichment of Sanskrit language and Indian Culture.

My good wishes for the success of the venture.

C. P. N. SINGH

MINISTER OF EXTERNAL AFFAIRS
INDIA

NEW DELHI

July 9, 1981

Message

I am very happy to know that a Felicitation Volume is being cor. piled in honour of Acharya Shri Pattabhiram Shastri ji, a noted scholar and savant.

Acharya Pattabhiram Shastri Ji is one of the very few living symbols of our ancient scholarly tradition. He is among the greatest authorities on ancient Indian literature and the Sanskrit language. He has many scholarly works to his credit. It is only fitting that Acharya Shri Pattabhirrm Shastri Ji be presented with a Felicitation Volume containing glimpses of his rich life and career and interesting anecdotes related by friends and admirers. I would like to use t: e medium of this message to convey to Aeharya Shri Pattabhiram Shastri Ji my own respects and best wishes for many more years of service to a noble cause.

P. V. NARASIMHA RAO

FINANCE MINISTER
INDIA
NEW DELHI

August 7, 1981.

Message

Sanskrit is the basis for most non-Dr ividian Indian languages. Its special status in our culture and heritage is further enhanced by its deep religious significance to Hinduism. However, since it is not a language in common usage, its vest and rich literature has remained inaccessible to most, except the scholar. In order to enhance the relevance and currency of the language among the people, it is necessary that Sanskrit language and literature, should be propagated and popularised in the institutions of learnin · and outside. Popularisation of Sanskrit would also strengthen the bonds of national integration.

Acharya Shri Pattabhiram Shastri is an eminent scholar of Sansksit and his services to the study and propagation of the language will greatly benefit and. inspire generations to come. I am glad that a felicitation volume to honour Shastriji's services to the cause of Sanskrit is being brought out. I extend my felicitations to the Acharya Shri Pattabhiram Shastri Felicitation Volume Committee on their laudable enterprise.

R. VENKATARAMAN

MINISTER OF
EDUCATION & SOCIAL WELFARE
GOVERNMENT OF INDIA
NEW DELHI

6 July 1981.

It is a matter of gratification that the disciples. associates and followers of Pt. Pattabhirama Shastri have decided to publish a Felicitation Volume (Abhinandana Grantha) as a make of respect for Shastriji. There are very few scholars of his calibre available at present and still fewer who are prepared to spend their time and energy in the service of traditional Sanskrit scholarship even at such a ripe old age. The Government of India is proud of the fact that this savant has already been honoured by our Rashtrapatiji by awarding the Certificate of Honour due to eminent Sanskrit scholars. We hope that he will have the satisfaction of having prepared a younger generation of disciples for the benefit of posterity.

I wish all success in your present attemp.

S. B. CHAVAN

MINISTER OF SHIPPING & TRANSPORT
INDIA

NEW DELHI
July 4, 1981.

Message

I am glad to know that a Felicitation Voulme (Abhinandan Grantha) is proposed to be presented to Acharya Shri Pattabhiram Ji Shastri, honorary Professor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi by his associates and followers. I understand that the Abhinandan Grantha will, in addition to throwing light on the works and personality of Acharya Ji would contain scholarly articles on philosophy with special emphasis on Mimamsa, Yogatantra and Literature. It will thus be a collector's item for people interested in these topics.

I wish the ventu.e a grand success.

VEERENDRA PATIL

योजना मंत्री तथा उपाध्यक्ष
योजना आयोग, भारत

नई दिल्ली–११०००१

८ जुलाई, १९८१

संदेश

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से आचार्य शास्त्री जी के शिष्यों एवं अनुयायियों द्वारा उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ-भेंट किये जाने का प्रशंसनीय निश्चय किया गया है। आचार्य जी प्रौढ़ दार्शनिक, साहित्यकार एवं आदर्श अध्यापन तथा प्रभावशाली लेखन से सर्व-गुण-सम्पन्न होते हुए संस्कृत साहित्य, मीमांसा दर्शन, योगतंत्र तथा वैदिक साहित्य आदि विषयों में विद्वान हैं तथा इस क्षेत्र में उनकी अविस्मरणीय सेवायें प्रेरणादायक हैं।

मैं आशा करता हूँ कि अभिनन्दन ग्रन्थ में आचार्य जी के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व एवं कृतित्व को बखूबी निष्पादित किया जायेगा।

शुभकामनाओं सहित।

नारायणदत्त तिवारी

पेट्रोलियम, रसायन और उर्वरक मंत्री
भारत सरकार

नई दिल्ली, ३० जून, १९८१

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री, आनरेरी प्रोफेसर, संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी को उनकी सेवाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से उनके सहयोगियों एवं शिष्यों ने उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। मैं अभिनन्दन ग्रन्थ के सफल प्रकाशन एवं आपके प्रयास की पूर्ण सफलता की मंगल कामना करता हूँ।

प्रकाशचन्द्र सेठी

C. SIVARAMAMURTI
DIRECTOR (RETD.)
NATIONAL MUSEUM
NEW DELHI-110001.

40, SHAHJAHAN ROAD,
NEW DLLHI.

August 1, 1981.

It was a delight to learn from your kind letter that you are presenting Acharya Shri Pattabhiramji Shastri, honorary Professor, Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi with a felicitation volume (abhinandan grahtha). Acharya Pattabhiram Shastri Ji has been a tremendous force in the field of Sanskrit learning with a host of pupils from Rajasthan to Bengal, from Uttar Pradesh to Tamil Nadu; what is the area of our great sub-continent Bharat that has not had a taste of his eminent erudition and affectionate communication of the highest in knowledge to serve younger generations that ever feel grateful to him. This volume itself is a symbol of the affection, gratitude, and veneration for a Kulapati of the highest stature who represents personified grandeur of Sanskrit learning.

I have no words to congratulate you on this great good fortune of yours, in having completed and got ready the volume. It gives me the greatest delight to know that this very shortly to be presented to him. May God grant him long life, unimpaired intellect, indomitable will be to comple the great task of service to Sanskrit which he is so dedicated.

C. SIVARAMAMURTI

भारतीय ज्ञानपीठ

बी ४५–४७–कनाटप्लेस, नई दिल्ली–११०००१
१५ जुलाई, १९८१

प्रसन्नता की बात है कि आपने आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के अभिनन्दन की योजना बनाई है। योजना विशाल है और पांच खण्डों में आप बहुमूल्य सामग्री नियोजित कर रहे हैं। आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री जैसे विद्वान् और सरस्वती के साधक अब विरल होते जा रहे हैं। ज्ञान के अनेक आयाम उनकी प्रतिभा और उनके चिन्तन से उद्भासित हुए हैं। कलकत्ता में उनका सान्निध्य भी मुझे प्राप्त था। मैं सदा ही उनकी विदग्धता, उनकी सहृदयता और उनकी सरलता से प्रभावित-प्रमुदित हुआ हूँ। इस अवसर पर उन्हें मेरे अनेकानेक प्रणाम।

विद्या-वारिधि, विद्यासागर, अनेक उपाधियों के समलंकृत यह यशस्वी गुरु उत्तर और दक्षिण की सांस्कृतिक एकता के सेतु हैं।

शुभ-कामनाओं सहित,

लक्ष्मीचन्द्र जैन
निदेशक

दैनिक
नवज्योति

जयपुर

८-७-८१

पंडित प्रवर पट्टाभिराम शास्त्री का संस्कृत साहित्य और शिक्षा को योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। उन्होंने जयपुर के संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य-पद से इस प्राचीन संस्कृत सेवी प्रदेश में संस्कृत शिक्षा के विस्तार और संगठन के लिए जो रचनात्मक एवं प्रेरणाप्रद प्रयत्न किया, उसने संस्कृत जगत में राजस्थान का आदर और भी बढ़ाया जिनका उनसे सम्पर्क पड़ा, वे अब भी आदर और स्नेह से उनका स्मरण करते हैं। शास्त्री जी वास्तव में विद्या और विनय की प्रतिमूर्ति हैं।

दुर्गाप्रसाद चौधरी
प्रधान संपादक, दैनिक नवज्योति
(जयपुर–अजमेर)

नवल किशोर शर्मा
संसद् सदस्य (लोक सभा)

१०, पं० पंत मार्ग
नई दिल्ली—१
४-७-८१

यह जानकर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आप आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री, आनरेरी प्रोफेसर-संपूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सम्मान स्वरूप एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रहे हैं। आचार्य श्री संस्कृत जगत के सम्माननीय व्यक्ति हैं। इस सम्मान पाने के आप सर्वाधिकारी हैं।

आचार्य जी का व्यक्तित्व, उनका सरल एवं मृदु स्वभाव एवं तेजस्वी व्यक्तित्व नयी पीढ़ी के लिए सर्वथा प्रेरणा का स्रोत रहेगा।

आपके प्रयास की सफलता की कामना के साथ।

शुभकामनाओं सहित,

नवलकिशोर शर्मा

सतीश अग्रवाल, एम० पी०
चेयरमैन पब्लिक एकाउन्टस कमेटी
(पार्लियामेन्ट)

५१, पार्लियामेन्ट हाऊस
न० दिल्ली—११०००१

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आप लोग आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी के सम्मानार्थ अगस्त, १९८१ में एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित करने जा रहे हैं।

शास्त्री जी ने दक्षिण में जन्म अवश्य लिया किन्तु अपना सारा जीवन उत्तर में बिताते हुए संस्कृत और हिन्दी के लिए समर्पित कर दिया। उन्होंने जितनी वेदों को पढ़ाने में रुचि ली, उतनी ही रुचि उन्होंने बच्चों एवं प्रौढ़ों को प्राथमिक संस्कृत शिक्षा देने में ली। उन्होंने न केवल वेद और दर्शन के गम्भीर से गम्भीर ग्रन्थों पर काम किया, वरन् उन्होंने सामान्य जनता को संस्कृत का ज्ञान कराने के लिए सरल भाषा में प्राथमिक पुस्तकें भी लिखीं।

शास्त्री जी सरल और विनम्र प्रवृत्ति के एक सादगी-प्रिय व्यक्ति हैं। उन्होंने होनहार विद्यार्थियों को भोजन, वस्त्र और पुस्तकों की भी सहायता की और उनके इस पुनीत कार्य में उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शारदाम्बा ने भी पूरा-पूरा सहयोग दिया।

शास्त्री जी की योग्यता से प्रभावित होकर ही १९४५ में जयपुर राज्य के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मिर्जा इस्माइल ने उन्हें महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर के प्रधानाचार्य पद पर नियुक्त किया तथा महामना मालवीय जी से उन्हें बनारस से जयपुर भेजने के लिए अनुरोध किया।

मैं विद्या एवं विनय की मूर्ति आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी के प्रति अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करता हूं तथा उनके दीर्घायु होने की कामना करता हूं।

सतीशचन्द्र अग्रवाल

V. N. GADGIL
MEMBER OF PARLIAMENT
(LOK SABHA)

116 HINDU COLONY,
5th LANE, DADAR,
BOMBAY-400014.

July 5, 1981.

I am in receipt of your letter dated 12th June, 1981. I am glad to learn that you have decided to present Acharya Pandit Pattabhiram Shastri a felicitation volume to express appreciation and gratitude for his valuable service to the cause of Sanskrit.

It is unnecessary for me to elaborate on the stupendous work done by him in the field of Sanskrit Literature. It is there fore, appropriate that such a volume should be presented to him. I wish the function a great success.

V. N. GADGIL

C. S. RAMCHANDRAN, ICS
Unian Health Secretary (Retd)

46, CAAMIERS ROAD,
MADRAS-28.

5th July 1981.

I am very happy to note that the Acharya Shri Pattabhiram Shastri, Abhinandan Grantha Samiti is bringing a commemaration volume to felicitate Prof. Pattabhiram Shastri. It is a matter for great joy to hear of the occasion to honour eminent scholars in the present changing times. Our country ows its greatness to the contribution of shcolars in different fields and especially in the field of Philosophy and Culture. Prof. Shastri's greatness lies in his association with the famous centres of Sanskrit and also in some measure to his ability to convey his expositions as easily in Hindi as in Sanskrit. My best wishes to the Organisation for this commendable effort.

C. S. RAMCHANDRAN

जगजीवन राम ६ कृष्ण मेनन मार्ग

नई दिल्ली–११०००१

मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि आगामी अगस्त, १९८१ में संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रख्यात विद्वान् आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री को उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के अनुरूप एक अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। संस्कृत भाषा और साहित्य की शिक्षा के क्षेत्र में आचार्य की सेवायें सराहनीय रही है और संस्कृत साहित्य की श्रीवृद्धि में भी उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। वे विभिन्न और प्रमुख शिक्षण संस्थाओं में उच्चतम पदों पर रहे, जो उनकी गरिमा के अनुरूप है।

मेरी कामना है कि अभिनन्दन-ग्रन्थ आचार्य की विद्वत्ता और गरिमा के अनुरूप हो। समारोह की सफलता के लिए मंगलकामनाएँ।

जगजीवन राम

अटल बिहारी वाजपेयी ६, रायसीना रोड

संसद सदस्य (लोक सभा) नई दिल्ली–१

२४ जून, १९८१

आपका दिनांक १२ जून, १९८१ का पत्र प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय उपयुक्त एवं सराहनीय है। विद्वानों तथा गुरुजनों का आदर करना हमारी परम्परा के अनुकूल ही है।

अभिनन्दन ग्रन्थ समिति की योजना की सफलता के लिये मेरी हार्दिक शुभकामनाएँ।

अटल बिहारी वाजपेयी

भोला पासवान शास्त्री
संसद् सदस्य (राज्यसभा)

४०, वेस्टर्न कोर्ट
नई दिल्ली–११०००१

४ जुलाई, १९८१

मुझे बड़ी प्रसन्नता है कि आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री के प्रति सन्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया जा रहा है। संस्कृत और संस्कृति को उजागर करने में सचमुच उनकी बड़ी देन है। वे अभिनन्दन के अधिकारी हैं। मैं इस आयोजन की सफलता के लिए कामना करता हूँ

भोला पासवान शास्त्री

कृष्णचन्द्र पंत
संसद् सदस्य (राज्यसभा)

७, त्यागराज मार्ग
नई दिल्ली–११००११

४ जुलाई, १९८१

यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री की सेवाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से उनके सहयोगियों, शिष्यों व अनुयायियों ने अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया है। आचार्य शास्त्री जी के द्वारा विभिन्न स्थानों पर की गयी सेवाओं से सारा संस्कृत जगत प्रभावित हैं। इन्होंने अपने जीवन का सर्वोत्तम काल पठन-पाठन और अध्ययन में लगाया है। इनकी गणना देश के चोटी के विद्वानों में है। दक्षिण भारत के होने पर भी इन्होंने राष्ट्रीय भाषा हिन्दी का अध्ययन किया है। इन्होंने अनेकों ग्रन्थों को लिखा तथा संपादन किया है।

मैं शास्त्री जी के उज्ज्वल जीवन की कामना करता हूँ। और आपके द्वारा प्रकाशित होने वाले अभिनन्दन ग्रन्थ को अपनी शुभ कामनायें प्रेषित करता हूँ।

कृष्णचन्द्र पंत

गवर्नर, वेस्ट बंगाल

राज भवन
कलकत्ता
६ जुलाई, १९८१

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मीमांसा, योगतन्त्र एवं साहित्य के श्रेष्ठ विद्वान् आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के आदरणार्थ अभिनन्दन ग्रन्थ अगस्त महीने में प्रकाशित होने वाला है। मैं इस अवसर पर अपनी अनेक शुभ-कामनायें भेजता हूँ एवं श्री पट्टाभिराम ने संस्कृत साहित्य क्षेत्र में जो सेवायें की हैं और कर रहे हैं, उसके लिए भी मंगलकामना भेजता हूँ।

टी० एन० सिंह
राज्यपाल, पश्चिम बंगाल

MINISTER OF STATE
HOME AND PARLIAMENTARY AFFAIRS
INDIA

NEW DELHI
July 1J, 1981

Thank you for your letter dated the 12th June, 1981. I am glad to know that you are bringing out a Felicitation volume in honour of Shri Pattabhiramji Shastri, Honorary Professor Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi. Shri Shastri's contribution in the field of the development and propagation of Sanskrit literature is par excellence. In upholding our age old tradition and heritage and in spreading it to the masses he is second to none. It is a good gesture on the part of friends admirers to present him a Abhinandan Grantha. I wish him many more years of dedicated service and send my good wishes on this occasion.

P. VENKATASUBBAIAH

LOKAPATI TRIPATHI
HEALTH MINISTER, U. P.

VIDHAN BHAWAN
LUCKNOW
Dated : June 26, 1981.

Message

I am glad that the associates, disciples admirers of Acharya Pattabhiramji Shastri have decided to present a felicitation volume to him as a token of appreciation of his services to the country in general and Sanskrit literature in particular.

The only pure method of assessing the greatness of civilization of a country is through its literature. Everyone knows that India's civilization is very old-if not the eldest. Our important scriptures are in Sanskrit and it is also well known that our scriptures are the repositary of knowledge.

In this context Acharya Shri Pattabhiramji has done a great service to the country. The spirit with which he has worked should be emulated by those who have got some insight of Sanskrit literature. They should not be satisfied with merelyeulogizing the services of Acharyaji; they should pick up the work, continue it and pass it on to the next generation till we are able to achieve what we have nearly forgetten due to western influence on us.

I wish the venture complete.

LOKPATI TRIPATHI

Dr. R. C. DWIVEDI
Professor of Sanskrit
& Dean, Faculty of Arts
No. 3070

UNIVERSITY OF RAJASTHAN
JAIPUR-302004,

Dated 7th August 1981.

Pandit Pattabhiram Shastri

I came into first contact with Shri Shastriji through the courtesy of my friend and his favourite pupil Dr. Mandan Mishra about two decades ago. As he is the teacher of my friend Dr. Mandan Mishra I also regard him as is he were my teacher. However, Shastriji always took me as a friend and a scholar denying me the privilege of being his student. He has a pronounced weakness for his students who were renowned scholars in the country. He denied me this privilege so that I may not exploit his weekness for his students. Shastriji is known for his traditional scholarship in various branches of Sanskrit, including Mimamsa, Nyaya and the Sahitya. To be a poet Mimamsaka or Naiyayika is pretty difficult. Shastriji is an exception to this rule. I have enjoyed his hospitality whenever I had a chance to visit Varanasi. He is considered to be the best scholar of the Indian tradition in the country, whose opinions are respected by the Pandits of Varanasi and the Shankracharyas of all the peethas. He has great sense of honour which again is uncommon amongst Sanskrit scholars. His command over the Shastras, which are no longer in vogue, is remarkable. He is not afraid of Spousing such causes, which are opposed by conservatives hawks among the traditionlists. His testimony is a testament of progressive outlook of the renowned Sanskrit Pandit that India has today. On one occasion I was associated with him as an expert in a selection for the post of Professor in Sanskrit. He put questions in a manner as if he wanted to learn the answers from the candidates appearing for interview. I felt rather embarrassed because as an expert I thought it proper to assume air of omniscience. The candidates felt for sometime as if they knew a little more than Shastriji did. However this did not compromise his capacity for making a right decision. On one or two occasions he was present in the lectures which I delivered in some institutions. He was there to preside over my lectures. In his remarks he always allowed me to feel that I speak better Sanskrit than he, where as it is a fact that the felicity that he commands over classical languages knows no match. He has trained a number of scholars in various disciplines in different centres of Sanskrit learning, including Maharja Sanskrit College, Jaipur, the University of Calcutta, Banaras Hindu University and Sanskrit University, Varanasi. He was the last outstanding Principal of the century-old Sanskrit Collage, Jaipur which had galaxy of scholars in the past. The town of Jaipur came to be known as a second Kashi (*Chhoti Kashi*). I gather that the fake coins here tried to drive out the best coin of the Indian scholarship. They may have had a feeling that they had succceded when the Calcutta University invited him to its Department of Sanskrit Rajasthan since then remains a dry land in traditional Sanskrit scholarship. What will happen to India when scholarship of his eminence and talent will no longer be available to important centres of Sanskrit such as Kashi. It is a privilege to be with him when you khow that his blessings count. He is not merely a scholar. He is a spiritualist of the old order and seems to have direct communication with divinity. Which makes or mars the destiny of the individual. For this I may not call him Tantr-ik, because this term now is in abuse.

R. C. DWIVEDI

शंकरसदन
आदित्यनाथ मार्ग, जयपुर
२१-६-८१

आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री। महाराजा संस्कृत कालेज, जयपुर में बिराजे, उन वर्षों में मेरा उनसे सम्पर्क होता रहा। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय तो शास्त्रचर्चा करने पर या उनके पास अध्ययन करने वाले सौभाग्यशाली विद्यार्थियों को ही प्राप्त होता था। मेरे लिए तो "विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्" एवं "गुणीगुणं वेत्ति न वेत्ति निर्गुणः" आदि उक्तियां ही चरितार्थ होती हैं। परन्तु उनका सौजन्य तो कुछ ही देर के सम्पर्क से ही प्रकट हो जाता था। टीकाकर मल्लिनाथ की भांति "लोकेऽस्मिन्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं-यशः" एवं "विद्या ददाति विनय" के वे मूर्तिमान् उदाहरण हैं। उनकी दिनचर्या, वेषभूषा और उनका व्यवहार भारतीय संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा के प्रत्यक्ष सूचक है।

शास्त्री जी के प्रति अगाध श्रद्धा के कतिपय सुमन अर्पण करता हुआ मैं उनके सुस्वास्थ्य एवं दीर्घजीवन के लिए भगवान् विश्वेश्वर से प्रार्थना करता हूँ।

लक्ष्मीलाल जोशी
(भू० पू० अध्यक्ष—राजस्थान लोकसेवा-आयोग)

देवी शंकर तिवारी

नं० १ म्यूजियम मार्ग,
जयपुर-४

दिनांक १७ जुलाई, १९८१

आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री—जैसा मैं उन्हें जानता हूँ

कुछ लोग अपनी विद्वत्ता की ऐसी छाप छोड़ जाते हैं जिसे कभी भुलाया नहीं जा सकता। ऐसे ही व्यक्तियों में पं० पट्टाभिराम शास्त्री हैं। मेरा उनसे परिचय सन् १९४६ में हुआ, जब मैं जयपुर राज्य में शिक्षा मंत्री था और वे थे महाराजा संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य। पंडित जी से मेरा अक्सर मिलना होता था और मुझे ऐसा लगता था कि वे एक प्रभावशाली वक्ता के अतिरिक्त कुशल अध्यापक एवं प्रशासक भी हैं। वैसे तो उनका अधिकार सभी शास्त्रों पर है, परन्तु इनकी अधिक रुचि वेद मीमांसा शास्त्र में है—जिस पर अनुसन्धान कार्य करने के लिए इन्होने अपने विद्यार्थियों को प्रोत्साहित किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर जयपुर महाराजा ने उन्हें विद्यासागर की उपाधि से सम्मानित किया था। मुझे ज्ञात हुआ है कि इस समय भी शास्त्री जी प्रतिदिन अपना समय अध्ययन में व्यतीत करते हैं। ईश्वर से प्रार्थना है कि चिरकाल तक संस्कृत साहित्य सेवा इनके द्वारा होती रहे।

देवीशंकर तिवारी
(भू० पू० अध्यक्ष—राजस्थान लोकसेवा-आयोग)

सन्ति सन्तः कियन्तः

पूज्य श्री पट्टाभिराम जी के अभिनन्दन की योजना है यह जानकर प्रसन्नता हुई। इस विचार को मूर्त्त रूप देने के प्रयास करने वाले योजक भी अभिनन्दनीय हैं।

शास्त्री जी की विद्वत्ता के विषय में कुछ कहने का मैं अधिकारी नहीं हूँ—इसलिये "अव्यापारेषु व्यापारः" नहीं करूँगा। उनके सौजन्य, नम्रता, सरलता आदि गुणों की छाप मेरे मन पर यह पड़ी है कि अगाध पाण्डित्य से भी वे शुष्क, नीरस या दम्भी नहीं बने यह बड़ी उपलब्धि है और वास्तविक विद्वत्ता का प्रमाण भी। श्री हर्ष की भाषा में "प्राज्ञंमन्यमना" व्यक्ति "खल" हो सकते हैं और कालिदास तो यह कल्पना करते हैं कि "वेदाभ्यासजड़" व्यक्ति "विषयव्यावृत्तकौतूहल" ही होते हैं उनसे किसी मनोहर सृष्टि की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। शास्त्री जी ने न केवल एक परिपूर्ण और सफल जीवन बनाया है किन्तु उसे सरस और सपुष्प भी बनाया है शास्त्री जी विशाल शिष्य-समुदाय सुहृत्परिचितों के वृन्द की परम श्रद्धा के पात्र उन्हीं उपलब्धियों के कारण बने हैं।

आध्यात्मि दृष्टि से भी तो हम लोग मानते और जानते हैं कि न केवल हमारा ब्रह्म स्वरूप, किन्तु जीव-स्वरूप भी, सच्चिदानन्द मय है ज्ञान, कर्म और भक्ति की सम्पूर्ण, अखण्ड (और अखड्य) अभिव्यक्ति है दर्शन, स्वधर्म पालन और काव्यास्वाद की त्रिवेणी में अवगाहन करते हुए शास्त्री जी परिणत वय में भी साधना, सेवा और तपस्या में लगे रहते हैं यह हमें आश्वस्त करता है कि वे "शरदः शतम्" तक अध्ययन अध्यापन में निरत रहेंगे और प्रेरणा देते रहेंगे।" भूयश्च शरदः शतात्"

पट्टाभिषेक के समय की भगवान् राम की अभिराम मूर्ति (शास्त्री जी ने स्वयं अपने नाम का व्युत्पत्ति अर्थ मुझे यही बतलाया था) के समान यह सौम्य, गंभीर, मनोरम विद्वान् सभी सहृदय विद्वानों की श्रद्धा का पात्र है और बना रहेगा इन्हीं शब्दों से मैं उनका अभिनन्दन करता हूँ।

एल० ओ० जोशी

(भू० पू० के न्याय शिक्षा मन्त्रालय-संयुक्त-सचिव)

शुभकामना

पण्डितप्रवराः श्री पट्टाभिरामशास्त्रिणो मे मनीषिमित्राणां प्रथमश्रेण्यां प्रथमं स्थानमधिकुर्वन्ति। एभिः सह मम परिचयस्तदाऽजायत यदैते काशी हिन्दूविश्वविद्यालये महामहोपाध्यायपण्डितचिन्नास्वामिशास्त्रिभ्यो मीमांसाशास्त्रं शाब्दिक-दार्शनिक-कविवर्येभ्यः पण्डेय श्री महादेवशाशास्त्रिभ्यश्च साहित्यं प्राचीनं न्यायं च स्वायत्ती कर्तुं श्रमं क्रमं च समर्चन्तोऽवर्तन्त। प्राक् साधारणतया प्रवृत्तोऽयं परिचयः प्रत्यहमुपचीयमानो यथा कालं घनिष्ठमैत्र्यां पर्यणमत, वयसा सप्तभिर्वर्षैर्मामतिशयाना इमे सहोदरानुजन्मस्नेहधारया सेकसातत्येन मम सम्वर्धने सदैवानन्दमविन्दन्। एत एव मां मम च्छात्रीयगुणवर्णनेनात्मनो गुरूणां श्री चिन्नास्वामिशास्त्रिणामनुग्रहास्पदमकुर्वन्नहं च विनमये एषां बुद्धिवैभवं शीलं विनयादिकं च निर्वर्णयन्नात्मनो गुरूणां महामहोपाध्यायविद्वत्प्रवरश्रीबालकृष्णमिश्रमहोदयानां शिवोपासकानां श्री शङ्करतर्करत्नदेवशर्मणां च स्नेहभाजोऽकरवम्। इत्यमावयोः भ्रातृभावो गुरुद्वारेणापि उत्तरोत्तरं वृद्धिमानमासादयत् वाराणस्यां तदानीं जायमानेषु शास्त्रीयविचारेषु वादाहवेषु परिसवादप्रभृतिस्वस्वन्येषु शैक्षिकायोजनेषु संस्कृताभिनय कार्येषु सांस्कृतिककार्यक्रमेषु च महता सौहार्देन सहयोगभावेन च सर्वदैव आवां प्रावर्तावहि।

आवयोश्छात्रजीवनसमये दक्षिणदेशतो मध्वसम्प्रदायाचार्याः श्रीमन्तः सत्यध्यानमुनयः सपरिवाराः काश्यां कियत्कालमुषित्वा शाङ्कराद्वैतवादं दूषयितुं कतिपयाः पण्डितसभा आयोजयन्, काशीस्थैः शाङ्करसिद्धान्तबद्धादरैः पण्डितैस्तेषां पक्षं प्रतिक्षेप्तुं महान् समारम्भोऽकारि, तदानीभावाभ्यामुक्तमध्वाचार्याणां तत्पक्षपोषकपण्डितानां च शास्त्रीय-पद्धत्या यन्मुखमुद्रणं व्यधायि तत्तदाभान्तनपण्डितवर्गस्य प्रसन्नताया आवाभ्यां तदीयायाः शुभाशिषश्चाविस्मरणीयं मूलमभवत्।

श्रीशास्त्रिणो विद्यार्थिजीवन एवात्मनो विनयप्रतिभापरिश्रमौ काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य जन्मदातृकुलपतीन् महामनसः पण्डितमदनमोहनमालवीयमहोदयानन्यान् विश्वविद्यालयस्य अधिकारिणो विद्वज्जनांश्च तथा प्राभावयन् यथा आचार्यपरीक्षोत्तरणानन्तरं त्वरितमेव नवसृष्टे मीमांसाध्यापकपदे नियुक्तिं प्राप्नुवन्, अध्यापकदायित्वे प्राप्ते श्रीशास्त्रिणां पाण्डित्यं वैद्युत्या गत्या प्रभूतं प्राद्योतत, येनैषां प्रियतमा कोर्तिः लोकस्य विदुषां नागरिकाणां च समाजे प्रवेशाय समग्रां निजां लज्जमजहात्। फलतया प्रियतमाया-अनुसरणवैवश्यादिमे वाराणसीमत्यजन्, यत्परिणामतया राजस्थानं वङ्गदेशश्च जयपुरे कालिकातायां च क्रमेण महाविद्यालयप्राचार्यपदस्य विश्वविद्यालये मीमांसाध्यापकपदस्य च द्वारेण श्रीशास्त्रिभिः मुखमुपाक्रियेताम्। न केवलमिमावेव प्रदेशावेषां सम्पर्के विद्यालाभेन चारित्रिकप्रकाशादनेनचोपकृतौ, अपितु दिल्लीप्रभृतयोऽन्येऽपि वरिष्ठा भारतस्य भागा एभिरुपकृता अद्याप्येतान् सबहुकामं स्मरन्तो मनागपि न श्राम्यन्ति।

श्रीशास्त्रिणोऽध्यापने, प्रवचने, ग्रन्थसम्पादने, नूतनप्रबन्धप्रणयने, शिक्षितानां प्रतिष्ठापने संवर्धने च, जन्मपत्राणां फलादेशने, व्यवहारे लोकस्य स्वाभिमुखमावर्जने च अभिरामां सकामां निपुणता दधतीत्येतत् प्राचीनपरिपाटी-पण्डितेभ्यो वैलक्षण्यं किमप्येतेषु निरुपधिश्रद्धाबद्धं कर्तुमर्हति। तदेवमीदृशमनीषिणां बहिरवस्था नेनात्मनः कांचिद् रिक्ततामनुभवन्ती विश्वनाथपुरी वाराणसी एषां सन्निधानं प्रतिपलं चिन्तयन्ती वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्यकार्यपद-प्रसाधनव्याजेन श्रीशास्त्रिणां बाह्याकर्षणघर्षणे पुनर्बहिर्गमनवैमुख्यसंकल्पजनने च साफल्यमलभत।

इदं वाराणस्या विदुषां विद्यार्थिनां नागरिकाणां च महत्सौभाग्यं यत्साम्प्रतं श्रीशास्त्रिणः आत्मनः शीलस्य, सौजन्यस्य, वैदुष्यस्य, चारित्र्यस्य सुस्निग्धव्यवहारस्य चाऽसदृशसौरभेण सर्वानेवतान् सुखयन्तः संवर्धयन्तश्च वाराणस्यां विराजन्ते।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्तु श्रीशास्त्रिणां गुणगणैस्तथा मुग्धो विद्यते यथा न कदाप्येनानात्मनोऽसम्बद्धान् दिदृक्षते, इदमेव कारणं येन स सम्मानितप्राध्यापकपदप्रदानेनैकं क्षणमप्येतद्विरहितो बुभूषति। सन्ति यद्यप्यन्येऽपि कतिपये सम्मानितप्राध्यापकाः, परं पाण्डित्यलोकचातुर्योभयसम्पन्नतया स्मरणप्रसङ्गे श्रीशास्त्रिणां सम्बन्धे पद्यमिदं प्रसभं स्मृतिपदवी मारोहति—

कामं नृपाः सन्तु सहस्रशोन्ये राजन्वती माहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥

एषा चर्चाऽपि श्रीशास्त्रिसंदर्भे हातुमशक्या यद् 'उत्तरप्रदेशसंस्कृतअकादमी' संज्ञया उत्तरप्रदेशस्य महत्या संस्कृत संस्थया शासकीयधनराशेस्ताम्रसम्मानपत्रस्य च महामहिमराज्यपालद्वारासमर्पणेन श्रीशास्त्रिणां सभाजनंविधाय मम तदाध्यक्ष्यं गरिमाणमसादयतीति महत्सुकृतमात्मनो मन्ये।

श्रीशास्त्रिणः स्वस्थाने शताब्दाधिक जीवनेन धर्मं, संस्कृतिं संस्कृतविद्यां च सेवमाना मादृशानात्मीयजनानात्मनः स्नेहमयसद्व्यवहारेण बलयतो विदध्युरिति सान्नपूर्णं भगवन्तं काशीविश्वनाथमहर्निशं प्रार्थये।

बदरीनाथ शुक्लः
भू० पू० कुलपति सं० सं० विश्वविद्यालय

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी

शिक्षा सचिव

भारत सरकार

नई दिल्ली दिनाङ्क ११-८-१९८१

मुझे यह जानकर विशेष प्रसन्नता है कि आचार्य पट्टाभिराम शास्त्री की वैदिक वाङ्मय के विभिन्न अङ्गों की सेवाओं के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से आप लोगों ने एक अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित करने का निश्चय किया है। आचार्य शास्त्री जी मूर्धन्य कोटि के विद्वान् हैं। वह स्वयं में एक संस्था हैं और उनकी विद्वत्ता एवं परिश्रम के फलस्वरूप वैदिक साहित्य में रुचि रखने वालों का मार्ग दर्शन एवं ज्ञान वर्धन हुआ है। मैं इस सुअवसर पर आचार्य जी के प्रति अपने आदर और प्रतिष्ठा की भावनाएं व्यक्त करना चाहता हूँ और ईश्वर से यह भी प्रार्थना करता हूँ कि वह शास्त्री जी को हर प्रकार से स्वस्थ करें ताकि वह और भी अधिक सेवा प्राचीन एवं वैदिक दर्शन तथा साहित्य की सेवा कर सकें।

त्रिलोकी नाथ चतुर्वेदी

रामं पट्टाभिरामं प्रणमति शिरसा धीमतां वन्दनीयं
मूर्धन्यं पण्डितानाममरममरवाङ् मण्डनं भूसुराणाम्।
मीमांसाकेसरिणंनवरसरुचिरं गर्जितं चैष बिभ्रद्
दीर्घयुर्दीर्घकीर्तिः प्रथयतु परितो वेदविद्याविलासान्॥

इति श्रद्धावनतस्य

रामकरणस्य

निर्देशकः राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानस्य

उपशिक्षापरामर्शदाता (संस्कृतस्य)

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालयः

डा० सी० आर० स्वामिनाथः
सहायक शिक्षा परामर्शदाता
केन्द्र शासन
प्रणामाः

द्राविडदेशाद्विद्याधिदेवताया राजधानीं स्वर्धुनीविश्वनाथाभ्यां पवित्रितां काशीनगरीं प्रति बहवो विद्याव्यसनिन आगत्य तत्रैवाविमुक्तक्षेत्रेऽविमुंचन्तीमात्मीयतामनुभवन्तः निजनिर्दोषवैदुष्यमकरन्द सौरभसमाकृष्ट विनयेभृंगवृन्दमाकण्ठमातर्प्य जन्मसाफल्यमवाप्तवन्तः, तत्रैव मुक्तिक्षेत्रे ज्ञानवैराग्यभिक्षाप्रदानायानवरत-मुद्यतकराया अन्नपूर्णाया अव्याजकारुण्येन साधनचतुष्टयसम्पत्तिसमेधिताः करतलामलकप्रायां मोक्षलक्ष्मी-मवापुः। एतादृशेषु द्राविडाचार्येष्वन्यतमाः प्रातःस्मरणीयाः श्री चिन्नस्वामि शास्त्रिणः स्वाराध्यदेवताया वाग्देव्या एवापरावतारभूतां स्वकीयां कन्यां मीमांसादि विविधशास्त्रेषु स्वकीयं वैदुष्यं चैकस्मिन्नेव पात्रविशेषे निक्षेपरूपेण न्यस्तव्यमित्याशयाः स्वान्तेवासिवर्यषु श्री पट्टाभिरामशास्त्रिषु न्यासोचक्रुः। उभयोरपि पालन-पोषणेन निजामनन्यसाधारणीं गुरुभक्तिं प्रदर्शयन्तः श्री पट्टाभिरामशास्त्रिणः गृहस्थधर्मस्याचार्यधर्मस्य च युगपन्निदर्शनायिताः "प्रवर्त्तितो दीप इव प्रदीपा" दिति कविगिरं सार्थीकुर्वन्तो विराजन्ते। राष्ट्रपति पुरस्कृतानां जगद्गुरुचरणैः श्री काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वरैः श्रीशंकराचार्यपादैः सम्भावितानामाबालवृद्ध माचाकुचैलकुबेरं सर्वैः प्रेम्णा प्रश्रयेण श्रद्धया चाश्रितानां शास्त्रिवर्याणां सर्वत्रकरप्रसारि यशोभास्करस्य पुरतः नमोवाकं समर्पयन् आत्मानं कृतार्थं मन्ये।

इति शम्।

डा० सी० आर० स्वामिनाथन्
११-८-८१

PROFESSOR SRIMATI
KAMALA RATNAM

'ISHAN'
F-1/7, HAUZ KHAS ENCLAVE
NEW DELHI-110016 (INDIA)

Dated 27th July, 1981.

I am very well acquainted with Acharya Pattabhiram Shastri of Varanasi. He is a man of great erudition of Mimamsa-logic and Nayika-bheda. He possesses a rare ability to perceive the abstract as well as the beautiful. I cherish my first meeting with him at Ujjain when he came as a great speaker for the annual 'Kalidasa Samaroha' and held the audience spell bound for over an hour. I also remember him for his admirable wife who is an image of womanly grace and culture. The couple could easily be reincornations of Vasishta and Arundhati.

I wish him a full one hundred Years of life span and much joy in life.

KAMALA RATNAM

विनयावनतकी प्रार्थना

मीमांसा किसे कहते हैं, मैं नहीं जानता। देवभाषा संस्कृत से मेरा उतना ही परिचय है, जितना हमारे समकालीन उन महानुभावों का है, जो अंग्रेजी भाषा की अधकचरी जानकारी रखते हैं। मैं अपनी गिनती उन लोगों में भी नहीं कर सकता, जिन्होंने अंग्रेजी पुस्तकों के माध्यम से संस्कृत भाषा, संस्कृत साहित्य तथा इन दोनों की विशेषताओं का थोड़ा-बहुत ज्ञान कर रखा है। किन्तु यह बात मैं अवश्य जानता हूँ और निःसंकोच कह सकता हूँ यदि संस्कृत भाषा तथा साहित्यका पाण्डित्य एवं मीमांसाकी विशेषज्ञता पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री जैसे पुरुष श्रेष्ठ प्रस्तुत कर सकते हैं, तो यह तीनों मेरे लिए पूज्य हैं।

अमेरिकी विचारक और लेखक एमर्सनने, जो भारतीय संस्कृति और संस्कृत वांङ्मय का बड़ा अध्येता था, सज्जन की परिभाषा इस प्रकार की है :—

"जो निष्कपट है, भीतर बाहर एक समान अथवा समरूप है, निष्ठावान् है, जो स्वभाव से मानवीय तथा मृदु है, स्वयं स्वाभिमानी है और दूसरों के स्वाभिमान का रक्षक है, जो अपनी बात का पक्का है और विधि विधान के प्रति जगदीश्वर और मानव दोनों के प्रति समानरूप से निष्ठावान् है— वैसा ही मनुष्य सज्जन है।" निरभिमान व्यक्तित्व पाण्डित्य का बहुत बड़ा प्रमाण है। सज्जन की इसके अधिक अच्छी परिभाषा संस्कृत भाषा में और शायद अंग्रेजी भाषा में भी अवश्य होगी। मैं यह मानकर चलता हूँ कि एमर्सन जैसा ब्रह्मभक्त ("ब्रह्म" पर एमर्सन की लम्बी अंग्रेजी कविता बहुत समादरित है) अवश्य ही संस्कृत भाषा से प्रभावित रहा होगा।

कांची कामकोटि पीठ के शंकराचार्य जगद्गुरु श्री जयेन्द्र सरस्वती जी को जब कभी विद्यार्थियों एवं अध्येताओं को सम्बोधित करते मैंने सुना है, तभी आपने संस्कृत का वह श्लोक अवश्य कहा है—जिसका हिन्दी भावार्थ यह है कि "विद्या विनय देती है।" पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री ने इन परिभाषाओं के अनुरूप अपने को ढाला है, यह कहना मेरे लिए बड़ी धृष्टता की बात होगी। हाँ, यह तो हर कोई, जो भी आपके सम्पर्क में आया है, निर्विवाद रूपसे कह सकेगा कि आप जैसे लोग ही ऐसी परिभाषा अथवा व्याख्या के जनक हैं। आज के राजनीति प्रधान राष्ट्रीय जीवन में उन लोगों का बहुत ढिंढोरा पीटा जाता है—जो रंगमंच के अभिनेता की तरह स्वरूप तथा आचरण प्रदर्शित करते हैं। जो नाटक के दर्शकों से साधुवाद का भिखारी है। वह वास्तविकता से, प्रकृति से, कोसों दूर है। वह वर्तमानका कीट है, भविष्यका निर्माता नहीं है और न वह सच्चे अर्थ में मार्ग-दर्शक नेता है। वैसा मनुष्य यह तो जानता ही होगा कि जीवन की साधुता, चरित्रकी पवित्रता, अध्ययन की गरिमा तथा महिमा अभिमानी नहीं, निरभिमानी नर श्रेष्ठ की निर्माता है—जिसे देख कर जिससे सीख कर, जिसका अनुकरण कर भावी पीढ़ी बनती है। राष्ट्र तथा देशका भविष्य बनता है। विद्वान् और सन्त राष्ट्र निर्माता हैं—जिनके तपस्वी जीवनसे यह पृथ्वी टिकी हुई है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने श्रीमती सुब्बुलक्ष्मीके कण्ठ से भक्ति संगीत सुन कर विनयावनत होकर कहा था "मैं क्या हूँ? भक्ति संगीत की अमर सरिता में हमें उतार कर आप्लावित करने वाली इस देवी के सम्मुख तो मैं तुच्छ प्रधान मंत्री मात्र हूँ।" नेहरू जी की इस विनम्रता ने उन्हें वह सम्मान दिया—जो प्रधानमंत्री का पद उन्हें नहीं दे सका था। आज हम सब पण्डित पट्टाभिराम शास्त्री के ज्ञानसरोवरके स्नातक होने पर भी क्या भारत राष्ट्र को इसके लिए वाध्य नहीं कर सकते कि वह आपका उचित तथा योग्य सम्मान करें? इससे भी बड़ा प्रश्न यह है कि क्या ज्ञान के पिपासु भारतीय युवावर्ग आपसे वह सब प्राप्त कर सका है—जो उसे संरक्षणार्थ आगे की पीढियों के लिए अग्रसारित करने के लिए प्राप्त करता है। कांची के

जगद्गुरु शंकराचार्य श्री १००८ चन्द्रशेखरेन्द्र सरस्वती जी ने एक बार शास्त्री जी को यह उपालम्भ भी दिया था कि "तुमने जो कुछ पढ़ा था, वह भूल गये हो।" इसका इसके अतिरिक्त क्या अर्थ हो सकता है कि जगद्गुरु को यह शिकायत है कि शास्त्री जी ने जो कुछ प्राप्त किया है", उसे आगे की पीढ़ी वालों के लिए प्रचुरतः प्राप्त नहीं कराया जा रहा है। अभी समय है, पण्डित पट्टाभिराम जी शास्त्री से बहुत कुछ प्राप्त कर संरक्षित किया जा सकता है। भारत के विश्वविद्यालय तथा राज्यों एवं केन्द्र के शासनाधिकारियोंका क्या इस ओर ध्यान है ? यदि नहीं है, तो यह देश और उसके भविष्य के लिए दुर्भाग्य की बात है। वह राज्य राज्य नहीं है—जो विद्वानों का उचित तथा उनके योग्य सम्मान न कर सके।

पण्डित जी मेरे परिवार के पथ-प्रदर्शक हैं। हमारे लिए बड़े सम्बल हैं, हम सब जगदीश्वर से विनयावनत होकर आपके दीर्घजीवन की प्रार्थना करते हैं, जिससे विद्याव्यसनियों का निरन्तर उपकार तथा उत्साहवर्द्धन होता रहे।

विद्या भास्कर

सम्पादक, "आज", हिन्दीदैनिक, वाराणसी

सन्देश

जे० के० ओर्गेनाइजेशन
कमला टावर, कानपुर

दिनांक २३-६-१९८१

मुझे यह जानकर अत्यन्त ही हर्ष हुआ कि पण्डितराज विद्यासागर श्री पट्टाभिराम शास्त्री की सेवाओं के प्रति अपनी श्रद्धा और सम्मान व्यक्त करने के लिये उनके मित्रों, शिष्यों और अनुयायियों ने उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया।

दिखावे और प्रदर्शन से दूर रह कर सरस्वती की आराधना में लगे श्री शास्त्री जी वैदिक-साहित्य के अथक अध्येता और पण्डित हैं। उनकी गणना देश के चोटी के संस्कृत के विद्वानों में हैं।

७३ वर्ष की आयु में ही आज वे प्रतिदिन अध्ययन-अध्यापन और लेखन का कार्य कर संस्कृत साहित्य के अभ्युदय में लगे हैं और वेद मीमांसा अनुसन्धान केन्द्र के निदेशक के रूप में कार्य कर रहे हैं। ऐसे एक प्रौढ़ दार्शनिक, रसिक, साहित्यकार, सरस अध्यापक, श्रेष्ठ लेखक, प्रभावशाली वक्ता एवं योग्य शासक के प्रति हम अपनी भावभीनी श्रद्धान्जलि अर्पित करते हुए उनको सम्मानित करने के इस प्रयास की सफलता को कामना करते हैं।

आपके प्रति जो कुछ भी कहा जाय कम है। जो भी उनके सम्पर्क में आता है वह अपने प्राचीन आचार्यों से समान श्रद्धा एवं निष्ठा रखता है तथा आचार्य के रूप में उनकी श्रद्धा कर अपने को कृत कृत्य समझता हूँ।

गौर हरि सिंहानियां

एक महान् व्यक्तित्व के धनी

आचार्य श्री पट्टाभिराम जी शास्त्री

पूज्य शास्त्री जी से मेरा परिचय आज से लगभग ३० वर्ष पूर्व जब वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में रीडर थे हुआ था। उस समय कलकत्ता के संस्कृत भाषा प्रेमियों की एक संस्था थी "संस्कृत भाषा प्रचारिणी" सभा जिसका मैं सचिव था। सभा के द्वारा सम्पन्न होने वाले विभिन्न उत्सवों में मैं महाराज श्री को निमंत्रित करता—और वे बड़े उत्साह के साथ हमारे कार्य-क्रमों में पधार कर उनकी शोभा बढ़ाते। जिस किसी विषय पर उनके पांडित्य पूर्ण ओजस्वी प्रवचन को सुनकर सभी श्रोता मंत्रमुग्ध से रह जाते। वस्तुतः संस्कृत भाषा तो महाराज की मातृभाषा है और उसे भी बड़े लालित्यपूर्ण तरीके से जब से पेश करते हैं तो सभी श्रोता वाह वाह करने लग जाते हैं। इसके अलावा पूज्य शास्त्री जी का विनम्र व्यवहार भी प्रत्येक व्यक्ति को उनकी ओर सहज ही आकृष्ट कर लेता है। उनका ऋषियों जैसा मंत्रद्रष्टृत्व और कवियों जैसी क्रान्तदर्शिता उनसे सम्पर्क स्थापित करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मुग्ध कर देती हैं।

कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रान्तीयता की निकृष्ट भावना से ग्रस्त प्राध्यपक लोग यद्यपि उनके ऊपर समय समय पर अपना प्रहार करने में नहीं चूकते परन्तु प्रत्येक विद्यार्थी को वे इतने प्रिय थे कि जिससे वे लोग शास्त्री जी का बाल भी बांका नहीं कर सकते थे। अन्त में उन्होंने स्वेच्छा चाही वाराणसी वार्धवय बिताने के विचार से कलकत्ता को छोड़कर वाराणसी में रहना स्वीकार किया। आज वाराणसी के भी विद्वत समाल में उनकी बहुत ही बड़ी प्रतिष्ठा है। यतिचक्र-चूड़ामणि अनन्त श्री विभूषित स्वामी करवात्री जी महाराज के तो वे अत्यन्त ही श्रद्धास्पद और प्रिय जनों में अन्यतम हैं।

मुझ पर उनका वात्सल्य सदा ही रहा है और मेरे आत्मीय उत्सवों में आज भी जब मैं उनको निमंत्रण भेजता हूँ तो वे केवल साधारण निमंत्रण मात्र से ही सब काम छोड़कर घर को अपनी चरण रज से पवित्र करने के लिये पधार जाते हैं। मेरे बच्चों के विवाह शादी उपनयन कृत्य उनके आचार्यत्व में ही सम्पन्न होते हैं। यह मेरा सौभाग्य है।

कांची कामकोटि के जगद्गुरु भगवान शंकराचार्य के वे अन्यतम भक्त एवं कृपापात्र हैं।

यह बड़े हर्ष का विषय है कि देश के इतने बड़े महान् विद्वान मनीषी एवं एकमात्र मीमांसक शिरोमणि का उनके ही शिष्य एवं भक्त मण्डल द्वारा अभिनन्दन हो रहा है। इस मंगलमय सुअवसर पर मैं पूज्य महाराज श्री के पूर्ण स्वास्थ्य दीर्घजीवन को परमात्मा से कामना करता हुआ अपनीं भाव सुमनांजलि श्री चरणों में समर्पित करता हूं।

भगवान दत्त शास्त्री : राकेश
कलकत्ता

आचार्य्य श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिमहाभागानाम् साशिषं शुभाभिनन्दनम्

मीमांसा पारदृश्वा, सुललित कविता कामिनीकान्तमुख्य- ह्लीमन्त्रे योगतन्त्रे प्रथितबहुयशा पण्डितव्रात धुर्य्यः।
श्रीमान् पट्टाभिरामोनिखिलमुनिमनोवेद्यविष्ठ प्रतिष्ठोजीव्यात् श्रीकीर्तिनीतिस्मृतिधृतिकृतिभिर्बुधिमानः समानः।

कमलानगरम्
इन्द्रप्रस्थीयम्

समोदमभिनन्दयति
माधवाचार्य्यः
शास्त्रार्थ-महारथी

शुभाशंसनम्

पण्डितजगति श्रीमतः पण्डितप्रवरान् पट्टाभिरामशास्त्रिपादानजानन्तः के चन विरला एव स्युः। एतेषां मीमांसादिसर्वशास्त्रेषु प्रौढं पाण्डित्यं वक्तृत्वञ्च सर्वविदितमस्ति। अत एतेषां विषये यत्किमपि लेखनं नाम सूर्याय दीपप्रकाशनमिव भवेत्। तथापि सङ्क्षेपेणेदं वक्तुं शक्यं, यत्—

"अन्या जगद्धितमयी मनसः प्रवृत्ति-
रन्यैव कापि रचना वचनावलीनाम्।
लोकोत्तरा कृतिरिहाकृतिरार्तहृद्या
विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः॥"

इतिवर्णितरीत्या एतेषां जीवनं सर्वमस्ति।

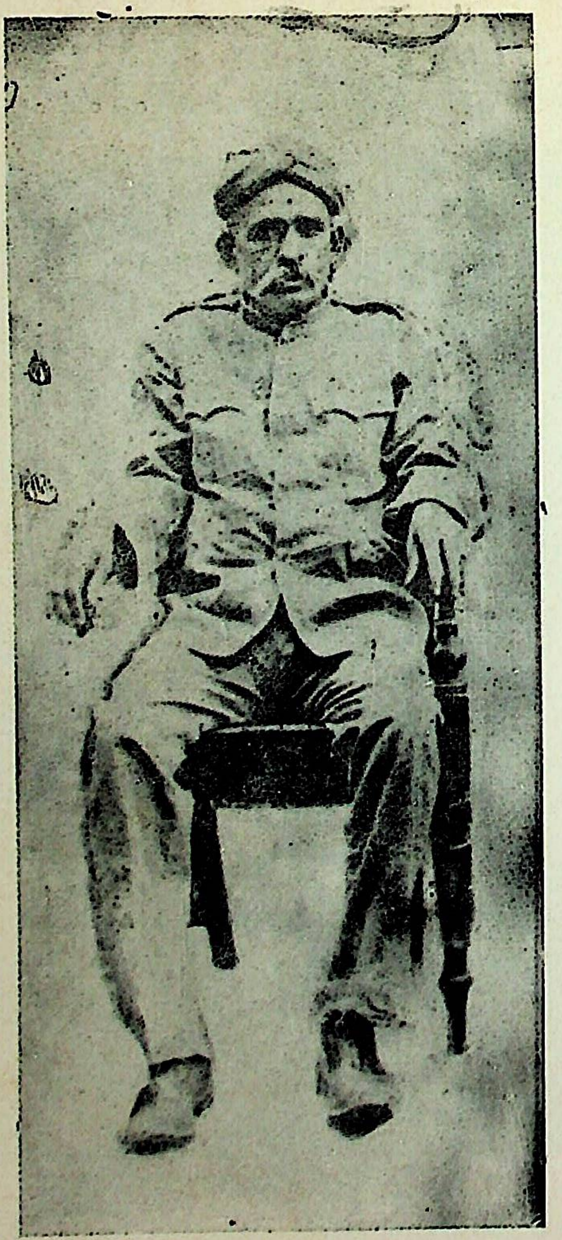
एवं "विद्या ददाति विनयम्" इत्युक्त्यनुसारेणैते विनयादिसकलगुणयुक्ता आत्मख्यातिविमुखाः सन्तीति।

"वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या भवति पञ्चमी।
एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम्॥"

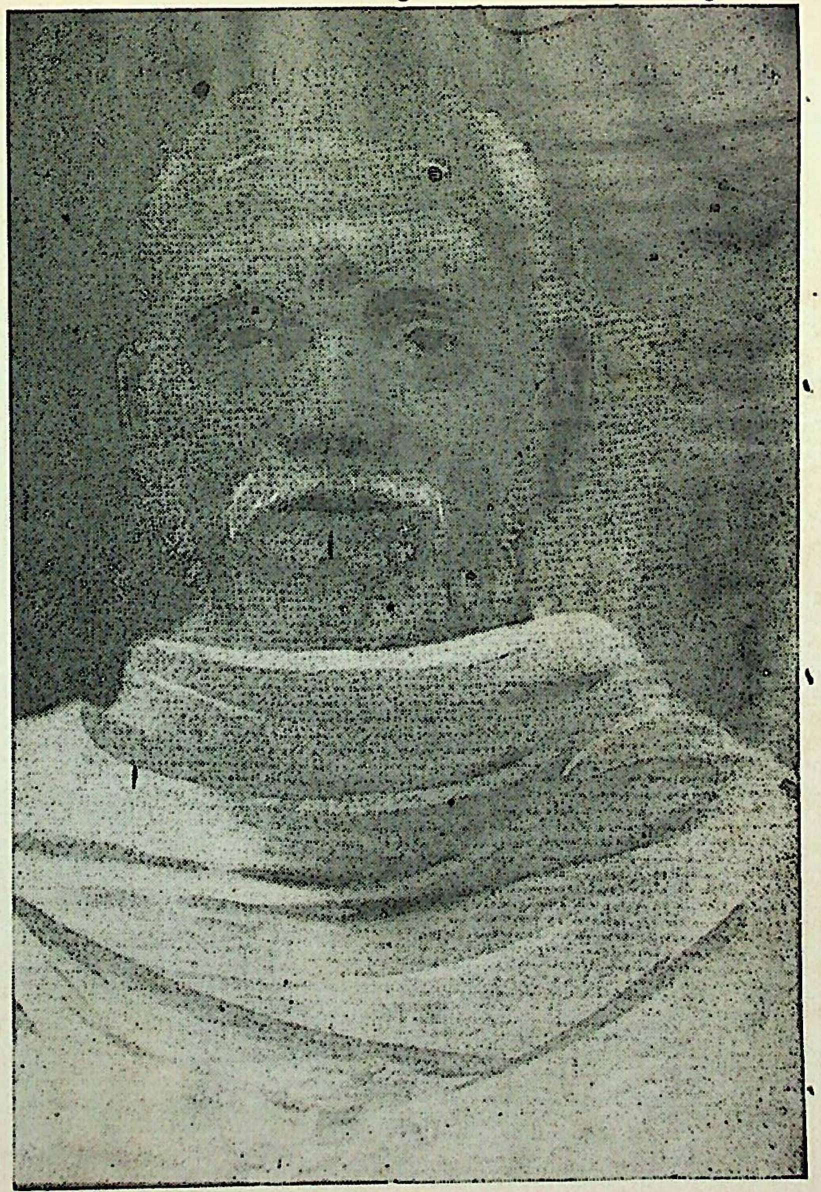
इत्युक्त्या एतादृशानां विदुषां सम्माननं सर्वेषां कर्तव्यम्। तदनुसारेणैतेषामभिनन्दनं ग्रन्थसमर्पणादिना यत् समित्या क्रियते तदतीव युक्ततरमस्ति।

एतदभिनन्दनकार्यं निर्विघ्नतया सुसम्पन्नं भवत्विति श्रीविश्वेश्वरं प्रार्थये। इति—

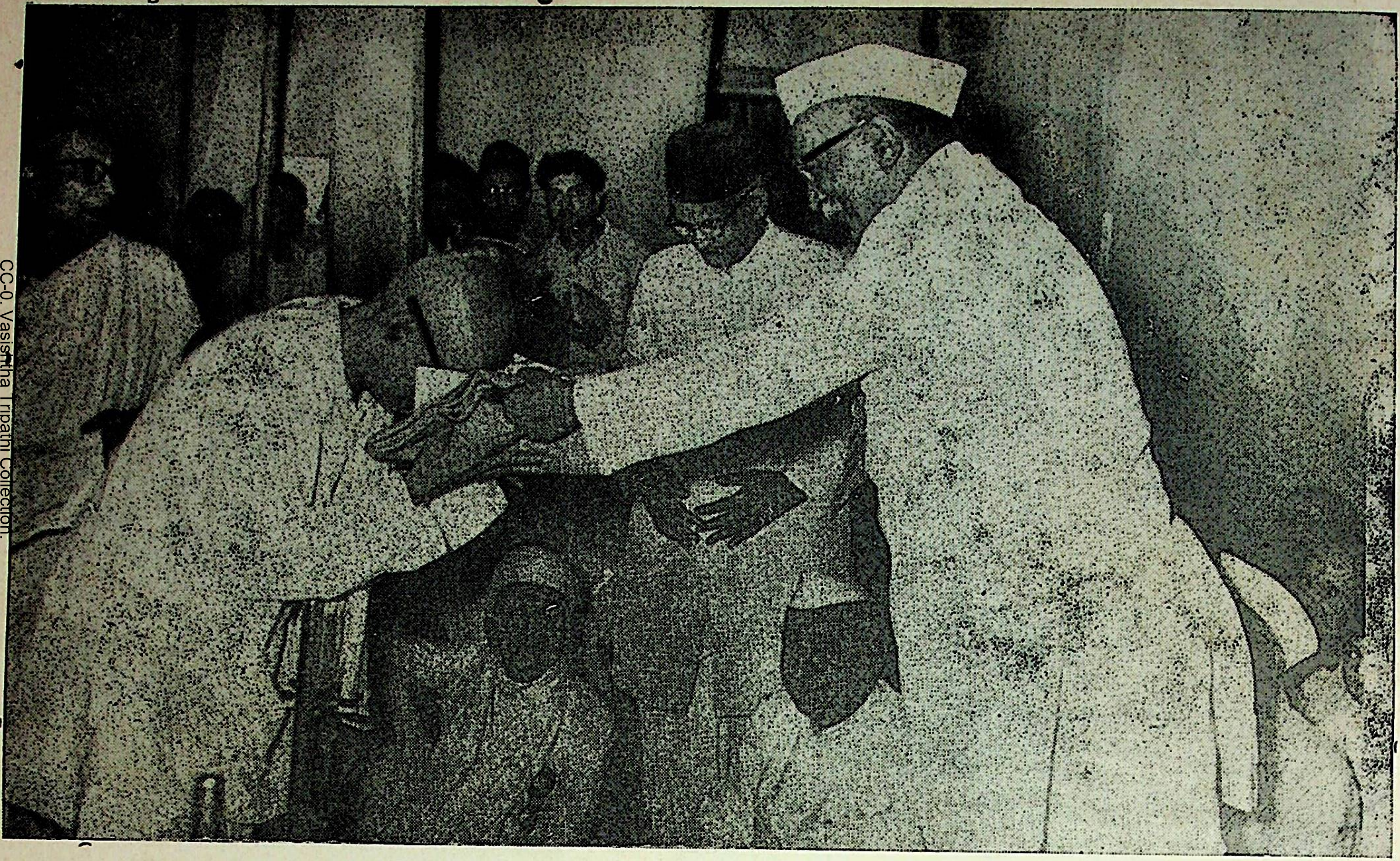
रामचन्द्रशास्त्री होखमने
अध्यक्षः
श्री व० शा० साङ्गवेदविद्यालयस्थ



श्री शास्त्री जी के पिता जी
श्री पी० एन० कृष्णशर्मा



बाल्य अवस्था में श्री शास्त्री जी को पालन पोषण कर्ता श्री शास्त्री जी
के मातुल श्री नरेशशर्मा



कलकत्ता अ० भा० सं० सम्मेलन के अधिवेशन में भारत राष्ट्रपति महामना श्री राजेन्द्र प्रसाद जो द्वारा विद्यावाचस्पति प्रमाणपत्र लेते हुए श्री शास्त्री जी

दर्शन-विमर्शः

डॉ० गजाननशास्त्रि-मुसलगाँवकरः

काशी हिन्दु विश्वविद्यालये मीमांसाधर्मशास्त्रविभागस्य भू० पू० अध्यक्षः, वाराणसी।

तत्र दर्शनशब्दः श्रुति-स्मृत्यादिषु क्वचिदर्थतः क्वचिच्छब्दतश्चोपलभ्यते। तथा च—"न्यायोमीमांसा-धर्मशास्त्राणि" इति श्रुतिरिति वात्स्यायनभाष्यव्याख्याने विश्वनाथभट्टाचार्यः[1]। याज्ञवल्क्यस्मृतावपि एतदर्थकं प्रथमाध्याये तृतीयं वचनं "पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥" इत्यत्र श्रुति-स्मृत्यादिवचनेषु न्यायमीमांसाधर्मशास्त्रशब्दैः षड्दर्शनानि गृह्यन्ते, इति सिद्धान्तचन्द्रोदय-कारादयो वदन्ति। धर्मशास्त्रपदेन सांख्ययोगयोर्ग्रहणेत्वित्थमुपपत्तिर्वेदितव्या—साँख्य-योगौ यथा प्रकृति-पुरुषेश्वरविवेकस्य मोक्षोपायत्वप्रतिपादनपरौ, तथैव धर्मशास्त्राण्यपि प्रकृति-पुरुषेश्वरविवेकपूर्वकं वर्णाश्रमधर्माणां मोक्षोपायत्वप्रतिपादनपराणि भवन्ति। तत्र धर्मशास्त्रे यानि कर्माणि विहितानि तेषां कर्मणां प्राकृतब्राह्मणादि-देहादौ नित्यस्यात्मनो भेदज्ञानमन्तराऽनुष्ठानं न सम्भवतीति प्रकृति—पुरुषविवेकः स्फुट एव। ईश्वरविवेकोऽपि धर्मशास्त्रे विद्यत एव। तथाहि—सकलधर्मशास्त्रमूर्धन्यभूतायां, वेदेनापि "यत् किञ्चिन्मनुरवदत् तद् भेषजम्" इति प्रशस्तीकृतायां सर्वैरपि वैष्णव-शैवादिभिरक्षरशो माननीयायां मनुस्मृतौ "आपोनारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥" इति। मध्येचाष्टमाऽध्याये "यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः। तेन चेदविवादस्ते मा गङ्गां मा कुरून् गमः॥" इति। अन्ते च द्वादशाध्याये "प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥" इति। "आदौ मध्ये तथाचान्ते हरिः सर्वत्र गीयत" इति रीतिर्विद्यते। यत्तु-'यम' इति श्लोकं मेधातिथिः संयमिनीपतिपरत्वेन व्याचख्यौ तत्त्वन्य-सर्वव्याख्यातृयुक्तिविरुद्धम्। तथा च प्रपन्नपारिजातग्रन्थे वरदार्यकारिकाः—"दक्षिणाशापतेरत्र न मुख्या हृदय-स्थितिः। अन्तः प्रविष्टः शास्ता यो जनानां यमयत्यपि। आत्मानमन्तरस्तस्य मृत्युर्मृत्योर्हृदि स्थितः। तेन सर्वाधि-राजेन विवस्वद्बिम्बवर्तिना॥ अविवादस्तु तस्यैव पादयोरात्मनोऽर्पणम्॥" इति। तत्र "षड्दर्शनानि मेऽङ्गानि पादौ कुक्षिः करौ शिरः। तेषु भेदं तु यः कुर्यान्मदङ्गच्छेदको हि सः॥" इति कुलार्णवतन्त्रे श्रीसदाशिववचन-मिति शब्दार्थचिन्तामणिकारादयः। स्फुटतया तु तानि तत्र "गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः। व्यासस्य जैमिनेश्चापिदर्शनानि षडेव हि" इति महीधरेण पठितानि। दर्शनशब्दो दृश्यते तत्त्वमनेनेति व्युत्पत्त्या तत्त्व-साक्षात्कारशास्त्रे योगरूढ इति मन्तव्यम्। एवञ्च गौतम-कणाद-कपिल-पतञ्जलि-वेदव्यास-जैमिनिमहर्षि-विरचितानि न्याय-वैशेषिक-सांख्य-योग-वेदान्त-मीमांसानामकानि षड्दर्शनान्येव मुख्यतया प्रसिद्धानि।

केचित्तु पूर्वोत्तरमीमांसाद्वयं, निरीश्वरसेश्वरसांख्यद्वयं, षोडशपदार्थ-सप्तपदार्थवादिन्यायद्वयञ्चेति षड्दर्शनानीत्याहुः। हरिभद्रसूरिरार्हतस्तु परमेश्वरविद्वेषी षड्दर्शनसमुच्चयनामके ग्रन्थे 'बौद्धं नैय्यायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा जैमिनीयं च नामानि दर्शनानाममून्यहो॥" इतीमानि षड्दर्शनानि निरूपितवान्। अन्ये तु पूर्वोक्तयुगलत्रयप्रतिपादितदर्शनैः सह बुद्धशिष्यवैभाषिकसौत्रान्तिकयोगाचारमाध्यमिकजैनचार्वाकदर्शनानि मेलयित्वा द्वादशदर्शनीम्प्राहुः। सर्वदर्शनशिरोमणौ सर्वदर्शनसङ्ग्रहे च चार्वाकबौद्धार्हताक्षपादौलूक्यरसेश्वर-

---

१. अस्तिश्रुतिरियं सुबालोपनिषदि।

प्रत्यभिज्ञाजैमिनिपाणिनिपाशुपतसांख्यपातञ्जलरामानुजपूर्णप्रज्ञशांकरदर्शनानि प्रदर्शितानि । यद्वा तद्वा भवतु, वेदान्तदर्शनस्यैव तु संख्या वर्द्धमाना दृश्यते, यथा शाङ्करदर्शनं, पूर्णप्रज्ञदर्शनं, रामानुजदर्शनमित्यादि । वस्तुतस्तु नैतानि दर्शनानि आचार्यनामभिः प्रथितुमर्हन्ति, किन्तु अद्वैत-द्वैत-विशिष्टाद्वैत-शुद्धाद्वैत-द्वैताद्वैताचिन्त्याद्वैतादिशब्दैरेव । अत एव तु "युक्तयः सन्ति सर्वत्र भाषन्ते ब्राह्मणा यथेति" भगवदुक्तदिशा सर्वेषामपि वेदान्तदर्शनानां शास्त्रसिद्धत्वेऽनादित्वमभिप्रेत्य "दृष्टेऽपह्नुत्यभावादनुमितिविषयेलाघवस्याऽनुरोधाच्छास्त्रेणैवावसेये विहृतिविरहिते नास्तिकत्वप्रहाणात् । नाथोपज्ञं प्रवृत्तं बहुभिरुपचितं यामुनेयप्रबन्धैस्त्रातं सम्यग्यतीन्द्रैरिदमखिलतमः कर्षणं दर्शनं नः ॥" इति तत्त्वमुक्ताकलापग्रन्थान्ते वेदान्ताचार्याः रामानुजाचार्येभ्यः प्रागपि तद्दर्शनस्य प्रवृत्तत्वमाहुः । अत्रेदमपि ज्ञातव्यं भवति, जैमिनिकृतदर्शनस्य द्वादशाध्यायरूपत्वेन प्रसिद्धत्वेऽपि देवतोपासनाप्रतिपादकचतुरध्यायात्मकसङ्कर्षकाण्डेन सह षोडशाध्यायात्मकं जैमिनिदर्शनमिति, स्फुटञ्चतद्भट्टभास्करप्रणीतभाट्टचन्द्रिकाख्ये सकर्षकाण्डसूत्रव्याख्याने "एवं द्वादशभिरध्यायैः प्रकृति-विकृतिभेदेन कतिपयान् न्यायान् विशोध्य तैरेव न्यायैरितस्ततो विप्रकीर्णान् वेदवाक्यार्थानैदम्पर्येण सम्यङ् निष्कृष्य निर्णेतुमेषा चतुरध्याय्यारभ्यत" इति । अतः सङ्कर्षसूत्रव्याख्यानयोः पादाध्यायसमाप्तिषु 'त्रयोदशाध्याय' इत्यादिलेख उपलभ्यते । अतएव श्रीरामानुजभाष्यानुसारिण्यां वेदान्ताचार्यप्रणीतायामधिकरणसारावल्यां "वेदार्थैन्यायचिन्त्ये" इत्यादिना षोडशाध्यायार्थमुपक्रम्य "तन्त्रेणाथप्रसक्त्या तत उपरि चतुर्लक्षणी देवतार्था" इति निर्णीतम् । तद्व्याख्याने अधिकरणचिन्तामणावपि "स्वरूपमादौ तद्भेदस्तदुपासनपूर्वकम् । फलं तु देवताकाण्डे देवतानां तु कथ्यते ॥" इति । सङ्कर्षकाण्डचतुरध्यायीव्याख्यानान्तेऽपि "तदेवं षोडशभिरध्यायैः षट्सप्तत्या पादैर्भगवता जैमिनिना निरूपितौ धर्माधर्मौ" इति निश्चितमेव । एवमेव वेदान्तदर्शनस्य तृतीयाध्याये शाण्डिल्यमुनिप्रणीतं भक्तिदर्शनमर्थतः सिद्धं भवतीत्याहुः । युक्तं चैतत्, तथाहि—वेदान्तसूत्रतृतीयाध्यायद्वितीयपादारम्भे पूर्णप्रज्ञदर्शने श्रीमध्वाचार्या "भक्तिरस्मिन् पाद उच्यते" इति, तृतीयपादारम्भेऽपि "उपासनमस्मिन् पाद उच्यत" इति च । तत्रैव श्रीशाङ्करभाष्यानुसारिण्यां भारतीतीर्थकृतायां व्यासाधिकरणमालायां "सर्ववेदेष्वनेकत्वमुपास्तेरथवैकता । अनेकत्वं कौथुमादिनामधर्मविभेदतः ॥" इति, एवं तत्रैव श्रीभाष्येऽपि भक्त्युपासनयोश्चैकार्थत्वमेवास्ति । तथा च प्रथमब्रह्मसूत्रे श्रीरामानुजभाष्यं "एवंरूपा ध्रुवानुस्मृतिरेव भक्तिशब्देनाभिधीयत, उपासनपर्यायत्वाद् भक्तिशब्दस्य" इति । एवमेव नारदमुनिकृतं सूत्रात्मकं भक्तिदर्शनमपि तत्रैवान्तर्भावनीयम् ।

एतावता प्रबन्धेन कृतेऽपि यथाशक्ति दर्शनशब्दविषयावगाहे दर्शनशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिदमेव नान्यदिति न निर्धारयितुं पार्यते । यत एकदर्शनत्वेनाभिमते शास्त्रे भिन्नाभिप्रायग्रन्थकर्तृभेदेनापि दर्शनभेदो दृश्यते । यथा एकस्मिन्नेव मीमांसादर्शने प्राभाकरदर्शनं कौमारिलदर्शनमित्यादि । किं बहुना ग्रन्थकर्त्राचार्यभेदाभावेऽप्यभिप्रायभेदेनापि दर्शनभेदो दृश्यते । यथा व्याकरणमहाभाष्यकारस्य पतञ्जलेरेकस्यैव मतभेदमनुसृत्य 'पूर्वं धातुरुपसर्गेण इति दर्शने' इत्यादि ग्रन्थकाराः प्रयुञ्जते । एवञ्चातिप्रसक्तिभीरुभिरस्माभिरिदानीं कणादादिषड्दर्शनेष्वेव दर्शनशब्दस्य योगरुढिरभ्युपगन्तव्या भवति । अतस्तेषामेव षड्दर्शनानां विचारोऽत्र भवष्यति ।

इदानीमियं विचारणा भवितुमर्हति—षड्दर्शनेषु किं दर्शनं पूर्वं, किं परमिति ? तत्र षण्णामपि दर्शनानां समानकालिकत्वमेवेति केचित् । अन्ये पुनः कपिलस्य प्राचीनत्वं पतञ्जलेस्तत्परत्वं गौतमकणादव्यासजैमिनीनामर्वाचीनत्वमिति । केचन पूर्वं बादरायणीयं ब्रह्ममीमांसादर्शनं सम्बभूव, ततो जैमिनीयं धर्ममीमांसादर्शनं, ततो गौतमन्यायदर्शनं, ततः काणादं वैशेषिकदर्शनं, ततः कापिलं सांख्यदर्शनं, ततः पातञ्जलं योगदर्शनमिति क्रमम्प्राहुः । त्रिष्वपि पक्षेषु हेतूनामनुपन्यासात् न ते रुचिकराः । यत्तु 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इति वेदान्तद्वितीयाध्यायतृतीयसूत्रे योगखण्डनेन "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे बिभर्ति" इति श्वेताश्वतरोपनिषदि

कपिलनामदर्शनेन च कपिल-पतञ्जल्योः प्राचीनत्वं न मन्तव्यम्। तयोः श्रुतिसूत्रयोरनादिसिद्धकपिल-योगकर्तृपरत्वेनाधुनिकदर्शनविषयपरत्वाभावादिति स एव युक्तिसमाधानमाह। तदतिस्थवीयस्तर्कविरुद्धञ्च।

इदमत्राकूतमाभाति—चतुर्दशविद्यास्थानत्वेनाभिमतानां दर्शनानां यद्यप्यनादित्वमेव सर्वेषाम-भिमतं, तथापि वेदानां यथा पाठानुपूर्व्याऽनादित्वं तथा तदितरेषां नास्ति, किन्त्वर्थत एव। एवमेव नारायण-प्रेरितास्ते ते महर्षयस्तत्तत्कालेषु भिन्नानुपूर्वीकान् ग्रन्थान् प्रादुर्भावयन्तीति स काल एव तेषामन्वेषणीयो भवति। ततश्च कालमहिम्ना कदाचिन्नास्तिका एवं संसारे अधिका जातास्तेषामवैदिकत्वेन युक्त्यैव तान् निराकर्तुं भगवता गौतमेन युक्तिगर्भितं न्यायशास्त्रमारचितम्। सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः इति न्यायमनुसरन्तः श्रीशङ्कराचार्याः सर्वशून्यवादनिराकरणार्थं निर्विशेषब्रह्मवादमास्थापितवन्त इति वदन्ति केचित्सयूथ्याः।

ततो न्यायशास्त्रे षोडशपदार्थानां चतुःप्रमाणानाञ्च प्रतिपादनसत्त्वेन गौरवमसहमानः कणादो लाघवार्थं सप्तपदार्थात्मकं द्विप्रमाणगर्भितं वैशेषिकशास्त्रं तदनुरूपमेव युक्तिगर्भितं निर्ममे। तदनन्तरं न्याय-वैशेषिकरीत्या निमित्तकारणमीश्वरं मन्वानो भगवान् पतञ्जलिर्योगशास्त्रं प्रादुश्चकार। ततो योगशास्त्रोक्तं प्रकृति—पुरुषविवेकमात्रमधिकं मन्वान ईश्वरविषये उदासीन इव अग्न्यवतारः कपिलः सांख्यशास्त्रं निर्मितवान्। ततश्च प्रकृति-पुरुषविवेकपूर्वकं यज्ञादिकर्मणामेव प्राधान्यं मन्वान ईश्वरविषये उदासीनइव जैमिनि-मुनिः पूर्वमीमांसां प्रणीतवान्। एषां पञ्चानामपि दर्शनानां वैदिकविषयेऽसामञ्जस्यं परिहरिष्यन् नारायणा-वतारो भगवान् बादरायणो ब्रह्मसूत्रैर्वेदान्तदर्शनं विरचितवान्। अयं तावद्युक्तिक्रमः प्रदर्शितः।

इदानीं सूत्रैरपि यथोपलब्धि षड्दर्शनानां पौर्वापर्यक्रमः प्रदर्श्यते। तथाहि—न्यायदर्शने "प्रत्यक्षा-दीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः" इति द्वितीयाध्यायप्रथमाह्निकाष्टमसूत्रेण प्रत्यक्षादीनां खण्डनस्य "रोधोपघात-सादृश्येभ्योव्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्" इति पञ्चत्रिंशत्सूत्रेणानुमानखण्डनस्य च पूर्वपक्षत्वेनोपन्यासात् नास्तिकमतानां न्यायदर्शनात् पूर्वम्प्रवृत्तत्वं स्फुटमवगम्यते। न्यायदर्शने एव "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि"[१] इति सूत्रेण चत्वारि प्रमाणिनि दर्शितानि।

वैशेषिकदर्शने तु 'एतेन शाब्दं व्याख्यातम्' इति नवमाध्यायद्वितीयाह्निकतृतीयसूत्रादिना शाब्दो-पमाने अनुमान एवान्तर्भाविते। तदुक्तं विश्वनाथपञ्चाननेन "शब्दोपमानयोर्नैव पृथक्प्रामाण्यमिष्यते। अनुमान-गतार्थत्वादिति वैशेषिकं मतम्॥" एतेन च न्यायदर्शनाद् वैशेषिकदर्शनस्य पश्चाद् भावित्वं ज्ञायते। न्यायदर्शने एव "ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्"[२] इति सूत्रेण "अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः"[३] इति सूत्रेण च ईश्वरतत्प्राप्तिसाधनीभूतयोगयोश्चोद्देशकरणमस्ति। वैशेषिकदर्शनस्य च प्रायस्तदनुसारित्वं प्रसिद्धमेव। एवं योगदर्शने "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"[४], "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"[५] इति च सूत्राभ्यां न्यायशास्त्रोद्दिष्टेश्वरयोगयोर्लक्षणनिरूपणाभ्यां विस्तरकरणेन योगदर्शनस्य न्यायवैशेषिकाभ्यां पश्चाद्-भावित्वं प्रतीयते।

सांख्यदर्शने च "पृथिव्यापस्तेजोवायुरितिभूतानि तेभ्यः चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्" इति चार्वाकमतप्रतिपादकबृहस्पतिसूत्रस्य खण्डनार्थं "मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सांहत्येतदुद्भवः"[६] इति सूत्रस्य न्याय-वैशेषिकयोः प्रतिपक्षीकरणार्थं "न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्"[१] इति सूत्रस्य योगशास्त्र-

---

१. न्या० द० १।१।३।
२. न्या० द० ४।१।१९।
३. न्या० द० ४।२।२४।
४. यो० द० १।२४।
५. यो० द० १।२।
६. यो० द० ३।२३।

प्रदर्शितोपायेष्वपि कञ्चन विशेषं दर्शयितुं योगदर्शनस्थानां "वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः", "स्थिर-सुखमासनम्" इत्यादिसूत्राणां प्रतिपक्षत्वेन 'वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टा अक्लिष्टाः'[२], 'तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः-स्वस्थः'[३], 'स्थिरसुखमासनमिति न नियमः',[४] 'ध्यानं निर्विषयं मनः'[५] इत्यादि सूत्राणाञ्च विरचनदर्शनेन एतेभ्यः पश्चात् कृतत्वं सांख्यदर्शनस्येति निश्चीयते।

पूर्वमीमांसादर्शने यद्यपि वेदपूर्वभागविचारमात्रपरत्वेन पूर्वोक्तदर्शनचतुष्टयप्रसङ्गो नोपलभ्यते, तथापि नैयायिकाद्यभिमतं शब्दस्याऽनित्यत्वं खण्डयितुं महत्यारभत्या यत् "उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम्"[६] इत्यादि-सूत्रैः सर्वशब्दानां नित्यत्वं स्थापितम्। तेन न्यायादिदर्शनादिभ्यः परं पूर्वमीमांसादर्शनमस्ति। किञ्च पूर्वोक्तदर्शन-चतुष्टये पूर्वमीमांसादर्शनस्य चर्चा नास्ति। षष्ठे वेदान्तदर्शने तच्चर्चा विद्यते, इत्यतश्चापि तस्य पञ्चमत्वं विज्ञातुं शक्यते।

वेदान्तदर्शने च 'सर्वथानुपपत्तेश्च'[७] इत्यादि सूत्रैः सर्वशून्यवादिनास्तिकमतस्य, "महद्दीर्घवद्वा-ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्"[८] इत्यादि सूत्रैः न्याय-वैशेषिकमतयोः, "एतेन योगः प्रत्युक्तः"[९] इतिसूत्रेण योगमतस्य, "ईक्षतेर्नाशब्दम्"[१०] इत्यादिसूत्रैः सांख्यमतस्य "धर्मञ्जैमिनिरतएव"[११] इत्यादिसूत्रैः पूर्वमीमांसामतस्य चोप-न्यासदर्शनेनैव वेदान्तदर्शनस्य पञ्चदर्शनेभ्यः परभावित्वं विज्ञायत एवेति सर्वं चतुरस्रम्।

ननु सति कुडये चित्रकर्मेतिन्यायादुक्तं वक्ष्यमाणञ्च सर्वं, दर्शनशास्त्रनिष्ठप्रामाण्यग्रहे सति स्यात्। 'स एव तु न सम्भवत्युपायाभावात्'। नहि दर्शनानि सन्तीत्येव दर्शनानि मन्तव्यानीति कस्यचिन्महाराजस्यादेशो विद्यते इति चेत्, एवमनुयुञ्जानो भवान्नास्तिको वास्तिको वेति तावन्निवेदयतु। आद्यश्चेद् युक्तिमांसलेषु दर्शनग्रन्थेषु एवमनुयोगं कर्तुं क्व तेऽवसरलाभः स्यात्? यदि च युक्तयस्त्वया नाङ्गीक्रियन्ते तदा 'स एव न सम्भवत्युपायाभावा' दिति वाक्यं कथं त्वया प्रवर्तितं, कथं वा तत्प्रमाणत्वेनाऽभिमतम्? तस्मान्नास्तिकैरपि युक्तयः सर्वथा स्वीकार्या एव।

ननु ममाभिमता युक्तयस्त्वया आस्तिकेन तु ता युक्तय इति न मन्यन्त इति चेत्, कथं न मन्येरन्? मन्यन्त एवेतिचेत्, मम युक्तिभिस्त्वत्प्रमाणीभूता वेदादयो ग्रन्थाः खण्डिताश्चेत्त्वया मूकीभावः करणीयः स्यादिति चेत् सत्यम्, स्याद्यदिपरमर्षिनिर्मिताभिरस्मत्प्रबलदार्शनिकयुक्तिभिर्नास्तिकयुक्तयः शतधा छिन्ना भिन्ना श्च भवेयुः। भवन्ति तु तास्तथेति कुतो मूकीभावोऽस्माकं भावी। नास्तिकयुक्तीनां खण्डनस्य तु का कथा! श्रुति-स्मृत्यादिष्वास्तिकग्रन्थेषु विद्यमानाः प्रकृति-पुरुषेश्वरशाश्वतिकभेदप्रतिपादनपराः सद्युक्तीश्चिखण्डयिषुः श्रीहर्षमहाकविरनिर्वचनीयतासर्वस्वमभेदवादं नाटयन् खण्डनखण्डखाद्यमखण्डनीयं निर्मितवानिति न परोक्षं विदुषाम्। एवं हि तस्यान्तिमम्पद्यम्—

"तत्तुल्योहस्तदीयं च योजनं विषयान्तरे।[१२]
शृङ्खला तस्य शेषे च त्रिधा भ्रमति मत्क्रिया॥"

---

१. १।२५।
२. २।३३।
३. २।३४।
४. ६।२४।
५. ।२५
६. १।१।२९।
७. २।२।३१।
८. २।२।१०।
९. २।१।३।
१०. १।१।५।
११. ३।२।४१।
१२. ४।९४।

इत्थं नास्तिकेन कथमपि युक्तिग्रन्था नापलपितुं शक्या इति तु प्रकृतोपयोगि। द्वितीय आस्तिकश्चेत्पृच्छकस्तदा सावधानेनावधारयतु। प्रथमतस्तु दर्शनशब्दनिर्वचनसमये प्रदर्शितानि श्रुतिस्मृत्यादिवचनानि स्मरणीयानि, तान्येव दर्शनशास्त्रप्रामाण्ये पर्याप्तानि भविष्यन्ति, तदनन्तरं युक्तिशास्त्रप्रशंसाप्रदर्शनेन श्रुति-स्मृत्यादिभिरभिप्रेतानीति मन्तव्यम्। तथाहि—"तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत" इति छान्दोग्याष्टमप्रपाठकप्रथमखण्डगतश्रुतावनुमानाकारो दृश्यत एव 'परलोकः क्षयिष्णुः कर्मसञ्चितत्वात्, यो यो लोकः कर्मसञ्चितो भवति स स क्षयिष्णुर्भवितुमर्हती'ति पञ्चावयववाक्यघटितानुमानस्य रीतिः। एवमेव यथा 'सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन', 'यथोर्णनाभिः सृजते', इत्यादीनि बहुशः श्रुतिवाक्यानि दृश्यन्ते। मनुस्मृतौतु तर्कानुसरणं विना धर्मनिर्णयाभाव एव स्थिरीक्रियते, यथा द्वादशाध्याये पञ्चोत्तरशततमश्लोके **"प्रत्यक्षञ्चानुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्। त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता॥ आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना। यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"** इति।

ननु **'हेतुकान् बकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणाऽपि नार्चयेदि'ति** स्मार्तनिषेधदर्शनेन कथं हेतुवादशास्त्रस्य प्रशंसनीयतेति चेत्, उक्तमनुवचने वेदशास्त्राऽविरोधिनेति तर्कस्य विशेषणदानेन वेदबाह्यतार्किकाणां निन्दापरत्वं तस्य वचनस्येति वेदितव्यम्। एवमेव प्रधानकारणवादनिराकरणसमये **"तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथा-नुमेयमिति चेदेवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः"**[1] इति वेदान्तदर्शनसूत्रेणापि वेदविरोधितर्कस्यैवाऽप्रतिष्ठितत्वं स्फुटमुक्तम्। अतएव **"ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः**[2]**"** इति गीतावचनेऽपि हेतुमत्त्वेनैव ब्रह्मसूत्राणामपि प्राबल्यं दर्शितमिति तुल्यया दिशासर्वाण्यप्यार्षसूत्राणि हेतुमत्त्वेनैव जगति माननीयानि भवन्तीति नात्र प्रतिपक्षिणोऽपि विवादः।

ननु ब्रह्मसूत्रेषु **"अथातोब्रह्मजिज्ञासा"** इत्यस्य हेतुमत्त्वेऽपि **"जन्माद्यस्य यतः"** मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते, तत्र-हेत्वनुपादानात्। सर्वाण्यपि सूत्राणि हेतुघटितानि न दृश्यन्ते, इति कथमिदमुपपद्यत इति चेत्, अस्योत्तरमिदमस्ति—**"जन्माद्यस्य यतः"** इत्यत्र 'यत' इति तसिल्प्रत्ययसूचिता पञ्चमी हेत्वर्थिकैव विद्यते। नच हेतौ पञ्चमीविधायकमनुशासनं नास्तीति शङ्कनीयम्। महाभाष्ये प्रत्याहाराह्निके 'अइउण्' सूत्रव्याख्याने 'विवारभेदात्' इति भाष्यप्रयोगोपपत्तये, 'विभाषागुणे' सूत्रे योगविभागात् पञ्चमी कृतेति कैयटेन स्पष्टीकृतमस्ति। अतएव 'धूमवत्त्वात्' इत्यादयो लोके हेतुप्रयोगा उपपद्यन्ते। स्पष्टश्चैतद् ब्रह्मसूत्राणां हेतुमत्त्वावश्यकत्वं श्रीमद्वल्लभीयप्राभञ्जनग्रन्थे, तत्रोक्तस्त्रिसूत्रीचतुःसूत्रीविचारो विषयवाक्यदीपिकाटिप्पण्यां निर्णीतः।

नन्वेतावता महत्यारभट्या गीतावचनप्रदर्शनपुरः सरं ब्रह्मसूत्राणामेव हेतुयुक्तत्वं दर्शितं, नैतावता सर्वदर्शनानां हेतुगर्भितत्वं सिद्धमितिचेत्, सत्यम्, तथापि भगवद्वाक्ये 'ऋषिभिर्बहुधा गीतमित्यत्र ऋषिभिरिति बहुवचनबलेन श्रीमच्छङ्करभाष्योक्तरीत्या ब्रह्मसूत्रपदैरित्यनेन ब्रह्मप्रतिपादकानां, हेतुमद्भिरित्यनेन युक्तिगर्भितानां च वाक्यानां ग्रहणेन शङ्काकलङ्कावकाशाभावः, षड्दर्शनकर्त्रर्षिवाक्यानां सुस्पष्टं तथाविधत्वात्, सर्वेषामपि दर्शनानामारम्भे 'अथातः' शब्दघटितत्वाच्च।

ननु न्यायसूत्रारम्भे प्रमाण-प्रमेयेत्येवोपक्रमान्नास्ति तथात्वमितिचेत्; नैतत्, न्यायशास्त्रस्य वैशेषिकशास्त्रसहकारितया वैशेषिकसूत्रारम्भे "अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः" इत्यत्र तथासत्त्वेन क्षतिविरहात्।

नन्वेवमपि सांख्य-योगदर्शनयोस्तु अथ त्रिविधेत्यादि अथयोगानुशासनमित्येव चारम्भात् नास्ति कथमप्यथातःशब्दपूर्वत्वमिति न च वाच्यम्, तत्र साक्षादुच्चारणाभावेऽपि अनुबन्धचतुष्टयनिरूपणायातः

---

१. ब्र० सू० २।१।११
२. भ० गी० १३।४

शब्दस्यावश्यमपेक्षितत्वात् । अतएव वृद्धिरादैजित्येव पाणिनिसूत्रारम्भसत्त्वेऽपि अथ संज्ञेत्यधिकारः कर्तव्य इति वार्तिककारोक्तिः सङ्गच्छते महाभाष्ये । तदुक्तं श्रीमन्मध्वभाष्ये जिज्ञासाधिकरणे उक्तञ्च गारुडे—

"अथातः शब्दपूर्वाणि सूत्राणि निखिलान्यपि ।
प्रारभन्ते नियत्यैव तत्किमत्र नियामकम् ॥
आनन्तर्येऽधिकारस्य मङ्गलार्थे तथैव च ।
अथशब्दस्त्वतः शब्दो हेत्वर्थे समुदीरितः ॥
अथातःशब्दयोरेवं वीर्यमाज्ञाय तत्त्वतः ।
सूत्रेषु तु महाप्राज्ञास्तावेवादौ प्रयुञ्जते ॥" इत्यादि ।

एतेन सर्वाण्यपि सूत्राणि ग्रन्थारम्भे अथातः शब्दपूर्वाण्येव भवन्तीतिसुस्पष्टमवगम्यते । तेन च सर्वदर्शन-सूत्राणां हेतुमत्त्वेन युक्तिगर्भितत्वमिति सुष्ठूक्तम् ।

अथ यदिदं निखिलदर्शनादिप्रमाणानाम्प्रामाण्यं तत् किं स्वतो ग्राह्यम्परतो वा ग्राह्यमिति जायते विचारणा । सन्ति चात्र वादिनां विप्रतिपत्तयः । तत्र परतस्त्वकोटिमन्तस्तु नैय्यायिकादयः, स्वतस्त्वकोटिमन्तो मीमांसका रामानुजादयश्च । यथाहुन्र्यायविदः—

"प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः ।" "दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्" इति च । तत्रायं संशयाकारः—निखिलज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं भवति न वेति । अत्र तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वस्य घटत्व-पटत्वादिरूपार्थभेदेन भिन्नतया कस्यापि प्रामाण्यस्य यावज्ज्ञानग्राहक-सामग्रीग्राह्यत्वं न सम्भवति । अतो यद्धर्मघटितप्रामाण्यं यदा पक्षस्तदा तद्धर्मप्रकारकज्ञानग्राहकयावद्ग्राह्यत्वमेव साधनीयं, न तु सामान्यतो ज्ञानग्राहकयावद्ग्राह्यत्वमिति, तात्पर्यग्राहकं ज्ञानपदम् । तथा च तदप्रामाण्या-ग्राहिका यावती ज्ञानग्राहिका सामग्री तज्जन्यग्रहविषयो नवेत्यर्थो वेदितव्यः । अत्र ज्ञानप्रामाण्यमिति पक्षबोधकं पदं, तत्र च तात्पर्यवशात्तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपप्रकर्षविशिष्टं ज्ञानं प्रशब्दोपहितेन 'मा' धातुना प्रत्याय्यते, भावल्युटा च तादृशज्ञानत्वं, करणल्युटा तादृशज्ञानकरणत्वं तद्धितान्तेन उपस्थाप्यते, तद्धितश्चोभयत्रापि "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च"—(५।१।१२४) इति विहितो भावार्थकः ष्यञ्प्रत्ययः, तस्य च प्रकृत्यर्थतावच्छेदकबोधकत्वव्युत्पत्तिरिति सिद्धान्तः । तेन च प्रमात्वतत्करण-त्वोभयार्थकता सुस्पष्टतया लभ्यत इति नान्यतरन्यूनता । तयोश्च द्वयोरर्थयोर्मध्ये ज्ञानस्यैव यत्प्रामाण्यमित्यर्थकस्य ज्ञानपदस्य तात्पर्यकल्पनेन तस्य च सावधारणपरत्वेन तादृशज्ञानकरणत्वेनातिव्याप्तिः । ज्ञानत्वं च न ज्ञानवृत्तित्वव्याप्यं, तस्य मनः प्रभृतिष्वपि वृत्तिदर्शनात् । उत्सर्गतस्तु ज्ञानपदेन ज्ञप्तिरेवोपस्थाप्यते, तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वं तेन फलितं भवति । तद्वति तत्प्रकारकज्ञानत्वस्य प्रकारीभूतघटत्व-पटत्वादिरूपतत्त-दर्थभेदेन भिन्नतया कस्यापि प्रामाण्यस्य च यावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यत्वाभावात् तत्तज्ज्ञानप्रामाण्यं तत्तज्ज्ञानग्राहकयावद्ग्राह्यं न वेतिसन्देहाकारलाभार्थं विशिष्य साध्यघटकघटत्वादिप्रकारकज्ञानपरं ज्ञानपदमिति न्यायतत्त्वार्थविदो मन्यन्ते, तादृशज्ञानस्य पक्षतावच्छेदकान्तर्भावो भवतीति च वदन्ति । प्रामाण्यपदेन घटत्व-वतीत्यादेर्विशेषरूपेणैवोपस्थितिसम्भावनया कुत्रापि व्यावर्तकत्वं न लभ्यते, किन्तु ताद्रूप्येणैव घटवतीत्यादिकं घटत्वादिप्रकारकज्ञानघटितसाध्यसाधने पक्षोऽभिप्रेत इति मन्तव्यम् । अत्र नैयायिकाः यत्तु मिश्रभट्टादयो निर्वाच्यया अनुव्यवसायसामग्र्याऽगृहीतं यद्धर्मप्रकारकज्ञानसामान्यं तद्धर्मवति तद्धर्मप्रकारकज्ञानत्वरूपप्रामाण्य-विशेषे साध्यसत्त्वानिर्वाहरूपबाधवारणाय ज्ञानपदं, कृत्यल्युटो बहुलमिति शासनानुशिष्टेन कर्मणिल्युटा ज्ञानस्य प्रामाण्यमिति विषयत्वार्थकषष्ठ्या वा निर्वाच्यसामग्रीजन्यज्ञानविषयार्थकज्ञायमानपरमिति वदन्ति; तन्न,

तदङ्कुरत्वादिमति तदङ्कुरत्वादिप्रकारकज्ञानत्वत्वेन प्रकारेण ज्ञानाज्ञानयो र्बाधबुद्ध्यसम्भवात् मीमांसकैः साध्ये विधौ प्रामाण्यानुमितिसामग्रीमादाय सिद्धसाधनस्य नैयायिकैः साध्ये निषेधे तादृशसामग्रीग्राह्यत्वमादायैव बाधस्याप्रसिद्धे र्वा वारणाय स्वाश्रयग्राहकसामग्रीजन्यवद्ग्रहविषयत्वं साध्यमिति फलकं यावदिति ग्रहविशेषणम्। तथा च तद्धर्मप्रकारकज्ञानग्राहकसामग्रीजन्यग्रहत्वव्यापकविषयिताप्रतियोगित्वमर्थः। घटत्वादिप्रकारकज्ञान-ग्राहकात्मादिजन्ययावद्ग्रहविषयत्वस्य घटत्वादिप्रकारकग्रहस्यापि घटत्वादिप्रकारकज्ञानग्राहकजन्ययावद्-ग्रहान्तर्गततया गुरुमतातिरिक्तमते तादृशयावद्ग्राह्यत्वस्याप्रसिद्धेः सामग्रीति। ननु ज्ञानत्वविशिष्टविषयक-यावद्ग्रहोपादानेन ज्ञानत्वे प्रसिद्धेरुपपादनं संभवतीति अप्रसिद्धिभयेन सामग्रीग्रहणं कैमर्थिकमिति चेत् न, तथा सत्यपि घटत्ववति घटत्वप्रकारकत्वादौ बाधापत्तेर्वारयितुमशक्यत्वेन तदर्थं तदिति तत्तात्पर्यात्। अथ घटत्वादि-प्रकारकघटादिज्ञानग्राहकसामग्रीजन्यानां यावतां तादृशग्रहाणां विषयत्वं न तावत् तादृशज्ञाने सर्ववादिसम्प्रति-पन्नं, तादृशैकज्ञानव्यक्तिग्रहे तादृशापरज्ञानव्यक्तेरविषयत्वात्। नापि ज्ञानत्वे घटत्वप्रकारक त्वमात्रेण तादृशज्ञानग्रहे नैयायिकादिनये ज्ञानत्वाभानादितिचेत् मन्यते, तदपि न मन्तव्यमेव, ज्ञानव्यक्तिभेदानामुपादानात्तत्तज्ज्ञान-व्यक्तौ ज्ञानत्वविशिष्टग्राहकत्वस्य विवक्षायाः करणीयत्वाद्वा ज्ञानत्वे विधिप्रसिद्धेरुपपादयितुं शक्यत्वात्। इदं ज्ञानमप्रमेत्याकारकज्ञानग्रहजनकसामग्र्या प्रामाण्यस्याग्रहणाद् बाधो भवेदिति तद्वारणाय तत्प्रामाण्यावच्छेद-कावच्छेदेन तद्वद्वृत्तिभिन्नत्वमित्यर्थकमप्रामाण्यग्राहकेति घटत्वनिष्प्रकारकत्वादिघटितप्रामाण्यग्रहे तद्विरोधिनो घटत्वादेरवश्यं ग्रहात् तदितिलुप्तसप्तमीकं, न तु षष्ठ्या समासः, तदप्रामाण्यग्राहकेत्यत्र अप्रामाण्यग्रहः इदं ज्ञानम-प्रमेति शब्दप्रयोगजनको ग्रहः ज्ञातता प्रत्यक्षजनिकायाः सामग्र्या वारणार्थं ज्ञानग्राहकेति। एवं प्रथमविप्रतिपत्ति-दिक्प्रदर्शनमात्रमक्रियत। एवमेवमहताटोपेन पञ्चविप्रतिपत्तयो गंगेशोपाध्यायप्रभृतिभिस्तार्किकाचार्यैः प्रदर्शिताः।

अयञ्च स्वतः परतः प्रामाण्यविचारः श्रीशंकराचार्याणामवतारकालादपि प्राचीनः प्रतीयते। मण्डनमिश्र-प्रसंगे शङ्करदिग्विजय एत्रमाख्यायिका श्रूयते—मण्डनमिश्रग्रामं गत्वा श्रीशङ्कराचार्यैः पृष्टा जलगन्त्र्यः स्त्रियः प्रहसन्त्य एवमुत्तरं ददुः।

"स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥

एवञ्च परतः प्रामाण्यवादिनो नैयायिकाः पञ्च विप्रतिपत्तीरुपदर्श्य चिखण्डयिषया मीमांसकमत-मित्थं पूर्वपक्षतया उपन्यस्यन्ति। तथाहि—ज्ञानानां तद्वति तत्प्रकारकत्वरूपं प्रामाण्यं स्वत एव गृह्यते, न तु परतः। तत्र गुरवस्तु ज्ञानस्य स्वप्रकाशरूपत्वेन तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्यते, यतो ज्ञाने गृह्यमाणे तन्निष्ठ-ज्ञानत्वादिधर्मेण तन्निष्ठप्रामाण्यस्यापि गहणसम्भवे किञ्चिदपि प्रतिबन्धकं न विद्यते। सर्वस्यापि ज्ञानस्य अयं घटो घटमहं जानामीत्याकारकत्वात् इति मन्यन्ते। मुरारिमिश्राश्च घटोऽयमिति ज्ञानानन्तरं घटज्ञानवानह-मित्युपनीतभानापरपर्यायवता अनुव्यवसायात्मकेन ज्ञानेन ज्ञानप्रामाण्यग्रहणमनुमन्यन्ते। भट्टाः परं अतीन्द्रिय-ज्ञानजन्यज्ञातता प्रत्यक्षा इति ज्ञानमनुमिमते। तथा च तेषामनुमानप्रयोगाकारः—'इयं ज्ञातता घटविशेष्यक-घटत्वप्रकारकज्ञानजन्या घटवृत्तिघटत्वप्रकारकज्ञाततात्वात् या यद्वृत्तिर्यत्प्रकारिका ज्ञातता सा तद्विशेष्यक तत्प्रकारकज्ञानसाध्या। यथा पटे पटत्वप्रकारिका ज्ञातता, तथा चेयमपि निरुक्तहेतुमती इति निरुक्तसाध्यवती अपि भवेदेवेति पञ्चावयववाक्यैः प्रदर्शितः। अत्र इयं ज्ञातता इति पक्षनिर्देशः, घटेत्यादि साध्यनिर्देशः, घटवृत्तीत्यादि हेतुनिर्देशः, यायेत्यादि उदाहरणनिर्देशः, तथाचेत्यादि उपनयनिर्देशः, इतीत्यादि निगमननिर्देशः। एवमपरे तत्पक्षीया ज्ञानं विषयविषयकतानियतस्वविषयकताकप्रत्यक्षकं विषयाविषयकप्रत्यक्षाविषयत्वे सति प्रत्यक्षविषयकत्वादित्यनुमितिं ज्ञानप्रत्यक्षस्य विषयविषयकत्वे प्रमाणमभिमन्यन्ते।

इत्थं बहुधा मीमांसकानां मतानि पूर्वपक्षत्वेन दर्शयित्वा जरन्नैयायिकाः स्वमतसिद्धान्तमनेन प्रकारेण दर्शयन्ति। तथाहि सर्वेषां ज्ञानानां प्रामाण्यं तावत् स्वतो न गृह्यते, किन्तु परत एवेति पूर्वोक्तप्रथम-विप्रतिपत्तौ ज्ञानप्रामाण्यं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं नवेति यदुक्तं, तत्र ज्ञानप्रामाण्यमिति-पक्षनिर्देशः। ज्ञानानाम्प्रामाण्यं ज्ञानप्रामाण्यं इत्यत्र निष्ठत्वं षष्ठ्यर्थः। तथाच—प्रत्यक्षादिसकलज्ञाननिष्ठं यत्प्रामाण्यं (या यथार्थता) वर्तते, तत् किं तदप्रामाण्याग्राहकयावज्ज्ञानग्राहकसामग्रीग्राह्यं भवति वा नवेति सन्दिह्यते। तदप्रामाण्येत्यत्र तस्य घटोऽयमित्यादिज्ञानस्य यत् अप्रामाण्यमयथार्थता, तस्य अग्राहिका, यावती चक्षुराद्यनुमित्यादिका सामग्री ज्ञानोपकरणं तया गृह्यते न वेति समुदायार्थः। एवं च—

अप्रामाण्यस्य अग्राहिका या सामग्री सा प्रामाण्यग्राहिका भवतीति तया प्रामाण्यं गृह्येत, द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयत इति न्यायात्। तत्र च गृह्यते इति विधिकोटिः, सा यदि स्यात् तदा ज्ञानप्रामाण्यं स्वतोग्राह्यमिति भवेत्। यदि च न गृह्यते इति निषेधकोटिः स्यात् तदा ज्ञानानां प्रामाण्यं परतो ग्राह्यमिति फलितं स्यात्। एवञ्च निषेधकोटिर्नैय्यायिकानां, विधिकोटिरन्येषां शङ्कर-रामानुजादीनाम्। तत्र निषेधकोटि-मतां नैयायिकानामित्थमुपपादनम्—सकलप्रमाणानां प्रामाण्यं परत एव गृह्यते। प्रत्यक्षादिज्ञानानन्तरं संशयदर्शनेन चार्थापत्तिस्थानापन्नेन ज्ञानेन तत्कल्प्यते। तथाहि—यत्र कुत्रापि जलादौ वृक्षाद्यारुढान् पक्षिणो यदि कश्चिज्जलेच्छुः पश्यति, तदाजलसन्निधि-पक्षिवासयोर्भूयोभूयः साहचर्यदर्शनेन व्याप्तिं स्मरति, ततो दिनान्तरानभ्यस्तस्थलं जलाशया गच्छति, तत्र यदि जललाभो भवति, तदा स तूष्णीमेव सन्तुष्टस्तिष्ठति। यदा चाऽलाभस्तदा तु स सन्दिग्धे, मदीयं ज्ञानं प्रमा भवति वा नवेति। अस्मादेव संशयज्ञानादनुमीयते प्रामाण्यं परत एव गृह्यत इति। कुत इदमिति चेत् श्रूयतामवधानेन। यदि जलज्ञानसमय एव तेनैव जलज्ञानेन ज्ञानगतं प्रामाण्यं गृहीतं चेत् निश्चयस्यैव जातत्वेन संशयः कथं स्यात्? यदि च तदा ज्ञानमेव न ज्ञातं तर्हि धर्मिज्ञानाभावे नानाधर्मावगाहिज्ञानरूपः संशयो न सम्भवति, तस्माज्ज्ञानगतं प्रामाण्यं परत एव गृह्यत इति सर्वथाभ्युपगन्तव्यमिति। एवं चेत्तर्हि परतः केनोपायेनेति चेत्, अनुमानेनेति गृहाण, तच्चानुमानमित्थ-मवधारणीयम्। जलसंभवस्थले 'इदं ज्ञानं प्रमा, सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत् सम्वादिप्रवृत्तिजनकं न भवति, तत् प्रमा न भवति, यथा अप्रमा, न चेदं सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वाभाववत्, तस्मात् न प्रमाभाववदिति पञ्चावयववाक्यसहकृतानुमानेन प्रमाणानां प्रामाण्यं गृह्यते।

ननु किमिदं सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वमितिं, तद्यावत् सिद्धं न भवति, तावत् त्वदुक्तानुमानोपदर्शितो हेतुः स्वरूपाऽसिद्ध इति स्थिते, कथमनेन तत्साधयितुं शक्यत इतिचेत्; नैष दोषः, सफलप्रवृत्ति-जनकत्वं, सम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वं, निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वं, विसम्वादिप्रवृत्तिजनकत्वमिति तल्लक्षणकरणेनोक्तानु-मानहेतौ स्वरूपासिद्धिदोषस्य परिहर्तुं शक्यत्वात्। तदुक्तं वेदान्तपञ्चदशीग्रन्थे श्री विद्यारण्यस्वामिभिः

"मणिप्रभा मणिभ्रान्तिः सम्वादिभ्रम उच्यते।
दीपप्रभा मणिभ्रान्तिर्विसम्वादिभ्रमो मतः[1] ॥

इत्येवं सामान्यतोऽनुमानेन तत्सिद्धौ तत्र विशेषानुमानान्यपि सञ्चारयितुं शक्यन्ते। तद्यथा—'इदं पृथिवीत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, गन्धवति पृथिवीत्वप्रकारकज्ञानत्वात्', एवम् 'इदं जलत्वप्रकारकं ज्ञानं प्रमा, स्नेहवति जलत्वप्रकारकज्ञानत्वात्'। अत्र हेतुज्ञानं कथं ज्ञातमिति तु न वाच्यम्, यतः प्रथिवीत्व-प्रकारकत्वं स्वत एव गृह्यते, तत्र हि गन्धग्रहणे गन्धवद्विशेष्यकत्वस्यापि सुष्ठु ग्रहीतुं शक्यत्वात्।

१. पं० द० ९१६।

संशयानुरोधेन च तत्प्रकारकत्वावच्छिन्न-तद्वद्विशेष्यकत्वमात्रं तु न गृह्यत इति कल्प्यते। तस्मादकामेनापि प्रमाणनिष्ठप्रामाण्यं परत एव ग्राह्यमिति सर्वथाभ्युपगन्तव्यमिति नैयायिक-धुरन्धराणां सिद्धान्तः।

अत्र वैदिकैकदेशिनो मीमांसकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते। ननु सर्वेषां ज्ञानानां यथार्थत्वात् भ्रमज्ञानस्य च असत्त्वात् प्रमालक्षणे तद्वद्विशेष्यकत्वं विशेषणं कैमर्थिकं स्यात्, यतो लक्षणशास्त्रोक्तविशेषणानां स्फुटतया अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवरूपदोषत्रयवारकत्वे एव सार्थक्यमन्यथा तु दोषत्वमेवेति। तदुक्तमभियुक्तैः—

"सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्।
न चोष्णेन न शीतेन वह्निः क्वापि विशेष्यते॥

ननु एतावता किमायातम्? इदमायातं यत् प्रमायां गुणजन्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वं, प्रमासाधारणकारणं गुणः, तथा अप्रमासाधारणकारणं दोषः। तदुक्तं— '**दोषोऽप्रमाया जनकः प्रमायास्तु गुणो भवेत्। पित्तदूरत्वादिरूपो दोषो नानाविधो मतः॥ प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम्। सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादथ त्वनुमितौ गुणः॥ पक्षे साध्यविशिष्टे च परामर्शो गुणो भवेत्। शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुणः॥ शाब्दबोधे योग्यतायास्तात्पर्यस्याथवा प्रमा॥**' अतो गुणः स्यात् इति च ब्रुवतां भवतां वचसां क्वापि उपयोगो न स्यात्। ततश्च प्रमाणानाम्प्रामाण्यं परतो ग्राह्यमितिभवत्सिद्धान्तोऽपि अपहस्तितः स्यादिति चेन्मैवम्, सत्यरजतस्थले प्रवृत्तिं प्रति विशिष्टज्ञानस्य हेतुतायाः कल्पितत्वेन अन्यत्रापि तत्क्लृप्तेः सम्वादिप्रवृत्तौ तत्कारणं, विसम्वादिप्रवृत्तौ तु भेदाऽग्रह एव कारणमिति माशङ्किष्ठाः, एकत्र कल्पितया अनुगतया लघुयुक्त्यैव सर्वत्र निर्वाहे अननुगताया विभिन्नाया युक्तेर्गौरवग्रासस्य उभयवादिसम्प्रतिपन्नतया अस्माभिः श्रोत्रियवेतालानामुक्तिरनाद्रियते।

अत्राहुर्वेदैकशरणा भट्टपादमीमांसकाः सर्वेषामपि प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते च। यदि प्रमाणानां स्वतः प्रामाण्यं न स्यात् तदा परतः प्रामाण्यस्वीकारे चोदनोक्तविषयस्य अन्यप्रमाणेन संशोधनाऽसंभवाच्चोदनानां प्रमाण्यं न स्यादेव। स्वतः प्रामाण्यस्वीकारे तु चोदनोक्तविषयस्य बाधप्रत्यक्षाभावात्, अपौरुषेयत्वेन च कारणदोषाऽसम्भवात् चोदनानां प्राप्तं स्वतः प्रामाण्यमनपोदितं भवति। चोदनाप्रामाण्यसिद्धौ स्वतः प्रामाण्यमेव हेतुः। तदुक्तं च भट्टपादैः—

"तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥
प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात् प्रामाण्यं नापनीयते।

अतः प्रत्यक्षादीनि सर्वाण्यपि प्रमाणानि स्वतः प्रामाण्यवन्तीति। यदि प्रमाणस्य प्रामाण्यं प्रमाणान्तरेण परीक्ष्येत ततस्तस्य प्रमाणान्तरस्य प्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरेण परीक्षितव्यमित्यनवस्थैव स्यादितिकृत्वा भट्टपादाः कथयन्ति—

"यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव गृह्यते।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाऽज्ञानादयत्नतः॥
तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता॥
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानादपोद्यते॥ इति।

तथा वेदान्तिनोऽपि सर्वेषामपि प्रामाणानां प्रमाण्यं स्वत एवोत्पद्यते ज्ञायते चेति वदन्ति।

ननु ज्ञानगतं यद्यत् प्रामाण्यं तत्सर्वं न स्वत उत्पद्यते, न वा स्वतो ज्ञायते, तदभाववति तत्प्रकारकत्वाभावस्य विशेष्यवृत्त्यप्रकारकत्वादेश्च प्रामाण्यस्य तस्याऽयोगात् तादृशनियमे प्रमाणाभावात् इति चेन्न।

अबाधितार्थविषयकत्वं स्मृतिसाधारणं प्रमाणलक्षणमितिस्थिते तत्र घटोऽयमिति प्रत्यक्षानन्तरं इयं निष्कम्पप्रवृत्तिः प्रामाण्यनिश्चयसाध्या तद्व्यतिरेकज्ञानत्वावच्छिन्नं प्रति बाध्यत्वात्। यदुक्तं साध्यं तदुक्त-साधनं सामान्यव्याप्तं व्याप्तिनिश्चयसाध्यानुमितिवत्, इति अनुमानस्यैव तत्र प्रमाणत्वात्। इत्थञ्च स्मृत्य-नुभवसाधारणं सम्वादिप्रवृत्त्यनुकूलं तद्वतितत्प्रकारकज्ञानत्वं प्रामाण्यं, तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं, तेन नात्माश्रयो दोषः। ततोऽधिकगुणं तु नापेक्षते, प्रमामात्रे अनुगतगुणत्वस्याऽदर्शनात्।

यत्तूक्तं प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समं सन्निकर्षो गुणस्तु स्यादिति विशेषणवद्विशेष्य-सन्निकर्षो गुण इति तदर्थं इति।

तन्न संभवति, तच्च प्रत्यक्षप्रमायां भूयोऽवयवेन्द्रियसन्निकर्ष इति वक्तव्यम्, तस्य रूपादिप्रत्यक्षे आत्मप्रत्यक्षे च तदभावेन अनुगतेरभावात्। अयं नियमो बहिर्द्रव्यप्रत्यक्षे एवेति नियमनेऽपि तस्मिन् गुणे विद्यमानेऽपि पीतः शङ्ख इति प्रत्यक्षस्य भ्रमत्वात् अन्वयव्यभिचारस्य जागरूकत्वात्। एवं सल्लिङ्गपरामर्शा-दिकमपि अनुमित्यादिप्रमायां गुण इत्यपि वक्तुं न शक्यते, असल्लिङ्गपरामर्शकालेऽपि विषयाऽबाधेन अनुमित्यादेः प्रमात्वदर्शनेन व्यतिरेक-व्यभिचारात्। सत्यपि सल्लिङ्गपरामर्शे पाषाणाद्युत्पत्त्युत्तरद्वितीयक्षण-वृत्तिगन्धप्रागभावावच्छिन्नपाषाणादौ 'पाषाणो गन्धवान् पृथिवीत्वात् पुष्पवत्' इत्याद्यनुमितेरप्रमात्वेन अन्वय-व्यभिचारदर्शनाच्च न चैवम्, सर्वत्र ज्ञानसामग्र्या अविशिष्टायाः स्वीकारे अप्रमाया अपि प्रमात्वापत्तौ महाननुपप्लवोऽद्वैतवादिवेदान्तिनां स्यात् इति चेत्, नैव जानात्यभिप्रायम्, केवलतार्किको भवान्, पूर्वोक्तप्रमा-लक्षणस्य दोषाभावेनापि विशेषणीयत्वेन त्वदुक्तदोषस्य अनवकाशत्वेन क्षतिकरत्वाभावात्।

नन्वेवं दोषाभावश्चेत्तत्र निवेश्यते तदा तत्सापेक्षत्वेन आगतमेव परतः प्रामाण्यम्, इतिचेत् न, आगन्तुकभावकारणापेक्षायामेव परतस्त्वस्वीकारात्। एवञ्च आगन्तुकभावकारणसहकृतज्ञानत्वप्रयोजक-प्रयोज्यत्वमुत्पत्तौ परतस्त्वम्। स्वतस्त्वन्तु तादृशकारणानपेक्षज्ञानसामान्यप्रयोजकप्रयोज्यत्वम्। स्फुटतस्तु स्वतो ग्राह्यत्वं दोषाभावे सति यावत्स्वाश्रयंग्राहकसामग्रीग्राह्यम्। तत्र स्वाश्रयः वृत्तिज्ञानं, तद्ग्राहकं साक्षिज्ञानं तेनापि वृत्तिज्ञाने गृह्यमाणे तद्गतप्रामाण्यमपि गृह्यत एव।

एवं चेत् प्रमाण्यसंशयो लोकप्रसिद्धः कथमुपपन्नः स्यात्? इति चेत्, संशयानुरोधेन तत्र दोष-स्यापि सत्त्वेन दोषाभाव-घटितस्वाश्रयग्राहकाभावेन तत्र प्रामाण्यस्यैव अग्रहणेन दत्तोत्तरत्वात्। अथवा यावत्स्वाश्रयग्राहकग्राह्यत्वयोग्यत्वमेव स्वतस्त्वम्। संशयस्थले यद्यपि प्रामाण्यस्य उक्तयोग्यता विद्यते, तथापि दोषवशेन तद्ग्रहणं न भवतीति संशयोपपत्तिः सुस्थैव। अप्रामाण्यन्तु ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यं न भवति। तथासति प्रमायामपि अप्रामाण्यमापद्येत, किन्तु दोषप्रयोज्यमेवाप्रामाण्यं, विसम्वादिप्रवृत्त्यादिलिङ्गकानुमित्यादि-ग्राह्यमित्यप्रामाण्यं तु परत एव गृह्यत इति।

एवमेव अद्वैतमतरीत्या विशिष्टाद्वैतवादिनो रामानुजीयास्तथा द्वैतवादिनो मध्वाचार्यादयोऽपि ज्ञानानां प्रामाण्यं स्वत एव गृह्यत इत्येव स्वीकुर्वते। तथाहि तत्त्वमुक्ताकलापे देशिकाचार्याः—

"संवित्तीनां यथावस्थितनिजविषयोल्लेख औत्सर्गिकः स्याद्,
वह्न्यादे र्दाहकत्वप्रभृतितदुपधेरन्यथात्वं भ्रमांशे।
नित्यज्ञानप्रमात्वं वदसि च निरुपाध्येकनिर्हेतुकत्वाद्,
दोषाभावात् प्रमाचेच्छ्रुतिरपि जयिनीं दोषदूरोज्झिता नः॥"

संवित्तीनां प्रत्यक्षादिसकलज्ञानानां यथावस्थितपदार्थप्रकाशकत्वं नियतं, निजानां ज्ञानविषयाणा-मुल्लेखोऽवभास उत्सर्गत एव भवतीति भ्रान्तस्यापि ज्ञानस्य धर्मिण्यभ्रान्तत्वमेवास्तीति। यथा वह्ने र्दाहकत्वं

स्वाभाविकं, तथा ज्ञानानां प्रामाण्यमौत्सर्गिकमेव। एवं सति भ्रमज्ञानस्य कथं निर्वाह इति चेत्, यथा मणिमन्त्रादयो दाहप्रतिबन्धका भवन्ति, तथैव भ्रमांशे दोषवशादेव अप्रमाणत्वं गृह्यते। अपि च परतः प्रामाण्यवादी भवानपि नित्यस्येश्वरज्ञानस्य कारणाभावेन निरुपाधिकमेव प्रमात्वमंगीकरोति। ईश्वरज्ञाने दोषाभावात् प्रमात्वमिति चेत्, श्रुतावपि तथैवायातम्। यथा नित्यमीश्वरज्ञानं कारणदोषाऽभावात् प्रमाणम्, एवं वेदवाक्योत्थमपि ज्ञानं, निर्दोषवाक्यजनितत्वात्प्रमैवेति। इत्थञ्च वेदवाक्यमपि स्वतः प्रामाण्यं निर्वहति। घटोऽस्तीति ज्ञानमुत्पद्यते, तत्र विषयास्तित्वमेव प्रामाण्यं, तत्तु तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते, अतः स्वतः प्रामाण्यं प्रतीयते। यत्र पुनः शुक्तौ रजतज्ञानमुत्पद्यते, तत्रापि रजतमस्तीति रजतास्तित्वमेव प्रतीयते, न पुनर्नास्तित्वं तेनैव ज्ञानेन प्रतीयते। अतो विषयास्तित्वं स्वेन, नास्तित्वं च बाधकेन प्रतीयत इति प्रामाण्यप्रतीतिः स्वतः, अप्रामाण्यप्रतीतिः परत इति विभागः।

अपि च स्वतः प्रामाण्यं श्रुत्यर्थानुधाविना दुस्त्यजमिति च मन्तव्यम् तथाहि—

"सर्वं साक्षात्करोति स्वत उपधिगणैरुज्झितः सम्प्रसादः
प्रामाण्यं तत्र नोपाध्युपनतमिति तत्तुल्यतान्यत्र युक्ता।
आत्मस्वात्मांशयोश्च क्वचिदपि न भवेद् भ्रान्तिरंशान्तरेऽपि
स्यादेषा न स्वरूपे क्वचन परमसौ द्विप्रकारे प्रकारे॥"

'सर्वं ह पश्यः पश्यती' ति श्रुतिः उपाधिगणैर्वर्जितः मुक्तः पुरुषः सर्वं साक्षात्करोतीति वदति। तत्र प्रामाण्यमुपाधिकृतं परप्रयुक्तमिति नैव वक्तुं शक्यते, तस्य ज्ञानस्य स्वाभाविकत्वात्। अतोऽन्यत्रापि बद्धजीव-ज्ञानेऽपि तत्तुल्यतैवोचिता, तेन च स्वाभाविकत्वं माननीयं, क्वचिदपि भ्रान्तिर्न भवति। अतः स्वाभाव्यमेव प्रामाण्यस्य युक्तं, विषयांशेऽपि स्वरूपे भ्रान्तिः क्वापि न स्यात्, सर्वं ज्ञानं धर्मिणि अभ्रान्तमिति वाक्यात्। तथा च विषयेपि स्वरूपांशे सर्वज्ञानसाधारण्यात् प्रामाण्यस्य स्वाभाविकत्वमेव युक्तं; तदा भ्रान्तिः क्वेति चेत्, स्वरूपनिरूपकधर्मे निरूपितस्वरूपविशेषकधर्मेचेति ग्राह्यम्। इदं रजतमित्यत्र स्वरूपनिरूपकधर्मिवैपरीत्यं, पीतः-शंख इत्यत्र निरूपितस्वरूपविशेषधर्मवैपरीत्यमिति विभागः।

अत्र केचित् यदि प्रामाण्यं स्वाभाविकमित्युच्यते तदा—अप्रामाण्यमपि स्वाभाविकं किं न स्यात् विनिगमनाविरहात्। अथवा स्यादप्रामाण्यमेव स्वभावतः, प्रामाण्यं तु गुणतः इति प्रामाण्यमेवौपाधिकमिति।

"अप्रामाण्यं स्वभावो गुणत इतरदित्यत्र नह्यस्ति हेतुः।
नाभावो हेत्वपेक्षस्त्विति च न नियमादन्यथातिप्रसङ्गात्।
किञ्चाभावोऽपि भावान्तरमिति कथने स्वेष्टभङ्गश्च भावो
मुक्तौ शुद्धां हि बुद्धिं वदसि न यदि सा निभ्रमः स्यान्न वा स्यात्॥

न हि अस्ति हेतुः, प्रामाण्यस्वभावत्वे तु सार्वत्रिकत्वं हेतुः, अप्रामाण्यस्य पुनः असार्वत्रिकत्वात्। किंशुकाद्युपाधिकारुण्यन्यायेन उपाधिगतमेवाश्रयते। अतः अप्रामाण्यस्य स्वाभाविको हेतुर्नास्ति।

ननु अभावः शून्यात्मकत्वाद्धेतुनिरपेक्षः, अप्रामाण्यं च अभावत्वाद्धेतुं नापेक्षते, तदुच्यते नाभाव इति, मुद्गरादिप्रहार-घटध्वंसयोः पौर्वापर्यनियमेन अभावस्य हेतुनैरपेक्ष्यं न घटते। विपर्यये परं बाधकं विद्यते, अन्यथेति। अन्वय-व्यतिरेके सत्यपि अभावस्य कारणानपेक्षत्वे भावस्यापि कारणानपेक्षत्वं स्यात्। अन्यच्च भावान्तरमेवाभाव इति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते विद्यते। यथा गोत्वाभावोऽश्वत्वादिः, शौक्ल्याभावो नैल्यादिरिति हि भावान्तराभावः। तथा च—अभावस्य भावान्तररूपत्वे तस्याभावत्वाभावात् अप्रामाण्यमभावत्वात् स्वाभाविकमित्यसिद्धो हेतुः। तथाचायमर्थः—यदभावो भावो वा यस्य स्वरूपानुबन्धितत्स्वाभाविकं, यदुपाध्यन्तर-

सापेक्षं तदौपाधिकं, प्रामाण्यं च ज्ञानस्य स्वभावानुबन्धि, धर्मिस्वरूपे संशय-विपर्ययोरपि अभ्रान्तत्वात्, तथा अस्तित्व-भास्वरोर्ध्वत्वादिसाधर्म्येऽपि प्रामाण्यं दुरपह्नवम्, केवलं धर्ममात्रे वैपरीत्यं सन्देहो वा। अतः प्रामाण्यं स्वतः, अप्रामाण्यं च परत इति सिद्धम्।

ननु ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्ये संशयानुपपत्तिः वेदादौ। ततश्च मीमांसाशास्त्रं व्यर्थमिति चेत् न, यथा नेत्रस्य आलोकसापेक्षस्थलेऽपि न दर्शनकारणताहानिः, एवं किञ्चिदपेक्षत्वेऽपि प्रमाणानां स्वाभाविकत्वं न विहतं भवतीति। तदुक्तम्।

"ज्ञानं मानं स्वतश्चेत् कथमिव विशयः कस्यचित् क्वापि भावी
मीमांसा चानपेक्षेत्यसदुपधिकृताकारशङ्कोपपत्तेः॥
नेत्रालोकादिनीतेर्भवति च निगमोऽप्यत्र मीमांसयार्थी
हेतूनां साध्यसिद्धौ सहकृदनुविधिर्हेतुभावं न हन्ति॥"

अनयैव दिशा वेदस्यापि स्वतः प्रामाण्यं, तदुच्यते—

मानं बाधाद्यभावान्निगम इतरवद् वक्तृदोषस्तु नास्मिन्
बाधोऽप्यस्यानुमाद्यैरपि नहि सुवचस्तद्बलेनैव बाध्यैः।
सन्दिग्धा नात्र बुद्धिर्न च न समुदिता तेन विज्ञानसिद्धा
उत्सर्गान्मानमेतन्मतिकलुषजयः स्याच्च मीमांसयैव॥

किं भावनाया अंशत्रयम् अथवा अंशचतुष्टयम् ?

एन्० एस्० रामानुजताताचार्यः

प्रोफेसर, केन्द्रीयसंस्कृत विद्यापीठम्, तिरुपति, आन्ध्रप्रदेशः

[वाक्यशब्दव्यपदेश्यं मीमांसाशास्त्रं यो यथावन्नाधीते न वेद च स यथावत् वाक्यार्थमवबोद्धुं प्रवक्तुं वा न प्रभवतीति निश्चप्रचम्। तादृशं सर्वोपकारकं मीमांसाशास्त्रं कालमहिम्ना सांप्रतं विरलप्रचारं सञ्जातम्। अङ्गुलिमेया द्वित्रा एव विद्वांसो भाग्यवशात् जीवन्ति। तेषु पूज्यतमाः विद्वत्तल्लजा मीमांसकमूर्धन्याः शान्तमूर्तयः श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणोऽप्यन्यतमाः। तेषामभिनन्दनरूपेण विशेषाङ्कः प्रकाश्यत इति श्रुत्वा मोमुद्यते चेतः। अभिनन्दनग्रन्थप्रकाशनसमितेर्निदेशानुसारं मीमांसाशास्त्रसम्बन्धिनं कंचन लघुप्रबन्धमुपहृत्य आत्मानं कृतार्थयितुमयं लेखः प्रस्तूयते।

अंशत्रयवती भावना इति तु मीमांसाग्रन्थेषु सर्वेषु प्रतिपाद्यते। वेदान्तदेशिकास्तु न्यायपरिशुद्धौ अंशचतुष्टयवती भावनेति प्रतिपादयन्ति। तत्रोभयेषामप्यभिप्रायं अंशचतुष्टयवत्त्वे शाबरभाष्यसंमतिं च स्पष्टीकुर्वन्नयं लेखः विदुषां पुरत उपह्रियते समालोचनार्थम्]

भावनाविषये तावत् खण्डदेवभट्टाचार्यैः भाट्टकौस्तुभभाट्टदीपिकादिषु ग्रंथेषु सुदूरं विचार्य एवं निर्णयः कृतः। 'यजेत स्वर्गकामः' 'गामानयेत्' इत्यादिषु वैदिकेषु लौकिकेषु च वाक्येषु तिङ्प्रत्यये आख्यातत्वं लिङ्त्वं चेति धर्मद्वयमस्ति। तत्र आख्यातत्वेन रूपेण तिङा आर्थीभावना उच्यते। आर्थीभावना नाम प्रयत्नापरपर्याया पुरुषप्रवृत्तिः। लिङ्त्वेन रूपेण तिङा शाब्दीभावना उच्यते। शाब्दीभावना नाम 'अयमत्र प्रवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषरूपः पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलः प्रेरकपुरुषनिष्ठो व्यापारः, 'अयमितो निवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषरूपो निवृत्त्यनुकूलो निवर्तकपुरुषनिष्ठो वा व्यापारः। वेदे च पुरुषाभावात् लिङादिशब्दनिष्ठ एव प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुकूलः कश्चित् धर्मः शाब्दी भावना। वेदे शब्दनिष्ठत्वादेवास्याः शाब्दी भावनेति व्यवहारः। लिङादिशक्यतावच्छेदकं तु पुरुषगतेच्छाविशेष-शब्दगतधर्मविशेषोभयसाधारणं व्यापारत्वमात्रम्, न तु प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजकव्यापारत्वम्। प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजकत्वस्य शक्यतावच्छेदककोटिप्रवेशे गौरवात्, अन्यलभ्यत्वाच्च। तथाहि—नञ्समभिव्याहाराभावस्थले लिङर्थस्य 'अयमत्र प्रवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषरूपव्यापारस्य आख्यातत्वावच्छिन्नशक्यप्रवृत्तौ प्रयोज्यत्वसम्बन्धेनान्वयः। प्रयोज्यत्वं चात्र स्वविषयकज्ञानजन्यानुमितिजन्यत्वरूपम्। लिङ्श्रवणानन्तरं 'अयमत्र प्रवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषरूपस्य प्रेरकपुरुषाशयस्य ज्ञानं भवति। तदनन्तरं तादृशेच्छाविषयत्वरूपहेतुज्ञानं भवति। ततः यागादाविष्टसाधनत्वानुमितिर्भवति। तथा च प्रवृत्तिर्भवति। अनुमानप्रयोगश्च 'याग इष्टसाधनम् अयमत्र प्रवर्ततामित्याकारकेच्छाविषयत्वादिति। एवं च स्वविषयकज्ञानजन्यानुमितिजन्यत्वसम्बन्धेन शाब्दभावनायाः प्रवृत्तावन्वयात् प्रयोज्यप्रयोजकभावस्य संसर्गमर्यादयैव भानसम्भवात् न तस्य शक्यतावच्छेदककोटौ प्रवेशः। एवं प्रवृत्तेरपि आख्यातत्वांशेन लाभात् न तस्या अपि शक्यतावच्छेदकत्वम्। नञ्समभिव्याहारस्थले तु लिङो निवर्तनाशब्दवाच्ये 'अयमितो निवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषे धर्मविशेषे वा लक्षणा। नञ्पदं तात्पर्यग्राहकम्। तादृशेच्छाविशेषस्य च स्वविषयकज्ञानविशेषजन्यानुमितिप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन आख्यातार्थप्रवृत्तावन्वयः। तथा च नञ्समभिव्याहृतलिङ्श्रवणानन्तरं 'कलञ्जभक्षणात् अयं निवर्तताम्' इत्याकारकेच्छाविशेषरूपनिवर्तनाज्ञानं भवति। तदनन्तरं च

तादृशेच्छाविषयीभूताभावप्रतियोगिकृतिविषयत्वरूपहेतुज्ञानं भवति। ततः कलञ्जभक्षणे अनिष्टसाधनत्वानुमितिः, ततः प्रवृत्त्यभावरूपा निवृत्तिरिति क्रमः। अनुमानप्रयोगश्च—कलञ्जभक्षणम् अनिष्टसाधनम् अयमितो निवर्ततामित्याकारकाप्तेच्छाविषयीभूताभावप्रतियोगिकृतिविषयत्वात् इति। एवं च प्रवृत्त्यभायरूपाया निवृत्तेस्तत्प्रयोजकत्वस्य च संसर्गतयैव लाभसम्भवात् न तयो लिङ्शक्यतावच्छेदककोटौ प्रवेशः।

तत्र नञ्समभिव्याहृतलिङ्स्थले आख्यातत्वावच्छिन्नवाच्यायाः कृति-प्रवृत्त्याद्यपरपर्यायाः आर्थभावनाया अंशत्रयमस्ति 'साध्यम्, साधनम्, इतिकर्तव्यता' चेति। तत्र 'किं भावयेत्' इति साध्याकाङ्क्षायां स्वर्गकामदोपस्थाप्यः स्वर्गः साध्यत्वेनान्वेति 'स्वर्गं भावयेदि'ति। 'केन भावयेत्' इति, साधनाकाङ्क्षायां समानपदोपात्तो यागः 'साधनत्वेनान्वेति' यागेन भावयेद् इति। 'कथं भावयेत्' इति इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां प्रयाजाद्यङ्गकलापः, इतिकर्तव्यतात्वेनान्वेति प्रयाजादिभिरुपकृत्येति। एवं च 'स्वर्गसाध्यिका यागकरणिका प्रयाजादीतिकर्तव्यताका पुरुषप्रवृत्तिरि'ति बोधो जायते। तथा लिङ्त्वावच्छिन्नवाच्यायाः प्रवर्तनाप्रेरणाविध्यपरपर्यायायाः अयमत्र प्रवर्ततामित्याकारकेच्छाविशेषरूपायाः शाब्दभावनाया अपि साध्यं, साधनम्, इतिकर्त्तव्यता चेत्यंशत्रयं भवति। तत्र साध्याकाङ्क्षायां पूर्वोक्तांशत्रयविशिष्टा आर्थी भावना साध्यत्वेनान्वेति। करणाकाङ्क्षायां लिङ्ज्ञानं लिङ्वाच्यशब्दभावनाज्ञानं वा करणत्वेनेति। करणत्वं चात्र शब्दभावनाभाव्यप्रवृत्तिनिर्वर्तकत्वमेव। न हि लिङ्ज्ञानं लिङ्वाच्यशब्दभावनाज्ञानं वा विना प्रवृत्तिर्भवति। इतिकर्तव्यताकाङ्क्षायां संनिहितार्थवादबोध्यप्राशस्त्यज्ञानस्य इतिकर्तव्यतात्वेनान्वयः। इदं कर्म प्रशस्तमिति ज्ञाने सति यागादौ रुचिर्भवति, तत्सहकारेण च लिङ्ज्ञानेन प्रवृत्तिर्भवति। तथा च प्राशस्त्यज्ञानेतिकर्तव्यताका लिङ्ज्ञानकरणिका आर्थभावनासाध्यिका शाब्दभावनेति बोधः। शाब्दभावनायाश्च स्वविषयकज्ञानजन्यानुमितिप्रयोज्यत्वसम्बन्धेन आर्थभावनायामन्वयः। तथा च निरुक्तांशत्रयविशिष्टा आर्थभावना उक्तप्रयोज्यत्वसम्बन्धेन निरुक्तांशत्रयवच्छाब्दभावनाविशिष्टा इति आर्थभावनामुख्यविशेष्यको बोधः।

एवं नञ्समभिव्याहारस्थले न कलञ्जं भक्षयेत् इत्यादौ आख्यातार्थः प्रवृत्तिः, लिङर्थो निवर्तना। प्रवृत्तौ तृप्तेः साध्यत्वं, कलञ्जभक्षणस्य करणत्वं, मुखे हस्तेन अन्ननिक्षेपादेः इतिकर्तव्यतात्वम्। निवर्तनारूपशाब्दभावनायां तु प्रवृत्त्यभावरूपायाः निवृत्तेर्भाव्यत्वम्, नञ्समभिव्याहृतलिङ्ज्ञानस्य वा निवर्तनारूपशाब्दभावनाज्ञानस्य वा करणत्वम्। अर्थवादबोध्याप्राशस्त्यज्ञानस्येतिकर्तव्यतात्वम्। निवर्तनानिवारणानिषेधापरपर्यायायाः शाब्दभावनायाश्च स्वविषयकत्वज्ञानजन्यानुमितिजन्याभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन प्रवृत्तिरूपायामार्थभावनायामन्वयः। तथाचाप्राशस्त्यज्ञानेतिकर्तव्यताक-निर्वतनाज्ञानकरणक-निवृत्तिभाव्यकशब्दभावनया स्वविषयकज्ञानजन्यानिष्टसाधनत्वानुमितिप्रयोज्याभावप्रतियोगित्वसम्बन्धेन विशिष्टा तृप्तिसाध्यककलञ्जभक्षणकरणकप्रवृत्ति रिति आर्थभावनामुख्यविशेष्यक एव बोधः। एवं तावत् अंशत्रयविशिष्टभावनाविषयकशाब्दबोधवर्णनरीतिर्भाट्टमीमांसकग्रन्थेषु निष्कृष्योपपादिता अत्र सङ्गृहीता।

अथ भावनाया अंशचतुष्टयम्

विशिष्टाद्वैतवेदान्तप्रवर्तकाचार्यैः सर्वतन्त्र-स्वतन्त्रैः वेदान्तदेशिकैः न्यायपरिशुद्धिनाके ग्रन्थे भावनाया अंशचतुष्टयमित्युपक्षिप्तम्। तदपि मीमांसकानां परिशीलनयोग्यमिति अत्र तद्ग्रन्थोद्धारपूर्वकं विवेचयामः।

"किं, केन, कथमिति भवत्प्रोक्तवत्, किमर्थं, किं, केन, कथमित्याकाङ्क्षाचतुष्टये स्वर्गादिना किमर्थमित्याकाङ्क्षापूरणम्, देवतां प्रीणयेत् इति किमित्याकाङ्क्षाशान्तिः, ज्योतिष्टोमेनेत्यादिनामधेयादिभिः केनेत्याकाङ्क्षा पूर्यते, कथमित्याकाङ्क्षापूरणं तु भवतामस्माकं च तुल्यमेवेति शाब्दोऽयं पन्थाः" इति न्यायपरिशुद्धिग्रन्थः।

अयमत्राशयः—यदुक्तं मीमांसकैः आख्यातार्थभावनायां धात्वर्थयागादेः करणत्वेनान्वय इति, तन्न सङ्गच्छते । पचतीत्यस्य पाकं करोतीति विवरणेन धात्वर्थपाकस्य कृतिसाध्यत्वमेव प्रतीयत इति धात्वर्थस्य साध्यत्वेन कृतावन्वयस्यैवोचितत्वात् । यदपि स्वर्गादिफलस्य साध्यत्वेनान्वय इत्युक्तम् तदपि विचार्यम् । लोके 'कुरु' इत्युक्तौ 'किम्' इति भवन्ती आकाङ्क्षा न फलविषयिणी । न हि अहं स्वर्गं करोमि इति कश्चित् प्रतिसन्धत्ते, किन्तु कर्तव्यांशविषयिणी । इदं कर्तव्यमिति निश्चिते पश्चादेव किमर्थं कर्तव्यमिति फलाकाङ्क्षा जायते । तस्मात् साध्याकाङ्क्षेयं फलविषयिणीति सिद्धवत्कृत्य स्वर्गादेः साध्यत्ववर्णनमयुक्तम् । न्यायकुसुमाञ्जलावपि 'नहि बीजं वपता पुरुषेण अङ्कुरं करोमीति व्यवह्रियते' इत्युपपादितम् । अतः किमित्याकाङ्क्षा धात्वर्थयागादिरूपकृतिसाध्यार्थविषयिणीति यागादेरेव साध्यत्वेन कृतावन्वयः, यागसाध्यिका कृतिरिति । एवं च यागः कर्तव्य इति निश्चिते, तदनन्तरं किमर्थमिति फलाकाङ्क्षायां स्वर्गस्यान्वयः स्वर्गार्थमिति । तदनन्तरं केनेति करणाकाङ्क्षा । सापि कृतिसाध्यो यो धात्वर्थः यागादिः तत्करणविषया । मीमांसकैरपि भावनासाध्यस्य यत्करणं तदेव भावनाकरणमित्यङ्गीकृतम् । भावनासाध्यं तु तन्मते फलम्, एतन्मते धात्वर्थ इत्ययमेव विशेषः । ततश्च करणाकाङ्क्षायां द्रव्यस्य पुरोडाशादेः करणत्वेनान्वयः । तदनन्तरं कथमित्याकाङ्क्षायां करणोपकारकस्य प्रयाजादेरन्वय इति समानम् । तथा च लोके 'पचेत्' इत्यादौ पाकसाध्यिका भोजनाद्यर्था तण्डुलादिकरणिका अधिश्रयणाधःश्रयणादीतिकर्तव्यताका कृतिरिति बोधः । वेदे 'यजेत स्वर्गकाम' इत्यादौ यागसाध्यिका स्वर्गार्था, पुरोडाशादिकरणिका प्रयाजाद्यङ्गिका भावनेति बोधः । तथा च भावना नांशत्रयवती, अपितु अंशचतुष्टयवती ।

शबरस्वामिनामप्येतत् अंशचतुष्टयवत्त्वं भावनायाः संमतम् । तथा हि—'कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्' (पू० मी० सू० १-१-३२) इति सूत्रे—'ज्योतिष्टोम इत्यभिधाय कर्तव्य इत्युच्यते । केनेत्याकाङ्क्षिते सोमेनेति । किमर्थमिति स्वर्गायेति । कथमिति इत्थमनया इतिकर्तव्यतयेति' इति भाष्यम् । अत्र हि कर्तव्य इति प्रयोगात् यागस्य साध्याकाङ्क्षापूरकत्वमुक्तम् । स्वर्गादेः फलस्य च किमर्थमित्याकाङ्क्षया अन्वय उक्तः । यागस्य उपादेयतया कृतिसाध्यत्वम्, फलस्य उद्देश्यतया कृतिसाध्यत्वमितिभेदोऽपि ततोऽवगम्यते । केनेत्याकाङ्क्षायां सोमेनेत्यन्वयोक्तेश्च करणत्वेन द्रव्यादीनामेवान्वय इति स्फुटं सूचितम् । अत्र केनेत्यनेन केन द्रव्येण केन नाम्ना कया देवतयेत्यपि विवक्षितम् । अतो द्रव्यस्य ज्योतिष्टोमादिनाम्नः देवतायाश्च करणत्वेनान्वयः । तदभिप्रायेणैव—'ज्योतिष्टोमेनेत्यादिनामधेयादिभिः केनेत्याकाङ्क्षापूरणम्' इति न्यायपरिशुद्धावुक्तम् । तथाचाकाङ्क्षाचतुष्टयं शाबरभाष्यस्यापि संमतमिति स्पष्टम् ।

श्रीराजराजेश्वरी

सी० वि० स्वामिशास्त्रिणः श्रीविद्यावाचस्पतयः
(अनन्तानन्दनाथाः)

ओं नमो भगवत्यै श्रीचन्द्रशेखरमूर्तये ।
सच्चिदानन्दरूपिण्यै स्वात्मबोधप्रपूर्तये ॥
वन्दे मातरमम्बिकां भगवतीं वाणीरमासेवितां
कल्याणीं कमनीयकल्पलतिकां कैलासनाथप्रियाम् ।
वेदान्तप्रतिपाद्यमानविभवां विद्वन्मनोरञ्जिनीं
श्रीचक्राञ्चितरत्नपीठनिलयां श्रीराजराजेश्वरीम् ॥

तन्त्रशास्त्रे श्रीललितोपाख्यानम्, श्रीत्रिपुरारहस्यम्, इति ग्रन्थरत्नयोः श्रीराजराजेश्वर्याः स्वरूपं महिमानञ्चोपलभामहे । तत्र ललितोपाख्यानं हयग्रीवेणागस्त्यमहर्षये समुपदिष्टम् । त्रिपुरारहस्यन्तु हारितायनमहर्षिणा सुमेधा इत्यपरनामधेयेन प्रवर्तितम् । अस्य ग्रंथस्य 'हारितायनसंहिता' इत्यपरं नामेति पारम्पर्येण शृणुमः । तन्त्रशास्त्रे सर्वेऽपि ग्रंथा उपदेशक्रमेणैव प्रवर्तिता इति न तिरोहितं तन्त्रशास्त्राध्यायिनाम् । यथा हि मीमांसकाः 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' इति जैमिनिमहर्षेरुक्तिमवलम्ब्य वेदस्य पारम्पर्यक्रमेण परिप्राप्ततां वर्णयन्ति तथैव तन्त्रशास्त्रमपि उपदेशक्रमेणैव प्राप्तमिति स्मृत्यधिकरणन्यायेन साधनं नायुक्तियुक्तम् । स्मर्तारो हि मन्वादयः नानाशाखासु अध्ययनाध्यापनपारम्पर्यपरिलोपेन विलीनासु प्रतिपादितान् पदार्थान् स्मृत्वोपदिशन्तीति मीमांसका आस्थिषत, तथैव तन्त्रग्रन्थप्रवर्तका अपि परम्परया प्राप्तानुपदिशन्ति । तत्रेयं सरणिः—मन्वापस्तम्बयाज्ञवल्क्यादिभिर्विरचितास्वपि स्मृतिषु यदेव वचनं वेदविरुद्धं तस्याप्रामाण्यकथने न मीमांसकानां सङ्कोचः, तथैव तन्त्रग्रन्थेष्वपि तादृशं वचनमप्रमाणमित्यत्र न सङ्कोचः । अप्रामाण्यमपि नात्यन्तिकम्, किन्तु यावच्छ्रुत्युपलम्भमननुष्ठानलक्षणमिति विवेचका भट्टपादा अभिप्रयन्ति । आच हिमवतः आच कुमारिकाया विस्तृतेऽस्मिन् महति देशे विप्रकीर्णासु श्रुतिषु यदि कदाचित् क्वचिन्मूलभूतायाः श्रुतेरुपलम्भस्स्यात् तर्हि सत्यपि विरोधे कथमात्यन्तिकमप्रामाण्यं साधयितुं शक्यमिति भट्टपादानामाशयः । भट्टकुमारिलपादाः स्मृतिप्रामाण्यसाधनावसरे वृश्चिकसरीसृपादिदंशजनितविषवेगापहारिकाया विद्याया अपि प्रामाण्यं सम्प्रदायानुगतं स्वीचक्रुः । एवं हि सति श्रीविद्यायाः प्रामाण्ये तेषां कस्सन्देहः स्यात् ? अतो ललितोपाख्यानं त्रिपुरारहस्यञ्च प्रामाणिकग्रन्थकोटौ निविशतः ।

श्रीविद्यायां मूलमन्त्राः त्र्यक्षरी, पञ्चदशाक्षरी, सौभाग्यपञ्चदशाक्षरी, षोडशाक्षरी, महाषोडशाक्षरीति भेदेन विभिन्नाः । एतेषां मन्त्राणामेव श्रीविद्येति नामधेयम् । अस्याः श्रीविद्याया उपासकः प्रथमं श्री महागणपतिमुपासीत । गणपतेरनुग्रहमवाप्यैव श्रीविद्याया उपासने साधकः प्रवर्तेत इतिक्रमः । तन्त्रशास्त्रे देवतासु पुरुषविद्याः स्त्रीविद्या इति भेदः परिगणितः । पुरुषविद्यानां देवतानामुपासनायै यान्यक्षराणि तानि 'मन्त्र' इति, स्त्रीविद्यानामुपासनायै यान्यक्षराणि तानि 'विद्या' इति च व्यवहारः । तत्र गणेशोपनिषदि 'सैषा गाणेशी विद्या' इति निर्देशेन स्त्रीविद्यात्वमेव देवताया इति प्रतीयते । तत्र विद्यायां 'गणपतये' इति चतुर्थ्यन्तं पदं क्वचित्परम्परायाम्, क्वचिच्च 'गणपते' इति सम्बुद्ध्यन्तं पदं प्रचलति । उभयत्रापि अष्टाविंशत्यक्षराण्येव ।

श्रीराजराजेश्वरीविद्याया अपि महाषोडश्याः तावन्त्येवाक्षराणि। न केवलमिदमेव साम्यम्, किन्तु चिरन्तने काले कटपयादिसङ्ख्याशास्त्रेण चिरन्तना ज्योतिर्विदः परस्परं व्यवहरन्ति स्म। 'क' इत्यनेन कवर्गः चवर्गश्च ग्राह्यौ। 'ट' इत्यनेन टवर्गतवर्गौ ग्राह्यौ। 'प' इत्यनेन पवर्गः। 'य' इत्यनेन य र ल व श ष सहळाः ग्राह्याः। चवर्गपञ्चमस्य तवर्गपञ्चमस्य च 'ञ' 'न' इत्यनयोः शून्यमङ्कः। अवशिष्टानां वर्णानां (व्यञ्जनानाम्) एक-द्वित्र्यादयः सङ्ख्याः। अर्थात् क ख ग घ ङ इत्येषां १ २ ३ ४ ५ क्रमेण संख्याः। च छ ज झ इत्येतेषां ६ ७ ८ ९ सङ्ख्याः। अनयैव रीत्या टकारमारभ्य धकारपर्यन्तं क्रमेण ९ अङ्काः। पकारमारभ्य मकारपर्यन्तं ५ अङ्काः क्रमेण बोद्धव्याः। एवं यकारमारभ्य ळकारपर्यन्तं ९ सङ्ख्या अवगन्तव्याः। 'अचां सङ्ख्या न भवति। संयुक्ताक्षरेषु द्वितीयव्यञ्जनस्यैव सङ्ख्या, न प्रथमव्यञ्जनस्येति संख्याशास्त्रम्। 'रामः' इत्युक्ते रेफस्य सङ्ख्याद्वयम्, मकारस्य पञ्च, तथा च २५ सङ्ख्या सिध्यति। 'प्र' इत्यत्र रेफस्यैव ग्रहणम्, 'ष्ण' इत्यत्र णकारस्यैव ग्रहणम्, न तु पकार-षकारयोः। एवं तत्तदक्षराणां नियतसङ्ख्या अवगत्य तथैव व्यवहारः प्रचलित आसीत्। तेन च मन्त्राणां गोपनं सिध्यतीति प्राचामाशयः। विद्यागततत्तदक्षरसंख्यया देवताया नामावगतं भवति। यथा म हा ग ण प तिः, अत्र
५ ८ ३ ५ १ ६

सङ्ख्यानां योजनेन २८ संङ्ख्या निष्पद्यते।

एवं श्री रा ज रा जे श्व री इत्यत्र संख्या योजनेन २८ संख्या निष्पद्यते। अनया संख्यया महा-
२ २ ८ २ ८ ४ २

गणपतेः श्रीराजराजेश्वर्याश्च साम्यं सिध्यति। एवञ्च श्रीराजराजेश्वरीं तद्विद्याञ्चानुकूलयितुं महागणपतेरुपा-सनमत्यावश्यकमिति तन्त्रशास्त्रविद आमनन्ति। तत्तद्वर्णगतसंख्यानां क्वचिद्योजनम्, क्वचिद्गुणनं, क्वचित् ह्रसनं, क्वचिच्च वर्गीकरणञ्चेति कार्यानुसारेण विभिन्नः पन्था अवलम्ब्यते।

चतुर्थ्यन्तसम्बुद्ध्यन्त-गणपतिशब्दघटितविद्ययोरेकां गुरुमुखाद् यथाविध्यवाप्य जपहोमादिकरणेन मन्त्रसिद्धिर्देवतासिद्धिश्च प्राप्तव्ये। तत्र लक्षचतुष्टयसंख्यया जपः, तद्दशांशेन होमः। होमीयानि द्रव्याणि मोदकं, धान्यलाजाः, तिलाः, नारिकेलम्, इक्षुदण्डः, सक्तवः, कदलीफलम्, पृथुकाश्चेत्यष्टौ। होमकालः—सूर्योदया-त्परमेका घटिका चत्वारिंशद्घटिकाः। अस्मिन्नेव समये होमो विधेयः। विधानञ्चास्य गुरुमुखाद्विज्ञेयम्। होमानन्तरं चतुरावृत्तितर्पणम्। तर्पणप्रकारश्चास्मत्सम्पादितगणेशचर्यातो ज्ञेयः। एवं यथाविधि जपहोमादि-करणेन श्रीगणेशस्तृप्यति। श्रीविद्यासमुपासकैरिदं गणपतिविद्याजपहोमतर्पणादीन्यवश्यमेवानुष्ठेयानि। श्रीराज-राजेश्वर्याः प्रसदो यदि काम्यते तर्हि श्रीमहागणपतिविद्योपासनमत्यावश्यकम्।

श्रीविद्यायां महागणपति—बाला, ललिताम्बा, ललिताम्बिका, राजेश्वरी, श्रीराजराजेश्वरीति विद्याः प्रागवोचम्। सङ्ख्याशास्त्रानुसारेण विचार्यमाणे कीदृशं साम्यं सिध्यतीति किञ्चिदिव निरूपयामः—

महागणपतिविद्याया अष्टाविंशत्यक्षराणीति पूर्वं प्रदर्शितम्। बालाविद्या द्विविधा—त्र्यक्षरी षडक्षरीति। तत्र श्रीविद्योपासकैः षडक्षर्येव गृह्यते। बाला ललिताम्बा इत्यत्र सङ्ख्याया योजनेन १५
३ ३=६, ३ ३ ६ ३ =१५

सङ्ख्या निष्पद्यते। तथा च पञ्चदशाक्षरी विद्या। ल लि ता म्बि का इति षोडशाक्षरीविद्या।
३ ३ ६ ३ १=१६

रा जे श्व री इति षोडशाक्षरी विद्या। श्री रा ज रा जे श्व री इत्यत्राष्टाविंशत्यक्षरीति पूर्वं प्रदर्शितम्। एवञ्च
२ ८ ४ २=१६ २ २ ८ २ ८ ४ २=२८

तत्तन्नामभेदे सत्यपि सङ्ख्याशास्त्रेण साम्यं प्रसिध्यति। बालाविद्यायामक्षरत्रयमिति पूर्वमभिहितम्। तत्र

प्रथमं वाग्भवबीजम्, द्वितीयं कामराजबीजम्, तृतीयञ्च शक्तिबीजमिति विवेकः। बीजत्रयमिदं पञ्चदशीविद्यया सह योज्यते। तदा कूटत्रयं सिध्यति। इदमेव कूटत्रयं महाषोडश्यां बीजरूपत्वमापद्यते। अत्रत्यस्सर्वोऽपि विवेको गुरुमुखादेवावगन्तव्यो भवति।

अस्यां विद्यायां ककारमारभ्यैकं मतम्, हकारमारभ्य द्वितीयं मतम्, सकारमारभ्य तृतीयं मतमिति त्रीणि मतानि। केवलं बालाविद्यामेवाभ्यस्य सम्प्राप्तसिद्धयो नैकविधा महात्मानस्सन्ति। अस्यां विद्यायां, त्रीणि मतानि—आनन्दभैरवस्य हयग्रीवस्य दक्षिणामूर्तेश्चेति। सर्वेष्वपि मतेषु देवतैकैव ललितापरनामधेया श्रीराजराजेश्वरी। यन्त्रञ्च श्रीचक्रम्। यथा वेदेषु कर्मकाण्डम्, उपासनाकाण्डम् ज्ञानकाण्डमिति भेदो विलोक्यते तथैव तन्त्रशास्त्रेऽपि चर्याकाण्डम् उपासनाकाण्डम्, ज्ञानकाण्डमिति भेदोऽनुभूयते। तत्रानन्दभैरवमते कर्मकाण्डस्य, हयग्रीवमते भक्तिकाण्डस्य दक्षिणामूर्तिमते च ज्ञानकाण्डस्य प्राधान्यमिति विभागः कर्तुं शक्यते। प्रथमस्य द्वैतमवलम्बनम्, द्वितीयस्य विशिष्टाद्वैतम्, तृतीयस्य चाद्वैतम्, क्रमेणापरापूजा, परापरपूजा, परापूजा चेत्यपि विभागः। प्रकारान्तरेण कर्म-भक्ति-ज्ञानप्राधान्यमिति कथनं सङ्गच्छते। त्रिष्वपि मतेषु यन्त्रं श्रीचक्रमेव। तत्रायं भेदः—श्रीचक्रे बिन्दुः, त्रिकोणम्, अष्टकोणम्, अन्तर्दशारः, बहिर्दशारः, चतुर्दशारः, अष्टदलम्, षोडशदलम्, वर्तुलाकारास्तिस्रो रेखाः, तिस्रः चतुरस्रा रेखाः इति सन्ति विभागा नव। एत एव 'नवावरण' शब्देन व्यपदिश्यन्ते। तत्रानन्दभैरवमते वर्तुलाकाराणां रेखानां सत्ता विद्यते, पूजा नास्ति, हयग्रीवमते ता रेखा एव न सन्ति, दक्षिणामूर्तिमते रेखास्तास्सन्ति तासां पूजापि वर्तत इति। भूप्रस्तारः, मेरुप्रस्तारः, कैलासप्रस्तार इति चक्रस्य त्रयो भेदाः। तत्राष्टमावरणाधिष्ठातृदेवता वशिन्यादयोऽष्टौ देवताः। तासां विशेषेण पूजनं भूप्रस्तारे, मातृकाक्षरैस्सह युक्तः कैलासप्रस्तारः, मेरुप्रस्तारे तिथिनित्या पूजनं विशेषेण प्रचलति। विषयानिमान् गुरुमुखादवगत्य श्रीचक्रचर्या कर्तव्येति सम्प्रदायागतः पन्थाः। अत्रायं विवेकः—जगदिदं भावनामयम्। 'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी' इति हि न्यायः। 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इति भगवान् वासुदेवः।' 'श्रद्धस्व सौम्येति हि शास्ति शास्त्रम्' इति संक्षेपशारीरककाराः। सर्वैरेव मानवै रनुशासने वर्तितव्यम्, चिरन्तनैः क्षुण्णे पथि गन्तव्यम् इत्यत्र सन्ति भूयांसि प्रमाणानि। एवं सत्यपि विविध-विज्ञानधारयाऽऽविष्कृतैश्चमत्कारैराकृष्टचेतस आधुनिका वदन्ति सर्वमिदं श्रद्धामात्रविजृम्भितम्, चिरन्तनैः क्षुण्णः पन्था आधुनिक-विज्ञानधाराजनितविवेकस्य प्रतिबन्धक इति। परमिदं न विस्मर्तव्यं यद् विज्ञानात्परमपि प्रज्ञानं नाम किञ्चिदस्तीति। विज्ञानञ्च सातिशयम्, सातिशयं वस्तु भवति निरवसानम्। विज्ञान-विवेकेनाद्यतनाविष्कृतपदार्थस्यापि मूलं श्रद्धैवेत्येष्टव्यम्। विना श्रद्धया लौकिकं वैदिकं वा न साधयितुं शक्यम्। तत्र विज्ञानेनाविष्कृतं वस्तु न स्थास्नु भवति। अद्यतने दिने विज्ञानेनाविष्कृतं श्वस्तने दिने परिवर्तमानं विलोकयामः। प्रज्ञानेनावाप्यमानं न परिवर्तते। तच्च स्थायि तिष्ठति। स्वस्वरूपावगतिरेव प्रज्ञानमिति कथ्यते। भेदज्ञानं विभिन्नं भवति, अभेद ज्ञानञ्चैकरूपमवतिष्ठते। भिन्नरूपतयाऽवस्थितेषु पदार्थेषु एकरूपतादर्शनं दुष्करम्, भिन्नेषु भेदरूपदर्शनं स्वतस्सिद्धम्। एकरूपतया भावनमेव प्रज्ञानम्। तच्च देवताराधनेनैव सिध्यति। सोऽयं चिरन्तनैरवलम्बितः पन्थाः न विज्ञानधाराया विरोधी। उत्तरोत्तरं यथाविधि कर्मणामनुष्ठानमेव कालान्तरे मानवानां चित्तवृत्तिं निरुध्य स्वस्वरूपावगतिप्रेरकं भवतीति भगवत्पादप्रभृतयोऽपि स्वीचक्रुः। तत्र भगवत्पादा अद्वैतमतप्रतिष्ठापकाचार्या अपि षण्मतप्रतिष्ठापकाचार्याः। निर्गुण-निराकार-ब्रह्मतत्त्वनिरूपका अपि सगुणसाकार-ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादकाः। अधिकारिभेदेन पदार्थतत्त्वनिरूपणं शास्त्रानुमतमिति विरोधः परिहरणीयो भवति। अत एव सौन्दर्यलहर्यादिग्रन्थप्रणयने प्रवृत्तिमाचार्यचरणानां विलोकयामः। सौन्दर्यलहर्यां भगवत्याः श्रीराजराजेश्वर्या एव माहात्म्यं वर्णितं श्रीशङ्करभगवत्पादैः। न केवलमिदं किन्तु तत्र तत्र मन्दिरेषु श्रीचक्रं 'प्रतिष्ठाप्य तत्सम्पूजनमप्यकार्षुः'।

अनेन तन्त्रशास्त्रे सिद्धस्य काण्डत्रयस्यावलम्बनं भगवत्पादानां सिध्यति। भगवत्पादावलम्बितायां सरणावस्माभिरपि वैज्ञानिकयुगे वर्तमानैरनुस्त्रियमाणायां प्रकृतविज्ञानधाराया न कोऽप्युपरोध इति मन्यामहे!

श्रीचक्रबिन्दुनिवासिनी श्रीराजराजेश्वरीति पूर्वमवोचम्। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' इत्यादिप्रमाणैः शिवशक्तिस्वरूपिणी सा देवता विश्वस्मिन् जगति व्याप्तापि बिन्दुवासिनीत्यभ्युपगत्य तत्र तस्यास्सम्पूजनं शास्त्रानुमतं सम्प्रदायसिद्धमपि। मानुषीं शक्तिमतिक्रम्यामानुषो शक्तिः काचन स्वीयं साम्राज्यं चालयन्ती सर्वत्र जगति विलसतीत्येष्टव्यम्। जगति जनिमातस्थुषा मानवेन सैव शक्तिस्समवाप्तव्या। अवाप्तायां तस्यां निरतिशयशक्तौ मानवः स्व-स्वरूपानन्दे सुचिरमवतिष्ठते। विज्ञानधारायामवस्थितो मानवो न विरमति स्वव्यापारात्, ततोऽप्यतिशयितं पदार्थमाविष्कृत्य वर्तमानाय मानवायाभ्यसूयति, रागद्वेषादिभिराक्रान्तः कलुषितश्च भवति। अतश्चिरन्तना महामानसा नित्यनिरतिशयसुखानुभूत्यै चर्याकाण्डमुपासनाकाण्डञ्च प्रवर्तितवन्तः। 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इति श्रुत्यनुसारेण तामिमाममानुषीं शक्तिमवाप्तुं सिद्धः कश्चन गुरुरन्वेष्टव्यः। तंत्रशास्त्रे चर्या भगवत्या अतिदुरूहा, गुरुं विना जपहोमपूजाद्याचरणं न फलप्रदम्। अत एव श्रीविद्यायां यथा महागणपतेराराधनं मुख्यं परिगण्यते तथैव गुरुपादुकाराधनं प्रधानरूपेण विहितम्। अतो वयमपि सद्गुरूनासाद्य श्रीराजराजेश्वर्याः पूजनादिषु प्रवृत्ताः परदेवतायाः कृपया जननं मरणञ्च दूरीकृत्य नित्यं निरतिशयञ्चानन्दमवाप्तुं पन्थानमनुसरामः।

अथेदानीं 'श्रीविद्याम्' अधिकृत्य किञ्चिद्विवेचयामः—

श्रीः

सङ्ख्याशास्त्रं वररुचिना प्रणीतमिति ज्ञायते। वररुचिनाम्ना पञ्चषा आसन्निति इतिहासविदोऽभिप्रयन्ति। किन्तु सङ्ख्याशास्त्रं केन वररुचिना प्रवर्तितमिति निर्णेतुं न शक्नुमः। 'वाक्यकारं वररुचिम्' इत्यभियुक्तोक्त्या पञ्चाङ्गगणनौपयिकं वाक्यमेव झटिति स्फुरति। केरलेषु ज्योतिर्विद्भिः सङ्ख्याशास्त्रमवलम्ब्य फलादेशः क्रियत इति चिरन्तनात्कालात्कश्चन सम्प्रदायश्चलति। अधुना तु तत्रत्या ज्योतिर्विदस्तच्छास्त्रं विहाय साक्षादेव पञ्चाङ्गगणनामाचरन्ति। तथाहि 'श्रीरामचन्द्रः' इति पदं गृह्णीमः। अत्राक्षराणां क्रमेण २ २ ५ ६ २ इत्यङ्काः समायान्ति। अङ्कानां वामतो गतिः इति शास्त्रानुसारेण २६५२२ इति सम्पद्यते। श्रीरामचन्द्र इति पदव्यवहारस्थाने द्वाविंशत्यधिकपञ्चशतोत्तरषड्विंशतिशतानीति व्यवहारः क्रियते स्म तत्रत्यैर्ज्योतिर्विद्भिः। जनसमूहे यदि किञ्चिन्नाम गोपनीयं स्यात् तर्हि तत्र तन्नामावबोधयितुं सङ्ख्यानां व्यवहारः प्रचलति स्म। द्विशताद्वर्षेभ्यः पूर्वं केरलेषु कुत्तनूराभिधे जनपदे 'अप्पुशास्त्री' तिनाम्ना प्रसिद्धः कश्चन ज्योतिर्विदासीत्। तन्निकटे मन्मातुलो नाम्ना कृष्णशास्त्री ज्योतिषशास्त्रमधिजगाम। मन्मातुलस्य कापि सन्ततिर्नासीदिति स मामध्यापयामास। अतएव सङ्ख्याशास्त्रे मया किञ्चिदिव ज्ञानमवाप्तम्। अनेनावाप्तेन ज्ञानेनाहं मल्लिखितेषु प्रबन्धेषु नैकविधान् विषयान् प्रत्यपादयम्। तन्त्रशास्त्रसम्बन्धिनो विषयान् सङ्ख्याशास्त्रानुसारेण विवेचयितुं प्रवृत्तिरुदभूत्। विवेचनावसरे नूतनाः केचन विषया मयावगताः। कलौ युगेऽस्मिन् सञ्चरणशीलां श्रीकाञ्चीकामकोटि-पीठाधिपतिरूपेण प्रसिद्धां देवतां नाम्ना श्रीचन्द्रशेखरेन्द्रसरस्वतीमासाद्यैकदा तन्त्रशास्त्रीयविषयान् सङ्ख्याशास्त्रानुगतान् कांश्चनाश्रावयम्। तेच परमां मुदमवाप्य मामन्वगृह्णन्—'जगदम्बायाः कृपाकटाक्षेण त्वं वीक्षितोऽसि' इति। अहञ्च न संस्कृतभाषायां प्रवीणः तथापि देव्याः कृपया कांश्चन श्लोकान् निर्माय तेऽभ्योऽश्रावयम्। निशम्य तान् सन्तुष्टान्तरङ्गाः श्रीचरणाः त्वं यान्येव पद्यानि स्तोत्राणि गद्यभागाँश्च निर्मासि तानि मह्यं श्रावयेत्यजिज्ञपन्। तथैवाहमनुतिष्ठन्नस्मि। श्रीविद्यासम्बन्धिनोऽनेकान् विषयान् तत्तदवसरे मयोक्तान् श्रुत्वा ते तुष्टमानसा अभवन्। इदानीं निर्माणकर्मीभूतं 'सर्वं शिव-

शक्तिमयं जगत्' इति विषयं ते नाश्रृण्वन् । यतो हि ते स्वपीठसम्बन्धीनि कार्याणि सम्पादयितुं शिष्यश्रीचरणेभ्यः श्रीजयेन्द्रसरस्वतीस्वामिपादेभ्यः समर्प्य स्वयमेकान्तवासिनोऽन्तर्मुखा वर्तन्ते । अहमपि पञ्चषवर्षेभ्यो महता-मयेनाक्रान्तोऽस्मि । एतेन कारणेन श्रीचरणान् द्रष्टुं नाशक्नुवम् । पुस्तकरूपेणेमं लेखं प्रकाश्य तेभ्यस्समर्पयितुं विहितमना अस्मि । किन्त्विदं सम्भवेन्नवेति सन्दिहानोऽपि जगदधिष्ठात्र्याः कामाक्ष्या अनुग्रहेण सम्भवेदित्येव विश्वसिमि ।

श्री विद्या

शिवश्शक्तिं सृजति, शिवा च शिवम् । उभावपि दाम्पत्यं समवाप्य विश्वजनकौ भवतः । तावजौ भूत्वैवं क्रीडतः । तथापि तयोश्शक्तिः कुमारिका, परशिवश्च, नैष्ठिकब्रह्मचर्ये तिष्ठति । एवं तयोश्चरितस्याद्भुतं रहस्यं चिरन्तना एव जानन्ति ।

सृष्ट्वा शक्तिमहो शिवः परशिवा सृष्ट्वा शिवं तावजौ
दाम्पत्यं समवाप्य विश्वजनकौ भूत्वा तयोः क्रीडतोः ।
शक्तिस्सा हि कुमारिका परशिवो देवो व्रती सर्वदा
वृत्तस्यास्य रहस्यमद्भुततमस्याद्या विजानन्ति हि ॥

एतेन परादेवतायाः तदधिष्ठानयन्त्रस्य श्रीचक्रस्य स्वरूपमवबोधितं स्यादिति विश्वसिमः ।

सम्प्रति 'श्रीविद्या' इति शब्दमादाय सङ्ख्याशास्त्रानुसारेण किञ्चिद्विवेचयामः—'श्रीविद्या इत्य-
२ ४ १
क्षराणां सख्या । अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन १४२ इति संख्या सम्पद्यते । अत्र संख्यानां गुणनं, योजनं, ह्रसनं, वर्गीकरणञ्चेति विद्या आश्रीयन्त इति प्रागवदम् । तत्र प्रथमं ४२+१ इति योजने कृत ४३ संख्या समायाति । अनया सङ्ख्यया श्रीचक्रगतत्रिकोणा अवगम्यन्ते । द्वितीयतः—१४+२=१६ इति निष्पद्यमाना संख्या पञ्चदश्यामन्तर्गतायाः षोडशी विद्यायास्सूचिका । श्रीविद्याया उपासनातः पूर्वं तान्त्रिकैः अष्टाविंश-त्यर्णपेता श्रीमहागणपतिविद्या समुपास्यते । सेयं संख्या तमाचारं स्मारयति—यदि १४×२ इति गुणनं क्रियते । तत्र

'सम्बुद्ध्यन्तमहामन्त्रः मोक्षमार्गैकहेतुकः ।
चतुर्थ्यन्तमहामन्त्रः शाक्तमार्गावबोधकः' ॥

इति प्रमाणेन 'गणपते' 'गणपतये' इति द्वैविध्यं महागणपतिमन्त्रस्य । उभयत्राष्टाविंशत्येव संख्याऽक्षराणाम् । श्रीगौडपदाचार्याः 'अथातः शाक्तमन्त्रागमाभिजिज्ञासा' इत्यारभ्य शक्तिसूत्राणि प्राणैषु-रिति श्रृणुमः । तत्र 'अष्टाविंशतिवर्णविशिष्टो महाहेरम्बमनुः' इति सूत्रयाम्बभूवुः । अतः सम्बुद्ध्यन्तचतुर्थ्य-न्तमतयोरुभयोरप्यक्षरसंख्याऽष्टाविंशत्येव । तृतीयतः ४×२=इति गुणने कृते ८ संख्या या निष्पद्यते सा विष्णुसूर्यसम्बन्धिमन्त्रौ स्मारयति । चतुर्थतः ४+२=६ इति बालाषडक्षरायाः २+१=३ इति बालात्र्यक्षर्याः ४+१=५ इति शिवपञ्चाक्षर्याः, एवं पञ्चदश्याः षोडश्याः पञ्चाङ्गानां, तिथिनित्यानाम्, परौघस्य, दिव्यौघस्य, सिद्धौघस्य, मानवौघस्य गुरुत्रयस्य, मुनिसंख्यायाः, चतुरस्ररेखाणां, श्रीचक्रावान्तरभागानाञ्चावबोधका अङ्का निष्पद्यन्ते । विशेषरूपेणानुसन्धीयमानेऽन्यान्यपि तत्त्वान्यवबोध्दुं शक्यन्ते ।

गुरु :

ओमितीदं ब्रह्मवाचकम् तथैव 'अथ' इति पदमपि गुरुस्मारकमिति तन्त्रशास्त्रानुसारी पन्थाः । तत्रेदं प्रमाणम्—अस्माकं शिरोभागे अबलालयनाम्ना एकस्मिन्कोणे विलसति ।

'विधिबिलकमलान्तर्वसदकथहळक्षाख्यरुचिरमणिपीठे । द्वादशदळकमले श्रीदेशिकराजस्य चरणमवलम्बे ॥' इति मद्गुरुचरणैर्निर्मितमेकं गुरुस्तोत्रम् । ब्रह्मरन्ध्रे विलसमानस्य सहस्रदलकमलस्य मध्ये विद्यते कश्चन त्रिकोणः । तस्मिन् अ क थ ह ळ क्ष इत्यक्षराण्येव त्रिकोणरूपेण विद्यन्ते । अस्मिन् सुन्दरे मणिपीठे द्वादशदलोपेतमेकं कमलम् । अस्मिन्नेव देशिकेन्द्रस्य पादावहमाश्रय इति स्तोत्रार्थः । एवमेव भास्कर-राया अपि स्वीये वरिवस्यारहस्ये वर्णयन्ति—

'अकथासनं हळक्षान्तरमासाद्य मामकं ज्ञानम् ।
मामकमेवानन्दं मह्यं ददतो जयन्ति गुरुचरणाः' ॥

इति । ब्रह्मरन्ध्रस्थसहस्रदलकमले विलसमानस्य त्रिकोणस्याकथासनम् इति संज्ञा । तस्येदं विवरणम्—

अस्मिन् त्रिकोणे दक्षिणरेखायाम् अकारमारभ्य षोडशाक्षराणि, उपरितन रेखायां ककारमारभ्य षोडशाक्षराणि, वामभागसम्बन्धिरेखायां 'थ' कारमाभ्य षोडशाक्षराणि ह ळ क्ष इति त्रिषु कोणेषु त्रीण्यक्षराणि । इदमेवाकथासनमिति व्यवह्रियते । अकारमारभ्य क्षकारान्तान्यक्षराण्येव अक्षयोर्मध्यगतान्यक्षराणि विहाया-क्षमालेति व्यवहारः । इदमेव मन्त्रशास्त्ररहस्यम् । अनेनैव प्रकारेण अ क थ इत्यत्र मध्यगतं ककारं विहाय 'अथ' इति व्यवहारः । यथाहि अक्षमाला इत्यस्याक्षराणां मालेति बोधः, तथैव 'अथ' इत्यनेन अकथस्य गुरो र्बोधः, इति कथनं नायुक्तियुक्तम् । ब्रह्मज्ञानावाप्तये गुरोरावश्यकतेत्यत्र न सन्देहः । स एव गुरुः अथ इत्यने-नाभिधीयते । सर्वा उपनिषदो ब्रह्मतत्त्वप्रतिपादिका अपि ज्ञानप्राप्तये गुरोराश्रयणं यथानिवार्यम्, तथैव श्रीविद्या ब्रह्मतत्त्वावगमिकापि ज्ञानप्राप्तिर्गुर्वधीनैवेति गुरुपादुकाश्रयणमनिवार्यम् ।

श्रीविद्यया सिद्धिमवाप्ता मन्त्रशास्त्रे परमं नैपुण्यमावहन्तो महापुरुषाः नाम्ना श्री भास्करराया इति सुप्रसिद्धाः । इमे उत्तरभारताभिजना अपि दक्षिणभारतेऽनेककालं न्यवसन् । एवं निवसितुमिदं कारणम्— यत् तञ्जापुरीमहाराजस्य कन्या काचन गन्धर्वगृहीता सती सुभृशं पीडितासीत् । उत्तरभारते सुप्रसिद्धानिमान् भास्कररायानवगत्य तञ्जापुरीनृपतिः कन्याया बाधां निवर्तयितुं तानाहूय प्रार्थयामास, मत्तनूजाया बाधामप-सारयन्त्विति । भास्कररराया अपि स्वीयतपोबलेन श्रीविद्याया महिम्ना च तां गन्धर्वबाधात उन्मोचयामासुः । नृपतिश्चातीव सन्तुष्टो मध्यार्जुनक्षेत्रे 'तिरुवडमकदूर' इत्यत्र पुण्यसलिलायाः कावेर्यास्तटे कञ्चनग्रामं दानपत्रेण तान् योजयामास । तच्च स्थानमधुनापि भास्कररायपुरमिति व्यवह्रियते । तत्रैव कश्चनाग्रहारो महादानवीथीति सम्प्रत्यपि ख्यायते । देवालयं गन्तुं कश्चन मार्गः कल्पितः सम्प्रत्यपि विलसति । तस्यां वीथ्यां भास्कररायगृहमधु-नापि वर्तते । भास्करराया: श्रीविद्यां ब्रह्मविद्यातोऽनतिरिक्तां साधयन्ति । भगवत्पादसिद्धान्ते भास्कररायानां सुदृढोऽभिनिवेशः । भास्करराया: स्वीये ललितासहस्रनामभाष्ये समुल्लिखन्ति—यद् ऋग्वेदे भगवत्पादाना-मुल्लेखो वर्ततइति केचन वदन्ति । इमे स्वीये ग्राम एव ब्रह्मविद्याम्बायाः पादारविन्दयोर्लीना अभवन् इति मे प्रतिभाति । तत्र चेदं कारणम्—कटपयादि सङ्ख्याशास्त्रानुसारेण भास्करः श्रीविद्या इति पदयोः समाना अंका आयान्ति । अत्र देवालये विराजमानदेवतायाः ज्योतिर्मयमहालिङ्गम् इति देव्याश्च ब्रह्मविद्येति नामनी । तत्रैवालये मूकाम्बिकायास्सन्निधौ मेरुरूपेण श्रीचक्रं विद्योतते । एतादृशो मेरुरन्यत्र कापि न

दृश्यते। वल्मीक इव सप्त वलयाः तदुपरि मेरुर्विराजते। अनेन प्रकारेण श्रीविद्या-ब्रह्मविद्याभ्यां सहिते देवालये भगत्पादा अद्वैतमतं प्रचारयन्तो यदा समागताः तदा तत्रत्यैस्सङ्ख्यावद्भिः विरोधे कृते ज्योतिर्मयमहालिङ्गस्य दक्षिणे भागे एको हस्तः प्रादुर्भूय 'त्रिस्सत्यमद्वैतम्' इति वाणी समुदभूत्। तत्रैव श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वरैरेकं शिवलिंगं पादुके च प्रतिष्ठाप्य उपनिषद्वाक्यान्युच्चार्याष्टोत्तरशतेन राङ्कवकम्बलैः पादुके समभ्यर्च्य प्रस्थानत्रयाधीतिभ्यो विद्वद्भ्यस्तानि व्यतरन्। तस्मिन्नुत्सवेऽहमप्यासम्। अद्वैतं सत्यमिति आकाशवाणी भगवतो महालिंगस्य भगवत्या ब्रह्मविद्याम्बायाः श्रीविद्यायाश्चेति सुदृढं वक्तुं शक्यते। मेरोर्ये सप्तवलयाः तान्त्रिकसप्तभूमीः निर्दिशन्तीव। तस्मिन् जनपदे पुण्यसलिला कावेरी प्रवहतीति प्रागवदम्। भास्करः, श्रीविद्या, कावेरी इति पदानां समानाङ्कवत्त्वं त्रयाणामेकरूपवत्त्वं प्रदर्शयतीव। तत्रापि पञ्चदशी—श्रीविद्यायाः कावेर्याश्च भूयान् सम्बन्धः प्रतीयते। कावेर्या नीरं बुद्धेर्ज्ञानस्य च वर्द्धकमितिश्रृणुमः। मन्त्रसाधनाय कावेर्यास्तटं प्रशस्तं परिगण्यते। एवं प्रशस्ते कावेर्यास्तटे मुक्तेरवाप्तिस्सुलभेति निश्चित्य भास्कररायाः स्वीयं भौतिकं शरीरं त्यक्त्वा स्वस्वरूपानन्दमवाऽप्नुवन्। शरीरत्यागानन्तरं तेषां द्वितीया पत्नी नाम्ना पार्वती प्रथमपत्न्या आनन्दवल्ल्याः भर्तुर्भास्कररायस्य च कावेर्यास्तटे मन्दिरं प्रत्यतिष्ठिपत्। तेषां संस्मरणं पापापनोदकं मुक्तिमार्ग-प्रदर्शकमिति लेखेऽस्मिन् तेषामुल्लेखः कृतः। तस्यैव मन्दिरस्येदानीं जीर्णोद्धारो भक्तजनैस्सम्पादित इति नितरां प्रसीदामः।

लेखोऽयं श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणामभिनन्दनग्रन्थे प्रकाशितो भविष्यतीति निश्चित्य परमां मुदमवाप्नोमि। यतश्च श्रीशास्त्रिणः श्रीविद्यासमुपासकाः। तानहं बहुभ्यो हायनेभ्यः परिचिनोमि। यदावकाशदिनेष्वत्र समायान्ति तदा मामाहूय स्वगृहे नवावरणपूजां सम्प्रत्यपि कारयन्ति। तेषां वैदुष्यविषये मया न किमपि वक्तुं शक्यते। तेषामभिनन्दनं शिष्यवर्गेण करिष्यत इति निशम्य सन्तुष्टान्तरंगो मदाराध्यदेवतां प्रार्थये—यच्छास्त्रिणो नीरोगदृढगात्राः अनुपमेन शास्त्रानुशीलनकार्येण सर्वान् विदुषस्तर्पयन्तश्चिरकालं सुखेन तिष्ठन्त्विति शम्।

———

शून्यवाद--विज्ञानवादयोः स्वरूपविमर्शः

केदारनाथ त्रिपाठी

भू० पू० दर्शनविभागाध्यक्षः, का० हि० वि०, वाराणसी

बौद्धसम्प्रदाये हि मुख्यतस्त्रयो वादा भवन्ति। सर्वास्तित्ववादो विज्ञानवादः सर्वशून्यत्ववादश्चेति। तत्र सर्वास्तित्ववादिषु वैभाषिकाः सौत्रान्तिकाश्च समाविशन्ति। सर्वास्तित्ववादिनो हि बाह्यमाभ्यन्तरञ्च वस्त्वंगीकुर्वन्ति, भूतं भौतिकं चितं चैत्तिकञ्चेति। पृथिव्यादिपरमाणव एव परस्परं संहन्यमानाः पृथिव्यादि-भावं भजन्ते, रूप-विज्ञान-वेदना-संज्ञा-संस्काराभिधानाः पञ्चस्कन्धा एव सर्वव्यवहारास्पदताञ्च लभन्ते।

यद्यप्येषु त्रिविधवादिषु विकासक्रमदृष्ट्या कः पूर्वः कश्च पश्चिम इति निश्चेतुमशक्यम्, विवादास्पदत्वात्, समानकालिकस्यैव सुगतोपदेशस्य विनेयभेदेन विभिन्नाभिप्रायावगमाच्च; तथापि सर्वोऽपि वादी दार्शनिकदृष्ट्या स्ववादमेवोत्कृष्टमाचष्टे। विज्ञानवादी हि क्लेशात्मत्रेभ्यो बाह्यपदार्थेभ्य उद्विज्य विज्ञानवादमेव मुक्तिसाधनमाह। शून्यवादी तु विज्ञानस्वीकृतिमपि बन्धनरज्जुतयाऽनुसन्दधानस्तदपिभङ्क्त्वा निर्वाणपरमां शान्तिमैहत। एतदुभयविपरीतः सर्वास्तित्ववादिवर्गः सर्वानुभूयमानघटपटादिबाह्यपदार्थापलापं विज्ञानापलापं चाप्रमाणीकुर्वन् दर्शनान्तरस्य गुणविशेषं च निरीक्ष्य स्वदर्शनेऽपि विज्ञानेन सह बाह्यपदार्था-नप्यंगीकृतवान्। किन्तु शास्त्रीयवादप्रसंगेषु शून्यवादो दर्शनान्तरेभ्यः सर्वथा वैषम्यमावहन् सर्वदर्शनप्रति-पक्षितया, विज्ञानवादश्च न्यायादिदर्शनतो वैषम्येण सहैव दार्शनिकजगति प्रसिद्धतमस्य नित्यविज्ञानवादि-वेदान्तदर्शनस्य किञ्चिन्निकटस्थितिकतया च बहुलप्रचारमन्वविन्देताम्। अतस्तावेवात्र विमृश्येते।

तत्र किं तावत् शून्यत्वमिति विचारे वन्ध्यापुत्रवद् गगनकुसुमवद् गन्धर्वनगरादिवदलीकत्वमेव स्यात् सांवृतत्वमेव वा स्यात्। यदि वन्ध्यापुत्रादिवदलीकत्वं शून्यत्वं तदा कोऽपि जगद्व्यवहार एव न सम्पद्येत। अतोऽलीकत्वं शून्यत्वमिति न शून्यवादिनां माध्यमिकानामभिप्रेतम्, किन्तु सांवृतत्वमेव। विज्ञानवादिभ्योऽस्यायं भेदो यद् विज्ञानवादे विज्ञानातिरिक्तं सर्वं सांवृतमुच्यते, विज्ञानन्तु पारमार्थिकमभ्युपेयते, कामन्तत् 'सर्वं क्षणिकमिति बुद्धदेशनानुसारं क्षणिकमेव मन्येत। शून्यवादे तु बाह्यपदार्थैः-सह विज्ञानमपि सांवृतमेवास्ति न पारमार्थिकमिति। यथा च विज्ञानवादिनो विज्ञानातिरिक्तवस्तुभिः सह विज्ञा-नस्य विषयविषयिभावनिरूपणासंभवं प्रतिपादयन्ति तथैव स्वेनापि सह विज्ञानस्य विषयविषयिभावो न निरूपयितुं शक्य इति न विज्ञानस्यापि रक्षणं समुचितमिति तदपि सांवृतपक्ष एव निक्षिपन्ति निजनिष्पक्षपाति-त्वाभिमानिनः शून्यवादिनः। तथाहि ज्ञाने स्वविषयकत्वं यदि सत्यमभ्युपगम्येत तदान्योन्याश्रयः, स्वविषयकत्व-बुद्धेः प्रमात्वे सति स्वविषयकत्वं सत्यं स्यात्, स्वविषयकत्वस्य सत्यत्वे च सति स्वविषयकत्वबुद्धिः प्रमा स्यात्। अतो ज्ञानस्य स्वविषयकत्वं नाभ्युपगन्तुं शक्यते विज्ञानवादिभिः। स्वाविषयकत्वे तु ज्ञानभानार्थं परापेक्षायां तद्भानेऽपि परापेक्षेत्यनवस्था स्यात्। तदुक्तं खण्डने—"सोऽपि वा धीविशेषः किं स्वीकार्यस्तद्धियं विना" इति। अतः स्वविषयकत्वाविषयकत्वाभ्यां दुर्निरूपत्वमेव ज्ञानस्यापीति ज्ञानमपि सांवृतमेव वक्तव्यम्। एवं ज्ञानमि-वेतरेऽपि पदार्थाः सांवृता एव सन्ति नत्वलीका इति न व्यवहारविरोधः तदुक्तं लङ्कावतारे—

केशोण्ड्रकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरैर्जनैः॥
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बालैर्विकल्प्यते॥ इति।

अतः शून्यत्वं कालसम्बन्धित्वनियतं वेदान्त्यभिमतमिथ्यात्वपर्यवसन्नमेव । कालसम्बन्धित्व-विशेषणञ्चालीकगगनकुसुमादावतिव्याप्तिवारणाय, अलीकस्य सर्वथैव कालसम्बन्धरहितत्वात् । इयांस्तु विशेषः—वेदान्तमते प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वे प्रपञ्चनिषेधाश्रयत्वेन ब्रह्मतत्त्वं परमार्थसत् स्वीकृतमस्ति, अत्र तु निरधिकरणक एव त्रैकालिको निषेधः प्रपञ्चस्येति ।

एवं माध्यमिककारिकायां लक्षणान्तरमपि शून्यत्वस्य कृतं, यथा—

यः प्रतीत्यसमुत्पादः शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।
सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत् सैव मध्यमा ॥ इति ।

प्रतीत्य=कारणानि प्राप्य समुत्पादः प्रतीत्यसमुत्पादः, कारणसापेक्षत्वादुत्पादस्य, स्वभावेनानुत्पाद इत्यर्थः । उत्पन्नत्वप्रतीतिरपि कारणान्युपादायैव भवति । अयंभावः—यस्य स्वभावेनानुत्पत्तिस्तस्यास्तित्वमेव नास्ति, एवं स्वभावेनानुत्पन्नस्य विगमाभावान्नास्तित्वमपि नास्ति । अतो भावाभावरूपसीमद्वयरहितत्वात् सर्वस्वभावानुत्पत्तिलक्षणशून्यतैव मध्यमा प्रतिपत् मध्यम मार्ग इत्यर्थः । तथा च कालसम्बन्धित्वे सति उत्पन्न-स्वभावत्वाभावः शून्यत्वमिति लक्षणान्तरम् । माध्यमिकानां मते नित्यं किमपि वस्तु नास्त्येवेति तदपि वन्ध्या-पुत्रवदलीकमेव । अतः पराभिमतस्य नित्यस्य स्वभावतोऽनुत्पत्तिकत्वेऽपि कालसम्बन्धित्वाभावेन न तत्रोक्त-लक्षणातिप्रसङ्गः । प्रतीत्येति ल्यबन्तं पदं कारणसापेक्षतां ब्रूते, तेन चोत्पत्तेः सांवृतत्वं व्यज्यते । उत्पत्तौ ज्ञप्तौ च सापेक्षमात्रस्य सांवृतत्वात् । एवं च सांवृतोत्पत्तित्वमपि शून्यस्य लक्षणान्तरं भवितुमर्हति ।

अस्मिन् सर्वशून्यत्ववादिमते आत्महानमेव मोक्षः पुरुषार्थश्च वर्तते पुरुषैरर्थ्यमानत्वात् । तथाहि सर्वो जनो दुःखापघातमाकाङ्क्षति येनकेनाप्युपायेन । अतएवाऽ प्रतिसमाधेयव्याधयो देहात्माभिमानिनो जना जलादिप्रवेशेनापि प्राणत्यागमर्थयन्ति । किन्तु जन्मान्तरे क्लेशावश्यंभावितया प्राणत्यागोऽपि नात्यन्तिक-दुःखोच्छेदाय पर्याप्त इति दीपनिर्वाणवदात्मनाश एव परममोक्ष इति । तदुक्तमश्वघोषेण—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥ इति ॥

तथा च दुःखोपप्लुतात्मसद्भावापेक्षया आत्मनाश एव श्रेयान् इति स एव पुरुषार्थः । आत्माऽपि न वास्तविकः किन्तु सांवृत एव । सांवृतस्यैव च तस्य विनाशो मोक्ष इति शून्यवादिनां राद्धान्तः ।

अत्रात्महानात्मकं निर्वाणं पारमार्थिकं प्रतीयते । किन्त्वन्यत्र "निर्वाणमपि आयुष्मन् सुभूते ! मायोपमं स्वप्नोपमम्" इति च कथनात् निर्वाणमपि सांवृतमेवास्ति । तथा च स्ववचनविरोधः, एकत्र शून्यत्व-रूपनिर्वाणस्य पारमार्थिकत्वमुच्यतेऽन्यत्र च तस्यापि मायोपमत्वमिति प्रतिपाद्यते । अस्य विरोधस्य परिहाराय तां शून्यतामपि असतीं स्वीकुर्वाणा माध्यमिका मतान्तरनिराकरणप्रसङ्गे तदपेक्षया कथञ्चिदा-दरणीयतामनुमत्य शिष्यान् स्वमतोन्मुखीकर्तुं शून्यतायाः पारमार्थिकत्वं प्रतिपादितमिति समादधति । किन्तु मतेऽस्मिन् कस्यापि तात्त्विकत्वानङ्गीकारे किमपेक्ष्य प्रपञ्चस्य शून्यत्वं स्यादिति वक्तव्यमवशिष्यते । अत एव तदीयशून्यत्वस्य साक्षितया क्षणिकविज्ञानं परमार्थसत् स्वीकर्तुमुचितमिति विज्ञानवादोऽवसरमा-सादयति ।

विज्ञानवादे च सर्वैऽप्यनुभूयमानाः पदार्थास्तथैव सांवृता यथा शून्यवादे । किन्तु विज्ञानमेवैकं सत् तच्च क्षणिकमस्ति । "यत् सत् तत् क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा अमी" इत्यादि सौगताभि-

युक्तोक्तेः। वस्तुतस्त्वर्था विज्ञानस्यैवाकारविशेषा न ततोऽतिरिक्ताः सन्ति परमार्थतः। यतो हि जडस्यार्थस्य स्वयमप्रकाशमानत्वान्नास्त्यर्थो विज्ञानविसहचरः। विज्ञानसम्बन्धी कोऽप्यर्थोनास्तीत्यर्थः। विज्ञानसम्बन्धितयैव च ते व्यवहारयोग्या भवन्ति। अतएवोक्तं न्यायग्रन्थेऽपि "सर्वव्यवहारहेतुर्गुणो बुद्धि र्ज्ञानम्" इति। ज्ञानन्तु अर्थविसहचरमप्यस्ति, तस्य स्वयंप्रकाशत्वेन स्वविषयकास्तित्वव्यवहारे कर्त्तव्ये जडमर्थं प्रत्यपेक्षाभावात्। यतो हि जडोऽर्थो ज्ञानप्रकाश्यो ज्ञानेन सहोपलभ्यश्चास्ति, तस्मान्नार्थो ज्ञाद्भिद्यत इति। तदुक्तम्—

सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः।
भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानै र्दृश्येतेन्दाविवाद्वये॥ इति।

अयमत्रानुमानप्रयोगः—"विमतं ज्ञानाभिन्नं ज्ञानाविषयकप्रतीत्यविषयत्वात्"। यद्यपि रूपप्रत्यक्षं विरहय्य प्रभायाः प्रत्यक्षं न भवति, अतो रूपाविषयकप्रतीत्यविषयत्वस्य सत्त्वेऽपि रूप-प्रभयोरभेदो नास्तीति उक्तानुमाने व्यभिचार आयाति, तथापि अभेदसाधकहेतुघटकतया ज्ञानमात्रं विवक्षितम्। तथा च प्रभायां रूपाविषयकप्रत्यक्षप्रतीत्यविषयत्वेऽपि रूपाविषयक-शाब्दादिप्रतीतिविषयत्वदर्शनेन रूपाविषयकप्रतीतिविषयत्व-सामान्याभावस्याभावेन न व्यभिचारः।

न च तथापि आधाराधेयत्वयोः प्रतिबध्यप्रतिबन्धकतयोः प्रतियोगित्वानुयोगित्वयोश्च तुल्य-वित्तिवेद्यतायां सत्यामपि तत्र तत्र परस्परं भेदेन उक्तानुमाने व्यभिचार एवेति वाच्यम्, तत्रापि आधारादिपद-जन्योपस्थितिविषयत्वस्याधेयत्वादावसत्त्वेन परस्पराविषयकप्रतीतिविषयत्वस्यैव सत्त्वेन तदविषयकप्रतीति-विषयत्व-सामान्याभावस्यासत्त्वान्न व्यचिारः।

एवं, भ्रमति उत्क्षिपतीत्यादिव्यवहारविषयीभूतानां क्रियाणां यौगपद्येन प्रतीयमानानां वास्तवं यौगपद्यं न संभवतीति बौद्ध एव क्रियासमुदायस्तत्राभ्युपेयः। सच बौद्धः कियासमुदायो बुद्ध्यात्मकतायामेव पर्यवसन्न इति बुद्धेरेवाकारविशेषोऽसौ। अत एवोक्तं योग-भाष्ये—"क्षणतत्क्रमयोर्नास्ति वस्तुसमाहार इति बुद्धिसमाहार एव मुहूर्ताहोरात्रादयः" इति। इत्थमेवालातचक्रादिप्रतीतिरपि बौद्धसमाहारविषयिणी एवास्तीति सिद्धमर्थानां बुद्धेरेवाकारविशेषत्वम्।

ननु यदि ज्ञानज्ञेययोरभेदः स्यात्तदा घटः स्फुरतीति प्रयोगो मा भूत् प्रत्युत घटः स्फुरणमित्येव प्रयोगः स्यात्। अथवा घटो द्रव्यमित्यादिप्रयोगे भेदाभेदयोरनुभवात् ज्ञानज्ञेययोरपि भेदाभेदावेवास्ताम्, न तु सर्वथाऽभेद इति चेन्न, इष्टापत्तेः। न च प्राचीनबौद्धग्रन्थेषु सौगतनये आकाराकारिणोरभेद एव सिद्धान्त-तया प्रसिद्धोऽस्ति न तु भेदाभेदौ। अत एव सुगतदेशना—"चित्तमात्रं भो जिनपुत्रा" इति। अतो भेदा-भेदपक्षो न सुगताभिमत इति वाच्यम् एकदेशितयाऽस्यापि पक्षस्य विज्ञानवादिभिः स्वीकृतत्वात्। युक्तिबल-सिद्धस्य अस्यापि पक्षस्य अनुरोधार्हत्वाच्च। एवं भेदाभेदघटकीभूतो भेदोऽपि पदार्थान्तरमिव ज्ञानात्मक एवास्ति। अतो ज्ञानज्ञेययोरांशिकभेदेऽपि वस्तु ज्ञानात्मकमेवास्ति इति मुख्यसिद्धान्ते न कश्चिद् व्याघातः। अत एव लघुचन्द्रिकाकारा अद्वैतसिद्धिव्याख्यायामाहुः—"घटादिकं विषयितास्थानीयो ज्ञानधर्मो ज्ञानाद् भिन्नाभिन्नतया बौद्धैरुच्यते" इति।

किञ्च "आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य सम्मता" इति सौगतोक्तिरपि आकारस्याकारिणो भिन्नाभिन्नत्व एव स्वरसतः सङ्गच्छते, अत्यन्ताभेदे साहित्यकथनानुपपत्तेः। अत्यन्तभेदे च बाह्यार्थ-स्वीकारप्रसङ्गात्, तस्य च विज्ञानवादे क्वाप्यनुपपादितत्वात्। अतो ज्ञानज्ञेययोर्भेदाभेदाविति नव्य एव विज्ञानवादः।

४

वस्तुतस्तु घटमहं जानामीत्याकारविषयिण्यां प्रतीतौ ज्ञानज्ञेययोः सहोपलम्भेन "सहोपलम्भनियमात्...इति" नियमानुसारं ज्ञानाभेदनिरूपिताया व्याप्तेर्दृढत्वाच्चात्यन्ताभेदपक्ष एवोचितः। "आकारसहिता बुद्धिः" इति साहित्यव्यवहारस्तु विकल्पात्मक एवेति।

ननु ज्ञानस्य पारमार्थिकत्वे भगवतो बुद्धस्य सर्वशून्यत्वदेशना विरुध्येतेति चेदत्र समाधानमाह वसुबन्धुः—"यो बालैर्धर्माणां स्वभावो ग्राह्यग्राहकादिः परिकल्पितस्तेनात्मना तेषां नैरात्म्यं (शून्यत्वं) न तु अनभिलाप्येनात्मना" इति। अस्यायमाशयः—ज्ञानभिन्नानां ग्राह्यग्राहकादिस्वभावानामेव विकल्पमात्रजीवित्वम् अवास्तविकत्वं शून्यत्वमिति यावत्, न तु अनभिलाप्यस्य स्वलक्षणस्य देशकालाद्यननुगतस्य ज्ञानवपुषः शून्यत्वमित्यर्थः। ज्ञानं हि न देशानुगतम्, व्यापकस्यैव देशानुगमसंभवात्, ज्ञानस्य चाव्यापकत्वात्। एवं ज्ञानं नापि कालानुगतं नित्यस्यैव कालानुगमसंभवात्, ज्ञानस्य चैतन्मते क्षणिकत्वात्। अतो यत्र देशानुगमः कालानुगमो वा नास्ति तदेव पारमार्थिकं, तच्चाव्यापकं क्षणिकं ज्ञानमेवेति।

मतेऽस्मिन् ज्ञानमेव पारमार्थिकं ज्ञानं पारमार्थिकमेवेति उभयत्राप्येवकारान्वयात् "ज्ञानज्ञेययोरभेदे ज्ञानवज्ज्ञेयमपि पारमार्थिकं स्यात्, ज्ञेयवज्ज्ञानमपि वा सांवृतं स्यादि" ति आपत्तिद्वयमपि निराकृतं भवतीति बोध्यते।

एतन्मते आत्मापि ज्ञानपरिणाम एवेति न कश्चिन्मुख्य आत्मा अपरिणामात्मकं विज्ञानं वास्तीति। वेदान्तिनां विज्ञानवादादयमत्र भेदो यत् सौगतमते आलयविज्ञानं प्रवृत्ति-विज्ञानञ्च क्षणिकं साकारं वा भवति। वेदान्ते तु विज्ञानं निराकारं नित्यञ्च भवतीति। तदुक्तं वसुबन्धुना—"न हि निरालम्बनं निराकारं वा विज्ञानं युज्यते, नैव तन्निराकारं निरालम्बनं वेष्यते, किन्तर्हि अपरिच्छिन्नालम्बनाकारमिति"। विशुद्धमपि तद्विज्ञानमुपेक्षात्मकमेव न तु वेदान्तवदानन्दात्मकम्, अलौकिकानन्दस्य सौगतनयेऽनङ्गीकारात्, लौकिकस्य चानन्दस्य रागात्मकक्लेशानुविद्धत्वात्। तस्मात् क्षणिकं ज्ञानमेवानुच्छिन्नसन्तति विजातीयस्वगतभेदशून्यतयाऽद्वैतं परमार्थसदिति विज्ञानवादिबौद्धमतम्।

किन्तु वादेऽस्मिन् आलम्बनस्वीकार एव कथं न वस्तुस्वीकारपर्यवसायितां प्राप्नुयात्, कथन्तरां च विज्ञानसत्यत्वदेशनायाः सर्वशून्यत्वदेशनातो विरोधश्च न भवेदिति प्रश्नो नाधुनाऽपि विचारकोटितामतिक्रामति। भट्टपादास्तु क्षणिकत्वादि—विरुद्धविषयिण्यो बुद्धोक्तयो वैराग्योत्पादनमात्रफलिका अर्थवादमात्रं, न तु तत्र मुख्यं तात्पर्यं भवेदिति सश्रद्धं समादधति विरोधजातम्।

एवमद्वयवज्रसंग्रहे योगाचारस्य द्वौ भेदावुक्तौ, साकारनिराकार—विज्ञानवादिभेदात्। एवं योगाचारस्य साकारपक्ष एव भृशमनुमोदितः। तथा चोक्तं वसुबन्धुना—"आकारसहिता बुद्धिर्योगाचारस्य संमता" इति। साकारवादं केचिच्चित्राद्वैतवादनाम्नाऽपि वदन्ति। ज्ञानञ्च भित्तिरूपं, तत्राकाराश्चित्रस्थानीयाः सन्ति। विज्ञानस्य सद्रूपत्वचिद्रूपत्वाभ्यां चित्राद्वैतेति संज्ञा जातेति कथनन्तु न साधु भाति, तथासति साकारवादस्यैव सा संज्ञा कथं भवेत्? निराकारवादेऽपि विज्ञानस्य सद्रूपत्वात् चिद्रूपत्वाच्चेति विज्ञानात्मकभित्तिगतचित्रस्थानीयतैवाकाराणामभिप्रेतेति।

वस्तुतस्तूभावपि वादावेक एव। निराकारवादेऽपि सांवृताकारस्वीकारेण तत्त्वदृष्ट्येव निराकारत्वकथनात्। तथा साकारवादेऽपि ज्ञानस्यामूर्ततया वस्तुगत्या निराकारत्वात्। यदि चात्र ज्ञानस्य नित्यतामपि कश्चिदाचक्षीत, तदा ध्रुवमसौ निराकारविज्ञानवादिवेदान्तदर्शनमेवाश्रितवान् स्यादिति।

विज्ञानवादेऽपि शून्यवादिदीपनिर्वाणदृष्टान्तेन प्रतिक्षणमुत्पद्योत्पद्य विनश्यतां पुनःपुनश्चोत्पद्यमानानां विज्ञानानामविरललग्नधारायाः शाश्वतिकोपशम एव निर्वाणमिति प्रतीमः।

अत्र समन्वयदृष्ट्या विचार्यमाणौ तूभावप्येतौ वादौ भारतीयदार्शनिकविचारस्य वर्तमान-स्वरूपपर्यन्तप्राप्तौ सोपानभावमेवाश्नुवानावास्तामिति स्वीकारोऽधुनातनजनमनोग्राहितामालम्बतेतराम्। यतो हि प्राक् पूर्णप्रचलितयोरुभयोर्वादयो विज्ञानस्य क्षणिकतायां, शून्यत्वस्य च बाह्यार्थमात्रस्थिति-कत्वसंभवेन सर्वशून्यतायाञ्च मनःप्रत्ययमनादधानो वेदान्तः स्वस्वरूपमासादयत्। इयं भावना ऽद्वयवज्र-संग्रहोक्ते श्लोकेऽपि व्यज्यते। यथा—

सर्वारोपविनिर्मुक्ते स्वतस्तत्त्वे चकासति।
शून्यताद्यभिधानैस्तु तत्रारोपनिराक्रिया॥ इति।

माध्यमिकश्लोकोऽयं सर्वारोपविनिर्मुक्तं तात्त्विकाधिष्ठानमिव किञ्चित् प्रतिपादयन् प्रतीयते। अत्र द्वयी गतिः संभाव्यते—पद्यमिदं माध्यमिकानुयायिनो न भवेत्, भवद्वा माध्यमिकैकदेशिनः कस्यचित् स्यात्, यो हि परमार्थसदस्ति किमपीति बुद्धेर्हेयत्वकथनं न रोचयेदिति शम्।

दृष्टि-सृष्टिवादः

प्रो० राममूर्ति शर्मा

अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़

अद्वैतराद्धान्तशास्त्रप्रस्थापकेनाचार्यशङ्करेण सच्चिदानन्दस्वरूपस्य परब्रह्मणः सत्यत्वम्, नामरूपाभिधस्य जगतश्च मिथ्यात्वं प्रतिपादितमिति निर्विवादम्। नामरूपात्मकस्य जगतश्च सृष्टिः यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तै० उ० २।८।१), 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्रम् १।१।२), 'सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः' (गौडपादकारिका ३।२७) इति श्रौतं, व्यासीयं परमगुरुगौडपादाचार्यादिवचनञ्चाश्रित्य व्याख्याता। परमपारमार्थिकस्यापि मायासृष्टस्य जगतः किं स्वरूपमिति शंकराचार्येण तत्परवर्तिभिराचार्यैश्चानेकधा विवेचितम्। तत्र शंकराचार्यप्रतिपादितः प्रतिबिम्बवादः, सुरेश्वराचार्यालोचित आभासवादः, वाचस्पतिमिश्रविवेचितोऽवच्छेदवादः, प्रकाशानन्दप्रभृतिभिरद्वैतसम्प्रदायाचार्यैश्च प्रतिष्ठितो दृष्टि-सृष्टिवादः, अप्पयदीक्षितादिभिश्च समीक्षितः सृष्टि-दृष्टिवादोऽद्वैतवेदान्तशास्त्रे प्रख्यातः। तत्र प्रतिविम्बवादपोषकैराचार्यैर्यथैक एव सूर्योऽनेकेषु सरोवरादिषु अनेकत्वं याति प्रतिविम्बत्वेन तथैव परमात्मनोऽपि साविद्ये चेतसि प्रतिविम्बकारणादनेकत्वमित्युदाहृतम्। आभाससिद्धान्तव्याख्यात्रा सुरेश्वराचार्येण जगतः सत्ता तथैवाभासमात्रं साधिता[1], यथैन्द्रजालिकानां पदार्थानां सत्ता मृषा। यथा च कश्चिन्मूर्च्छितो मूर्च्छाकाले सत्यत्वेनानुभूतानां विषयाणां मूर्च्छाऽनन्तरं बाधं पश्यति तथैवाज्ञानावृतः कश्चनाविद्याकाले सत्यमिव प्रतीयमानानां जागतिकानां विषयाणामविद्यानिवृत्तौ सत्यां परमतत्वबोधकाले आभासमात्रा एते इति मनुते। अवच्छेदसम्प्रदायाचार्येण वाचस्पतिमिश्रेण अविद्योपाधिकारणादनवच्छिन्नमपि ब्रह्म जीवरूपेणावच्छिन्नत्वं प्रतिपद्यते, इत्युद्घोषितम्। एतच्च तत्सम्प्रदायविद्भिः—यथैक एवानवच्छिन्न आकाशः घटोपाधि-मठोपाधि सम्बन्धाद्घेतोर्घटाकाशत्वेन, मठाकाशत्वेन च व्यवह्रियते तथैव सर्वव्यापकमपि ब्रह्म अविद्योपाधिकारणाज्जीवत्वेन सावच्छिन्नत्वं प्राप्नोति। वस्तुतस्तु अनवच्छिन्नमेव ब्रह्मेति सम्यक् निष्पन्नम्। दृष्टिसृष्टिवादिनश्च कथं परमात्मनः सृष्टिं व्याचक्ष्येरन्, इति साम्प्रतं निरूप्यते—दृष्टिकृता दृष्टिसमकालिकी वा सृष्टिरिति दृष्टिसृष्टिवादः। दृष्टिसृष्टिवादिनां मते जगतः सृष्टिस्तथैव काल्पनिकी यथा जाग्रतिकानां पदार्थानां स्वाप्निकी स्थितिः कल्पनामात्रमेव केवलम्। नैतदेव, अपि तु एतेषां मते जागतिकानां पदार्थानां तथैवेन्द्रियविषयता यथा खलु स्वाप्निकानां विषयाणाम्। उदाहरणार्थम्, दृष्टेः पूर्वं घटाभावात् दृष्टिकृतायां च घटोत्पत्तौ काल्पनिके दृष्टिसृष्टे घटे कोऽवसर इन्द्रियसन्निकर्षस्येति दृष्टिसृष्टिवादिनां तर्कानुसरः। अविद्योपहित आत्मा प्रपञ्चमयसंसारस्य कल्पक इति चेत्, तदयुक्तम्, अविद्याया अपि कल्पितत्वात्, अविद्यायाः पूर्वमविद्योपहितस्यात्मनोऽस्तित्वस्य स्वीकरणासङ्गतेश्च। असत्यामविद्यायामविद्योपहितस्यात्मनोऽनुपपन्नत्वात्। यद्येवं तर्हि कथं कल्पनाश्रिता संसारता संसारस्य? पूर्व-पूर्वकल्पिताविद्योपहित आत्मैव उत्तरोत्तराविद्यायाः कल्पक इति समाधेयम्।

केषाञ्चिन्मतं यदविद्याया अनदित्वात् तत्र नोचिता दृष्टिसृष्टिः, परञ्चाविद्यानिर्मितकार्यप्रपञ्च एव योग्या दृष्टिसृष्टिरिति स्वीकरणीयम्। अपरञ्च यथोक्तम्, अविद्योपहित आत्मा प्रत्यक्षवस्तूनां कल्पकोऽस्तु

---

१. बृहदारण्यक भाष्यवार्तिकम् पृ० ९९६।

नाम, न तु श्रुतिप्रतिपादितस्य आकाशादिप्रपञ्चस्य तत्क्रमस्य च कल्पको भवितुमर्हति। सत्यमेव तन्नापेक्ष्यते। यद्येवं तर्हि 'आत्मन आकाशःसम्भूत' इत्यादिश्रुतीनां निरालम्बत्वमेव सिध्यति। तत्र, आत्मन आकाशः सम्भूत' इत्यादिश्रुतीनामालम्बनं प्रपञ्चशून्यब्रह्मणो जीवस्य चैक्यम्। अध्यारोपापवादन्यायेन च प्रपञ्चरहितस्य ब्रह्मण एव प्रतिपत्तिः। अतश्च ब्रह्मावगत्युपायदृष्टचैव श्रुतिसम्मतः सृष्टिप्रलयविचारप्रसारः। वस्तुतस्तु सृष्ट्यादेः प्रतिपादनं न श्रुतीनां तात्पर्यमिति किं बहुना।

दृष्टिसमकालिकी सृष्टिरिति पूर्वोक्तमतमनाश्रित्य दृष्टिरेव विश्वसृष्टिरिति प्रकाशानन्दः[1]। मतमेतदनुसृत्य स्वप्रकाशज्ञानस्वरूपा दृष्टिरेव प्रपञ्चसृष्टिर्नतु दृष्टिसमकालिकी सृष्टिः। एतन्मतानुयायिनां मतिर्यत् स्वयंप्रकाशज्ञानस्वरूपात्मनोऽतिरिक्तं दृश्यं जगत् नहि कुत्रापि वर्तते। स्मृतिप्रामाण्यमुद्धरद्भिरेभिरुच्यते—

ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्द विचक्षणाः।
अर्थस्वरूपं भ्राम्यन्तः पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः॥[2]

अतो जगतोज्ञानस्वरूपत्वात् ज्ञानमयी दृष्टिरेव सृष्टिरिति निष्पत्तिः।

अद्वैतसिद्धिकृता मधुसूदनसरस्वतिना तु उपर्युक्तं दृष्टिसृष्टिवादं निराकृत्य ज्ञातैकसत्त्वमज्ञातसत्त्वाभावं[3] वा उररीकृत्य घटादिपदार्थानां ज्ञानपूर्वकताऽङ्गीकृता। एतन्मते बाह्यस्तूनि न ज्ञानस्वरूपाणि प्रत्युत ज्ञानभिन्नान्येव। परं ज्ञानव्यतिरिक्तान्यपि वस्तूनि ज्ञानाध्यस्तानीति सरस्वतीस्वीकृतं मतम्। अनया दिशा बौद्धविज्ञानवादप्रभावाद् रक्षितोऽयमद्वैतसिद्धान्त इति सुविशदम्।

दृश्यं जगत् विज्ञानमात्रमङ्गीकुर्वतां बौद्धानां सृष्टिविचारोऽद्वैतिनां दृष्टिसृष्टिवादसमान एव प्रायश इति नाऽधिकं किञ्चित् प्रोच्यते। अयमेव विशिष्टो भेदोऽनयोर्यद् दृष्टिसृष्टिवादिनो यत्रात्मवादिनस्तत्र विज्ञानवादिनो बौद्धा अनात्मवादिन एव। सुरेश्वराचार्यप्रतिपादितादाभाससिद्धान्तादपि भिन्नोऽयं दृष्टिसृष्टिवादो यदाभाससिद्धान्तशास्त्रे परमार्थतत्त्वबोधात् पूर्वं जगद् व्यावहारिकधिया सदेव परं दृष्टिसृष्टिवादे तद् दृष्टिमात्रमेव।

पाश्चात्यस्य विदुषो बर्कले (Berkeley) महोदयस्य विषयिवादः (Subjectipism) अपि वेदान्तिनां दृष्टिसृष्टिवादस्यैव सरणिमाश्रयते सम्यगिति नाविदितं दर्शनशास्त्रसमालोचकानां विदुषाम्। बर्कलेमहोदयस्येदं मतं दृष्टिसृष्टिवादसमानमेव यद् यदनुभूयते तस्यैव सत्ता नाऽन्यस्य वस्तुनः। एवञ्च मनः स्थितविचाराश्रितैव बाह्य-जगतःसत्ता नाऽन्यथा[4]। दृष्टिसृष्टिवादी प्रकाशानन्दोऽपि 'आत्मन्येव जगत् सर्वम्'[5] इत्युक्त्वा जगतो विचारात्मकतामेव साधयति। अद्वैती शङ्कराचार्योऽपि बाह्य जगतो निष्पत्तौ ज्ञानमात्रमेव हेतुत्वेनाङ्गीकुर्वन् पुष्णाति—

"यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तुत्वं भवति। किञ्चिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।"—(शां० भा०–प्र० उ० ६।२)

---

१. तदेवं दृष्टिमात्रात्मकं जगत्, वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, २६।

२. सिद्धान्तलेशसंग्रहः, द्वितीय परिच्छेदः।

३. अद्वैतसिद्धिः, पृ० ५३३।

४. द्रष्टव्यम् G. C. Chattrjee, Empiricism (Histary of Philosopy Vol. II. P. 231)

५. वेदान्तसिद्धान्तमुक्तावली, २३।

परमत्राचार्यस्येदं वैशिष्टयं यत्तेन ज्ञानस्य सत्यतां स्वीकुर्वताऽपि बाह्यजगतो व्यावहारिकं स्वरूपमङ्गीकृतम् ।

दृष्टिसृष्टिवादपद्धत्यैव विवेचितः सृष्टिविषयको वेदान्तिनामेकोऽपरोऽपि सिद्धान्तः—सृष्टिदृष्टिवादः । सिद्धान्तलेशसंग्रहकृताऽप्पयदीक्षितेनैवालोचितोऽस्ति सिद्धान्तोऽयम्[1] । सृष्टिदृष्टिवादिनस्तु दृष्टिसृष्टिवादिप्रतिपादितस्य जाग्रत्-प्रपञ्चस्य प्रातिभासिकताम्, अकाशादिसृष्टेः स्वर्गादिश्चापलापमस्वीकुर्वाणाः परमेश्वरसृष्टं जगत् किञ्चिदज्ञातस्वरूपयुतमिति मन्वते । एतेषां मते जागतिकेषु तत्तद्विषयेषु तत्तत् प्रमाणप्रवृत्यनन्तरमज्ञानावरणभङ्गद्वारा तत्तद्विषयाणामपरोक्षावभासः सञ्जायते । अतो न दृष्टया सृष्टिरपि तु सृष्टिरेव दृष्टिरित्येषां मतम् । भेदोऽयं न मौलिको यद् द्वावप्यद्वैतिनौ द्वयोश्च मते परमार्थं सत् ब्रह्म जगच्चासदिति किं प्रोक्तस्योक्तेनेति विदाङ्कुर्वन्तु सुधियः ।

१. सिद्धान्तलेशसंग्रहः, द्वितीयपरिच्छेदः ।

विद्वद्-वरिवस्या

प्रो० बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

भू० पू० साहित्यविभागाध्यक्षः, सं० सं० वि० विद्यालयः, वाराणसी ।

(१)

प्राग्जन्मसंस्कारवशप्ररूढ—
विद्यार्जनोद्योगमनोऽभियोगः ।
आशैशवाद् भारतभूमिभागान्
यः पर्यटन् विज्ञजनान् प्रपेदे ॥

(२)

कृष्णातरङ्गानिलशीतलासु
कदाचिदुद्यानपरम्परासु ।
गोदाप्रमोदावहदिङ्मुखासु
यस्तीरभूमीषु तपश्चचार ॥

(३)

स्वाध्यायनिर्धौतकलिप्रभावान्
महीसुरेन्द्रानुपगम्य भूयः ।
यो वेदविद्यामनवद्यचेता
बद्धप्रचेता श्चिरमाचचाम ॥

(४)

यः काव्यकण्ठाभिधया प्रसिद्धं
सिद्धं समाश्रित्य कदापि काले ।
विवेद काव्यं गणपत्यभिख्यं
समिद्धसाहित्यकलावतारम् ।

(५)

वेदादिविद्याम्बुधिकुम्भयोने—
श्चिन्नाभिधस्वामिमनीषिमौलेः ।
अध्यैष्ट साङ्गं सरहस्यजातं
यो जैमिनेस्तन्त्रमनन्यतन्त्रः ॥

(६)

यागादिकर्माण्यपि यो गुरूणां
कृपावशाच्चारुतरं विवेद ।
पट्टाभिरामः स्वगुणाभिरामः
स धीधनानां प्रथमश्चकास्ति ॥

(७)

नानाविधग्रन्थनिबन्धनाय
बद्धासनं यं प्रविलोक्य लोकाः ।
व्यासोऽथवा जैमिनिरेव साक्षात्
कुमारिलो वेति विकल्पयन्ति ॥

(८)

भाष्याणि टीका विविधा विरच्य
प्राचीनशास्त्राशयबोधनाय ।
वाग्देवतास्फाटिकमण्डपेषु
वितन्यते येन हिरण्यवृष्टिः ॥

(९)

अध्यापितं येन चिरं महत्सु
श्रीविश्वविद्यालयमन्दिरेषु ।
कुदेन्दुहारावलिसोदरेयं
यदुद्भवा वेल्लति कीर्तिवल्ली ॥

(१०)

गङ्गानुषङ्गास्तरसैव वङ्गा
यत्कीर्तिधाराधवलोत्तमाङ्गाः ।
जयश्रिया यज्जयपत्तनेऽपि
लीलायितं तत्प्रमदं तनोति ॥

(११)

यः कामकोटिप्रथमानपीठ—
गुरूत्तमाशीर्वचसां प्रभावात् ।
सौभाग्यमव्याहतमात्मनीन—
मव्याजभव्यं सततं बिभर्ति ॥

(१२)

काशीप्रकाशीकृतजैमिनीय—
नयोज्ज्वला सम्प्रति यत्प्रभावात् ।
स कस्य शस्यो न विदां वरेण्यः
पट्टाभिरामः परिपूर्णकामः ॥

(१३)

साहित्यविद्यातरुणीरतोऽपि
न्यायाङ्गनालिङ्गनसत्वरोऽपि ।
मीमांसया मांसलयाऽनुवेलं
न यो वियोगं भजते कदाचित् ॥

(१४)

कामन्दको मन्दमतिः स शुक्रो
वक्रो यदीयप्रतिभाप्रभावात् ।
न विष्णुगुप्तः प्रभविष्णुरास्ते
नयेन येन प्रतिरुद्धबुद्धिः ॥

(१५)

फलावनम्राः परितो धरित्रीं
मिलन्मिलिन्दोपमशिष्यवृन्दाः ।
शिष्या यदीयास्तरुभिः समाना-
श्छायाप्रदानव्रतमाचरन्ति ।

(१६)

लोकद्वयी सम्भृतचातुरीकः
पुरःप्रसर्पत्प्रतिभाप्रवाहः ।
पट्टाभिरामप्रतिमो न कश्चिद्
ध्रुवं विपश्चिद्गणनामुपैति ॥

(१७)

विद्वद्वरोन्नीतनवप्रबन्ध—
सदुक्तिपुष्पैरभिनन्द्यमानः ।
शतायुरास्तां सुधियामधीशः
स शैलजापाङ्गसुधाभिषेकात् ॥

परमाणुविमर्शः

डा० उमारमण झा

दर्शनविभागाध्यक्षः, श्रीरणवीरकेन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठ शास्त्रीनगर, जम्मूतवी

परमाणुवादः दर्शनस्य प्रमुखो विषयोऽस्ति। दार्शनिकप्रस्थानस्य कणाद-गौतम-कपिल-शङ्कर-रामानुजादीनां दर्शनेषु परमाणुविचारः कृतो दृश्यते। अतएव परमाणुवादः दार्शनिकचर्चायाः प्रमुखो विषय इत्यत्र नास्ति विदुषां विप्रतिपत्तिः।

परमाणुः अत्यन्तसूक्ष्मोऽणुरिति उक्तम्—

जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुरुदीरितः॥

अक्षपादकणादौ-अणुर्गुणः परिमाणविशेषः परमोऽणुर्यस्मिन् असौ परमाणुरिति उक्तवन्तौ। अणुशब्दो गुणोपसर्जनद्रव्यवाची मतुब् लुगन्तः। अतएव परमश्चासौ अणुः परमाणुः। परमाणुः निरवयवो नित्योऽतीन्द्रियः क्रियावान् च भवति। पार्थिवजलीयतैजसवायवीयभेदेन परमाणुः चतुर्विधः स्वीकृतः कणादेन। मनोऽपि सुखदुःखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं परमाणुरूपमेव अङ्गीकृतम् औलूक्यदर्शने। अयं चतुर्विधोऽपि परमाणुः परस्परं भिन्न एवास्ति। न्यायकन्दल्यामणुविषये उक्तम्—अणुपरिमाणतारतम्यं क्वचिद्विश्रान्तं परिमाणतारतम्यात् महत्परिमाणतारतम्यवत्, यत्रेदं विश्रान्तं यतः परमाणुर्नास्ति स परमाणुः। अतएव नित्ये द्रव्यत्वे सति अनवयवत्वादाकाशवत्।[1]

परमाणूनां ज्ञानविषयेऽपि शास्त्रकारैरुक्तम्—अणुत्वगुणविशिष्टोऽतीन्द्रियः परमाणुः न प्रत्यक्षविषयः। किन्तु योगिनां कृते परमाणूनां प्रत्यक्षमपि सम्भवति। "युक्तस्य सर्वदा भानं चिन्तासहकृतोऽपरः" इति विश्वनाथेनापि उक्तम्। किन्तु परमाणवः अस्माकं सामान्यजनानाम् इन्द्रियैः न गम्याः। अतः परमाणवः अतीन्द्रियाः इत्यत्र न संशयः कार्यं इति वैशेषिकमतम्। सांख्यकारिकायामपि उक्तं यत् षड्भिः हेतुभिः सतां भावानामपि अनुपलब्धिः भवति—

अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद्व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च॥

---

१. द्रष्टव्य न्यायकन्दली पृ० ७९

पुनः न्यायकन्दल्यां श्रीधरः लिखति—

तत्र परमाणोः पारिमाण्डल्यत्वात् ह्रस्वत्वाभावो व्यापकत्वाच्च आकाशस्य दीर्घत्वाभाव इत्येके। अन्ये तु परमाणुपरममहद्व्यवहारवत् परमह्रस्व-परमदीर्घव्यवहारस्यापि लोके दर्शनात् परमाणुषु परमह्रस्वत्वं परमदीर्घत्वं चाकाशे इत्याहुः। दीर्घपरिमाणाधिकरणमाकाशं महत्परिमाणाश्रयत्वात् स्तम्भादिवत्। एवं ह्रस्वपरिमाणाश्रयः परमाणुः अणुपरिमाणाश्रयत्वात् द्व्यणुकवत्। न्या० कं० पृ० ३२१

अतएव यथा सौक्ष्म्यात् प्रकृतेः प्रत्यक्षं न भवति तथैव परमाणूनामपि न भवति।

व्यासप्रणीते श्रीमद्भागवतेऽपि परमाणुविषये केचिच्छ्लोकाः दृष्टिपथमायान्ति।[1] भागवते प्रतिपादितमतानुसारं भूम्यादेः कार्यस्य सतो विशेषाणामंशानां यश्च धर्मोऽन्यांशो यस्यांशो नास्ति असौ परमाणुः।

न्यायसारस्य न्यायमुक्तावल्यां टीकायां अपरार्कदेवः लिखति—"यथा तिमिरोपहतनेत्रैः प्रत्येकमनुपलब्धा अपि केशाः समुदिता उपलभ्यन्ते तथा प्रत्येकम् अनुपलभ्याः परमाणवोऽपीति। न, केशानां प्रत्येकमस्मदादीन्द्रियगोचरत्वात्। परमाणूनां तु प्रत्येकं योग्यताया एव अनवधारणात् प्रत्येकम् अतीन्द्रियाणां तु भूयसापि तथाभावात् अदृष्टवत्।[2]

अयं परमाणुः निरवयवः कार्यावस्थामप्राप्तः समुदायावस्थां चाप्राप्तः परमाणुः। सृष्टिप्रारम्भे परमाणुद्वयं एकमणुं रचयति। भागवतानुसारं निरवयवोऽपि परमाणुः परमात्मन एव उत्पद्यते।

बौद्धाः कथयन्ति यत्परमाणुराशिरेव पृथिव्यादिः पर्वतादिश्च वर्तते। परमाणूनां निरवयवत्वं क्षणिकत्वरहितत्वञ्च स्वीक्रियते सौगतैः।

अद्वैतवेदान्तस्य प्रतिष्ठापको महापण्डितः श्रीशङ्कराचार्योऽपि परमाणूनां जगत्कारणत्वं निराकृत्य परमाणून् स्वीचकार। न कुत्रापि परमाणवः न संभवन्तीति तेन प्रतिपादितम्। कार्यरूपाः अतिसूक्ष्माः अतीन्द्रियाः परमाणवः सन्तीति तेषामभिप्रायः।

व्याकरणग्रन्थेषु परमाणुः अङ्गीकृतो दृश्यते। वाक्यपदीये भर्तृहरिणोक्तम्—

वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
कैश्चिद्दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः॥

वैखरीवाङ्निरूपणे वैखरीश्रवणगोचरा शब्दविशेषरूपा ये सन्ति तद् विषये मतत्रयमस्ति—(१) वायुरेव शब्दः (२) अणवः एव शब्दाः (३) ज्ञानमेव शब्दः।

---

१. चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतस्तदा। परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः॥
सत एव पदार्थस्य स्वरूपावस्थितस्य यत्। कैवल्यं परममहानविशेषो निरन्तरः॥
एवं कालोऽप्यनुमितः सौक्ष्म्ये स्थौल्ये च सत्तम। संस्थानभुक्त्या भगवानव्यक्तो व्यक्तभुग्विभुः॥
स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम्। सतोऽविशेषभुग् यस्तु स कालः परमो महान्॥
अणुर्द्वौ परमाणू स्यात् त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः॥ भागवत ३-११-१-५

२. न्या० मु० अपरार्ककृत पृ०१२७

तस्मिन्नेव ग्रन्थे पुनः प्रतिपादितम्—एवं बाह्यस्थूलरूपसिद्धौ सिद्धः कार्यात् अस्थूलभूतः परमाणुः तत्साङ्गत्वापादनस्य धर्मिमानव्याघाताख्यादेकघातात्। परमार्थं न खलु स्थूल एव ग्राह्यम्, अपितु परमाणुस्वरूपमपि तस्य कार्यानुमेयत्वात्। न्या० मु० पृ० १३३

परमाणोः निरवयवसाधनेन तस्य सावयवत्वापादकानुमानाभासत्वसिद्धिः इति विषये—

षट्केण युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
षण्णां समानदेशत्वे पिण्डः स्यादणुमात्रकः॥

इति विंशिकायां वसुबन्धुः परमाणोः षडंशत्वनिराकरणमपि कृतवान्। न्या० मु० पृ० १३४

अत्र प्रकृतविषये अणूनां शब्दतन्मात्राणां परमाणूनां चरमाणूनां सर्वशक्तीनां परिणामाः शब्दाख्याः परमाणवः शब्दनामानो भवन्तीत्यर्थः। तथाहि—

> स्वशक्तौ व्यज्यमानायां प्रयत्नेन समीरिताः।
> अभ्राणीव प्रचीयन्ते शब्दाख्याः परमाणवः॥
> अणवः सर्वशक्तित्वात् भेदसंसर्गवृत्तयः।
> छायातपतमश्शब्दभावेन परिणामिनः॥

तत्त्वसिद्धान्तग्रन्थे श्रीमता कमलाकरभट्टेन परमाणूनां गणितेन सात्रयवत्वं साधितम्। अतः परमाणुस्वीकृतिः स्पष्टीकृता आचार्येण।

कपिलमुनिप्रणीते सांख्यदर्शने अणिम-गरिम-लघिमाप्रभृत्यष्टसिद्धिमध्ये अणुत्वव्यवहारो दृश्यते। तत्र अणुत्वं लघुत्वं च जन्यमेवेति स्वीकृतम्। केषाञ्चिन्मतेन सांख्यशास्त्रे पञ्चतन्मात्रपदेन परमाणव एव उच्यन्ते। पञ्चतन्मात्राः (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-भेदेन) परमाणुरूपाः अहङ्कारादुत्पद्यमाना आकाशादिपञ्चभूतानि उत्पादयन्ति। अत्र परमाणूनां पञ्चतन्मात्राणाम् अतीन्द्रियत्वविषयेऽपि प्रतिपादितम्।[1]

"अणोरणीयान् महतो महीयान्" इत्यस्य व्याख्याने श्रीमता रामानुजाचार्येणापि सूक्ष्मोंऽशो दिव्य-पदार्थश्चित्पदवाच्योऽङ्गीकृतः। अतएव नित्यो निरवयवो जीवादिपरः परमात्मपरो वा अणीयान् परमाणुश्चेति श्रुतिराद्धान्तः।

रसायनशास्त्ररीत्यापि परमाणुपदार्थः सूक्ष्मातिसूक्ष्मतो निरवयवोऽविभाज्यः परमाणुरिति निश्चितः। परमाणौबह्वोंऽशाः भवन्तीति तत्र उक्तम्। परमाणोः सावयवत्वमपि साधितम्। तेषां मतेऽपि परमाणुविषये न कश्चिद्विचारो निश्चितो वर्तते। तेऽपि परमाणुषु क्रियां स्वीकुर्वन्ति। नैयायिकोऽपि परमाणवः क्रियावन्तः उत्पन्न-शीलाश्च इति वदति।

मनोविज्ञानेषु मनोरूपस्य परमाणुविचारः दृश्यते। सुखदुःखाद्युपलब्धिकारणमिन्द्रियं परमाणुरूपं निरवयवमतिचञ्चलप्रकृतिकं क्रियामयमिति सर्वेषां मतम्।

एवं प्रकारेण परमाणुविचारः दृश्यते।

> सर्वतन्त्रस्वतंत्राय रामपट्टाभिशास्त्रिणे।
> सुमनाञ्जलिरूपोऽयं निबन्धोऽद्यसमर्प्यते॥ इति शम्।

---

१. अतिदूरात् सामीप्यादिन्द्रियघातान्मनोऽनवस्थानात्।
सौक्ष्म्याद् व्यवधानादभिभवात्समानाभिहाराच्च॥

पाणिनीयव्याकरणे धातूनां भेदविमर्शः

रामप्रसादत्रिपाठी अध्यक्षो वेदवेदाङ्गसंकाये, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालये, वाराणसी

सर्वो लोकव्यवहारो वाक्यप्रयोगाधीनः। वाक्ये च क्रियाया एव प्राधान्येन बोधो भवति—पाणिनीयशास्त्रे। सा च क्रिया धातुभिः शक्त्या प्रतिपाद्यते, 'भूवादयो धातवः[1]' इति सूत्रप्रामाण्यात्। क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वमिति धातुलक्षणमस्मात्सूत्राज्ज्ञायते।[2]

यतो हि—सामान्यज्ञानमन्तरा विशेषविषयकजिज्ञासाया उदयो न सम्भवेत्, अतः धातूनामपि लक्षणज्ञानेन सामान्यज्ञानं यदिदं जातन्तदधुना भेदनिरूपणे कारणं भवेदेवेति कृत्वा धातूनां भेदाः निरूप्यन्ते—तत्र च धातवः षड्भेदाः[3] इति। ते च षोढा धातवः।

(१) परिपठिताः, (२) अपरिपठिताः, (३) परिपठितापरिपठिताः, (४) प्रत्यय-धातवः
(५) नाम-धातवः, (६) प्रत्यय-नामधातवश्चेति

१. परिपठिताः धातवः

परिपठिताः धातवः भूवादयः भ्वाद्यादिगणे प्रसिद्धा एव। यथा—

भूयात्तेषां कुले जन्म जायन्तां तेषु सम्पदः।
येषां स्वमिति मन्वानाः स्वीकुर्वन्ति स्वमर्थिनः॥
कविः सृजति काव्यानि, हृदयाद्धति सज्जनाः।
सूते मुक्ताः पयोराशिर्वहन्ति तरुणीस्तनाः॥
न रुणत्सीन्द्रियग्रामं न शृणोषि गुरोर्वचः।
नोपार्जयसि मित्राणि, कथं गृह्णास्यरिश्रियः॥

एषु श्लोकेषु क्रमशः, भू, जनी, मन्, डुकृञ्, सृज्, डुधाञ्, सूङ्, वह्, रुधिर, श्रु, अर्जि, ग्रह इत्येते धातवः भ्वाद्यादि-गणपठिताः घटकतया योजिताः सन्ति।

२. अपरिपठिताः धातवः

अपरिपठिताः धातवः ये गणे न पठिताः। यथा—

---

१. पा० सू०—१।३।१।

२. वै० भूषणसारः—धात्वर्थनिरू० का० ९।

३. शृङ्गारप्रकाशः, प्र० प्र—पृ० ३।

गोपानान्दोलयन्नैव प्रेङ्खोलयति मे मनः।
पवनो वीजयन्नाशा मानाशामुच्चुलुम्पति[1]॥

अत्र श्लोके—आन्दोल—प्रेङ्खोल—चुलुम्पप्रभृतयो धातवः अपरिपठिता एव निर्दिष्टाः, तत्राद्ययोर्द्वयोश्चौरादिकत्वकल्पना, चुलुम्पाख्यस्य भूवादिकत्वकल्पना कृता।

३. परिपठितापरिपठिता धातवः

ये धातवः सूत्रेष्वेव पठिताः न गणेषु यथा—

अनुक्नुहि मा मन्तॄन्, वसन्तो मानघ स्मरः।
द्रुतमृतीयस्वजिजावयिषति स्मरः॥

अत्र ष्कुज् धातुर्न 'गणे' पठितः अपितु 'स्तन्भुस्तुन्भु-स्कन्भु-स्कुन्भु-स्कुञ्भ्यः श्नुश्च,'[2] इति सूत्रे निर्दिष्टः ततः श्नु विकरणे लोट्लकारे एवंरूपम्।

एवम् ऋतेरीयङित्यत्र निर्दिष्ट ऋत धातुः ईयङ्प्रत्ययान्तो लोडन्तः।

एवं जु धातुरपि गतौ वेगे चार्थे वर्त्तमानः जुचङ्क्रम्यदन्द्रम्यसृगृधिज्वलशुचलषपतपदः,[3] इति सूत्रे निर्दिष्टण्यन्तात्सनि लटि च इदं रूपं जिजावयिषति इति।

४. प्रत्ययधातवः

प्रत्यये कृते सति ये धातुसंज्ञकाः भवन्ति। यथा सनाद्यन्ताः। तदुदाहरणं यथा—

मीमांसते न शास्त्राणि कृतार्थयसि नार्थिनः।
गोपायसि न सन्त्रस्तान् किमुद्धतमटाट्यसे[1] ॥

अत्र श्लोके 'मानेर्जिज्ञासायाम्' 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'[2] इति सूत्रेण सनि प्रत्यये कृते सति ततो लोटि मध्यमपुरुषैकवचने इदं रूपम्। कृतार्थयसि इति तु कृतार्थं करोतीति विग्रहे कृतार्थेतिप्रातिपदिकाण्णिचि सति सिद्ध्यति।

गोपायसि इति तु गुप् धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्यः आयः'[3] इत्याय प्रत्यये सति सिद्ध्यति। अटाट्यसे—इति तु गत्यर्थकादट् धातोर्यङि द्वित्वादिकार्ये सति सिद्ध्यति।

५. नामधातवः

कण्ड्वादयः। ये प्रातिपदिकसंज्ञकाः सन्तः धातुसंज्ञका अपि भवन्ति, तदुदाहरणं यथा—

कण्डूयति न यो मर्मं नर्मणा यो हृणीयते।
अरुष्यति रुषं यः सः राजा राज्यं भिषज्यति ॥[4]

---

१. स्तु० प्र० प्र० प्र० पू० ३। २. पा० सू० ३।१।८२। ३. पा० सू० ३।२।१५०। ४. स्तु० प्र० तत्रैव पृ० ४।
५. पा० सू० ३।१।६। ६. पा० सू०।३।१।२८। ७. स्तु० प्र० तत्रैव।

अत्र कण्डूञ-ह्रिणीङ्-अरुष-भिषज् इत्येते चत्वारो धातवः नामधातवः[1] कण्ड्वादि गणपठिताः। कथं पुनः कण्ड्वादयो नामधातवः भवन्तीति जिज्ञासायामुच्यते—

धातुप्रकरणाद्धातुः कस्य चासज्जनादपि।
आह चायमिमं दीर्घं मन्ये धातुर्विभाषितः॥[2]

६. प्रत्ययनामधातवः

येभ्यः परिपठितधातुभ्यो नामत्वसिद्धये, नामभ्यो वा धातुत्वसिद्धये क्विबादि प्रत्ययाः लुप्यन्ते, ते प्रत्ययेन हेतुना नामानि च धातवः स्युरिति प्रत्ययनामधातवः, होड्-गल्भ-क्लीब्-प्रभृतयः। यथा—

होडसे नाभिजातेषु क्लीबसे नाभिमानिषु।
विदग्धसि न मुग्धेषु न प्रगल्भेषु गल्भसे[3]॥

अत्र होड्, क्लीब, विदग्ध, गल्भ प्रभृतयः एतल्लक्षणलक्षिताः सन्ति। एवं कंसवधमाचष्टे-कंसं घातयति, आ रात्रिविवासमाचष्टे रात्रिं विवासयति, पुष्यचन्द्रयोगं जानाति पुष्येण चन्द्रं योजयति, उज्जयिन्याः प्रस्थितः माहिष्मत्यां सूर्योद्गमं प्राप्नोति इति माहिष्मत्यां सूर्यमुद्गमयति इति। एवम् "आख्यानात्कृतस्तदाचष्टे कृल्लुक् प्रकृतिप्रत्यापत्तिः प्रकृतिवच्च कारकम्।"[२] 'आङ्लोपश्च कालात्यन्तसंयोगे मर्यादायाम्' नक्षत्रयोगे ज्ञि। चित्रीकरणे प्रापीत्यादिभिर्वार्तिकैः (वचनैः) तत्तत्प्रत्ययेषु अन्यकार्येषु कृतेषु च धातुत्वं बोध्यम्, इमे च प्रत्ययधातवो ज्ञेयाः। एवं षड्विधाः धातवो निरूपिताः।

शृङ्गारप्रकाशकृता[3] श्री भोजराजेनान्येन प्रकारेण धातूनां त्रैविध्यं प्रत्यपादि। तथाहि— अस्त्यर्थकाः, भवत्यर्थकाः करोत्यर्थकाश्च। तत्र येषां कर्त्तार उदासते न परिणमन्ति, ते आद्याः। यथा—अस्ति, विद्यते, ध्रियते, तिष्ठति, आस्ते, वर्त्तते इत्यादि।

येषां कर्तारो विकुर्वते, ते भवत्यर्थकाः। यथा—भवति, जायते, उत्पद्यते, वर्धते, स्मर्यते विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति इत्यादि।

येषान्तु कर्त्तारः प्रयोजयन्ति ते करोत्यर्थास्तृतीयाः। यथा—करोति, जनयति, निर्वर्तयति, साधयति उत्पादयति इत्यादि। तत्रास्ति-करोति-भवतीनां साम्यावस्थानात् निर्विकारमनाद्यन्तं शब्दब्रह्मेत्याचक्षते। यदा तस्याविद्यानिबन्धनसत्ताहेतुरविपरिणामरूपप्रथमावस्था, तदा तत्रास्ति पदं युज्यते यन्नास्ति तद्भवतीति चापेक्षाया द्वितीयावस्था परिप्लवते। तत्र भवति, जायते इत्यादि प्रयुज्यते। तत्रैव मिथ्याभिनिवेशान्मिथः प्रयोज्यप्रयोजकभावात् करोति, जनयति इत्यादि पदप्रयोगवती तृतीयावस्था चोच्यते।

पदभेदेन धातूनां भेदाः निरूप्यन्ते[४]—(क) भावपदम् (ख) कर्तृपदम् (ग) कर्मपदम् (घ) भावकर्मपदम् (ङ) भावकर्तृपदम् (च) कर्मकर्तृपदञ्चेति क्रियारूपपदभेदाः षट् संख्याकाः भवन्ति।

---

१. वै० सि० कौ० उत्तरार्द्ध काण्ड्वादिप्रकरणम्। २. शृ० प्र० प्र० प्र० पृ० ४। ३. तत्रैव।
४. वै० सि० कौ० चुरादि पृ० ४९३। ५. शृ० प्र० प्र० च० प्र० पृ० १२६। ६. शृ० प्र० तृ० प्र० पृ० ८५।

(क) भावपदम्—

भावपदन्तदस्ति यत्र धातोर्भावार्थकः प्रत्ययः क्रियते यथा—आस = उपवेशने, इत्यस्मादकर्मकाद् भावे लटि यकि च सति आस्यते इति। एवं लृटि असिष्यते, लुङि च आसि। अविवक्षितकर्मकादकर्मकात् पच्यादेरपि भावे प्रत्ययः, तेन पच्यते, अपाचि, पक्ष्यते देवदत्तेन एवं भिद्यते, अभेदि भेत्स्यते कुशलेन।

(ख) कर्तृपदम्—

तद् भवति यत्र धातोः कर्तरि प्रत्ययो विधीयते। यथा पचति चैत्रः, आस्ते मैत्रः, सृजति मालां मालिकः, आचरति धर्मं धार्मिकः। एषु पचादिभ्यः कर्तरि लटि साधुत्वम्।

(ग) कर्मपदम्—

तद्भवति यत्र धातोः कर्मणि प्रत्ययो विधीयते यथा—पच्यते तण्डुलो देवदत्तेन, गम्यते ग्रामः पान्थेन, सुप्यते क्रोशः शिशुना, अकारि कटः कुशलेन, अरोधि गौर्गोपेन इत्यादिषु पचि-गमि-स्वप्-कृञ्-रुध-धातुभ्यः कर्मणि लटि सति साधुत्वम्।

(घ) भावकर्मपदम्—

तद्भवति यत्र कस्यचन भावस्य (व्यापारस्य) कर्मता सम्पद्यते। यथा भवान् भुञ्जीत इत्यहमिच्छामि। स भुञ्जीत इत्यहं कामये, प्रार्थये यदि स भुञ्जीत, सम्भावयामि भुञ्जीत भवान् इत्यादिषु इच्छायाः, कामनायाः, प्रार्थनायाः सम्भावनायाश्च कर्मत्वं भोजनक्रियायाः।

(ङ) भावकर्तृपदम्—

तदस्ति यत्र भावःकर्तृत्वं सम्पद्यते यथा-रोगः चौरस्य रुजति। अत्र रोगरूपभावकर्तृकत्वं रुज् धातोः।

(च) कर्मकर्तृपदम्—

तद्भवति यत्र कर्मणः एव कर्तृत्वम्प्रतिपाद्यते। यथा—चैत्रस्तण्डुलं पचति-चैत्रः किम्पचति, तण्डुलः स्वयमेव पच्यते। अत्र प्रयोगसौकर्यद्योतनाय कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते अपितु—तण्डुलरूपकर्मणः एव धात्वर्थव्यापाराश्रयत्वेन कर्तृत्वं सम्पाद्यते।

इदञ्च करणाधिकरणयोरप्युपलक्षणन्तयोरपि कर्तृत्वविवक्षायाः अनुभवसिद्धत्वात्। तथाहि चैत्रः असिना काष्ठं साधु छिनत्ति, चैत्रः किं छिनत्ति, असिः एव छिनत्ति। अत्रासिरूपकर्मणः कर्तृत्वविवक्षा।

एवं चैत्रः स्थाल्यां पचति, तत्र चैत्रः किं पचति--स्थाली स्वयमेव पचतीत्यधिकरणस्य कर्तृत्वविवक्षा। एतत्सर्वं 'कर्मवत्कर्मणा तुल्य क्रियः'[1] इति सूत्रं व्याचक्षाणेन श्री भट्टोजिदीक्षितेन स्फुटीकृतं कर्मकर्तृप्रकरणे। उक्तञ्च—

क्रियमाणं तु यत्कर्म स्वयमेव प्रसिद्ध्यति।
सुकरं स्वैर्गुणैः कर्त्तुः कर्मकर्तेति तं विदुः[2]॥

नानाविधप्रत्ययेषु धातूनां स्वरूपाणि—

अथ प्रत्यान्तधातूनां स्वरूपमुक्त्वा नानाविधप्रत्ययेषु धातोः स्वरूपमुच्यते। यतो हि—अपदं न

---

१. पा० सू० ३।१।८७ २. स्वृ० प्र० तृ० प्र० पृ० ८६

प्रयुञ्जीत[3] इति नियमेन न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्यय इति परश्चेति सूत्रीयभाष्योक्त[4] सिद्धान्तेन पदानां साधुत्वं प्रयोगार्हत्वञ्च।

तत्र पदं द्विविधम्, सुबन्तं तिङन्तञ्च[1]। सुबन्तं प्रातिपदिकप्रकृतिकम्, तिङन्तं तु धातुप्रकृतिकम्। अनेन द्वितीयेनैव तिङन्तपदेन सह अव्यवहितपूर्ववर्तिततया[2] उपसर्गाणां प्रयोगो भवति।

अस्मिन्निबन्धे धातूपसर्गयोः पृथक्तया मिलिततया च समीक्षा क्रियमाणा अस्ति। अतः संक्षेपतः सर्वगणीयकतिपयधातुभ्यः इमानि स्वरूपाण्यवश्यं प्रदर्शनीयानि।

तत्रादौ मांगलिकाद् 'भू' धातोः कर्त्रर्थकेषु लडादिलकारेषु यादृशं स्वरूपं भवति, तादृशं रूपं प्रदर्श्यते। तथाहि—वर्तमाने लट्[1] इति सूत्रेण लट्लकारः वर्तमानकालावच्छिन्नक्रियावाचकाद्धातोर्विधीयते, स च लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः[2] इति सूत्रेण कर्त्रर्थेऽपि विधीयते। लटः स्थाने तिप्तस्झि[3] इत्यादिना तिबादयः आदेशा विधीयन्ते। कर्तरि शप्[4] इत्यनेन च शब्विकरणोऽपि भवति। सार्वधातुकार्धधातुकयोरिति सूत्रेण गुणे कृते अवादेशे च प्रथमपुरुषैकवचने 'भवति' इति रूपं सिद्ध्यति। एवं द्विवचने 'भवतः' बहुवचने 'भवन्ति'। मध्यमपुरुषैकवचनादिषु–'भवसि', 'भवथः', 'भवथ'। उत्तमपुरुषैकवचनादिषु च–'भवामि', 'भवावः', 'भवामः' इत्येतानि रूपाणि भवन्ति। तत्र युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः[6] इत्यनेन युष्मच्छब्दस्याप्रयोगे प्रयोगे वा मध्यमः पुरुषो विधीयते।

एवमेव अस्मद्युत्तमः[7] इत्यनेनाऽपि अस्मच्छब्दस्याप्रयोगे प्रयोगे वा उत्तमपुरुषो विधीयते। एतयोर्द्वयोरविषये 'शेषे प्रथमः'[8] इत्यनेन प्रथमपुरुषः क्रियते। प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञाश्च 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः'[9] इति सूत्रेण तिङ्सम्बन्धिनः प्रत्येकं त्रिकस्य भवन्ति। तिङ्सम्बन्धिनश्च प्रत्ययाः तिप्तसीति सूत्रेण निर्दिष्टाः अष्टादशसंख्याकाः सन्ति। तत्र पूर्वनवानां मध्ये त्रिकत्रयस्यैताः संज्ञाः। पुनश्च द्वितीयनवकमध्ये त्रिकत्रयस्य एताः संज्ञाः। एवमेव प्रथमनवकस्य परस्मैपदसंज्ञा लः परस्मैपदं इत्यनेन भवति। द्वितीय[10] नवकस्य 'तङानावात्मनेपदम्' इत्यनेनात्मनेपदसंज्ञा च भवति। तत्र युष्मदादीनां कर्तृपदानां प्रयोगे 'सः भवति, तौ भवतः, ते भवन्ति। त्वं भवसि, युवां भवथः यूयं भवथ। अहं भवामि, आवां भवावः, वयं भवामः इति वाक्यं प्रयुज्यते। अप्रयोगे तु केवलानामपि–'भवति भवतः, भवन्ति' इत्यादीनां साधुत्वं भवति।

यत्र च स-च, त्वञ्चेति कर्तृपदं प्रयुज्यते तत्र 'भवथः' इति मध्यमपुरुषः साधुर्भवति। एवं स-च अहञ्चेति प्रयोगकालेऽपि 'भवावः' इति उत्तमपुरुषस्यैव साधुत्वम्। यतो हि—मध्यमोत्तमयोरविषये एव प्रथमस्य साधुता न तु तद्विषयेऽपि। किञ्च यत्र स-च, त्वञ्च अहञ्चेति कर्तृपदं प्रयुज्यमानमस्ति तत्र 'भवामः' इति उत्तमपुरुषस्यैव साधुता, मध्यमापेक्षया 'अस्मद्युत्तमः' इत्यस्य परत्वात्—इति शम्। शान्तिर्भूयात्।

●

---

१. ल० शे० शे०—अज० पु०
२. म० भा०—३।२।१
३. पा० सू०—१।१।४
४. पा० सू०—(ते प्राग्धातोः)
५. पा० सू० ३।२।१२३
६. ,, ३।४।६९
७. ,, ३।४।७८
८. ,, ३।१।६८
९. ,, ३।३।८४
१०. ,, १।१।१०५
११. ,, १।४।१०७
१२. ,, १।४।१०८
१३. ,, १।४।२०१
१४. ,, १।४।९९
१५. ,, १।४।१००

६

नक्षत्रमणिमाला

पं० रतिनाथ झा, दर्शनविभागाध्यक्षः, काशीहिन्दूविश्वविद्यालये, वाराणसी

तन्वन्न्यायनये, ऽथ जैमिनिमुनिस्वाध्याय-सिद्धिस्थले,
काव्ये, दुर्गमकाव्यशासनवने शार्दूलविक्रीडितम् ।
हुङ्कारैर्मदमेदुरानपि गजान् संत्रासयन् केसरी
रक्षन्नागमकाननं विजयते पट्टाभिरामः सुधीः ॥१॥

कायेनातिसुकोमलोऽपि नितरां प्रौढो धिया सूक्ष्मया
शास्त्राभ्यासरतोऽपि लोकविषये ख्यातोऽत्यसाधारणः ।
काव्यानां करणे कवीन्द्रतिलकोऽप्यास्वादनेऽप्यद्वयः
श्रीमानप्यनुशास्त्यजेयसरणिं सारस्वतीं श्रेयसीम् ॥२॥

आचार्या अपि साधवोऽपि विबुधाधीशा अपि प्रोन्नता
नीतिज्ञा अपि मन्त्रिणोऽपि कवयोऽप्यर्थाधिपा अप्यलम् ।
राष्ट्राध्यक्षपदे स्थिता अपि कुलाधीशा विशेषा अपि
श्लाघन्ते मधुरैर्वचोभिरनिशं त्वां पण्डिताखण्डलम् ॥३॥

केचित् 'पण्डितराज' इत्यभिधया रवे संप्लवन्तेऽञ्जसा
त्वामप्यायमुपाधिरेव भजते किन्तु प्रतिष्ठां पराम् ।
भृङ्गाँस्तर्पयति प्रफुल्लकमलं गन्धैर्मरन्दैर्युतं
कान्तं कृत्रिमपुष्पमाह्वयति किं विज्ञान् रसज्ञानलीन् ? ॥४॥

पीयूषस्य मदज्वरं जरयति श्रीमद्वचोभङ्गिमा
देहस्य द्युतिराहरत्यभिमतिं कार्त्तस्वरीयत्विषः ।
अङ्गानां मृदुता शिरीषकुसुमाहङ्कारहुङ्कारिणी
पाण्डित्यं कवलीकरोति भवतोऽखर्वं च गर्वं गुरोः ॥५॥

यस्याचार्यपरम्पराचिततमा, शिष्यावलिश्चोत्तमा,
प्राथम्यं भजते प्रशस्ति, रमला कीर्तिः, प्रसादोऽद्वयः ।
दैन्यं दूरयितुं स्थिरं मतिमतां यः शास्त्ररत्नाकरः
शश्वद्रत्नसमर्पणप्रवणतां बिभ्रद् भवान् भाति सः ॥६॥

भूत्या भालतलं, मुखं सुरगिरा, स्वान्तं शुभाशंसया,
वक्षो दुर्लभसंविदा, करुणया चित्तं, श्रिया जीवितम् ।
श्रेष्ठत्वं नयसम्पदा सुचरितं धर्मत्विषोद्भासितं
कीर्त्या कौतुकितं भवन्तमनिशं भक्त्या सुधीन्द्रं स्तुमः ॥७॥

पुण्येनार्चित, मार्जवेन विदितं, ज्ञानेन विभ्राजितं,
दाक्षिण्येन विभूषितं स्वविनयेन श्लाघितं भूतले।
शीलेनाप्रतिमं, गुणेन गणितं, शक्त्याति-तेजस्विनं,
स्वाध्यायेन सुधीश्वरं, रचनया शीर्षस्थमाचक्ष्महे ॥८॥

अद्यत्वे सुरभारतीपरिषदो भालस्य भूषायितं
देव्या भारतसंस्कृतेर्हृदि गतं त्वां हीरहारं नुमः।
मीमांसालतिकालवालमतुलं काव्यस्य केलीगृहं
साहित्यस्य सनातनं कुलगुरुं श्रुत्याः स्तुमो जीवितम् ॥९॥

राधामाधवयोः परस्परमनुध्यानस्य काष्ठा परा
व्यत्यासं कुरुते स्म किं नु वपुषोः श्यामत्वगौरत्वयोः ?
सैवान्योऽन्यरतिः प्रतीतिरतुला प्रीतिः परा शाश्वती
दम्पत्योरवलोक्यतेऽति-मधुरं यच्चानयोः साम्प्रतम् ॥१०॥

इक्षौ स्यान्मधुरं फलं, सुरभितं पुष्पं भवेच्चन्दने,
सौरभ्यं कनके स्फुरे, न्मतिमतां गेहे समृद्धिर्लसेत्।
विश्वासो नयविन्मनस्युपचयं यायाद् यदि क्ष्मातले
तत्त्वज्जीवितपूर्णतापरिमलस्पर्शाय सञ्जायताम् ॥११॥

शिष्या यस्य परश्शता दिशिदिशि ब्राह्मीसपर्यारताः
सर्वत्रोच्चपदे स्थिताः सुमनसां वृन्देन सम्भाविताः।
विद्वद्रत्नचयाय वैकटिकतां निर्वाहयन्तं स्फुटं
वाग्देव्या अभिराममण्डनमनुध्यायेन्न को मण्डनम् ? ॥१२॥

चित्तान्धकारहरणे मिहिरप्रभेव
सद्बोधकैरवविकासकचन्द्रिकेव।
सर्वार्थसिद्धिजननी जननीव संवित्
कस्यापि चेतसि कदाचिदुदेति पुंसः ॥१३॥

जन्मान्तरेषु कृतभूरितपोमहिम्ना
नव्यार्थसंस्फुरणसत्प्रतिभामलभ्याम्।
धन्यो जनोऽधिकुरुते गुरुसंनिधाना-
त्तां दीपयत्यनुदिनं स्वपरिश्रमेण ॥१४॥

व्यासोऽथ जैमिनिरथो कपिलोऽक्षपादः
किं मण्डनोऽसि महितोऽसि कुमारिलः किम् ?
किं पार्थसारथिरथासि पतञ्जलिः किं
वाचस्पतिः किमसि मम्मट एव साक्षात् ? ॥१५॥

तुच्छीकरोषि कनकं निजकायकान्त्या
चन्द्रं स्वशुभ्रयशसा मलिनीकरोषि ।
वाचस्पतिं स्वनिगमागमतत्त्वबोधै
रध्यापनैश्च विबुधानधरीकरोषि ॥१६॥

काव्यक्रियासु रससिद्धकवीश्वरोऽसि,
काव्यागमे त्वमसि पण्डितराज एव ।
आलेखने गणपतिः, सुर-वाग्विलासे
वागीश एव सदसि प्रथसे बुधानाम् ॥१७॥

हेमाम्बुजे मधुकरीव, सुमेरुशृङ्गे
नीलाचलस्य सुषमेव परिष्वजन्ती ।
कान्तानुरागरसनिर्भरहृत्सरोजे
त्वय्येव कापि रमते गृहदेवतात्र ॥१८॥

आम्नायदर्शनपथेष्वतिपिच्छिलेषु
भ्राम्यन् भवानभयमेव बिभर्ति चित्ते ।
पातस्थलेऽपि सततोज्झितपातशङ्कः
कामं परिभ्रमति भूरि निरामयः सन् ॥१९॥

यद्भारतीपदसरोरुहयोः सपर्या-
पर्याकुलेन भवतार्पितमात्मजन्म ।
तत्पूजयन्ति चरणौ भवतो नरेन्द्रा-
विज्ञाः प्रशासनमनर्घगुणा गुणज्ञाः ॥२०॥

सद्ग्रन्थमन्थन-विलेखन-योजनानु-
सन्धानबन्धुरनिबन्धनबोधनादौ ।
सानन्दमन्वहमनारततत्परस्य
च्छायामपि स्पृशति कस्तरुणस्तवाद्य ? ॥२१॥

वेदादिशास्त्रपरिरक्षणभूमिकायां
प्रोत्साहयन् धनवतो जगतो गुरूंश्च ।
नित्यं नवं नवमुपायनमानयन् यो
विद्यावतां सदसि धाम बिभर्ति धन्यम् ॥२२॥

तरुणोऽपि योऽतिबलवान् स्थविरोऽप्यनल्प-
शक्तिश्रिया विलसितस्तरुणः क्रियावान् ।
वाचं नितान्तजरतीमपि सेवमानो-
प्याह्लादयत्यतितरां रसिकान् स्ववाचा ॥२३॥

प्राप्तोदयोऽपि दिन एव तमांसि हन्ति
स्मेराननां सरसि चुम्बति पद्मिनीं यः।
रात्रिन्दिवं प्रहरतो हृदयान्धकारं
किं ते तुलां सुकृतिन स्तपनः स एति ? ॥२४॥

आशासु यस्य शरदिन्दुकराभिरामा
कीर्तिर्नटी नटति ताण्डवपण्डितेव।
बध्नाति या समदृशामपि दृग्विलासा-
नामोदयत्यखिल - नृत्यकलारताँश्च ॥२५॥

येऽसूयया परगुणानपि दोषदृष्ट्या
पश्यन्ति, तत्परवशाश्च विगर्हयन्ति।
तेऽप्यर्थयन्ति गुणिनो निजलाभहेतो
र्विस्मृत्य सर्वमपि गर्वकृतं दुरुक्तम् ॥२६॥

जीव्याः समाः शतमनामयमार्यवृत्त्या
स्नेहात् प्रबोधमयदीपशिखां प्रतन्याः।
सद्ग्रन्थरत्नचयनिर्मितमञ्जुहारान्
कण्ठे गिरोऽनुदिनमेव नवान् निदध्याः ॥२७॥

स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ

श्रीमनुदेवभट्टाचार्यः, गोयनकासंस्कृतमहाविद्यालये व्याकरणप्राध्यापकः, वाराणसी

देवा सुराधिपति-मौलिललाममाला—
मोमुद्यमान-मधुपालिविभूष्यमाणम् ।
भूयः प्रणम्य चरणं जगदम्बिकाया-
स्तत् स्थानिवत्त्वमखिलं ननु वर्णयामि ॥

'अथेह स्मारं स्मारं गुरोर्गिरोऽधिस्थानिवत्त्वं किमप्युपाचरामि । तथाहि—

आदेशः स्थानिवत् = स्थानितुल्यः = स्थानिधर्मको भवति, अलाश्रयविधिं विना ।

किं सर्व एवादेशाः ? आहोस्वित् केचन ? तत्र अष्टावेवादेशाः स्थानिवृत्तिधर्मं लभन्ते इति केचित् । के च ते ? इत्यत्रोच्यते—धात्वादेशः, अङ्गादेशः कृदादेशः, तद्धितादेशः, अव्ययादेशः, सुबादेशः, तिङादेशः, पदादेशः इति । तत्रोदाहरणनि यथाक्रमं, यथा—

(क) 'अस्तेर्भूः' इति अस्धातोः स्थाने जायमानो 'भू' इत्यादेशोऽपि स्थानि (=अस्) वृत्ति धातुत्व-धर्मवान् भवति, ततश्च लकारोत्पत्तिसम्भवः ।

(ख) द्वितीयोऽङ्गादेशो यथा—'किमः कः' इति 'किम्' इत्यङ्गस्य स्थाने क्रियमाणः 'कः' इत्यादेशोऽपि तत्त्वं लभते, एवञ्च 'कैः' इत्यादौ 'अतो भिस ऐस्' इति अदन्तादङ्गात्परस्य भिस ऐस्सिद्धिः ।

(ग) कृदादेशस्य स्थानिवत्त्वं यथा—'प्रकृत्य' इति । अत्र क्त्वास्थानिकस्य 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' इतिल्यबादेशस्य स्थानिधर्मकत्वात् 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यनेन तुक् सिद्धः ।

(घ) तद्धितादेशस्य स्थानिवत्त्वं यथा—'भावत्कः' इति । अत्र 'भवतष्ठक्छसौ' इति सूत्रेण ठकि, तस्य च 'इसुसुक्तान्तात् कः' इत्यनेन के, तस्यानेन स्थानिवत्त्वात्ततश्च कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वात्सुबुत्पत्तिसिद्धिः ।

(ङ) अव्ययादेशस्य स्थानिवत्त्वं यथा—'प्रकृत्य' इत्यत्रैव क्त्वास्थानिकस्य ल्यपः स्थानिवत्त्वेन अव्ययत्वात् कृत्त्वेन प्रातिपदिकत्त्वात् जातसुपः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लोपसिद्धिः ।

(च) सुबादेशस्य स्थानिवत्त्वं यथा—'रामाय' इत्यत्र ङेस्थानिकस्य यादेशस्य स्थानिवत्त्वेन सुप्त्वमाश्रित्य सुपि चेति दीर्घसिद्धिः । सन्निपातपरिभाषा तु 'कष्टाय क्रमणे' इतिनिर्देशादनित्या ।

(छ) तिङादेशोऽपि स्थानिवद्भावं लभते, यथा—'अभवताम्' अत्र तसःस्थाने 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' इति जायमानस्य तामादेशस्यापि स्थानि (= तस्) वृत्तिधर्मवत्त्वात् तिङ्त्वेन समुदायस्य तिङन्तत्वात् सुप्तिङन्तं पदमिति पदत्वसिद्धिः ।

(ज) पदादेशस्य स्थानिवद्भावफलं, यथा—'ग्रामो वः स्वम्' इत्यादौ 'वस्' इत्यस्य पदादेशस्य पदवत्त्वेन रुत्वसिद्धिः इति ।

परन्तु अष्टौ इमे आदेशा एवं स्थानिवृत्तिधर्मं लभन्ते नान्ये इति तु न युक्तम्, एवं हि च्लि-स्थानिकानां सिच्-क्स-चङ्-अङ्-चिणादेशानाम्, 'क्र्यादिभ्यः श्ना' इति विहितस्य श्नाविकरणस्य स्थाने जायमानस्य 'हनः श्नः शानज्झौ' इति शानजादेशस्य, अथ च 'अग्रहीत्' इत्यत्र ग्रहोऽलिटीति जातदीर्घस्य चासङ्ग्रहात् अव्याप्तिदोषावसरः ।

यदि तु अष्टानामुदाहरणमात्रत्वं स्वीक्रियते, तथापि अव्ययस्य अंगपदानतिरिक्तत्वेन पृथग्ग्रहणवैयर्थ्यम् ।

पूर्वोक्तानां चिलस्थानिकानाम् सिजादीनामसङ्ग्रहे दोषो यथा—'अबाधिषाताम्' इति । अत्र हि 'बाधृ लोडने' इति धातुरनुदात्तेत् । लोडनं प्रतिघातः । ततो भूतसामान्ये लुङि प्रथमद्विवचने अबाधिषाताम् इति रूपम् । अत्र स्थानिवत्त्वेन सिचि आर्धधातुकत्वमानीय इड् साध्यते । तदभावे तन्न स्यात् । एवमेव शानजादीनाम् अपि स्थानिवत्त्वेन प्रत्ययमानीय इत्वं विधीयते । अन्यथा तन्न स्यात् ।

'अल्विधौ' इत्यत्र च चतुर्धा समासः । 'अनल्विधौ' इत्यत्र च प्रसज्यप्रतिषेधपर्युदासभेदात् द्विधा समासः । तस्य गुणनेन अष्टधा समास इति । तत्र 'अल्विधौ' इत्यत्र समासचातुर्विध्यं यथा—

अला विधिः, अलः परस्य विधिः,
अलो विधिः, अलि विधिः इति ।

तृतीयान्तपञ्चम्यन्तषष्ठ्यन्तसप्तम्यन्तात्ल्पदेन विधिपदस्य समासः । अल्विधिरित्यत्र 'सहसुपा' इत्यत्र सुपेति योगविभागेन समासः । तेन 'व्यूढोरस्केन', 'द्यौः-पन्थाः', 'द्युकामः 'क इष्टः', इत्यादौ णत्वाभाव-हल्ङ्यादि सुलोपाभाव –वलिलोपाभावोत्वाभावसिद्धिः ।

अत्रेदं बोध्यम्—शास्त्रेऽत्र 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' इति सूत्रसत्त्वात्, तत्प्रत्याख्यानेऽपि लौकिक-स्थान्यादेशभावात् शास्त्रोक्तस्थान्यादेशयोर्विशेषात् एतत्सूत्रारंभः । सूत्रमिदं शास्त्रीयस्थान्यादेशस्थले एव प्रवर्तते, इति नानेन 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' इत्यस्य गातार्थ्यमिति परिभाषेन्दुशेखरे स्पष्टम् । लोकेऽपि 'गुरोः स्थाने तत्पुत्रः शिष्यकुलानि गत्वा अग्रासनादीन्येव लभते, न तु स्वरूपाश्रितोच्छिष्टभोजनचरणसम्वाहनादि' इति । एवं प्रकृतेऽपि 'अवधिष्ट' इत्यादौ स्वरूपाश्रितमात्मनेपदं न स्यादिति स्थानिकार्यस्य आदेशे सम्पादनाय स्थानिवत्सूत्रारम्भः । भाष्ये तु— सूत्रे 'वत्' करणं किमर्थम् ? इत्याशङ्क्य तदभावे 'स्थान्यादेशोऽनल्विधौ' इत्येव सूत्रं स्यात्, ततश्च सञ्ज्ञाप्रस्तावात् 'स्थानी आदेशस्य सञ्ज्ञा स्यात्' इत्यनिष्टार्थः स्यात्, एवञ्च 'आङो यमहनः' इत्यात्मनेपदं वधेरेव स्याद्, हन्तेर्नस्यात् । वत्करणञ्च स्थानिकार्यस्यादेशेऽतिदेशात् दोषाभावः ।

अन्यच्च—प्रकृतसूत्रे आदेशपदाभावेऽपि यः स्थाने भवति, स एव स्थानिवद् भवति, स्थाने चादेश एव भवति, एवञ्चादेशग्रहणं व्यर्थं सद् 'आदेशमात्रं स्थानवद् यथा स्याद्' इति ज्ञापयति । आदेशमात्रम्= प्रत्यक्षम्=अनुमितं वेति तदर्थः ।

किञ्च—सूत्रेऽत्र विधिविशिष्टम् अल्ग्रहणं किमर्थमित्यपि प्रश्नः समुदेति । 'स्थानिवदादेशोऽनलि' इत्येव सूत्र्यताम् । तत्रोत्तरमिदमेव यत् विधिग्रहणाभावे पूर्वोक्तसमासचातुर्विध्यलाभो न स्यात् । न च 'स्थानिवदादेशोऽनल्' इत्येवनिर्दिश्यताम्, तत्र लिङ्गसंख्ययोरविवक्षया यथेच्छमर्थाः क्रियन्तामिति वाच्यम्, एवं सति उत्तरपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अलमाश्रयते अलाश्रयः, अलाश्रयश्चासौविधिः अल्विधिः, तद्भिन्नोऽनल्विधिस्तस्मिन् ।

एवञ्च यत्र प्राधान्येन अलाश्रयणम्, तत्रैव स्थानिवद्भावनिषेधः, नान्यत्र । तत्फलञ्च प्रदीव्य-प्रसीव्येत्यादौ इडभावः ।

अयं भावः—

'स्थानिवदादेशोऽनल्' इत्येतावत्येव सूत्रे यत्र कार्ये अलः स्वातन्त्र्येण आश्रयणं तत्रैव स्थानिवद्भावनिषेधः, यथा 'स इष्टः', 'क इष्टः' इत्यादौ । प्रदीव्य-प्रसीव्य इत्यत्र तु इड्विधौ स्वातन्त्र्येण अलनाश्रयणात्

अल्विधिनिमित्तकस्थानिवद्भावो न स्यात्। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति सूत्रे वलादेरित्यत्र बहुव्रीहिसत्त्वाद् अन्यपदार्थस्य प्राधान्याद् वलः गुणभावात्।

इदानीं तु इड्विधेः अलाश्रयत्वेन स्थानिवद्भावनिषेधादिष्टसिद्धिः।

यच्चोक्तं प्राक्—अलमाश्रयते इत्यलाश्रयः। एतत्तु-अर्थप्रदर्शनमात्रम्, एवं हि पचाद्यचं प्रबाध्य कर्मण्यणि सति 'अलाश्रायः' इति स्यात्। विग्रहवाक्यन्तु-आश्रीयते इत्याश्रयः, एरच् इत्यच्, ततोऽलाश्रयो-विधिरल्विधिः, अलाश्रयत्वाद्विधिरेव अलित्युच्यते इति गतार्थत्वादाश्रयपदस्य प्रयोगाभावः।

यच्चोक्तं प्राक्—अनल्विधौ' इत्यत्र नञः प्रसज्यपर्युदासोभयार्थकत्वमाश्रित्य द्विधाऽर्थसम्प्रत्यय इति, तत्रेदं बोध्यम्—पर्युदासपक्षे इत्थमर्थबोधः—अल्विधिभिन्ने विधौ कर्तव्ये आदेशः स्थानिवद्भवतीति सिद्धान्त-पक्षश्चायम्।

प्रसज्यप्रतिषेधपक्षे तु—आदेशः स्थानिवद्भवति, स्थान्यलाश्रयविधौ आदेशः स्थानिवन्न भवति। पक्षेऽत्र पृथक् वाक्यकरणरूपं गौरवं प्रत्यक्षम्। फलितार्थकथनञ्चेदम्।

अत्रायं संग्रहः—

आदेशः स्थानिधर्मा भवति खलु विना ह्यल्विधिं तत्र-तत्र,
ते चादेशा इहाष्टौ जगदुरिति परे शाब्दिकाः प्राञ्च एव।
चल्यादेशानां समेषां नहि भवति यतः संग्रहः कृत्स्नतस्तु,
तस्मात्तन्नैव युक्तं मतमिति हि मतं पण्डितानां नवानाम्॥ १॥

शब्दे चालाश्रयेऽस्मिन् भवति ननु समासश्चतुर्धेति बोध्यं,
सोऽलाऽलोऽलि पूर्वं तदनु च 'विधि' शब्देन तेनेति तेन।
चातुर्विध्यं तथाऽर्थस्य भवति पदतस्तेन णत्वं, सुलोपः,
लोपोव्योर्वचेति लोपो हशि च विहितमुत्वं तथा नैव जातम्॥ २॥

प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धविमर्शः

चक्रवर्ती श्रीरामाधीन चतुर्वेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालये प्राध्यापकः

व्याकरणं वै पदशास्त्रम्, तच्च प्रकृतिप्रत्ययात्मकमिति प्रसिद्धम्। पदञ्च प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धमन्तरा नोपलभ्यते। अत एव शास्त्रकृद्भिः 'सुप्तिङन्तं पदम्'[१] "विभक्त्यन्तं पदम्"[२] "ते विभक्त्यन्ताः पदमि"[३]त्यादि-सूत्रैः पदस्वरूपं निर्धारितम्। तत्र विभक्तिपदेनापि सुप्तिङ्प्रत्ययावेव गृह्येते। एतौ च सुप्तिङ्प्रत्याहाररूपप्रत्ययौ प्रकृतिपरावेव भवतः। तस्मात् प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपसम्बन्धोऽत्रगम्यते। तथा चाह महर्षिपतञ्जलिः—"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलः प्रत्ययः" इति। एतेन प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपसम्बन्धः परिपुष्यति। उदाहरणार्थमत्र तावत् प्रकृति-प्रत्ययशब्दावेवानुगृहाण। तत्र प्रोपसर्गककृञ्धातुः प्रकृतिः, क्तिच्प्रत्ययः तदनु सुप्रत्ययश्चेति प्रकृतिपदव्याकृतावेते सम्मिलन्ति। तथा प्रत्ययपदमपि प्रत्युपसर्गादिण् धातोरचि प्रत्यये सति निष्पद्यते। एवं प्रतिपदं तत् साहचर्यमवगन्तव्यम्।

यत्र तु मधु, दधि, लिट्, अहन् प्रभृतिपदेषु प्रकृतय एव दृश्यन्ते न प्रत्ययाः। एवमधुना, इयान्, व्यतिसे इत्यादिषु प्रत्यया एव श्रूयन्ते न च प्रकृतयः। तत्कथं प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यं नित्यमिति न भ्रमितव्यम्, प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धस्यात्राप्यनुमानात्। अत एव महर्षिपतञ्जलिः पुनः प्राह—प्रकृतिं दृष्ट्वा प्रत्यय ऊहितव्यः, प्रत्ययञ्च दृष्ट्वा प्रकृतिरूहितव्येति"[४] ततो मधु, दधि, लिट् पदेषु सुप्रत्ययस्य, अहन् इत्यत्र च तिप्प्रत्ययस्य स्वरूपतोऽदर्शनं भवति नार्थत इति शब्दस्वभावसिद्धमिदं बोध्यम्। एवम्-अधुना, इयान्, व्यतिसे इत्यादावपि इदमस्प्रकृत्योः शब्दतः दर्शनाभावेऽपि अर्थतः तत्स्वरूपमनुमातुं शक्यम्।

स एष प्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धिसाहचर्यरूपसम्बन्धो न केवलं पचति—पाचकप्रभृतिव्युत्पन्नपदेष्वेव प्रतिभाति, अपि तु मणिनूपुराद्यव्युत्पन्नपदेषु, च-ह-वानूनमेवादिनिपातपदेषु, तथा प्रपरापसमाद्युपसर्गपदेष्वपि 'सु'प्रत्ययद्वारा स सम्बन्धो भासत एव। नो चेत् तेषां पदत्वमेव न सेत्स्यति, सुप्तिङन्तपदमितिपदलक्षणस्य जागरूकत्वात्। तस्मान्मणिनूपुरप्रभृतिपदेषु सुप्प्रत्याहारघटितैकविंशतिप्रत्ययानां संसर्गः श्रवणपथमागच्छति। निपातोपसर्गसंज्ञकपदसम्बन्धिसुप्-प्रत्ययस्य तु तत्रादर्शनसेव तत्स्वभावसिद्धम्, यतो हि निपातोपसर्गसंज्ञकपदानि अव्ययपदमर्हन्ति। अव्ययपदस्वरूपञ्च—

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥[५]

इत्येवं रूपेण विख्यातमस्ति। अत एव तत्र सुप् प्रत्ययस्यादर्शनं "मव्ययादाप्सुपः"[६] इति सूत्रेणा-नुशास्ति महर्षिपाणिनिरपि।

यदि तत्राव्ययसंज्ञकपदेषु सुप्प्रत्ययस्य सम्बन्धो न भवेत् तदा तत्सम्बन्धिप्रत्ययार्शनानुशासनमन-र्थकं स्यात्। अभावज्ञाने च प्रतियोगिज्ञानमावश्यकमस्ति। तस्मात् सर्वत्र नामाख्यातोपसर्गनिपातरूपचतुर्विध-पदेषु प्रकृतिप्रत्यययोरविनाभावसम्बन्धः स्वीकार्यः।

१—पा० सू० ४।१२, २—नाट्यशा० १५।३३, ३—न्यायदर्शन सू० २।२।६०,
४—३।३।१, ५—सि० कौ० अव्यय प्र०, ६—पा० सू० २।४।८२,

महाभाष्यकारात् पूर्वं वार्तिककारकात्यायनमुनिरपि प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धमधिकृत्य "अर्थवत्सूत्र-विवेचनप्रसङ्गे स्पष्टमुक्तवान् यत्—"प्रत्ययेन नित्यसम्बन्धात् केवलस्याप्रयोग"[1] इति। महाभाष्यकृता च "नित्यसम्बन्धावेतावर्थौ प्रकृतिः प्रत्यय इति प्रत्ययेन नित्यसम्बन्धात्, केवलस्य प्रयोगो न भविष्यतीति" व्याख्यातम्। महाभाष्ये कृतभूरिपरिश्रमेण धीमता नागेशभट्टेन चात्र "नित्यसम्बन्धाविति" भाष्यप्रतीकमादाय "मायेश्वरवदिति भाव" इत्युक्तमुद्योते। एतावता मायेश्वरयोः परस्परं यथा नित्यसम्बन्धस्तथैवात्र प्रकृतिप्रत्यय-योरपि सम्बन्धो नित्य इति निश्चीयते।

तथा चेह पदशास्त्रस्यैष प्रकृतिप्रत्यययोः सम्बन्धः सांख्यदर्शनस्य प्रकृतिपुरुषसम्बन्धमनुवदतीति शक्यते वक्तुम्। यतो हि सांख्यदर्शने जगदिदं प्रकृतिपुरुषयोः सम्बन्धादेव जायत इति सिद्धान्तितम्। तत्र यद्यपि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः॥[2]

इति कारिकया चेतनरूपपुरुषे प्रकृतित्वं विकृतित्वञ्च निषिद्धं पुनरपि जगन्निर्मितौ प्रकृत्या सह पुरुषस्य साक्षित्वरूपसम्बन्धो भात्येव, यतः पुरुषस्य साक्षित्वरूपसम्बन्धाधारेणैव प्रकृतिः 'जगत्' रूपेण परिणमते। न हि पुरुषप्रकाशमन्तरा जडीभूता प्रकृतिः किमपि कर्तुं प्रभवति। एवं पुरुषोऽपि प्रकृतिं विना न स्पन्दते, यतो हि बोधे बोधकत्वं तदा सङ्गच्छते। यदा बोध्येन सार्द्धं तस्य सम्बन्धः स्यात्, नो चेत् स बोधः पङ्गुरिवास्ते। तस्माल्लोके यथा लोचनविहीनस्य जनस्य यदि कश्चन पङ्गुरपि द्रष्टा सहायको भवति तदा स पङ्गुः तस्यान्धस्य स्कन्धमारुह्य मार्गं दर्शयति, येनान्धः स्वाभिलषितं पदं प्राप्नोति। पङ्गोश्च द्रष्टृत्वं सफलं भवति। तथैव प्रकृति-पुरुषयोः सम्बन्धसद्भावाज्जगदिदं जायत इति सांख्यदर्शनपद्धतिः।

एवं व्याकरणदर्शनेऽपि प्रकृतिप्रत्यययोः साहचर्यरूपनित्यसम्बन्धादेव सर्वाणि पदानि सिध्यन्ति। तथा चोक्तमभियुक्तैरपि—

न तदस्ति पदं लोके प्रत्ययमन्तरेण यत्।
प्रत्ययानुगमादेव प्रकृतिर्लभते पदम्॥ इति॥

अपि च सांख्यदर्शनं सत्कार्यवादमङ्गीकरोति, अर्थात् सतः एव सर्वं प्रादुर्भवति नासतः। यथा वटबीजे सूक्ष्मरूपेण प्रवर्तमान एव वटवृक्षः यथासमयं स्वनिमित्तकारणमवाप्य स्थूलरूपेण परिणमते, यथा च तिलेषु सन्नेव स्नेहो जनैर्लभ्यते निष्पीडनैः। सिकतासु तु स्नेहाभावात् कथमपि स नोपलभ्यते इति प्रकृतिसिद्धः सिद्धान्तः।

एवं पदमपि सर्वं प्रकृतिप्रत्ययात्मभूतं सद् व्याकरणशास्त्रेणात्र इयं प्रकृतिः अयञ्च प्रत्यय इति विविच्यते। अत एव यथा सांख्यदर्शनमनुसृत्य प्रकृतिपुरुषसम्बन्धविवेकात् परमपुरुषार्थरूपमोक्षस्योपलब्धिर्भवति, तथैव प्रकृतिप्रत्ययात्मकपदशास्त्रस्य व्याकरणादपि मोक्षाप्तिः सुतरां सिध्यति। तथा चोक्तं व्याकरणशास्त्रमभि-लक्ष्य भर्तृहरिणा—

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः॥[3] इति॥

तदित्थमिह जगन्निर्मितौ सांख्यदर्शनप्रतिपाद्यप्रकृतिप्रत्ययसम्बन्धवत्, पदनिष्पत्तौ प्रकृतिप्रत्ययोर-विनाभावरूपसम्बन्धोऽपि सर्वथा सफल इति ध्येयम्॥

१—म० भा० १।२।४५। २—सांख्यकारिका—का० ३, १—वाक्यपदीय १।१६

अनवयवस्यैव वाक्यस्य वाक्यार्थवाचकतेतिसिद्धान्तसमीक्षा

डा० कमलनयनशर्मा, वाराणसी

तत्र तावत् पदकदम्बश्रवणसमनन्तरं विदितसङ्कतेर्जायमानस्य शाब्दबोधस्य निमित्तं किमिति जिज्ञासा सञ्जायते। तत्र वैयाकरणा अनवयवमेव वाक्यमनाद्यविद्योपदर्शितालीकवर्णपदविभागं स्फोटाख्यं शाब्दबोधस्य कारणमिति वदन्ति। तन्न समीचीन म्प्रतिभाति। दृष्टेनैवोपायेन कार्यसम्भवेऽदृष्टोपायकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। तथा चोक्तम्—

मीयमानपरित्यागो बाधके नासति स्फुटे।
दृष्टात्कार्योपपत्तौ च नाऽदृष्टपरिकल्पना॥ इति।

अयं भावः—एको वाक्यात्मा वाक्यार्थधीहेतुरिति मन्वानः प्रष्टव्याः। किमेको वाक्यात्मा वाक्यार्थधीहेतुरनुभवाद्वा व्यवस्थाप्यते, अर्थधीभेदाद्वा अन्यथाऽनुपपद्यमानात्। अनुभवोऽपि च वाक्यात्मानमेकमेवावयविनं अनेकवर्णपदव्यासङ्गिनमङ्गप्रत्यंगवर्त्तिनमिव देवदत्तमनुभवेत्, प्रत्यस्तमितवर्णपदविभागं वा। वर्णाः पदानि चास्यावयवाः सत्तामात्रेण, अनुभूयमानतया वा भवेयुरिति विकल्पाः।

तत्र न तावत् वर्णाः पदानि च सत्तामात्रेण चास्यावयवा भवेयुरिति प्रथमः पक्षो विचारपदारूढो भवति। तथाहि—सर्वत्र हि कारणपरिमाणादधिकं कार्यपरिमाणं भवति, तन्तुपटयोरिव। न च विभुभ्यो वर्णेभ्यः परिमाणाधिक्यं कस्यचित् सम्भवति। अतो नास्ति गोशब्दावयवी नाम कश्चिदिति। न च गगनगुणत्ववादिनां मते सम्भवति अवयवभाव इति वाच्यम्। गगनगुणत्वेऽपि अद्रव्यतया समवायिकारणत्वाभावेनावयवभावाऽभावात्। न च वायवीयपरमाण्वारब्धाः वर्णा इति वादिनां मते द्रव्यत्वेन परममहत्त्वाऽभावाच्च अवयवभावो भविष्यतीति वाच्यम्। वायवीयावयवारब्धवर्णवादिनामपि वर्णानामाशुतरविनाशितया परस्परमसम्भवतामवयव्यारम्भासम्भवात्। न च मा भूवन्ननेकेऽवयवभूता वर्णाः एकस्यावयविन आरम्भका, एक एव वा वर्ण एकं पदावयविनं मारभत इति वाच्यम्। नैव वर्णोऽवयविनमारभते, एकद्रव्यत्वात्, आकाशवत्–इत्यनुमानेन एकस्यावयवानारम्भकत्वात्।

नाऽपि वर्णाः पदानि वाऽस्य अवयवा अनुभूयमाना भवेयुरिति द्वितीयपक्षोऽपि समीचीनः, अनुभूयमानतयाप्यवयवभावस्यासहभावित्वादेवासम्भवात्। आशुतरविनाशित्वेनानुभवानामेतत्कर्मभूतानामपि तथात्वेन सहभावाभावात्।

स्यादेतत्—वर्णपदविभागशून्यमेव वाक्यम्, अर्थात् अनवयवमेव वाक्यं वाक्यार्थस्य वाचकमिति। पदं, वाक्यमिति प्रत्यक्षस्य तद्बोधकत्वात्। न तस्य विषयो वर्णाः, एकत्वनानात्वयोरसमवायात्। अतः सार्वजनीनमानसप्रत्यक्षप्रवेदनीयमिति। नान्यध्वनिभिः व्यंग्यमेकं स्फोटात्मकं तत्त्वं वाक्यार्थस्य वाचकमिति मन्तव्यम्।

तत्र ध्वनयः प्रत्येकमभिव्यञ्जकाः। न च प्रत्येकमभिव्यञ्जकत्वे द्वितीयादीनामानर्थक्यमिति वाच्यम्। व्यञ्जयन्तोऽपि हि प्रत्येकमिमे ध्वनयो न द्रागित्येव स्फुटतरं स्फोटात्मानमवभासयितुं समर्थाः। अपित्वारूपमवभासयन्ति। आरूपमित्यस्य ईषद्रूपमित्यर्थः। पूर्वपूर्वाभिव्यक्तिजनितसंस्कारसचिवोत्तराभिव्यक्तिक्रमेण त्वन्त्योध्वनिः स्फुटतरं विशिष्टस्फोटविज्ञानमाधत्त इति द्वितीयादीनां ध्वनीनां वैयर्थ्याऽभावात्।

नाऽपि पूर्वेषामपि वैयर्थ्यमाशङ्कनीयम्। तदभावे तदभिव्यक्तिजनितसंस्काराभावेनान्त्यस्य ध्वनेरसहायतया व्यक्त्यवभासवाक्यधीहेतुभावाभावात्। अतः पूर्वेषां वैयर्थ्यं न वक्तुं शक्यम्। तथा च ध्वनिव्यंग्यः स्फोटः वाक्यार्थवाचक इति। ननु लोके पदमिति वाक्यमिति व्यवहारो न वर्णातिरिक्ताखण्डस्फोटविषयकः, किन्तु वर्णविषयक एव, वर्णरूपानुविद्धत्वात् रूपान्तरानुभवभासाच्चेति चेत्? न। तस्य प्रत्ययस्य-वर्णविषयकत्वे वाक्यार्थोपपादनाभावात्। अतः पदमिति वाक्यमिति व्यवहारः स्फोटविषयक एव, न तु वर्णमात्रविषयक इति स्वीकर्त्तव्यम्। वर्णानां वाक्यार्थबोधकत्वासम्भवात्। तथाहि—ते वर्णाः प्रत्येकं वाक्यार्थबोधकाः, नागदन्ता इव शिक्यावलम्बनम्, मिलिता वा ग्रावाण इव पिठरधारणमिति द्वेधा विकल्पः प्रसरति।

तत्र न तावत् प्रत्येकम्; अनुपलम्भविरोधात् वर्णान्तरोच्चारणानर्थक्याच्च। नाऽपि मिलिताः तथाभावाभावात्। तथाहि-वास्तवः समूहस्तेषामाश्रीयते, अनुभवोपाधिको वेति? तत्र सर्वेषामेव वर्णानां नित्यतया विभुतया च संगतिरतिप्रसंगिनी केषाञ्चिदेव पदवाक्यभावं नापादयितुमर्हति। अनुभूयमानानां त्वनुभवानुसारिणी तत् पर्यायेण पर्यायवती न समूहभाग् भवति। न खल्वेकदेशकालानवच्छिन्नाः समूहवन्तो भवन्ति भावाः अतिप्रसंगात्। तथा च वर्णानां वाक्यार्थवाचकत्वं नैव सम्भवति।

न च पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितोऽन्त्यो वर्णः प्रत्यायकोऽर्थस्य, तथैव पदमिति वाक्यमिति च एकानुभवकल्पनेति, तथा स्फोटात्मकं तत्त्वं न स्वीकर्त्तव्यमिति वाच्यम्, विचारासहत्वात्। तथाहि—

संस्कारस्तावत् स्मृतिकारणीभूतो वा, अन्यो वा, प्रोक्षणादिभ्य इव व्रीह्यादेः।

नाऽन्त्यः, असहभुवां वर्णानामेकसंस्कारजनकत्वासम्भवात्। न च आग्नेयादिवत् सम्भवत्येव संस्कारव्यापकत्वमिति वाच्यम्? इह कार्यस्यान्यथासिद्धत्वात्। तत्र कार्यस्यान्यथासिद्ध्यभावेन कल्पनासत्त्यऽपि अत्र स्फोटात्मकेन वाक्येन कार्यसिद्धेः कल्पनायां प्रमाणाभवात्। अतोऽन्त्योऽपि पक्षो न सम्भावनापथारूढो भवति।

नाऽपि स्मृतिकारणीभूतः संस्कारोऽपि सम्भवति; स्वभावविपर्यासाऽनुपपत्तेः, अदृष्टान्तरकल्पनाप्रसंगाच्च। एवं प्रथमोऽपि न। अतः पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहितान्त्यवर्णस्यापि वाचकत्वं नैव संघटते। अतो ध्वनिव्यंगयस्फोटात्मकं तत्त्वं वाक्यार्थस्य वाचकमिति मन्तव्यम्।

न च पूर्वकल्पस्यासम्भवेऽपि स्मृतिसमारूढानां वर्णानां वाचकत्वमस्तु तथा गौरवाभावोऽपि; एवञ्च स्फोटात्मकमदृष्टं तत्त्वं न कल्पनीयमिति वाच्यम्, अक्रमानुक्रमविपरीतक्रमाणां तत्राऽविशेषेणार्थधीसमुत्पादप्रसंगात्। क्रमविशिष्टानां स्मरणासम्भवात्। तथा सरो-रसः, नदी-दीन इत्यादौ अविशेषेण अन्यस्य शब्दस्य अन्यार्थबोधप्रसंगात्। स्मृतिसमारोहिणां वर्णानामपि वाक्यार्थवाचकत्वं नैव संभवति। अतः पदमिति वाक्यमिति व्यवहारविषयत्वं न वाक्यार्थवाचकत्वञ्च स्वीकर्तव्यमिति वैयाकरणमततात्पर्यसंक्षेपः।

तदपि नैव समीचीनमिति अध्वरमीमांसकाः। तथाहि—निरूपयतु भवान् अत्र। पूर्वा बुद्धिरेकैकगोचरा, उत्तरा च विशदपदवाक्यावगाहिनी। किमेता गादिबुद्धयो गकारादिमात्रनिर्भासा, आहोस्विद् गकाराद्याकारं किञ्चिदेकमनाकारं आसु सम्प्लवते, मुखमिव मणिकृपाणदर्पणादिषु विभिन्नवर्णपरिमाणसंस्थानमेकम्, अन्यथा हि तत्र मुखमिति बुद्धिव्यपदेशावभिन्नवस्तुग्राहिणौ न स्याताम्। यदि न सम्प्लवते, तर्हि गादय एव परस्परं नानात्मानः प्रकाशन्ते, न पुनस्तदाकारं पदतत्त्वमेकम्। न हि कदाचिदपि गजगवयकरभरुरवः परस्परं व्यतिभिद्यमानमूर्त्तयो अवभासमाना रासभादिविवर्त्ता भवन्ति। तथा च न प्रथमपक्षः संभवति। एकपदतत्त्वस्यासिद्धेः।

नाऽपि द्वितीयः; तथाहि—सम्प्लवते चेत् तर्हि गकारादिषु भिन्नेष्वप्यभिन्नवस्तुनिर्भासा शब्दाः शब्द इति प्रख्या लौकिकपरीक्षकाणाम्। एवं सति शब्दतत्त्वमेव वाचकमर्थविशेषस्य स्यादिति। तथा च

सर्वत्राविशेषात् सर्वेऽर्थाः सर्वशब्देभ्यः प्रतीयेरन्। न खलु कारणानियमे कार्यभेदनियमो भवितुमर्हति, तस्याकस्मिकत्वप्रसंगात्।

ननु गकाराद्याकारभेदविवर्त्तं शब्दत्त्वमभिधेयभेदानां अभिधायकं स्यात्, तन्नातिप्रसङ्ग इति चेत्? न। प्राप्ताप्राप्तविवेकन्यायेन गादीनामेवाभिधेयधीहेतुत्वप्रसङ्गात्। अन्यथा सत्त्वगुणत्वादीनामपि तत्प्रसङ्गात्। एवमखिलमेव कार्यजातं सत्त्वसामान्यनिर्माणं प्रसज्येत।

अपि च शब्दत्वं चरमविज्ञान इव पूर्वेष्वपि प्रत्ययेषु प्रथत इति नास्ति तिरोहितम्। तथा च तेभ्योऽपि अर्थप्रतीतिप्रसंगात्। एतेन वर्णतत्त्वं वाचकमिति मतमपि परास्तं भवति, तथा नैव सम्भवति स्फोटात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य वाक्यार्थधीहेतुत्वमिति। न च पदमिति वाक्यमिति या अनुसंहारबुद्धिः लौकिकपरीक्षकाणां जायते, सा खलु न वर्णविषया, किन्तु वर्णातिरिक्तस्फोटाख्यशब्दात् तत्त्वविषयैवेति।

तथाहि—पदमितिवाक्यमिति या प्रतीतिः सा न निरालम्बना, नाऽपि वर्णावलम्बना, तेषां नानात्वात्। न च सेना-वनवत् औपाधिकी इति वाच्यम्? उपाधिः खलु एकविज्ञानविषयता वा भवेत्, एकाभिधेयप्रत्ययहेतुता वा। न तावत् प्रथमः पक्षः। अप्रतीतोपाधेरुपहितप्रत्ययायोगात्। स्वसंवेदनं संवेदनमनिच्छतामनुसंहारबुद्ध्या स्वरूपाग्रहणात् तदेकत्वाग्रहात् तदुपाध्येकपदप्रतिभासानुपपत्तिः। उत्तरस्मिन्नपि पक्षे परस्पराश्रयप्रसक्तिः। न खल्वविदितपदरूपावधिरर्थमवैति। अवध्यन्तरपरिग्रहे तत्त्वेऽपि वर्णानां तदर्थभेदानध्यवसायात्। तत्रार्थप्रतिपत्त्या पदरूपविशेषमुपकल्पयतोदुरुत्तरमितरेतराश्रयः प्रसज्येत। तथा पदमिति वाक्यमिति या प्रतीतिः सा वर्णमात्रविषयिका न सम्भवति। अतः स्फोटात्मकमेकं पदतत्त्वमुपगन्तव्यम्, तस्यैव वाचकत्वञ्चेति वाच्यम्। न वयं एकावभासप्रत्ययमेकवस्तुव्यवस्थितौ प्रमाणयामः, किन्तु व्यपदेशमात्रम्। भवति हि करितुरगरथपदातिषु चम्पकाशोकखदिरधवकिंशुकादिषु च नानात्वेपि कश्चित् उपाधिमाश्रित्य व्यपदेशो लौकिकानां सेनेति वनमिति च। न च तत् सेना वनं वा करिचम्पकाद्यनेकसमवाय्येकोऽवयवी प्रसिध्यति। तथैव गकारादयोऽपि पूर्वोपलब्धिविपरिवर्तिनो रूपादन्यूनानधिका एकस्यामेव स्मृतौ प्रथमानाः सत्यपि पदमिति व्यपदेशाभेदे नैकानुव्याधवन्तो भवितुमर्हन्ति। न च उपाधिविरहात् एकानुव्याधमुपकल्पयति व्यपदेशभेदमिति वाच्यम्? उपाधेर्विद्यमानत्वात्, इतरेतराश्रयापत्तेश्च। अस्ति खलु एकाभिधेयधीहेतुभावास्य त्रयाणामपि वर्णानामेकस्मरणसमारोहिणां ग्राव्णामिवैकपिठरधारणे यस्मात् पदमिति व्यपदेशस्तथा समवधृतैकाभिधेयधीहेतुभावनां च पश्चात् तेषां पदमिति व्यपदेशो नानुपपन्नः। अतः वर्णानां वाचकत्वेन स्फोटस्याकल्पनेऽपि पदमिति व्यपदेशस्य सम्भवात् नादृष्टस्य स्फोटस्य कल्पनं युक्तिमत्।

किञ्च अनंशस्य वैशद्यावैशद्ये न युज्येते। सामान्यविशेषतद्वतामनुभूयमानता हि वैशद्यं, सामान्यमात्रस्य विशेषमात्रस्य वा वेदनमवैशद्यम्। न च निखिलसामान्यविशेषविरहिणः स्फोटस्य अस्फुटस्य दर्शनमुपपद्यते। स खलूपलभ्येत, न वोपलभ्येत। न ह्यस्य दृश्यमानस्यास्ति किञ्चिददृश्यमानम्। न चास्ति सम्भवः; स एव तेनैव तदैव दृश्यते, न दृश्यते चेति। अतएव न समारोपः, सर्वथाऽननुभूते तदयोगात्। कथञ्चिदनुभवे च निरंशत्वानुपपत्तेरपसिद्धान्तप्रसंगात्। तस्मात् अनवयवमेव अनुभूयते पदतत्त्व मिति रिक्तं वचः। तथा नैव संभवति स्फोटस्यास्फुटस्य अदृश्यमानस्य वाक्यार्थबोधकत्वमिति। अतएव च 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति वन्ध्यापत्येतिवत् अनुपपन्नार्थवचनम् अननुभवात्। अनुभव एव हि प्रमाणमार्गगतो लोकः, तत्त्वावलोकनात्; न पुरुषप्रवादमात्रम्, वृथावादोऽपि हि सम्भवति, वटयक्षवत्। यदि त्ववश्योपपादनीयम्, ततो वरम्, शब्दशब्द-

लक्षितानां वर्णव्यक्तीनामेकस्मृतिसमारूढानामेकाभिधेयप्रत्ययोपजननलब्धसहभावानामभिन्नकारकावस्थोपपादिताभेदानामेकत्वादेकवचनमुपपन्नार्थं भविष्यति गोशब्दादिति। अपि च वर्णेभ्यो नाभिधेयप्रत्यय नोपपद्यते। ते हि गौरिति स्मृतिबुद्धौ एकस्यां विपरिवर्त्तमानाभिधेयप्रत्ययस्येशते। न चास्यां क्रमाक्रमविपरीतक्रमानुभूतानामविशेषो वर्णानाम्। प्राचीनानुभवभावितभावनानिचयलब्धजन्मास्मृतिरनुभवानुसारिणी तद्गोचरान् अक्रमानपि तत्क्रमेण क्रमवदनुभवकर्मतोपसृष्टान् अपर्यायमपि समाकलयन्तो अक्रमविपरीतक्रमानुभूतेभ्यो भिनत्ति। दरीदृश्यते हि नदी दीनेति स्मृतिधियोरभेदेपि वर्णरूपाणां विशदतरः पदभेदः। न चेदमनवयवपददर्शनमिति विनिवेदितम्। तदनुभवकर्मताक्रमः परमवशिष्यते। सोऽपि न्यूनातिरेकादिवदेकपदभेदावधारणोपायः। यथाहुरत्र भवन्तो वार्त्तिककारपादाः—

पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्व स्वरवर्णश्रुतिस्मृतीः॥ इति।

न च निरन्तरमतिसदृशस्वरबहुवक्तृप्रयुक्तेषु आनुपूर्व्यवत्सु समानस्मृतिबुद्धिसमारोहिषु अर्थप्रत्ययादर्शनात् व्यभिचारः समुचितः। एकवक्तृप्रयुक्तत्वे विशेषात्।

यथाऽऽहुः वार्त्तिककारचरणाः श्लोकवार्त्तिके—

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥ इति।

न चैतत् कल-कलश्रुतावशक्यज्ञानम् किमिव हि दुष्करमभ्यासस्य? यथाऽऽहुर्बाह्या अपि—

परेषामनुपाख्येयमभ्यासादेव जायते।
मणिरूपादिषु ज्ञानं तद्विदामानुमानिकम्॥इति।

तथा च अभिधेयप्रत्यय उपपद्यमानो नैवाज्ञातावयवमत्यन्ताननुभूतं पदतत्त्वमुपकल्पयितुमर्हति अतिप्रसङ्गसद्भावात्। न चाऽपि समभिव्याहृतपदाभिहितपदार्थप्रत्ययाधीनोत्पत्तिर्वाक्यार्थधीः अन्यथोपपद्यमानाऽनुभूयमानपरस्परव्यावृत्तमूर्तीनि पदानि अपह्नुत्य अत्यन्तापरिदृष्टं वाक्यमेकमनवयवमवगमयति। तत्सिद्धमेतत् अर्थापत्तेरनुमानस्य वा निवृत्तिस्तदेकगोचरपदवाक्यस्फोटावभासिनीति नानवयवमेकं वाक्यं वाक्यार्थस्य बोधकमिति। एतच्चाधुनिकै र्वैयाकरणैर्यत् स्फोटस्य निरूपणं महता संरम्भेण क्रियते, तदपि सूत्रवार्त्तिकभाष्यानारूढमेव। सम्प्रत्युपलब्धं प्रचलितञ्च व्याकरणं पाणिनिसूत्राधारमेव वरीवर्त्ति। तदाधारञ्च उक्तानुक्तदुरुक्तचिन्ताकरणरूपं कात्यायनीयं वार्त्तिकं वर्वर्त्ति। तानि वार्त्तिकान्यनुसृत्यैव महाभाष्यकारेण गम्भीरप्रसन्नपदसमुद्भासितं भाष्यं भाषितम्। तेषु तेषु च ग्रंथेषु वैयाकरणसम्मतानामनेकेषां विषयाणां सूक्ष्मरूपेण स्थूलरूपेण च प्रतिपादनमकार्षुस्ते। तत्र न स्फोटस्य नामापि कुत्रापि केनचिदपि गृहीतम्। अतः आधुनिकैर्वैयाकरणैः प्रकल्पितमिदं स्फोटतत्त्वं नैव वैयाकरणसम्मतम्, अपि तु आगमादिप्रतिपादिमिति। तस्मात् स्फोटतत्त्वपरिकल्पनं निष्प्रयोजनमेवेति शम्।

प्रणति-प्रसून-पद्यमालिका

के० सप्तर्षिः

षडदर्शनपरिशीलनजन्यनिरतिशयतत्त्वाधिगमसमुदितचित्तवैमल्यविभवानां, तत्तच्छास्त्रवाक्यतदर्थ-विचारसरणिमधुरिमास्वादजनितसमाह्लादनिर्भरहृदन्तरङ्गविवशीकृतविद्वत्सहृदयसन्दोहानां, विष्वग्विसर्पिस्वात्म-विभूतिमहिमसार्थीकृतविद्यासागरशास्त्ररत्नाकरादिबहुविधविरुदप्रथितनिजयशसां, कोमलमतिसुलभविकासनिमित्त-सरलमनोहरप्रवचनशैलीप्रकटितनिगूढशास्त्रतत्त्वार्थनिष्कर्षोपपादनपरिस्फुटप्रतिभापाटवावर्जितशिष्यवृन्दवन्दित-पदारविन्दानां, दयादाक्षिण्यादिसत्त्वगुणातिशयोपबृंहितस्वान्तःप्रतीकप्रतिबिम्बितचामीकरसवर्णवर्णविभूषितसुवि-ग्रहाणां, ब्रह्मश्रीयुतपट्टाभिरामशास्त्रिगुरुचरणानां, चरणनलियोः, कालिकाक्षेत्रवास्तव्यैः अन्तेवासिगणैः सप्रश्रयं सभक्तिश्रद्धं च समर्प्यमाणा प्रणतिप्रसूनपद्यमालिका ।

स्वब्रह्मवर्चसससमेधितवक्त्रशोभान् मेधाविलासविलसत्करुणाकटाक्षान् ।
हैयङ्गवीनहृदयोदितसूक्तिरत्नान् अस्मद्गुरून् सविनयं वयमानतास्स्मः ॥ १ ॥

कूलङ्कषं हि निगमेषु सुबोधमेषां शिष्या वयं समनुभूय नितान्तधन्याः ।
उच्चैः पदानि विरुदांश्च सभाजयित्वा पट्टाभिरामगुरवो विलसन्ति सन्तः ॥ २ ॥

विद्वत्सभासु बृहतीषु विमर्शकत्वं विद्यालयेषु च महत्सु महागुरुत्वं ।
बालेष्वपीह दयया निजदेशिकत्वं संगृह्य नो गुरुवराः प्रथयन्ति बोधम् ॥ ३ ॥

ग्रन्थान् बहून् सुविरचय्य नवीनसारान् गद्यस्वरूपविनिबन्धनशोभमानान् ।
पद्यादिकं बहुविधं कवयन्ति हृद्यं साहित्यगीतिरसिका गुरवो महान्तः ॥ ४ ॥

विद्वत्तमत्वविभवेऽपि न विस्मितास्ते सम्पत्सभाजनविधौ गुरवो न सक्ताः ।
आप्तेषु वा तदितरेषु तटस्थभावा अत्युत्तमाः खलु समस्तदशासु तुल्याः ॥ ५ ॥

आचार्यभक्तिभरिता जगतां गुरौ च श्रद्धातिरेकसहितांस्तु तथा नयन्तः ।
शास्त्रीयकर्मसु शुभेऽपि च शिष्टमार्गे स्वात्मप्रवृत्तमनसो गुरवो विभान्ति ॥ ६ ॥

गूढार्थमाकलयतां गुरुदेशिकादेः शब्दस्य नः सुकृतिनां बहुभाग्यमेतत् ।
यत्तादृशा गुरुवरा इह राजमाना स्तन्वन्ति मङ्गलफलप्रददर्शनं च ॥ ७ ॥

सविनयनतिरास्तां पादयोस्सद्गुरूणां विहरतु मन एतत्तद्गुणेषूत्तमेषु ।
कियदपि सुगृहीतं ज्ञानमेभ्यः समृद्धं पुनरपि नुम एतान्भूयसेऽनुग्रहाय ॥ ८ ॥

शरण्ययोःस्वशिष्याणां गुरुपादसरोजयोः ।
सप्तर्षिणाऽधमर्णेन ह्यर्प्यते पद्यमालिका ॥ ९ ॥

॥ श्रीः ॥

स्फोट-विवेचनम्

डा० बाल-शास्त्री, व्याख्याता, संस्कृत-विभाग, सागरविश्वविद्यालय, सागर,

सुविदितचरमेवैतत्समेषां विदुषां यद् व्यवहारैकप्रधानेऽस्मिन् संसारे बालाः, वृद्धाः, युवानः, विद्वांसो विचारकाः, नागरिका ग्रामीणा श्चैवैते सर्वेऽपि स्वाभिप्रायस्य परस्परमादानप्रदानाय शब्दमेव सहायकत्वेनाश्रयन्ते। यदि नाभविष्यत्सर्वजनव्यवहारसम्पादनहेतुः परस्परसंयोजकमिदं शब्दतत्त्वं लोके तदा न कोपि कस्यापि अभिमतं हृद्गतं भावं कात्स्र्न्येन अध्यगमिष्यत्, न वा कोपि केनापि सह सम्बद्धोप्यभविष्यत्, अज्ञान-गाढान्धकारे लीनं विश्रृङ्खलमेवेदं जगत् स्यात्। तथा चोक्तं काव्यादर्शे महाकविना दण्डिना :—

इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्। यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते इति।

वाक्तत्त्वरूपशब्दज्योतिःप्रकाशितसर्वमार्गाः पुरुषाः संसारेऽस्मिन्नासते, परस्परं व्यवहरन्ति, स्वीयं कार्यमभिलषितं सम्पादयन्ति च। यथा हृ भगवती श्रुतिः—

अस्तमिते आदित्ये, चन्द्रमस्यस्तमिते याज्ञवल्क्य ! शान्ते चाग्नौ, किं ज्योतिरयं पुरुषः वागेवास्य ज्योतिर्भवति, वाचैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते, पल्ययते, कर्म कुरुते ...याज्ञवल्क्य ! बृ० उप० ४।३।५। तथा च दीपज्योतिः स्वनिष्ठप्रकाशनशक्त्या घटपटादीन् जागतिकान् विषयान् प्रकाशयति यथा, तद्वत् शब्दोपि स्वनिष्ठया शक्त्या स्वसम्बद्धानर्थान् बोधयति। तदेवं वाच्यवाचकभावापरपर्याय-शक्तिरूप-सम्बन्धाश्रयत्वेन शब्दो वाचकः, अर्थश्च वाच्यः। शब्दनिष्ठा चेयं शक्तिर्ज्ञाता सत्येवार्थबोधप्रयोजिका, न वस्तुसतीति, श्रोतृणाम्मध्ये अगृहीतशक्तिकस्य पुंसो बोधादर्शनाद् गृहीतशक्तिकस्यैव बोधोदयादन्वय-व्यतिरेकेण 'तत्पदजन्य-तदर्थविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तत्पदनिष्ठवृत्तिज्ञानाधीन-तदर्थविषयिणी उपस्थितिर्हेतुः, इति कार्यकारणभावः कल्प्यते। तथा चोक्तम् :—

पदज्ञानन्तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः। शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीस्सहकारिणी ॥ इति।

भट्टनागेशास्तु 'तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति स्वविषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्य-स्वाश्रयपदविषयकत्वेतिवैशिष्ट्यनियामक-सम्बन्धाभ्यां तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं (शब्दादर्थबोधे) कारणमाहुः।

तथाचेदृशकार्यकारणभावस्वीकारे अगृहीतशक्तिकस्य श्रोतुर्नैव शब्दादर्थबोधो, नापि विस्मृतवृत्तिकस्य। कारणदले वृत्तिज्ञाने तद्धर्मावच्छिन्नेति विशेषणाद् गुडपदान्मधुरत्वप्रकारको गुडविशेष्यकश्च बोधो न, गुडे गुडत्वावच्छिन्नगुडरूपार्थनिरूपिताया एव शक्तेःसत्वात्। कार्यदले शाब्दबोधे तद्धर्मावच्छिन्नविषयकत्वेति विशेषणाद् वैपरीत्येन गृहीतशक्तिकस्य पुंसो घटपदाद् घटत्वप्रकारको घटविशेष्यकश्च शाब्दबोधो न। यत्प्रकारको यद्विशेष्यकश्च शक्तिग्रहः, शाब्दबोधोपि तत्प्रकारकस्तद्विशेष्यक एव जायते नान्यथा इति नियमात्। ज्ञाने शक्तिवैशिष्ट्यबोधक-स्वाश्रयपदविषयकत्वेति-सम्बन्धदानात् घटरूपार्थनिरूपितशक्तिविषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्यस्य ज्ञाने सत्यपि घटपदमश्रुतवतो न घटरूपार्थविषयकः शाब्दबोधः। तस्य ज्ञानस्य शक्त्याश्रयपदविषयकरूपार्थजनकत्वेनोपस्थितस्य कुलालादेश्च न शाब्दबोधविषयता, गगन-कुलालादिविषयकज्ञानस्य गगनत्व-कुलालत्वाद्यवच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टत्वाभावात्। एकसम्बन्धिज्ञानम् अपरसम्बन्धिस्मारकमितिविधया घटपदसमवायित्वेनोपस्थितस्य गगनस्य घट- शक्त्या समुपस्थापितस्यैवार्थस्य शाब्दबुद्धिविषयत्वात्।

अथ शक्त्याश्रयः कः

तत्र को नाम शक्त्याश्रयः ? न खलु तावद् वर्णा 'घट' इतिपदावयवीभूताः प्रत्येकं पर्याप्त्याख्य-सम्बन्धेन सम्भवन्ति शक्त्याश्रयाः, एवं सति प्रथमवर्णेनैवार्थबोधसम्भवे अवशिष्टान्यवर्णोच्चारणस्य वैयर्थ्यमापद्येत। नापि 'घट' इति समुदिताश्चत्वारोपि वर्णाः, वर्णानां स्वोच्चारणाधिकरणकालोत्तरकालवृत्तिध्वंस-प्रतियोगितया आशुविनाशित्वेन यौगपद्यासंभवेन 'घट' इति वर्णसमुदायपदस्यैककालवृत्तित्वाभावात्। वर्णा-नित्यतावादिनये तदुत्पत्तेः, वर्णनित्यतावादिनये तदभिव्यक्तेश्च क्षणस्थायित्वात्। किञ्चैवं वर्णानां क्षणिकत्वेन नष्टस्य वर्णस्य प्रत्यक्षज्ञानविषयभूतार्थबोधकेन 'इदम्' शब्देन परामर्शासम्भवेन, अयं पूर्वोवर्णः, अयं च परः इतिव्य-वहारानुपपत्तौ 'इको यणचि' इत्यादिशास्त्रीयविषयताया एवोच्छेद आपद्येत। पूर्ववर्णस्थितिकाले एव द्वितीयवर्णो-त्पत्तिस्वीकारेण नायं दोष इति तु नैव वाच्यम्। एकैकवर्णवर्तिनी वाङ् न द्वौ युगपदुच्चारयति। गौरिति यावद्ग-कारे वाग्वर्त्तते, नौकारे, न विसर्जनीये, यावदौकारे, न गकारे, न विसर्जनीये, उच्चरितप्रध्वंसित्वात्। ऊच्चरित-प्रध्वंसिनः खल्वपि वर्णाः। उच्चरितः प्रध्वस्तः' इति परः सन्निकर्षसूत्रस्थभाष्येण सह विरोधापत्तेः। येनैव प्रयत्नेनैको वर्ण उच्चार्यते, विच्छिन्ने वर्णे, उपसंहृत्य तमन्यमुपादाय द्वितीयः प्रयुज्यते, तथा तृतीयस्तथा चतुर्थः इति तत्सूत्रस्थादस्मादपि भाष्यात्प्रथमवर्णनाशोत्तरमेव द्वितीयवर्णस्योत्पत्तिरिति सिद्धान्तस्यैव लाभात्।

न च पदविषयकश्रावणप्रत्यक्षजनितसंस्कारविशेषवशादुत्तरवर्णप्रत्यक्षकाले अव्यवहितोत्तरत्वसम्ब-न्धेन पूर्ववर्णवत्वं तदुत्तरवर्णे सूपपादमेवं तदुत्तरवर्णप्रत्यक्षावसरे-स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन उपस्थितो यः प्रथमवर्णविशिष्टो द्वितीयो वर्णः, तद्वत्वमपि तेनैव स्वाव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेन तृतीये वर्णे, तथैव चावशिष्टेषु वर्णेष्विति रीत्यैां पदप्रत्यक्षोपपत्तिः, सरो रसः, नदी दीनः, इत्यादौ विशेषावगतिश्च सिद्धेति न तस्य शक्त्या-श्रयत्वे किमपि बाधकम्। अथ वा शब्दजशब्दन्यायेन पूर्व-पूर्व-वर्णजाः शब्दा अन्तिमवर्णप्रत्यक्षपर्यन्तं जायमाना एव भवन्तीति न पदप्रत्यक्षानुपपत्तिरिति वाच्यम्।

प्रथमपक्षे नष्ट-विद्यमानयोर्वर्णयोरव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धस्य वक्तुमशक्यत्वात्, अयं पूर्वोऽयं पर इत्यभिलापासंभवाच्च। द्वितीयपक्षेऽपि शब्दजशब्दन्यायेनैककालावच्छेदेनैव सकलवर्णोत्पत्तौ वर्णानाम्पूर्वा-परीभावज्ञानस्यासंभवात्। किञ्चैत्रं रीत्या पदबोधस्य कथं चिदुपपादनेऽपि, वस्तुतः पदस्य नष्टत्वेन अविद्यमान-त्वात्तत्र शक्त्याश्रयताया असंभवात्। अविद्यमानस्यापि घटपदस्य शक्त्याश्रयत्वस्वीकारे तु नष्टो घटो जलवान्' इति ज्ञानस्यापि प्रमात्वापत्तिः, त्वन्मतानुसारं नष्टे जले आश्रयतानिरूपकत्वस्य, नष्टे घटे च आश्रयत्वस्य सद्-भावे बाधकाभावात्।

अपि चैवं वर्णसमूहरूपपदानां पदसमूहरूपवाक्यानामभावेन तेषां तदर्थैः सह सम्बन्धासम्भवेन राद्धान्तसिद्धस्य शब्दार्थयोर्नित्यसम्बन्धस्यैवाकाशकुसुमायित्वे 'सद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे' इति मुनिवचनविरोधापत्तेः। एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीभर्तृहरिणा :—

'अशाब्दो यदि वाक्यार्थः, पदार्थोऽपि तथा भवेत्।' इति।

अनित्यत्वपक्षे पदसमुदायरूपवाक्यस्याभावाद् यदि वाक्यार्थत्वेनाभिमतः संसर्गः अशाब्दः शक्त्या-ख्यसम्बन्धेनासम्बद्धोऽपि शक्त्याऽनुपस्थितोऽपि भासते, तदा पदार्थोऽपि तथा अशाब्दः किन्न स्वीकृतः स्यादिति कारिकार्द्धस्याऽस्यार्थः।

अन्यच्च उक्तपक्षद्वयेऽपि 'घट' इति वर्णसमुदाये एकमिदं पदम्, कालान्तरे पुनरुच्चारिते 'कृष्ण' इति पदे च 'तदेवेदं पदम्' इतिसार्वजनीनानुभवस्य, प्रत्यभिज्ञायाश्च अनापत्तेः। 'घट' इति वर्णचतुष्टयस्य एकबुद्धिविषयत्वेन बुद्धिगतमेकत्वं वर्णेष्वारोप्य 'एकं पदमितिबुद्धेः, कालान्तरे समुच्चारिते च कृष्णपदे एक-

जातीयबुद्धिविषयत्वसत्त्वेन तदेवेदं पद मिति प्रत्यभिज्ञायाश्च सम्पादनं तु न सम्भवि, एकबुद्धिविषयभूतेषु तन्तुषु बुद्धिगतैकत्वारोपेण 'एक' इति व्यहारोपपत्तौ तदर्थं अवयवातिरिक्तस्य अवयविनः पटस्य कल्पनं व्यर्थतामावहेत् । तदेवेदं पदमिति सर्वसम्मतप्रत्यभिज्ञास्थले तज्जातीयमिदं पदमितिबुध्यापत्तेः । एतेन पूर्वंनखादिनाशोत्तरं पुनरुत्पन्ने नखादौ, सादृश्यात्तदेवेदं नखं, त एवेमे केशाः, इति प्रत्यभिज्ञावत् सादृश्यादत्रापि तदेवेदं पदमिति स्यात्प्रत्यभिज्ञेति समाधानमपि निरस्तम् । नख-केशादिस्थले स एवायं नखः, तादृश एवायं नखः इत्युभयविधबुद्धेः यथावसरं बोधवैशिष्ट्यात्सम्भवेऽपि पुनरुच्चारितपदस्थले तदेवेदं पदमिति प्रत्यभिज्ञाया एव नियमेनोदयस्यानुभवसिद्धत्वात् ।

किं च एकबुद्धिविषयत्वेन वर्णसमुदाये कथंचिद् एकं पदमिति बुध्युपपादनेऽपि बुद्धेः प्रतिव्यक्ति भिन्नतया तद्विषयीभूतघटादिपदानामपि नानात्वापत्तौ, कुत्रचिद् घटपदे शक्तिग्रहे जातेऽपि सर्वत्र घटादिपदेषु शक्तिग्रहासम्भवेन तादृशशब्दाच्छाब्दबोधे व्यभिचारः, व्यक्तिवाद इव आनन्त्यापत्तिश्च स्याताम् । न च अनेकबुद्धिविषयघटादिपदानां नानात्वेऽपि तादृशघटादिपदनिष्ठाया आनुपूर्व्या एकत्वेन, तस्या एवानुपूर्व्याः शक्ततावच्छेदकत्वस्वीकारान्न कश्चन दोष इति वाच्यम् । अव्यवहितोत्तरत्वस्य तत्तत्कालघटितत्वेन आनुपूर्व्या अपि प्रत्युच्चारणं भिन्नतया पूर्वोक्तदोषतादवस्थ्यात् । कालभेदभिन्नाया आनुपूर्व्या एकेन तज्जातीयाव्यवहितोत्तरत्वेन अनुगमोऽपि अनुगतस्य तज्जातीयत्वस्य दुर्निर्वचनत्वेनाशक्यः । ननु घटपदनिष्ठा घकारज्ञानध्वंसविशिष्टाकारज्ञानध्वंसविशिष्टटकारज्ञानध्वंसविशिष्टाकारज्ञानविषयत्वरूपा एका एव आनुपूर्वी, तस्याश्च शक्ततावच्छेदकत्वस्वीकारः सर्वं निरवद्यमेवेति चेन्न । ज्ञानव्यक्तिभेदेन तस्या अपि नानात्वात् । शक्यतानिरूपितशक्ततावच्छेदकतया, शाब्दबोधरूपकार्यनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावच्छेदकतया वा सिद्धानां चरमवर्णव्यङ्ग्यानां घटादिसकलतत्तत्पदवृत्तीनामनन्तानां जातीनां स्वीकारे तु अनन्तजातिस्वीकार एव दोषः । अपि च पदानामसत्यत्वेन तत्र जात्याश्रयत्वस्याप्यनुपपत्तिः, वृत्याश्रयत्वासंभवश्चेति चेद् अत्रोच्यते—

स्फोट एव शक्तेराश्रयः

परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी इत्येवं प्रसिद्धासु चतसृषु वाक्षु विद्यमानाया मध्यमावाचो यो नादांशः शब्दब्रह्मापरनामधेयः वैयाकरणनिकाये 'स्फोट'[1] इति नाम्ना प्रसिद्धो यः, स एव वाच्यवाचकभावरूपशक्तेराश्रयः, स एव च वैखरीवाग्विषय क-ख-गादिध्वनिव्यङ्ग्यः सन् घटपदादिरूपार्थानां वाचकः । अयं च स्फोटः एकः, अखण्डः, नित्यश्च । तथाचैकत्वान्न शक्तिग्रहासंभवः, न च व्यभिचारो नापि आनन्त्यकल्पनागौरवम् । नित्यत्वाच्च नास्य शक्त्याश्रयत्वे किंचिद् बाधकम् । न वा शब्दार्थसम्बन्धहानिः मुनिवचनविरोधश्चेति सर्वमेव समञ्जसम् स्फोटवादिनां मते । तथा चोक्तं श्रीनागेशभट्टेन मञ्जूषायाम्—

'तत्र मध्यमायां यो नादांशः, तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः ।' इति ।

नचास्य स्फोटस्य एकत्वे कत्व-खत्व-गत्वादिना भानानुपपत्तौ ततो बोधानुपपत्तिः, नित्यत्वे च सर्वदैवार्थबोधापत्तिः, उत्पन्नोगकारो नष्टोगकार इति प्रतीत्यनुपपत्तिश्चेति वाच्यम् । वैखरीवाग्विषयध्वनिरूपवर्णव्यञ्जकधर्मरूषितस्यैव तस्याभिव्यक्तेः स्वीकारेण एकस्यापि तस्य नानात्वेन प्रत्ययसंभवात् । एवमनेककालिकतत्तद्वैखर्यभिव्यक्ते एकस्मिन्नपि स्फोटे औपाधिकनानात्वप्रतीतावपि तदनुगमाय जातेराश्रयणं तु नावश्यकम् ।

---

१. स्फुटति = वाच्यतया बुद्धिविषयो भवति घटपटादिरूपोऽर्थः यस्मात्स 'स्फोटः' अर्थात् वाचकः शब्दः । स्फुट्यते वैखरीवाग्विषयवर्णरूपध्वनिभिरभिव्यक्तो भवति यः स स्फोटः अर्थात् तत्तद्ध्वनिरूपवर्णव्यङ्ग्यः, (न तु ध्वनिवाच्यः) इति भावः । तत्तद्ध्वनिवर्णाभिव्यक्तः सन्नर्थमभिदधाति स्फोट इतियावत् ।

अभिव्यञ्जकनानात्वेन अभिव्यङ्ग्यस्य नानात्वे मानाभावात्। अन्यथा अनेकदीपकाभिव्यक्तस्यैकस्य घटादेरपि नानात्वापत्तिः। व्यंजकवर्णाभावदशायां नास्याभिव्यक्तिरिति न स्फोटस्य स्वातन्त्र्येण प्रत्ययः। व्यंजकध्वनिगता-नित्यत्वस्यात्रारोपादुत्पन्नोगकारो नष्टो गकार इति जायते बुद्धिः। व्यंजकध्वनेर्नाशान्न सर्वदा बोधप्रसक्तिरिति समाधानसत्वात्।

नन्वेवं पर्यायस्थले घटपदाभिव्यक्ते स्फोटे गृहीतशक्तिकस्य पुंसः कलशपदश्रवणेपि अर्थबोधापत्तिः शक्तिग्रहाभावेपीति चेन्न। व्यञ्जकरूपरूषितस्यैव तस्य स्फोटस्य अर्थे संकेतग्रहेण व्यंजकसमानाकाराभिव्यक्तस्फोटे एव शक्तिग्रहेण दोषाभावात्। यतोस्य आन्तरत्वेन श्रोत्रग्राह्यवैखरीसंस्कृतान्तःकरणग्राह्यत्वात्।

अष्टौ स्फोटाः

तस्य चास्य शब्दब्रह्मरूपस्य स्फोटस्य वस्तुत एकत्वेऽपि व्यवहारावस्थायामुपाधिकृता भेदा अष्टौ जायन्तेऽत्र। तथा हि व्यक्तिपक्षे १, अखण्डवर्णस्फोटः, २, अखण्डपदस्फोटः, ३, सखण्डपदस्फोटः, ४, अखण्डवाक्य-स्फोटः, ५ सखण्डवाक्यस्फोटः, इति पञ्च स्फोटाः। जातिपक्षे च १. अखण्डवर्णस्फोटः, २. अखण्डपदस्फोटः, ३. अखण्डवाक्यस्फोटः इति त्रयः, संकलनया ५+३=८ अष्टौ। तत्र शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहको वर्णस्फोटः, प्रकृतिप्रत्ययास्तत्तदर्थवाचका इति तदभिप्रायः। वर्णस्फोटश्च अखण्डएव भवति, उभयपक्षे। जातिरखण्डैव भवतीति जातिपक्षे वर्ण-पद-व्याक्यस्फोटा अखण्डा एव। व्यक्तिपक्षे पदवाक्ययोः सखण्डत्वमपीति ध्येयम्। एतेषु स्फोटेषु वाक्यस्फोट एव मुख्यः, लोके तस्यैव अर्थबोधजनकत्वात्, तेनैवार्थसमाप्तेश्चेति संक्षेपः।

———

पण्डित-प्रवराचार्य-पट्टाभिरामशास्त्रिणां किञ्चिदविस्मरणीयं संस्मरणम्

पण्डित आद्याचरण झा, विहारराज्यस्य संस्कृत शिक्षाया निरीक्षकः

सर्वप्रथमं १९६० ईसवीये वर्षे कलिकातामहानगर्यामखिलभारतं.यसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनाधिवेशनावसरे विद्वज्जन-शिखामणिना पण्डितप्रवर-श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणा साकं परिचयस्य वार्तालापस्य शुभावसरोजातः।

पूर्वश्रुतादप्यधिकं वैदिकाचारपरिपूतं तं पण्डित-प्रवरं दृष्ट्वा यथार्थतः श्रद्धावनतोऽहमभूवम्।

तथैव च सर्वप्रथमं कर्तव्यनिष्ठमविश्रान्तपरिश्रमिणं भविष्णु विद्वाँसं डॉ० मण्डनमिश्रमहोदयमपि महाधिवेशनस्य विविधकार्यव्यवस्थायां संलग्नं दृष्टवान्। तत्र डॉ० मिश्रमहोदयेन साकमपि परिचयो जातः, यश्च क्रमशः सुदृढस्नेहपूर्ण-सख्यभावे परिणतः।

तदनन्तरं क्रमशोऽखिल-भारतीय-प्राच्यविद्यामहासम्मेलनस्य उज्जैन-कुरुक्षेत्र-धारवाड—(कार्णाटक)-नगरेषु तत्रतत्र सुसम्पन्नेऽधिवेशनेऽपि प्रायः सर्वत्राचार्यप्रवराणां दर्शनं जातम्। क्रमशः यदाकदा शास्त्रीयचर्चाऽपि संजाता। कुरुक्षेत्राधिवशने ते आचार्यप्रवरा एव पण्डित-परिषदोऽध्यक्षाः आसन्।

यत्राहमपि स्वकीयं शास्त्रीय-निबन्धं पठितवान्। तत्रैवाचार्यप्रवरः गम्भीरविद्वत्तापूर्णे स्वकीयाध्यक्षीय-भाषणेऽभिज्ञानशाकुन्तलनाटकऽन्यस्यामपि कालिदास-रचनायां मीमांसाशास्त्रीयसिद्धान्त-परम्परां—सप्रमाणं प्रदर्श्य समुपस्थितविद्वज्जनांश्चमत्कृतवन्तः।

सर्वे तेषां गम्भीरवैदुष्यस्य भूरिशः प्रशंसां कृतवन्तः स्तब्धाश्च संजाताः।

१९७६ वर्षे जमशेदपुर—लौहनगर्यां प्रातःस्मरणीयाः काञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वराः पूज्यश्रीशङ्कराचार्य-चरणाः स्थिता आसन्। विभिन्नविद्यालय-निरीक्षणक्रमेऽहमपि-तत्र लौहनगर्यां प्राप्य तत्रभवतां श्री शङ्कराचार्य-चरणानां दर्शनार्थं गतवानासम्। सौभाग्येन तत्र श्रीमन्तः पट्टाभिरामशास्त्रिमहाभागा अपि समुपस्थिता आसन्। तत्रापि तैः साकं विविधशास्त्रीयचर्चा संजाता।

प्रातः स्मरणीयानां श्रीमतां शङ्कराचार्यमहाभागानां मयि महतीमनुकम्पां दृष्ट्वा आचार्यप्रवराः परमां प्रसन्नतां प्रकटितवन्तः सन्तोषं चाधिगतवन्तः—इति स्पष्टं तेषां श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिमहोदयानां मां प्रति वात्सल्यस्य परिचायकः।

आचार्यपट्टाभिरामशास्त्रिसदृशो विद्वान् यदा कदा कियानेव जायते। यतो हि **स स्वर्णपात्रे स्थितं गङ्गाजलमिव वर्तते**, यत्र व्याकरण-दर्शन-साहित्य-मीमांसादिशास्त्राणां गम्भीर-पाण्डित्यं वर्तते, तत्रैव सर्वथा सर्वदा च वैदिकाचारेण तपः-पूतता च दृश्यते।

वैदुष्याचारयोः शुभसंयोगः स्वर्णे सुगन्धिरिव प्रतीयते। व्यक्तित्वस्यायं गरिमा सदाऽविस्मरणीयोऽस्ति।

यद्यपि मयि तादृशं ज्ञानं न वर्तते येन एतेषां महाविदुषां वैदुष्यं पूर्णरूपेण ज्ञातुं शक्नुयाम्, किन्तु तेषां पाण्डित्येन व्यक्तित्वेन च प्रभावितास्तु वर्तामहे एव वयमत्र न काचिद्विमतिः।

स्वल्पेनानेनश्रद्धापूर्णवचसा आचार्यमहाभागानां हार्दिकमभिनन्दनं कुर्वन् तेषां **बलपुष्टियुक्तदीर्घायुषे भूतभावनं भगवन्तं मृत्युञ्जयं भगवतीं सीतां** च प्रार्थये।

———

प्रकामकामरूपे भट्टपत्नीप्रमादः

आचार्यमनोरञ्जनशास्त्रिविरचितः

भगवत्-कुमारिलभट्टपादविषये जनश्रुतिरेषा स्मरणातीतकालात् लोकपरम्परयाऽसमीयजनतासु-प्रचलिता ग्रामवृद्धमुखादस्माभिरधिगता यथाश्रुतमत्र पद्येषु सन्निबद्धा निवेद्यत इतिज्ञेयम् ।

हयास्यरूपो भगवान् मुरारिः सार्द्धं श्रिया देवगणान्वितश्च ।
अधिष्ठितो वैदिकधर्मगुप्त्यै प्राग्ज्योतिषान्तर्मणिकूटशैलम् ॥ १ ॥
अधीतिबोधाचरणैः श्रुतेश्च द्विजाग्रणीर्ब्रह्मकुलाब्धिजातः ।
गुणान्वितस्तत्रकणादभट्टः सविग्रहो धर्मइवावतीर्णः ॥ २ ॥
तस्यानुजोऽभूत् किल धर्मकीर्त्तिः कीर्त्त्यान्वितो धर्मइवार्थहेतुः ।
आन्वीक्षिकीशास्त्ररहस्यविद्यः पारङ्गतो वेद-षडङ्गवेत्ता ॥ ३ ॥
स श्रौतधर्मं परिहृत्य काले लोकापवादव्यथितान्तरात्मा ।
बुद्धोपदिष्टं किल मोक्षमार्गम् आस्थाय देशान्तरमभ्यगच्छत् ॥ ४ ॥
स बौद्धसङ्घं शरणं प्रपद्य तद्धर्मतत्त्वं प्रतिपद्य सम्यक् ।
बोधिं समासाद्य यशःप्रकाशैरालोकितो लोकगुरुर्बभूव ॥ ५ ॥
कलेर्बलं प्रादुरभूत्तदानीं पाषण्डिभिर्खण्डितवेदवादः ।
लोकस्तदालोकचयाद्विमुक्तो मोहाकुलोऽभूत्तमसावृतश्च ॥ ६ ॥
कणादभट्टस्य तदा प्रजातः प्रजापतेस्तेजइवात्मजो यः ।
स्वतेजसा लोकमिमं विजित्य न्यवारयद् वेदविरुद्धवादान् ॥ ७ ॥
रिरक्षिषुर्वेदमसौ महात्मा कुमारिलो नाम कुमारतेजाः ।
पादावतारः प्रथमस्तु विष्णोस्त्रिविक्रमस्यैव समुद्बभूव[1] ॥ ८ ॥
स भट्टपादः प्रथितः पृथिव्यां भट्टाख्यया वा समकेति कैश्चित् ।
आचार्य इत्येव स कीर्त्तितोऽन्यैः कुमारिलस्वाम्यभिधः स एव ॥ ९ ॥
अभूत्तदाभास्करवर्मनामा राजा कुमारोऽपि च कीर्त्तितो यः ।
द्विधा विभक्तो हि स कार्त्तिकेयो मतः कुमारश्च कुमारिलश्च ॥१०॥
सहायमासाद्य कुमारराज मुत्सादयन् वेदविरोधिनः सः ।
कुमारिलः प्रज्वलितो बभूव स्वतेजसा वातयुतो यथाग्निः ॥ ११ ॥

---

१. कामरूप-केरल-काश्मीराख्यं प्रदेशत्रयं त्रिककारं ककारत्रयमिति च संकेतितं भवति । भगवती कुलदेवी यथाक्रमं कामाख्या-कुमारी-शारदेति त्रिरूपासती तत्ककारत्रयमधितिष्ठति । तत्र प्रथमककारे कामरूपे भगवद्भट्टपादः, द्वितीय-ककारे केरलखण्डे श्रीशङ्करभगवत्पादः, तृतीयककारे काश्मीरप्रदेशे च आचार्याभिनवगुप्तपाद इति भगवतः त्रिवि-क्रमस्य पादत्रयं यथाक्रममवतीर्य वेदेन कौलागमस्याविरोधमुपपाद्य कौलज्ञानस्य वैदिकतां समपादयदिति साम्प्रदायिकी प्रसिद्धिः ।

२. यद्यपि जनश्रुतौ कुमारिलभट्टसहायभूतस्य राज्ञो नामोल्लेखो न श्रूयते तथापि भट्टपाद-भास्करवर्मणोः समकालीनत्वात् कविना तदनुमाय समुल्लिखितमिति मन्तव्यम् ।

असौ कुमारः किल कौलविद्यां प्रक्षिप्तवान् मत्स्यमुखे समुद्रे ।
तां मत्स्यकुक्षेरथमीननाथो सञ्जगृहे धीवररूपधारी ॥ १२ ॥
वेदार्णवे क्षिप्तमथात्मसात्कृतं वेदानुगैः कौलमतं समीक्ष्य तत् ।
मत्स्येन्द्रनाथः पुनरुद्दिधीर्षया ब्राह्मण्यमुत्सृज्य च धीवरोऽभवत् ॥१३॥
कुमारराजप्रणयेन बद्धः कुमारिलो राजकुलं प्रपन्नः ।
अभ्यर्थनाभङ्गभयेन राज्ञः सभासदत्वेऽप्यभवन्नियुक्तः ॥ १४ ॥
राजाज्ञया कार्यवशात् कदाचित् भार्यामविज्ञाप्य गृहस्थितां सः ।
बहिर्गृहं राजभटैः समेतो राज्यान्तरं राजपुरात् प्रतस्थे ॥ १५ ॥
नृपस्ततः शाकटिकं नियोज्य द्रव्यैः सभोज्यै विविधोपहारैः ।
सम्भृत्य पूर्णं शकटं प्रदाय भट्टस्य पत्नीं प्रतिसन्दिदेश ॥ १६ ॥
आदाय तच्छाकटिकस्तरस्वी निकेतनं प्राप्य कुमारिलस्य ।
न्यवेदयद्द्रव्यचयं समग्रं प्रणामपूर्वं किल भट्टपत्न्यै ॥ १७ ॥
व्यजिज्ञपद् राजप्रसादमस्यै भर्त्तुश्च सन्देशकथां क्रमेण ।
आचार्यभार्याऽप्यभिनन्द्य सर्वं प्रसाद्य तं शाकटिकं बभाषे ॥ १८ ॥
युक्तं त्वदुक्तं नृपतेश्च कार्यं कृतं त्वया साधु न संशयोऽत्र ।
द्रव्याणि किन्त्वत्र बहूनि कुट्यां न चावकाशो ह्यवशिष्यते मे ॥१९ ॥
एतस्य सर्वस्य तु रक्षणार्थं स्थानं भवेन्नैव मदीयकुट्याम् ।
एतावता द्रव्यचयेन किंवा प्रयोजनं मेऽल्पजने कुटुम्बे ॥ २० ॥
अतस्त्वया द्रव्यमिदं निवर्त्य प्रत्यर्प्यतां राजकुले पुनश्च ।
प्रसाद्य राजाऽपि मदुक्तवाक्यैः सन्तोष्यतां येन न रोषमेयात् ॥२१॥
निशम्य तच्छाकटिको मनस्वी कृताञ्जलिः प्राह पुनः प्रणम्य ।
आदेशमेतं नृपतिप्रदत्तं कोवाऽन्यथाकर्त्तुमिह क्षमः स्यात् ॥ २२ ॥
भवद्गृहं मे शकटः प्रविष्टो निवेदितो द्रव्यचयो भवत्यै ।
न स्वीकृतं द्रव्यमिदं भवत्या नह्यत्र कार्यं मम किञ्चिदस्ति ॥ २३ ॥
मदीयकार्ये नृपतेः प्रतीतिर्यथा भवेन्नैव च तस्य रोषः ।
राजप्रसादं च यथा लभेय तथा भवत्या क्रियतामुपायः ॥ २४ ॥
भट्टप्रिया तद्वचनं प्रशस्य सम्प्रत्ययार्थे नृपतेस्तदानीम् ।
किञ्चिद् विलिख्यापि च भुर्जपत्रे प्रादात्ततः शाकटिकस्य हस्ते ॥२५॥
आदाय तच्छाकटिकः प्रसन्नः तद्द्रव्यपूर्णं शकटं निवर्त्य ।
प्रत्यागतो राजकुले ददौ तद् द्रव्यं तु तत्राधिकृते च पत्रम् ॥ २६ ॥
यावत्तु पत्रं नृपहस्तमाप तावत्ततः शाकटिकोऽपयातः ।
तत्पत्रपाठात् सहसाऽथराज्ञो मनस्यभूद् भट्टविपत्तिशङ्का ॥ २७ ॥
'भट्टस्तदा राजपुराद्गतः सन् गृहं गतो देववशाद् विपन्नः ।'
एवं विनिश्चित्य सभासदान् सः संश्रावयामास च पत्रमेतत् ॥ २८ ॥
"द्रव्याणि सन्त्येव वहूनि राजन् क्व वा, कथं वाऽपि च रक्ष्यमेतत् ।
न मेऽस्ति कश्चित् परिचारकोऽन्यो भट्टस्य कट्यां शकटः प्रविष्टः ॥" २९ ॥

आकर्ण्य पत्रं तु तदा सभास्था अदृष्टपूर्वां घटनां विमृश्य।
शङ्काकुला विस्मय-सङ्कुलाश्च विकल्पयामासु रनिश्चितार्थाः ॥ ३० ॥
चित्रं तु कट्यां शकटप्रवेशः मृषा लिखेन्नैव च भट्टपत्नी।
अदृष्टपूर्वा घटनाऽपि लोके दैवात् कथञ्चिद् घटते कदाचित् ॥ ३१ ॥
कथा कथञ्चित् प्रससार सैषा वातेन दावाग्निरिवक्षणेन।
सर्वत्र देशेष्वथ भट्टपत्न्या श्रुता बहुभ्यः स्वगृहस्थयैव ॥ ३२ ॥
'भट्टस्य कट्यां शकटः प्रविष्टः' एतद् वचो लोकमुखान्निशम्य।
भट्टस्य पत्नी न्यपतत् पृथिव्यां रुरोद शोकेन विमूर्च्छिता च ॥ ३३ ॥
भट्टस्य वार्तामधिगत्य सर्वे सुहृज्जना गोत्रज-बान्धवाश्च।
शोकाकुलास्तद्गृहमेत्य पत्नीं रोरुद्यमानां ददृशुर्विसंज्ञाम् ॥ ३४ ॥
अत्रान्तरे वैद्यमाहूय राजा चिकित्सितुं भट्टमासाद्य सद्यः।
नियोजयामास धनादिदानैरभ्यर्चितं तं च समादिशत् सः ॥ ३५ ॥
भट्टस्य कट्यां शकटः प्रविष्टः तज्जीवनं रक्षितुमर्हसि त्वम्।
तद्गेहमद्यैव तु गच्छ वैद्य यतस्व नैरुज्यविधौ च तस्य ॥ ३६ ॥
धनं तथा साधनमत्र यत्स्यादपेक्षितं तत् खलु राजकोषात्।
प्रदास्यते रोगविमुक्तिहेतोराजप्रसादं च परं लभेथाः ॥ ३७ ॥
राजोपदेशादथराजवैद्यः ससाधनः शिष्यजनानुयातः।
कोलाहलव्याकुलरोदनेन प्रपूरितं भट्टगृहं प्रपेदे ॥ ३८ ॥
स बान्धवान् तत्र सगोत्रजांश्च रोरुद्यमानानथ भट्टपत्नीम्।
विमूर्च्छितां भूमिगतां च दृष्ट्वा भट्टस्य मृत्युं खलु निश्चिकाय ॥३९॥
भट्टस्य मृत्यौ कृतनिश्चयः सन् भैषज्यकालात्ययमाकलय्य।
न कस्यचित् किञ्चिदुवाच वैद्यः त्वरान्वितश्चापससार तस्मात् ॥ ४० ॥
प्रत्यागतो भट्टगृहात् स वैद्यो यथाक्रमं राजकुलं प्रविश्य।
न्यवेदयत्तत्र विषण्णचेता भट्टस्य मृत्युं विनयेन राज्ञे ॥ ४१ ॥
शोकावहां तामधिगत्य वार्त्तां राजा ततः शोकपरीतचित्तः।
द्रव्याणि सम्भृत्य सपार्षदश्च यानेन भट्टस्य गृहं प्रतस्थे ॥ ४२ ॥
राजाऽपि भट्टस्य कुटीं प्रविश्य तथैव शोकार्त्तजनान् निरीक्ष्य।
रोरुद्यमानामपि विश्ववारां[1] समीक्ष्यसम्यङ् मनसा लुलूचे ॥ ४३ ॥
प्रेतस्य देहो नहि दृश्यतेऽत्र न प्रेतकृत्ये च जना नियुक्ताः।
धृतं न पत्न्या विधवाव्रतं च भट्टस्य मृत्यौ न हि हेतुरस्ति ॥ ४४ ॥
भट्टस्य भार्यामथ भूपतिस्तां प्रीत्या समाश्वास्य सुहृज्जनांश्च।
तद् भर्तृवृत्तं सविशेषमेषः जिज्ञासमानः परिपृच्छतिस्म ॥ ४५ ॥
भट्टस्य भर्तुस्तव सर्ववार्त्तां यथार्थतोज्ञातुमिहार्हसि त्वम्।
अतस्त्वमाख्याहि यतो यथा वा यद्वाऽस्य विज्ञातमथ श्रुतं च ॥ ४६ ॥

---

१. विश्ववारेति भट्टपत्न्या नाम।

कस्तस्य कट्यां शकटप्रवेशं व्यजिज्ञपत्तामथमृत्युवार्त्ताम् ।
कुतस्त्वया तन्ननिवेदितोऽहं सर्वं समाख्याहि न तेऽस्तु भीतिः ॥ ४७ ॥
आकर्ण्य तद्राजवचस्तदानीं धैर्येण सा वाष्पगतिं निरुध्य ।
सवेपथुर्वाष्पनिरुद्धकण्ठा सगद्गदं भट्टप्रिया बभाषे ॥ ४८ ॥
नमोऽस्तु राज्ञे विजयोऽस्तु राज्ञः राजा हि लोकस्य सुखस्य हेतुः ।
पुरःस्थिते राजनि शोकपीडा नारीजनानामयशः कथं स्यात् ॥ ४९ ॥
राज्यान्तरं भट्ट-दूतः प्रयातो राजाज्ञया कार्यवशान्नियुक्तः ।
वार्त्तामिमां शाकटिकोऽवदन्मे गृहागतो राजकुलात्तदानीम् ॥ ५० ॥
ततः समादाय प्रमाणपत्रं तद् द्रव्यजातं शकटस्थितं च ।
प्रत्यर्पणायैव स राजकोषे प्रत्यागमद् राजकुलं पुनश्च ॥ ५१ ॥
ततः परं राजकुलागतेभ्यो दिनान्तरेऽश्रावि मया बहुभ्यः ।
'भट्टस्य कट्यां शकटः प्रविष्टः' इदं वचो येन भृशं प्रतप्ये ॥ ५२ ॥
अथ श्रुतां राजभिषङ्मुखाच्च तन्मृत्युवार्त्तामपरेऽवदन् मे ।
ततोऽस्य मृत्यौ कृतनिश्चयाहं शोकाब्धिमध्ये पतिता अभूवम् ॥ ५३ ॥
मन्ये ममादृष्टवशात् कथञ्चित् कटिप्रदेशे शकट-प्रवेशात् ।
हतः स भैषज्यविधिं विनैव देशान्तरे बन्धुजनैर्वियुक्तः ॥ ५४ ॥
ततः परं नाधिकमत्र किञ्चिदवेदिषं जीवनवृत्तमस्य ।
यत्र प्रमाणं स्वयमेव देवो मज्जीवनं भट्टगतं निबोध ॥ ५५ ॥
भवादृशे राजनि लोकपाले देशान्तरे त्वद् यशसा सहैव ।
कथं कुतो वा निहतः स भट्ट स्तच्चिन्तया मे हृदयं दुनोति ॥ ५६ ॥
राजाऽथ तस्या वचनं निशम्य तथ्यन्तु तस्मादवगम्य सम्यक् ।
प्रमादमूलं सकलं विदित्वा न विस्मितः स्मेरमुखो बभूव ॥ ५७ ॥
सविस्मयं ज्ञातिभिरीक्ष्यमाणः प्रतीक्ष्यमाणोऽप्यथभट्ट-पत्न्या ।
सर्वस्यशोकप्रशमं चिकीर्षुः सकौतुकं स प्रहसन्नुवाच ॥ ५८ ॥
'भट्टस्य कट्यां शकटः प्रविष्टः' इत्युक्तिरेवात्र विपत्तिमूलम् ।
प्रसूतमादौ किल भट्टवध्वा ततोऽगमद्राजकुलात् प्रचारम् ॥ ५९ ॥
यद्भुर्जपत्रं प्रहितं भवत्या समर्पितं शाकटिकेन मह्यम् ।
व्यलेखि तत्रैव तु वृत्तमेतत् स्फुटं भवत्येव प्रमादमूलम् ॥ ६० ॥
प्रदृश्यतां पत्रमिदं भवत्या स्वयं लिखित्वा प्रहितं नवेति ।
परीक्ष्यतां चैतदितिब्रुवाणः प्रादर्शयत्तत् स्वयमेव राजा ॥ ६१ ॥
तद्भट्टपत्नी प्रसमीक्ष्य साक्षात् वैक्लव्यहेतुं सुतरां विजज्ञे ।
स्वयं प्रमादेन तया तदानीं 'कुट्यां' लिखन्त्या लिखितं हि 'कट्याम्' ॥ ६२ ॥
स्वकर्मणा सर्वमुपार्जितं तज्ज्ञात्वा न शान्तिं न सुखं च लेभे ।
उत्तीर्य्य शोकार्णवतः कथञ्चित् लज्जासमुद्रेऽथ पुनर्ममज्जे ॥ ६३ ॥
हर्षप्रसन्नहृदयाऽप्यवसन्नदेहा व्रीडाविषण्णवदनाऽश्रुनिषिक्तनेत्रा ।
अन्तर्गृहं तु विवशा प्रविवेश साध्वी प्रातःप्रवातपरिमर्दितपङ्कजश्रीः ॥६४॥

ये ज्ञातिबन्धु-सुहृदोऽन्यजनाश्च वार्त्तां जिज्ञासवः सपदि भट्टकुले समेताः ।
सर्वंत्वलीकमवबुध्य प्रमादजातं जाताः प्रसन्नमनसो विगतव्यथाश्च ॥६५॥

'दिष्ट्या तु जीवति कुमारिलभट्टपादः' इत्युक्तिभिः समभिनन्द्य च विश्ववाराम् ।
राजप्रशस्ति-विजयध्वनि-साधुवादैः सन्तुष्टुवुर्नरपतिं विनयेन सर्वे ॥ ६६ ॥

देशान्तरात् प्रतिनिवृत्य कुमारिलोऽपि सद्यः स्वगेहमुपसद्य सुविस्मितोऽभूत् ।
कस्मान्नु राजप्रमुखा जनता समेत्य प्राप्ताऽद्य मत्सदनमित्यनुसन्दधानः ॥६७ ॥

व्यामोहितं सपदि कौतुकविस्मयाभ्यां राजैव पूर्वमुपगम्य कुमारिलं तम् ।
विज्ञाप्य तद्गृहगतं घटनाप्रवाहं व्यामोहतो व्यसनतश्च समुद्दधार ॥ ६८ ॥

भट्टस्तु तत्र विनयानतमस्तकेन प्रेमाञ्चितेन वचसा प्रतिपूज्य भूपम् ।
पत्नीप्रमादमनुशोच्य जनप्रवादं राजप्रसादमपि संस्मृतवान् कृतज्ञः ॥६९ ॥

आत्मप्रमादमनुतप्य नृपोऽपि तत्र भट्टं च भट्टगृहिणीं जनताश्च सर्वाः ।
सम्बोध्य सान्त्ववचसा प्रणयान्वितेन भृत्यैः समं स्वनगरं प्रतिनिर्जगाम ॥७०॥

तज्ज्ञातयश्चैव सुहृज्जनास्ततः सम्पूजिताः प्रीतियुता यथोचितम् ।
आमन्त्र्य भट्टं तु वधूद्वितीयकं सन्देशिताः स्वं निलयं प्रपेदिरे ॥ ७१ ॥

इत्यौपमन्यव-चतुर्भुजमिश्रवंशोद्भवस्य श्यामदेव-भोगेश्वरीसूनोर्गुरुगणचरणारविन्द-प्रसादलब्धाचार्य-शास्त्रीत्युपनाम्नः श्रीमनोरञ्जनशर्मणः कृतिषु प्रकामकामरूपे भट्टपत्नी-प्रमादवर्णनम् ॥

—:०:—

पद्यप्रसूनाञ्जलिः

डॉ. महाप्रभुलाल गोस्वामी, वाराणसी

मीमांसागममान्यभव्यवनजप्रस्फोटसूर्यप्रभा साहित्याखिलबोधबुद्धसुषमासौदामिनीसंयुता ।
वेदान्तामरवेद्यचेतनसुधा-सम्पृक्तलोकामला बुद्धिर्यस्य स राजतां बुधवरः पट्टाभिरामो महान् ॥ १ ॥

ध्वन्यालोककला-कलाप-कणिके बाल-प्रियालोचने राजेते महिते प्रबोधजनिके ग्रन्थस्य यस्यामले ।
तं सम्पाद्य हितं विबोधततिदं कीर्तिं परामश्नुते बोधो यस्य स भासतां बुधगुरुः पट्टाभिरामो भुवि ॥ २ ॥

ऋग्वेदस्य करिष्यमाण-विमलं भाष्यं सदाशं यदा लोकं दास्यति बुद्धिमान्द्यनिवहं हृत्वाऽमरत्वप्रदम् ।
नीतिं न्यायविदां विधाय विपुलां हार्दां नवीनां मुदे प्रज्ञा यस्य स भातु बोधधवलः पट्टाभिरामोमुनिः ॥ ३ ॥

कमलकोमलकान्त-पदावली सृजति दिव्य-सुधां वसुधातले ।
भयहरा भवभूतिविधायिनी बुध तवैव मतं विमलं मतम् ॥ ४ ॥

वेदप्रकाशकमलं विमलं विधाय सम्पाद्य लोकचतुरो विनयी महात्मा ।
विज्ञस्य कस्य मधुरं प्रथितं विभास्य तौतातिकं किमपि राजति राजबुद्धिः ॥ ५ ॥

भव्या कला मतिमतां महतां सदैव हार्दं बिभर्ति दयिता दयितेव लोके ।
तत्रापि बोधभरिता सरितेव शुभ्रा पट्टाभिरामजनरामकलाऽद्वितीया ॥ ६ ॥

शास्त्रार्थकोविदकला कमलेव काव्यं लक्ष्मीं नवां प्रणयिने विदुषे समर्प्य ।
शान्ति विचित्रसुखदां तनुते नितान्तं वन्द्यस्य शास्त्रिचरणस्य कलां प्रवक्ति ॥ ७ ॥

सभ्येषु बोधरसिकेषु विभाति कीर्त्ति र्यस्यैव पुण्यनरलोकजनस्य रम्या ।
तस्यैव धन्यजननी जननीव कम्रा भूमिर्बुधस्य दयितस्य विभासितस्य ॥ ८ ॥
व्याख्यानभूतिरपरा चतुराऽद्वितीया कान्तेव कृत्यनिवहं विदुषां विधत्ते ।
संसूयतेऽमरगिरां विपुल-प्रभावं यस्यैव मान्यमतिकस्य भजे बुधं तम् ॥ ९ ॥
वाक्श्च यस्य विमला विपुलार्थभावा दृष्टिं नवां मतिमतां सहजां विधाय ।
अज्ञानपुञ्जदुरितं विनिहत्य भान्ति तं भावये सुकृतिनं शिवराज-धान्याम् ॥ १० ॥
संस्तौति बन्धचरितं बुधपुण्यभूमे र्भूमौ महाप्रभुरिहाद्य तवैव गण्यम् ।
पन्थाः सदा मतिमतस्तमसां निहन्ता बाभातु बोधकलिकां विमलामुपेतः ॥ ११ ॥
पट्टाभिरामं रमणीयरामं वैदुष्यभूषा समलङ्करोतु ।
तनोतु कीर्तिं सुजनस्य तस्य यस्य प्रभावो विदुषः प्रसिद्धिः ॥ १२ ॥

ग्रन्थाननेकान् विमलानवद्यान् सम्पाद्य लोकोपकृतिं चकार ।
टीकां नवामर्थभरां विधाय शास्त्रे बहुत्रापि विभाति मानी ॥ १३ ॥
संगीय कीर्तिममलाममरां बुधस्य सञ्चिन्तयामि मधुरं प्रतिभैकवित्तम् ।
यस्य प्रभावमतुलं प्रविदन्ति सन्तः श्रीशास्त्रिणं मतिधनं परिचिन्तये तम् ॥ १४ ॥

———

वृत्तिविचार

अनन्तराम शास्त्री धाणेकर :

गवालियर राजकीय संस्कृत महाविद्यालये, भू० पू० व्याकरण प्राध्यापकः

इह खलु जगति प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपः सर्वोऽपि लोकव्यवहारः प्रायः शब्देनैव सम्पद्यते। क्वचिच्चेष्टादिनापि संभवति, परं प्रज्ञाचक्षुषां नैव शब्दमन्तरा व्यवहारसंभव इति शब्दप्रामाण्यं प्रायः सर्वैरेवांगीकृतं यद्यपि स च व्यवहारो वाक्येनैव दृश्यते। तदुक्तम्—वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षः तिष्ठतीति मतःस्थितिरिति। तथापि शास्त्रप्रक्रियानिर्वाहाय वाक्ये पदानि, तेषु च प्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनावश्यमङ्गीकरणीया। अयमेव वर्णस्फोटः। प्रकृतिप्रत्ययास्तत्तदर्थवाचका इति। एवं च शब्दस्य प्रामाण्ये स्थिते घटशब्दात् पटविषयकशाब्दबोधवारणाय तद्धर्मावच्छिन्नविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति तद्धर्मावच्छिन्ननिरूपितवृत्तिविशिष्टज्ञानं हेतुरिति कार्यकारण भावोऽवश्यं वाच्यः। अतएव नागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधः। अतएव च न हि गुड इत्युक्ते मधुरत्वं प्रकारतया गम्यत इति समर्थसूत्रभाष्यं संगच्छते। गुडादिशब्देन गुडत्वजात्यवच्छिन्नो गुडपदवाच्य इत्येव बोधा जातिप्रकारकः। मधुरत्वं तु अनुमानगम्यम्। विशेष्य–विशेषणभावव्यत्यासेन गृहीतशक्तिकस्य पुंसो 'घट' पदात् घटत्वविशिष्टघटबोधवारणाय तद्धर्मावच्छिन्नेति। ज्ञाने वृत्तिवैशिष्ट्यं च स्वविषयकोद्बुद्धसंस्कारसामानाधिकरण्य-स्वाश्रयपदविषयकत्वोभयसम्बन्धेन। अतो नागृहीतवृत्तिकस्य, नापि विस्मृत-वृत्तिकस्य, नापि तत्पदमजानतो, नापि 'घट' पदात् आश्रयत्वेनोपस्थिताकाशस्य, नापि जनकतयोपस्थितचैत्रादेश्च बोधः। सा च वृत्तिस्त्रिधा—शक्तिर्लक्षणा व्यंजना च। वृत्तित्वं च शक्तिलक्षणाव्यंजनान्यतमत्वम्। शाब्दबोधहेतुपदार्थोपस्थित्यनुकूलपदपदार्थसंबंधत्वं वा। तत्र शक्तिपदार्थः क इति जिज्ञासायां तार्किकाः—अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इत्याकारा अर्थविशेष्यिका, इदं पदमिममर्थं बोधयत्वित्याकारा पदविशेष्यिका वा ईश्वरेच्छाशक्तिः सैव संकेतः इति शक्तिसंकेतयोरैक्ये लाघवम्।

ईश्वरेच्छारूपसंकेतात् अन्यादृशशक्तिस्वीकारे तु पदार्थद्वयकल्पनाप्रयुक्तगौरवम्। ईश्वरेच्छैव संकेतपदवाच्या, पदपदार्थयोः सम्बन्धश्चेत्यर्थः। यद्यपि ईश्वरेच्छारूपशक्तेर्विषयत्वलक्षणः सम्बन्धः पदे अर्थे बोधे च, तथापि बाधनिष्ठजन्यतानिरूपितजनकतावत्त्वेन विषयो वाचकः। शक्तिजन्यबोधविषयत्वेन विषयो वाच्यः। यद्यपि प्रथमं शक्तिग्रहो वाक्य एव तथापि आवापोद्वापाभ्यां शास्त्रकृत्कल्पिताभ्यां तत्तत्पदशक्तिग्रह इत्याहुः; तन्न, इच्छायाः पदपदार्थसंवधत्वमेव न संभवति, यतः सम्बन्धो हि सम्बधिभ्यां भिन्न उभयाश्रित इति द्विष्ठः सम्बन्धः इति आश्रयतया विशिष्ट-बुद्धिनियामकश्चेत्यभियुक्तव्यवहरात्। यथा—घटवद्भूतलमित्यादौ संयोगरूपः सम्बन्धः सम्बन्धिभ्यां भिन्नो द्विष्ठो घटनिरूपितसंयोगाश्रयो भूतलमिति विशिष्टबुद्धिनियामकश्च, नात्र तथा—घटशब्द इच्छावान्, तदर्थो वा इच्छावान् इति व्यवहारः। विषयता सम्बन्धेन उक्तेश्वरेच्छायाः पदपदार्थयोरुभयोः स्थितत्वेऽपि पदमिच्छावत् अर्थो वा इच्छावान् इति व्यवहाराभावात् विषयताया आधाराधेयभावनियामकत्वाभावेन तेन सम्बन्धेन द्विष्ठत्वेऽपि इच्छायाः सम्बन्धत्वं नेष्टमेवेतितात्पर्यम्। तस्मात् इच्छायाः सम्बन्धत्वासंभवात् पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव इच्छातिरिक्तसम्बन्धविशेष एव शक्तिः वाच्यवाचकभावरूपा अखण्डोपाधिरूपा। एतादृशशक्तिरूपसम्बन्धकल्पने बीजन्तु लोके चक्षुरादीनां प्रमाणानां प्रमेयसम्बद्धानामेव ज्ञानजनकत्वदर्शनात् शब्दप्रमाणस्यापि प्रमेयेनार्थेन सह सम्बन्ध आवश्यकः। स च ज्ञानजनकतावच्छेदकीभूतः पदपदार्थयोः सम्बन्ध एव शक्तिरिति भवितुं युक्तः। हरिणाप्युक्तम्—"इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।

अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।" एतेन बोधजनकत्वमेव शक्तिरिति प्राचीननैयाकरणमतं निरस्तम्। ज्ञानजनकतावच्छेदकीभूतपदपदार्थसम्बन्धस्यैव शक्तित्वस्य युक्तत्वात्। तद्ग्राहकं च इतरेतराध्यासमूलं तादात्म्यम्। तच्च संकेतः। तस्यापि पदनिष्ठशक्त्युपकारकत्वात् शक्तिरिति व्यवहारः तस्य सम्बन्धत्वाभावात्। भेदाभेदरूपस्य तस्य तत्वाभावाच्च। यत्तु पदपदार्थयोर्बोध्यबोधकभावनियामिका शक्तिरेव सम्बन्ध इति; तन्न, शक्तेरपि कार्यजनकत्वे सम्बन्धस्यैव नियामकत्वात्। दीपादिगतप्रकाशकत्वशक्तावपि आलोकविषयसम्बन्धे सत्येव वस्तुप्रकाशकत्वं नान्यथा। शक्तेः सम्बन्धो बोध्यबोधकनियामको भवति, न तु शक्तिरित्याकूतम्। तदुक्तं हरिणा "उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते। शक्तीनामप्यसौ शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः"॥ उपकार्योपकारकयोरुपकारस्वभावः वाच्यवाचकरूपः सम्बन्धो यत्रास्ति तत्र धर्मः शक्तिरूपः कार्यं, शाब्दबोधं दृष्ट्वा अनुमीयते। असौ सम्बन्धः शक्तीनां तादृशसामर्थ्यविशेषाणामपि कार्यजनने शक्तेः सहायकः। गुणानां रूपादीनामपि घटादिव्याश्रितत्वनियामक इति हेलाराजः। स सम्बन्धः पदे वाक्ये च। एवंच नव्यवैयाकरणानां मते वाच्यवाचकरूपाऽखंडपदार्थः शक्तिः पदपदार्थयोः सम्बन्धः, तद्ग्राहकसंकेतस्तु इतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम् इति फलितम्। कः शब्दः कोऽर्थ इति प्रश्ने घट इति शब्दो घट इत्ययमर्थ इति एकाकारोत्तरदर्शनात् तयोरध्याससिद्धिः। घट इत्याकारकं ज्ञानमिति व्यवहारात् शब्दज्ञानयोरप्यध्यासः। अतएव पदं श्रुतं, पदार्थं शृणु, अर्थं वदतीत्यादिव्यवहारः। शब्दार्थयोरितरेतराध्यासादेव वृद्धिरादैच्, ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभंगः पिनाकिन इत्यादि व्यवहारः। तादात्म्यं च तद् भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्। अभेदस्याध्यस्तत्वात् न तयो विरोधः। तत्र भेदस्योद्भूतत्वविवक्षया-अस्यार्थस्यायं वाचकः, तस्य वाचकः प्रणव इत्यादि संगच्छते। तादात्म्यस्य भेदाभेदरूपत्वेनैव अग्निशब्दोच्चारणे मुखदाहापत्तिः, मधुशब्दोच्चारणे माधुर्यापत्तिरपि निरस्ता। वस्तुतो बौद्धएवार्थः शक्यः। पदमपि बौद्धमेव स्फोटात्मकं वाचकमिति तयोस्तादात्म्ये बौद्धवन्हौ दाहकत्वशक्तिर्नास्तीति। अत एव "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प" इति पातंजलसूत्रं संगच्छते। शब्दज्ञानमात्रेण बुद्धावनुपतनशीलो वस्तुशून्यः बाह्यार्थरहितः त्रिशेषेण कल्पत इति विकल्पः। अत एव "एष वंध्यासुतो याति" इत्यादीनां बौद्धार्थवत्त्वेनैवार्थवत्त्वात् प्रातिपदिकत्वम्। अन्यथा बाह्यार्थाभावान्नस्यात्। मीमांसकास्तु-शक्तिः वन्हौ दाहानुकूलशक्तिवत् पदनिष्ठापि शक्तिः पदार्थान्तरमिति ब्रुवते। स च शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीयमानत्वात् अर्थःप्रत्याय्यः, शब्दस्तु प्रत्यायक इति प्रत्याय्य-प्रत्यायकभावः सम्बन्ध इत्युच्यते। तत्र अभिहितान्वयवादिनो भट्टाः, अन्विताभिधानवादिनो गुरवः सर्वे जातिशक्तिवादिनः।

नैयायिकाः—जात्याकृतिव्यक्तयस्तु पदार्थ इति गौतमसूत्रानुरोधेन जात्याकृतिव्यक्तिषु शक्तिं स्वीकुर्वन्ति। तत्रापि नित्यसंकेतः शक्तिः। अनित्यसंकेतः (आधुनिकसंकेतः) परिभाषा इति नव्यतार्किकाः। वैयाकरणास्तु नह्याकृतिपदार्थस्य द्रव्यं न पदार्थ इति समर्थसूत्रभाष्यप्रामाण्यात् विशिष्टं वाच्यमिति ब्रुवते। सा च शक्तिः साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि। शक्तिग्राहकशिरोमणेर्व्यवहारस्य तुल्यत्वात् व्यवहारदर्शनेन च पूर्वजन्मानुभूतशक्तिस्मरणम्। अत एव बालानां तिरश्चां चान्वयबोधः, न हि तेषां तदैव तत्संभवः।

यत्तु तार्किकाः—असाधुशब्देन साधुशब्दस्मरणद्वारार्थबोध इत्याहुः; तन्न, साधुस्मरणं विनापि बोधानुभवात्। तद्वाचकसाधुशब्दमजानतां बोधानापत्तेश्च। न च शक्तिभ्रमाद्बोधो साधुशब्देऽष्वति वाच्यम्, निस्सन्देहप्रत्ययस्य बाधकं विना भ्रमत्वायोगात्। अत एव स्त्रीशूद्रबालाद्युच्चारिते साधौ अर्थसंशये तदपभ्रंशेनैवार्थनिर्णयः। अत एव समानायामर्थावगतौ शब्देश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियम इति भाष्यम्, "वाचकत्वाविशेषे वा नियमः, पुण्यपापयोः" इति हरिकारिकापि संगच्छते। अत एवार्यम्लेच्छाधिकरणं संगच्छते। तत्र हि यवमयश्चरुर्भवतीत्यत्र यद्यपि आर्या यवशब्दं दीर्घशूके प्रयुंजते, म्लेच्छास्तु प्रियंगौ। तथापि आर्यप्रसिद्धेर्बलवत्त्वात् दीर्घशूकपरतैवेति सिद्धान्तितम्। साधुत्वं च व्याकरणव्यंग्योऽर्थविशिष्टशब्दनिष्ठः पुण्यजनकतावच्छेदकजाति-

विशेषः । सा च शक्तिस्त्रिधा-रूढिर्योगो योगरूढिश्च । तत्तल्लक्षणोदाहरणादीनि मंजूषादौ विस्तरशो निरूपितानि, नात्र विस्तरभयान्निरूप्यन्ते । सैषा शक्तिः नानार्थशब्देषु संयोगादिभिर्नियम्यते—"संयोगो विप्रयोगश्चेत्यादिना ।" शक्तिग्राहकाणि च व्याकरणादीनि "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान" इत्यादिना विस्तरशो निरूपितानि ।

लक्षणा—अथेदानीं लक्षणावृत्तिर्निरूप्यते, तत्र लक्षणापदार्थः कः ? इति जिज्ञासायां तार्किकाः स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा । सा च द्विविधा गौणी शुद्धा च । स्वनिरूपितसादृश्याधिकरणत्वसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका गौणी । तदतिरिक्तसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका शुद्धा । प्रकारान्तरेणापि सा द्विविधा-जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था च । स्वार्थसंवलितपरार्थाभिधायिका अजहत्स्वार्था । तेन छत्रिणो यान्ति, कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय, काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् इत्यादौ छत्रिसहितसेना, कुन्तसहितपुरुषः, यष्टिसहित—पुरुषः, काकसहितसर्वदध्युपघातकबोधः । स्वार्थपरित्यागेनार्थान्तराभियायिका जहत्स्वार्था । यथा गंगायां घोषः इत्यादि ।

सा च तात्स्थ्यात् ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यात्, तादर्थ्यादिति निमित्तपंचकात् भवति । मंचाः क्रोशन्ति, ग्रामः पलायितः, सिंहो माणवकः, गौर्वाहीकः, गंगायां घोषः, यष्टीः प्रवेशय, इन्द्रार्था स्थूणा इत्यादीनि उदाहरणानि । अन्वयाद्यनुपपत्तिर्लक्षणाबीजमिति केचित् । तत्र गंगायां घोष इत्यादौ घोषपद एव मकरादिलक्षणापत्तिः । अतः तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीजम् । अत एव नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेदित्यत्रान्वयसंभवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव लक्षणास्वीकारात् । शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा लक्षितलक्षणा यथा द्विरेफपदात् रेफद्वयसम्बन्धो भ्रमरपदे, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे । लाक्षणिकं पदं नानुभावकम् । लाक्षणिकार्थस्य शब्दबोधे तु शक्तपदान्तरं कारणम् । तथा च लाक्षणिके पदे स्मारिकाशक्तिरेव; नानुभाविकी, शक्तिलक्षणान्यतरसम्बन्धेनेतरपदार्थान्वितस्वशक्यार्थशाब्दबोधं प्रति पदानां सामर्थ्यावधारणात् इति प्राचीनाः । नव्यास्तु कुमतिः पशुरित्यादि सर्वलाक्षणिकपदस्थले शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धतया तत्रापि आनुभाविकी शक्तिरवश्यमंगीकरणीया । वाक्ये तु शक्तेरभावात् शक्यसम्बन्धरूपा लक्षणापि नास्ति । गभीरायां नद्यां घोष इत्यत्र नदीपदस्य नदीतीरे लक्षणा । गभीरपदार्थस्य नद्या सह अभेदान्वयः । क्वचित् एकदेशान्वयस्यापि स्वीकारात् चैत्रस्य गुरुकुलम्, शरैः शातितपत्र इत्यादिवत् । यद्येकदेशान्वयो न स्वीक्रियते तर्हि नदीपदस्य गभीरनदीतीरे लक्षणा, गभीरपदं तात्पर्यग्राहकम् । इति तार्किकमतम् ।

मीमांसकास्तु—स्वबोध्यसम्बन्धो लक्षणेति वदन्ति । एतन्मते वाक्यशक्यस्वीकारेण शक्यपदस्थाने बोध्यपदनिवेशः क्रियते । वाक्यस्य वाक्यार्थे लक्षणा तैरंगीक्रियते । अतएवार्थवादवाक्यानां प्रामाण्यसिद्धिः । अन्यथा वायुर्वै क्षेपिष्ठादेवता इत्यादि वाक्यानां स्वार्थे तात्पर्याभावादप्रामाण्यं दुर्वारम् । वाक्यलक्षणायां तु वायुयागः प्रशस्त इत्यर्थे लक्षणा क्रियते । व्यवहारे भट्टनय इतिन्यायेन वेदान्तिनोऽप्येवम् । वैयाकरणास्तुआरोपितशक्यतावच्छेदकरूपेण शक्त्यैव तत्पदवाच्यत्वेन प्रसिद्धान्यव्यक्तिबोधे लक्षणेति व्यवहारः । एवकारेण तस्या अतिरिक्तत्वनिरासः । गंगायां घोष इत्यादौ गंगापदशक्यतावच्छेदक-प्रवाहत्वप्रकारेणैव नीरतीरयोर्बोधः । तेन प्रवाहत्वमेव तीरे आरोप्यत इति शक्तिलक्षणयोः पृथक्कार्यकारणभावकल्पनागौरवं नेति भावः । तथाहि—शक्तिर्द्विधा, प्रसिद्धा, अप्रसिद्धा च। आद्या-प्रवाहे, अन्त्या-तीरे, सति तात्पर्ये सर्वे सर्वार्थवाचका इति भाष्यात् । अतएव गंगायां मीनघोषौ स्त इत्यादि उपपद्यते । अन्यथा सहविवक्षाभावात् द्वन्द्वो न स्यात् । एवं च शक्यताच्छेदकारोपो लक्षणेति वैयाकरणानां मतम् । तन्मतानुसारिभिरालंकारिकैरपि तदेवांगीकृतम् ।

तदुक्तं हरिणा—"गोत्वानुषंगो वाहीके निमित्तात्कैश्चिदिष्यते । अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थित" इति । व्यंजना मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षबोधजनको मुख्यार्थसम्बद्धासंम्बद्धसाधारणप्रसिद्धार्थविषयको वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानप्रतिभाद्युद्बुद्धः संस्कारविशेषो व्यंजना । मुख्यार्थबाधग्रहनिरपेक्षेति कथनेन लक्षणयागतार्थत्वं

न। निश्शेषच्युतचन्दनं स्तनतटमित्यादौ मुख्यार्थबाधाभावेऽपि अधमपदार्थपर्यालोचनया व्यंग्यार्थप्रतीतेर्व्यंञ्जना-वृत्त्यन्तरमेवेति भावः। अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता। तेषां मुख्यार्थाभावेन लक्षणाया असंभवात् व्यंजकता द्योतकतैव। द्योतकत्वं च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यंजकत्वमिति वैया-करणानामपि एतत्स्वीकार आवश्यकः। एषा च शब्दतदर्थपदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु, सर्वत्र तथैवानुभवात्। आलंकारिकास्तु व्यंजनावृत्तिमंगीकुर्वन्त्येव। वक्त्रादिवैशिष्ट्यज्ञानं च व्यंग्यविशेषबोधे सहकारीति- न सर्वत्र तदपेक्षा।

तात्पर्याख्यावृत्तिः—अत्र वाक्यार्थबोधाय तात्पर्याख्या चतुर्थी वृत्तिरंगीकृता अभिहितान्वयवादिभि-र्मीमांसकैरिति तात्पर्याख्यां वृतिमाहुः पदार्थान्वयबोधने इति साहित्यदर्पणकृता, तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित् इति मम्मटाचार्येण चोक्तम्। परं वाक्यार्थे लक्षणामंगीकुर्वतां भट्टानां नास्या वृत्तेरुपयोग इति विचारणायां कुत्रमिद-मुपन्यस्तं मीमांसायामिति मीमांसकमूर्धन्या एव विचारयन्तु। अल्पशेमुषीजुषा मया लिखितोऽयं निबन्धः विशेषतो-ऽन्तेवासिनामेव उपकारं जनयेत्, न विशेषविदुषामिति मन्ये। अत्र निबन्धे हंसक्षीरन्यायमनुसरन्तु बुधा इति संप्रार्थ्य विरम्यतेऽधुना।

———

।। अभिनन्दनीयस्य परिचयः ।।

देवदत्तशास्त्री

प्राचार्यः—दीवान कृष्णकिशोर सनातनधर्म संस्कृत महाविद्यालयस्य अम्बाला शिविरस्थस्य

यद्यपि श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणं नाहमाकृत्या परिचिनोमि तथापि पुष्पप्रत्यक्षाभावेऽपि वैदुष्यसुगन्धेन पुष्पमनुमातुं शक्यते। एभिर्महानुभावैः बहुषु स्थानेषु क्वचित् प्राध्यापक रूपेण क्वचित् प्राचार्यरूपेण क्वचितु अवैतनिकरूपेणापि कार्यं कृत्वा संस्कृतसाहित्यस्य बहूपकृतम्। एते हिन्दुविश्वविद्यालये प्राचार्यपदं भूषितवन्तः। कालिकाता विश्वविद्यालये प्राध्यापकत्वं तथा च वाराणस्यां सम्पूर्णानन्दीये संस्कृतविश्वविद्यालये साहित्यस्य, योगतन्त्रस्य, मीमांसादर्शनस्य च विभागाध्यक्षा अभूवन्।

यस्य मीमांसाशास्त्रस्य सर्वप्रान्तेषु अल्पीयानेवप्रचारो दृश्यते। तस्मिन् शास्त्रेऽपि शास्त्रिवर्याणामव्याहतगतिरस्ति। यदा पदशास्त्रमपि ज्ञातुं न शक्येत तदा पदसमूहरूपस्य मीमांसाशास्त्रस्य ज्ञानन्तु दूरापेतम्। यस्य शिष्यस्य गुरुः मीमांसाशास्त्रे कुशलः स्यात् तस्य शिष्यः कथं मीमांसाशास्त्रे कुशलो न भवेत्। एते महानुभावा म० म० श्री चिन्नस्वामिनां शिष्याः सन्ति। म० म० श्री चिन्नस्वामिचरणेभ्य आचूलं पूर्वमीमांसामधीत्य पूर्वमीमांसायास्तथा रहस्यं ज्ञातं यथा नान्यैर्ज्ञातुं शक्यते। पूर्वमीमांसाया ग्रंथेषु मीमांसादर्शन-शाबरभाष्य-श्लोकवार्तिक-तन्त्रवार्तिक-टुपटीका-शास्त्रदीपिका-भाट्टदीपिकादिषु कृतश्रमः कथं पूर्वमीमांसा-रहस्यं न जानीयात्। भाट्टदीपिका श्रीखण्डदेवविरचितास्ति। अतएव मीमांसकतल्लजैरुच्यते—"यदि कण्ठस्था श्रीखण्डदेव ग्रंथत्रयी किमन्यैर्ग्रन्थैः"। खण्डदेवविरचितो 'मीमांसाकौस्तुभ' नामा ग्रंथोऽस्ति। कौस्तुभग्रंथस्य संशोधनं श्रीचिन्नस्वामिभिःकृतम्। श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिभिः मीमांसाकौस्तुभग्रन्थस्य संशोधने श्रीचिन्नस्वामिनां स्वगुरूणां महत् साहाय्यं कृतं, गुरुणां वशम्वद एतादृशः शिष्यो धन्यः। तदुक्तं मीमांसाकौस्तुभस्य भूमिकायां श्रीचिन्नस्वामिभिः—"शोधनादिकार्यें नितान्तमुपकृतवतेऽस्मत्—प्रियशिष्याय श्रीपट्टाभिरामशर्मणे मीमांसाशास्त्रिणे बह्वीराशिषः प्रयुञ्जे"। एतादृशो गुरुभक्तः कथं नाभिनन्दनार्हः। अहमेतादृशस्य गुरुभक्तस्य संस्कृतसाहित्यसेविनः मनसा वाचा कर्मणा अभिनन्दनं करोमि।

"एको रसः करुण एव"----एकमनुशीलनम्

अनुसन्धापयिता पण्डितः श्रीआद्याचरणझा
(विहारराज्यस्य संस्कृत शिक्षा निरीक्षकः)

संस्कृतकाव्यजगतो विभूतिर्भवभूतिः स्वकीये प्रसिद्धे "उत्तररामचरित" नामनाटके समुद्घोषितवान् यत् "एको रसः करुण एव निमित्तभेदादन्यः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्"...... । रस सिद्धान्त प्रतिपादकेषु विविधेषु मूर्धन्यग्रन्थेषु नायं सिद्धान्तः प्रतिपादितः । रसाभिव्यक्ति-रसानुभूति-साधारणीकरणादिसमीक्षायां सर्वथा नवीनेयमुद्घोषणा रससिद्धान्तवादिनामग्रे ।

अत्र विचार्यते यत् भवभूतिसदृशो मर्मज्ञो मनीषी न केवलमर्थवाद मनुसृत्यैव किमपि प्रतिपादयितुं शक्नोति तत्त्वान्वेषणं विनेत्यपि निश्चप्रचम् । अतस्तत्रावश्यं रससिद्धान्तवादिभिः रससमीक्षकैश्च गम्भीररूपेण चिन्तनीयोऽयं विषयः ।

समीक्षाक्रमे सर्वप्रथमं "काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा, क्रौञ्चद्वन्द्व-वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः"—ध्वन्यालोककारस्येयं कारिका समक्षमायाति । करुण-रसस्य स्थायिभावेन शोकेनवोद्भूतः श्लोकः संसारे सर्वप्रथमं पद्यरूपेण "मा निषाद प्रतिष्ठां त्व" मित्यादिरूपेण परिणतः । न केवलं ध्वन्यालोककारेणापितु महाकवि कालिदासादयोऽपि वेदोत्तरं सर्वप्रथमं "वाल्मीकिरामायण" निर्माणे महर्षिणा प्रोक्तमुक्तश्लोक मेवोत्समिति मन्यन्ते ।

रससिद्धान्त—प्रतिपादके प्राचीनतमे महर्षि-भरतप्रणीते नाट्यशास्त्रेऽतिविस्तृतरूपेण सांगोपाङ्गं रसवर्णनं दृश्यते । नाट्यशास्त्रस्य पर्यालोचनया स्पष्टं ज्ञायते यत् मूलरूपेण रसवाद-सिद्धान्तस्यास्तित्वं भरतात्पूर्वमेव चिरादासीत् । यथाऽभिनवभारत्यां रसार्णवमन्थने निमग्नाः प्रवीणाश्चाभिनवगुप्ताचार्याः प्रोक्तवन्तो यत्—"ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः, मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं विनिवेशिताः" । नाट्यशास्त्रस्य प्रथमाध्याये सप्तदशश्लोकेन प्रतीयते यदथर्ववेदादेव रसानां संग्रहो जातः, यथा "जग्राह पाठमृग्वेदात्सामभ्योगीतमेव च यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि" ।

अथर्ववेदानन्तरं वात्स्यायनस्य कामसूत्रं रसनिर्वचनीयप्रकरणे प्रमुखता-मापद्यते । परिणामतो रससिद्धान्तपरम्परायां श्रृंङ्गाररसस्य प्राधान्यं प्रायः सर्वत्र प्रतिपादितं वर्तते । नात्र किञ्चिद्वैमत्यं सम्भोग विप्रलम्भोभयभेदयोरनुस्यूतः श्रृंगाररसः यत्र तत्र विस्तृतरूपेण व्याप्तो वर्तते । किन्तु तत्र तत्रभवतो भवभूते रुक्तिरपि समूला सरहस्या च वर्तते नात्र कश्चन सन्देहः ।

वाल्मीकिरामायणे बालकाण्डे स्वयं महर्षिणा प्रोक्तं—"पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्रीलयसमन्वितः । शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा" ॥ समाक्षरैश्चतुर्भि र्यः पादैर्गीतो महर्षिणा, सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः" ॥ रघुवंशे कालिदासेन प्रोक्तं—'श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः' ।

उक्तोद्धरणेन करुण-रसस्थायिभावेन शोकेन समुद्भूतः श्लोक एवायं काव्यात्मकं पद्यं यस्य विस्तारमेव 'रामायण' मिति मन्यन्ते रसज्ञाः ।

अत्र विचार्यते सूक्ष्मदृष्ट्या यत् भवभूतेरुक्तौ किं रहस्यम् ?

१—सर्वप्रथमं काव्यनिर्माणे करुणरसाभिव्यक्तिर्जाता । स एव रसः आद्यो रसः, तदङ्गत्वेनैवान्ये रसाः दृश्यन्ते व्यवह्रियन्ते च, तत्र श्रृंगारेऽपि करुण एव कथं कारणमित्यनुशीलनीयम् ।

'कारुण्यं करुणा घृणा कृपा दयाऽनुकम्पा स्यादनुक्रोशः'—इत्यमरकोषरीत्या करुणशब्दस्येमे पर्यायाः शब्दाः, तत्र सम्भोग-विप्रलम्भोभयभेदात्मके श्रृंगारे विप्रलम्भ एव सम्भोग-श्रृंगारस्योत्कर्षाधायकः,

विप्रलम्भे च वियोगजनितं कारुण्यमेव तिष्ठति इति पूर्वोक्त-दृष्टान्तेन सिद्धम्। तत्प्रभावे "संगम-विरह-विकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः। सङ्गे सत्र तथैका विरहे तु तन्मयं जगत्" इति प्रसिद्धम्।

परिणामतः शृङ्गाररसः करुणमूलक एवेति निश्चितम्। यद्यपि शृङ्गारस्य स्थायिभावो रतिर्वर्तते, किन्तूपर्युक्तसूक्ष्म विवेचनेन तत्र तत्त्वतः करुण एव।

२—हास्यरसस्थायिभावो हासो वर्तते। हास्यं च तदैव जायते यदा किमप्यद्भुतं पश्यति, दर्शयति, शृणोति, श्रावयति, अनुभवति, अनुभावयति वा। तत्राद्भुते विषये कस्मिन्नपि वस्तुनि च हृद्गते यश्चानुक्रोशः तदेव हास्यरूपेण परिणमति। हसन्तो जनाः तद्गतविषयमनुभवन्तोऽट्टहासं मृदुहास्यं वा कुर्वन्ति। **अतो हास्योऽपि करुणमूलक एव।**

३—रौद्ररसस्य स्थायिभावः क्रोधः। क्रोधःकदा जायते इति गम्भीरदृष्टया चिन्तनीयम्। स्वाभिभावितं स्वाधीनस्थं वा जनं प्रति कश्चित् तदैव क्रुध्यति यदा सोऽभिभावितोऽधीनस्थो वाऽनुकूलं कार्यं न विदधाति। तदनुकूलकार्यं प्रति योऽनुरागः या चात्मीयता तदेव कारुण्यं, तन्मूलक एव क्रोधः।

अथ च स्वप्रतिपक्षद्वाराऽन्यद्वारा वा स्वेच्छाप्रतिकूलाचरणेन-कथनेन-प्रदर्शनेन वा क्रोधो जायते। सोऽपिक्रोधः यत्र निजानुभूतिप्रतिकूलाता भवति तत्रैवोत्पद्यते। फलतः **कारुण्येनानुरागेणोद्भूतः क्रोध एव रौद्रस्य कारणम्।**

४—वीररसस्य स्थायिभावः उत्साहः। कस्मिन्नपि कार्ये तदैवोत्साहो जायते यदा तत्र स्वत्वं स्वानुरागिता चायाति, समागते चोत्साहे वीरभावत्वमाप्नोति जनः, फलतो वीरभावेन तत्कार्यमेव कोऽपि सम्पादयति, सम्पादने समुत्सुको जायते यदा तत्कार्यविषये तस्यानुरागः कारुण्यं वा वर्तते।

एतेन सूक्ष्मेक्षणेन **वीरोऽपि करुणमूलक एवेत्यनुभूयते।**

५—भयानकरसस्य भयं स्थायिभावः। तच्च भयं कस्मादपि यदा जायते तत्र यदर्थं भयं जायते तस्मिन् तस्य स्वत्वमूलकं कारुण्यं निश्चितरुपेण वरीवर्ति। यदि कस्यचित् प्राणे करुणा-मोहः-स्वत्वं वा नास्ति तर्हि स न सिंहात्, न व्याघ्रात्, न सर्पात्, नापि कस्मादपि बिभेति।

यदि जीविकां प्रति न मोहः, न कारुण्यं तर्हि नाधिकारिजनात् भयं विद्यते। फलतो भयस्य मूले करुण एव।

(६) बीभत्सरसस्य स्थायिभावो जुगुप्सा, घृणा-तदैव जायते यदा स्वानभिमतं वस्तु पश्यति शृणोति अनुभवति। तत्रभिमतविषयेऽनुरागःकारुण्यमात्मीयतैवानभिमतवस्तुविषये जुगुप्साया मूलस्रोतः। **परिणामतो बीभत्सोऽपि करुणमूलक एव।**

(७ अद्भुतरसस्य विस्मयः स्थायिभावः। कस्मिन्नपि विषये तदव विस्मयो जायते यदा तत्र तादात्म्यं-स्वत्वं चानुभूयते। तत् स्वत्वं च तद्विषये कारुण्येन, दययाऽनुकम्पयाऽनुक्रोशेनैव। तदद्भुतमेव दृष्ट्वा कोऽपि विस्मयते हर्षमनुभवति। यत्राद्भुते नानुरोगो न तत्र विस्मयः। **फलतोऽद्भुतोऽपि करुणमूलक एव।**

(८) शान्तरसस्य स्थायिभावो निर्वेदः। यदा विषयादिकं प्रति विरागो जायते, आत्मानं प्रत्यनुरागो जायते तदैव शान्त-रसस्याविर्भावः। तत्रानुरागः कारुण्यमेव कारणम्। **फलतः शान्ते मूलभूतः करुण एव। एतस्य विस्तृतं विवेचनमग्रे करिष्यते।**

(९) वत्सलरसोऽपि केषांचिन्मते वर्तते। वात्सल्य-भाव एव तत्र कारणम्। वात्सल्यं तु सर्वथा सर्वदा कारुण्यमूलकमेव। तत्र ममत्वं हृद्यत्वं स्वतां तादात्म्यं च यत्तदेव तत्र मूलम्। **एवं च वत्सलोऽपि करुणमूलक एव।**

(१०) षष्ठशताब्द्यां महान्तः सन्तः श्रीरूपगोस्वामिमहाभागाः स्वकीये विश्वविश्रुते मार्मिकग्रंथे—**"उज्ज्वल-नीलमणौ" भक्ति-रसामृतसिन्धौ** च भक्तिमेव रसराजत्वेन स्वीकृतवन्तः। तेषां व्याख्याकाराः

१०

श्रीजीवगोस्वामिप्रभृतयोऽपि तथैव प्रतिपाद्य समुपलब्धान् वर्णितांश्च रसान् भक्तिरसस्यैवाङ्गत्वेन व्याख्यातवन्तः।

षोडशशताब्द्यां कविकर्णपूरोऽपि अलङ्कारकौस्तुभे भक्तिरसकल्पनामेव प्राधान्येन प्रतिपादितवान्। स च भक्तिरसः **रतिमूलकात्मक** एव। रतिरेव तस्य स्थायिभावः। **रतावनुरागे च कारुण्यमेव कारणम्।**

कारुण्यं विनाऽनुरागस्योत्पत्तिरेव नास्ति। फलतोऽनुरागस्वरुपा रतिः स्थायिभावेन संजाता, **भक्तिस्तुसर्वथा करुणमूलिका एव।**

अतएव भक्तेश्चरमसीमायां संप्राप्ता भक्ता हसन्ति, नृत्यन्ति, रुदन्ति, अश्रुधारां प्रवाहयन्ति, चेति विविधरूपेणेश्वरेण सह तादात्म्यं स्थापयन्ति।

भक्तिसाङ्गित्ववादे पुनश्च वैष्णवसम्प्रदायस्य महारासन्दर्भे सम्भोगविप्रलम्भोभयविधश्रृंगारस्य महती प्रधानता संजाता। सूक्ष्मदृष्ट्या सर्वत्र तत्र तत्र करुण एवादृश्यरुपेण परमाणुवत् स्थितः।

ज्ञायते यत् करुण एव चरमो रसस्तथा ये चान्यभावाः रसादयस्ते करुणस्यैवाभिव्यक्तयः, प्रीति-विस्मय-वात्सल्य-क्रोधोत्साह-घृणा-भयादयः करुणबोधस्यैव परिणतावुद्दीपकाः सन्ति।

भरतनाट्यशास्त्रेऽन्यत्र च प्रतिपादितं यत् "रसो वै सः", "रसएवानन्दस्वरूपश्चिदानन्दो ब्रह्म-स्वरूपः", सर्वंलोकं च चिन्मात्रम् त्वात्वा-भत्ता च चिन्मयम्, रसो वैं सः, रसं लब्धा चानन्दी भवति। तथा "आनन्दात् हि इमानि भूतानि जायन्ते" "आनन्देन जातानि जीवन्ति", आनन्दमनुसंविशन्ति" इत्यादि-तैत्तिरीयोपनिषदः प्रमाणै रानन्दमयं ब्रह्म। **रसस्यानन्दमयत्वे ब्रह्मत्वम्।** एतस्मिन्नाधारे एव कथितं यत्—

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते
पुन र्निमित्तापाये च शान्त एवोपलीयते,
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्,
निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निरामयम्—इत्यादयः।

एभिः प्रमाणैः शान्तरसमङ्गित्वेन स्वीकृत्यान्यरसानङ्गत्वेन बहुभिराचार्यैः सिद्धान्तितम्। तेषां-मतेन तत्त्वज्ञानोत्थ-निर्वेद-प्रधानः शान्तरस एव सुखमयः। शान्ताकारं भुजगशयनं, शान्तं शाश्वतमप्रमेय-मित्यादि स्तुतावपि भगवतः शान्तरूपस्यैव वर्णनं दृश्यते।

भवभूतिसिद्धान्ते निर्वेदस्थायिभावमूलकः शान्तरसोऽपि **पूर्वोक्तप्रतिपादितदिशा करुणमूलक एव, करुण एव तस्योरसः।**

यद्यपि महति विस्तृते रसाभिव्यक्त्यनुभूतिसाधारणीकरणादिसिद्धान्तेऽति संक्षिप्तोक्तविवरणम-पर्याप्तमिति स्पष्टम्, किन्तु स्वल्पेनाप्यनेन तत्त्वान्वेषणेन करुणरसस्य महत्ता व्यापकता चावश्यं समक्षमायातेत्य-त्रापि न सन्देहः।

यदि नाट्यशास्त्रीयपारम्परिकसिद्धान्तमेवलक्ष्मणरेखामाधारीकृत्य विवेचनं स्यात्तर्हि करुण रसस्य, शान्तरसस्य, भक्तिरसस्य वाऽङ्गित्वेन प्रतिपादनं महत्कठिनम्। किन्तु सहृदय-हृदयानुभूत्यात्मके रसे पाणिनिसूत्रवत् न किमपि लक्षणं, न वा काऽपि लक्ष्मणरेखैव निर्देशिका।

फलतः रसाभिव्यक्तिवादसिद्धान्ते "एकोरसः करुण एवे" ति मतं सहृदय-हृदयानुभवमात्र-गोचरमिति।

अभिराम - पञ्चकम्

जयमन्तमिश्रः

श्रीमांल्लोकानुरक्तः सततकृतमतिः शास्त्रचिन्ताप्रवीणः
विद्वन्मान्यो वदान्योनिखिलबुधजने ख्यातनामा सुविज्ञः।
मीमांसा-न्याय-वेदाम्बुधिगहनतलं गाहमानः समन्तात्
शास्त्री पट्टाभिरामो जयति गुणिगणे नामतुल्याभिरामः॥ १॥

बुध ! तव गुणजातं वर्णयेत् कस्य वाणी ?
सुरगुरुमथवैकं शेषराजं विहाय।
वयमिह तव शुभ्रं केवलं लोकयामः
सुयश इह सुभव्यं प्रसृतं चन्द्रकान्ति॥ २॥

विद्यानामुपयोगः कृतो भवद्भि श्चतुर्भिरिहलोके।
अवितथ-प्रवचनसहितैरागम-स्वाध्याय-व्यवहारैः॥ ३॥

सहस्रशस्ते शिष्या भारतवर्षे विशिष्टतापन्नाः।
प्रख्यापयन्ति भवतां गुण-गरिमाणं हि सर्वत्र॥ ४॥

भाव-रूप-कुसुमानामञ्जलिरयं समर्प्यते भक्त्या।
तुच्छं वस्त्वपि श्रद्धार्पितमतिशयितं हि जायते सत्यम्॥ ५॥

———

औचित्यविवेचनं रुद्रटश्च

पं० प्र० विद्याधर द्विवेदी, काशीविद्यापीठम्, वाराणसी

कृतारिवञ्चने दृष्टिर्येनाञ्जनमलीमसा ।
अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे ।।—क्षेमेन्द्रस्य

काव्यशास्त्रे विविधेषु सम्प्रदायेषु औचित्यसम्प्रदायस्यापि नाम सादरं गृह्यते समीक्षकैः । सम्प्रदायस्यास्य प्रवर्तकत्वेनाचार्यक्षेमेन्द्र एव मन्यते तैः । सत्यमेतत्, किन्तु काव्यशास्त्रे औचित्यविवेचनं कदाप्रभृति प्रारब्धम्, अथ च तन्नाम्नो निर्देशः सर्वप्राथम्येन केन खलु व्यधायि, किञ्च क्षेमेन्द्रः कथमिव औचित्यस्य काव्यात्मत्वं स्वीचकारेति विवेचनपुरस्सरमाचार्यरुद्रटस्यैतद्विषये किं रिक्थमित्येतदेव विवेचनाया विषयोऽस्माकम् । तत्रादौ क्षेमेन्द्रस्यैव पदैरौचित्यस्य स्वरूपमुपक्रम्यते—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत् ।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते[1] ।। इति

अर्थात् यत् किल यस्यानुरूपं तदुचितमित्युच्यते, तस्य च भावमौचित्यं कथयन्ति ।

अथैतिहासिकदृशा औचित्यविवेचनं परीक्ष्यते नाट्यशास्त्रप्रणेत्राऽऽचार्यभरतमुनिनाऽभिनयसम्बद्धं विवेचनं कुर्वाणेन अप्रत्यक्षत औचित्यं विवेचितम्[2] । नाट्य एव विशेषेण दत्तदृष्टित्वात्तथा रससम्प्रदायस्याचार्यत्वान्नायं प्रत्यक्षतो विशदश्चौचित्यं विवेचितवान् । आचार्यभामहेन गुण-दोषविवेचनद्वारा औचित्यमेव अप्रत्यक्षतो विवेचितम् । अनेनोक्तं यत् न कोऽपि दोषो गुणो वा स्वयं तथा विद्यते किन्तु तत्रतत्प्रयोग एव प्रमाणम् । प्रयोगकौशलेन हि कश्चिदपि दोषो गुणभावमाप्तुमलम् । औचित्यपूर्णप्रयोगेण योग्यतमाधारप्राप्त्या वा दोषोऽपि गुणत्वमधिगम्य पुष्पस्रजां मध्ये नीलपत्रं यथा प्रकाशते[3] ।

आचार्यदण्डी प्रत्यक्षत एवौचित्यं विमृष्टवान् । गुण-दोषयोर्नित्यानित्यत्वे तस्य विशेषेण विवेच्ये आस्ताम् । दण्डिदृशा अनित्यदोषाः कौशलपूर्णप्रयोगेण स्वेषां दोषत्वं (विरोधं) विहाय गुणत्वमासादयन्ति तथा रसस्य सहायकाः सिद्ध्यन्ति । अवस्थाविशेषे दोषा अपि गुणा भवन्ति[4] ।

आचार्या इमे न क्वापि स्वविवेचने औचित्यशब्दं पस्पृशुः, न चेदं सिद्धान्तरूपेण मेनिरे, प्रत्युत तेषां निखिलमेव विवेचनं गुण-दोषयोरेव गतम् ।

१—औचित्यविचारचर्चायाम्—७

२—वयोनुरूपः प्रथमस्तु वेषो, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः । गतिप्रचारानुगतञ्च पाठ्यं, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः ।।
—नाट्यशास्त्रे—१३/६८

३—सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते । नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले स्रजामिव ।।
किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् धत्ते शोभामसाध्वपि । कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमसमिवाञ्जनम् ।।
—काव्यालंकारे—१/५४-५५

४—विरोधः सकलोऽप्येष कदाचित् कविकौशलात् ।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते ।।—काव्यादर्शे—३/१७९

यशोवर्मणो रामाभ्युदयनाटक एव सर्वप्रथममेकस्मिन् पद्येऽनवद्ये औचित्यशब्दस्योपयोगो महत्त्वपूर्णे आवश्यके चार्थेऽवलोक्यते। यशोवर्मणा शब्दोऽयं 'सन्निवेश-प्राशस्त्ये' रव्याप्यते। तच्च काव्यस्य मुख्य-गौणाख्ययोरङ्गयोरौचित्यपूर्णात्, अनुकूलसंयोगात्, संश्लेषाद् विना नान्यत् किमपि। नाटकेष्वथवा महाकाव्येषु विभिन्नतत्त्वानां सम्यक्तया सुसंश्लिष्टरूपेण चायोजनं विधेयम्—

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथा मार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिः प्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयो-
र्विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैरेतावदेवास्तु नः[1]॥

आचार्योद्भटेन हि औचित्यविवेचनं प्रारब्धवताऽनौचित्यमेव विशदं न्यरूपि। तथा चायम्-ऊर्जस्विनाम्नोऽलङ्कारस्यासाधारणरूपेणानौचित्यमेव सार्थकं मेने।

आचार्यवामनस्य गुण-दोषयोर्विवेचनं बहु विस्तृतम्। एवञ्च प्रकारान्तरेणौचित्यस्य सूक्ष्मविवेचनमेव मन्तुं शक्यते। एतन्मतानुसारेण व्याकरणसम्मतत्वेऽपि केषाञ्चिच्छब्दानां केषुचिदर्थेषु प्रयोगोऽनुचितः।

आचार्यलोल्लटः केषुचित्पद्येषु (राजशेखरेण हेमचन्द्रेण च स्व-ग्रन्थयोरुद्धृतेषु) परोक्षरुपेणौचित्यं परस्पर्श। एतन्मतेन नदी-तडागोपवन-चन्द्रादीनां वर्णनं सरसमपि बाहुल्येनाप्रासङ्गिकरुपेण च नैव विधेयम्[2]।

आचार्यरुद्रटस्यौचित्यविवेचनम् औचित्यस्येतिहासे द्वितीयं सोपानमस्ति। सर्वप्रथमं यशोवर्मणा रामाभ्युदयनाटके औचित्यशब्दः प्रायुज्यत। औचित्यविचारस्य प्रथमो विकासस्तद्विवेचने विद्यते। तच्च प्रथमं सोपानं मन्तुं शक्यम्। किन्तु काव्यशास्त्रे औचित्यस्य साक्षाद् विवेचनबीजं रुद्रटेनैवोप्तम्। वस्तुतः रुद्रटसमये औचित्यसम्बद्धोऽयं विचारो नामाभिधानादृते सहृदयचेतस्सु समुदित एवासीत् किन्तु नामाभिधानश्रेयस्तु स एवोपलब्धवान्। आचार्यरुद्रटेन किल औचित्यस्य आधारशिला प्रतिष्ठापिता यदुपरि आनन्दवर्धन-क्षेमेन्द्र-प्रभृतिभिर्विपश्चिदपश्चिमैर्विस्तृतः प्रासाद एव निर्ममे। उत्तरवर्तिन आचार्यरुद्रटस्य पन्थानमनुजग्मुः। तन्मतेन रसप्रतिकूलान्यलङ्कारगुणादिकाव्यतत्त्वानि किञ्चिदपि वैशिष्ट्यं नादधति। एतदेवानन्दवर्धनोऽपि ध्वन्यालोकस्य द्वितीयोद्योते प्रत्यपीपदत्।

रसानुकूलालङ्कारयोजनायाः प्रथमो व्याख्याताऽऽचार्यरुद्रट आसीत्। शास्त्रीयसमीक्षायामपि औचित्यस्य प्रथमो निर्देशकः स एवासीत्। रुद्रटेन छन्दसां प्रयोगे उचितानुचितविवेकः परमावश्यकोऽङ्गीकृतः। तथाहि—तेन स्वग्रन्थे छन्दसामौचित्यपूर्णप्रयोगविषये सङ्क्षिप्तः किन्तु द्रढीयान् पक्षः प्रस्तुतः—

छन्दोव्याकरणकलालोकस्थितिपदपदार्थविज्ञानात्।
युक्तायुक्तविवेको व्युत्पत्तिरियं समासेन[3]॥

स्वग्रन्थस्य द्वितीयाध्याये रुद्रटो वृत्तीनां प्रयोगौचित्यमादाय प्रोक्तवान् यन्मधुरा-प्रौढा-ललिता-भद्रा-परुषाख्यानां पञ्चवृत्तीनां गभीरमध्ययनं विधाय पात्राऽभिनयगतयोरौचित्ययोः सविशेष-ध्यानपुरस्सरं तयोर्यथार्थरूपेण नातिबहुलो न चात्यल्पः प्रयोगो विधेय इति। तथाहि—

१—रामाभ्युदये।

२—मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुल-प्रकृतरसानन्वितं रचयेत्॥—द्रष्टव्यम्—काव्यमीमांसायाम्—नवमेऽध्याये।

३. काव्यालंकारे—१।१८

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यगौचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम् ।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाऽल्पदीर्घाः कार्या मुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः[१] ॥

तृतीयेऽध्याये रुद्रटेनालङ्काराणामौचित्यं प्रत्यपादि। तेनोच्यते यत् नवनवोत्साहवन्तः कवयो यमकाद्यलङ्कारान् भूयस्त्वेन प्रयोक्तुं कृतमतयोऽवलोक्यन्ते, किन्तु नैतदुचितम्; प्रत्युत अवहितैः सत्कविभिः प्रयुक्तान् यमकाद्यलङ्कारान् समधीत्यैव औचित्यपरिपूर्णः प्रयोगोऽभीप्यते—यमक-श्लेषाद्यलङ्काराणां प्रयोग-बाहुल्यात्सरसकाव्यस्यापकर्षत्वानापत्तेः। अतः कस्मिन् रसे कदा चैतेषां प्रयोगः साधक इति ज्ञातव्यम्[२]। आचार्यलोल्लटोऽप्येतत् प्रतिजानीते।

षष्ठेऽध्याये वक्तृ-वस्तुसम्बद्धमौचित्यं रुद्रटेन व्याख्यातम्। स हि त्रिविधं वक्तारं व्यवस्थापयामास उत्तमं मध्यममधमञ्च। आनन्दवर्धनस्य वक्तृ-विषयसम्बन्धमौचित्यमिदमेवाऽऽधारीकरोति। आचार्यभरतस्य प्रकृति-शीलसम्बद्धमौचित्यमपि नास्माद् भिन्नम्। वक्तृषु उत्तममध्यमाधमविवेकेन सम्बोधनावसरे ईप्सित-मौचित्यं नितरां ध्येयं भवति। मुनिं सम्बोधयितुं तत्रभवन्, भगवन्निति सम्बोधने समुचिते, एवमेव नृपं सम्बोधयितुं परमेश, ईशप्रभृतीनि सम्बोधनान्यपेक्षितानि। तथाहि—

यदनुचितं यत्र पदं तत्तत्रैवोपजायते ग्राम्यम्।
तद्वक्तृ-वस्तुविषयं विभिद्यमानं द्विधा भवति[३] ॥

अपिच—तत्रभवन् भगवन्निति नार्हत्यधमो गरीयसो वक्तुम्।
भट्टारकेति च पुनर्नैवैतानुत्तमप्रकृतिः[४]। इति

अनेनैव प्रकारेण पशु-पक्षिणां कूजनस्य मेघादेर्ध्वननस्य च कृतेऽपि विशिष्टानामेव शब्दानां प्रयोगोऽपेक्षितः[५]। यथा—

मञ्जीरादिषु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजितप्रभृतीन्।
मणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जितप्रायान्।[६]। इति

पुनरुक्तिविषये आचार्यरुद्रटेन नियमो विहितो यद् यद्यपि पुनरुक्तिर्दोषत्वेन गण्यते, किन्तु तस्या दोषत्वं विशेषदशायां नश्यति—

वक्ता हर्ष-भयादिभिराक्षिप्तमनास्तथा स्तुवन्निन्दन्।
यत्पदमसकृद् ब्रूयात् तत्पुनरुक्तं न दोषाय[७]॥ इति

अर्थाद् हर्ष-भयादिभिर्भावैर्व्याक्षिप्तमानसे वक्तरि पौनःपुन्येन तैरेव पदैः स्तौति निन्दति वा पुनरुक्तिर्नैव दोषाय कल्पते।

---

१. काव्यालङ्कारे—२।३२

२. इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः, सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना ॥ तत्रैव—३।५९

३. तत्रैव—६।१७

४. ,, ६।१९

५. दृष्ट्वा प्रयुज्यमानानेवम्प्रायांस्तथा प्रयुञ्जीत।
अन्यत्रैतेऽनुचिताः शब्दार्थत्वे समानेऽपि ॥—तत्रैव–६।२६

६. तत्रैव—६।२५

७. ,, ६।२९

सङ्घटनायाः (पदानां क्रमरूपायाः) अनौचित्यादपि यदा कदा महाननर्थः समुत्पद्यते। पदानाम-व्यवस्थितक्रमात् कारणादपि कदाचिदर्थभ्रमोऽर्थवैपरीत्यं वा सम्भाव्यत। यथाह्यस्मिन् श्लोके—

किमिति न पश्यसि कोपं पादगतं बहुगुणं गृहाणैनम्।
ननु मुञ्च हृदयनाथं कण्ठे मनसस्तमोरूपम्[1]। इति

पादपतितं कोपं कस्मान्न पश्यसि, एनञ्च कोपं बहुगुणं गृहाण। मनसो हृदयाच्च तमोरूपं हृदयनाथं वल्लभं मुञ्च त्यजेति दुष्टोऽर्थोऽवगम्यते। न चात्र तथा विवक्षितम्, अपि तु—कस्मात् पादगतं हृदयनाथं प्रियं बहुगुणं न पश्यसि। ननु मनसस्तमोरूपं कोपं मुञ्च त्यज। एवञ्च प्रियं कण्ठे गृहाणेत्येवंविधं वाक्यमत्र विवक्षितमस्ति।

एवमेवाग्रेऽपि आचार्यरुद्रटेनोक्तं यत् कस्यचिदनुकरणे प्रयुक्ता दुष्ट-क्रमभंग-लुप्तवर्णादयो दोषा न दोषत्वेन गणिताः।

अनुकरणभावमविकलमसमर्थादि स्वरूपतोगच्छन्।
न भवति दुष्टमतादृग् विपरीतक्लिष्टवर्णञ्च[2]॥

यथा विकटनितम्बायाः पतिमनुकुर्वाणा काचित् सखी प्राह—

काले माषं सस्ये मासं वदति शकासं यश्च सकाशम्।
उष्ट्रे लुम्पति रं वा षं वा तस्मै दत्ता विकटनितम्बा॥

अत्र अनुकरणार्थं प्रयुक्तानि पदानि न दोषावहानि।

एकादशेऽध्याये औचित्यसम्बद्धमिदं विवेचनमुपसंहरता रुद्रटेन न्यगादि यज् जाति-देश-कुल-विद्या-वित्त-वयः-स्थान-पात्रेषु व्यवहारवेषवचनानां सम्यगनियोजनं हि परममनौचित्याधायकं भवति[3]। कन्यकाजनानां प्रागल्भ्यं, गणिकानां निर्व्याजमुग्धत्वं, ग्राम्यजनानां वैदग्ध्यं, कुलीनानाञ्च धौर्त्यं दोषायैव जायन्ते। स्वस्थस्य प्रलापो दोषः, किन्तून्मत्तादीनां स एव गुणः—

अभिधेयस्यातथ्यं तदनुपपन्नं निकाममुपपन्नम्।
यत्र स्युर्वक्तॄणामुन्मादो मौर्ख्यमुत्कण्ठा[4]॥

तदेवमस्माभिरैतिहासिकदृशाऽवलोकितं यदौचित्यशब्दस्य प्रथममभिधानं यशोवर्मणाऽकारि किन्तु काव्यशास्त्रे साक्षात् प्रयोगो रुद्रटस्यैव रिक्थमिति। ततश्चोत्तरवर्तिभिराचार्यैरौचित्यं पूर्णतो गृहीतम्। आनन्द-वर्धनेन रसं व्याचक्षाणेन तद्भङ्गस्य बीजमनौचित्यमेव प्रतिष्ठापितम्—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा[5]॥

१—काव्यालङ्कारे—६।४२ २—तत्रैव—६।४७

३—ग्राम्यत्वमनौचित्यं व्यवहाराकारवेषवचनानाम्।
देशकुलजातिविद्यावित्तवयःस्थानपात्रेषु॥—तत्रैव—११/९

४—तत्रैव—११/२०

५—ध्वन्यालोके—तृतीयोद्योते वृत्तौ।

ध्वनि-प्रस्थापनपरमाचार्योऽयं ध्वन्यात्मभूतेषु रसेष्वौचित्यं परमरहस्यत्वेनाङ्गीचकार। संङ्घटनाया नियमनेऽयं वक्तृवाच्ययोर्हेतुत्वेनौचित्यमेव कारणं मेने[1]। परन्तु औचित्यं काव्यात्मानं मन्तुं नोदसहिष्ट। अन्ततोगत्वाऽऽचार्यक्षेमेन्द्रेण सुविचार्याऽयं सिद्धान्तः प्रतिष्ठापितो यदौचित्यमेव रससिद्धस्य काव्यस्य स्थिरं जीवितमस्तीति[2]। सिद्धान्तोऽयं महासंरम्भेण स्थापितो नाद्यावधि हेयतामालिंगतीत्यहो माहात्म्यमस्य। किमधिकम्—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतामौचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

इतिदिक्।

१— """तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृ-वाच्ययोः॥ तत्रैव-६

२—अलङ्कारास्त्वलंकारा गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्॥—
—औचित्यविचारचर्चायाम्—५

———

कालिकातानिवासिभिश्छात्रैः कृतमभिनन्दनम्

श्रीः

।। प्रणतिप्रसूनपद्यमालिका ।।

षड्दर्शनपरिशीलनजन्यनिरतिशयतत्त्वाधिगमसमुदितचित्तवैमल्यविभवानां, तत्तच्छास्त्रवाक्य-तदर्थविचारसरणिमधुरिमास्वादजनितसमाह्लादनिर्भरहृदन्तरङ्गविवशीकृतविद्वत्सहृदयसन्दोहानां, विष्वग्वि-सर्पिस्वात्मविभूतिमहिमसार्थीकृतविद्यासागरशास्त्ररत्नाकरादिबहुविधविरुदनिःशेषप्रथितनिजयशसां, कोमलमति-सुलभविकासनिमित्तसरलमनोहरप्रवचनशैलीप्रकटितनिगूढशास्त्रतत्त्वार्थनिष्कर्षोपपादनपरिस्फुटप्रतिभापाटवाऽऽव-र्जितशिष्यवृन्दवन्दितपदारविन्दानां, दयादाक्षिण्यादिसत्त्वगुणगणातिशयोपबृंहितस्वान्तः-प्रतीकप्रतिबिम्बितचामीक-रसवर्णवर्णविभूषितसुविग्रहाणां, ब्रह्मश्रीयुतपट्टाभिरामशास्त्रिगुरुचरणानां, चरणनलिनयोः, कालिकाक्षेत्रवास्तव्यैः अन्तेवासिगणैः सप्रश्रयं सभक्तिश्रद्धं च समर्प्यमाणा प्रणति-प्रसूनपद्यमालिका ।

स्वब्रह्मवर्चससमेधितवक्त्रशोभान्
मेधाविलासविलसत्करुणाकटाक्षान् ।
हैयङ्गवीनहृदयोदितसूक्तिरत्नान्
अस्मद्गुरून् सविनयं वयमानताः स्मः ।। १ ।।

कूलङ्कषं हि निगमेषु सुबोधमेषां
शिष्या वयं समनुभूय नितान्तधन्याः ।
उच्चैः पदानि विरुदांश्च सभाजयित्वा
पट्टाभिरामगुरवो विलसन्ति सन्तः ।। २ ।।

विद्वत्सभासु बृहतीषु विमर्शकत्वं
विद्यालयेषु च महत्सु महागुरुत्वं ।
बालेष्वपीह दयया निजदेशिकत्वं
सङ्गृह्य नो गुरुवराः प्रथयन्ति बोधम् ।। ३ ।।

ग्रंथान्बहून्सुविरचय्य नवीनसारान्
गद्यस्वरूपविनिबन्धनशोभमानान् ।
पद्यादिकं बहुविधं कवयन्ति हृद्यं
साहित्यगीतिरसिका गुरवो महान्तः ।। ४ ।।

विद्वत्तमत्वविभवेऽपि न विस्मितास्ते
सम्पत्सभाजनविधौ गुरवो न सक्ताः ।
आप्तेषु वा तदितरेषु तटस्थभावा
अत्युत्तमाः खलु समस्तदशासु तुल्याः ।। ५ ।।

आचार्यभक्तिभरिता जगतां गुरौ च
श्रद्धातिरेकसहिताँस्तु तथा नयन्तः ।
शास्त्रीयकर्मसु शुभेऽपि च शिष्टमार्गे
स्वान्तः प्रवृतमनसो गुरवो विभान्ति ।। ६ ।।

गूढार्थमाकलयतां गुरुदेशिकादेः
शब्दस्य नः सुकृतिनां बहु भाग्यमेतत् ।
यत्तादृशा गुरुवरा इह राजमाना-
स्तन्वन्ति मङ्गलफलप्रददर्शनं च ॥ ७ ॥
सविनयनतिरास्तां पादयोः सद्गुरूणां
विहरतु मन एतत्तद्गुणेषूत्तमेषु ।
कियदपि सुगृहीतं ज्ञानमेभ्यः समृद्धं
पुनरपि नुम एतान्भूयसेऽनुग्रहाय ॥ ८ ॥
यच्छात्रैकसुहृन्निरन्तरमुपातिष्ठन्त छात्राऽभयं
येनालङ्कृतमास्त आसनमिहाध्यक्षस्य यस्मै नमः ।
यस्मादध्ययनं सुखेन च समाख्या यस्य **वाचस्पति**-
र्यस्मिन् स्निह्यति सर्वपण्डितकुलं **पट्टाभिरामः** स तु ॥ ९ ॥
मीमांसादिचतुर्दशाधिकरणे विद्याविवादस्थले
लीलाचङ्क्रमणातिपाटवलवेनोच्छिन्नपूर्वोत्तरः ।
वाकोवाक्यकलाविदग्धसुकविः प्राज्ञः प्रवीणः सुधीः
शुद्धाशीः शुचिवाक् छुचिस्मितशुभाशंसी शुभंयुः शुभः ॥ १० ॥
पण्डा वेदोज्ज्वला बुद्धिः सैषां जातेति पण्डिताः ।
तेषां राजा भवान् सोऽयं सत्यं **पण्डितराजकः** ॥ ११ ॥
अज्ञानपट्टदलनाचतुराभिरामः **पट्टाभिराम** इति वा सुगृहीतनामा ।
पट्टेन घृष्टचरणौ भवतामिमौ वा मूर्ध्निस्थितेन विदुषामिति चाभिरामः ॥ १२ ॥
अग्न्याहितस्य भवतः परिनिष्ठितस्य स्वाध्यायपेशलमतेः स्फुरितं तदेतत् ।
वेदस्य चोपनिषदां कतमन्तु वेद्यं ज्ञानस्य कर्मण उत द्विसमुच्चयस्य ॥ १३ ॥
विद्यायाः सागरा यूयं वेलालोष्ट्राभिलाषुकाः ।
वयं लभामहै रत्नं नूनं रत्नाकरो भवान् ॥ १४ ॥
श्रौतस्मार्तादिकृत्ये स्मृतिरविचलता षट्प्रमाणे च मानो
यागे सौम्ये सुसौम्यः सवनहवनयोर्हव्यकव्ये च भव्यः ।
आदर्शो दार्शपौर्ण्यामुपकृदुपसदि स्विष्टकृच्चाहिताग्नि-
र्दोषावस्तश्च तस्याखिलसुकृतकृते रक्ष्यते क्ष्मा तमोभ्यः ॥ १५ ॥
अधि सदसि भवन्तो भाविनो भव्यराजा
विततविहितयज्ञा ब्रह्मपारायणज्ञाः ।
सुचिररुचिरभाषा लोकशिक्षार्थमात्र-
मुपशतशरदानामायुषा वर्तयन्तु ॥ १६ ॥
शरण्ययोः स्वशिष्याणां गुरुपादसरोजयोः ।
समर्पिणाऽधमर्णेन ह्यर्प्यते पद्यमालिका ॥ १७ ॥

महिमाधर्मः

उत्कलदेशे प्रवर्तमानः संप्रदायविशेषः

डा० गयाचरण त्रिपाठी

प्राचार्यः, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयागः

भारतवर्षे चिरकालादविच्छिन्नरूपेण प्रवहमाणा हिन्दूधर्मपरम्परा इदानीमपि कियती सबला, अद्यापि सा नूतनां विचारसरणीं धार्मिकसम्प्रदायांश्चोद्भावयितुं कियती शक्तिसंवलिता इत्यस्य प्रमाणम् उत्कले गतशताब्द्यां समुद्भूतो 'महिमाधर्म' नामकः सम्प्रदायविशेषः। एष सम्प्रदायः भारतवर्षेऽपि उत्कल-देशाद्बहिः स्वल्पमेव लब्धकीर्तिः। अतोऽस्य इतिहासस्य सिद्धान्तानां च नातिविस्तरेण परिचयोऽस्मिन् लेखे दीयते।

महिमा-गोस्वामिनाम्ना यतीन्द्रेण केनचिद् एकोनविंशतिशताब्द्याः प्रथमार्द्धे लब्धजनुषा संप्रदाय एष प्रवर्तितः। एष परिव्राजकः साक्षाद् अनादिब्रह्मणो महिम्न एव सांसारिको विवर्त इत्यस्यानुयायिनां मतम्। कतमं ग्रामं स निजजन्मना अलंचकार इत्यस्मिन् विषये न किंचदपि ज्ञायते। किन्तु षड्विंशत्यधिकाष्टदशशततमे ईशवीये वर्षे उत्कलस्य ढेंकानालमण्डलान्तर्गत 'कपिलाश' नाम्नि रमणीये शैवक्षेत्रे आविर्भूय स तत्रत्यगिरिश्रृंगे द्वादशवर्षाणि तपस्तेपे। तदनन्तरं तपसा समाधिना च लब्धं ब्रह्मज्ञानं वितरीतुं शिष्यान् उररीचकार। तस्य सर्वप्रथमः शिष्यो 'जगन्नाथ'-इतिनामधेय आसीदिति परवर्तिभिरनुयायिभिः प्रवर्तितं यत् साक्षात् भगवान् जगन्नाथ एव "नेदानीं मदीयं किंचिदपि आवश्यकत्वं, साक्षात् परब्रह्मण्येव अवतरिते सति" इति मत्वा पुरुषोत्तमक्षेत्रं विहाय मानवरूपम् अंगीकृत्य तच्छिष्यतां गतः। द्विषष्ठ्यधिकाष्टादशशततमे वर्षे एतयोर्गुरु-शिष्ययोः 'भीमभोइ' नाम्ना कोन्धजातीयकिशोरेण केनचित् समागमः संजातः। जगन्नाथात् संप्राप्तज्ञान-ज्योति रन्धोऽपि भीमः करतलगतामलकवत् सर्वाणि ऐहिकामुष्मिकरहस्यजातानि अन्तर्दृष्ट्या पश्यन् अस्य संप्रदायस्य दार्शनिकविचारानवलम्ब्य बहुशः पद्यानि भक्तिगीतानि ('भजनानि') च रचितवान्। एतानि पद्यानि अद्यापि निरक्षरेषु ग्रामवासिषु सुतरां लोकप्रियतां भजन्ते, गीयमानानि श्रूयन्ते च तैरहर्निशम्। उत्कलस्य ग्रामभागेषु स्वशिष्यैः सह सर्वत्र पर्यटन् महिमागोस्वामी नैकवर्षाणि यावत् स्वधर्मं प्रचारितवात्, अनेकान् अनुयायिनश्च समुत्पादितवान्, ये "कौपीनधारिणः" "वल्कलधारिणश्चेति" द्वैविध्यं गताः। वर्तमानगुरुस्त्वस्य संप्रदायस्य श्रीविश्वनाथबाबा-नामा सप्ततिवर्षदेशीयो विद्वान् संन्यासी।

'महिमगोस्वामि'नस्तच्छिष्य'जगन्नाथ'तश्च लब्धदीक्षाद 'भीमाभोइ'स्वामिनोऽनन्तरं 'शून्यवाणी'-बाबा, तदनन्तरं च 'श्रीविश्वनाथ' बाबा इत्येषा पंचगुरुमयी अद्य यावत् अस्य संप्रदायस्य गुरु-परम्परा। उत्कलस्य कृषकेषु, आदिमजनजातिषु च मुख्यतोऽस्य अनुवर्तिनः समुपलभ्यन्ते। वर्तमानकाले ब्राह्मणाद्युच्चतरवर्णेषु, शासनस्य अधिकारिष्वपि चैतेषां संख्या क्रमशः वर्धिष्णुतां भजते। अधुना संप्रदायस्य यद् विमलं दार्शनिक स्परूपं वर्तते, यच्चास्य सर्वेषु क्षेत्रेषु निपुणः प्रबन्धो दृश्यते तस्य सर्वस्य श्रेयः विश्वनाथ-बाबा एव वहति। सप्ततिवर्षदेशीयोऽपि अयं विद्वान् संन्यासी इदानीमपि ग्रामाद् ग्रामान्तरं पर्यटन् स्वशिष्यान् अन्यांश्चोपासकगृहस्थान् स्वोपदेशामृतेनाप्लावयति।

एवंविधास्तु अस्य संप्रदायस्य प्रमुखसिद्धान्ताः—देवमूर्तिपूजा न कदापि कार्या, प्राणिहिंसनं न कर्तव्यम्, मांसभक्षणं सर्वथा त्याज्यम्, असत्यभाषणं परित्यक्तव्यम्, स्तेयं परिहर्तव्यम्, परदारेषु रतिर्नैव कार्या, सर्वभूतेषु करुणा मैत्री च विधातव्या, व्यवहारे मार्दवमार्जवंच पालनीयम्। वर्णव्यवस्थामेष सर्वथा तिरस्करोति। सर्वेऽपि मिलित्वा अन्नादिकं भुंजन्ति। वर्णव्यवस्थायाः प्रतिष्ठापकत्वात्, मन्दिरेषु देवप्रतिमानां पूजकादिरूपेण नियुक्तत्वाच्च ब्राह्मणवर्णाद् एतत्संप्रदायानुयायिनो भिक्षादिकं न गृह्णन्ति। ब्रह्मचर्यम्, अपरिग्रहः धर्मोपदेशकरणं चेति संन्यासिनामतिरिक्तास्त्रयो नियमविशेषाः।

श्रीसत्यमहिमासंप्रदायस्य उपास्यं 'शून्यं पर-ब्रह्म' इति संज्ञया निर्दिश्यते। एतदेव तत्त्वम् 'अलक्ष्यं' (अलख) 'निर्गुणं' 'निराकारं' 'निरंजनं' यदि वा 'महिमा'दिशब्दैर्वाच्यम्। अत्र 'शून्यस्य' परमोपास्यत्वात् केषांचिद् विदुषां मतं यद् अयं संप्रदायः महायानबौद्धधर्मस्यैव आधुनिकं रूपम्। भारतवर्षे यद्यपि अन्यत्र बौद्धमतं सनातनहिन्दूधर्मेण आत्मसात्कृतं किन्तु वंगदेशे, उत्कलदेशे च बौद्धमतावलम्बिनश्चिरकालं यावद् अवस्थिताः, इदानीमपि विद्यन्ते। अतस्तेषामेव धार्मिकविचारैः प्रभावितः, तानेवावलम्ब्य च महिमागोस्वामी शून्यशब्दवाच्यनिर्गुणतत्त्वोपासनापरम् एतन्मतं प्रचारितवान्, अनुयायिनश्चैतस्य एवं वस्तुतः अभिनवबौद्धा एव, इति केचित्।

सम्यगालोचनेन किन्तु नैतत्समीचीनं प्रतिभाति। अस्य मतस्य प्रेरणास्रोतांसि, साक्षाद् उपजीव्याश्च षोडशशताब्द्यां पुरीनगरे विद्यमानाः 'पंचसखाय' इत्यभिधया विख्याता वैष्णवदार्शनिकास्तेषां कृतयश्च। एते पंचसखायः यद्यपि सर्वे चैतन्यमहाप्रभोः शिष्या आसन् किन्तु स्वेषु ग्रन्थेषु न ते वंगीयां राधाकृष्णपरकां मधुरभक्तिं वर्णयन्ति अपितु उत्कले प्राचीनकालात् प्रवर्तमानं निर्गुणभक्तिभावम्। सर्वेऽपि ते जगन्नाथोपसकाः, किन्तु जगन्नाथस्तु तेषां कृते न वृन्दावनविहारी कृष्णः अपितु निराकारम्, अनादि, शून्यं, यदि वा निर्गुणं ब्रह्म। उत्तरभारतस्य हिन्दीकवेः कबीरस्येव एषामुत्कलीयवैष्णवानाम् उद्भवः पुनः 'नाथपन्थ' इत्येतस्मिन् संप्रदायेऽन्वेष्टुं शक्यते। नाथमार्गावलम्बिनां पिण्डब्रह्माण्डसिद्धान्तः, षट्चक्रधारणा, कुण्डलिनीजागरणविद्या, अनाहतनादाद् विश्वोत्पत्तिः, एकाक्षर-अजपामन्त्रमाहात्म्यं, दीक्षागुरोश्चरमम् महत्त्वं, प्रतिमापूजाविरोधश्चेति इत्थंप्रकारकाः सर्वेऽपि विचाराः पंचसखिष्वपि उपलभ्यन्ते। त एव महिमाधर्मस्यापि आधारभूतसिद्धान्ताः। अतः नाथसंप्रदायस्य पंचसखिभिः स्वग्रन्थेषु प्रचारिता धार्मिकविचारा एव महिमाधर्मस्य आधारशिलात्वेन वर्तन्ते इति निःसंदेहं कथयितुं शक्यते। एतस्मादेव कारणात् पंचसखिष्वन्यतमस्य अच्युतानन्ददासस्य 'शून्यसंहिता' 'अणाकारसंहिता'-प्रभृतिग्रन्थरत्नानि अद्यापि महिमाधर्मावलम्बिषु सुतरां गौरवं भजन्ते।

महिमाधर्मस्य शून्यं तु न अभावरूपि। इदं तु भावत्वेन वर्तमानं किमपि परं तत्त्वं यत्सर्वभूतानामादिकारणरूपेण तेषामाधाररूपेण च वरीवर्ति। सर्वत्र सर्वभूतेषु च समानरूपेण शून्यब्रह्मणः अस्तित्वात् सर्वेऽपि जनाः उच्चैस्त्वनीचैस्त्वरहिताः समानधर्मिणः परतत्त्वस्य च साक्षात्कारः अस्मिन्नेव देहे समाध्यादिना शक्यः इति तीर्थादिषु पर्यटनं निरर्थकं, मानवदेहे एव सर्वाणि तीर्थानि इत्येतेषां मतम्।

पंचसखिभिर्विरचिते मध्यकालिके उत्कलीयभाषासहित्ये 'भविष्यमालिकाः' नामग्रन्थेषु कलियुगस्य चरमे काले विष्णोर्दशमावताररूपेण कस्यचित् कौपीनधारिणः संन्यासिनो वर्णना अस्ति यः कलिप्राबल्यात् प्रलुप्तं धर्मं पुनरपि संस्थायपयिष्यति। भीमी-भोइ स्वकृतिषु महिमास्वामिनमेव भगवतो दशमावताररूपेण स्वीकरोति यस्य आविर्भावानन्तरम् उत्कले विष्णोर्नवमावताररूपेण प्रसिद्धस्य जगन्नाथस्य उपासनाया निरर्थकत्वात् जगन्नाथः स्वयमेव तस्य शिष्यतां व्रजति। वेदानां प्रामाण्ये पूर्वगुरुभिरस्वीकृतेऽपि "ते भगवन्निःश्वसितरूपा वेदाः भगवच्चरमावतारस्य महिमगोस्वामिनो मतस्यैव पुष्टिं कुर्वन्ति" इति तु

वर्तमानगुरोः विश्वनाथबाबा महोदयस्याभिमतम्। तेन तु सततं महिमाधर्मस्य शांकरवेदान्तेन, हिन्दूधर्मस्योच्चतरदार्शनिकपरंपरया च सह साम्यं मृग्यते, प्रतिपाद्यते च।

मोहम्मदीय-ईशवीय-प्रभृतिविचारसरणेः प्रभावं विनापि कथं स्वतः हिन्दूधर्मपरंपरातः एव नवा धार्मिकसंप्रदाया जायन्ते, कथं च ते भारतीयपरम्परायाम् अवस्थिता अपि परम्परागतप्रमाणैरेव एतां परम्परां तिरस्कर्तुं शक्नुवन्ति, किन्तु आत्मानं सनातन-हिन्दू-धर्मस्य अंगरूपेण नांगीकुर्वन्नपि कथं तेऽन्ततो हिन्दूपरम्परामेव मुख्यत्वेन अनुवर्तन्ते इति तु महिमाधर्मस्य पर्यालोचनेन सुस्पष्टं भवति। अन्यच्चापि तथ्यमेतत् स्फुटीभवति यद् वेदस्मृतिपुराणादीनां माननीयत्वेऽपि हिन्दूधर्मपरम्परायां गुरूणां, सन्यासिनां, परिव्राजकानां, साधूनां च यत् प्रावधानं विद्यते शास्त्रोक्तविधानेषु विचारादिषु च नूतनविश्लेषणादिना युगानुकूलं, कालानुसारि परिवर्तनपरिवर्द्धनादिकं कर्तुं शक्यते इति सुतरां गतिशीला स्फूर्तिमयी चास्माकं हिन्दुपरम्परा।

।। अभिनन्दनम् ।।

विविधविद्याविद्योतितान्तःकरणानां सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां

श्रीमतां पट्टाभिरामशास्त्रिमहाभागानामभिन्दनम्

डा० उमारमण झा
प्रवक्ता, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत-विद्यापीठम् शास्त्री नगर, जम्मू, तवी, (काश्मीर)

मीमांसासु विचारणे कृतमतिर्वेदेषु शब्दे तथा
नानाशास्त्रयथार्थचिन्तनपरो वैज्ञानिकेऽस्मिन् युगे ।
व्याख्या भाष्यनिबन्धलेखनपटुर्वक्ता विपश्चिद्वरः
विद्यापीठमुपागतः शुभदिने पट्टाभिरामो महान् ॥ १ ॥

सत्ये धर्मसमः सदा क्षितितले शास्त्रे च वाचस्पतिः
गाम्भीर्ये जलधिः क्षमाऽवनिसमा यस्यास्ति नैसर्गिकी ।
शास्त्रे दत्तमना सदा विजयते स्वाचारबद्धादरो
विद्वत्सेवितपादपद्मसुविमलो पट्टाभिरामस्सुधीः ॥ २ ॥

विद्यावाक्पतये नमोऽस्तु भवते तर्कस्य वारांनिधे
यत्ते संस्कृतसाहितीमधुरस - स्रोतस्विनी भारते ।
साक्षात्तद्धि महारथे, शुभदिने आगत्य मोदं मुदा
धन्याः स्म स्तव दर्शनेन सुदिनं मन्यामहे साम्प्रतम् ॥ ३ ॥

दैवीवाचि रतिः प्रसन्नवदनो विज्ञेषु बद्धादरः
सौम्यः सत्यरुचिस्सतां कुलमणिः काये कृशः कान्तिमान् ।
विद्यावान् विनयी नितान्तसरलः ख्यातो जगन्मण्डले
सौभाग्येन समागतः सुविदितः पट्टाभिरामोऽधुना ॥ ४ ॥

येनासादितगौरवेण बहुशः शिष्याः प्रशिष्याः कृताः
लोके संस्कृत-वाङ्मयस्य विविधाः सेवाः सपर्याञ्चिताः
सोऽयं दिव्यचरित्रचित्रितमही पट्टाभिरामोऽधुना
विद्यापीठमुपागतः सुवदनः स्तुत्यश्च वन्द्यस्सदा ॥ ५ ॥

स्तुतिपञ्चकोपहारं सद्गुरुपदयोः समर्पयन्नेषः ।
मिथिला-भूमिनिवासी शिष्य समोऽस्तीत्युमारमणः ॥

———

अथर्ववेदोपांगायुर्वेदस्य चतुर्वेदेष्ववस्थानम्

वैद्यः श्रीकृष्णचैतन्यठक्कुरः, पञ्चतीर्थः

न केवलं भारतीयानां धारणा भारतीयायुर्वेदो हि विश्वमानवसमाजे चिकित्साविद्यायाः प्रथमः पथिकृत्, अपि तु विंशशताब्दीसभ्यता–लोकप्राप्तानां बहिर्भारतीयानां मनीषिणामपि।

तस्या धारणायाः मूलं हि भारतीयवेदशास्त्राणामेव सर्वमानवसाहित्य–समाजविज्ञानस्य आदिमत्वात् सिद्धान्तेस्मिन् न केषांचित् सन्देहः वितर्को वा।

तथापि विद्वांसः पृच्छन्ति आयुर्वेद इति नाम्ना किं कश्चित् वेद आसीत् अस्ति वा ? सर्वे जानन्ति सुप्राचीनकाले त्रयो वेदाः परवर्तिकाले अथर्ववेद इति नाम्ना अन्यो वेदः तेषु वेदेषु संयोजितः, तत् योजनमपि न हि सार्धद्विसहस्रवत्सरात् परम्, अपि च ततोऽपि पूर्वम्, किन्तु चतुर्वेदेषु मध्ये आयुर्वेदस्य कुत्रावस्थानमिति।

इमं प्रश्नमधिकृत्य खृष्टीय—प्रथमाब्दे सञ्चारिते सुश्रुतचरक—ग्रन्थद्वयेऽपि वक्तव्यमुत्थापितं भिषग्भिः तदुत्तरं च तत्रैव संस्थापितम्, यथाहि—सुश्रुतसंहितायाः सूत्रस्थाने इह खलु आयुर्वेदस्य केन वेदेन सह संबन्ध इति विचारे आयुर्वेदम् अष्टांगमुपांगम् अथर्ववेदस्य इति सुश्रुताचार्यः स्वगतोक्त्या स्पष्टतश्च आयुर्वेदस्य अथर्ववेदेन सह अंगांगिभावं निर्दिशति।

ततः चरकसंहितायामपि प्रश्नोयमुत्थापितः समाधानं च कृतम् आत्रेयेणाचार्येण "चतुर्णामृक्सामयजुरथर्ववेदानाम् अथर्ववेदे भक्तिरादेश्या" (चः सू० ३०)। तत्रापि च स्पष्टतः पङ्क्तिः कृता तेन आचार्येण "ऋक्वेदादिभिश्चतुर्भिः सहास्य संबन्धमपरिहरन् भक्तिपदेन अथर्ववेदेन सहैव संबन्धं प्रबोधयति। किन्तु मनीषिणः पश्यन्ति या सूक्तयः ऋग्यजुःसामसु सन्ति भिषक्भेषजचिकित्साविषये, ताः सर्वाः तिष्ठन्ति अथर्ववेदे। अतः आचार्यद्वयेन यदुक्तम् अथर्ववेदे एव भक्तिरावेश्या तस्यार्थोहि एकएव, यद्धि एकस्मिन्नेव अथर्ववेदे ऋग्यजुः-सामवेदानां भिषक्भेषजचिकित्सासूक्तीनां समावेशात् अथर्ववेदः अस्माकं प्रधानम्, अतः अन्येषां न पृथक्तया उल्लेखः। अपि च अथर्ववेदरचनाकाले भैषज्यविद्यायाःप्रसारः समधिकः वर्धितः। तस्माच्चापि उक्तमाचार्यद्वारेण अथर्ववेदे एव भक्तिरावेश्या। अपि च अथर्ववेदस्य वैद्यककल्प-राजकल्प-प्रभृतयः बहुविधाः कल्पाः सुभाविताः, एतेषां कल्पानाम् अवस्थानं न तेषु ऋक्यजुःसामसु। अतः पण्डितानां न विमतिः भवति यदि उक्तम् अथर्ववेदे एव आयुर्वेदाकरत्वं ज्ञेयम्।

अपि च अथर्ववेदस्य शतपथब्राह्मणस्य (१०।५।१७) सूक्तितः परिलक्ष्यते अस्माभिः "सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो यजूंषि सामानि" शब्दमयी श्रुतिरेव ब्रह्मणो मुखात् त्रेधा आविर्भवति। तस्मात् अथर्ववेदः एव सर्ववेदाधारकः।

अपि च अथर्ववेदस्य इमां सूक्तिं द्रढयन्ति ऋक्यजुःसामवेदानां सूक्तयः—

तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मात् यजुस्तस्मात् अजायत॥

(ऋ० १०।९०।९)

अतः अथर्ववेदस्यैव पूर्णता विद्यते इति मत्वा तस्य भैषज्यविज्ञानस्य अपि क्रमशो विकसनेन, अथर्वोपांगत्वं आयुर्वेदस्य युक्तिसंगतमवगम्यते। अपि च आयुर्वेद-विज्ञानस्य ऋक्यजुःसामवेदेषु इतस्ततः

विन्यस्तसूक्तयः सन्ति, न हि तेषु वैद्यककल्पः क्वचित्, किन्तु अथर्ववेदांगः वैद्यककल्पः इति राजते, तत्रैव ऋक्—यजुः सामवेदानां यथायथं सूक्तयः तिष्ठन्ति, यथा—

(१) ऋक्संहितायां जराजीर्णदेहस्य च्यवनस्य नन्दनस्य च ऋषिद्वयस्य अश्विभ्यां रसायनेन पुनर्यौवनमापादितम् (१. ११६. १०, १. ११७. १३, १. ११९. ७) एतदाख्यानं आयुर्वेदस्य वैद्यककल्पे विद्यते।

(२) दीर्घतमा ऋषिरासीत् कश्चित् सौरभेयीसाधनां च कृतवान् सः, किन्तु सा साधना ऋषिसमाजे न सम्मानजनिका, क्रुद्धया पत्न्या सह परामर्शं कृत्वा तत्पुत्रैः दासैः अग्नौ जलेऽपि प्रक्षेपणे रक्षितस्य दीर्घतमसः पुनः दासेन विनशिसो रक्षसोऽपि अश्विभ्यां जीवनेन दशयुगपर्यन्तं जरां परिहार्यं रक्षणं च (१-१५८-४-६ सूक्तिः)।

(३) रणे शत्रुभिश्छिन्नपदायाः खेलाख्य नृपपत्न्या विश्पलानाम्न्या अश्विभ्यामायसजंघोपयोजनम् (१, ११६-१५ सूक्तिः)।

(४) विश्लिष्टांगस्यातद्यादेरवयवसंघटनम् (१, ११७-१९)।

(५) शत्रुभिस्त्रिशकलीकृतस्य श्यावाश्वस्य अंगशकलानि संयोज्य प्रत्युज्जीवनम् (१, ११७-२४)।

(६) अद्भुतमपि चान्यत् दधीचस्य शिरः पृथक्कृत्य संरक्ष्य च शिरः संयोज्य तस्मादश्विभ्यां मधुविद्यायाः ग्रहणे तस्य अश्वशिरश्छेदे पुनस्ताभ्यां पूर्वशिरसः संयोजनम्। (१, ११६-१२)।

(७) अन्धाय ऋज्राश्वाय दृष्टिदानम् (१, ११६-१६)।

(८) अन्धाय कण्वाय चक्षुर्दानम्। बधिराय नार्षदाय श्रोत्रदानम् (१-११७-८)।

(९) पंगवे परावृजाय विगुणजानवे श्रोणर्षये च गतिदानम् (१, ११२-८)।

एवम्प्रकारेण अतो चतुर्विंशतयः सूक्तयः याभिः उपलभ्यते अस्माभिः ऋक्संहितारचनाकाले शल्यशालाक्यविद्यायाः प्रभूता समुन्नतिरभवत्।

अतःपरं भैषज्यविद्याया कीदृशी शक्तिः तेषामृषीणां समीपे प्रकटिता अभूत् तदपि सामान्यतया आलप्यते—

(१) अश्विभ्यामोषधिवनस्पत्यादीनां प्रकर्षेणाभिव्यञ्जनम् (१, ११६-८)।

(२) युवां भेषज्येन भिषजौ-सक्य-इति अश्विनोः प्रार्थनम् (१, १५८-६)।

(३) आर्चकस्य संयुऋषेश्च निवृत्तिप्रसवाया अपि गोरश्विभ्यां प्रसवस्य पयोबाहुल्यस्य सम्पादनम् (१, ११६, २२)।

(४) अपालायाश्चर्मरोगस्य तत्पितुः खल्वास्यै च निवारणम् (८, ९१, ७)।

(५) सौरकिरणप्रतिकारेण हृद्रोगस्य निरसनम् (१, ५०-११-१३)।

(६) जलस्य भेषजत्वम् (१०, १३७-६)।

(७) यक्ष्मागत-यक्ष्माराज-यक्ष्माग्राहिपृष्ठास्थि-वंशास्थिषु हृद्रोगेषु च क्षयरोगेषु च भेषजम् उपस्थातृत्वम् (Nursing) अपि चान्यत् यत् यदपि करणीयं तदुल्लेखः (१०-९७-१०५) सूक्तिषु परिलक्ष्यन्ते बहवो विषयास्तत्र।

शुक्लयजुःसंहितायाम् अस्याः द्वादशाध्याये (१२-७५, १२-८९, १२, ९०-१०१) इति सूक्तेषु औषधीनां रोगहारित्वम् यक्ष्मनाशकत्वं वर्णितम्। अपि च वलाश-अर्श-श्वयथु-गण्डमाला-श्लीपदमुखपाकक्षतादिनाशकत्वञ्च भैषज्यैः वर्णितम्।

अपि च तस्मिन् अध्याये अश्वस्य मानुषस्य शारीरपरिचयाः दृश्यन्ते। अपि च ग्रहणी-वलास-उपचितविषूचिका-हृद्रोग-चर्मरोग-कुष्टांगभेदादीनां च उल्लेखः उपलभ्यते।

सामवेदसंहितायां मन्त्रौषधिना रोगोपशमनस्य विधाने सामान्यतया उल्लेखो दृश्यते।

विशेषतया उल्लेखाः सन्ति अथर्ववेदे अथर्ववेदस्य आभिधानिकपरिचयो न दृश्यते अमरकोषाभिधाने, किन्तु मेदिनीकोषे (त्रयोदशशतके विरचिते) उल्लेखः अस्ति अथर्ववेदस्य। अस्य वेदस्य विंशतयः काण्डाः। पञ्च कल्पाः। एकः ब्राह्मणः गोपथः। तिस्रः उपनिषदः प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याः।

तेषां कल्पानां मध्ये वैद्यककल्पे आयुर्वेदस्य बहुविधा विषया दृश्यन्ते। तत्र अन्तरान्तरा रोगाः शारीरकावयवाः रोगप्रतिकारविशेषाः तत्तद् दोषादीनां तेषु तेषु रोगेषूपयोगिता च बहवो भेषजाः दृश्यन्ते। अतः चरक-सुश्रुतद्वयोक्तिर्यथा—"इह खल्वायुर्वेदे भक्तिरावेश्या" याथार्थ्यंतदुक्तेः परिलक्ष्यते।

(१) यथा हि रोगविषये (६. २१. १-३) सूक्तद्वये त्वकम् इत्याख्यस्य रोगस्य वर्णनम्।

(२) प्राकृतवैकृतदोषात् ये ये रोगाः समुद्भवन्ति तेषां यथा शारद-ग्रैष्म-शीत-वार्षिक-तृतीयकादीनां निर्देशाः (१. १५. ५. २२. १-१४)।

(३) ज्वरभेदास्तत्र मण्डूकोपयोगश्च (भेकमांसरसेन ज्वरस्यारोग्यम् भवति) (७. १२२. १-२)।

(४) देशभेदेन विशेषरोगाणामुद्भवो भवति यथा जांगलमुञ्जवह्-बाह्लीक-गान्धार-अंग-मागधादिषु (५. २२. १४)।

(५) मन्यागण्डमालायाः विभेदत्वं ग्रैव्यगण्डमालायाः प्रभेदत्वं स्कन्ध्यगण्डमालाया प्रभेदत्वं बहुविधम् (६/२५-१-३)।

(६) ९. १३. १-२२ सूक्तिषु शरीरस्य अंगविशेषे ये ये विशेषरोगाः समुद्भवन्ति तेषां नामानि उल्लेखितानि, तानि नामानि किन्तु भाषाविवर्तनवशात् अन्यनामभिः परिचीयन्ते अधुना।

शरीरविषये (१. १७. १-४, ७, ३६) सूक्तिषु शिराणां धमनीनां सहस्रत्वस्योल्लेखः।

२. ३३. १-७ सूक्तिषु नानारोगैः शारीरावयववर्णनम्। केश-अस्थिस्राव-मांसमज्जापवारू-पाष्ठीवत्-शिरो-हस्तमुख-पृष्ठ-पार्श्व-जिह्वा-ग्रीवा-कीकससत्वगादीनामुल्लेखाः (११. १०. ११-१५) दृश्यन्ते।

अथर्ववेदे रोगप्रतिकारविषये

(१) मूत्राघाते शरशलाकादिर्मूत्रनिःसारणं भेदनं च (१ : ३. १-९)।

(२) सुखप्रसवस्तद्विक्रियायां योनिभेदनादि (१. ११. १-६)।

(३) जलधावनेन व्रणोपचारः (५.५७.१-३)।

(४) अपचितां पिडकानां शलाकावेधनम् (७.७८.१-२)

एवमाद्या शल्यप्रक्रियाः बहिर्देशात् शरीरान्तरमप्रविश्य रोगकारणानां नानाविधकृमीणां तन्निरसनस्य वर्णनम् (२.३१.१-५)।

(५) चक्षुर्नासिकादन्तादिषु प्रविश्य रोगकारकाणां कृमीणां नाशनम् (५.२३. १-१३)।

अतः परं बहुविधानां रोगाणां उत्पत्तिविषये कारणानां वर्णनम्, तेषां निरसने भैषज्यविधिः, भेषजपरिचयः कर्मवर्णनं च संन्यस्तम्।

अतः परमौषधविषये अथर्ववेदस्य सदुक्तिः संराजते सर्वसूक्तिशिरोमणिरिव। यथा, नक्तमाल-सहदेवी-वृष (बासक) दूर्वा-दूयिन-श्रृंग-कुष्ट (कुड इत्याख्यं) गुग्गुलु-पिप्पली-वरुणच्छदप्रभृतयः।

ब्राह्मणग्रंथेष्वपि रोगनिवारणविषये—पथनिर्देशः समुल्लेखितः। यथा—छान्दोग्यब्राह्मणस्य ५·२२ सूक्ते हृदयनाडीवर्णनम्।। (८. १. ६)।

(२) आहारपाकप्रक्रिया (६.५)।

(३) निद्रास्वप्नोल्लेखः (४·३३)।

(४) पामारोगवर्णनम् (४.१.८)

(५) रोगं निरस्य षोडशाधिकशतवर्षायुष्यकारकस्य उल्लेखः।

इतीदृशा आयुर्वेदसम्बन्धिनो विषयास्तत्र तत्र न्यूनाधिकरूपेणोपलभ्यन्ते। इतोऽपि सामविधानब्राह्मणश्रौतग्रंथ-गृह्यसूत्र (आश्वलायनादि) गोभिलपारस्करीयहिरण्यकेशीयप्रभृतिषु भूरिशः उल्लेखा लभ्यंते।

इत्थं नानाद्रव्ययोगसिद्धानाम् औषधानां प्रयोगपद्धतीनां समावेशे सत्यपि प्रतिव्यक्तिप्रकृतिभेदेन एक एव रोगो यथा उच्चावचैर्दोषान्तरसंपृक्तै स्तैस्तैर्विभिद्य अनेकरूपतां धत्ते, अथवा देशकालजलवाय्वाहारादि-परिस्थितिभेदेन नानारूपतां विधत्ते एक एव भेषजः तथा तथा देशकालादिविशेषस्वभावेन नवनवानां प्रतिकारो-पायान् अनुभवशुद्धानाम् औषधान्तराणाम् उपचयेन संरक्षणमुपबृंहणमपि प्राचीनभारतीयायुर्वेदविज्ञानस्यैव सर्वोपरि वरीवर्तिता संलक्ष्यते इति ॥

आयुर्वेदेऽरिष्ट विज्ञानम्

गुणत्रय-विभेदेने मूर्तित्रयमुपेयुषे ।
त्रयीभुवे त्रिनेत्राय त्रिलोकी-पतये नमः ॥

श्रो पट्टाभिरामशास्त्रिमहोदयानाम् अभिनन्दनं भारतीयोच्चस्तरीयविद्वद्भिः अनुष्ठीयमानमिति परमम् प्रमादास्पदम् ।

नाऽस्माकं चिरपरिचयः शास्त्रिमहोदयैः किन्तु वाराणसेय-संस्कृतविश्वविद्यालये अध्यापयतामस्माकमचिर-परिचयो जातः । साधुस्वभावाः क्षमाशीलाः विद्वद्वरेण्याः स्वभावतोऽतिसरलाः सन्तः तैः सह एक वारमपि यस्य आलापः समजनि स तदनुगत एव भवति । वयमपि तैः सह वारं वारं शास्त्रीयचर्चां तथा व्यावहारिकीं वार्ताञ्च कुर्वन्तस्तेषाम् वैदुष्यं व्यावहारिकं ज्ञान मन्वभूम तथा दाक्षिणात्याः संतोऽपि ते उत्तरभारतीयविद्वद्भिः सह भ्रातृभावं कल्पयन्तः अत्र काश्यां स्ववैदुष्यं स्वसरलव्यवहारञ्च प्रख्यापयामासुः ।

आयुर्वेदे अरिष्टसूचकलिङ्गानि

"अरिष्टं नाम नियतमरणख्यापकं लिङ्ग", तच्च "लिङ्ग्यते ज्ञायते अनेन इति व्युत्पत्त्या यैर्लक्षणैः स्वस्थानामातुराणाञ्च भविष्यन्मरणज्ञानं भवति तत् अरिष्टज्ञानम् । आतुराणां रोगानुसारं उपद्रवानुसारं च मरणज्ञानं चिकित्सकानां कृते आवश्यकम् । यतः ते हि रोगज्ञानकुशलाः भवन्ति । अतः ये चिकित्सकाः ते तु चरकादिग्रन्थान् अभ्यस्यैव, अरिष्टज्ञानं सम्पादयन्ति, स्वस्थानामरिष्टविज्ञानं सर्वेषां विदुषामविदुषां च कृते श्रेयस्करं अतो हि स्वस्थशरीरे मरणख्यापकं यल्लिङ्गं तदिह निर्दिश्यते । उक्तं च चरकसंहितायाम्—

"पुष्पं यथा पूर्वरूपं फलस्यैव भविष्यतः । तथा लिङ्गमरिष्टाख्यं पूर्वरूपं मरिष्यतः ॥ अप्येवं तु भवेत् पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत्, फलं चापि भवेत् किञ्चद् यस्य पुष्पं न पूर्वजम् । न त्वरिष्टस्य जातस्य नाशोस्ति मरणादृते । मरणञ्चापि तन्नास्ति यन्नारिष्टपुरस्सरम् ॥

एवमरिष्टं विना कस्यचिदपि मृत्यु र्न भवति, सञ्जाते अरिष्टलक्षणे मृत्युरपि अवश्यं भवति, किन्तु सुश्रुतेन एवमगादि—

ध्रुवं तु मरणं रिष्टे ब्राह्मणैस्तत् किलामलैः ।
रसायन-तपोजप्यतत्परैर्वा निवार्यते ॥

सम्प्राप्ते अरिष्टलक्षणे दैवव्यपाश्रयचिकित्सया यथा महामृत्युञ्जयमन्त्रजपकर्मणा, शतचण्डिपाठकर्मणा च शुद्धाचरणसम्पन्नैः ब्राह्मणैः कदाचिन्निवार्यते । अरिष्टं विना कस्यचिदपि मृत्युर्न भवति । वैद्यानां विदुषाञ्च तानि अरिष्टलिङ्गानि सौक्ष्म्यात् प्रमादात् आशु व्यतिक्रमाच्च कदाचित् न ज्ञायन्ते । यथा च—

मिथ्यादृष्टमरिष्टाभमनरिष्टमजानता ।
अरिष्टं वाप्यसम्बुद्धमेतत् प्रज्ञापराधजम् ॥

वर्षाभ्यन्तरे मरणसूचकलिङ्गानि—

नानापुष्पोपमो गन्धो यस्य भाति दिवानिशम् ।
पुष्पितस्य वनस्येव नानाद्रुमलतावतः ।
तमाहुः पुष्पितं धीरा नरं मरणलक्षणैः ।
स ना संवत्सराद् देहं जहातीति विनिश्चयः ।
एवमेकैकशः पुष्पैर्यस्य गन्धः समो भवेत् ।
इष्टैर्वा यदि वाऽनिष्टैः स च पुष्पित उच्यते ।
समासेनाशुभान् गंधान् एकत्वेनाथवा पुनः ।
आजिघ्रेद्यस्य गात्रेषु तं विद्यात् पुष्पितं भिषक् ।
आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गंधाः शुभाऽशुभाः ।
व्यत्यासेनानिमित्ताः स्युः स च पुष्पित उच्यते ।
तद्यथा चन्दनं कुष्ठं तगराऽगुरणी मधु ।
माल्यं मूत्र-पुरीषे च मृतानि कुणपानि च ।
ये चान्ये विविधात्मानो गन्धा विविधयोनयः ।
तेऽप्यनेनानुमानेन विज्ञेया विकृतिं गताः ।
इदं चाप्यतिदेशार्थं लक्षणं गंधसंश्रयम् ।
वक्ष्यामो यदभिज्ञाय भिषक् मरणमादिशेत् ।
वियोर्निर्विदुरो गन्धो यस्य गात्रेषु जायते ।
इष्टो वा यदि वाऽनिष्टो न स जीवति तां समाम् ।

एवं शरीरे अकस्मात् हेतुभिर्विना शुभाऽशुभा गंधा वर्षाभ्यन्तरे मरण सूचकाः ।

भजन्तेऽङ्गसौरस्यात् यं यूकामक्षिकादयः ।
त्यजन्ति वाऽतिवैरस्यात् सोऽपि वर्षं न जीवति ॥
सततोष्मसु गात्रेषु शैत्यं यस्योपलभ्यते ।
शीतेषु भृशमौष्ण्यं वा स्वेदः स्तम्भोऽप्यहेतुकः ।
यो जात-शीतपिडिकः शीताङ्गो वा विदह्यते ।
उष्णद्वेषी च शीतार्तः स प्रेताधिप-गोचरः ॥
सप्तर्षीणां समीपस्थां यो न पश्येत् अरुन्धतीम् ।
ध्रुवमाकाशगङ्गां वा स न पश्यति तां समाम् ॥
अ० हृ० शा० ५

बलिं बलिभृतो यस्य प्रणीतं नोपभुज्यते ।
लोकान्तरगतः पिण्डं भुङ्क्ते संवत्सरेण सः ॥ च०॥
यस्य स्फुटेयुरंगुल्यो नाऽकृष्टा न स जीवति ।
क्षवकासादिषु तथा यस्यापूर्वो ध्वनिर्भवेत् ।
ह्रस्वो दीर्घोऽति वोच्छ्वासः पूतिः सुरभिरेव वा ।
आप्लुतानाप्लुते काये यस्य गन्धोऽतिमानुषः ।
मलवस्त्रव्रणादौ वा वर्षान्तं तस्य जीवितम् ।

उपर्युक्ताऽरिष्टचिह्नानि सर्वाणि सर्वेषु मानवेषु नोपलभ्यन्ते । केषुचित् शरीरेषु किञ्चित् पृथक्-पृथक् लक्षणं लक्षणानि च युगपदपि संभवन्ति । सूक्ष्मतया दृष्टिपातेन इमानि लक्षणानि प्रत्यक्षरूपेण शरीरेषु दृश्यन्ते ।

षण्मासाभ्यन्तरे मरण-सूचकारिष्टानि :—

भक्तिः शीलं स्मृतिस्त्यागो बुद्धिर्बलमहेतुकम् ।
षडेतानि निवर्तन्ते षड्भिर्मासैर्मरिष्यतः ॥
धमनीनामपूर्वाणां जालमत्यर्थशोभनम् ।
ललाटे दृश्यते यस्य षण्मासान्न स जीवति ॥
लेखाभिश्चन्द्र वक्राभिर्ललाटमुपचीयते ।
यस्य तस्यायुषः षड्भिर्मासैरन्तं समादिशेत् ॥

(चरक)

यस्यापूर्वाः शिरा लेखा बालेन्द्वाकृतयोऽपि वा ।
ललाटे वस्तिशीर्षे वा षण्मासान्न स जीवति ।
पद्मिनी पत्रवत्तोयं शरीरे यस्य देहिनः ।
प्लवते प्लवमानस्य षण्मासान् तस्य जीवितम् ॥

(अष्टाङ्गहृदये)

शरीरे अपूर्वाणां शिराणां धमनीनाञ्च जालं सहसा ललाटादिषु दृश्यते अथवा जले प्लवमानस्य स्नातस्य वा शरीरे जलबिन्दूनां स्पर्शो नावलोक्यते । यथा पद्मिनी स्थितं तोयं अस्पर्श इव भाति तथैव शरीरे जलस्य अस्पर्शो दृश्यते चेत् षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युसूचकचिह्नमिति ।

मासाभ्यन्तरे मरणसूचकलिङ्गानि

शरीरकम्पः सम्मोहो गतिर्वचनमेव च ।
मत्तस्येवोपलभ्यन्ते यस्य मासं न जीवति ॥
रेतोमूत्रपुरीषाणि यस्य मज्जति चाम्भसि ।
स मासात् स्वजनो द्वेष्टा मृत्युवारिणि मज्जति ॥
हस्तपादं मुखं चोभे विशेषाद् यस्य शुष्यतः ।
शूयते वा विना देहात् स च मासं न जीवति ॥ (चरक)
यस्य गोमयचूर्णाभं चूर्णं मूर्ध्नि मुखे पि वा ।
सस्नेहं, मूर्ध्नि धूमो वा, मासान्तं तस्य जीवितम् ॥ (अष्टाङ्गहृदय)

अकस्मात् हेतुभिर्विना यस्य स्वस्थस्य गतिः, वाणी, व्यवहारश्च मत्तवत् भवति, मूत्र-पुरीष-कफाश्च यदि जले अवसीदन्ति तथा विना रोगात् सहसा यस्य पादयोः शोथः अथवा हस्तपादयोर्मुखे च शुष्कता भवति तथा ललाटे मूर्ध्नि वा गोमय-चूर्ण-संकाशं धूलिः धूमो वा अवलोक्यते अथवा हस्ताकर्षणेन धूलिः दृश्यते तस्य मृत्युः मासाभ्यन्तरे भवति ।

अर्द्धमासाभ्यन्तरे मृत्युसूचकचिह्नानि

यस्य स्नातानुलिप्तस्य पूर्वं शुष्यत्युरोभृशम् ।
आर्द्रेषु सर्वगात्रेषु सोर्ध-मासं न जीवति ॥

यस्य स्वस्थस्य स्नान-चन्दनानुलेपनानन्तरम् आर्द्रेषु सर्वशरीरेषु शीघ्रतया उरः प्रदेशः शुष्यति

अर्थात् वक्षः प्रदेशे सम्पूर्णं शरीरे वा चन्दनस्य अनुलेपे सति पूर्वं यदि वक्षःस्थलीयचन्दनानुलेपनं पूर्वं शुष्यति स्नानान्तराच्च पूर्वं उरः शुष्यति तदा पञ्चदशदिनाभ्यन्तरे मृत्युः स्यात् ।

सप्ताहाभ्यन्तरे मृत्यु-सूचक-लिङ्गानि

योग्नि-प्रकृति-वर्णस्थं नीलं पश्यति निष्प्रभम् ।
कृष्णं वा यदि वा शुक्लं निशां व्रजति सप्तमीम् ।

स्वाभाविकं प्रज्ज्वलितं अग्निं कृष्णं, नीलं शुक्लं निष्प्रभं वा दृश्यते तदा सप्ताहाभ्यन्तरे मृत्युमुखमुपयान्ति ।

षड्रात्राभ्यन्तरेमृत्युसूचकलिङ्गानि

भ्रुवोर्वा यदि वा मूर्ध्नि सीमन्तावर्तकान् बहून् ।
अपूर्वानकृतान् व्यक्तान् दृष्ट्वा मरणमादिशेत् ।
त्र्यहमेतेन जीवन्ति लक्षणेनातुरा नराः ।
आरोग्याणां पुनस्तेन षड्रात्रं परममुच्यते ॥

यदि केशेषु अकृताः सीमन्ताः भवन्ति, अथवा कृतसीमन्तेषु हस्ताकर्षणद्वारा विनष्टेषु पुनः अकृतान् एव सीमन्तान् परिदृश्येत तदा रुग्णानां मृत्युः त्रिरात्, स्वस्थस्य षड्रात्रात् मृत्युर्भवति । एवं स्वस्थानाम् वर्षादारभ्य षड्रात्रं यावत् मृत्युसूचकचिह्नानि अत्र निर्दिष्टानि । एषा कालमर्यादा चरकसंहितायाम् तथा अष्टाङ्गहृदयसंहितायाञ्च लिखिता, किन्तु महर्षिणा सुश्रुतेन विरचित-सुश्रुतसंहितायां कालमर्यादा न लिखिता, किन्तु स्वस्थानाम् आतुराणाञ्च अरिष्ट-लक्षणं लिखितम् । तथा यथा नक्षत्रपीडा कालेन भवति तथैव शरीरे जायमानस्य अरिष्टस्य पातः कालेन भवति, स च कालः अनियतः, तस्य पाकः (मरणं) नियत एव । मृत्युकालात् पूर्वं पञ्च इन्द्रियार्थेषु विकृतयोऽपि सम्भवंति ।

शब्दस्य विकृतिः

अशब्दस्य च यः श्रोता, शब्दान् यश्च न बुध्यते ।
द्वावप्येतौ यथा प्रेतो तथा ज्ञेयौ विजानता ॥
संवृत्याङ्गुलिभिः कर्णौ ज्वाला शब्दं य आतुरः ।
न श्रृणोति गतासुं तं बुद्धिमान् परिवर्जयेत् ॥

जातस्य शब्दस्य अश्रोता, अजातस्य शब्दस्य श्रोता यथा—

समुद्रपुरमेघानां शब्दानां असम्पत्तौ तेषां ग्रहणं, ये च समुद्रादिशब्दाः तेषां न ग्रहणं तथा यः कर्णकुहरद्वयं अंगुलिभिः पिधाय अन्तः शरीरे जायमान-जठराग्निजन्यधुक्-धुक् शब्दं न श्रृणोति तदा स्वसंवेद्य-शब्दविकृत्या मरण-काल उपस्थित इति ज्ञायते ।

स्पर्शविकृतिः

उष्णान् शीतान् खरान् श्लक्ष्णान् मृदूनपि च दारुणान् ।
स्पृश्यान् स्पृष्ट्वा ततोऽन्यत्वं मुमूर्षुस्तेषु मन्यते ।

शीतेषु उष्णत्वं, उष्णेषु शीतत्वं खरेषु श्लक्ष्णत्वं, खरत्वं, मृदुषु दारुणत्वं, दारुणेषु मृदुत्वं, स्पर्शभावेषु विपरीतं मन्यमानः शीघ्रं मृत्युमुपयाति ।

रूपविकृतिः

मरीचीनसतो मेघान् मेघान् वाप्यसतोऽम्बरे ।
विद्युतो वा विना मेघैः पश्यन् मरणमृच्छति ॥

सूर्य-चन्द्रमसोःकिरणाभावे सूर्यचन्द्रकिरणदर्शनंमाकाशे, मेघाभावे पि मेघ-दर्शनं तथा मेघाभावेऽपि विद्युद्दर्शनं, मरणाय भवति ।

रसविकृतिः

यो रसान्न विजानाति न वा जानाति तत्वतः ।
मुखपाकादृते पक्वं तमाहुः कुशला नरम् ॥

यः मधुरादि रसानाम् ज्ञानं जिह्वया न जानाति अथवा विपरीतरसं विजानाति सोऽपि मरणमश्नुते यदि मुखपाकः स्यात् न तदा तदरिष्टलक्षणम् ।

गंधविकृतिः

विपर्ययेण यो विद्यात् गन्धानां साध्वसाधुताम् ।
न वा तान् सर्वशो विद्यात्तं विद्यात् विगतायुषम् ॥

एवं पञ्चेन्द्रियार्थविकृत्या मरणाभिज्ञानं भवति ।

इन्द्रियाधिष्ठान-विकृतिः

शब्देन्द्रियाधिष्ठानविकृतिः—अकस्मात् कर्णयोः उष्णत्वं वा, कर्णशष्कुल्याः कुटिलस्य भावः, कर्णयोः संक्षिप्तत्वं, तथा परिपोटनञ्च मृत्योः चिह्नानि । तथा

मुखं शब्दश्रवावोष्ठौ शुक्लश्यावातिलोहितौ ।
विकृत्या यस्य वा नीलौ न स रोगात् विमुच्यते ॥

मुखं कर्णौ ओष्ठौ च यदि एभिः वर्णैः सहसा आक्रान्तौ तदा स्वस्थानां रोगिणां च मृत्युः ध्रुवा ।

स्पर्शेन्द्रियाधिष्ठानविकृतिः

स्पर्शेन्द्रियाधिष्ठानत्वचः अकस्मात् रूक्षत्वं शीतत्वं उष्णत्वं वा, तैलानभ्यक्तेऽपि तैलाभ्यक्त इव दर्शनं मरणाय । त्वचि, शरीरस्य गौर, श्याम, गौरश्याम, तथा श्यामगौर, चतुर्वर्णा विभासेरन् । यदि 'त्वचि वर्णान्यभावः सोऽपि अरिष्टकारणम् । तथा च ।

"तत्र प्रकृतिवर्णमर्धशरीरे विकृतिवर्णमर्धशरीरे, द्वावपि वर्णौ मर्यादाविभक्तौ दृष्ट्वा, यद्येवं सव्यदक्षिणविभागेन, यद्येवं पूर्वपश्चिमविभागेन, यद्युत्तराधरविभागेन, यद्यन्तर्बहिर्विभागेन, आतुरस्यारिष्टमिति विद्यात्, एवमेव वर्णभेदो मुखेऽप्यन्यत्र वर्तमानो मरणाय भवति ।

रूपेन्द्रियाधिष्ठान (नेत्र) विकृतिः

यस्यात्यर्थं चले नेत्रे स्तब्धान्तर्गत-निर्गते ।
जिह्मे विस्तृत-संक्षिप्ते संक्षिप्तविनतभ्रुवौ ।
उद्भ्रान्तदर्शने हीनदर्शने नकुलोपमे ।
कपोताभे अलाताभे स्रुते लुलितपक्ष्मणी ॥

रसेन्द्रियाधिष्ठान (जिह्वा) विकृतिः

स्तब्धा निश्चेतना गुर्वी कंटकोपचिताभृशम् ।
श्यावा शुष्काऽथवा शूना प्रेतजिह्वा विसर्पिणी ॥

अकस्मात् एवं रूपा जिह्वा स्वस्थानां मरणाय—

गन्धेन्द्रियाधिष्ठान (नासिका) विकृतिः

ग्लायते नासिकावंशः पृथुत्वं यस्य गच्छति ।
अशुनः शूनसंङ्काशः प्रत्याख्येयः स जानता ॥

अत्यर्थविवृता यस्य यस्य चात्यर्थसंवृता ।
जिह्वा वा परिशुष्का वा नासिका न स जीवति ॥

अन्यान्यपि स्वस्थपुरुषस्य मरणख्यापकानि लिङ्गानि चरकेऽन्यत्र वा आयुर्वेदग्रंथे निर्दिष्टानि ।

इन्द्रिय एवं इन्द्रियाधिष्ठानविकृतिं दृष्ट्वा अरिष्टसूचकचिह्नानाम् ज्ञानं जायते ।

छाया-प्रतिच्छायाप्रभाद्वारा मृत्युज्ञानं यथा भवति तथा निर्दिश्यते, छायाप्रतिछायाप्रभानाम्—

वर्णमाक्रमति च्छाया प्रभावर्णप्रकाशिनी ।
ज्योत्स्नायामातपेदीपे सलिलादर्शयोरपि ॥

छायाशरीरे भवति यथा यस्य पुरुषस्य रूपं भवति तथा गौर, श्याम, श्यामगौर, गौरश्याम, तथैव छाया भवति। छाया तु "आसन्ना लक्ष्यते छाया", प्रभा तु चतुर्णां वर्णानां प्रकाशने भवति, प्रतिच्छाया आतपे जले चन्द्रकिरणे आदर्शे तथा नेत्रगोलके दृश्यते ।

छाया अरिष्टं तु त्वचः विकृतौ दृश्यतें यथा यस्य मानवस्थ प्रकृति-वर्णा छाया सहसा विकृत-वर्णा भवति सा अरिष्टसूचिका छाया तु अधराङ्गविभागेन सव्यासव्यविभागेन विकृता भवति ।

प्रभा अरिष्टम्

प्रभा तैजसी भवति या विकासिनी स्निग्धा सा सुखाय या च विपरीता सा मृत्यवे भवति । प्रतिच्छाया आतपादिषु मानवानां भवति । सा च, छिन्ना भिन्नाकुला छाया हीना वाप्यधिका पि वा ।

नष्टा तन्वी द्विधा छिन्ना विकृता विशिरा च या ।
एताश्चान्याश्च याः काश्चिद् प्रतिच्छाया विगर्हिता ।
सर्वा मुमूर्षूणां ज्ञेया नचेद् लक्ष्यनिमित्तजा ।

जलादर्शादिषु यदि छाया आकृतिः सहसा न दृश्यते । छिन्ना भिन्ना दृश्येत, शिरोविहीना वा दृश्येत यथा अन्य सत्वजा आकृतिः, दृश्येत सा मरणाय एवं छायाप्रभा प्रतिच्छाया द्वारा अरिष्टलक्षणस्य ज्ञानं भवति ।

सामान्यरूपेण स्वस्थानाम् आतुराणां च मृत्युसूचकचिह्नानि—

ललाटे मूर्ध्नि वक्त्रे बा नीला यस्य प्रकाशते ।
राजी बालेन्दुकुटिला न स जीवितुमर्हति ॥
प्रवालगुटिकाभासा यस्य गात्रे मसूरिका ।
उत्पद्याशु विलीयन्ते न चिरात् स विनश्यति ।
समीपे चक्षुषः कृत्वा मृगयेतांगुलीकरम् ।
स्मर्यतेऽपि च कालान्धः ऊर्ध्वगो निमिषेक्षणः ।
शयनादासनादङ्गात् काष्ठात् कुड्यादथापि वा ।
असन् मृगयते किञ्चिद् स मुह्यन् कालचोदितः ॥

विदुषां ज्ञानाय एतद् सर्वं अरिष्ट लक्षणं अत्र दर्शितम् । रोगानुसारं अरिष्टज्ञानं भिषजां कृते अपेक्षितम् । यतो हि ते रोगज्ञानकुशला भवन्ति । रोगिणः कदा कैः लक्षणैः मृत्युः भविष्यति इति तेषाम् एव विषयः, न समेषां विदुषां कृते । अतः आतुराणाम् अरिष्ट ज्ञानं नोल्लिखितं जिज्ञासवः चरकसंहिताया इन्द्रिय-स्थानं अवलोकयन्तु इति शम् ।

भारतीयदर्शनेषु ज्ञानस्वरूपम्

डा० मुरलीधर पाण्डेयः

प्राचार्यः जम्मूस्थ श्रीरणवीर-केन्द्रीय-संस्कृतविद्यापीठे

ज्ञानशब्दस्त्रिधा व्युत्पाद्यते—कर्मणि, भावे करणे च प्रत्ययेन[1]। तेन ज्ञानशब्दस्य व्यवहारो ज्ञप्तौ विषये प्रमाणे च भवति। अत एव प्रशस्तपादभाष्ये उक्तम्—'बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः।···· ····तस्य सत्यपि अनेकविधत्वे समासतो द्वे विधे विद्या चाविद्या चेति।···· ····विद्यापि चतुर्विधा—प्रत्यक्ष लैङ्गिक-स्मृत्यार्षलक्षणा। न्यायसूत्रभाष्येऽपि बुद्ध्युपलब्धिर्ज्ञानमित्यर्थान्तरमिति। सप्तपदार्थीटीकायां जिनवर्द्धनेनापि एवमेवोक्तम्।[2] तत्त्वार्थसूत्रे उमास्वातीभिरपि आत्मसापेक्षज्ञानम्, आत्मेतरेन्द्रियमनःसापेक्षं ज्ञानम्, केवलज्ञानं-चेति रीत्या ज्ञानत्रैविध्यमुक्तम्। बौद्धदर्शने सत्यपि परस्परभेदे विज्ञप्त्यर्थे ज्ञानशब्दस्य प्रयोगे च वैमत्यम्। वेदान्तिनयेऽपि आत्मा आत्मना आत्मानं जानातीत्यादिरीत्या सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति च दिशा ज्ञातृज्ञप्तिज्ञेयेषु समानरूपेण ज्ञानशब्दो व्यवह्रियते। इयांस्तु भेदो यदेकं नित्यज्ञानम् अपरमन्तः करणावच्छिन्नं वृत्तिमात्रं ज्ञान-मनित्यम्। अत्र एके ज्ञानमेव आत्मा, अपरे विज्ञप्तिरेव आत्मा, अन्ये ज्ञानमात्मनो गुणः तथा ज्ञरूप एवात्मा इति च मन्यन्ते। एतेषु सर्वेषु ज्ञानं निर्विषयं तथा सविषयं भवति। सविषयके ज्ञाने च प्रत्यक्षज्ञानप्रक्रियायां महान् भेदः।

न्यायवैशेषिकबौद्धजैननयेषु सामान्यत एकाकारा सविषयकज्ञानप्रक्रिया दृश्यते। मनः इन्द्रियैर्विषयान् गृहीत्वा आत्मना युज्यते, तेन सविषयकं ज्ञानं जायते। अद्वैतवेदान्तसांख्ययोगेषु च वृत्तिरूपं ज्ञानं मन्यते। वृत्तिश्च अन्तः करणस्य बुद्धेर्वा इन्द्रियप्रणालिकया विषयदेशे गतस्य विषयाकारेण परिणामः। तत्र अद्वैतवेदान्ति-मते विषयावच्छिन्नचैतन्यतः करणावच्छिन्नचैतन्योरैक्याज्ज्ञानं जायते। सांख्ययोगे च उक्तरूपा वृत्तिरेव प्रमाणम्। तत्रेन्द्रियद्वारा यत्र बुद्धिवृत्तिः तत्र प्रत्यक्षप्रमाणम्, यत्र लिङ्गादिद्वारा अग्न्यादि विषयिणी वृत्तिस्तत्र अनुमानप्रमाणम्। यत्र च आप्तवाक्येन वाक्यार्थविषयिणी बौद्धवृत्तिस्तत्र शब्दप्रमाणम्। एभिः वृत्तिरूपप्रमाणैः पुरुषे यज्ज्ञानं जायते तत् फलरूपं प्रमाज्ञानमुच्यते। इत्थं चेयं प्रमा प्रत्यक्षप्रमा, अनुमितिप्रमा, शाब्दी प्रमा च कथ्यते। सांख्ययोगे ज्ञानप्रक्रियायां पञ्च पदार्था अपेक्ष्यन्ते—प्रमाणम्, प्रमाप्रमाणम्, प्रमा, प्रमाता, साक्षि च। बुद्धिवृत्तिरूपप्रमाकरणत्वेन इन्द्रियाणि प्रमाणम्। अहं घटं जानामि इति पौरुषेयो बोधः, अस्यां पौरुषेयबोध-रूपप्रमायाम् अयं घटः इति बुद्धिवृत्तिः करणं, तेन इयं बुद्धिवृत्तिः प्रमाणम्, पौरुषेयो बोधः प्रमा। इयं प्रमा फलरूपा कस्यापि करणेन, तेन केवलं प्रमैव। बुद्धिप्रतिबिम्बितं चेतनं प्रमाया आश्रयः, तेन प्रमाता, बुद्धिवृत्त्युप-हितं शुद्धं चेतनं च साक्षि।

एवं च एकं निर्विशेषं ज्ञानमपरं च सविशेषम्। इदं ज्ञानं साकारमुत निराकारमित्यत्र अस्ति कश्चन विवादः। भारतीयदर्शनेषु केचन बाह्यार्थसत्त्ववादिनः, केचन बाह्यार्थासत्त्ववादिनः। बाह्यार्थसत्त्ववादिनो

---

१. ज्ञानं ज्ञायत इत्यर्थो ज्ञोमवि करणेऽपि वा।—श्लोकवार्तिके १,२, १२८. अत्र श्रीपार्थसारथिमिश्रः—सिद्धे च वस्तुभेदे यद्युभयोर्ज्ञानशब्दः परिभाषते अथवा कर्मव्युत्पत्त्याऽर्थे भावकरणान्यतरव्युत्पत्त्या च बुद्धौ ज्ञान शब्दः प्रयुज्यते, तदस्तुनाम।

२. अज्ञानान्धतिरस्कारकः सकलपदार्थस्यार्थप्रकाशकः, प्रदोष इव देदीप्यमानः आत्माश्रयः यः प्रकाशः सा बुद्धिः (ज्ञानम्)।

न्यायवैशेषिकवैभाषिकसांख्यमीमांसकजैनाः, बाह्यार्थसत्त्ववादिनो ब्रह्माद्वैतिविज्ञानाद्वैतिसौत्रान्तिकाश्च। अत्र ये बाह्यार्थसत्त्ववादिनस्ते ज्ञानस्य निराकारतां मन्वते। ये च बाह्यार्थासत्त्ववादिनः ब्रह्माद्वैतवादिनस्ते वृत्तिज्ञानं साकारं मन्वते, विज्ञानाद्वैतवादिनोऽपि प्रमाणज्ञानस्य साकारत्वमङ्गीकुर्वन्ति।

ज्ञानस्य निराकारत्वसाकारत्वयोरयमर्थः यद् अत्र ग्राह्यभेदाकारग्राहि यद् ग्राहकज्ञानं तत्साकारम्, यत्र च ग्राह्यस्य आकारभेदो नास्ति तज्ज्ञानं निराकारमिति। निराकारज्ञानवादिनां मते अर्थाकाराकारिता ज्ञानस्य नास्ति। यथा नैयायिकाः इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षं मन्वते। अत्र सन्निकर्षो वृत्तिरेव, वृत्तिश्च व्यापाररूपः, व्यापारश्चात्र चरमधर्मरूपः। श्रीवाचस्पतिमिश्रेण तात्पर्यटीकायामुक्तम्—वृत्तिर्हि आधारः···· ···· सन्निकर्षो ज्ञानं वा चरमभावो धर्मभेदः। तेन चरमभाविधर्मभेदेन घटादिज्ञानस्य धर्मभेदो भवति। उदयनाचार्येण एवमेवोक्तम्—

अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।
क्रिययैव विशेषो हि व्यवहारेषु कर्मणाम्॥ (कु०, ४।४)

वैभाषिकबौद्धमतेऽपि ज्ञानस्य निराकारत्वम्। अस्मिन् मते अर्थाज्जातं विज्ञानं प्रत्यक्षमिति नैयायिकरीतिरनुसृता। भाट्टमीमांसकमतेऽपि घटः प्रकटो भवति प्राकट्याश्रयो घटः। अयं प्राकट्यधर्मो ज्ञातता इत्युच्यते। ज्ञाततया च ज्ञातताज्ञप्तो घटः प्रत्यक्षः क्रियते। ज्ञातताख्यधर्मस्य इन्द्रियादिना संयुक्ततादात्म्यसम्बन्धेन प्रत्यक्षत्वम्। तेनास्मिन् मते ज्ञानस्य न ज्ञातता। जैनमतेऽपि इन्द्रियः अज्ञानावरणं तिरस्क्रियते, तेन ज्ञानं जायते। अतो ज्ञानस्य निराकारतैव।

बाह्यार्थवादिसांख्ययोगमते—ज्ञानं साकारम्। यतो हि घटाकारो यो हि प्रत्ययःबुद्धेः परिणामः, परिणामश्च वृत्तिरेव। बुद्धिवृत्तौ प्रतिबिम्बिता चितिरेव प्रकाशते। अत्र ज्ञानस्य साकारत्वं मन्यते।

अद्वैतवेदान्तेऽपि चक्षुरादिद्वारा अन्तःकरणस्य वृत्तिर्जायते। तत्र वृत्यवच्छिन्नं चैतन्यं प्रमाणम्, तथा प्रमाणावच्छिन्नचैतन्यस्य विषयावच्छिन्नचैतन्यस्य चाभेदे ज्ञानगतं प्रत्यक्षम् भवति, अनेन प्रकारेण प्रमाणं विषयाकारं जायते। अतो ज्ञानं साकारं मन्यते। एवमेव विज्ञानाद्वैतमतेऽपि। सौत्रान्तिकमतेऽपि अर्थस्यविशीर्यमाणत्वात्—

तदुपेक्षिततत्त्वार्थः कृत्वा गजनिमीलनम्।
केवलं लोकबुद्ध्यैव बाह्यचिन्ता प्रतन्यते॥

इति धर्मकीर्तिवचनाद् अर्थस्य विज्ञप्तिमात्रतायां पर्यवसानात् ज्ञानस्य साकारत्वमेव।

एवं चेदं स्पष्टं यद् न्यायवैशेषिक-सांख्ययोगवैभाषिकबौद्धदर्शनानि ज्ञानस्य निराकारत्वं मन्यन्ते। ब्रह्माद्वैतवादिविज्ञानाद्वैतवादिसौत्रान्तिकबौद्धजैनदर्शनानि ज्ञानस्य साकारत्वं मन्यन्ते। अतो भारतीयदर्शनेषु ज्ञानस्य स्वरूपविषये निराकारत्वं तथा साकारत्वमुभयमभिमतम्।

कर्ता आख्यातवाच्यः आक्षेपलभ्यो वेति विचारे वैयाकरणमीमांसकयोः परिसंवादः

श्री कृष्णकान्तशर्मा, शोध-सहायकः संगीतशास्त्रविभागे, हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

मीमांसाशास्त्रं वाक्यशास्त्रम्। वाक्यार्थविचारो ह्यस्य प्रधानं कर्त्तव्यम्। वाक्यार्थज्ञाने च पदार्थज्ञानं कारणं, सम्यक्पदार्थज्ञाने च प्रकृतिप्रत्ययज्ञानम्। अतो 'यजेत स्वर्गकामः' इति वाक्यस्यार्थबोधाय 'यजेत' इति—पदार्थज्ञानं, 'यजेत' पदार्थज्ञानाय च यज्धातोः, तप्रत्ययस्य च ज्ञानमपेक्ष्यते। तत्र मीमांसकमते 'यजेत' इत्यत्र 'त' प्रत्ययरूपाख्यातस्य वाच्यार्थो भावना। सा च कर्तारं विना नोपपद्यते। तेन सा कर्तारमाक्षिपति। तदित्थं कर्ता आक्षेपलभ्यो न तु आख्यातवाच्य इति मीसांसकानां राद्धान्तः।

किन्त्वेतद्विपरीतं वैयाकरणमते कर्ता आख्यातवाच्यो, न तु आक्षेपलभ्यः, अतो विषयमिममधिकृत्य वैयाकरणमीमांसकयोः प्रवर्तत एष परिसंवादः—

वैयाकरणः—कर्ता आख्यातवाच्यः, न त्वाक्षेपलभ्यः। यतो हि यद्यस्माच्छब्दान्नियमेन प्रतीयते तत्तस्य वाच्यं भवति। आख्यातश्रवणे यथा भावना नियमेन प्रतीयते तथैव कर्तापि। अतः कर्ता आख्यातवाच्य एव। यदि भवता (मीमांसकेन) भावनयैव कर्तुराक्षेप इत्युच्यते तदास्माभिः कर्त्रैव भावनाया आक्षेप इत्युच्यते। एवञ्च कर्त्रैव आक्षेपलभ्या भावना, न तु भावनया कर्तेत्यत्र किं विनिगमकम्? विनिगमनाविरहाद् भावनाऽपि नाख्यातवाच्या स्यात्।

मीमांसकः—'अनन्यलभ्यः शब्दार्थ' इतिन्यायेन स एव हि शब्दस्यार्थो भवति यो लक्षणादिप्रकारान्तरेण नोपलभ्यते। अत एव गङ्गापदस्य तीरं न वाच्यार्थः, लक्षणयैव तद्भानात्। अत एव च वेदान्तिमते, अस्मन्मते च न वाक्यार्थे शक्तिः, संसर्गमर्यादयैव तद्भानात्। एवमेव आक्षेपेणैव कर्तृरूपार्थस्यापि भानसम्भवान्न हि कर्ता आख्यातवाच्यः। यतो भावना स्वाश्रयं कर्तारं विना नोपपद्यते अतः सा तमाक्षिपति। यदुक्तं भवता विनिगमनाविरह इति, तत्र श्रूयतां—यथा आकृत्यधिकरणे जातौ, जातिविशिष्टव्यक्तौ वा शक्तिरिति प्रश्नमुद्भाव्य विशिष्टे शक्तिस्वीकारे गौरवाज्जातावेव शक्तिः स्वीकृता, तद्वदत्रापि कृतिमति (कर्त्तरि) शक्तिस्वीकारे गौरवात् कृतावेव (भावनायामेव) शक्तिः स्वीकर्त्तव्या। अतो भावनयैव कर्तुराक्षेपो न तु कर्त्रा भावनायाः।

वैयाकरणः—भावनया सह न केवलं कर्त्तुरेव सम्बन्धः, किन्तु अन्येषामपि करणादिकारकाणाम्। यदि भावना कर्तारमाक्षिपेत्तदा कारकान्तरमपि आक्षिपेत्। कमपि कारणविशेषं विना सा झटिति कर्त्तारमेव आक्षिपेत् न कारकान्तरमिति कथमुच्यताम्? अस्मन्मते तु **'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यादि'**ति नियमेन कारकान्तरेण सह कर्त्तुरसम्बन्धात् स भावनामेव झटिति आक्षिपति। यतः कर्त्तुः कर्तृत्वमपि भावनां विना नोपपद्यते। तस्माद् भावनैव आक्षेपलभ्या, कर्ता तु आख्यातवाच्य एव।

मीमांसकः—'तिष्ठति' इत्यादिषु करणादेरनाक्षेपाद् यथा भावना कर्त्रा सह नियमेन सम्बध्यते न तथा कारकान्तरेण। अत एव आख्याताभिहितसंख्या कर्त्रा सह सम्बध्यते, न कारकान्तरेण। तस्माद् भावना कर्तारमेव आक्षिपेन्न कारकान्तरमिति अक्षेपलभ्य एव कर्ता न तु आख्यातवाच्यः।

वैयाकरणः—यदि कर्त्ता आक्षेपलभ्यः स्यात्तदा करणादीनामपि आक्षेपलभ्यत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्येवं करणाद्यर्थे विहितानां तृतीयादिविभक्तीनां करणादिवाचकत्वं न स्यात्।

मीमांसकः—भावनया नियमेन करणादेरनाक्षेपात् तृतीयादीनां करणादिवाचकत्वे न काचिद् विप्रतिपत्तिः। किञ्च विनाप्याख्यातश्रवणं केवलं 'पशुना' इत्येवं तृतीयाश्रवणमात्रेणैव करणादिप्रतीतिर्जायत एव। अतश्चापि न तासां करणादिवाचकत्वे काचिद् विप्रतिपत्तिः।

वैयाकरणः—यदि कर्ता नाख्यातवाच्यस्तर्हि आख्याताभिहितस्यैकत्वस्य कर्त्रा सह कथमन्वयः स्यात् ? यतो हि न शाब्दमशाब्देनान्वेति। यद्यशाब्देनापि शाब्दस्य अन्वयः स्यात्तदा प्रकृतियागपठितस्य 'अग्नये त्वा' इत्यस्य स्थाने विकृतौ 'सूर्याय त्वा' इत्येवमूहो न कर्त्तव्यः स्यात्, 'अग्नये' पदेनैव लक्षणया सूर्यार्थलाभसम्भवात्। ततश्च ऊहादिलोपः प्रसज्येत। अतः कर्ता आख्यातवाच्य एव स्वीकार्यः।

मीमांसकः—मैवं यथा अशाब्दं (लक्षितं) तीरं शाब्देन घोषेणान्वेति तद्वल्लक्षितः (आक्षिप्तः) कर्तापि शाब्देनैकत्वेनान्वेष्यति। अतो न कोऽपि दोषः।

वैयाकरणः—यदि भावनैव आख्यातवाच्या स्यान्न तु कर्ता तदा 'देवदत्तः पचतीति' वाक्यस्य देवदत्त-निष्ठपाकानुकूलकृतिः (भावना) इत्यर्थः स्यान्न तु 'देवदत्तः पाकानुकूलकृतिमान् इत्यर्थः। किन्त्वेवं सति कृतिदेवदत्त-योरैक्याभावादाख्यातस्य देवदत्तपदेन सह सामानाधिकरण्यं न स्यात्। अस्मन्मते तु यो हि देवदत्तः स एव कृतिमान्, अतस्तयोः सामानाधिकरण्यमुपपद्यते। तस्मात्कर्तैव आख्यातवाच्यः।

मीमांसकः—आख्यातस्य वाच्यार्थो भावना (कृतिः) लक्ष्यार्थश्च कृतिमान्। एकस्मिन्नेवाधिकरणे देवदत्ते तयोः सत्त्वादाख्यातदेवदत्तयोः सामानाधिकरण्यं स्यादेव।

किञ्चात्र सम्भवति मुख्यार्थे कथं लक्ष्यार्थ इत्यपि न शङ्कनीयम्, अन्यथा सिंहो देवदत्त इत्यस्यापि 'सिंहसदृशो देवदत्त इति लाक्षणिकसामानाधिकरण्यं न स्यात्, मुख्यमेव स्यात्। तदित्थं भावनैव आख्यातवाच्या, कर्ता तु आक्षेपलभ्य एव।

वैयाकरणः—यदि आख्यातवाच्यः कर्त्ता न स्यात् तदा कर्त्रर्थे लकारविधायकेन 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति सूत्रेण विरोधः स्यात्।

मीमांसकः—न हि वाच्यवाचकभावो व्याकरणगम्यः, किन्तु न्यायसहितान्वयव्यतिरेकगम्यः। अथवा भवतु नाम व्याकरणगम्य एव तथापि नेदं सूत्रं कर्तुराख्यातवाच्यत्वे प्रमाणं, किन्तु 'द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने' 'बहुषु बहुवचनम्' इत्यनेनैकवाक्यतापन्नं सत् कर्तुरेकत्वे एकवचनात्मकः, द्वित्वे द्विवचनात्मकः, बहुत्वे च बहुवचनात्मको लकारः स्यादित्यर्थ एव प्रमाणम्। अतो न हि आख्यातवाच्यः कर्ता।

वैयाकरणः—यदि कर्त्ता नाख्यातवाच्यस्तदा 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इत्यनेन अनभिहितयोरेव कर्तृ-करणयोस्तृतीयाविधानात् 'देवदत्तः पचतीत्यस्य स्थाने देवदत्तेन पचती'ति प्रयोगापत्तिः स्यात्, 'ति'प्रत्ययेन कर्तुरनभिधानात्। कर्त्तुराख्यातवाच्यत्वे तु अभिहितत्वादेव कर्त्तरि तृतीया न स्यात्। प्रथमा तु स्यादेव, तस्या अभिहितकारकवाचित्वात् प्रातिपदिकवाचित्वाद्वा।

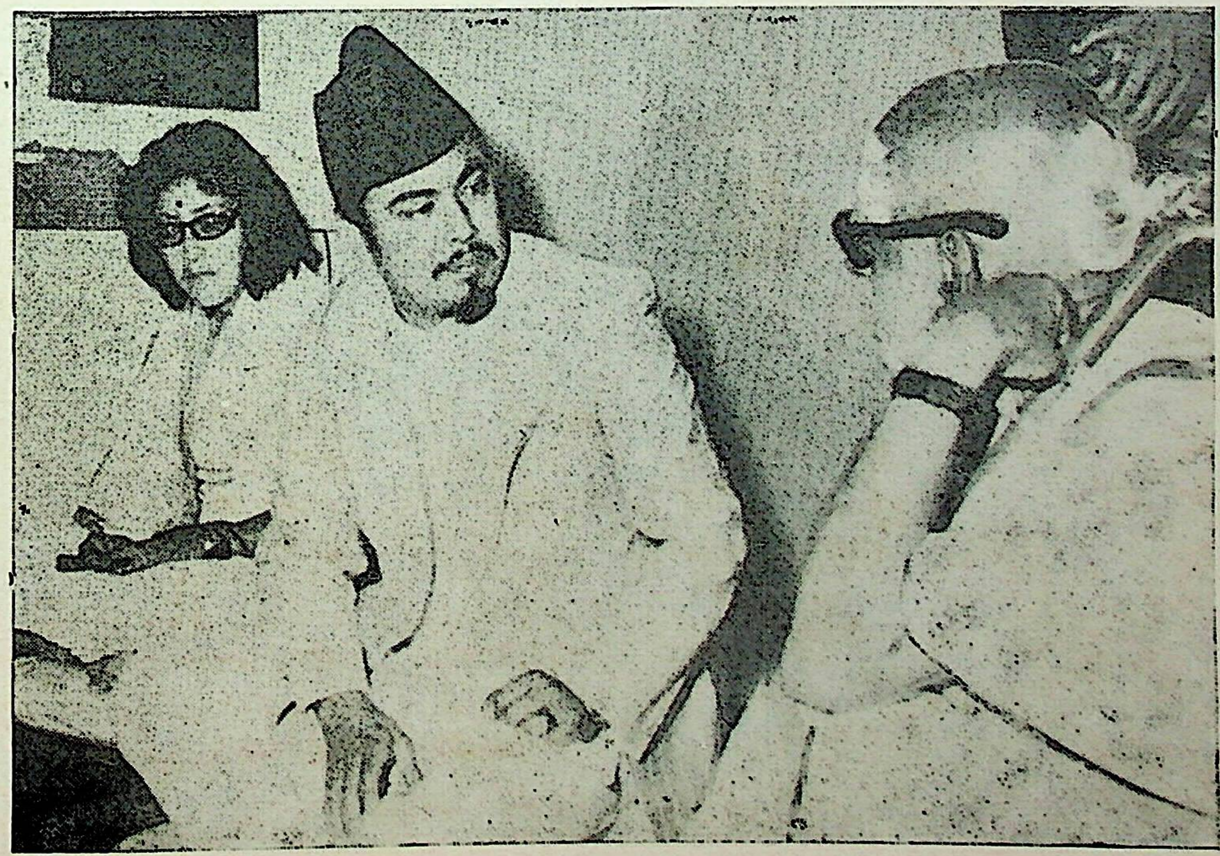
मीमांसकः—'देवदत्तः पचती'त्यत्र किमर्थं तृतीया स्यात् ? कर्तृबोधनार्थमुत कर्तृगतसंख्याबोधनार्थम् ? यदि कर्तृबोधनार्थमुच्यते तदा कर्ता तु आक्षेपादेव लभ्यते, अतो न तदर्थं तृतीयापेक्षा। यदि संख्याबोधनार्थ-मुच्यते सापि आख्यातेनैव प्रतीयते। अतस्तद्बोधनार्थमपि न तृतीयापेक्षा। अत एव कुमारिलभट्टेनापि उक्तम्—

संख्यायां कारके वा धीर्विभक्त्या हि प्रवर्तते।
उभयं चात्र तत् सिद्धं भावनातिङ्विभक्तितः॥ इति।

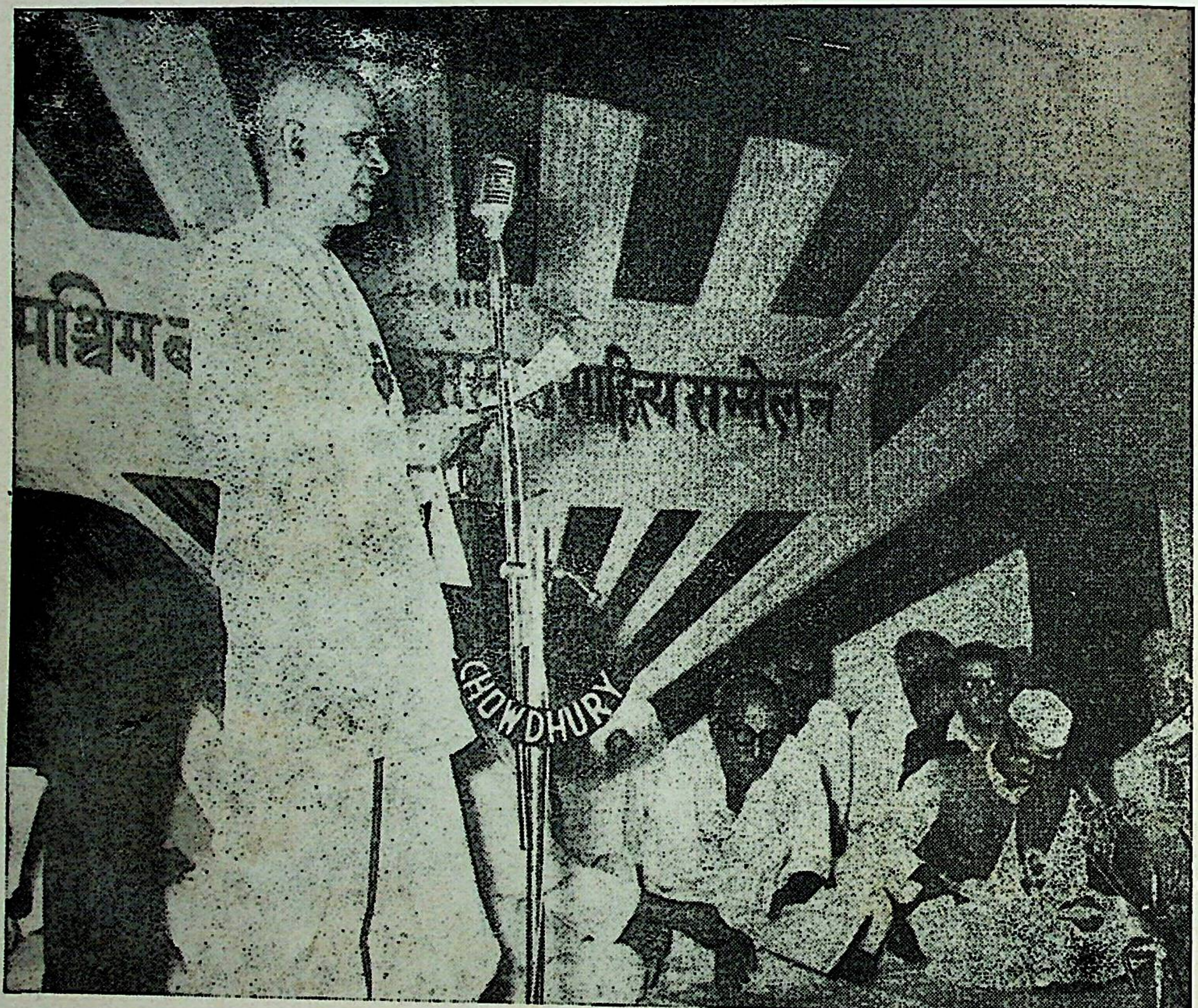
यत्र तु आख्यातेन कर्तृगता संख्या नोच्यते तत्र तृतीया भवत्येव। यथा—'देवदत्तेन पच्यते'। तदित्थम् आख्यातेन कर्तुरनभिधाने न कश्चिद् दोषः। तस्मान्नहि कर्ता आख्यातवाच्यः; किन्त्वाक्षेपलभ्यः, भावनैवाख्यात-वाच्येति सिद्धान्तः।



राष्ट्रपति श्री राधाकृष्णन्‌जी को अभिनन्दन-पत्र भेंट कर अभिवादन करते हुए शास्त्रीजी



काठमाण्डू, नेपाल में उच्च शिक्षाधिकारी से परामर्श करते हुए श्रीशास्त्री जी



पश्चिमवङ्गीय साहित्य संमेलन में श्री लालबहादुर शास्त्री के अभिनन्दन पत्र पढ़ते हुए श्री शास्त्री जी

शास्त्रीय ग्रन्थों के प्राचीनोक्त गुण एवं दोष

डॉ० वामन केशव लेले
प्राध्यापक मराठीवाङ्मय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

शास्त्रीय ग्रन्थों की विविधता एवं विपुलता

यह बात सर्वविदित है कि, प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा के अनेक विषयों तथा विद्याओं पर शास्त्रीय ग्रन्थों का निर्माण हुआ। संस्कृत भाषकों ने एक ओर साहित्य, सङ्गीत, नृत्य, नाटच, चित्र, शिल्प आदि कलाओं का निर्माण एवं संवर्धन किया और दूसरी ओर उतने ही उत्साह के साथ व्याकरण, राजनीति, कामशास्त्र, गणित आदि गम्भीर शास्त्रों की उपासना की। संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में इन शास्त्रों का विवरण पाया जाता है। संस्कृत काव्य शास्त्रज्ञों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों में इन शास्त्रों के निर्देश प्रचुर मात्रा में किये हैं। उदाहरण के लिए, वामन ने कविशिष्यों को उपदेश किया है कि वे शब्दविद्या, स्मृतिग्रन्थ, अभिधानकोष, छन्दःशास्त्र, कलाशास्त्र, कामशास्त्र, दण्डनीति आदि विद्याओं का ज्ञान सम्पादन करें।[1] क्षेमेन्द्र ने अपने 'कविकण्ठाभरण' नामक लघुकाय ग्रन्थ में कवियों से आग्रहपूर्वक कहा है कि वे निम्नलिखित शास्त्रों का परिचय प्राप्त कर लें—तर्कशास्त्र, व्याकरण, भरत मुनि का नाटच-शास्त्र, चाणक्य की राजनीति, वात्स्यायन का कामशास्त्र, महाभारत, रामायण, मोक्ष प्राप्ति के उपाय, अध्यात्मशास्त्र, धातुशास्त्र, रत्नपरीक्षाशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्योतिःशास्त्र, धनुर्वेद, गजलक्षणशास्त्र, अश्वलक्षणशास्त्र, पुरुषलक्षण-विद्या, द्यूत-विद्या, जादूगरी और अन्य विद्याएँ तथा शास्त्र।[2] हेमचन्द्र ने भी 'लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः।' इस सूत्रगत 'शास्त्र' शब्द पर वृत्ति लिखते हुए शब्दानुशासन, छन्दोनुशासन, अभिधानकोश, श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, तर्क, नाटच, अर्थ, काम, योग आदि शास्त्रों का उल्लेख किया है।[3] ये सब निर्देश इस तथ्य को द्योतित एवं प्रमाणित करते हैं कि, प्राचीन भारत में संस्कृत भाषा के उपर्युक्त अनेक शास्त्रों पर प्रचुर मात्रा में ग्रन्थों का निर्माण हुआ था।

शास्त्रीय ग्रन्थ का तन्त्र

किन्तु प्राक्कालीन विचारकों ने न केवल अनेक शास्त्रों पर ग्रन्थों की रचना ही की थी, अपितु शास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण का तन्त्र (technique या methodology) या पद्धति भी सुचारु रूप से सुनिश्चित की थी। चरक, सुश्रुत, पाणिनि, डल्हण, कौटिल्य, विष्णुधर्मोत्तर-पुराणकार, इन्दु, नीलमेघ, अरुणदत्त, चक्रपाणि आदि प्राचीन मनीषियों द्वारा वर्णित ३२ या ३६ तन्त्र युक्तियाँ, १५ व्याख्याप्रकार, सात विकल्प, बीस आश्रय, सत्रह ताच्छील्य आदि के साथ १८ गुण एवं १५ दोष इन अङ्गों का समावेश तत्कालीन ग्रन्थ निर्माण में होता था। इनमें से अन्तिम दो अङ्गों का परिचय-पूर्वक विचार इस निबन्ध में कर्तव्य है।

शास्त्रीय ग्रन्थों के गुण

इस विषय का विशद विवेचन चरक ने अपनी चरक-संहिता के विमानस्थान के आठवें अध्याय में किया है। उसके एतद्विषयक मूल वचन इस प्रकार हैं—

'तत्र यन्मन्येत सुमहद्यशस्वि-धीरपुरुषसेवितं, अर्थबहुलं, आप्तजनपूजितं, त्रिविधशिष्यबुद्धिहितं, अपगतपुनरुक्त-दोषं, आर्षं, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं, स्वाधारं, अनवपतितशब्दं, अकष्टशब्दं, पुष्कलाभिधानं, क्रमागतार्थं, अर्थतत्त्व-

विनिश्चयप्रधानं, सङ्गतार्थं, असंकुलप्रकरणं, आशुप्रबोधकं, लक्षणवत्, उदाहरणवत् च। तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवंविधममल इवादित्यस्तमो विधूय प्रकाशयति सर्वम्।'[४]

अर्थात्--जिस शास्त्रीय ग्रन्थ में निम्नलिखित गुण हों उसी को अध्ययनार्थ अपनाना चाहिए--(१) जिसे प्रसिद्ध, कुशल एवं धीर विद्वान् लोग अध्ययन योग्य मानते हैं, (२) जो अर्थबहुल (अर्थात् जो ग्रहण योग्य एवं अनेक मननीय विचारों, प्रमेयों, सिद्धान्तों तथा संकल्पनाओं से ओतप्रोत) हो, ३ जो आप्त (अर्थात् तज्ज्ञ या निष्णात) व्यक्तियों द्वारा प्रशंसित हो, ४ जो तीन (मन्द, मध्यम एवं तीव्र) प्रकार की बुद्धि से युक्त शिष्यों को योग्य पथ प्रदर्शन करने वाला हो, ५ जो पुनरुक्ति दोष से शून्य या मुक्त हो, ६ जो असाधारण मेधा के व्यक्ति से प्रणीत अतएव पवित्र हो, ७ जो ढंग से रचित सूत्रों, भाष्यों एवं सारांशों से युक्त हो, ८ जो विश्वसनीय प्रमाणों से मण्डित हो, ९ जो भ्रष्ट, प्रामादिक या ग्राम्य शब्दों के प्रयोगों से मुक्त हो, १० जो कर्णकटु एवं दुष्टोच्चार्य शब्दों से विमुक्त हो, ११ जो शास्त्रीय चर्चाओं से युक्त हो, १२ जो क्रमबद्ध विषयों के वर्णन से युक्त अथवा परंपरागत विचारों से भरा हुआ हो, १३ जो प्राधान्येन उद्दिष्ट अर्थ तथा सिद्धान्त का निश्चय करने वाला हो, १४ जो सुसंवादी एवं युक्तिवादपूर्ण विचारों से भरपूर हो, १५ जिसके विषयोपविषयों की रचना सुचारु एवं अनुशासन युक्त हो, १६ जो शीघ्र समझ में आने वाला हो, १७ जो सोद्देश्य या वर्ण्य-विषयों के प्रमादरहित वर्णनों से युक्त या अनेक शास्त्रीय विषयोपविषयों के यथावत् लक्षणों से सम्पन्न हो और १८ जो शास्त्रीय विषयों को सुविशद करने वाले उदाहरणों से युक्त हो। ऐसे शास्त्र का आश्रय करना चाहिए। ऐसा ही शास्त्र निर्मल सूर्य के समान अज्ञान रूप अन्धकार को निरस्त कर ज्ञानरूप प्रकाश को सर्वत्र फैला पाता है।

चरक के उपर्युद्धृत विचारों से यह स्पष्ट होता है कि उसने शास्त्रीय ग्रन्थ के शब्द पक्ष (अर्थात् बाह्यांग) रचनापक्ष तथा अर्थपक्ष (अंतरंग) इन तीनों पक्षों पर समान रूप से ध्यान दिया था। उसकी दृष्टि से किसी भी शास्त्र-परक ग्रन्थ की भाषा, विविध रचना भी तद्गत गम्भीर प्रमेय-सिद्धान्तादिकों के ही समान महत्त्व रखती है। चरक के विचारों का तात्पर्य इन शब्दों में कहा जा सकता है कि, कोई भी आदर्श शास्त्रीय ग्रन्थ जब अभिव्यक्ति की दृष्टि से पुनरुक्तिशून्य, सुबद्ध, प्रौढ़ एवं समुचित शब्द प्रयोगों से युक्त, अनुशासनयुक्त तथा सोदाहरण होता है और आशय की दृष्टि से अर्थघन, सन्मार्ग दर्शक, तज्ज्ञप्रणीत, सप्रमाण, परंपरागत, निश्चितार्थक, सुसंवादी, सुबोध एवं लक्षणोपेत होता है तभी वह अध्ययन योग्य, मननीय एवं विद्वज्जन प्रशंसनीय होता है। आदर्श शास्त्रीय ग्रन्थ का चरक-कल्पित यह स्वरूप किसी भी देश, काल या भाषा में रचे जाने वाले शास्त्रपरक ग्रन्थों को लागू पड़ने वाला है। इसीलिए आदर्श शास्त्रीय ग्रन्थ के इस लक्षण को भी हम 'आदर्श लक्षण' (anidcal definition of a scientific treatise) कह सकते हैं।

शास्त्रीय ग्रन्थ के दोष

गुण हमेशा ग्राह्य होते हैं, तो दोष त्याज्य। शास्त्रीय ग्रन्थ के ग्राह्य गुणों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। अब शास्त्र के दोषों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। वाग्भट के 'अष्टाङ्गहृदय' के टीकाकार अरुणदत्त ने अपनी 'सर्वाङ्गसुन्दरा' टीका में निम्नोद्धृत शब्दों में शास्त्र के दोषों का प्रथमतः नाम-निर्देश किया है[५]--१. अप्रसिद्धशब्दम्, २. दुःप्रणीतम्, ३. असङ्गतार्थम्, ४. असुखारोहि, ५. विरुद्धम्, ६. अतिविस्तृतम्, ७. अतिसंक्षिप्तम्, ८. अप्रयोजनम्, ९. भिन्नक्रमम्, १० संदिग्धम्, ११. पुनरुक्तम्, १२. निःप्रमाणकम् १३. असमाप्तार्थम्, १४. अपा (न) र्थकम्, १५. व्याहतम्। इनके क्रमशः लक्षण इस प्रकार हैं--१. 'अप्रसिद्धशब्दं नाम यल्लोके नातीव प्रसिद्धम्'।[६] जब किसी शास्त्रीय ग्रन्थ में किसी शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाता है, तब प्रस्तुत दोष उत्पन्न होता है। लोकव्यवहार में अप्रचलित अथवा अनति-प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग शास्त्र में करने से शास्त्र का उतना अंश दुर्बोध हो जाता है। ऊपर गुणों के विवेचन में

यह कहा गया है कि, शास्त्र अर्थबोधक या सुबोध होना चाहिए। चूंकि अप्रसिद्ध शब्द के प्रयोग से शास्त्र दुर्बोध हो जाता है, इसलिए वह अनिष्ट है। प्रस्तुत दोष ऊपर कहे गये 'आशुप्रबोधकम्' गुण के विरुद्ध है। यहाँ यह उल्लेख करना अनुचित न होगा कि, इसी दोष का वर्णन वामन के काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति में भी पाया जाता है[७] [जिसे देखकर क्या हम यह अनुमान कर सकते हैं कि, प्राचीन विचारकों ने काव्यगत दोष तथा शास्त्रगत दोष परस्पर सदृश माने थे ? इस विषय पर चर्चा होनी आवश्यक होती हुई भी उसे इस लेख में करना अयोग्य है।]

२. 'दुःप्रणीतम्—दुःप्रणीतं नाम, सूत्रभाष्यप्रयोजनरहितम् ।'[८] अर्थात् जिस शास्त्रीय ग्रन्थ में निष्प्रयोजन सूत्र एवं उद्देश्यरहित भाष्य होते हैं. उस ग्रंथ में प्रस्तुत दोष होता है। ग्रन्थकार का अभिप्राय यह है कि शास्त्रीय ग्रंथ में पठित प्रत्येक सूत्र सप्रयोजन होना चाहिए तथा कोई भी भाष्यांश विना किसी प्रयोजन के नहीं होना चाहिए। यह दोष उपर्युक्त 'सुप्रणीतसूत्रभाष्यसङ्ग्रहक्रमं' गुण के विपर्यय रूप है। प्रस्तुत दोष काव्यशास्त्रकारोक्त 'अनर्थक' दोष से मिलता-जुलता है।[९]

३. 'असङ्गतार्थं नाम यत्सूत्रेणासम्बद्धम् ।'[१०] अर्थात् शास्त्रगत विषय जब सूत्र से सम्बद्ध न हो अर्थात् विशृङ्खलित हो तब प्रस्तुत दोष का निर्माण होता है। सूत्र हर एक शास्त्रीय ग्रंथ की मानो नींव है और इसीलिए शास्त्र में वर्णित सभी विषय प्रत्यक्षाप्रत्यक्षतया सूत्र से समन्वित रहते हैं।[११] वैसा रहने से ही शास्त्र अनुशासनयुक्त होता है। प्रस्तुत दोष ऊपर कहे गये 'सङ्गतार्थं' गुण के विरुद्ध होकर काव्यशास्त्रगत 'अप्रयुक्त' दोष के समान है।

४. असुखारोहि पदं नाम यत्पदसन्निवेशस्य विषमतया दुःखेनोच्चार्यते चर्करीतादिप्रायम् । यथा 'धातर्यरिप्रदम्' इति।[१२] शास्त्रीय ग्रंथ में प्रयुक्त शब्द उच्चारणदृष्ट्या सुलभ एवं श्रवणदृष्ट्या सुखावह होने चाहिए। अन्यथा उनका उच्चारण एवं श्रवण कष्टप्रद होता है, जैसे—'धातर्यरिप्रद' आदि शब्द। ग्रंथकार का मन्तव्य है कि, शास्त्र चाहे कितना भी गम्भीर हो, उस में प्रयुक्त शब्दसंघटना सुखोच्चार्य एवं श्रुतिसुभग होनी चाहिए। तभी शास्त्रीय ग्रंथ रंजक होते हैं। यह दोष पुराकथित 'अकष्टशब्दम्' गुण के विपर्ययरूप होकर काव्यशास्त्रगत कष्ट[१३] दोष से मिलता जुलता है।

५. विरुद्धं नाम यद् दृष्टान्तसिद्धान्तसमयैर्विरुद्धम् ।[१४] अर्थात् जब शास्त्रगत प्रतिपादन दृष्टान्तों, सिद्धान्तों एवं नियमों के विरुद्ध होता है तब प्रस्तुत दोष उत्पन्न होता है। प्रत्येक शास्त्र में प्रतिपाद्य विषय को सुबोध करने हेतु कुछ व्यावहारिक दृष्टान्त दिये जाते हैं। ऐसे दृष्टान्तों का अनुभव-विरुद्ध होना सदोष माना जाता है। हर एक शास्त्र में परम्परागत एवं विद्वज्जनमान्य प्रमेयों एवं मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन पाया जाता है। जहाँ इसका विरोध वर्णित होता है, वहाँ शास्त्र दोषयुक्त बन जाता है। प्रत्येक शास्त्र में प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रणीत नियमों का समावेश होता है। शास्त्रीय ग्रंथकार को चाहिए कि वह ऐसे नियमों का भङ्ग या उल्लङ्घन न करे। प्रस्तुत दोष पूर्वोक्त 'अर्थबहुल' गुण के विपर्यय रूप होकर काव्यशास्त्रोक्त लोकविरुद्ध तथा विधा-विरुद्ध[१५] दोषों से समानता रखता है।

६. अतिविस्तृतं नाम यथा मधुरादिस्कन्धं ब्रुवन् यावन्ति मधुराणि जगति सन्ति मधुरप्रायाणि मधुरप्रभवाणि तान्यशेषाणि यद्यभिदधाति तदाऽतिविस्तृतत्वं स्यात् ।'[१६] ग्रन्थकार का कथन है कि, कोई भी शास्त्रीय ग्रन्थ अतिविस्तृत न हो। शास्त्रीय ग्रंथ अपेक्षा से अधिक विस्तृत होने से पाठक ऊब जाता है। उदाहरण के लिए, दुनिया में जितने मधुर पदार्थ हैं उनके मधुरप्राय, मधुरोत्पन्न आदि सभी प्रकारोपप्रकारों की परिगणना निरतिशय विस्तृत हो जाएगी और अन्ततोगत्वा पाठक को नीरस प्रतीत होगी। इसलिए मधुर पदार्थों के प्रातिनिधिक नामनिर्देशों से ही काम लेना चाहिए। अर्थात् ग्रन्थकार को विवेकशीलता या तरतमभाव को अपनाना चाहिए। ऐसे ही ग्रन्थ को विवेचक पाठक अध्ययन योग्य मानकर उसका आश्रय करते हैं।

७. अतिसंक्षिप्तं नाम यथा योगशतकप्रायम् । यथा वा—हेतुलिङ्गौषधोद्देश एव क्रियते न तु तदवबोधक-वाक्यानामिति शेषः ॥[१७] अर्थात् जब कोई शास्त्रकार वर्ण्य विषयों का निर्देशमात्र करता है, किन्तु उनका विवरण नहीं करता, तब

प्रस्तुत दोष का निर्माण होता है। अति संक्षिप्त शास्त्रीय विवेचन अनर्थक, अपुष्टार्थक, संदिग्धार्थक, अनपेक्षितार्थबोधक, द्व्यर्थप्रतिपादक या भ्रमोत्पादक होने की सम्भावनाएँ रहती हैं। उनके परिहार के लिए ग्रन्थकार यहाँ कहता है कि, शास्त्र न तो अति विस्तृत हो, न अति संक्षिप्त। दोनों 'अति' वर्जित हैं।

८. अप्रयोजनं नाम यथा "इत्याचारः समासेन" इत्येतावद्यदि वदेत्, न तु ब्रूयात् "यं प्राप्नोति समाचरन्। आयुरारोग्यमैश्वर्यम्" इत्यादि, तदा न कश्चिदनुतिष्ठेदिति।[१८] शास्त्रीय वचन, नियम या आदेश-उपदेश अपने में पूर्ण होने चाहिए। प्रत्येक शास्त्र लोगों को अनधिगत अर्थों से अवगत कराता है, लोगों को हितोपदेश करता है। जैसा कि कहा गया है—शास्त्र पाठकों को प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का उपदेश करता है। स्वाभाविकतया यह उपदेश जब सुविशद एवं परिपूर्ण होता है, तभी उसको पढ़ने वाले उसके अनुसार आचरण करते हैं। इसीलिए शास्त्रकार को चाहिए कि वह अपने ग्रन्थ में शास्त्राचरण (या शास्त्रानुष्ठान) की फलश्रुति भी असंदिग्ध शब्दों में कह डाले।

९. भिन्नक्रमं नाम, पूर्वं येनानुक्रमेणोक्तं न तेनैव निर्दिश्यते प्रयोजनान्तरासम्भवेऽपि। यथा वातपित्तकफानुद्दिश्य तत्र रूक्षो लघुः 'इत्यादौ वातगुणनिर्देशमकृत्वैव' पित्तस्य विदधीत। एवं क्रमो भिन्नो भवेत्॥[१९] शास्त्रीय ग्रन्थ में विभिन्न विषयों के सनिर्देश विवेचन की अनुशासनयुक्त पद्धति होती है; होनी चाहिए भी। विभिन्न विषयों के महत्त्वक्रम के अनुसार उनके प्रथमतः निर्देश और तदनन्तर उनका वर्णन-विवेचन होना चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो शास्त्र की व्यवस्था भङ्ग हो जाती हैं। जब किसी विशेष अभिप्राय या प्रयोजन को मन में रखकर शास्त्रकार विषयोपविषयों के निर्देशक्रम से भिन्न विवेचन-क्रम को अपनाता है, तो उसका वैसे करना समर्थनीय है। ग्रन्थकार का दृढ़ मन्तव्य है कि, कोई भी शास्त्रीय ग्रन्थ अथ से इति तक क्रमबद्ध होता है, तभी वह असली अर्थ में शास्त्रीय माना जा सकता है। प्रस्तुत दोष प्राक्कथित 'क्रमागतार्थ' गुण के विरुद्ध होकर काव्यशास्त्रकारोक्त 'अपक्रम'[२०] दोष से अभिन्न है।

१०. संदिग्धं नाम, यथा 'किमकालमृत्युरस्ति उत नास्ति ?' इत्युभयत्र हेत्वाभासपरिग्रहात् संशयः॥[२१] जब किसी शास्त्रीय ग्रन्थ द्वारा विवेचित विषयों के स्वरूप निर्धारण में सन्देह उत्पन्न होता है, तब प्रस्तुत दोष की उत्पत्ति होती है। शास्त्रकार को चाहिए कि वह अपने पाठकों को प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का सुनिश्चित उपदेश करे। सन्देह के कारण पाठक को एक ही विषय के सम्बन्ध में परस्पर विरुद्ध नाना कोटिक ज्ञान होता है, जो अवधारणा में बाधा उत्पन्न करता है। प्रस्तुत दोष पूर्वोल्लिखित 'अर्थतत्त्वविनिश्चयप्रधानं' गुण के विपर्यय रूप होकर काव्यशास्त्रगत संदिग्ध[२२] दोष के बराबर है।

११. पुनरुक्तं नाम योऽर्थ उक्तोऽपि पुनरुच्यते।[२३] अर्थात्, एक बार कहे हुए अर्थ को दुहराना पुनरुक्त दोष है। किसी विशेष विषय पर साभिप्राय बल देने हेतु या उस विषय के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षण करने हेतु की गई पुनरुक्ति दोष रूप नहीं, अपितु गुणरूप मानी जाती है। किन्तु, अभिप्राय या प्रयोजन के अभाव में की गई पुनरुक्ति नित्य निन्द्य या वर्जित ही है। शास्त्रगत पुनरुक्ति शास्त्रकार की बौद्धिक अक्षमता एवं अनुशासन अप्रियता की निर्देशिका होती है। बौद्धिक दृष्टि से अनुशासनहीन व्यक्ति सच्छास्त्रकार नहीं माना जा सकता। यह दोष पूर्व निर्दिष्ट 'अपगतपुनरुक्तदोषं' गुण के विरुद्ध है और काव्यशास्त्र में प्रतिपादित एकार्थ[२४] दोष के समान है।

१२. "निःप्रमाणं नाम यथा पाक्यं शीतकषायं वा मुस्तापर्पटकम्" इति।[२५] जब कोई शास्त्रकार अपने ग्रन्थ में किसी शास्त्रीय विषय का विवेचन बिना किसी प्रमाण या आधार के करता है, तब प्रस्तुत दोष पैदा होता है। वही शास्त्र विश्वसनीय माना जाता है जो सप्रमाण अथवा साधार होता है। निःप्रमाण शास्त्र लोगों को समुचित कर्म में प्रेरित नहीं कर सकता। यह दोष पूर्व वर्णित 'स्वाधार' गुण के विरुद्ध होकर काव्यशास्त्र-प्रणीत 'लोक-विरुद्ध'[२६] दोष के सदृश है।

१३. असमाप्तार्थं नाम अग्र तावदुच्यते । परतोऽपिचेदित्येतत्ततः समासार्थत्वान्न ज्ञायते किमनेन कार्यमिति ।[२७] यदि कोई शास्त्रकार शास्त्रीय विषय की समाप्ति तक विवेचन न कर मध्य में ही उसका उपसंहार कर देता है, तो प्रस्तुत दोष का जन्म होता है । इस दोष के कारण पाठक को विवेच्य विषय का सम्यक् एवं समूचा ज्ञान नहीं होता । शास्त्र का अवतरण ही विषय के सम्यक् तथा सर्वाङ्गीण बोध के लिए होता है । प्रस्तुत दोष से इस प्रयोजन को धक्का लगता है ।

१४. अपा (न) र्थकम्—यदन्यार्थेनापि पदेनापगताभिधेयम् ।[२८] जब शास्त्रकार किसी विशिष्ट अर्थ के प्रतिपादन करने हेतु तद्भिन्नार्थक शब्दों का प्रयोग करता है तब अपार्थक या अनर्थक दोष उत्पन्न होता है, क्योंकि शास्त्रकार द्वारा साक्षात् प्रयुक्त शब्द उस अभिप्रेत अर्थ के अभिव्यञ्जक नहीं होते । कोई भी शास्त्रीय ग्रंथ तभी ग्राह्य माना जाता है जब उसमें शास्त्रकार को अभिप्रेत अर्थ या विचार ही तद्वाचक शब्दों से अभिव्यक्त होता है । अर्थ और उसका अवबोधक शब्द इन दोनों में सौ प्रतिशत एकरूपता वाञ्छनीय होती है । काव्य शास्त्र[२९] में भी इस दोष का वर्णन पाया जाता है ।

१५. व्याहतं नाम यथा पूर्वया वाक्ययुक्त्याऽपरा व्याहन्यते, अपरया पूर्वा वा । यथा अनास्थाप्या मेहिनः इत्युक्त्वा पुनरास्थापनमनुजज्ञे । तदत्र विधिप्रतिषेधयोः परस्परविरोधाद् व्याहतत्वम् ।[३०] अर्थात् जब पूर्वोक्त वचन से उपर्युक्त वचन का तथा उपर्युक्त वचन से पूर्वोक्त वचन का खण्डन हो जाता है, तब व्याहत दोष होता है । कहने का अभिप्राय यह है कि, शास्त्रीय प्रतिपादन में पूर्वापर-विरोध नहीं होना चाहिए । इस दोष के कारण शास्त्र, मोह प्रवर्तक हो जाता है, जब कि शास्त्र को मोह निवर्तक होना चाहिए । इस दोष का भी वर्णन काव्य शास्त्र में उपलब्ध है ।[३१]

ऊपर जिन दोषों का निर्देश एवं निरूपण किया है, उनमें से कतिपय दोष प्राक्कथित गुणों के विपर्यय रूप हैं, तो कतिपय केवल दोषरूप हैं । उपर्युक्त दोषों का और एक दृष्टि से वर्गीकरण किया जा सकता है । उक्त दोषों में से अप्रसिद्धशब्दम्, असुखारोहि और अपार्थक (अथवा अनर्थक) दोष शब्द-दोष हैं; अति विस्तृत, अति संक्षिप्त, भिन्न-क्रम एवं दुःप्रणीत ये चार रचनागत दोष हैं और असङ्गतार्थ, विरुद्ध, अप्रयोजन, संदिग्ध, पुनरुक्त, निःप्रमाण, असमाप्तार्थ एवं व्याहत ये सब अर्थनिष्ठ दोष हैं । ऊपर गुण विवेचन के उपसंहार में यह बतलाया गया है कि, शास्त्रकार ने शास्त्रीय ग्रन्थ के गुणों का परामर्श करते हुए शब्द, रचना एवं अर्थ इन तीनों पक्षों पर समान रूप से ध्यान दिया था । वही तथ्य शास्त्रकार कृत दोष विवेचन के विषय में भी प्रतीत होता है । इस प्रकार प्रस्तुत शास्त्रकर्ता ने गुण दोष विचार में एक प्रकार की एकरूपता ही प्रदर्शित की है, ऐसा कहा जा सकता है । तात्पर्य यह है कि, प्राचीन शास्त्रकारों ने शास्त्रीय ग्रन्थों के निर्माण की शैली की कल्पना की थी । उस कल्पना का प्रारूप सुविहित तथा सुनिश्चित था । उसके अन्तर्गत जिन घटकों का समावेश हुआ था, उनमें शास्त्र के गुण तथा दोष प्रमुख थे । और उन दो घटकों का शास्त्रकारकृत विचार सूक्ष्म, सर्वाङ्गीण, परिपूर्ण एवं दिक्कालाबाधित था । चूँकि उसी विचार को शिरोधार्य मानकर प्राचीनों ने अपने-अपने शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया, इसलिए वे ग्रन्थ 'आदर्श' ठहरे ।

सन्दर्भ-टिप्पणियाँ

१. श्रीवामनविरचिता काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, सम्पा० मा० ना० कुलकर्णी, औरिएण्टल बुक एजन्सी, पुणे, १९२७, पृ० ९ ।

२. महाकविक्षेमेन्द्रकृत कविकण्ठाभरण, सम्पा० वा० के० लेले, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६७, पृ० ९९ ।

३. श्रीहेमचन्द्रविरचितं 'काव्यानुशासनम्' सम्पा० शिवदत्त, परब एवं पणशीकर, निर्णयसागर, द्वितीयावृत्ति, १९३४, बम्बई, पृ० ६ ।

४. नीलमेघविरचितः तन्त्रयुक्तिचारः, सम्पा० एन० ई० मुत्तुस्वामी, केरल प्रदेशशासन-प्रकाशन, १९७६, पृ० xii, टिप्पणि ३२ से उद्धृत।

५. उपरिनिर्दिष्ट 'तन्त्रयुक्तिविचारः' पृ० XXIII से उद्धृत (अतःपर इन ग्रन्थ का निर्देश 'युवि' संक्षेप से किया जाएगा)।

६. तत्रैव।

७. 'शास्त्रमात्रप्रयुक्तमप्रतीतम् ॥ ८ ॥
शास्त्र एव प्रयुक्तं यन्नलोके तदप्रतीतं पदम्।'
—काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः, उपरिनिर्दिष्ट संस्करण पृ० १७, (अतः पर इस ग्रन्थ का उल्लेख 'सूत्र' संकेत से होगा)।

८. युवि पृ० XXIV

९. द्रष्टव्य—सूत्र पृ० १७। १०. युवि पृ० XXIV

११. सूत्र पृ० २८ १२. युवि पृ० XXIV

१३. सूत्र पृ० १६ १४. युवि पृ० XXIV

१५. सूत्र पृ० २९-३१ १६. युवि पृ० XXIV

१७. तत्रैव १८. तत्रैव १९. तत्रैव

२०. सूत्र पृ० २८ २१. युवि पृ० XXIV

२२. सूत्र पृ० २८ २३. युवि पृ० XXIV

२४. सूत्र पृ० २५ २५. युवि पृ० XXIV

२६. सूत्र पृ० २९-३० २७. युवि पृ० XXIV

२८. वाग्भटकृत अष्टाङ्गहृदय—मूल सम्पादक—अण्णा मोरेश्वर कुंटे, परिष्कर्ता-संस्कर्ता कृष्ण रामचन्द्रशास्त्री नवरे, पञ्चम संस्करण, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुंबई, १९२५, पृ० ५८६।

२९. काव्यशास्त्र में यह दोष 'असमर्थ' नाम से प्रसिद्ध है; द्रष्टव्य—श्रीहेमचन्द्रविरचितं काव्यानुशासनम्—उपरिनिर्दिष्ट संस्करण, पृ० १९४-२००।

३०. युवि पृ० XXV ३१. सूत्र पृ० २५।

सात्वत, भागवत, एकान्तिन्

डा० मुरलीधर पाण्डेय, प्राचार्य रणवीर केन्द्रीय विद्यापीठ, जम्मू

महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय खण्ड में सात्वत सम्प्रदाय का मूल प्राप्त होता है। यह सात्वत ही भागवत तथा ऐकान्तिक है। और इन दोनों के कुछ सिद्धान्त भेद से वैखानस तथा पाञ्चरात्र परम्परा बनती है। आराधना के प्रकार में कुछ भेद होने से पाञ्चरात्रियों में पुनः दो भेद हो जाते हैं—वड़कलै (औदीच्यज्ञान) तथा टेङ्कलै (दक्षिणात्यज्ञान)।

महाभारत में वर्णित सात्वत सम्बन्धी कथा का सार इस प्रकार है। एक समय महर्षिनारद ने देखा कि नारायण बड़ी विधि तथा विधान से किसी पूजा में लगे हैं। महर्षि ने पूछा प्रभो आप तो स्वयं परात्पर है, आप किसकी पूजा कर रहे हैं। नारायण ने उत्तर दिया अपनी आद्या प्रकृति की पूजा कर रहा हूँ। इसके बाद नारद जी आद्या प्रकृति के दर्शनार्थ मेरु शृङ्ग पर गये। वहां उन्होंने भूलोकातीत विलक्षण भगवद्भक्त श्वेतपुरुषों को देखा। यहीं राजा उपरिचर वसु की कथा आती है। भीष्मजी युधिष्ठिर से कहते हैं कि राजा उपरिचरवसु ने सात्वत विधि से भगवान् की आराधना करके ब्रह्मलोक प्राप्त किया था। इसके बाद नारद जी श्वेतद्वीप जाते हैं और वहाँ परमपुरुष, नारदजी को सात्वतधर्म और एकान्तभक्ति का उपदेश देते हैं। सात्वतधर्म का रूप यह बतलाया गया कि नारायण, वासुदेव परमात्मा समस्तभूतों की आत्मा है। वही संसार के सृष्टिकर्ता है। वासुदेव का ही दूसरा रूप संकर्षण है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) उत्पन्न होता हैं। प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) उत्पन्न होता है। अहंकार से फिर तन्मात्रादि के द्वारा स्थूलभूतादि की सृष्टि होती हैं। इस संसार से मुक्ति पाने के लिए ऐकान्तिक भक्ति की आवश्यकता है। ऐकान्तिक भक्ति सर्वतो भावेन प्रभु के प्रति शरणागति या प्रभु के लिए प्रपत्ति के द्वारा आत्मसमर्पण है। श्रीमद्भवद्गीता इसी ऐकान्तिक भक्ति की व्याख्या है। भागवतपुराण भी इसी ऐकान्तिक भक्ति तथा सात्वत धर्म की दार्शनिक तथा पौराणिक समन्वयात्मक व्याख्या है। श्रीमद्भगवद्गीता में यह विशेषता है कि सात्वतधर्म की व्याख्या होनेपर भी व्यूहों की चर्चा नहीं की गयी है। सात्वतधर्म में आत्मसमर्पण की प्रधानता है। इसीलिए गीता में स्थल-स्थल पर तत्कुरुष्व मदर्पणम्, ब्रह्मार्पणम् तथा सर्वधर्मान् परित्यज्यमामेकं शरणं व्रज इत्यादि कहा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता २।५० के हनुमद्भाष्य में समत्वबुद्धि का अर्थ भगवदर्पण ही किया गया है। कश्मीर के शैवदर्शन के पण्डित इस ऐकान्तिकभक्ति अथवा आत्मसमर्पण विधि से बहुत प्रभावित थे। यही कारण है कि वसुगुप्त से लेकर अभिनवगुप्त तक सभी ने श्रीमद्भगवद्गीता पर व्याख्यायें लिखीं। श्रीमदआनन्दवर्द्धनाचार्य ने तो अपनी गीताव्याख्या में गीता के त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता (११।१८) श्लोक में शाश्वतधर्मगोप्ता के स्थान पर सात्वतधर्मगोप्ता पाठ कर दिया है।

सात्वत

सात्वत का अर्थ होता है भगवदाश्रित भक्त। जिन्हें महाभागवत भी कहते हैं। विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में श्रीपराशरभट्ट ने लिखा है—

सातयति सुखयति आश्रितानिति सात् परमात्मा, स एषामस्तीति वा सात्वताः सात्वन्तो वा महाभागवताः।

(श्री वेकंटेश्वर प्रेस सं० पृ० ४६५)

इसी प्रकार की व्याख्या राजानक ज्ञानकण्ठ ने भी अपनी गीतावृत्ति में की है—सत् इति ब्रह्मनाम तद् विद्यते यस्य स सत्वान् परमेश्वरः सत्वान् देवता येषां ते सात्वताः ब्रह्मविदः। (गीता ११।१८)

इस प्रकार के अनन्य भगवद्भक्त सात्वतों का श्रीमद्भागवत के १।१४।२५, ३।१।२९ तथा ९।९।४९ आदि में बार-बार उल्लेख आता है। भागवत के १०।५८।४२ तथा ११।२७।५ में वासुदेव को सात्वतधर्म कहा गया है। महाभारत में भी आदिपर्व २१८।१२, २२१।३१, द्रोणपर्व ९७।२६ उद्योगपर्व ७०।७ तथा भीष्म पर्व ६६ में क्रमशः वृष्णीवंशी तथा वासुदेव, कृतकर्मा, सात्यकि, जनार्दन तथा भीष्म को सात्वत कहा गया है। विष्णुपुराण में सात्वत की उपरिवर्णित परिभाषा के अतिरिक्त एक वंशपरम्परा अर्थ में सात्वत शब्द का प्रयोग किया गया है। विष्णुपुराण के तृतीय खण्ड के बारहवें अध्याय के अन्त में कहा है कि—वृष्णियों के वंश में एक अंश नाम का महापुरुष हुआ। इसके बेटे का नाम सत्वत् था। इसी सत्वत् की वंशपरम्परा के लोग सात्वत हैं।

किन्तु भागवत के गोपीगीत में जो सात्वत् शब्द है, वह विष्णुपुराण पराशरभट्ट तथा राजानक रामकण्ठ के सात्वत शब्द से भिन्न है। इन तीनों में सात्वत शब्द तद्धितीय मत्वर्थक प्रत्यय के द्वारा अकारान्त सात्वत है और भागवत वाला सात्वत् शब्द हलन्त है। गोपियाँ कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिल-देहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥

इस सात्वत-धर्म प्रतिपादक शास्त्र को भी तादर्थ्येन सात्वत कहा जाता है। जैसे भागवत में कहा है।

तृतीयमृषिसर्गं च देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्टे नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥

और इसकी व्याख्या में कहा गया है कि सात्वत तन्त्र ही पाञ्चरात्र आगम है—
सर्वकर्मनिवर्तकं पाञ्चरात्रागमं नाम तन्त्रं कृतवान् इति।

श्रीमद्भगवद्गीता इसी सात्वत धर्म की दार्शनिक व्याख्या है, किन्तु गीता सात्वत-धर्म के नैष्कर्म्य तथा सर्वात्मना भगवदर्पण के समर्थन के साथ अपने समत्वदर्शन का भी प्रतिपादन करती है। गीता ने समत्व पर बड़ा जोर दिया है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्। (१३।२७)
समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्। (१३।२८)
निर्दोषं हि समं ब्रह्म। (५।१९)
समोऽहं सर्वभूतेषु। (९।२७)
समं पश्यति योऽर्जुन। (६।३२)
सुखदुःखे समे कृत्वा। (२।३८)
समदुःखसुखं धीरम्। (२।१५)
सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा। (२।४८)
समः सिद्धावसिद्धौ च। (४।२२)
समोऽहं सर्वभूतेषु। (९।२९)
समः शत्रौ च मित्रे च। (२।१८)
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते। (६।९)
समत्वं योग उच्यते। (६।३३)

इस प्रकार सभी जगह समत्व प्रतिपादन करती हुई गीता स्पष्ट करती हैं कि चर तथा अचर भूतों में, सुख दुःख आदि मनों धर्मों में, कर्म में, उपासना में तथा ज्ञान में सभी जगह एक ही ब्रह्म-दर्शन होना चाहिये। सम ही ब्रह्म है। (समं-ब्रह्म ५।१९) और सम ही योग है (समत्वं योग उच्यते। ६।३३)। इसलिए कर्मकाण्ड में भी सम को देखिये। यह सम ही योग है और यह योग ही कर्म की कुशलता है—योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)।

इस कौशल की व्याख्या में हनुमत्कृत पैशाच भाष्य में कहा गया है—

स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्धयसिद्धयोः समत्वबुद्धिः ईश्वरार्पितचेतस्कतया तत् कौशलम्।

इसी तत्त्व को और स्पष्ट करते हुए पैशाच भाष्य ने २।५० में कहा है कि—भगवदर्पण ही समत्व बुद्धि है अर्थात् भगवान् को सब कुछ सर्वात्मना अर्पण कर देना ही समत्व है।

भागवत

यह सात्वत धर्म ही भागवत धर्म है। मनु ने चारों वर्णों से अतिरिक्त इन सात्वतों को माना है, इनको यज्ञोपवीत का अधिकारी भी नहीं माना और वहीं कहा है कि ये सात्वत ही भागवत हैं—

पञ्चमो सात्वतो नाम विष्णोरायतनं हि सः।
पूजयेदाज्ञया राज्ञां स तु भागवतः स्मृतः॥

श्री मद्भागवत में सूतजी ने शौनक जी से भागवत का लक्षण करते हुए कहा है कि भागवत ग्रंथ ही सात्वत-संहिता है। श्रीमद्भाग० ७।१।९–११ ने इस प्रकार सात्वत और भागवत एक माना है। इसी प्रकार पाद्म तन्त्र के ४।२।७७ में भी सात्वत, भागवत तथा पांचरात्र को एक माना गया है। महाभारत के आश्वमेधिक पर्व के ४२ वें अध्याय में भागवत की परिभाषा की गयी है जिसमें कहा गया है कि जो चतुर्व्यूह को मानता है वह भागवत है—

द्वादशाक्षरतत्त्वज्ञश्चतुर्व्यूह विभागवित्।
अच्छिद्रपञ्चकालज्ञः स तु भागवतः स्मृतः॥

श्री वेंकटनाथ ने अपनी न्यासरक्षा में शाण्डिल्य का एक वचन उदधृत किया जो इसी प्रकार का है—

चतुर्व्यूहविभागज्ञः पञ्चकाल परायणः।
द्वादशाक्षरनिष्ठोयः स वै भागवतः स्मृतः॥

यहाँ द्वादशाक्षर का तात्पर्य श्री नारायण के मन्त्र से है और पञ्चकाल का तात्पर्य अरुणोदय से लेकर रात्रिमुख के पाँच समयों से है। इन पाँच समयों में भगवान् के पूजा निमित्त पाँच कार्य किये जाते हैं। चतुर्व्यूह के चारों देवों का नाम पहले लिखा जा चुका है।

एकान्तिन्

इन सात्वत तथा भागवत को ही एकान्तिन् कहते हैं। एकान्ततः अनन्यभावेन भगवान् के प्रति आत्मसमर्पण करने के कारण ये एकान्तिन् कहे जाते हैं। इसी एकान्तिन् के लिए भगवान् ने गीता में कहा है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।

महाभारत में एकान्तिन् का अर्थ करते हुए कहा गया है कि सात्वतों से धारण किया जाने वाला बड़ा कठिन एकान्त धर्म है। एकान्त धर्म का आचरण करने वाले पुरुष बड़े दुर्लभ होते हैं। ये एकान्त भक्ति वाले बड़े सात्विक होते हैं और नारायण परायण होते हैं—

दुर्विज्ञेयो दुष्करश्च सात्वतैर्धार्यते सदा।
धर्मज्ञानेन चैतेन सुप्रयुक्तेन कर्मणा।।
(म० भा० आश्वमे० प० ३५९।५५, ५६)
एष एकान्त धर्मस्ते कीर्तितो नृपसत्तम। (वही ६१)
एकान्तिनो हि पुरुषा दुर्लभा बहवो नृप। (वही ६२)
नारायणपरो मोक्षस्ततो वै सात्विकः स्मृतः।। (वही ७०)
एकान्तभक्तिः सततं नारायणपरायणः।। (वही ७१)

वैखानस

इन सात्वतधर्म, भागवतधर्म तथा ऐकान्तिकधर्म का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रों को वैखानस तथा पांचरात्र कहा जाता है। वैखानस शब्द से वैखानस सम्प्रदायवाले एवं वैखानस शास्त्र दोनों अभिहित होते हैं। वैसे वैखानस के अर्थ के लिए बहुत कुछ विचारणीय है। आज भी दक्षिण भारत में पाँचरात्रियों के समान एक वैष्णवसमाज अपने आपको वैखानस-वैष्णव कहता है। वैखानस वैष्णव तथा पाँचरात्रिक वैष्णव दोनों ही ऐकान्तिकी भक्ति करने वाले हैं। पर दोनों में मन्त्र-भेद, आचार्यभेद, संहिताभेद, व्यूहभेद विग्रहभेद तथा अर्चाभेद आदि कुछ है। जिनसे दोनों परस्पर अपने को भिन्न समझते हैं।

वैखानस सम्प्रदायवाले कहते हैं कि विखनस् ब्रह्मा की संज्ञा है और ब्रह्माजी के द्वारा प्रवर्तित होने से वैखानस नाम पड़ा। अथवा एक ऋषि का नाम विखनस् है। इस ऋषि के द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय वैखानस है। दक्षिण भारत में विखनस् ऋषि के नाम पर आश्रम तथा उनकी प्रतिमा की स्थापना है। तैत्तिरीय आरण्यक में वैखासस के लिए एक बड़ी रोचक कथा दी गयी है। वहाँ कहा है कि प्रजापति ने तपस्या की। तपस्या के पश्चात् प्रजापति ने अपने शरीर को हिलाया। जिसके कारण मांस से तीन ऋषि अरुण, केतु तथा वातरसन उत्पन्न हुए और नखों से वैखानस तथा बालों से वालखिल्य ऋषि उत्पन्न हुए—

स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा शरीरम् मधुवाते। तस्य यन्मांसम् आसीत् ततोऽरुणाः केतवो वातरसना ऋषय उदतिष्ठन्। ये नखास्ते वैखानसाः। ये बालास्ते वालखिल्याः। (तै० आ० १।२३)

छान्दोग्योपनिषद् के—अर्चियानप्रकरण में वैखानसाः पद आया है, जिसका व्याख्यान श्रीशङ्कराचार्यजी ने वानप्रस्थी ऐसा किया है। अभिज्ञान शाकुन्तल में दुष्यन्त के द्वारा आजन्म वैखानस रहने की बात पूछी गयी है। वहाँ वैखानस का अर्थ ब्रह्मचर्यपालन जैसा किया जाता है। वैखानसधर्मसूत्र के ३।६-६८ विषयों को देखने से प्रतीत होता है कि वैखानस संन्यासी होते थे। किन्तु अथर्ववेद २।५।३, ऐतरेय ब्राह्मण ७।२८ तथा पंचविंश ब्राह्मण ८।१।४ एवं ८।४।१७ में कहा है कि इन्द्र ने यतियों का वध किया, साथ ही पंचविंश ब्राह्मण में यह भी कहा गया है कि इन्द्र ने वैखानसों को पुनर्जीवित किया। श्री बदरीनाथ के मार्ग में देवप्रयाग से आगे हनुमान् चट्टी के पास एक वन है, जिसे वैखानसमुनि वन कहा जाता है।

सामविधान ब्राह्मण तथा उसके सायणभाष्य में वैखानसों को यज्ञ का अनधिकारी कहा गया है—

तेषामहीयन्ता जाः पृश्नयो वैखानसा वसुरोचिषो ये चापूता ये च कामेप्सवस्तेऽब्रुवन्—कथं नु वयं स्वर्गं लोक-मियाम इति। तेभ्य एतत् स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत। तपश्चैताभ्या ≍ स्वर्गंलोकमेष्यथेति। ताभ्यां स्वर्गंलोकमायन्।
(तिरुपति कें० सं० विद्यापीठ प्रका० सा० वि० ब्रा० १।१७)

यहाँ भाष्य करते हुए श्रीसायणाचार्य कह रहे हैं—

इदानीं यज्ञानधिकारिणां साम''''वैखानसाः केचन शतसंख्याका मन्त्रद्रष्टः। तथा ये चापूताः यागसाधनाध्ययनादिजन्यशुद्धिरहिताः।

डॉ० सूर्यकान्त ने अपने वेदकोष में कुछ मन्त्रों का उद्धरण देते हुए वैखानस का अर्थ वधस्थान जैसा किया है। किन्तु यह यथार्थ प्रतीत नहीं होता। क्योंकि चरणव्यूह के अनुसार कृष्णयजुर्वेद की आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी तथा औखेय शाखायें हैं। यह औखेय शाखी ही वैखानस है। वैखानस श्रौतसूत्र के भाष्यकार श्री वेंकटेश ने कहा है—

येन विदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया।
प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्यै विखनसे नमः।

चरणव्यूह ने तैत्तिरीयक के दो भेद माने हैं—

तत्र तैत्तिरीयका नाम द्विभेदा भवन्ति—औखेयाः खाण्डिकेयाश्चेति। किन्तु चरणव्यूह में वैखानस शब्द नहीं आया है।

दक्षिणभारत में वैखानस तथा पांचरात्री एक दूसरे को परस्पर अवर समझते हैं। अप्पयदीक्षित ने भी एक जगह वैखानस को श्रौत तथा पांचरात्र को अश्रौत कहा है। पौष्कर संहिता के तन्त्रभेद प्रकरण में पूजा के तीन भेद किये हैं—शुद्ध, वैदिक तथा तान्त्रिक। पांच रात्रियों की पूजापद्धति की शुद्ध तथा वैखानसों की पूजापद्धति को वैदिक कहा है। कवितार्किक चूड़ामणि वेदान्तदेशिक पांचरात्री है। पर इन्होंने वैखानसों का बड़ा आदर किया है। इन्होंने वैखानसों को अवर कहने वालों को बहुत फटकारा है—

एवं स्थिते केचिद् वाहलीकप्राया आगमबाह्याः श्रीमद्वैखानसप्रामाण्ये विशेरते।....आश्वमेधिके श्रीवैष्णवधर्मशास्त्रे द्वितीयमपि समप्रमाणतयोपात्तम्। द्वयोरपि परस्पर प्रामाण्यम्। विष्णोस्तन्त्रं द्विधा प्रोक्तमित्यादिषु व्यञ्जितम्।.... कथं तेषां ब्राह्मण्यमिति चेत् शान्तं पापम्। श्रवसी पिदधीमहि। तथापि वक्तव्यम्। दृश्यन्ते ह्येते वंशपरम्परया वेदमधीयाना वैखानससूक्तोक्त-वैदिकसकल-संस्कारशालिनो वर्णाश्रमधर्मकर्मण भगवदेकान्ता ब्राह्मणाः। नूनममीषांब्राह्मण्यैककारणेन भागवतत्वेनैव विपरीतं बम्भ्रमीति ब्राह्मणगर्दभः।....भावेऽप्येतेषां निकृष्टजातित्वे प्रमाणाभवात्। आगमप्रामाण्योक्तसात्वादिसमाख्यानिर्वाहसमत्वात्।....तत्सिद्धं विशिष्टाधिकारिकं वेदाविरुद्धं वैखानसादिस्मरणं प्रमाणमिति।

(न्यायपरिशुद्धिशाव्दप्रकरण द्वितोयाह्निक)

वैखानसों के प्रति वेदान्तदेशिक का आदर होना स्वाभाविक हैं। वेदान्तदेशिक बड़कलै पांचरात्री हैं। बड़कलै पांचरात्रियों के ये प्रमुख आचार्य हैं। बड़कलै सम्प्रदाय में भगवदर्चनाविधान में श्रुतियों के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान हैं, तेङ्गलै में ऐसा नहीं है : वैखानस भी अर्चनाविधान में श्रुतियों को महत्त्व देते हैं।

वैखानस तप्तशंखचक्र आदि अथवा शीतल शंखचक्र आदि को धारण नहीं करते। वैखानस श्रौतसूत्र के आरम्भ में तथा आनन्द संहिता (अप्रकाशित, दक्षिणभारत-तिरुपति में कुछ लोगों के पास हस्तलिखित सुरक्षित हैं।) अध्याय ८ श्लोक १३, १८ में कहा गया है कि माता के गर्भ में जब वैखानस बालक रहता है, तब यज्ञ किया जाता है। यज्ञ करते समय विष्णुबलि के चावलों को चक्राङ्कित किया जाता है। बाद में प्रसादरूप में उसे माता भक्षण करती हैं। जिससे भगवत्कृपा से वैखानस गर्भ में ही चक्रांकित हो जाते हैं। वैखानस गृह्यसूत्र तात्पर्यचिन्तामणि के दशविध हेतुनिरूपण में ऐसे वाक्य मिलते हैं—

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम्।
विप्रा वैखानसाख्या ये ते स्मृता भागवतप्रियाः॥

एकान्तिनः सुसत्त्वस्था देहान्तं नान्ययाजिनः।
विष्णोः प्रियतमा लोके चत्वारः परिकीर्तिताः॥
अश्वत्थः कपिला गावस्तुलसी विखनास्तथा।

वैखानस तथा पांचरात्री ये दोनों अपने को यजुर्वेद की एकायन शाखा से सम्बद्ध मानते हैं। जयाख्य संहिता की भूमिका में श्री विनयतोष भट्टाचार्य ने नागेश के ग्रन्थ काण्व शाखा संग्रह के अनुसार काण्व शाखा को एकायन शाखा कहा है। नागेश का उक्त ग्रन्थ हस्त लेख रूप में राजकीय पुस्तकालय मद्रास में सुरक्षित है। इसी जयाख्य संहिता के २०० वें पटल में कहा गया है कि चारों दिशाओं में चारों वेदों का पाठ कराना चाहिये और इनके अतिरिक्त एकायन का पाठ कराना चाहिये—

ऋङ्मन्त्रान् पाठयेत् पूर्वं वीक्ष्यमाणमुदग्दिशम्।
यजुर्वृन्दं वैष्णवं तु पाठयेद्दैशिकस्तु तत्॥ (वहीं २६२)
गायेत् सामानि शुद्धानि सामशः पश्चिमस्थितः।
भक्तश्चोदस्थितो ब्रूयाद् दक्षिणस्थो ह्यथर्वणम्॥ (वहीं २६३)
एकायनीयशाखोत्थान् मन्त्रान् परमपावनान्।

जयाख्य संहिता, ईश्वर सं०, परमेश्वर सं० तथा श्री प्रश्न संहिता में पांचरात्र को एकायन वेद कहा है। इस सम्प्रदाय में "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" इस पुरुष सूक्त के "वाकोवाक्यम् एकायनम्" इस छान्दोग्योपनिषद् (७।१।२) के अयन तथा एकायन का अर्थ उक्त वेद शाखा किया जाता है!

पौष्कर संहिता के तन्त्रभेदनिर्णय प्रकरण में वैखानस पूजापद्धति को वैदिक माना है और द्विजाति के लिए प्रशस्त कहा है—

शुद्धं च वैदिकं चेति तान्त्रिकं च त्रिधा भवेत्।
पाञ्चरात्रेण पूजां तु शुद्धं विष्णोरिति स्मृतम्॥
वैखानसेन सूत्रेण पूजयेद् विष्णुमव्ययम्।
वैदिकं तदिति प्रोक्तं द्विजातीनां प्रशस्यते॥

यहीं वैखानसों की बड़ी प्रशंसा की गयी है। कहा गया है कि वैखानस फलेच्छारहित निष्काम भाव से भगवद्-भक्ति करते हैं—

विप्रा वैखानसाख्या ये ते भक्तास्तत्त्वमुच्यते।
एकान्तिनः सुसत्त्वस्था देहान्तं नान्ययाजिनः॥
कर्तव्यमिति देवेशं संजयन्ते फलं विना।

वैखानस तथा पांचरात्री दोनों एकान्त भक्त तथा निष्काम भक्त हैं किन्तु इनमें प्रथम की पूजापद्धति वैदिकी है और दूसरे की शुद्धा है। इनके अतिरिक्त भी इनके व्यूह में भेद है। महाभारत के अश्वमेधिक पर्व में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया है कि हे भगवन् आपकी अर्चना वैखानस किस प्रकार से करें और पांचरात्री किस प्रकार से करें। इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने दानों के व्यूहभेद को इस प्रकार किया है—

युधिष्ठिर— कथं त्वमर्चनीयोऽसि मूर्तयः कीदृशाश्चते।
वैखानसाः कथं ब्रूयुः कथं वा पाञ्चरात्रिकाः॥

श्री भगवान्— शृणु पाण्डव तत्सर्वमर्चनाक्रममात्मनः।
स्थण्डिले पद्मकं कृत्वा साष्टपत्रं सकर्णिकम्॥
अष्टाक्षरविधानेन अथवा द्वादशाक्षरैः।
वैदिकैरथवा मन्त्रै र्मम सूक्तेन वा पुनः॥

स्थितं मां मन्त्रतस्तस्मिन् अर्चयेत् सुसमाहितः ।
विष्णुं च पुरुषं सत्यमच्युतं च युधिष्ठिर ॥

अनिरुद्धं च मां प्राहुर्वैखानसविदो जनाः ।
अन्येत्वेवं विजानन्ति मां राजन् पाञ्चरात्रिकाः ॥

वासुदेवं च राजेन्द्र संकर्षणमथापि वा ।
प्रद्युम्नं चानिरुद्धं च चतुर्मूर्त्तीः प्रचक्षते ॥

एताश्चान्याश्च राजेन्द्र संज्ञाभेदेन मूर्त्तयः ।
विद्धयनर्थान्तरा एव मामेवं चार्चयेद् बुधः ॥

पांचरात्रियों से भिन्न वैखानस आगम की संहितायें हैं। ये वैखानस संहितायें आज केवल सात ही मुद्रित उपलब्ध हैं—१. क्रियाधिकार, २. खिलाधिकार, ३. ज्ञानाधिकार, ४. समूर्त्तार्चनाधिकार, ५. प्रकीर्णाधिकार, ६. ज्ञान-काण्ड तथा ८. विमानार्चन कल्प। इनके अतिरिक्त हस्तलिखित तीन ग्रन्थ और भी प्राप्त है—१. अर्चनाधिकार, २. निरुक्ताधिकार तथा ३—वासाधिकार। इनके अतिरिक्त आनन्द संहिता का भी नाम आता है जो हस्तलिखित है, तथा तिरुपति में किसी विद्वान् के पास सुरक्षित है।

वैखानस सम्प्रदाय में उपरितन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी अठारह ग्रन्थों की सूचना मिलती हैं—१. प्रतिगृह्याधिकार, २. सत्यकाण्ड, ३. तर्क काण्ड ४. आत्रेयतन्त्र, ५. जयसंहिता ६. संज्ञानसंहिता, ७. वीरसंहिता ८. विजयसंहिता, ९. विजीत-संहिता १०. वर्णाधिकार ११. मानाधिकार, १२. चित्राधिकार, १३. पूर्णाधिकार, १४. खिल, १५. विष्णुतन्त्र, १६. पूर्वतन्त्र, १७. ज्ञानतन्त्र तथा १८ विमल संहिता। इस सम्प्रदाय में चार ऋषि विशेष पूजनीय हैं—अत्रि, कश्यप, भृगु और मरीचि।

पांचरात्र

पांचरात्र शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ईश्वर संहिता के अनुसार शाण्डिल्य, औपगायन, मौञ्जायन, कौशिक तथा भारद्वाज इन पाँच योगियों को प्रभु ने पाँच दिवारात्र जिस शास्त्र का अध्यापन किया वह पांचरात्र शास्त्र है—

............पञ्च शाण्डिल्यश्चौपगायनः,
मौञ्जायनः कौशिकश्च भारद्वाजश्च योगिनः।
पञ्चापि पृथगेकैकं दिवारात्रं जगत्प्रभुः।
अध्यापयामास। (ई० सं० ११।५२।५८२, ५८३)

श्री प्रश्नसंहिता कहती है कि रात्रि का अर्थ अज्ञान है और पञ्च का अर्थ अज्ञाननाशन है, अतः पांचरात्र कहा गया—

रात्रिरज्ञानमित्युक्तं पञ्चेत्यज्ञाननाशकम्।
तच्छात्रं पाञ्चरात्रं स्यादन्वर्थस्यानुरोधतः॥ (श्री प्र० सं० २।३९।४०)

नारदीय संहिता कहती है—

रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्। (ना० सं० १।१।४४)

ये पाँच ज्ञान—भुक्ति, मुक्ति, ज्ञान, कर्म तथा योग हैं।

विश्वामित्र संहिता कहती है कि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से जो रक्षा करता है वह पाँचरात्र है—

पञ्चेन्द्रियाणि विषयाः पञ्चभूतानि तद्गुणाः ।
पञ्चशब्दाभिधेयानि विद्वांसोऽप्याचचक्षिरे ।
राधातुरादानवाचकः त्रा त्राणार्थकः—(वि० सं० २।३८।३९)

जिन पाँचरात्रियों में उपदेश दिये गये, उन पाँचों रात्रियों का नाम सनत्कुमार संहिता के अनुसार ब्रह्मरात्र विष्णुरात्र, इन्द्ररात्र आदि हैं। पाद्मसंहिता कहती है कि जो बौद्ध, जैन, सांख्य, न्याय तथा वेदान्त इन पाँचों दर्शनों को रात्रितुल्य अन्धकारमय बना देता है वह शास्त्र पाँचरात्र है—

पञ्चेतराणि शास्त्राणि रात्रीयन्ते महान्त्यपि । (पा० सं० १।१।७३)

महाभारत के अनुसार सांख्ययोग ही पाँचरात्र है—

इदं महोपनिषदं चतुर्वेदसमन्वितम् ।
सांख्ययोगकृतं तेन पाञ्चरात्रानुशब्दितम् ।
नारायणमुखोद्गीतं नारदोऽश्रावयत्पुनः । (म० भा० मो० धर्म० ३४८।६२, ६३)

उत्पलाचार्य ने स्पन्दप्रदीपिका में लिखा है कि पाँचरात्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त हैं—पाँचरात्र-श्रुति, पाँचरात्र-उपनिषद् तथा पाँचरात्र-संहिता। ईश्वर संहिता ने इसका भेद दूसरे प्रकार से किया है—

चतुर्धाभेदभिन्नोऽयं पाञ्चरात्राख्य आगमः ।
पूर्वागम सिद्धान्तं द्वितीयं मन्त्रसंज्ञितम् ।
तृतीयं तन्त्रमित्युक्तमन्यत् तन्त्रान्तरं भवेत् । (ई० सं० २१।२६०,२६१)

यहीं पर इन चारों के लक्षण तथा भेद आदि वर्णित हैं। जिसमें व्यूह तथा स्थापना आदि का वर्णन है वह आगम सिद्धान्त है। जिसमें मन्त्र, मण्डल, मुद्रा तथा कुण्ड आदि का वर्णन है उसे मन्त्रागम कहते हैं। जिसमें विग्रहों के पूजन की व्यवस्था है उसे तन्त्रागम कहते हैं। जिसमें नृसिंह, वराह तथा गरुड आदि अवतारों एवं परिवारों का वर्णन है उसे तन्त्रान्तरागम कहते हैं। इन आगम ग्रन्थों की बहुत बड़ी संख्या है। अगस्त्य संहिता तथा अहिर्बुध्न्य संहिता के अनुसार पाँचरात्रागम की ग्रन्थ संख्या १०४ है। कपिञ्जल संहिता के अनुसार इनकी संख्या २१५ है। कुछ विद्वान् छोटे बड़े सभी ग्रन्थों को जोड़कर पाँचरात्र ग्रन्थों की संख्या २५० तक कहते हैं। इनमें जयाख्य०, पाद्म०, ईश्वर०, विश्वामित्र आदि कुछ संहितायें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं।

वैखानस और पांचरात्रियों दोनों में ज्ञानकर्म की अपेक्षा भक्ति की प्रधानता है। भक्ति के लिए दैन्य, शरणागति, आत्मसमर्पण तथा प्रपत्ति की तो आवश्यकता है ही विग्रहार्चन की भी बड़ी महत्ता है। दोनों सम्प्रदायों में वेद की सार्थकता कर्म में है। कर्म की पूर्णता यज्ञ से है। ये यज्ञ सोमयाग, अश्वमेध आदि हैं। यज्ञ का दूसरा नाम विष्णु है। वेद कहता है "यज्ञो वै विष्णुः। इसलिए सोमयाग, अश्वमेध आदि यज्ञों का रूपान्तर ही विष्णुदेवायतन है। देवायतन को विमान भी कहते हैं। इसके लिए मरीचिऋषिप्रणीत विमानार्चनकल्प ग्रन्थ बहुत उपादेय है। इनका सिद्धान्त है कि विमान (देवालय) में मुख्य पादपीठ आहवनीय अग्निस्थानीय है, द्वितीय पादपीठ लक्ष्मीजी या सीताजीवाला गार्हपत्य अग्निस्थानीय है, और मुख्यपादपीठ से दक्षिण का पादपीठ लक्ष्मणजीवाला या और किसीवाला दक्षिणीयाग्निस्थानीय है। इसी प्रकार बलिपीठ आदि में तत्तद् अग्नि मानकर पांचों अग्नियों की कल्पना की जाती है। इस प्रकार उन उन यज्ञों का सम्पादन करके तत्तत् फलप्राप्ति के लिए उन उन यज्ञों के सम्पादन की अपेक्षा विमानार्चन के द्वारा फल प्राप्त करना सरल तथा सुलभ है।

देवालयों (विमानों) में प्रमुख देवों के माम तथा संख्या के विषय में दोनों सम्प्रदायों में कुछ भेद है वैखानस सम्प्रदाय में मन्दिर में पाँच विग्रह मुख्यतया स्थापित किये जाते हैं—ध्रुवविग्रह, कौतुकविग्रह, उत्सवविग्रह

स्नपनविग्रह तथा वलिविग्रह। इन विग्रहों में नाम के अनुसार तब तत् अर्चनायें की जाती है। ध्रुवविम्ब अपनी जगह पर सुस्थिर रहता है। दूसरे विम्ब चल भी होते हैं। दूसरे विम्बों में पूजा के अवसर पर ध्रुवविम्ब से उस दूसरे विम्ब में सम्बन्ध करते हैं तब उसकी अर्चना करते हैं। ध्रुवविम्ब से दूसरे विम्ब का सम्बन्ध कुशों के द्वारा किया जाता है उसे कूर्च कहते हैं। बलि का अर्थ भगवान् के लिए अर्प्यमाण भक्ष्य भोज्य पदार्थ हैं। इसलिए भक्ष्य भोज्यपदार्थों के पास जिस विग्रह को ले जाकर भोग लगाते हैं उसे वलिविम्ब कहते हैं। इसी प्रकार गरुडवाहन या रथारुढ होकर जब भगवान् आलय से बाहर जाते हैं या पुष्करिणी में जलविहार के लिए जाते हैं तब उत्सवविम्ब का उपयोग किया जाता है। देवालय में जाने में अनधिकारी तया असमर्थ व्यक्तियों को दर्शन देकर पुण्य-प्रदान करने के लिए भगवान् देवालय से बाहर वीथि में पधारते हैं। मतान्तर से कभी चार कभी तीन कभी दो तथा एक विग्रहों की भी स्थापना होती है।

पांचरात्री लोग वैखानस सम्मत पाँच विग्रह को न मानकर सात विग्रह मानते हैं—ध्रुवार्चा, कर्मार्चा, उत्सवार्चा, वल्यर्चा, स्नपनार्चा तथा शयनार्चा। पांचरात्र की कुछ संहिताओं में इनका नाम इस प्रकार भी मिलता है—कर्मार्चा, वल्यर्चा, यात्रार्चा, कृत्रिभालयार्चा, यागार्चा, स्नानार्चा। वस्तुतः पहले वाली तीर्थार्चा तथा उत्सवार्चा ही यात्रार्चा एवं यागार्चा है।

परमात्मा सर्वव्यापक चल तथा अचल है। अतः अचलमूर्ति ध्रुव वेट है और दूसरे उत्सव वेट आदि चलविग्रह है। ध्रुव वेट से उत्सव वेट आदि में प्रभु को आवाहित किया जाता है और पूजन के बाद पुनः ध्रुव वेट प्रत्यावर्तित हो जाते हैं। विग्रह को वेट भी कहा जाता है।

इन विग्रहों में पुनः अनेक भेद होते हैं—चित्र, चित्रार्द्ध, तथा चित्राभास पुनः स्थानक, आसन शयन तथा यानग, तथा पुनः योग, भोग, विरह और आभिचारिक। इन सबों के लक्षण-ज्ञान तथा उपयोग ज्ञान के लिए संहिता ग्रन्थों का अवलोकन आवश्यक है।

इन विग्रहों के निर्माण के लिए सामान्यतः पाँच मूलद्रव्य माने गये हैं शैल, रत्न, धातु, दारु, और मृत्तिका। इन शैल तथा रत्न आदि के भी अनेक भेद एवं नाम गिनाये गये हैं। साथ ही शैलों तथा रत्नों के भेद से इनसे निर्मित मूर्त्तियों के पूजन से फल में भी भेद होता है।

इन भागवत, वैखानस तथा पांचरात्री के लिए महाभारत पुराणों में स्मृतियों में तथा आचार्यों के ग्रन्थों में अनेक प्रकार के वचन प्राप्त होते हैं। कुछ तो इन्हें बहुत उत्तम मानते हैं और कुछ इन्हें बहुत ही अवर मानते हैं। महाभारत, भागवत, नारदीय गरुड, पद्म तथा विष्णुपुराण भागवत पांचरात्री आदि को श्रेष्ठ कहते हैं। स्मृतियों में वसिष्ठ, हारीत, व्यास, पाराशर आदि स्मृतियाँ इनको प्रशस्त कहती हैं। कूर्म, स्कन्द, साम्ब आदि कुछ पुराण तथा मनु, याज्ञवल्क्य आदि कुछ स्मृतियाँ इनकी आलोचना करती हैं। कूर्मपुराण में एक श्लोक है—

वासुदेवाभिधानेन केनचिद् विप्रलिप्सुना।
प्रणीतं प्रस्तुतं तन्त्रमिति निश्चिनुमो वयम्॥

(कूर्मपु० २।१६।१५)

इसी प्रकार का वचन अत्रि स्मृति में भी मिलता है—

वेदैर्विहीनाश्च पठन्ति शास्त्रम्,
शास्त्रेण हीनाश्च पुराणपाठकाः।
पुराणहीनाः कृषिणो भवन्ति,
भ्रष्टास्ततो भागवता भवन्ति॥

इसके विपरीत वराह पुराण ने कहा है कि वेद मन्त्र के अलाभ में पांचरात्र वचनों से पूजन करें। वेद तथा पांत्ररात्र को समान मान्यता दी है—

अलाभे वेदमन्त्राणां पाञ्चरात्रोदितेन वा। (व० पु० ६६।११)

आगे यह भी कहा है कि पांचरात्री के स्पर्श से चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है। (व० पु० २११।६८) वराह मिहिर ने भी वृहत्संहिता ६०।१९ में ऐसा ही समर्थन किया है।

वैखानस तथा पांचरात्रियों के लिए प्रारम्भ से ही कुछ ऐसा विवाद चल रहा है। यामुनाचार्य जी ने आगम प्रामाण्य में वेदान्त देशिक ने पांचरात्ररक्षा में वाधुलवरदाचार्य ने पांचरात्र कण्टकोद्धार में भट्टोजी दीक्षित ने तन्त्राधिकार-निर्णय में तथा अप्पय दीक्षित ने इन पर बड़ा विचार किया है। किसी ने इन दोनों को अवैदिक माना है, किसी ने वैखानस को श्रौत कहा और पांचरात्र को अश्रौत कहा। किसी ने सभी तन्त्रों एवं आगमों में इन्हीं तन्त्रों एवं आगमों को सर्वश्रेष्ठ कहा तथा सात्वत, भागवत एवं ऐकान्तिक धर्म को ही सर्वश्रेष्ठ माना है।

इन दोनों सम्प्रदायों का बहुत बड़ा वाङ्मय है, बहुत बड़ा सम्प्रदाय है। इनके द्वारा प्रवर्तित ऐकान्तिकी भक्ति का प्रभाव दूसरे सम्प्रदायों पर भी पड़ा। कश्मीरी शैव तथा दक्षिण भारतीय शैव सम्प्रदाय से इनका कितना और कैसा सम्बन्ध है यह एक पृथक् विचारणीय विषय है। श्री भण्डारकर ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ शैविज्म तथा वैष्णविज्म में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। यह तो निर्विवाद है कि सात्वत, भागवत तथा एकान्तिन् भक्ति धारा से सम्पूर्ण भारत प्रभावित हुआ और सभी उपासक तथा उपास्यों की पूजा पद्धति भी प्रभावित हुई। वैदिक पौराणिक तथा तांत्रिक देवी-देवताओं की पूजा पद्धति एवं भक्ति तो प्रभावित हुई ही है। यह मानने में भी संकोच नहीं करना चाहिये कि बौद्धों के महायान सम्प्रदाय की अर्चना विधि भी इससे बच नहीं सकी। वैष्णवों के द्वारा मान्य लक्ष्मीसहोदर शंख, महायान में भी पूजा का अंग बना हुआ है। वैष्णवी पूजा और जैन सम्प्रदाय की पूजा में भी बहुत कुछ समानता है। इन सबों में कौन किसका उपजीव्य है और किसका उपजीवक है यह विवाद का तो विषय है ही पर इतिहास तथा कालक्रम बहुत कुछ स्पष्ट कर देता है।

इस प्रकार सात्वत, भागवत एकान्तिन्, वैखानस एवं पांचरात्र सिद्धान्त एवं सम्प्रदाय भारत की बहुत बड़ी चिन्तन धारा एवं निधि है।

—: ० :—

भाषा और संगीत में समानान्तर धारणायें

श्रीमती विमला मुसलगांवकर

अध्यापिका, संगीत शास्त्र विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।

संगीत और भाषा का मूल उपकरण ध्वन्यात्मक शब्दतत्त्व है। वही प्राणिमात्र की चेतना का प्रतीक है[१]। ध्वनिरूप शब्द के स्पन्द की विभिन्न मौलिक विशेषताओं के ग्रहण तथा प्रयोग के कारण ही शब्द सम्बन्धी दो भिन्न मार्ग हैं। शब्द के नादात्मक स्वरूप की साधना, चिन्तन तथा अध्ययन का परिणाम संगीत-शास्त्र है, तथा शब्द के वर्णात्मक अंग का चिन्तन विश्लेषण और अध्ययन ही भाषा के प्रमुख अंग व्याकरण का विषय रहा है। भाषा के बिना चिन्तन असम्भव है। चिन्तन की प्रवृत्ति मानव की अपनी विशिष्ट ईश्वर-प्रदत्त-शक्ति है।

चिन्तन, मनन से परिपुष्ट हुई लोकानुभूति ही 'धारणा' है। व्यक्ति, वस्तु या भाव के आश्रित 'धारणा' प्रत्यक्ष अनुभूति से यात्रा करके चिन्तन, मनन के सोपानों को पार करती हुई कालक्रम से अभिव्यक्त होती है, तब कहीं वह शास्त्र की चहरदीवारी में प्रवेश पाती है। इस प्रकार लोक से शास्त्र में संक्रान्त हुई ये ही धारणायें साधारणीकृत होकर ज्ञानाणुवन शास्त्र में जीवित रहती हैं।

ज्ञान के प्रत्येक पहलू पर पराकाष्ठा तक विचार जिस भाषा में हुआ वह संस्कृत भाषा है। अतः ज्ञान-विज्ञान की संरक्षिका, और सांस्कृतिक विकास तथा मौलिक चिन्तन की एकमात्र धरोहर यही संस्कृत भाषा है। मतंग मुनि ने अपने ग्रन्थ बृहद्देशी में जिसे ज्योती-रूपा भारती कहा है उसका सर्वाधिक तादात्म्य संस्कृत भाषा से है।[२]

अतः मुख्य रूप से संस्कृत के ही शब्द, संस्कृत की ही पारिभाषिक शब्दावली और भारतीय संगीत को ध्यान में रखकर ही 'भाषा और संगीत में समानान्तर धारणायें' इस विषय पर यहाँ चर्चा होगी।

एक ही दिशा में निश्चित पार्थक्य से चलने वाली दो रेखाओं को समानान्तर रेखायें कहते हैं। निश्चित विषयगत पार्थक्य लेकर चलने वाली एक ही सी दो विचारधारायें समानान्तर कही जायेंगी, जिनकी परस्पर रहनेवाली दूरी उनके विकास की बाधक नहीं, वरन् वह तो उनमें निहित मौलिक अन्तर की अभिव्यञ्जक है। भाषा और संगीत दोनों के क्षेत्र और लक्ष्य अलग-अलग हैं। तब यह प्रश्न उठता है कि हम क्यों उनमें समान धारणायें खोजते हैं? उत्तर यही है कि उनमें पार्थक्य के साथ-साथ अवश्य ही कोई सामान्य पहलू होगा, तभी तो उसे लेकर चिन्तन किया गया है। इस दिशा में भाषा और संगीत के दो मूलभूत प्रमुख तत्त्व ध्वनि (शब्द) तथा काल हैं, जो विचारणीय हैं। प्रथम हम 'ध्वनि तत्त्व' को लेकर विचार करेंगे फिर 'काल तत्त्व' को लेकर देखेंगे।

संगीत और भाषा के क्षेत्र में 'ध्वनि तत्त्व' को क्या स्थान दिया है? उसका क्षेत्र क्या रहा है? तथा उसका स्वरूप क्या है? प्रथम वैयाकरणों के दृष्टिकोण से विचार करेंगे। वैयाकरणों ने 'शब्द' के मुख्य तीन भेद किये हैं— १. प्राकृत ध्वनि या चैतन्य-शब्दमय-प्रतिमा। २. वैकृत ध्वनि (वाचिक ध्वनि)। ३. स्फोट प्राकृत ध्वनि से व्यक्त अखण्ड स्फटिक शिला तुल्य है, जिसमें अर्थरूप चेतना प्रतिबिम्बित होती है। ये ही पतञ्जलि के 'वर्ण' हैं, जो

---

१. वा० प० १।१२६ सैषा संसारिणां बहिरन्तश्च वर्तते।

२. बृहद्देशी। २७७ भं ज्योतिस्तद्रतो हंसस्तस्मात् तं भरतं विदुः।
तद्भ (वं) भरतज्ञानं तद्भवा भारती शुभा॥

अनश्वर हैं। मौतिक ध्वनि तो केवल उसको पहुंचाने का माध्यम है, जो उत्पन्न होता है यानी जिसका उद्भव और विनाश दोनों हैं। यह 'परश्रवण गोचर' है, जो प्रत्येक मनुष्य में मिन्न हैं। वक्ता के मुख से उच्चरित हुए 'वैखरी शब्द' में ध्वनि तो श्रोता की श्रवणेन्द्रिय का ही विषय होता है। वह अर्थ का बोध नहीं कराता, पर जो प्राकृत है वह एक ही है। यह मिन्नता इसलिये है कि उसमें मौतिक ध्वनि मिली हुई है। वैयाकरणों की दृष्टि से ध्वनि गौण है क्योंकि अर्थ मुख्य है, जिसका स्त्रोत प्राकृत ध्वनि ही है। मौतिक ध्वनि तो केवल उसकी सहायक मात्र है। अर्थ प्रदान करने में उसका कुछ मी हाथ नहीं है। 'माष्य' में मगवान् शंकर ने लिखा है कि किसी व्यक्ति ने यदि कुछ बोला तो उसमें हमें अर्थज्ञान के साथ ही साथ वक्ता के व्यक्तित्व का मी बोध होता है।[1] यहाँ वक्ता के व्यक्तित्व बोध में 'प्राकृत ध्वनि' को ही वैयाकरणों ने 'शब्द' कहा है। इसमें जो विवक्षा है उसे 'स्फोट' रूपी 'पश्यन्ती वाक्' से कहा है। इसी शब्द या वाक् को समस्त जगत् का उपादान कारण कहा है, व्याकरण दर्शन का आधार यही 'शब्द ब्रह्म' है, जो उत्पन्न तथा विनष्ट नहीं होता, जिसमें आगे पीछे उत्पन्न होने का क्रम मी नहीं है, जो शब्द, अर्थ उभयस्वरूप है जिससे जगत् की समस्त प्रक्रिया चलती है। वही 'मध्यमा' में अमूर्त वर्ण रूप होता है।[2] शब्दों के संकेत का ज्ञान मी मध्यमा में ही होता है।

शब्द-ब्रह्मवाद के पर्याय अर्थों में संगीत का यदि अपना कुछ मौलिक दर्शन है तो 'नाद-ब्रह्मवाद' है। माषा और संगीत का लक्ष्य अलग-अलग है। माषा के अर्थ और शब्द में वाच्य-वाचक माव है अर्थात् किसी मी पदार्थ का ज्ञान शब्द कराता है चाहे वह माव (क्रिया) हो या द्रव्य हो, यही उसका लक्ष्य है, किन्तु संगीत में ऐसा नहीं है। वहाँ अर्थ गौण और नादात्मक अस्फुटध्वनि प्रधान है। क्योंकि संगीत का प्रयोजन माषा को तरह अर्थ का बोध कराना न होकर श्रोताओं के चित्त का रञ्जन कराना ही है। अतः दोनों के ही मिन्न-मिन्न प्रयोजन हैं। यही दोनों का मूल पार्थक्य है। समानता यही है कि माषा मी ध्वनि के द्वारा अर्थ-बोध कराती है और संगीत मी ध्वनि के द्वारा ही चित्त का रञ्जन कराता है, इस क्रिया की प्रक्रिया में दृष्टिकोण की मिन्नता रहने पर मी तात्त्विक समानता है। संगीत के क्षेत्र में पश्यन्ती क्या है ? संगीत के माध्यम से जब संगीतकार किसी रागाकृति को व्यक्त करता है तो वह अर्थ-प्रदायक मान कर नहीं, किन्तु रस या आनन्द-दायक समझ कर ही करता है। यही देश-काल से शून्य, आनन्द-रूप, सहृदय-संवेद्य तथ्य या सारस्वरूप पश्यन्ती है, जो अनश्वर है। यही सांगीतिक ध्वनि के माध्यम से बाहर व्यक्त हुए कथ्य (ideas) ही संगीतज्ञों की मध्यमा है, वह केवल नाद या मौतिक ध्वनि नहीं है। संगीत के क्षेत्र में वैखरी का रूप उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है। संगीत रत्नाकर में नाद को 'ब्रह्म' कहा है। अद्वितीय, चैतन्यरूप, आनन्दरूप कह कर समस्त सृष्टि को नाद का विवर्त कहा है। ठीक यही आशय मर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में कहा है। पतञ्जलि ने स्फोटरूप शब्द के साथ लोक प्रचलित उसके अमिव्यञ्जक ध्वनि रूप को मी स्वीकार किया है, जो अर्थ का प्रतिपादक है, वह स्वयं अर्थ-रूप नहीं है, उन्होंने इस मौतिक ध्वनि को मी शब्द संज्ञा दी है। संगीत शास्त्र में मी शब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग 'स्वरवान्' और 'अमिधानवान्' कह कर किया है।

श्रीमद्भागवत पुराण में—'शब्द ही जीव है। वह विवरों यानी हृदय आदि आकाशों में अमिव्यक्त होता है। वही प्राणवायु के परिणाम स्वरूप घोष (ध्वनि) द्वारा हृदय, शिर, कण्ठ रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर अपने सूक्ष्म रूप को छोड़ कर मनोमय रूप अर्थात् अन्तःकरण परिणाम रूपी विकार को प्राप्त होता है[3]। यही शब्द की समुचित व्यापक व्याख्या है, जिसमें समाख्येय और असमाख्येय दोनों प्रकार के अर्थों का समावेश (शब्द में) उपलब्ध होता है। मर्तृहरि के

१. Commentary on the Brahmasutra 1.3.28, as cited in Indian theories of meaning.
२. मध्यमया कृतो नादः स्फोट-व्यञ्जक उच्यते। वा० प०
३. स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः॥ श्री मा०. ११।१२।१७

'षड्जादि-भेद-शब्देन'—इस कथन से यह ध्वनित है[1] कि 'षड्जादि' संगीत के स्वरों को असमाख्येय बताकर उन्होंने उनको एक अलग ही कोटि में रक्खा है तथा उनका कार्य भी अलग व्यक्त किया है। निष्कर्ष यह है कि इससे हम यह पहचानते हैं कि 'षड्जादि' वास्तव में स्वर नहीं हैं, किन्तु वे उनकी सूचक संज्ञाएँ हैं।

भाषा के शब्दों से इन 'षड्जादि' स्वरों को पृथक् कर दिया गया है, जिसको भरत ने 'स्वरवान्' कह कर भाषा के 'अभिधानवान्' शब्दों से भिन्न बताया है। इसी स्थल पर शब्द के स्वरूप की व्याख्या में "वाय्वात्मको भवेत् शब्दः" कह कर उन्होंने शिक्षाकारों के मत का अनुगमन किया है।[2] इसी 'स्वरवान्' ध्वनि को 'स एव जीवः' स्वीकार करते हुए पतञ्जलि कहते हैं—'अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते तस्माद् ध्वनिः शब्दः'। इनका कहना है कि स्फोट नित्य है और नाद या ध्वनि तो उसके अभिव्यञ्जक हैं, यह भौतिक स्तर पर विचारमात्र है। सूक्ष्म रूप से संगीतज्ञ अभिनवगुप्त आदि 'स्वरवान्' पद को भौतिक ध्वनि से भिन्न, सूक्ष्मतम 'नादमात्रात्मक' कहते हैं। इसी स्थल पर अभिनवगुप्त 'अभिधानवान्' को भी वर्णात्मक कहते हैं।

वैयकरणों ने वैखरी से पूर्व की तीन अवस्थाओं को केवल शब्द रूप ही माना है। ध्वनि के द्वारा व्यक्त होने पर उसे 'वैकृत' ध्वनि संज्ञा दी है। जिस प्रकार शब्द नित्य और अनश्वर है, उसी तरह नादरूपी स्वर नित्य और अनश्वर हैं। संगीत की 'स्वरवान्' ध्वनि भी इस अर्थ में 'वैकृत' तो है, किन्तु अस्फुट होने के कारण वर्णात्मक न होकर नादात्मक है। भेद यह है कि 'शब्द' का वैकृत रूप व्यक्त है, नाद का अव्यक्त। यद्यपि हम गान में सार्थक और निरर्थक पदों के प्रयोग से व्यक्तता का पक्ष देखते हैं तथापि संगीतात्मकता उसके अव्यक्त प्राण-रूपी-स्वर में है। क्योंकि अव्यक्तता में ही 'मधुरता' है और व्यक्तता में 'परुषता' है।[3] यद्यपि वाद्यों से कोई अर्थबोधक व्यक्तध्वनि उत्पन्न नहीं होती, फिर भी उसके अव्यक्त ध्वनि का ही प्रतिविम्ब होता है। अव्यक्त और व्यक्त दोनों प्रकारों के शब्दों का प्रकाशक ध्वनि ही है। इसी को मतंग ने 'ध्वनिस्तु द्विविधः प्रोक्तो व्यक्ताऽव्यक्तविभागतः' से प्रतिपादित किया है। शब्द के वर्णात्मक ध्वनि का पर्याय संगीत में 'नादात्मक' ध्वनि है। इसी को अभिनवगुप्त २८वें अध्याय के २१वें श्लोक की टीका में कहते हैं—शब्दस्वभावां चित्तवृत्तिमध्यस्थतारूपस्वास्थ्यावस्थापरित्याजनेनोपतापयन्तो हृद्यतातिशयवशात् स्वतामाक्षिपन्तः स्वविषये अभिधानं कुर्वन्तः स्वरा इत्युक्ताः" अर्थात् शब्दरूपा चित्तवृत्ति में रहने की अवस्था को छोड़कर अपने अत्यधिक सौन्दर्य से दूसरों को अनुरञ्जित करते हुए जो अपने को प्रकट करते हैं, उन्हें स्वर कहते हैं। अभिनवगुप्त के इस विवरण से यह कहा जा सकता है कि नाद के वैखरी स्वरूप से पूर्व की अवस्था का ही यहाँ वर्णन है। इसी स्थल पर कुछ पंक्तियों के बाद ही बहिर्व्यक्त भौतिक स्वर के रूप का प्रतिपादन किया है। 'श्रुतिस्थानाभिघातप्रभवशब्दप्रभावितोऽनुरणनात्मा स्निग्ध-मधुरः शब्द एव (पृ० ११ अ० २८ ना० शा०)

भाषा में ध्वनि की स्थिति जितनी गौण रक्खी गई है वैसी संगीत में नहीं। संगीत में ध्वनि का वैखरी स्वर में विशेष योग है, क्योंकि अनुरणन-युक्त और स्निग्ध ध्वनि ही अव्यक्त मधुर नादात्मक 'मध्यमा' का सम्यक् प्रस्तुतीकरण कर सकता है। क्योंकि नाद की अभिव्यक्ति में ही ध्वनि के वैचित्र्य का दर्शन होता है, इसमें ध्वनि का केवल एक स्थायी स्वरूप न होकर एक आरोही, अवरोही, संचारी स्वरूप भी निहित है। इससे हम यह न समझ लें कि भाषा में

---

१. षड्जादिभेदः शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः॥ वा० प० १, ११९

२. वाय्वात्मको भवेच्छब्दः स चापि द्विविधो मतः।
स्वरवांश्चैव विज्ञेयस्तथा चैवाभिधानवान्॥ ना० शा० ३४।२८

३. स्वतन्त्रकला शास्त्र—का० च० पाण्डेय

उतार-चढ़ाव या तारता-मन्द्रता का अभाव है। बल्कि शिक्षाकारों और वैयाकरणों द्वारा अर्थाभिव्यक्ति में ध्वनि के सम्यक् उतार चढ़ाव का कितनी कठोरता से पालन किया और वैदिक परम्परा में कराया जाता रहा है यह सर्व विदित ही है। "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" (ना० शि० १-५)। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि उतार-चढ़ाव के लिये 'स्वर' संज्ञा का प्रयोग किया गया है। यूँ तो व्याकरण में 'जो स्वयं प्रकट होते हैं, बिना किसी प्रयत्न के वे स्वर हैं।'[1] व्यञ्जनों का अस्तित्व भी बिना स्वर के नहीं है। यह सर्व विदित ही है कि किसी शब्द के अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये जब किसी व्यञ्जन पर बल दिया जाता है या कर्षण करके ऊपर चढ़ाया जाता है अथवा नीचे लाया जाता है तो वह बल और क्रियां व्यञ्जन के स्वरभाग पर ही होती है, और हो सकती है। महाभाष्यकार ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है (यथा इन्द्राबृहस्पती'), इन्हीं स्वरों को हम वैदिक वाङ्मय में उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि संज्ञाओं से जानते हैं। इसमें स्वर स्वयं प्रधान न होकर अर्थाभिव्यक्तिकारक है। इसीलिये यहाँ पर हम उदात्तादि स्वरों को सांगीतिक स्वरों की दृष्टि से नहीं देखते, क्योंकि यहाँ पर ध्वनि का वैचित्र्य-प्रदर्शन वक्ता का ध्येय नहीं है। यहाँ तो अर्थ ही प्रधान है। ऊँचा, नीचापन इतना हो कि ध्वनि में तारता का भेद स्पष्ट रहे। पर सामवेद में आकर 'स्वर' प्रधान हो जाते हैं और अर्थ गौण हो जाते हैं। इसी कारण सामके लिये अलग से कोई पद-रचना नहीं हुई। ऋचाओं का ही विकृत रूप से गान होता है। भर्तृहरि के शब्दों में—"ऋचो वा गीतिमात्रं वा साम द्रव्यान्तरं न तु गीतिभेदादि गृह्यन्ते ता एव विकृता ऋचः" (वा० प० २, १०६)। साम में 'वर्णविभूषण ध्वनि' का ही निदर्शन है, इसलिये उसमें अर्थाभिव्यक्ति के हेतु उदात्त अनुदात्तादिकों का ग्रहण न करके क्रुष्टादि स्वरों का ग्रहण है। जैसा कि 'सामतन्त्रम्' के सम्पादक पं० रामनाथ दीक्षित ने भूमिका में कहा है—यद्यप्युदात्तादयस्त्रय एव स्वराः सर्वत्र प्रतिपादिताः प्रसिद्धाश्च ऋग्यजुषोर्मन्त्रयोर्वर्तन्ते, तथापि गीतिरूपस्य मन्त्रस्य नेमे धर्माः अपि तु क्रुष्टत्वादयः। (सामतन्त्र; भूमिका—पृ० २)

साम के इन्हीं क्रुष्टादि स्वरों के ही पर्याय गान्धर्व के षड्जादि स्वर हैं। उदात्तादि स्वरों का मेल षड्जादि स्वरों से बिठाना उपयुक्त नहीं लगता। नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय के पाठ्य-गुण-प्रसंग में अभिनवगुप्त नें अपनी विवृति में उदात्तादि स्वरों के और षड्जादि स्वरों के धर्मों की विशिष्टताओं का प्रतिपादन किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि स्वरों की रक्ति और अनुरणनता की प्रधानता को त्यागकर केवल उच्चता, नीचता का दर्शन कराना ही ध्येय है। यदि हेतुभूत स्वर ही रक्तिपूर्ण हो जाँय तो वह पाठ्य न होकर गान हो जायेगा। इस पाठ्य प्रसंग में षड्जादि के निरूपण करने की सार्थकता को स्पष्ट करते हुए अभिनव कहते हैं कि नाट्य के ध्रुवागानों में इन स्वरों का प्रयोग तथा पाठ्य में ये आधार, स्थायी, आश्रय स्वर होते हैं। मतंगमुनिकृत बृहद्देशी में यह जिज्ञासा उठी है कि संगीत के षड्जादि तो व्यञ्जन हैं तब उन्हें स्वर क्यों कहा जाता है। यह जिज्ञासा उत्पन्न होने में कारण यह रहा होगा कि 'नाट्यशास्त्र' तथा 'दत्तिलम्' आदि ग्रन्थों में तो स्वरों के लिये षड्ज, ऋषभ आदि संज्ञाओं का प्रयोग है, स, रि, ग, इत्यादि नाम नहीं हैं। सम्भवतः भरत के बाद तथा मतंग के पूर्व इस मध्यकाल में स्वरलिपिकरण हेतु स, रि, ग आदि संक्षिप्त संज्ञायें ग्रहण की गई होंगी और इन्हीं नामों को षड्जादि स्वरों का परिचयायक मानकर गाने की प्रक्रिया आरम्भ हुई होगी।

इसी प्रसंग में एक शंका और उठती है कि 'स, रि, ग' आदि व्यञ्जनों को भी यदि स्वर कहा जा सकता है तो 'ककरादि' व्यञ्जनों को भी स्वर क्यों न कहा जाय? इन षड्जादिकों में स्वरत्व कैसे? इसके समाधान में बृहद्देशीकार मतंगमुनि कहते हैं कि (१) आप्तोपदेश के कारण इन षड्जादिकों में असाधारणत्व है। इस असाधारणत्व को 'षड्जं वदति मयूरः' आदि श्लोकों से सिद्ध किया है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि स्वरों को पशुपक्षियों की ही ध्वनि के तुल्य

१. स्वयं राजन्ते इति स्वराः (महाभाष्य १।२।२९ ॥)

क्यों रक्खा है ? सम्भवतः इसलिए तुलना की होगी कि पशुपक्षियों की कलरव ध्वनि में व्यक्तता का अभाव है। अतः वे ही संगीत की अव्यक्त ध्वनियों के पर्याय हो सकते हैं। असाधारणता का एक अन्य हेतु भी मतंग मुनि ने दिया है कि (२) षड्जादिकों के 'ऊर्ध्वगामी होने के कारण उनमें असाधारणता पाई जाती है'[1]। इस हेतु के माध्यम से स्वरों में (षड्जादि में) रहने वाले 'ऊर्ध्वगामित्व' धर्म विशेष का प्रतिपादन किया गया है। ऊर्ध्वगामित्व से यही अनुमान लगाया जा सकता है कि स्वरों का ही ऊर्ध्वगमन यानी ऊपर या नीचे की ओर कर्षण हो सकता है। यह 'ऊर्ध्वगामित्व' ही भाषा और संगीत के स्वरों को एक सामान्य समानता प्रदान करता है। यही कारण है कि व्याकरण की 'स्वयं राजते इति स्वरः' इस निरुक्ति को संगीत शास्त्र में भी ग्रहण कर लिया गया है। (३) तीसरा हेतु देते हुए मतंगमुनि बृहद्देशी में कहते हैं कि 'स रि ग' आदि नामों में व्यञ्जनों का 'संकेतमात्र' के लिए ही प्रयोग हुआ है। वास्तव में इन व्यञ्जनों के अन्तर्गत स्थित रहने वाली निश्चित तारतायुक्त ध्वनियाँ ही 'स्वर' हैं।

मतंग मुनि ने अन्य स्थल पर 'स रि ग' आदि में स्थित अकार, इकार को ही ग्राह्यता की दृष्टि से स्वरों में बीजाक्षरों का आरोप कर अकरान्त (स, ग, म, प, ध) स्वरों में 'हरिबीज' और इकरान्त (रि, नि) स्वरों में शक्ति बीज या काम बीज को स्वीकार कर संगीत को साधना का स्वरूप दिया हैं।

वैयाकरणों ने वाक्य को भाषा की मूल इकाई कहा है। भर्तृहरि की दृष्टि से वाक्य वह है जो एक पूर्ण अर्थ दे। क्रियान्वित अकेला पद भी वाक्य हो सकता है, क्योंकि वह पूर्ण अर्थ को देने वाला है। एक वाक्य में किसी पद का अर्थ सम्पूर्ण वाक्यार्थ पर निर्भर है। उसी तरह किसी एक वाक्य का अर्थ भी यद्यपि अपने में सम्पूर्ण है तथापि उस प्रबन्ध के सम्पूर्ण अर्थ पर निर्भर रहता है। संगीत में वर्ण, पद और वर्णाङ्ग इन तीन पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग है। गाने की क्रिया को वर्ण कहा गया है।[2] और उसमें स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी चार प्रकार की ही स्वर की गतियाँ हो सकती हैं। आचार्य अभिनव के मत में वर्ण का सीधा सम्बन्ध संगीत में पद रचना से है।[3] किसी एक पद के कर्षण में ही वर्ण का स्थायी या आरोही आदि रूप असंकीर्णता से प्रकट होता है। अर्थात् किसी वर्ण के आरोही आदि स्वरूप का निश्चय पद से ही हो सकता है। यद्यपि व्याकरण में सार्थक शब्दों को ही पद कहा गया है।[4] जबकि संगीत में वाच्य-वाचक भाव से अभिव्यक्ति नहीं होती। अतः उसमें तो 'पद' स्वर को ही व्यक्त करने का आधार है। गान्धर्व एक व्यापक शब्द है, जो कण्ठ संगीत तक ही सीमित नहीं है, उसका व्यवहार वाद्य के लिये भी होता है। तो वाद्य में हम पद कहाँ से देखेंगे ? जिस प्रकार व्याकरण में अर्थ-पूर्ण शब्दों को वाक्य कहते हैं, उसी प्रकार संगीत में भी पूर्ण स्वरात्मकवर्णसन्निवेश को वर्णाङ्ग कहा गया है। गीतकों में एकक, विविध आदि वर्णाङ्ग कहे गये हैं। 'एकक' वह है, जिसमें एक ही गीत खण्ड (विदारी) है, जो गीति की दृष्टि से पूर्ण है। जिस प्रकार अनेक वाक्यों का समूह ही प्रबन्ध की संज्ञा पाता है उसी प्रकार संगीत में पद पर आधारित वर्णों का समूह 'वर्णाङ्ग' है और वर्णाङ्गों का समूह 'गीतक' है। संगीत में पद का सम्बन्ध वर्ण से है और स्वर समूह मात्र की सत्ता का निर्देश 'जाति' शब्द से किया गया है। 'जाति' शब्द को चर्चा वैयाकरणों ने भी की है। पतञ्जलि द्रव्य (स्फोट शब्द) को नित्य मानते है तदनन्तर आकृति (जाति) को भी नित्य मानते हैं। क्योंकि उनके मत से व्यक्ति या स्वरूपों के नष्ट हो जाने पर भी जाति अन्य स्थलों पर बनी रहती है। प्रत्येक बार शब्द के उच्चारण में उसका व्यक्ति स्वरूप नष्ट होता है पर जाति बनी रहती है, क्योंकि प्रवाह का जो मौलिक

---

१. ऊर्ध्वध्वनिगामित्वेन षड्जादीनामेव (अ) साधारणत्वम् बृहद्देशी पृ० १३

२. गानक्रियोच्यते वर्णः (संगीत रत्नाकर पृ० १५१)

३. "पदसम्बन्धाधीनस्तु वस्तुवर्णव्यवहारः" अभि० नाटयशास्त्र पृ० ७९

४. 'सुप्तिङन्तम् पदम्" पा० सू० १।४।१४

रूप है वह अविच्छिन्न रहता है। कुछ अन्य दर्शन भी जाति की नित्यता को स्वीकार करते हैं।[1] इसी की समानान्तर धारणा को हम संगीत में स्वर और जाति के पक्ष में देखते हैं। यद्यपि स्वर नित्य है फिर भी उसके स्वर-सन्निवेश की आकृति को जाति कहा है। गान्धर्व में जाति 'संज्ञा' का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि स्वर-सन्निवेश की आकृति नित्य है। उस आकृति का सुदृढ़ रूप निश्चित स्पष्ट लक्षणों द्वारा नियत कर दिया गया है। इसीलिये गन्धर्व जातियों का प्रत्येक बार का गान उस जातीयता का ही एक अभिव्यक्तीकरण मात्र है।

भाषा और संगीत के वैकृतरूप ध्वन्यात्मक हैं। ध्वनि का सम्बन्ध उच्चारण क्रिया से है, जो काल में ही होती है। इसलिये अब हम काल पर विचार करेंगे।[2]

काल की विवेचना व्याकरण में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रकीर्ण काण्ड के काल समुद्देश में की है। वे काल को लोकयन्त्र का सूत्रधार कहते हैं। काल, प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा इन दो वृत्तियों से विश्व का विभाजन करता है। प्रतिबन्ध से कसना या किसी वस्तु का अदर्शन समझ सकते हैं और इसके विपरीत अभ्यनुज्ञा है। काल अखण्ड विभु और नित्य है—इस मत की विवेचना करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि यदि प्रतिबन्ध न हो या प्रतिबन्ध का त्याग न हो तो पूर्व और अपर के ज्ञान के अभाव में अनवस्था हो जायगी। इसीलिये विभक्त काल में ही व्यवहार चलते हैं, अविभक्त अखण्ड काल में नहीं। दो भिन्न क्रियाओं की अलग समाप्ति का ज्ञान विना किसी मध्य सूत्र के असम्भव है। यह सूत्र 'काल' ही है। यथा

क्रिययोरपवर्गिण्योर्नानार्थसमवेतयोः ।
सम्बन्धिना विनैकेन परिच्छेदः कथं भवेत् ॥ वा० प० ३।९।२७

विभिन्न क्रियाओं की एकता काल द्वारा ही लक्षित होती है। इसी प्रकार विविध 'गीत, वाद्य, नृत्त' क्रियाओं का साम्य, ताल रूपी काल से होता है। इसीलिये 'गीत, वाद्य, नृत्त' को ताल में प्रतिष्ठित माना गया है। अभिनव गुप्त बार बार यह स्मरण दिलाते हैं कि 'घन वाद्य' जो ताल क्रिया का उपलक्षण है वह साम्य का हेतु है। ताल के पक्ष में काल का जो दार्शनिक चिन्तन संगीत में हुआ है वह भर्तृहरि के काल विवेचन से अत्यधिक प्रभावित है। काल-समुद्देश में जिन शब्दों के द्वारा काल की विवेचना और विश्लेषण किया गया हैं उनके पर्याय संगीत के ताल सम्बन्धी पारिभाषिक पदों में उपलब्ध होते हैं।

द्रव्यात्मक काल स्वयं को प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा से प्रकट करता है। प्रतिबन्ध का तात्पर्य है कसना और अभ्यनुज्ञा का अर्थ है ढीला या शिथिल करना। प्रतिबन्ध और अभ्यनुज्ञा के रूप में काल की शाश्वती वृत्ति के बिना काल की गति का ज्ञान नहीं होगा। 'ताल' में वही 'लय' और 'क्रिया का रूप धर कर आई हैं। क्रिया के अनन्तर 'विश्रान्ति' अथवा दो क्रियाओं के बीच स्थित जो कालप्रतिबन्ध है वहीं लय है।

"श्लेष विश्रान्त्यात्मार्थः स लयः" अभि० ना० शा० पृ० २८३, निरन्तर क्रिया, बिना किसी विच्छेद के यदि हो तो लय के अभाव के कारण काल का बोध नहीं होगा। "क्रियानन्तरमविच्छेदेन क्रियान्तरं प्रवर्तते चेत्; तदा विश्रान्त्यभावात् लयो नास्त्येव", कल्लिनाथ सं० र० ३।४४–४५ पृ० २५। इस प्रकार क्रिया और लय द्वारा काल, 'क्रमता' को प्राप्त करता है। इस तरह क्रम से प्राप्त होनेवाला काल ही ताल है। किसी भी काल की अवधि को मापने के लिये एक प्रमाण रखते हैं। जैसे क्षण, महीना, ऋतु इत्यादि (वा० प० ३६, ६८)। उसी प्रकार संगीत में भी कालों के विविध खण्ड हैं। जैसे लघु, गुरु, प्लुत, आवर्तन, वस्तु इत्यादि।

एक ही ताल के तीन रूप माने गये हैं, इन्हीं को मार्ग की संज्ञा दी है। इन तीनों मार्गों को 'एक कल', 'द्विकल', और 'चतुष्कल' की संज्ञा दी है और ये परस्पर लम्बाई या विस्तार में दुगने-दुगने हैं। फलतः क्रियायें भी दुगनी

---

१. तदेवौषधमित्यादौ सजातीयेऽपि दर्शनात्। तस्मादनित्या एवेति वर्णाः सर्वे मतं हि नः। १६८ ॥ भाषा परिच्छेद

२. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः वा० प० १।७७

दुगनी हैं। एक कल में साधारणतः लयान्वित 'सशब्द क्रियायें' होती हैं। 'द्विकल' रूप में यद्यपि क्रियायें दुगनी हो जाती हैं फिर भी सशब्द क्रियाओं की संख्या उतनी ही रहती है। केवल निःशब्द क्रियायें ही जुड़ती हैं। इससे मार्ग की लम्बाई के कारण श्रव्य में लय की विलम्बता का भान होता है। यथा—

अन्यैस्तु भावैरन्येषां प्रचयः परिकल्पते।
शनैरिदमिदं क्षिप्रमिति तेन प्रतीयते॥ वा० प० ३।६।३५

अर्थात् किसी द्रव्य का विस्तार अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध से या तुलना से कहा जाता है। इसी कारण एक ही गति धीमी या क्षिप्र प्रतीत होती है। वस्तुतः विभिन्न मार्गों में लय एक होने पर भी सशब्द क्रियाओं के विस्तार के कारण (देर देर से आने पर) लय के चिर होने का भाव होता है। संगीत के विभिन्न लयभेद शिक्षाओं के वृत्ति भेद के समकक्ष हैं। शिक्षाओं में तीन वृत्तियों का उल्लेख मिलता है—द्रुता, मध्यमा और विलम्बिता, इनका नारदीयशिक्षा में में उल्लेख किया है—

अभ्यासार्थे द्रुतां वृत्तिं प्रयोगार्थे तु मध्यमाम्।
शिष्याणामुपदेशार्थे कुर्याद् वृत्तिं विलम्बिताम्॥ ना० शा० १।६।२

वेद के अभ्यास में द्रुता वृत्ति का, पाठ में मध्यमा वृत्ति का, और शिक्षण काल में विलम्बिता वृत्ति का प्रयोग करने का निर्देश किया गया है। संगीत के विभिन्न लयों में जो परस्पर क्रमशः द्विगुणता है वह वृत्तियों में नहीं है। वृत्तियों में क्रमशः १/३ अंग की वृद्धि होती है। इस प्रसंग में यह द्रष्टव्य है कि गान्धर्व में मूलभूत लघु पाँच निमेष-काल का है, जिसे एक मात्रा की संज्ञा दी है और शिक्षा में मात्रा एक निमेष काल की है।

[नारदीय शिक्षा—२।३।६]

व्याकरण में काल के तीन भेद भूत, भविष्य और वर्तमान हैं। भविष्य को अनागत ओर भूत को अतीत कहा है। यही शब्दावली सम्भवतः ग्रह के लिये संगीत में प्रयुक्त होने लगी। जब ताल का आरम्भ और गीत का आरम्भ एक साथ हो तो उसे सम ग्रह कहते हैं। गीत का आरम्भ होने के साथ-साथ कालरूपी ताल का आरम्भ नहीं हुआ तो उसे अनागत ग्रह कहते हैं और यदि कालरूपी ताल गीत के पूर्व शुरू हो जाय तो उसे अतीत ग्रह कहते हैं।

भाषा और संगीत दोनों के उपादान में बहुत कुछ समानता है किन्तु प्रयोजन-भिन्नता से उनमें कुछ भेद लक्षित होता है; उसी का विवेचन यहाँ किया गया है। सृष्टि के मूल में दो भिन्न तत्त्वों का मिलन और वियोग दिखायी देता है—एक है चेतना तत्त्व, दूसरा है जड़ता। शब्द तत्त्व के इन्हीं दोनों रूपों के मौलिक तात्त्विक स्वरूप को रक्षा करते हुए प्रयोगजन्य वैविध्य के स्वरूप का दर्शन इन दोनों क्षेत्रों में होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

१. वाक्य पदीय, डेकन कॉलेज पूना।
२. ,, —सूर्यनारायण शुक्ल की टीका सहित
३. India‌ theories f mea ing Kunhunn R ja
४. अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन—कपिलदेव आचार्य।
५. वैदिक स्वर मीमांसा—युधिष्ठिर मीमांसक।
६. काल समुद्देश – सर्वेश्वर शर्मा
७. अभिनव भारती – अभिनव गुप्त
८. संगीत रत्नाकर – शार्ङ्गदेव (कलानिधि टीका सहित)
९. स्वतन्त्र कला शास्त्र—का० च० पाण्डेय

—:०:—

मीमांसा और साहित्य

ले० कल्लिडेकुरिच्चि वि० कृष्णन् "कण्णन्" बी० बी० एम०, एम० काम०

अखंडमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥

भावात्मक संसार-चक्र में आदिशक्ति के दो स्वरूप परिलक्षित होते हैं, विद्या एवं अविद्या। विद्या, सचेतन व सत्त्वगुणप्रधान होती है तथा अविद्या अचेतन व राजसी या तामसी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करती है। भौतिक सुख की आकांक्षिणी अविद्या का मूलमंत्र होता है—

"यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥"

दूसरे शब्दों में, जबतक यह शरीर विद्यमान है तब तक ऋणी बनकर भी सांसारिक सुखों का उपभोग करना चाहिए क्योंकि नश्वर देह के अवसान के पश्चात् पुनः ऐसी सुन्दर काया के मिलने की क्या संभावना है? अतः शरीर-पोषण, शरीर-संरक्षण व शरीर-संवर्द्धन में तल्लीन व्यक्तियों की विचारधारा मात्र शरीर-धर्म तक सीमित रहती है। सारतः उनका जीवन आहार के लिए होता है। सत्त्वगुणसंपन्न विद्या में बुद्धितत्त्व का प्राधान्य होता है। बुद्धि-जन्य कार्यों की विलक्षणता के कारण सुधीजन अपने जीवन को सार्थक करते हैं, कृतार्थ करते हैं व परमार्थपरक बनाते हैं। उनका आदर्श वाक्य "सत्यं शिवं सुन्दरम्" होता है। मुख्यतः उनका आहार जीवन के लिए होता है। अर्थात् जीने के लिए होता है। राजसी व तामसी वृत्तियाँ सदैव सात्त्विक प्रवृत्ति को आकर्षित करती रहती हैं। सतत साधना व दृढ़ इच्छा-शक्ति के आधार पर ही विद्या का अस्तित्व संभव है। ऐसी विद्या ही जगत् में विनय एवं सद्भावना के साथ टिक सकती है। कवि कालिदास के अनुसार—

"सम्यगाराधिता विद्या प्रबोधविनयाविव।" (रघुवंश स० १०, श्लोक ७१)

अतएव, विपरीत परिस्थितियों में भी जो व्यक्ति अपने लक्ष्य से च्युत नहीं होते, साधना में कोई कमी नहीं आने देते वे ही इस संसार को कुछ देते हैं, समाज को गौरव प्रदान करते हैं, और स्वयं गौरवान्वित होते हैं।

ऐसे ही महामनीषियों की शृंखला में हमारे पूज्य गुरुवर भी हैं। वेदों के ज्ञाता, शास्त्रों के मर्मज्ञ, मीमांसा शास्त्र में अद्भुत प्रतिभा के धनी, प्रातर्वन्दनीय गुरुजी का आविर्भाव "धनुर्लग्न" में हुआ है। चापलग्न की विशेषताओं का वर्णन करते हुए ज्योतिष-शास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ "जातकाभरणम्" में कहा गया है—

"प्राज्ञश्च राज्ञः परिसेवनज्ञः सत्यप्रतिज्ञः सुतरां मनोज्ञः ।
सुज्ञः कलाज्ञश्च धनुर्विधिज्ञः चेद्धर्धनुर्यस्य जनुः तनुस्स्यात् ॥"

इस प्रकार, गौरवर्ण, सुन्दर देहयष्टि, विविध कलाओं से आसिञ्चित, विलक्षण वक्तृता-शक्ति संपन्न, अध्यापन कला में निष्णात एवं स्मितवदन से सहज ही सबको आकृष्ट कर लेने वाले ऐसे महान् व्यक्ति के व्यक्तित्व को अक्षुण्ण बनाये रखने में सकलकलाधिष्ठात्री भगवती सरस्वती भी किञ्चित् गरिमा की ही अनुभूति करती है। शांत, धीर व निरन्तर वाग्देवी की आराधना में तल्लीन पूज्य गुरुवर के श्रीचरणों में अनन्त कोटि प्रणाम हैं!

संस्कृत वाङ्मय में "शब्द" को तीन स्वरूपों में विभक्त किया गया है—प्रभुसम्मितशब्द, सुहृत्सम्मितशब्द एवं कान्तासम्मित शब्द। प्रभुसम्मित शब्दों का प्रयोग श्रुतियों में, सुहृत्सम्मित शब्दों का उपयोग शास्त्र-पुराणेतिहासादिकों में तथा कान्तासम्मित शब्दों का संयोजन साहित्य में हुआ है।

बुद्धि दो पद्धतियों के आधार पर विचारों को अभिव्यक्त करती है। प्रथम न्याय-पद्धति व द्वितीय भाव-पद्धति। न्याय-पद्धति के अन्तर्गत, न्याय, सांख्य, धर्मशास्त्र आदि विभिन्न शास्त्र आते हैं, जो अपने-अपने शास्त्र-विहित-न्यायों का अवलंबन कर, समाज के किसी व्यवहार या विचार का समर्थन वा विरोध करते है। इसी न्याय-पद्धति पर आधारित एक शास्त्र मीमांसा भी है। मीमांसा का शाब्दिक अर्थ विचार या विवेचन है। नित्यप्रति के व्यवहारों में भी हम मीमांसा शब्द का प्रयोग करते हैं। ग्रन्थ-निर्माता समूह भी अपनी विषय-वस्तु की विवेचना करने हेतु इस शब्द का आश्रय लेते हैं। काव्य-मीमांसा, चित्र-मीमांसा, रुय्यक की साहित्य-मीमांसा आदि इसके उदाहरण हैं।

चिरन्तन काल में वेदमार्गानुगामी ऋषि-मुनियों ने वेद विहित गूढ़ तत्वों की विवेचना करने हेतु एक पृथक् शास्त्र का उन्नयन किया। इस प्रणीत ग्रन्थ को ही उन्होंने मीमांसा-शास्त्र के रूप में स्वीकार किया। महर्षि जैमिनि ने इस शास्त्र के न्यायों को बारह अध्यायों में संकलित किया है। ये अध्याय क्रमशः; प्रमाण-भेद-शेषत्व-प्रयुक्ति-क्रम-सामान्य-अतिदेश-विशेषातिदेश-ऊह-बाध-तन्त्र-प्रसङ्ग आदि हैं। इनके आधार पर ही मीमांसक" विभिन्न विषयों में निहित गूढ़ तत्वों को अत्यन्त सरलता के साथ उद्घाटित कर देते हैं। भट्ट कुमारिल ने अपने श्लोकवार्तिक में कहा है—

"मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता।"

अर्थात्, मीमांसा के न्याय किसी न किसी रूप में कई विद्याओं में व्याप्त है। दार्शनिक मीमांसा-सम्मत-न्यायों का अनुकरण करके ही दर्शन-शास्त्रान्तर्गत श्रुति-सम्मत-तथ्यों की व्याख्या करते हैं। किं बहुना, ज्योतिष-शास्त्र भी मीमांसा से अछूता नहीं है। भट्ट कुमारिल का "मीमांसा दर्शन" में यह कथन है कि **"ज्योतिःशास्त्रेऽपि युगपरिवर्तनपरिमाणद्वारेण चन्द्रादित्यादिगतिविभागेन तिथिनक्षत्रप्रज्ञानमविच्छिन्न संप्रदायगणितानुमानमूलं ग्रहसौस्थ्यदौस्थ्यनिमित्तपूर्वकृतशुभाशुभकर्मफल-विभागसूचनं तद्गतशान्त्यादिविधानद्वारेण वेदमूलम्।"**

(अ० १ पा० ३ अ० १ शा० भा०, मीमांसा दर्शन, पूना १९२९)

अभिप्राय यह है कि ज्योतिष के अन्तर्गत, युगपरिवर्तन, सूर्य-चन्द्र की गति से तिथि-नक्षत्र आदि का ज्ञान, गणनाओं के आधार पर ग्रहों की स्थिति का निरूपण, क्रूरग्रहकृत अरिष्ट-निवारण हेतु शांति का विधान आदि सभी वेदाश्रित हैं। पुनश्च अन्त में भट्ट कुमारिल कहते हैं—

"मीमांसा तु लोकादेव प्रत्यक्षानुमानादिभिरविच्छिन्न संप्रदायपण्डितव्यवहारैः प्रवृत्ता। न हि कश्चिदपि प्रथममेतावन्तं युक्तिकलापं उपसंहर्तुं क्षमः।"

(अ० १ पा० ३ अ० १ शा० भा०, मी० दर्शन, पूना १९२९)

अर्थात् इस शास्त्र में निहित युक्ति-संगत न्यायों के आधार पर विद्वद्-वृन्द लोक-व्यवहार में अनुभूत पदार्थों का विश्लेषण करते हैं। वास्तविक तथ्यों से अवगत होते हैं। संक्षेप में, मीमांसा-शास्त्र को ही सभी शास्त्रों में निर्बाध-गति से विचरण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

न्याय-पद्धति का सबसे बड़ा दोष सरसता का अभाव है। उसके न्याय आदि की व्याप्ति अत्यन्त दुरूह होती है। साथ ही इन पर आधारित निर्णय प्रायः विवाद के विषय बन जाते हैं। प्रत्येक शास्त्र, अपनी योग्यता, अपने ज्ञान व अधीत शास्त्र के मतानुसार अन्य शास्त्रों के सिद्धान्त पर दिये गये निर्णयों को खण्डन वा मण्डन करके अपनी बुद्धि-कुशलता का परिचय देते रहे हैं। सामान्य जनता मूक बनी रहती है एवं समाज पक्ष-विपक्ष, तर्क-वितर्क, वाद-प्रतिवाद के आधार पर विभाजित हो जाता है।

न्याय-पद्धति में क्लिष्टता का लक्षण ही शास्त्रीय विद्वानों को रसिक कम तथा विश्लेषक अधिक बनाता है। कदाचित् समग्र ग्रंथ विश्लेषण परक होने के कारण कहा जाता है "मीमांसकों को रसोत्पत्ति होती ही नहीं।"

बुद्धि की परिष्कृत, मर्मस्पर्शी व हृदयग्राही अभिव्यंजना, भाव-पद्धति पर निर्भर होती है। भाव-पद्धति का चमत्कार साहित्य में ही दृष्टिगोचर होता है। मंद परिहास करते हुये रहस्य को सजीवता के साथ साहित्य में ही प्रकट किया जा सकता है। यथा—

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान् समागता वाग्भटमिश्रपादाः॥

तात्पर्य यह है कि ये वाग्भटमिश्र हैं, इन्होंने कुलमिलाकर गुरु से पाँच दिनों तक शिक्षा ली है, वेदान्त-शास्त्रादिकों को तीन दिन में ही पढ़ लिया है एवं तर्कवाद को तो मानिये इन्होंने सूँघ ही डाला है।

साहित्य अत्यंत व्यापक तत्त्व है। प्रकृति की प्रत्येक लीलाओं को सरस-मधुर ढंग से जन-सामान्य को समझा देना ही साहित्य है।

साथ ही साहित्यकार अपनी ललित-रचनाओं के माध्यम से समाज की विशेषताओं की ओर इंगित करता है एवं गलत कार्यों को न करने की चेतावनी भी देता है। साहित्य विद्या के अन्तर्गत, गद्य-पद्य-नाटक-प्रहसन-कथा-उपन्यास-गीत सभी आते हैं।

साहित्य को बुद्धिजीवियों ने "हितेन सह वर्तते इति सहितम्, तस्य भावः साहित्यम्।" व्युत्पत्ति की है। दूसरे शब्दों में, "हित के साथ जो पदार्थ विद्यमान रहता है वह सहित व उसका भाव ही साहित्य है।" प्राचीनकाल में काव्यों का प्रचलन होने के कारण प्राचीनों ने काव्य को ही साहित्य के पर्याय के रूप में ग्रहण किया है।

कवि राजशेखर ने साहित्य की विद्या की कोटि में गणना की है। वक्रोक्ति जीवितकार आचार्य कुन्तल "साहित्य" को शब्द-अर्थ के भावपूर्ण संयोजन द्वारा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार—

"शब्दार्थौ" सहितौ वक्रकविर्व्यापारशालिनी।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणी॥
साहित्यमनयोः शोभाशालितां वापि काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः ॥"

अर्थात् सामाजिक को व्यवस्थित कविकर्म से युक्त शब्दार्थ के द्वारा आनन्दित करने को ही काव्य कहते हैं। काव्य में न्यूनातिरेकहीन शब्द एवं अर्थ के स्वरूप को उपरंजक विधि से प्रस्तुत करने का नाम ही साहित्य है। अतः शब्द और अर्थ दोनों ही समान रूप से सहृदयहृदयाह्लादकारक होने चाहिए।

साहित्य क्षेत्र में भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से लेकर भामह के काव्यालंकार तक, तत्पश्चात् दण्डी का काव्यादर्श, भट्टोद्भट्ट का काव्यालंकारसंग्रह, वामन का काव्यालंकारसूत्र, रुद्रट का काव्यालंकार, आनन्दवर्द्धनाचार्य का ध्वन्यालोक, कवि राजशेखर की काव्यमीमांसा, भट्टनायक का हृदयदर्पण, कुन्तक का वक्रोक्ति जीवित, क्षेमेन्द्र की औचित्यविचारचर्चा भोजराज का शृंगारप्रकाश, मम्मट का काव्यप्रकाश विश्वनाथ का साहित्यदर्पण, पंडितराज जगन्नाथ का रसगंगाधर आदि सभी ग्रन्थों में काव्य को अपनी विलक्षण प्रतिभा की उपज बनाने की चेष्टा की गई है।

भामह द्वारा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" वामन द्वारा रीतिरात्मा काव्यस्य, रुद्रट द्वारा अलंकार को ही काव्य मानना, आनन्दवर्द्धनाचार्य द्वारा "काव्यस्यात्माध्वनिः" कहकर काव्य में "ध्वनितत्त्व" को प्रमुखता देना, मीमांसक

मट्टलोल्लट- अभिधाव्यापार, भावकत्व–भोजकत्व, भट्टनायक द्वारा अभिधा व्यापार को ही स्वीकार करना, आचार्य मम्मट द्वारा "तददोषौ शब्दार्थौं सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि" कहकर काव्य के लक्षण को प्रतिपादित करना, रुय्यक द्वारा "विशिष्टौ शब्दार्थौं काव्यम्" कहकर विशिष्ट शब्दार्थ संयोजन को काव्यरूप में परिणत करना, विश्वनाथ द्वारा "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" अर्थात् रसात्मक वाक्य को ही कवि कर्म की संज्ञा देना, रसगंगाधरकार द्वारा अपने पूर्ववर्ती सभी साहित्यकारों का खंडन करते हुए "रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्" अर्थात् रमणीयता को प्रतिपादन करने वाले शब्द को ही काव्य के रूप में प्रतिष्ठापित करना आदि सभी प्रतिभासम्पन्न मति के वैलक्षण्य का परिचय देते हैं।

विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शब्दों में "सहित के मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का ही मिलन नहीं, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का, अतीत के साथ वर्तमान का, दूर के साथ निकट का अत्यन्त अन्तरंग मिलन भी है, जो साहित्य के अतिरिक्त अन्य से सम्भव नहीं।"

पाश्चात्य लेखक हेनरी हडसन का कथन है कि "It is fundamentally an expression of life through the medium of the language." वस्तुतः साहित्य जीवन की अभिव्यक्ति है, जिसे हम भाषा के माध्यम से सामने रखते हैं।

सन् १९७८ के साहित्य-नोबल-पुरस्कार विजेता यहूदी कथाकार "इसाक वेसीविस सिंगर" ने अच्छे साहित्य की एक शर्त दी है कि वह पाठकों के भीतर पढ़ने की अभिरुचि पैदा करे, उन्हें अपने साथ बहाकर ले जाए। उन्हें आनन्द दे और अपने आस-पास की व्यथा व तनाव-भरी जिंदगी से कहीं बहुत दूर ले जाकर स्थिर रख सके।"

जैसा कि कहा जा चुका है साहित्य कान्तासम्मित शब्दों से गुम्फित होता है। संस्कृत-वाङ्मय में साहित्यकार परोक्षरूप में वेद व शास्त्र-सम्मत व्यवस्थाओं को ही प्रस्तुत करता है। यथा—कविकुलमुकुटमणि कालिदास के काव्य-नाटकादिकों में द्रष्टव्य है :—

"अभिज्ञानशाकुन्तलम्" के चौथे अंक में महर्षि कण्व के द्वारा शकुन्तला को दिया गया उपदेश—

शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने,
भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥ १८ ॥

अर्थात्, हे शकुन्तले ! तुम, पति के घर जाकर गुरुजनों की सेवा करना, सौतों से सखियों सा व्यवहार करना, क्रोध के वशीभूत होकर पति के रुष्ट होने पर भी उनके विपरीत न जाना, दास-दासियों को प्रेमपूर्वक रखना, सौभाग्य पर वृथा घमंड न करना। इस प्रकार जो वरांगना घर में रहती है वही सच्ची गृहिणी पद की अधिकारिणी है अन्य तो कुल की नागिन होती हैं। उपर्युक्त एक पद्य में कवि ने कितनी सजीवता के साथ धर्मशास्त्र के विषयों को समझाने का सत्प्रयास किया है।

कवि कालिदास ने अपने काव्य-नाटकादिकों में यज्ञ, अनुष्ठान, आदि की विवेचना भी अत्यन्त शास्त्र-सम्मत विधि से की है। पूज्य गुरूजी मीमांसक होने के कारण इन तथ्यों का अत्यन्त मनोग्राही वर्णन करते हैं। कविकुलचूड़ामणि के द्वारा प्रयुक्त ये शब्द कितने सारगर्भित हैं—

Digitized By Siddhanta eGangotri Gyaan Kosha

"यथाविधि हुताग्नीनाम्,[१] प्रजायै गृहमेधिनाम्,[२] दुदोह गां स यज्ञाय,[३] यूपचिह्नेषु यज्वनाम्,[४] पूर्यमाण-मदृश्याग्नि-प्रत्युद्यातैस्तपस्विभिः,[५] धूमैराहुतिगन्धिभिः,[६] स्वाहयेव हविर्भुजम्,[७] हविषे दीर्घसत्रस्य,[८] होतुराहुतिसाधनम्,[९] होमार्थविधेश्च शेषम्,[१०] मखांशभाजां प्रथमो मनोषिभिः त्वमेव देवेन्द्र सदा निगद्यसे,[११] महाक्रतूनां महनीयशासनः,[१२] स विश्वजितमाजह्रे यज्ञं सर्वस्वदक्षिणम्,[१३] विधिमवसाय्यशास्त्रदृष्टम्,[१४] अध्वरदीक्षिताम्,[१५] अवभृथप्रयतोनियतेन्द्रियः,[१६] पुत्रीयामिष्टिमृत्विजः,[१७] अचिराद्यज्वभिभागं कल्पितं विधिवत्पुनः।,[१८] हविषेव हविर्भुजम्,[१९] अध्वरविघातशान्तये"[२०] आदि रघुवंश में तत्तत्स्थल में द्रष्टव्य है।

यद्यपि महाकवि ने यज्ञ-अनुष्ठानादिकों को मुख्यत्व प्रदान किया है तथा श्रुति-सम्मत विषयों को अत्यंत सूक्ष्मता के साथ संयोजित किया है तथापि वास्तव में उनके स्वरूप को जानने हेतु मीमांसा-शास्त्र की सहायता लेनी ही पड़ती है।

कवि शिरोमणि द्वारा रघुवंश के सप्तम सर्ग में इन्दुमतो-परिणय को वैदिक-विधि से सम्पन्न कराया है—

तत्रार्पितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥२०॥

विदर्भराज के तेजस्वी पुरोहित ने घृतादि सामग्रियों से हुत अग्नि को साक्षी बनाकर वर-वधू का गठबन्धन कर दिया। इसके बाद वैदिक कृत्य द्रष्टव्य हैं—

१.	रघुवंश	सर्ग	१	श्लोक	६
२.	,,	,,	,,	,,	७
३.	,,	,,	,,	,,	२६
४.	,,	,,	,,	,,	४४
५.	,,	,,	,,	,,	४९
६.	,,	,,	,,	,,	५३
७.	,,	,,	,,	,,	५६
८.	,,	,,	,,	,,	८०
९.	,,	,,	,,	,,	८२
१०.	,,	,,	२	,,	६६
११.	,,	,,	३	,,	४४
१२.	,,	,,	३	,,	६९
१३	,,	,,	४	,,	८६
१४.	,,	,,	५	,,	७६
१५.	,,	,,	९	,,	२१
१६.	,,	,,	९	,,	२२
१७.	,,	,,	१०	,,	४
१८.	,,	,,	,,	,,	४५
१९.	,,	,,	,,	,,	७९
२०.	,,	,,	११	,,	१

१. "हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः"[१]

आपस्तंव गृह्य सूत्र के चौथे खंड के ग्यारहवें सूत्र के अनुसार—

"अथास्यै दक्षिणेन नीचा हस्तेन दक्षिणमुत्तानं हस्तं गृह्णीयात् ।"

पुनः उसी खंड के चौदहवें सूत्र में कहा गया है कि वर निम्न मंत्र का पाठ करें ।

"गृभ्णामि ते इत्येताभिश्चतसृभिः ।"

अर्थात्, वर दक्षिणकर से कन्या के दक्षिणकर को अञ्जलि को ग्रहण करे पुनः वह "गृभ्णामि ते" के चारों मन्त्रों का पाठ करे ।

वे चारों मन्त्र क्रमशः निम्न हैं—

(अ) गृभ्णामि ते सुप्रजास्त्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथाऽसः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।

(ब) तेह पूर्वे जनासो यत्रपूर्णवहो हिताः ।
मूर्धन्वान् यत्र सौभ्रवः पूर्वो देवेभ्य आतपन् ।।

(स) सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवति ।
तां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रगायामस्यग्रतः ।।

(द) य एति प्रदिशः सर्वा दिशोऽनु पवमानः ।
हिरण्य हस्त ऐरम्मस्सत्वा मन्मनसं कृणोतु ।।

अर्थात् दीर्घ सौख्य, अच्छी संतति, अन्नससृद्धि, निःसंदेह दांपत्यजीवन का निर्वहण आदि की कामना इन्द्र, भग, अर्यमा प्रभृति विभिन्न देवताओं से की गई है ।

२. प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोः[२]

इसके पश्चात् सप्तपदी का विवरण आता है । सप्तपदी में अग्नि की परिक्रमा पूर्वोक्त मन्त्र के आधार पर किये गये पाणिग्रहण के साथ की जाती है ।

आपस्तंब ग्रह्य सूत्र के चौथे खंड के पन्द्रहवें सूत्र में कहा गया है—

"अथैनामुत्तरेणाग्निं दक्षिणेन पदा प्राचीमुदीचीं वा दिशमभिप्रक्रमयति, एकमिष इति ।"

इसके मन्त्र हैं—

"एकमिषे, विष्णुस्त्वान्वेतु, द्वे ऊर्जे, त्रीणि व्रताय, चत्वारि मायो भवाय, पञ्चपशुभ्य, षड्ऋतुभ्यः, सप्तसप्तभ्यो होत्राभ्यो विष्णुस्त्वान्वेतु ।।"

अर्थात् पहले पद में अन्नसमृद्धि, दूसरे पद में अभिवृद्धि, तीसरे पद में सत्कर्मों में सिद्धि, चौथे पद में सुखवैभव, पाँचवें पद में पशुधन की समृद्धि, छठें पद में छहों ऋतुओं की अनुकूलता तथा सातवें पद में सोमयोग के विभिन्न सातों ऋत्विजों के साथ सत्कार्य करने का भाग्य प्राप्त हो ऐसा भगवान् विष्णु अनुग्रह करें ।

३. लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ[3]

इसके अनन्तर वर-वधू अपने स्थान पर बैठें, वधू अपने दोनों हाथों को अञ्जलि के रूप में रखकर अभिधारित लाजाओं का होम करे ।

१. रघुवंश सर्ग ७ श्लोक २१ ।
२. रघुवंश सर्ग ७ श्लोक २४
३. रघुवंश सर्ग ७ श्लोक २५

आपस्तम्ब गृह्य सूत्र के पांचवें खंड का तृतीय, चतुर्थ व पञ्चम सूत्र द्रष्टव्य है—

"अथास्या अञ्जलावुपस्तीर्य द्विर्लाजानोप्य अभिघारयति ।
तस्यास्सोदर्यो लाजानावपतीत्येके । जुहोतीयं नारीति ।

इसका मंत्र इस प्रकार है—

इयं नार्युपब्रूते कुल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवातु शरदश्शतम् ॥

भावार्थ यह है कि इस लाजा होम से तृप्त होकर पति को अग्निदेव दीर्घायुष्य प्रदान करें ।

ये सभी श्रुति-सम्मत तथ्य मीमांसा के अवलंबन पर ही समझे जा सकते हैं ।

इसके अतिरिक्त पूज्य गुरुजी का समन्वयात्मक रुख अत्यंत व्यापक रहा है । मम्मट के लक्षण के विवादों का समाधान करते हुए आचार्यप्रवर का अभिमत है—

"मीमांसक तो समन्वयवादी है । वेदों में प्रभु सम्मित शब्दों का प्रयोग होता हैं तथा काव्य नाटकादिकों में कान्तासम्मित शब्दों का समावेश होता है । स्वर्गपशुपुत्रादि की कामना से यज्ञ होमादिकों का अनुष्ठान किया जाता है । अतः स्वर्गपशुपुत्रादि साध्य हुए, यज्ञ-होमादि साधन । साधनों के आधार पर ही साध्य की प्राप्ति संभव है । स्वर्गकामार्थं, पुत्रलाभार्थं, दुष्टप्रशमनार्थ व अरिष्ट निवारणार्थं अनुष्ठीयमान याग भिन्न-भिन्न हैं । किसी-किसी याग में एक याग अंग होने पर दूसरा यज्ञ अंगी बन जाता है । इसी प्रकार दूसरे की प्रधानता पहले भाग को गौण बना देती है ।

इसी प्रकार काव्यों में आलंकारिक अलंकार को रस-सम्प्रदाय के व्यक्ति रस को, ध्वनि सम्प्रदाय ध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हैं । एक की श्रेष्ठता होने पर दूसरे का गौण हो जाना स्वाभाविक है । साथ ही यह भी सत्य है कि सभी सम्प्रदायों के आचार्यों ने सबको स्वीकार किया है ।

"न हि निन्दा निन्दितुं प्रवृत्ता अपि तु स्तुत्यं स्तोतुम्" के न्याय से सभी आचार्य अपने मत की पुष्टि करने हेतु दूसरे की अवहेलना करते हैं, निन्दा करने के उद्देश्य से नहीं । जिस प्रकार यज्ञों के स्वरूप भिन्न-भिन्न होने पर भी प्रतीति एक ही है । उसी प्रकार काव्य-नाटकादिकों का अभीष्ट पदार्थ सामाजिकों को रंजित करना है, आनन्दित करना है, आह्लादित करना है । इस प्रकार यह खण्डन-मण्डन की प्रक्रिया बुद्धि-जन्य चमत्कार का परिणाम है, लेकिन काव्य का उद्देश्य तो "सहृदयमनः प्रीतये" है ।

अन्त में, पच्चीस से अधिक ग्रन्थों के संपादक, विभिन्न विषयों में शोधपूर्ण लेखों के लेखक, संस्कृत वाङ्मय को अपने अनमोल योगदान द्वारा आकल्प बनाये रखने की श्रृंखला में विशिष्ट, मीमांसा-सम्मत न्यायों के आधार पर अत्यंत सरलता से साहित्य-दर्शन-तर्क-वेदान्त आदि विभिन्न विषयों में अवस्थित गूढ़ तत्त्वों की विवेचना करने में समर्थ, ऐसे महान् विभूति के अभिनन्दन का आयोजन कर हम ही धन्य हुए हैं । किन्तु आज की भारत सरकार, उन सभी महामानवों, जिन्होंने संस्कृत-भाषा के संरक्षण-अभिवर्द्धन हेतु अपने संपूर्ण जीवन को समर्पित कर दिया उनकी उपेक्षा कर जिस निष्ठुरता के साथ संस्कृत-भाषा का निष्क्रमण करने का कुप्रयास कर रही है यह अत्यंत निन्दनीय ही नहीं अपितु क्लेश व विषाद का विषय है । गुरु चरण का अभिनन्दन तो वास्तव में तभी होगा जब हम भारतवर्ष के प्रत्येक गृह में देववाणी के अस्तित्व को देखें व उनके मार्ग पर चलने का प्रयास करें ।

—:०:—

राष्ट्र के लिए कालिदास का सन्देश

कुमारी हेमा कृष्णन्
शोधछात्रा (संस्कृत) संस्कृत एवं पालि विभाग, का० हि० वि० वि०

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

देववाणी के मस्तक को सगौरव ऊंचा उठाने वाले परमपूजनीय प्रातर्वन्दनीय श्री गुरुजी के चरणों में अपनी अपरिपक्वबुद्धिजन्य विचारों को लेखनीवद्ध करने का मुझे जो पावन अवसर प्राप्त हुआ, वह मेरे लिए परम सन्तोष का विषय है ।

भारत वर्ष धर्मप्रधान देश है और भारतीय संस्कृति धार्मिक भावनाओं से ओतप्रोत है । व्यक्ति से ही समाज और समाज से ही राष्ट्र का निर्माण होता है । समाज के अभ्युदय से ही राष्ट्र का उत्थान हो सकता है । समाज व्यक्ति पर निर्भर है । प्रत्येक व्यक्ति के अभ्युदय से ही समाज समुन्नत हो सकता है । धर्म तथा तत्त्वज्ञान—ये दो विषय अत्यन्त महत्त्व रखते हैं—समाज की रक्षा, अभ्युदय एवं कल्याण के लिए । 'धारणाद्धर्ममित्याहुः', "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" इत्यादि धर्म की व्याख्यायें प्रसिद्ध हैं । मनुष्य के मन पर धार्मिक कल्पना का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है और उसके द्वारा मनुष्य को व्यावहारिक जीवन संयमित करने में बड़ी सहायता मिलती है । इसीलिए हमारे प्राचीन महर्षियों ने धर्म का व्यावहारिक जीवन के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया है ।

इसप्रकार हमारे हिन्दू धर्म के इन उदात्त तत्त्वों को लोक के समक्ष उपस्थित कराने का एकमात्र माध्यम शब्द ही है । क्योंकि यह सर्वविदित है कि जगत् के समग्र व्यवहार शब्द पर ही अवलम्बित होते हैं । लोकव्यवहार का आधार शब्द ही है । इसीलिए शब्द की गरिमा के गीत सकल शास्त्र गाते हैं । आलोचकों ने वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दों को तीन भागों में विभक्त किया है—वेदशब्द, शास्त्रशब्द तथा काव्यशब्द । इन्हें ही हम दूसरे शब्दों में प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित तथा कान्तासम्मित शब्द कहते हैं । वेद में शब्द जिस रूप में, जिस स्थान पर जैसे उपलब्ध हैं, उनका वैसा ही ग्रहण अभीष्ट होता है । शब्द की प्रधानता के कारण ही ये लोक में प्रभु के समकक्ष माने गये हैं ।

शास्त्र अपने वचनों के द्वारा स्वाभाविक रूप से किसी उपदेश का उपन्यास पाठकों के सामने करता है । वह किसी प्रकार का आग्रह नहीं दिखलाता । इसीलिए इसकी तुलना सुहृत् से की गयी है ।

काव्य शब्द इन दोनों से ही विलक्षण है । 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' यह काव्य का प्रधान प्रयोजन है । एकमात्र काव्य ही मनुष्य के मानसपटल में धर्म, तत्त्वज्ञान, सदुपदेश जैसे उदात्त (अथ च कुछ सीमा तक नीरस भी) तत्त्वों को प्रतिष्ठापित करने का सहजसुलभ मनोरंजक साधन है । उच्च आदर्शों को अतिमनोरंजक ढंग से लोगों के समक्ष रखकर उनकी ओर चित्ताकर्षण करने एवं सहज ढंग से सदुपदेशों को उनके मन में प्रतिबिंबित करने का यह अत्यन्त उच्चतम उपाय है ।

संस्कृत साहित्य भारतीय संस्कृति का प्रधान वाहन रहा हैं । यदि संस्कृत के काव्यों में संस्कृति अपनी अनुपम गाथा सुनाती है तो संस्कृत नाटकों में वह अपनी कमनीयक्रीडा दिखलाती है । भारतीय संस्कृति का प्राण आध्यात्मिक भावना है । त्याग से अनुप्राणित, तपस्या से पोषित तथा तपोवन में संवर्द्धित भारतीय संस्कृति का रमणीय, आध्यात्मिक रूप संस्कृत भाषा के ग्रंथों में अपनी छटा प्रदर्शित करता हुआ सहृदय-विदग्ध जनों के हृदय को हठात् आकर्षित करता है ।

और इसका संपूर्ण श्रेय वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, भवभूति, बाण प्रभृति महान् विभूतियों को ही है, जो कि हमारे लिए परम आदरणीय हैं।

आनन्दवर्द्धन ने भी एक स्थल पर कहा है—"अस्मिन् अतिविचित्रपरंपरावाहिनिसंसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवयः इति गण्यन्ते।"

महाकवियों का लक्ष्य व्यक्ति की प्रशस्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व की प्रशस्ति हुआ करती है। कालिदास भी एक ऐसे ही महामानव थे जिन्होंने सरस्वती की आराधना के क्षेत्र में अपने आश्रयदाता का कोरा स्तुतिगान न करके उन महामानवों का यशोगान किया है जो कि कालिदास की दृष्टि में मानवता के प्रतीक हैं। कालिदास की काव्यसाधना के पीछे मानवता के मूल आदर्शों के प्रसार का एक महान् ध्येय था जिसकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में उनकी रचनाओं में पायी जाती है।

चूँकि आज का मानव-समाज आपस के वैषम्य के कारण छिन्न-भिन्न हो रहा है। अतएव उद्विग्न, अथ च मानवता के लिए महान् संकटपूर्ण समय में कालिदास का सन्देश नितांत उपादेय है।

आदर्श मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह शास्त्रों में निर्दिष्ट विधि के अनुसार अपने धार्मिक कृत्यों को करे, यथाशक्ति दान दे, न्यायप्रिय बने, त्याग के लिए ही धन संग्रह करे। केवल यश की कामना से ही विषय की इच्छा करे, भूमिहरण आदि के लिए नहीं। कालिदास वैयक्तिक उन्नति के साथ सामाजिक उन्नति के पक्षपाती हैं, क्योंकि व्यक्तियों के समुदाय का नाम ही तो समाज है। अतएव उनका समाज श्रुति-स्मृति की पद्धति पर चलने के कारण पूर्वकालीन सभी विशेषताओं से युक्त होता है। वह गृहस्थी में निरत होता है सन्तानोत्पत्ति के लिए, कामवासना की पूर्ति के लिए नहीं। इस प्रकार हमारा भारतीय समाज लोगों के समक्ष एक ऐसा आदर्श उपस्थित करता है जो सर्वदा अनुकरणीय है। शैशव में विद्याभ्यास करता है, यौवन में विषयों के प्रति आसक्त एवं वार्द्धक्य में सम्पूर्ण प्रपंच से निवृत्त होकर अन्त में योगाभ्यास द्वारा परमतत्त्व की प्राप्ति करता है—

त्यागाय संभृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥ रघु० १।७-८

इस प्रकार मानव धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों से सम्पर्क स्थापित करते हुए जीवन को सफल बनाने में समर्थ हो सकता है, तथापि इस त्रिवर्ग में धर्म की महत्ता अपेक्षाकृत अधिक होने से उसकी ओर अधिक प्रवृत्ति मनुष्य की होनी चाहिए—"त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनी।" कु० सं० ५-३८) लेकिन जगत् में हम देखते हैं कि धर्म को अभिभूत कर अर्थ अपना अस्तित्व रखना चाहता है और धर्म को ध्वस्त कर काम पूर्ण प्राबल्य चाहता है। कालिदास ने इसी के विरोध में मदन-दहन के माध्यम से धर्मविरुद्ध काम की सत्यता को प्रमाणित किया है। क्योंकि वस्तुतः धर्म से रहित न तो काम ही मङ्गलकारक हो सकता है और न अर्थ ही। 'शिव' जो विश्वमङ्गल रूप है; उन्हें ध्वस्त करने के लिए व्याधिभूत काम अपनी प्रभुता चाहता है। वह विश्वकल्याण (शंकर) पर अपने मोहन बाण से आक्रमण करता है। परन्तु ज्ञान नेत्र जो हमारे भ्रूमध्य में विद्यमान है, और जिसके अस्तित्व को हम जान नहीं पाते, वही शिव के लिए जाग्रत् होने के कारण उसके द्वारा मदन भस्म कर दिया जाता है। इस प्रकार धर्मविरोधी काम दग्ध हो जाता है। पार्वती धर्मसिद्धि के प्रधानसाधनभूत 'तपस्या' का आश्रय लेती हैं, अपने प्रेम को प्राप्त करने के लिए—"अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः।" (कु० सं० ५-२) और उन्हें अपनी अभीष्ट की प्राप्ति हो जाती है। अतः कालिदास की दृष्टि से धर्म के विरुद्ध काम को अभिभूत करना ही पड़ेगा, उसी में जगत् का कल्याण संभव है।

अपना तन-मन भूलकर पार्वती पञ्चाग्नि तपस्या कर रही हैं। तप सत्त्वगुण के अतिशय उद्रेक का प्रतीक है; यहाँ पहुंचकर आनन्द ही आनन्द है। तन्मयचित्ता पार्वती अपनी कठोर तपस्या में लीन हैं। वर्षाकाल का आगमन होता है, सम्पूर्ण रूप से अभितप्त पृथ्वी से भाप उठने लगती है। पार्वती का शरीर भी चारों ओर स्थित अग्नि एवं ऊपर स्थित सूर्य की किरणों से तप्त हो उठा है। ऐसी स्थिति में वर्षा का प्रथम विन्दु जब उनके सिर पर से होकर गिरा तो वह क्षण भर के लिए पलकों में ठहरा, तदनन्तर ओठों पर गिर पड़ा, इसके बाद स्थूल स्तनों पर गिरकर (उन्नत प्रदेश होने के कारण) कणिकाओं के रूप में छितर गया। फिर उनकी त्रिवलियों पर से होता हुआ देर से नाभिप्रदेश तक पहुंच गया।

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥

नाभि प्रदेश से निकलकर वह और कहीं नहीं जा सका जिससे पार्वती के नाभि प्रदेश के गांभीर्य (जो कि सौन्दर्य का प्रतीक है) की अभिव्यञ्जना होती है।

पूज्य गुरुजी ने प्रकृत स्थल में आध्यात्मिक पक्ष की सुन्दर अभिव्यञ्जना की है। यथा रजत के लिए शुक्ति, सर्प के लिए रज्जू स्वाधिष्ठान है। तद्वत् परमतत्त्व का नाभिप्रदेश स्वाधिष्ठान है। प्रथमोदबिन्दु रूप में परमतत्त्व को मानो पार्वती ने पंचाग्नि तपस्या के फलस्वरूप प्राप्त कर लिया जो कि उनका अभीष्ट था। वास्तव में तपस्या के अन्तराल में परमेश्वर पहिले ब्रह्मचारी वेष में, तदनन्तर प्रकट रूप में दर्शन देते हैं तो मानो इस प्रथमोदबिन्दु का नाभि-प्रदेश तक की यात्रा इसकी (तपःफलप्राप्ति की) पूर्व सूचना है। गुरुजी ने वस्तुतः प्रकृत स्थल का अत्यन्त सूक्ष्म निरीक्षण किया है।

भारतीय संस्कृति का मूल मन्त्र 'तप' है। तपस्या से मनुष्य न केवल अपनी वाञ्छित वस्तु की प्राप्ति करता है प्रत्युत परोपकार की वास्तविक क्षमता को भी अर्जित करता है। पार्वती ने तपस्या से ही मृत्युञ्जय भर्ता को प्राप्त किया। पार्वती और उनकी यह तपस्या भारतीय कन्याओं के लिए आदर्श एवं अनुकरणीय है। क्योंकि शंकर ने पार्वती को मस्तक पर स्थान दिया था जो उनके आदर की पराकाष्ठा है, चरम सीमा है और इसी महान् 'स्वार्थत्याग' को प्राप्त करने की कामना से ही हमारे यहाँ संभवतः कन्याओं के लिए गौरीपूजन विहित है।

वास्तव में कालिदास ने स्थल-स्थल पर इसप्रकार के आध्यात्मिक पक्षों को सूक्ष्मतया किं वा प्रकटतया अभि-व्यञ्जित कर परमतत्त्व के चिंतन का सुलभ-मार्ग निर्देशित किया है। व्यक्ति में इसप्रकार आध्यात्मिक प्रवृत्ति के संचयन होने से ही वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है। हमारी भारतीय संस्कृति का मूल उद्देश्य ही यही रहा है कि व्यक्ति तथा समाज का परस्पर अभ्युदय जिसके फलस्वरूप राष्ट्र समुन्नत होता है।

'माता पृथिवी पुत्रोऽहं तस्याः'—इसी उदात्त आदर्श को लेकर कालिदास ने जहां भी जितना हो सका, कैलास से लेकर कन्या-कुमारी तक तथा द्वारिका से लेकर रामेश्वर तक की समस्त भूमि को मातृभूमि मानकर उसके कण-कण में पावनता एवं महानता की अनुभूति करके उन्मुक्त कण्ठ से उसका गुणगान किया है और इसी से अपनी वाणी को सार्थक माना है। यही कारण है कि उनका भौतिक शरीर विनष्ट होने पर भी अद्यापि यशःशरीर जीवित है।

आज के इस परस्पर वैमनस्य रूप समरज्वाला में दग्ध हो रहे लोगों के लिए कालिदास का यह संदेश अवश्य ही अनुकरणीय होना चाहिए और इसके लिए त्याग, तपस्या, तपोवन इन तत्त्वों पर विशेष ध्यान देना होगा। आज मनुष्य के बीच कलह, वैमनस्य आदि का प्रमुख कारण एकमात्र स्वार्थपरता ही है। स्वार्थ के पीछे लोग अपने को ही नष्ट करने में तुले हुए हैं। इसके निवारण का एकमात्र उपाय तपस्या तथा त्याग ही है।

तपस्या करने वाले स्वयं शान्ति में रमते हैं। और इसप्रकार शांतचित्त, स्वतंत्र व्यक्तित्त्व एवं उदात्त चरित का विकास तपोवन जैसे सुरम्य, शान्त वातावरण में ही संभव हो सकता है। कालिदास ने ऐसे शान्त तथा सुसंयमित

परिवेश में ही भरत और लव-कुश जैसे सिंहशावकों का, कौत्स जैसे आत्मविश्वासी ब्राह्मणों का तथा शकुन्तला-सी पतिप्राणा कन्याओं को पालन-पोषण कराया है। भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत यही तपोवन रहे हैं। वास्तव में सत्य बात तो यही है कि हमारे देश के इन वीर बालकों की भांति ही हमारी संस्कृति भी इन्हीं तपोवनों में जन्मी, पली और बड़ी हुई है। रघुवंश के पथम, द्वितीय पंचम और त्रयोदश सर्ग में तथा 'शकुन्तला' में कालिदास ने जिस भावप्रवणता के साथ ऋषियों, मुनियों और उनके तपोवनों-आश्रमों का निरूपण किया है सचमुच ही वह आज के मानव के लिए नेतृत्व प्रदान करने वाला है, मार्गदर्शक हैं।

राष्ट्र और समाज को सम्यक् रूपेण संचालित करने के लिए किसी न किसी व्यवस्था का होना नितांत आवश्यक है। मनु द्वारा स्थापित व्याख्या जिसमें समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चार वर्गों में बाँटा गया है, वही सर्वश्रेष्ठ माना गया है। प्रत्येक व्यक्ति और समाज का कल्याण इसी में है कि वह निर्धारित व्यवस्था के अनुसार कार्य करता चला जांय। यद्यपि आज लोग इसके विरुद्ध आवाज उठा रहे हैं तथापि यह व्यवस्था इतनी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक है कि अद्यापि लोगों को उसे भिन्न आधार में ही सही, मानना तो पड़ ही रहा है। आज भी विश्व के सभी समाजों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की स्थिति है। विभाजन का आधार अवश्य भिन्न हो सकता है।

सभी सभ्य समाजों को आज भी सेवक, व्यवसायी, रक्षक और शिक्षक वर्ग की आवश्यकता है। इनमें से प्रत्येक के अपने-अपने क्षेत्र में तन्मयता से काम करते रहने मे ही समाज की आवश्यकतायें समुचित ढंग से पूरी हो सकती हैं और उसका विकास हो सकता है। चूंकि व्यक्ति समाज की इकाई है, अतः समाज के कल्याण से ही व्यक्ति का कल्याण हो सकता है। समाज में इस प्रकार की वर्णव्यवस्था जो की गयी हैं, उसका समान महत्त्व है। कोई एक दूसरे से नीचा नहीं है। प्रत्येक का अपने अपने स्थान पर महत्त्व है; तथापि यह सत्य है कि एक-दूसरे का काम नहीं दे सकता। यथा—कवच मुकुट के काम नहीं आ सकता और न ही मुकुट कवच का काम दे सकता है; लेकिन दोनों का अपने में समान उपयोग है और अपने स्थान पर समान महत्त्व भी। अतः इस विषय को यदि ध्यान में हम रखें तो वर्णव्यवस्था के प्रति हमारे मन में कभी द्वेषभावना जागरित नहीं हो सकती और इस प्रकार हम समाज के बृहत्तर स्वार्थ को सामने रखकर जनकल्याण के योग्य कार्य कर सकते हैं। इसीलिए कालिदास ने कहा है—"सहजं किल यद्विनिन्दितं न खलु तत्कर्म विवर्जनीयम्।" क्योंकि ऐसा न करने से फिर समाज की सभी व्यवस्थायें भङ्ग हो जायेंगी, कार्य का संतुलन विशृंखलित हो जायगा।

कालिदास ने रघुवंश में अनेक स्थलों पर वर्णाश्रम व्यवस्था के प्रति दृढ़ आस्था प्रकट की है—

रेखामात्रमपि क्षुण्णादा मनोर्वर्त्मनः परम्।
न व्यतीयुः प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तयः॥ रघु० १।१७

कालिदास ने अपने काव्यों में उन्हीं महानायकों को लोक के समक्ष प्रस्तुत किया है जो मानवता के मान को बढ़ाने वाले हैं। इस प्रकार कालिदास वस्तुतः मानवता के महागायक हैं। उपर्युक्त श्लोक में मानवता के जिन प्रशंसनीय गुणों का वर्णन हुआ है, वह मानव के लिए सर्वथा अनुकरणीय है।

मानवता के सच्चे रूप को लोक के समक्ष आदर्शरूप में उपस्थित करने का दूसरा निदर्शन है कालिदास का नारी-चित्रण। नारी केवल रमणी, प्रेयसी तथा भोग्या नहीं है। मानवीय समाज के लिए नारी का यह रूप पर्याप्त नहीं है। नारीत्व का आदर्श है मातृत्व। शकुन्तला, पार्वती, उर्वशी, इन्दुमती, सुदक्षिणा आदि कालिदास की सभी नायिकायें इसी गौरवशाली पद को प्राप्त करने के कारण गौरवशालिनी हैं। कालिदास ने अज के मुख से समाज में नारी का क्या स्थान है, इसे कितने अच्छे ढंग से दर्शाया है—

"गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥" ८।६७

नारी सौन्दर्य, सहृदयता, प्रेम आदि स्त्रीसुलभ गुणों से तो परिपूर्ण है ही किन्तु उसे अवला नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें तेज, तपस्या, ओज और महान् त्याग की भावना भी पर्याप्त रूप में निहित है। कालिदास की एक शकुन्तला ही इसके लिए पर्याप्त है। वन में पालित भोली-भाली वही मुग्धा कन्या जब दुष्यन्त द्वारा तिरस्कृत की जाती है तो उसमें जैसा तेज और 'अहं' देखने को मिलता है, वह सर्वदा दर्शनीय, अनुकरणीय है। दुष्यन्त जब कहता है कि तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होने के पश्चात् उसके चक्रवर्तित्व लक्षण को देखकर मैं तुम्हें स्वीकार करूंगा, तब उसके प्रति शकुन्तला की प्रतिक्रिया देखने योग्य है। वह कहती है, अनार्य, जब तुम्हें हमारे सच्चे प्रेम में विश्वास नहीं है, तो पुत्र दर्शन के अनंतर मुझे तुम क्या स्वीकार करोगे ?

इसी प्रकार राम द्वारा परित्यक्ता सीता के उदगार भी अपमानित नारी के तेज और दीप्ति की कथा कहने के लिए युग-युग तक पर्याप्त हैं।

"वाच्यस्त्वया मद्वचनात्स राजा वह्नौ विशुद्धामपि यत्समक्षम्।
मां लोकवादश्रवणादहासीः श्रुतस्य किं तत्सदृशं कुलस्य ॥ रघु० १४।६१

यक्ष का मानवीकरण कर जिस 'मेघदूत' की रचना कालिदास ने की है, वह भी मानवता का ज्वलन्त उदाहरण है। यक्ष-जीवन मानव जीवन से भिन्न होता है। सुख-दुःख विहीन, अभाव रहित सर्वदा वैभव-विलास सम्पन्न होता है। किन्तु कालिदास तो मानवजाति के पक्षपाती हैं। मानव-जीवन तो सुख-दुःख मिश्रित होता है। बिना दुःख के जीवन कैसा ?—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥

अतएव यक्ष और यक्षिणी जब तक यक्षीय शक्ति से वंचित होकर दुःखभोगी मानव की कोटि में नहीं आ जाते, कालिदास की काव्यपरिधि में स्थान नहीं पा सकते। इसीलिए यक्ष को शापग्रस्त होकर सदाबहार अलकापुरी को त्यागकर मानवभूमि में पदार्पण करना पड़ता है। इस प्रकार कालिदास ने यक्ष के व्यक्तित्व को मानवीय व्यक्तित्व के इतने समीप ला दिया है कि यक्ष की वह विरह-वेदना उसी तक सीमित न रहकर विश्व के प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की वेदना हो गयी है।

इस प्रकार यक्ष केवल एक संवेदनशील मानव बनकर ही हमारे समक्ष नहीं आता, अपितु मातृभूमि का एक महान् सपूत बनकर इस धरती के कण-कण के प्रति अपनी अपार श्रद्धा व्यक्त करता है। सम्पूर्ण भूखण्ड के सभी विशाल पर्वत, नदी, वन, नगर आदि सपूर्ण प्रकृति तथा सभी महनीय देवस्थलों के प्रति उसके अपरिमित श्रद्धा का हम दर्शन करते हैं। इस प्रकार यक्ष हमारे ही मध्य रहने वाला मानवलोक का एक प्राणी हो गया है। उसकी वियोगिनी पत्नी भी भारतीय वियोगिनी पतिव्रता नारियों के बीच एक नारी ही है—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचिद्
भूयो भूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती ॥ उ० २६ ॥

इस प्रकार भारतीय संस्कृति व सभ्यता की पृष्ठभूमि में भारतीय नारियों की मनःस्थिति एवं उनके क्रिया-कलापों को उपस्थितकर आदर्श भारतीय नारी का बड़ा ही सुन्दर चित्र लोगों के समक्ष उपस्थित किया है।

निष्कर्ष रूप में हम इतना ही कह सकते हैं कि आज के युग में इस महामानव का संदेश हमारे लिए परम आवश्यक है। जगत् में आकर हमारा मूल उद्देश्य विषयों का दास बनना नहीं, अपितु भगवद्भक्ति में रत होकर योग साधना कर आत्मदर्शन का ज्ञान करना है। अतः कला की दृष्टि सर्वश्रेष्ठ कलाकार के रूप में विराजमान होकर भी कालिदास आध्यात्मिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति के सच्चे उपासक तथा मार्गदर्शक के रूप में हम सभी के मध्य सर्वदा विराजमान हैं, और युग-युग तक विराजमान रहेंगे।

वेदों में काव्य सौन्दर्य

डाँ० केशवराव मुसलगाँवकर, ग्वालियर

उन्मुक्त प्रकृति के प्रांगण में नीवार कणों से तृप्त मृगशावकों तथा चहचहाते हुए विहंगमों से संकुल सिन्धु-सरस्वती नदी के तट पर स्थित हवनीय द्रव्यों के धुम से धूसरित एवं सुवासित उटजों में जीवनयापन करनेवाले मंत्र-द्रष्टाओं की अमर भारती की स्वर-लहरी भारतीय संस्कृति के उषःकाल में वेदत्रयी के रस स्त्रोत में उद्वेलित हो उठी। वे मंत्रद्रष्टा कविगण अवश्यमेव वन्दनीय हैं, जिनकी अनल्प गुणगणशालिनी भारती का रसस्त्रोत षट्सहस्त्राब्द से भी अधिक काल से अक्षुण्ण रूप से शाखा-प्रशाखाओं में प्रवहमान रहकर युग-युग के जन-भाषा साहित्य को अपने जीवन से अनुप्राणित करती हुई आज भी उस रसस्त्रोत में अवगाहन करनेवाले भारतीयों को अन्य किसी भी देशीय साहित्य-संपदा से होड़ करने का अदम्य साहस प्रदान कर साहित्यविदों का रंजन कर रही है। अपनी प्रचंड तेजस्विता से समस्त भूलोक आलोकित कर, स्वनिहित अगणित रत्न तत्त्वों को प्रकाशित करनेवाले भारतीय साहित्य का यही उषःकाल है। आर्यों की सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक संपदा से सुपरिचित होने का यही एकमात्र, सुरक्षित मार्ग है।

ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत कुछ सूक्तों को छोड़कर उसका अधिकांश भाग भावमय है। ऋग्वेद-सूक्त प्रधान-रूप से देवाराधनात्मक होने से देवता ही उनका मुख्य विषय है। सृष्टि-चमत्कार से अभिभूत होकर, भावसृष्टि की सचेतन मूर्त स्वरूप में कल्पना करने की यह देव-कथा प्राक्कालीन है। उनको स्तुति में कहीं औदार्य का चमत्कार है, तो कहीं उनकी गंभीर कृति में भय एवं विषादजन्य अवाक्-गोचरता भी है।

वस्तुतः, वेद को एक काव्यमय ग्रंथ भी कह सकते हैं। उसका दर्शन महाकवियों ने विचार और भाव के अनूठे मेल से किया है। किसी कवि ने अपने काव्य को कुशलता से बने नुए सुन्दर वस्त्र की उपमा दी है, तो अन्य कवि ने अपने काव्य को, नववधू की उपमा दी है। प्रकृति की नीरव और रमणीयताजन्य हर्षोद्रक ने हृदयस्थ-अनुराग एवं सौन्दर्य भावना के संगीतात्मक रूप को जन्म दिया जो सजीव होने से अत्यन्त अनुपम है।

प्रायः सभी वैदिक सूक्तों का प्रणयन संगीतात्मक है, फिर भी 'सामवेदसूक्त', उद्गाता आदि ऋत्विजों द्वारा विशेष रूप से यज्ञ-समय पर गाने के लिए विहित होने से उनमें गेयता अधिक है। यहां तक कि 'सामगान' के पश्चात् अन्य वेद का पठन नहीं होता। उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित स्वरों का औचित्य रखकर ही वैदिक सूक्तों का पठन किया जाता है, जिनमें ईषद् परिवर्तन होने पर सारे सूक्त का अर्थ बदल जाता है और साथ ही साथ, स्वर-परिवर्तन से लयजन्य संगीतात्मकता नष्ट हो जाती है। संगीत एवं काव्य का यह मधुर संयोग अन्यत्र दुर्लभ है।

वैदिक सूक्तों में जहाँ इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि देवों की तथा कोमल, रौद्र आदि शक्तियों को अपने योग-क्षेमार्थ विविध स्तुतियाँ हैं व प्रकृति के विविध शांत, गंभीर, भयानक दृश्यों के दर्शनोपरान्त हृदयस्थ भावोद्रेकों की सुन्दर अभिव्यक्ति भी है। जहाँ एक ओर कवि-दृष्टि ने उषा के, रमणीय और अम्लान सौन्दर्य को देखा है—द्युलोक-कन्या उषा का जन्म आकाश में हुआ। कृष्णवर्णा रात्रि की वह दिव्यवर्णा भगिनी है। सूर्य उसका प्रणयी है। वह दिव्यवर्णा तरुणी है। जैसे कोई युवक किसी तरुणी का अनुगमन करता है, वैसे ही सूर्य उषा का। कभी वह तरुणी रमणीय वस्त्र परिधान करनेवाली एक नर्तकी के समान अपना वक्षस्थल प्रदर्शित करती हुई प्रकट होती है, कभी वह सद्यःस्नाता के रूप में आती है।

इस प्रकार उसने "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः" (इस सौन्दर्य) को एवं उसकी सर्जन-शक्ति को देखकर अपने हृदय को आनन्द से आप्लावित किया है—वहीं वह उषा के विषाक्त स्वरूप को देखकर निराशा-जन्य विक्षुब्धावस्था को भी प्राप्त हुआ है। प्रभातकालीन शांति, निश्चलता एवं उषा का अखण्ड पुनरागमन और मानव-जीवन के क्षणिकत्व को देखकर कवि के हृदय से ये उद्‌गार निकलते हैं कि गतयुग में जिन मानवों ने प्रभातकालीन दीप्ति को, आनन्द, उल्लास को देखा वे मृत हो गये, संप्रति विद्यमान मानव उषा को उदितावस्था में देख रहे हैं और जो भविष्य में उसे देखेंगे, वे शीघ्र ही संसार में जावेंगे।" दूसरा कवि कहता है कि "यद्यपि अनादि फिर भी चिर नवीन नित्य एक ही रंग से विभूषित होनेवाली उषादेवी द्रव्य व्यय करनेवाले द्यूत-क्रीडक के समान, आयुमान का व्यय-क्षय करती है।" (ऋ० १-१२-११, १-९२-१०)

तात्पर्यतः, प्रकृति के दृश्यों की विविधता देखकर कवि के हृदयस्थ भाव स्वयमेव ही आत्माभिव्यंजन के रूप में फूट पड़े, इन्हीं भावों की यत्र-तत्र अभिव्यंजना है। हृदयस्थ भावों की अतिशयता श्वास की आरोह-अवरोह स्थिति को जन्म देती है और यह लयात्मक आरोह-अवरोह छंद का प्रकट रूप है, यही लय शब्द के संयोग से छंद का रूप धारण करती है। इस प्रकार इन सूक्तों में लय, छन्द, अर्थ और ध्वनि शुद्ध रूप में परिलक्षित होते हैं।

यह विवेचन इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि वैदिक सूक्तों के साहित्यिक मूल्यों का जहाँ तक प्रश्न है, चाहे अलंकृत शैली यहाँ न मिले, किन्तु अविरल रूप में प्राप्त होने वाले गीत-काव्य के तत्वों के साथ-साथ कुछ सूक्तों में तो वीर, रौद्र, करुण और शृङ्गार रसों की सुन्दर अभिव्यंजना पायी जाती है। इन्द्र की स्तुतियों में उसके वीरत्व की भव्य कल्पना परिलक्षित होती है। युद्धप्रिय वज्रपाणि इन्द्र वीरत्व का प्रतीक है। 'वृत्र' राक्षस के वध (अर्थात् वर्षाभाव तथा अन्धकार को दूर करने) में ही उसकी यशोगाथा निहित है। उसके करालाघात से पृथ्वी और स्वर्ग कंपित होते हैं। इन्द्र की युद्धप्रियता एवं अशेष पृथ्वी पर दृग्गोचर होनेवाली उसकी प्रभावोत्पादक कला के ऋग्वेद सूक्तों में यत्र-तत्र संकेत मिलते हैं।[1] उसकी स्तुति में उसकी वीरता की गाथा गाई गयी है।

"त्वं कुत्सं शुष्ण हत्येष्वा विथा
ऽरन्धयोऽतिथिग्वाय शम्वरम्।
महान्तं चिदर्बुदं निक्रमीः पदा—
सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे।"
ऋ० १-५१-६

"हे इन्द्र तुमने ही शुष्ण (दैत्य) के युद्धों से कुत्स की रक्षा की। तुमने शंबर दैत्य को मारा। तुमने बड़े अर्बुद्ध (दैत्य) को इसलिए पैर से मसल दिया कि तुम अतिथि (संभवतः किसी दल का नाम) के साथियों की रक्षा करो। तुम हमारे शत्रुओं (दस्युओं) को बड़े बलपूर्वक मार रहे हो।"

इसके अतिरिक्त 'दाशराज्ञ' सूक्त में युद्ध का सुन्दर वर्णन अंकित किया है।[2]

ऋग्वेद के कई स्थलों में शृङ्गार रस की अभिव्यंजना है। प्रकृति की गोद में रहनेवाले मनीषियों ने प्रकृति-सुन्दरी उषा को शृङ्गार रस से ही चित्रित किया है। प्रातःकाल पूर्व-दिशा में उदित होनेवाली उषा को वैदिक कवि ने

१. ऋ० मं० २, सू० १२

२. 'दाशराज्ञ युद्ध—ऋग्वेद–७–१९, १९ और ३३ सूक्तों, तथा ७–८३–७ इसमें दस प्रधान योद्धा थे। सूर्यवंशी राजा सुदास एवं इन्द्र की सहायता थी।

एक तरुणी नायिका के परिवेश में देखते हुए कहा कि "यह उषा अलंकृत एवं सद्यस्नाता युवती की तरह अपने अंगों को प्रकट करती उदित हो रही है। यह स्वर्ग की पुत्री अंधकार को दूर करती तेजी से आ रही है।"

"एषा शुभ्रा न तन्वो विदानो र्ध्वेव
स्नाती दृशये नो अस्थात्"
अपद्वेषो बाधमाना तमां-
स्युषा दिवो दुहिता ज्योतिषागात्।

ऋ० ५–८०–५

पुरूरवा एवं उर्वशी के सूक्त में उर्वशी के वियोग से व्यथित पुरूरवा के उद्विग्न हृदय का सजीव चित्र उपस्थित किया गया है। वियोगजन्य हृदय की वेदना म्लानतावश इन्द्रियों की असामर्थ्य एवं प्रभावहीनता का तथा हृदय-शून्यता से संसार के अन्य विषयों के प्रति उदासीनता के चित्र से मानवीय हृदय की अभिलाषा एवं विषाद की प्रकृतावस्था में अभिव्यक्त हुई है। "यम-यमी" के प्रसंग में संभोग शृङ्गार का आभास है, जिसमें यमी अपने भाई यम के प्रति अपनो प्रणय एवं संभोगाभिलाषा व्यक्त करती है।[1]

किन्तु, यम ने इसके उत्तर में "वृक्ष के दृढालिंगन में रहनेवाली लता के समान हे यमी! तुझे भी अन्य कोई पुरुष अपनी बाहुओं में आलिंगित करेगा"[2] कहते हुए प्रणयाभिलाषा के प्रति औदास्य व्यक्त किया है। इस सूक्त में हृदयस्थ भावों का द्वन्द, स्त्री-हृदय की निर्बलता, संभोगलिप्सा की तीव्रता एवं मनोवेगावस्था में विवेकशून्यता का सजीव चित्रांकन किया गया है।

द्यूत सूक्त—ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत द्यूत सूक्त में एक वैदिक कवि ने द्यूत-क्रीडक की हृदयावस्था का सूक्ष्म एवं मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित किया है। इस सूक्त में करुण रस का सजीव अंकन परिलक्षित होता है। द्यूत-क्रीडाजन्य संसार के विनाश को प्रत्यक्ष देखते हुए भी भावी विजयाभिलाषा के सूक्ष्म तंतु से परिचालित हृदय की आतुरता पर करुण विलाप है। द्यूत में सर्वस्व हार चुकने पर हृदय-व्यथा से प्रताडित मानव के ये अत्यन्त स्वाभाविक उद्गार हैं।

१ ऋग्वेद १०–३४–२, ३, ५, ६

अलंकार—वैदिक कवि ने अपने भावों को अव्याज-मनोहर रूप में ही व्यक्त किया है, उनमें परवर्ती साहित्यिक संस्कृत कवियों की तरह श्रमजन्य अलंकारों का विधान नहीं है। वहाँ तो हृदयगत भाव स्वयमेव ही आरोहावरोह स्वरों में स्वाभाविक रूप से व्यक्त हुए हैं। प्राकृतिक दृश्यों के वैचित्र्य से उद्भूत भावना और मनोहर कल्पना का संश्लिष्ट रूप ही यहाँ अवतरित हुआ है। इस भावना और कल्पना के अव्याजमनोहर मिलन में विविध प्रकार की उपमाएँ, रूपक, अतिशयोक्ति, और व्यतिरेक अलंकारों का दर्शन होता है।

"अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची
गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा
उषा हस्रेव निरिणीते अप्सः॥[3]

१. २–१०–१०–७ ऋग्वेद।
२. ऋग्वेद—मं० १० सू० ३४-२, ३, ५, ६।
३. मं० १ सू० १२४ ऋ० ७।

यहाँ चार उपमाएँ ग्रथित हैं। उषा देवी का अनुगमन करता हुआ सूर्य युवती का पीछा करते हुए कामुक पुरुष की तरह दिखाई देता है। "सूर्यो देवी मुषसं रोचमानां मर्यो न योषा मभ्येति पश्चात्।" इसमें उपमा अलंकार का सुन्दर सन्निवेश हैं।[१]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥[२]

यहाँ रूपकातिशयोक्ति अलंकार का सन्निवेश है। पं० जगन्नाथ ने रसगंगाधर में इस मंत्र को वैदिक अतिशयोक्ति के उदाहरण रूप में उद्धृत किया हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी नियोजन है। ऋग्वेद के सूक्त में "द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्य। ऋग्० १–१६४–११ (द्वादशार ऋतुचक्र) यह सामान्य चक्र से विलक्षण होने से व्यतिरेक अलंकार का उदाहरण है।

'अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां' में रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा वस्तु व्यंग्य है।[३]

'आत्मानं रथितं विद्धि शरीरं रथमेवतु' यहाँ रूपक अलंकार है। (कठोपनिषद्—अ० १।३।३)

'स्वसुर्जारः शृणोतु नः' में श्लेषालंकार का उदाहरण है।[४]

उपमा की यथार्थता—

वैदिक कवि ने प्रायः अपने निकट के वातावरणों, प्राकृतिक दृश्यों से ही 'उपमाओं' का ग्रहण किया हैं।

सप्तम मण्डलान्तर्गत १०४ सूक्त हैं। पर्जन्य (वर्षा) ऋतु के पूर्व मेढकों की जागरण का यथार्थ चित्र है। मेढकों की ध्वनि की उपमा विद्यार्थी के निरंतर एक ही पाठ को याद करने की ध्वनि से या उसकी शैली से दी है। सोमरस प्रसंग पर जिस प्रकार ब्राह्मण वर्ग उस 'सोमरस' के चतुर्दिक् बोलते हुए बैठते हैं, वैसे ही आप (मेंढक) सरोवर के चारों ओर बैठते हैं। तात्पर्यतः ब्राह्मण वर्ग की क्रिया-शैली की तुलना मेढकों के साथ कर यथार्थ चित्र उपस्थित किया है।

उपर्युक्त कतिपय उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक संहिताओं में अलंकारों का सन्निवेश स्वाभाविक रूप से हुआ है। कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य में अलंकार-प्रयोग के सुन्दर निदर्शन अपने-अपने ग्रंथों में दिये हैं।[५]

छन्द—वेदांग के रूप में परिगणित 'छंद' वेद का पांचवाँ अंग है।[६] छंद वेद के पाद हैं।[७] मंत्रों के उच्चारण के लिए छंदों का ज्ञान आवश्यक बतलाया गया है। यहाँ तक कि मंत्र के देवता, ऋषि तथा छंद के ज्ञानाभाव में मंत्र का अध्ययन, अध्यापन, यजन तथा याजन निष्फल होता है।[८] कृष्ण यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के कतिपय भाग को छोड़कर वेद का अधिकांश भाग छन्दोबद्ध है। पूर्वविवेचनानुसार हृदयगत भावों की अतिशयिता आरोह-अवरोह रूप से लय को जन्म

---

१. ऋग् :—१।११५।२ तथा अथर्व २०।१०७।१५ तथा तै० ब्रा० २।८।७।१।
२. मुण्डक उपनिषद् ३, १, १ तथा श्वे० उ० ४।६ मंत्र के ऊपर के भाग में रूपक और नीचे के भाग में व्यतिरेक अलंकार।
३. श्वेताश्वरोपनिषद् :—४–५।
४. ऋ० ६, ५५, ५ मंत्र के दो अर्थ निरुक्त में ३–१२ दिये हैं।
५. काणे:—'संस्कृत साहित्य शास्त्राचा इतिहास' (मराठी) एच० आर० दिवेकर—ले० फल्योर द रेतोरिक पत्र २६०–२६१ द लांद १६३० ई०।
६. 'शिक्षा, कल्पो व्याकरण निरुक्त, छन्दोविचितिः ज्योतिषं च षडङ्गानि इत्याचार्याः' काव्यमीमांसा अ २ पत्र ६।
७. 'छंदः पादौ तु वेदस्य' पाणिनीय शिक्षा (श्लोक ४)।
८. यो ह वा अविदितार्षेय छन्दो-दैवत ब्राह्मणेन-मंत्रेण यजति याजयति वा। छन्दोगब्राह्मण

देती है और शब्द का संयोग होने पर वही लय 'छंद' का रूप धारण कर लेती है। इसीलिए ऋग्वेद तथा सामवेद का समस्त मंत्र समुदाय छंदोमय है। वेदगत छंद अक्षर गणना पर स्थित है। वैदिक छंदों में पदों का कोई निश्चित नियम नहीं है। इनमें एक पाद, दो पाद, तीन पाद, पाँच पादों के भी छंद मिलते हैं।

'दान स्तुति' और 'संवाद सूक्त'—इनमें और परवर्ती साहित्यिक संस्कृत काव्य विभाग में जन्यजनक संबंध होने से दान स्तुति और संवाद सूक्तों का भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

वैदिक संहिताओं में कुछ सूक्त ऐसे मिलते हैं, जिन्हें 'दान स्तुति' के नाम से अभिहित किया जा सकता है। इन सूक्तों के स्वरुप तथा उनके विषय के समझने में विद्वानों का मतभेद है। पाश्चात्य विद्वान् इन सूक्तो को किसी प्राचीन राजा द्वारा मिले हुए दान से सन्तुष्ट होने वाले राजश्रित ऋषि द्वारा प्रणीत राजा की स्तुति मानता है। किन्तु भारतीय विद्वानों के मत में वेद 'औपौरुषेय' होने से, इन ऐतिहासिक घटनाओं की कोई संभावना ही नहीं है। "इस प्रकार ऋग्वेद के मंत्रों को, ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययनशील विद्वान को अगत्या नानना पड़ेगा कि अनेक राजाओं के नाम ऐतिहासिक तथा व्यक्ति वाचक केवल आभास मात्र है, वस्तुतः नहीं।"[1]

संवाद सूक्तः—वैदिक संहिताओं में कुछ सूक्त संवादात्मक है, जिनका परवर्ती साहित्यिक संस्कृत साहित्य में साहित्य में 'नाटक' "प्रबन्ध काव्य" के रूप में विकास हुआ।

इन सूक्तों में कथोपकथन का प्राधान्य होने से इन्हें 'संवाद-सूक्तों' की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। ऐसे सूक्त संपूर्ण ऋग्वेद संहिता में २० के करीब मिलते हैं। इनके स्वरूप के विषय में भी पाश्चात्य विद्वानों का मतैक्य नहीं है। डॉ० ओल्डेनबर्ग इन्हें प्राचीन आख्यानों का अवशिष्ट भाग मानते हैं। डॉ० श्रोदर, हर्टर तथा सिल्वी लेवी आदि विद्वानों के मत में ये नाटक के अवशिष्ट अंश है। डॉ० विंटरनित्स भी इन्हें प्राचीन लोकगीत (बैलेड) का रूप मानते हैं। इन संवाद सूक्तों में तीन सूक्त महत्वपूर्ण है। (१) पुरूरवा-उर्वशी संवाद, ऋ० १०–८५, (२) यम-यमी संवाद। ऋ० १०-१० (३) सरमापाणि संवाद, ऋ० १०-८५,। उपर्युक्त पुरूरवा-उर्वशी संवाद का ही विकसित एवं पल्लवित रूप अम्लान प्रतिभाशाली कवि कालिदास कृत 'विक्रमोर्वशीय' सुप्रसिद्ध त्रोटक में पुष्पित मिलता है। ये संवादात्मक सूक्त काव्य दृष्ट्या सुन्दर एवं भावोत्पादक होने से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद के अष्टम मण्डलान्तर्गत २९ वें सूक्त में तथा प्रथम मण्डलान्तर्गत १६४–५२ में परवर्ती साहित्य में विकसित 'प्रहेलिका' 'कूट काव्य' के बीज सन्निहित हैं। इन सूक्तों की कुछ ऋचाओं में एक-एक देवता के नाम का उल्लेख न करते हुए केवल उनके विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख कर उन देवताओं के नामों का तर्क से शोध करना है। उनकी भाषा गूढार्थ पूर्ण एवं सांकेतिक है। यज्ञों में 'ब्रह्मोद्य' के नाम से पूछे जाने वाले प्रश्नों में भी प्रहेलिकाओं का बीज देखा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन हमें इस निष्कर्ष पर ले जाता है कि वैदिक कवि के हृदयस्थ भाव-उषः काल के ऋजु और अव्याज मनोहर रूप में ही सर्वत्र अभिव्यक्त हुए हैं। उनमें संस्कृत साहित्य की विदग्धता का शोध करना, उषः काल में मध्यान्ह की प्रखरता को देखना ही है।

१—पं० बल्देव उपाध्याय—'वैदिक साहित्य' पत्र ११३.

काव्यशास्त्रकार वामन की सूक्ष्म सौन्दर्यदृष्टि

डॉ० वामन केशव लेले, मराठी प्राध्यापक काशीहिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्राचीन भारत में भारतीय काव्यशास्त्र पर ग्रन्थों का प्रणयन करनेवाले जो अनेक विचारक हुए, उनमें वामन की परिगणना प्रमुख रूप से होती है। उसने 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया, यह बात सर्वविदित है। यह ग्रन्थ सूत्रबद्ध होकर इसमें पठित सूत्रों की संख्या लगभग तीन सौ बीस है। स्वयं सूत्रकार वामन ने ही सूत्रों का विवरण करने हेतु 'कविप्रिया' नामक वृत्ति लिखी है। सूत्रों तथा वृत्ति में प्रतिपादित विचारों के स्पष्टीकरण के लिए सूत्रकार ने उदाहरण-पद्यों को भी समुद्धृत किया है। पाँच अधिकरणों एवं बारह अध्यायों में विभक्त वामन का प्रस्तुत ग्रन्थ प्रमाणबद्ध, सुव्यवस्थित एवं अनुशासनयुक्त है। मानो 'रीति'-प्रस्थान के प्रतिष्ठापक वामन ने काव्यलक्षणविषयक ग्रन्थ-रचना की 'रीति' ही आविष्कृत की। उसने अपनी इस ग्रन्थकृति में काव्य, सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य बनता है; काव्य का प्रयोजन दृष्टादृष्टरूप द्विविध होता है[२], कविशिष्यों के अरोचकी एवं सतृणाभ्यवहारी ऐसे दो वर्ग होते हैं[३], रीति काव्य की आत्मा है[४], काव्यों में प्रीतिभाव के वर्णन की प्रधानता होती है[५], गद्यकाव्य के वृत्तगन्धि, चूर्ण और उत्कलिका-प्राय इस प्रकार तीन भेद होते हैं[६], काव्यगत दोषों के चार प्रकार होते हैं, जैसे पददोष, पदार्थदोष, वाक्यदोष, वाक्यार्थ-दोष[७], गुण काव्य की शोभा का निर्माण करते हैं, तो अलङ्कार गुणनिर्मित शोभा को बढ़ाते हैं[८], काव्यगत अर्थ के अयोनि, अन्यच्छायायोनि, व्यक्त, सूक्ष्म, भाव्य, वासनीय आदि अनेक प्रभेद होते हैं[९], आम्रपाक से युक्त काव्य सत्काव्य है, वृन्ताक-पाक से युक्त काव्य कुकाव्य है और पाकशून्य रचना अकाव्य है[१०], उपमा अलङ्कार-प्रपञ्च का मूल है[११] आदि अनेक मौलिक विचारों का विस्तृत तथा विवेचक परामर्श किया है। ये सर्व विचार भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में वामन द्वारा ही सर्वप्रथम विवेचित हुए हैं। आगे चलकर राजशेखरादि काव्यमीमांसकों ने इन्हीं से कतिपय विचारों का विस्तृत विवरण अपने-अपने ग्रन्थों में किया है। इससे वामन द्वारा चर्चित उपर्युक्त विचारों का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। ऐसे ही एक महत्त्वपूर्ण विचार का प्रथमतः प्रतिपादन और तदनन्तर महत्त्ववर्णन करने का उद्देश्य हमने अपने सामने रखा है।

आचार्य वामन ने उस महत्त्वपूर्ण विचार का विवेचन यमक-प्रकरण में किया है। वामन ने यमक-प्रकरण में प्रथमतः यमक का लक्षण, यमक के स्थान एवं यमक के प्रकारों (वर्णमालायमक एवं पदमालायमक) का निरूपण कर तत्पश्चात् एक सर्वथा भिन्न किन्तु मनोरंजक विषय की चर्चा इन शब्दों में की है—

भङ्गादुत्कर्षः ॥३॥

उत्कृष्टं खलु यमकं भङ्गाद्भवति।
शृङ्खला परिवर्तकश्चूर्णमिति भङ्गमार्गः ॥४॥
एते खलु शृङ्खलादयो यमकभङ्गानां प्रकारा भवन्ति।
तान्क्रमेण व्याचष्टे—

वर्णविच्छेदचलनं शृङ्खला ॥५॥

वर्णानां विच्छेदो वर्णविच्छेदः, तस्य चलनं यस्यां सा शृङ्खला।
यथा—'कलिकामधुशब्दे विच्छेदः धुशब्दे च तस्य चलनम्। लिमवर्णयोर्विच्छेदात्।

सङ्गविनिवृत्तौ स्वरूपापत्तिः परिवर्तकः ॥६॥

अन्यवर्णसंसर्गः सङ्गः। तद्विनिवृत्तौ स्वरूपस्यान्यरूपतिरस्कृतस्यापत्तिः प्राप्तिः परिवर्तकः ॥

यथा—'कलिकामधु गर्हितम्' इति। अत्रार्हितमिति पदं गकारस्य व्यञ्जनस्य सङ्गाद्गर्हितमित्यन्यस्य रूपमापन्नम्। तत्र व्यञ्जनसङ्गे विनिवृत्ते स्वरूपमापद्यते अर्हितमिति। अन्यवर्णसङ्क्रमेण भिन्नरूपस्य पदस्य ताद्रूप्यविधिरयमिति तात्पर्यार्थः। एतेनेतरावपि व्याख्यातौ।

पिण्डाक्षरभेदे स्वरूपलोपश्चूर्णम् ॥७॥

पिण्डाक्षरभेदे सति पदस्य स्वरूपलोपश्चूर्णम्।ः यथा—

'योऽचलकुलमवति चलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनां कान्तः।
साग्नि बिर्भात च सलिलं दूरसमुन्मुक्तशुक्तिमीनाङ्कान्तः ॥'

अत्र शुक्तिपदे क्तीति पिण्डाक्षरम्। तस्य भेदे शुक्तिपदं लुप्यते। ककारतिकारयोरन्यत्र सङ्क्रमात्। दूरसमुन्मुक्ताशुक् अचलकुलम्, तिमीनां कान्तः समुद्रः। श्लोकाश्चात्र—

'अखण्डवर्णविन्यासचलनं शृङ्खला मता।
अनेन खलु भङ्गेन यमकानां विचित्रता ॥
यदन्यसङ्गमुत्सृज्य नेपथ्यमिव नर्तकः।
शब्दस्वरूपमारोहेत्स ज्ञेयः परिवर्तकः ॥
पिण्डाक्षरस्य भेदेन पूर्वापरपदाश्रयात्।
वर्णयोः पदलोपो यः स भङ्गश्चूर्णसंज्ञकः ॥
अप्राप्तचूर्णभङ्गानि यथास्थानस्थितान्यपि।
अलकानीव नात्यर्थं यमकानि चकासति ॥
विभक्तिपरिणामेन यत्र भङ्गःक्वचिद्भवेत्।
न तदिच्छन्ति यमकं यमकोत्कर्षकोविदाः ॥
आरूढं भूयसा यत्तु पदं यमकभूमिकाम्।
न युज्यते पुनस्तस्य युक्तानुप्रासकल्पना ॥
विभक्तीनां विभक्तत्वं संख्यायाः कारकस्य च।
आवृत्तिः सुप्तिङन्तानां मिथश्च यमकाद्भुतम् ॥१२॥

अर्थात्—भङ्ग से (यमक का अधिक) उत्कर्ष होता है।
(पदों में) भङ्ग (विच्छेद) कर देने से निश्चय ही यमक अधिक उत्कृष्ट हो जाता है।
शृङ्खला, परिवर्तक और चूर्ण ये तीन भङ्ग के प्रभेद हैं।
ये शृङ्खला आदि (तीन) यमक के भङ्ग के प्रकार होते हैं।
वर्णों के विच्छेद (भङ्ग) का सरकना शृङ्खला (कहलाती) है।

वर्णों का विच्छेद वर्णविच्छेद पद का अर्थ है। उस वर्णविच्छेद का चलना (अर्थात् आगे सरकना) ही शृङ्खला नामक भङ्ग का एक प्रकार है। जैसे ('असज्जनवचो यस्य कलिकामधुगर्हितम्। तस्य न स्याद् विषतरोः कलिकामधु गर्हितम् ॥' इस उदाहरणपद्य में) 'कलिकामधु' शब्द में (पहले कलि कामधुक् यह पदच्छेद करने पर कलि पद से) काम शब्द को अलग करने पर ('लि' पर वर्णविच्छेद होता है। फिर 'कलिकामधु' ऐसा पदच्छेद करने पर वह वर्णविच्छेद 'लि' से सरक कर 'का' पर आ जाता है। इसलिए) और मधु शब्द के विच्छेद करने पर उस (वर्णविच्छेद का 'का' से 'म' की ओर) चलन होता है। 'लि' और 'म' वर्णों से विच्छेद होने पर शृङ्खला बन जाती है।

(पास के किसी सम्बद्ध अक्षर से) सङ्ग छूट जाने पर (उस वर्ण के सङ्ग के कारण विकृत हुए वर्ण की जो सङ्ग के हटने से पुनः अपने) स्वरूप की प्राप्ति (है वह) 'परिवर्तक' कहलाती है।

अन्य वर्ण का संसर्ग 'सङ्ग' है। उसके छूट जाने पर अन्य वर्ण से तिरस्कृत स्वरूप की प्राप्ति 'परिवर्तक' है। जैसे 'कलिकामधुर्गर्हितम्' में 'अर्हितम्' पद व्यञ्जनरूप 'ग' कार के सङ्ग से (अपने अर्हित श्रेष्ठ पूज्य अर्थ प्रतिपादक स्वरूप को छोड़ कर) 'गर्हितम्' इस प्रकार के अन्य रूप को प्राप्त हो गया है। उस 'गर्हितम्' में से 'ग' कार रूप व्यञ्जन का सङ्ग हट जाने पर (वह गर्हितम् पद) 'अर्हितम्' इस रूप में अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। (इस लिए यह 'परिवर्तक' नामक दूसरे यमक भङ्ग का उदाहरण है।) अन्य भिन्न वर्ण के संसर्ग से भिन्न रूप (हुए) पद का (उस अन्य वर्ण के संसर्ग के छूट जाने पर पुनः) अपने उस (मूल) रूप की प्राप्ति का यह विधान ('परिवर्तक' नाम से प्रसिद्ध) है, यह तात्पर्यार्थ हुआ। इस (व्याख्या) से परिवर्तक के (सम्भावित) अन्य दो भेद (अनेक पदों के मिलाने से स्वरूप की प्राप्ति और व्यञ्जनों के मिलाने से स्वरूप का लाभ) भी व्याख्यात हो गए (ऐसा समझना चाहिए।)

संयुक्ताक्षर (पिण्डाक्षर) को अलग कर देने पर (पद के) स्वरूप का लोप (हो जाना) 'चूर्ण' (नामक यमकभेद का तृतीय प्रकार) है।

संयुक्ताक्षर का विश्लेष हो जाने पर पद के स्वरूप का लोप 'चूर्ण' है। जैसे—

शोकरहित और मछलियों का प्रिय, बाहर निकले हुए मोतियों वाली शुक्तियों और मछलियों से अङ्कित तट वाला समुद्र क्षार और वड़वानल युक्त जल को धारण करता है। और जो (वह समुद्र) काँपते हुए पर्वत की रक्षा करता है।

यहाँ 'शुक्ति' पद में 'क्ति' यह संयुक्ताक्षर है। इसको विभक्त कर देने पर 'शुक्ति' पद का लोप हो जाता है। 'क्' का (शुक् में) और 'ति' का (तिमीनां पद में) संक्रम हो जाने से 'शुक्ति' पद का लोप हो जाता है। मानो उसका चूर्ण हो जाता है, इसीलिए इस यमकभङ्ग प्रकार को चूर्ण कहते हैं। शोक को दूर छोड़ देने वाला और मछलियों का प्रिय समुद्र अचल कुल की रक्षा करता है। इसके विषय में निम्नलिखित श्लोक भी हैं—

अखण्ड वर्णों के विन्यास का सरक जाना 'शृङ्खला' है। इस भङ्ग से यमकों की विचित्रता (उत्पन्न होकर) प्रतीत होने लगती है।

जैसे नट (नाटचगत पात्र के) वेष को छोड़कर अपने स्वरूप को प्राप्त होता है, वैसे जो वर्ण अन्य वर्ण के सङ्ग को छोड़कर अपने असली स्वरूप को प्राप्त हो जावे उसको 'परिवर्तक' समझना चाहिए।

संयुक्ताक्षर को तोड़ने से दोनों संयुक्त वर्णों के पूर्व और उत्तर पदों में मिल जाने से जो पद का लोप होता है, उस भङ्ग को चूर्ण नामक भङ्ग कहते हैं।

जैसे चूर्णभङ्ग (बालों की विशिष्ट रचना) से रहित होने पर अपने उचित स्थान पर रहने पर भी बाल शोभित नहीं होते, उसी प्रकार 'चूर्ण-भङ्ग' (नामक यमक भेद) के बिना उचित स्थान पर स्थित होने पर भी यमक अधिक शोभाजनक नहीं होते हैं।

जहाँ कहीं विभक्तियों के विपरिणाम से भङ्ग के बनने पर भी, यमक की उत्कृष्टता को जाननेवाले (शास्त्रकार) उसको (उत्कृष्ट) यमक नहीं मानते हैं।

जो पद बहुत दूर तक यमकरूपता को प्राप्त होकर भी दूषित हो जाए (यमक न बन सके) तो उसको अनुप्रास-योग्य समझ कर यमक के रूप में प्रयुक्त नहीं करते हैं।

सुबन्त तथा तिङन्त पदों की परस्पर ऐसी आवृत्ति जिसमें विभक्तियों, वचनों और कारकों का भेद हो उसे अद्भुत (आश्चर्योत्पादक) यमक अलङ्कार कहते हैं।

ऊपर वामन के यमकविषयक विचारों का साधार विवरण प्रस्तुत किया है। इस पर विचार करने से पहली बात यह प्रतीत होती है कि, वामन ने यमक की सुन्दरता की निश्चिति की 'भङ्ग' एक मूलभूत एवं व्यापक कसौटी मान ली है। उसने निःसंदिग्ध शब्दों में कह डाला है कि, 'भङ्ग से उत्कृष्ट यमक उत्पन्न होता है।' वामन के पूर्ववर्ती भरत ने पादान्तादि दस, विष्णुधर्मोत्तरपुराण के संकलन ने संदष्टकादि छः, भामह ने आदियमकादि पाँच और दण्डी ने अनुलोम एवं प्रतिलोम यमक भेदों के कुल मिला कर २४८ प्रकारोपप्रकारों की चर्चा की थी। किन्तु उनमें से किसी ने भी यमक की उत्कृष्टता के किसी नियामक तत्त्व का प्रतिपादन नहीं किया था। 'भङ्ग' यमक की उत्कृष्टता का नियामक तत्त्व है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाला आद्य भारतीय काव्यमीमांसक वामन ही है।

भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में भङ्गजन्य यमक के शृङ्खला, परिवर्तक एवं चूर्ण प्रकारों का विवेचन भी वामन के ही ग्रन्थ में पहली बार पाया जाता है। उक्त तीन प्रकार खास वामन की मौलिक प्रतिभा का विलसित है। वामन ने अपने समय तक प्रचलित एवं प्रतिष्ठापित काव्यशास्त्रीय तत्त्वों तथा प्रमेयों पर गहरा चिन्तन किया और अपनी प्रखर तथा तलस्पर्शिणी प्रज्ञा की सहायता से परम्परागत विचारों में से नये अर्थ खोज निकाले। उसका यह कार्य भारतीय काव्यशास्त्र के विकास में योगदान कर रहा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

वामनकल्पित उपर्युक्त त्रिप्रकारक भङ्ग का किञ्चित् सूक्ष्मता से विचार करने पर और एक महत्त्वपूर्ण बात ध्यान में आती है। वह यह है कि, वामनकल्पित शृङ्खला-भङ्ग में 'गति', परिवर्तक-भङ्ग में 'स्थिति' और 'चूर्ण' में 'प्रलय' है। इन विशेषों से वामन की चिन्तनशक्ति की सूक्ष्मता का अच्छाखासा परिचय प्राप्त होता है। वामन ने अपने इन सर्वथा नये विचारों को वृत्ति में उदाहरणों द्वारा सुस्पष्ट कर दिया है, जिससे शास्त्रकार के नाते वह कितना दक्ष एवं अनुशासनप्रिय था, उसका बोध हो जाता है। उसके द्वारा समुद्धृत उदाहरण-पद्य भी उसकी सौन्दर्य दृष्टि के उत्तम परिचायक हैं। वामन ने एतद्विषयक अपने विवेचन के अन्त में जो श्लोक उद्धृत किये हैं, उनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे (श्लोक) उसके ही द्वारा रचित हैं और पाठकों का स्मरणसौकर्य उनका उद्देश्य है। उनमें भी वामन ने नर्तक तथा बालों का उपमानरूप में जो निर्देश किया है, वह निर्वचन-तंत्रयुक्तिपरक है। इन्हीं श्लोकों में वामन ने 'विचित्रता' तथा 'अद्भुतम्' शब्दों के प्रयोग द्वारा मानो यह सूचित कर दिया है कि, काव्य में तथा काव्य के तात्त्विक विचार में भेदोपभेदों की संख्या का कोई महत्त्व नहीं है, अपितु रम्यत्व या सौन्दर्य का महत्त्व है। काव्यों में वैचित्र्यपूर्ण एवं आश्चर्यावह यमक (और अन्य भी अलङ्कार) होने चाहिए। स्वयं कवि, काव्यों के आस्वादक सहृदय तथा परीक्षा करने वाले समीक्षक भी इसी प्रकार के यमकों (तथा अन्य अलङ्कारों) को चाहते हैं और उत्कृष्ट समझते हैं।

वामन से प्राचीन दण्डी ने तो निम्नोद्धृत उक्ति में यमक के सर्वथा मधुर न होने की घोषणा की थी—

तत्तु नैकान्तमधुरमतः पश्चाद् विधास्यते ॥ १।६१[13]

दण्डी से प्राचीन भामहने विद्वन्मान्य यमक का लक्षण

'प्रतीतशब्दमोजस्वि सुश्लिष्टपदसन्धि च।
प्रसादि स्वभिधानं च यमकं कृतिनां मतम् ॥'२।१८[14]

इन शब्दों में अवश्य किया था और उसके द्वारा अपने पृथगात्म चिन्तन को आविष्कृत भी किया था। किन्तु, समस्त यमक-विचार को सौन्दर्य के सूत्र में गूँथकर अपनी सूक्ष्म, प्रगल्भ एवं स्पृहणीय कलासौन्दर्यान्वेषिणी दृष्टि का प्रदर्शन करने का संस्मरणीय कार्य भारतीय काव्यशास्त्र के विकासक्रम में वामन ने ही प्रथम बार किया, जिसके लिए वह प्रशंसा का पात्र है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. 'काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात् ॥ १ ॥ सौन्दर्यमलङ्कारः ॥ २ ॥'-- श्रीवामनविरचिता काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः (कामधेनुटिप्पणीसहिता)—संपादक नारायण नाथाजी कुलकर्णी, ओरिएण्टल् बुक् एजन्सी, पुणे, १६२७ (अतः पर 'सूत्र' संक्षेप से निर्दिष्ट), पृ० २।

२. 'काव्यं सदृष्टादृष्टार्थम् । प्रीतिकीर्ति हेतुत्वात् ॥ ५ ॥'—सूत्र पृ० २।

३. 'अरोचकिनः सतृणाभ्यव्यवहारिणश्च कवयः ॥ १ ॥'—तत्रैव, पृ० ३।

४. 'रीतिरात्मा काव्यस्य ॥ ६ ॥'—तत्रैव, पृ० ४।

५. 'कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥' तत्रैव पृ० ११।

६. 'गद्यं वृत्तगन्धि चूर्णमुत्कलिकाप्रायं च ॥ २२ ॥' तत्रैव पृ० १३।

७. पददोषान्दर्शयितुमाह --' तत्रैव पृ० १६; 'संप्रति पदार्थदोषानाह—' तत्रैव पृ० १७; 'एवं वाक्यदोषानभिधाय वाक्यार्थदोषान्प्रतिपादयितुमाह—' तत्रैव पृ० २५।

८. 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥'—तत्रैव पृ० ३१; 'तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥ २ ॥'— पृ० ३२।

९. 'अर्थो द्विविधः, अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ॥ ८ ॥'--तत्रैव, पृ० ४२ अर्थो व्यक्तः सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥'--तत्रैव पृ० ४३; 'सूक्ष्मो भाव्यो वासनीयश्च ॥ १० ॥'--तत्रैव।

१०. 'गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ॥
सुप्तिङ्संस्कारमात्रं यत्क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृन्ताकपाकं तज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ॥
गुणानां दर्शनान्मुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ॥'—तत्रैव पृ० ४७।

११. संप्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः। तन्मूलं चोपमेति सैव विचार्यते ॥'—तत्रैव पृ० ५४।

१२. तत्रैव, पृ० ५१–५२।

१३. दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधम् काव्यलक्षणम् रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया टीकया समलंकृतम्–संपा० अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र झा, दरभंगा, १९५७, पृ० ४०।

१४. आचार्य भामह-विरचित काव्यालङ्कार—भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६२, पृ० ३७।

———

पूज्य पिताजी का व्यक्तित्व

श्रीमती सरस्वती रामनाथम् (पुत्री)

मेरे परम पूज्य पिता श्री शास्त्रीजी के बारे में एक लेख लिखने को मेरे आदरणीय भाई साहब मंडन मिश्र-जी ने जब मुझ से कहा तो मैंने उत्तर दिया, "पूज्य पिताजी के बारे में मैं लिख ही क्या सकती हूँ, वे तो समुद्र के समान विशाल है और मैं तो एक नन्हीं सी बूंद मात्र हूँ।" भाई साहब ने एक डाँट लगाई और कहा कि बस यही कुछ तो लिखना है। क्या तुम अपने पिता के बारे में भी कुछ अनुभव नहीं लिख सकती ? बस यही बात मेरे हृदय में तीर की तरह लगी और मैं सचमुच सोच में पड़ गई। मैं मीमांसा, न्यायशास्त्र अथवा शांकर-भाष्य आदि का ज्ञान अवश्य नहीं रखती परन्तु उनके व्यक्तित्व के बारे में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास करूँगी।

मेरे पिता इतने महान् विद्वान् हैं इसका ज्ञान मुझे बचपन में किंचित भी नहीं था। वे तो हम लोगों के लिए केवल पिता थे। जैसे-जैसे मैं बड़ी होती गई और सांसारिक ज्ञान बढ़ता गया . वैसे-वैसे उनकी महानता का परिचय मिला। बचपन में उन्हें कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था यह सोच कर मेरा हृदय दुःख से भर जाता है। सात आठ वर्ष की अबोध अवस्था में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया। इस अनाथ बालक को उनके मामा ने पाल पोस कर बड़ा किया। सोलह सत्रह वर्ष की अवस्था में वे संस्कृत का अध्ययन करने स्वर्गीय महामहोपाध्याय, चिन्न-स्वामी शास्त्री जी के आश्रय में बनारस आये। तभी से उनके जीवन में एक नया मोड़ आरम्भ हुआ। गुरुजी का आश्रय पाकर तन, मन, धन से संस्कृत की सेवा में अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया।

जब से मैंने होश सम्भाला तब से मैंने अपने पिता को पुस्तकों के बीच ही देखा मानो एक भक्त एकाग्र चित्त होकर अपने इष्टदेव की उपासना कर रहा हो। वे अपने गुरु को कितने आदर, सम्मान तथा भक्ति की दृष्टि से देखते थे यह आजकल के विद्यार्थियों के लिए उदाहरण स्वरूप है। गुरु-शिष्य परम्परा को उन्होंने पूर्ण रूप से निभाया है। उनका अटल विश्वास है कि आज जो कुछ भी वे हैं उसका कारण गुरुजी का परिपूर्ण आशीर्वाद ही है। आज भी गुरु जी का स्मरण करते हुए उनका हृदय कृतज्ञता से भर उठता है और आँखों से अश्रुधारा बहने लगती है।

पिताजी आज उन्नति के शिखर पर हैं तो उसका कारण है उनकी विनयता और नम्रता। "विद्या ददाति विनयं" मेरे पिता मानो विनय और नम्रता की मूर्ति ही हैं। जीवन में कुछ पाने के लिए मनुष्य को कुछ नम्रता से झुकना पड़ता है जिसे अंग्रेजी में Humility कहते हैं। जीवन में इतना आदर सम्मान, और प्रतिष्ठा प्राप्त करने पर भी 'अहम्' उन्हें छू तक नहीं गया है। "अहम्" (Ego) का न होना ही एक व्यक्ति को महान् बनाता है इससे मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि वे स्वाभिमानी नहीं हैं। एक साधारण विद्यार्थी भी उनके पास आकर बिना किसी संकोच के अपनी शंका का समाधान कर सकता है। उन्होंने स्वप्न में भी किसी का अपमान नहीं किया।

मेरे पिता शान्त स्वभाव के व्यक्ति हैं। उन्हें अकारण किसी पर क्रोधित होते हुए या आपे से बाहर होते हुए मैंने नहीं देखा। कुछ बातें उन्हें अप्रिय हैं, यह हम उनकी दृष्टि से ही समझ जाते थे और उन्हें क्रोधित होने का अवसर ही नहीं देते थे। यहाँ पर एक घटना जो मेरे साथ हुई उसका उल्लेख करना उचित समझूँगी। उन दिनों हम लोग "जयपुर" में थे। छुट्टी का दिन था। मैं अपनी दोनों छोटी बहनों को लेकर माँ से कहे बिना सहेली के घर प्रातः काल ही खेलने चली गई। संयोग वश सहेली ने अपनी "गुड़िया" का ब्याह रचा था। फिर क्या था। मैं अपना घर बार खाना पीना सब कुछ भूल ही गई। शाम को जब अपनी बहनों को लेकर घर पहुंची तो देखा पिताजी साक्षात् रुद्र-

मूर्ति का रूप धारण किए हुए खड़े हैं। उस दिन उन्होंने जो मेरी पिटाई की थी वह मुझे आज तक स्मरण है। उसके बाद मैंने उन्हें कभी क्रोधित होते हुए नहीं देखा।

क्षमा शीलता उनका एक और अद्वितीय गुण है। किसी भी व्यक्ति को क्षमा करना जिसने आपके साथ बुरा व्यवहार किया हो अत्यन्त कठिन कार्य है। पिताजी के जीवन में अनेक व्यक्ति आये जिन्होंने ईर्ष्या के कारण उनके साथ बुरा व्यवहार किया। परन्तु पूज्य पिताजी स्वच्छ गंगा की भाँति निर्मल हृदय से क्षमा कर ऐसा व्यवहार करते हैं मानों उनका किसी ने कुछ बिगाड़ा न हो।

आदरणीय पिताजीका हृदय परम विशाल है। जहाँ तक हो सके दूसरों की सहायता करना अपने जीवन का लक्ष्य समझते हैं। असंख्य संस्कृत के पंडितों को उन्होंने आर्थिक सहायता प्रदान की है, अनेक प्रतिभाशील विद्यार्थियों को निःशुल्क पढ़ने की व्यवस्था की है तथा कितने ही संस्कृत संस्थाओं को सरकार की ओर से आर्थिक सहायता दिलाने का प्रयास किया है। वे कहा करते हैं कि "मैं धनवान् अवश्य नहीं हूँ परन्तु जो कुछ विद्या मेरे पास है, उसका दान अवश्य निःसंकोच होकर सब में बाँट सकता हूँ। हमारे घर में सदा सर्वदा विद्यार्थियों की भीड़ लगी रहती थी। पिताजी या तो विश्वविद्यालय पढ़ाने जाते थे अथवा विद्यार्थी गण हमारे घर आपनी पिपासा शांत करने आ जाते। उनके बीच रह कर पिताजी सब कुछ भूल ही जाते थे। यहाँ पर मैं यह कहना चाहूँगी कि यदि पिता जी जिस उत्साह के साथ अपने विद्यार्थियों को पढ़ाते थे उसमें अंश मात्र भी अपनी कन्याओं को सिखाने में दिखाते तो शायद उनमें से किसी की छिपी हुई प्रतिभा चमक उठती। मुझे इस बात का दुःख है कि साधारण संस्कृत ज्ञान के सिवाय अधिक कुछ न सीख सकी।

पूज्य पिताजी अत्यन्त कोमल स्वभाव के व्यक्ति हैं। किसी का दुःख उनके लिये असह्य है। हममें से किसी को या बच्चों को थोड़ा सा ज्वर भी हो जाय तब भी अधिक घबरा जाते हैं। यहाँ एक घटना का विवरण प्रस्तुत करती हूँ जो मेरे साथ घटी। मैं सत्रह, अठारह वर्ष की थी जब बहुत बीमार पड़ गई थी। पिताजी अत्यधिक चिन्तित थे। डाक्टरों ने Operation करने की सलाह दी थी। पिताजी इस प्रकार की चिकित्सा से अत्यन्त घबराते थे। किसी तरह उनको मना कर Operation हुआ उस दिन पिताजी पूजा के कमरे से बाहर नहीं निकले और मेरी माताजी ही मेरे साथ रहीं। जब सब कुछ भली भाँति सम्पन्न हुआ तब आकर पिताजी ने अस्पताल में मुझे देखा। किसी प्रकार की पीड़ा देखना उनके लिए असहनीय है।

अंग्रेजी में एक कहावत है "किसी भी पुरुष को महान् बनाने का श्रेय उसकी पत्नी को होता है।" यह कहावत मेरे पिताजी के विषय में अक्षरशः सत्य साबित हुई है। यदि मेरे पिता आज एक महान् व्यक्ति हैं, उनको समाज में इतना आदर, सत्कार तथा सम्मान प्राप्त है तो उसका कारण केवल मेरी स्नेहमयी माता हैं। छाया की भाँति सदा मेरे पिता के साथ रह रही हैं और उनकी देख भाल करती हैं। वे एक आदर्श, सफल गृहिणी तथा वात्सल्य से परिपूर्ण माता हैं। चार कन्याओं का पालन पोषण कर उनके विवाह आदि सम्पन्न करने का सारा भार अपने ऊपर लेकर उन्होंने पिताजी को एकाग्र और तन्मय होकर विद्या देवी सरस्वती की आराधना निश्चिन्त होकर करने का अवसर दिया है।

इस लघु लेख द्वारा मेरी उन सब विद्यार्थियों से जिन्होंने मेरे पिता से शिक्षा प्राप्त की है यही प्रार्थना है कि वे उनके दिखाये गये आदर्शों पर चलें और संस्कृत का पुनरुद्धार करें। मैं भाई साहब मंडन मिश्र जी की अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने यह लघुलेख पूज्य पिताजी के चरणकमलों में अर्पित करने की प्रेरणा दी।

—सरस्वती

प्रतिभा-साधन

श्री श्याम राव, मुसलगाँवकर जीवाजी वि० विद्यालय (शोध छात्र) ग्वालियर

नवनव उन्मेष करनेवाली प्रज्ञा का नाम है 'प्रतिभा' और ऐसी प्रतिभा से अनुप्राणित सजीववर्णना में निपुण व्यक्ति का नाम है कवि।[1] वह भारतीय काव्यशास्त्र के आचार्यों का वेदवन्दित 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' है। वह इस अपार काव्य-संसार का दूसरा प्रजापति है।[2] वह अपनी अम्लान प्रतिभा-शक्ति के बल पर ही सहृदयाह्लादक उत्तम काव्य की सृष्टि करता है। जैसा उसको रुचता है वैसा ही रूप वह अपनी प्रतिभा-शक्ति के सहारे उसको दे देता है। वास्तव में कवि का असाधारणत्व प्रतिभाशक्ति पर ही अवलम्बित है। इसीलिए भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिभा का विशेष महत्त्व पूर्व से ही रहा है।

'प्रतिभा' में मूल शब्द है—'भा' जो चमक या तेज का वाचक है। विभिन्न उपसर्गों की सहायता से इसके आभा, प्रभा, प्रतिभा आदि अनेक रूप निष्पन्न हो जाते हैं। 'प्रति' उपसर्ग से निष्पन्न 'प्रतिभा' शब्द का अर्थ ऐसी चमक या तेज विशेष का हो जाता है जिसके द्वारा किसी पदार्थ का रूप, उसका विचित्र भाव तथा उसका अन्तर्निहित भाव-धर्म-प्रतिभासित हो उठता है। काव्यशास्त्र तथा दर्शन ग्रंथों में चर्चित प्रतिभा के स्वरूप में उक्त अर्थ किसी न किसी रूप में निहित मिलता है। आलंकारिकों में दण्डी, वामन, रुद्रट, भट्टतौत, अभिनवगुप्त, कुन्तक, महिमभट्ट, राजशेखर तथा मम्मट आदि ने तो प्रतिभा का विशेष विवेचन किया है। आचार्य दण्डी के मन में प्रतिभा का प्रतिभान पूर्ववासना के गुणों से सम्बद्ध है।[3]

वामन प्रतिभा को कवित्व का बीज कहते हैं! उन्होंने उसे जन्मान्तरागत संस्कार विशेष के रूप में स्वीकार किया है।[4] अभिनव गुप्त ने भी उसे प्राक्तन संस्कार माना है—

'अनादिप्राक्तनसंस्कारप्रतिभानमयः।' अभिनव भा० ख० १

"वास्तव में प्रतिभा आरम्भ से ही मानव व्यक्तित्व का एक रहस्यमय अंग रही है और प्रत्येक देश तथा प्रत्येक युग अपने विश्वासों तथा दार्शनिक परम्पराओं के अनुसार उसके स्वरूप की व्याख्या करता रहा है। प्रतिभा के विषय में एक तथ्य तो स्वतः स्पष्ट ही है, और वह यह कि प्रतिभा अन्तःकरण की एक असाधारण शक्ति है, अथवा यों कहिये कि एक प्रकार की असाधारण मानसिक शक्ति है और इस प्रकार वह अन्तःसंस्कारों का परिपाक है। कुछ व्यक्तियों

---

१. प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता।
तदनुप्राणनाज्जीववर्णना निपुणः कविः॥
भट्टतौत के काव्य कौतुक का उद्धरण—हेमचन्द्र काव्यानुशासन पृ० ३१६ पर उद्धृत।

२. अपारे काव्य संसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥ (अग्नि० पुराण)
कविः सृष्टिकरः परः।

३. पूर्ववासना गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम्॥ काव्यादर्श १।१०४

४. 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्'। १, ३, १६
जन्मान्तरागत संस्कार विशेषः कश्चित्।

के अन्तःसंस्कार असाधारण रूप से प्रवल होते हैं और उनमें इन संस्कारों के समीकरण की अपूर्व शक्ति भी होती हैं। निश्चित ही प्रतिभा एक जन्म की सिद्धि न होकर जन्मजन्मान्तर की सिद्धि है।"[१] और इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति की प्रतिभा भिन्न-भिन्न स्तर की होती हे। इसका प्रमाण है कि एक ही कक्षा में अध्ययन करने वाले दो छात्रों—(कुशाग्र बुद्धि और जड़बुद्धि के) का। जहाँ एक ही गुरु बुद्धिमान् छात्र की ही भाँति मन्दबुद्धि छात्र को भी विद्या-शिक्षण देता है किन्तु दोनों को प्राप्त होनेवाले विद्या के फल में भेद होता है। निर्मल स्फटिक मणि जैसे प्रतिविंव ग्रहण करने में समर्थ होती है, वैसे मिट्टी के पदार्थ प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ नहीं होते।[२]

पूर्वोक्त आचार्यों के पूर्वोद्धृत मन्तव्यों का सारांश भी प्रायः यही है कि प्रतिभा एक असाधारण जन्मान्तरागत दैवी शक्ति है जो नियतिकृतनियमरहिता है और जिसमें अपूर्व-वस्तु-निर्माण की क्षमता है। फिर वह वस्तुनिर्माण काव्य सम्वन्धी हो या शास्त्र सम्बन्धी। इसके विना कोई मौलिक कार्य या रसान्वित काव्य की रचना हो ही नहीं सकती, यदि हठात् की भी जाती है तो उपहास के योग्य होती है। शक्ति का ही पर्याय 'प्रतिभा' है। प्रतिभा कवि को जन्म के साथ ही प्राप्त होती है, अथवा पूर्व पुण्य के प्रभाव से किसी देवता के प्रसाद द्वारा जन्म के पश्चात् भी किसी-किसी को उपलब्ध हो जाती है। आचार्य रुद्रट ने इसको सहजा और उत्पाद्या दो भेदों में विभक्त किया है, जिनमें सहजा को ही उन्होंने मुख्य माना है। आचार्य कुन्तक का दृष्टिकोण समन्वयवादी है। उनके अनुसार प्रतिभा पूर्वजन्म और इस जन्म के संस्कारों का परिपाक है।

'प्राक्तनाद्यतनसंस्कारपरिपाकः--प्रौढा प्रतिभा।' अर्थात् मानव जीवन का प्रत्येक कर्म मानव-आत्मा पर एक प्रभाव या संस्कार छोड़ जाता है, ये संस्कार जन्म-जन्मान्तर से संचित होते हुए अपने सारभूत रूप में मानव प्रतिभा का निर्माण करते रहते हैं। जन्मान्तर के साथ इस जन्म का भी समावेश कर आचार्य कुन्तक ने प्रतिभा को जन्मजात मानने के साथ-साथ विकासशील भी माना है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने प्रायः यह स्वीकार किया है कि प्रतिभा न होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेष कर उस व्यक्ति विशेष को तो किसी प्रकार कवि नहीं ही बनाया जा सकता, जो स्वभाव से पत्थर के समान हैं, या किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका हैं या तर्क की अग्नि से झुलस चुका है या सुकविजन के प्रवन्धों को सुनने का अवसर ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाया जाय, कवि नहीं बनाया जा सकता, क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा गान नहीं कर सकेगा, और कितना भी दिखाओ अन्धा सूर्य को नहीं देख सकेगा। प्रथम उदाहरण है प्रकृत्या जड़ का और दूसरा नष्ट साधन का। यह और वात है कि पूर्व जन्म के पुण्य से या मन्त्र-सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व शक्ति का वरदान दें। (कवि कंठाभरण १-२४) परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक है अवश्य।[३] महिमभट्ट ने अपने व्यक्ति विवेक ग्रन्थ में इसी दैवी शक्ति-प्रतिभा के प्रभाव विशेष का वर्णन करते हुए लिखा है—

---

१. हिन्दी वक्रोक्ति जीवित० सं० डॉ० नगेन्द्र। पृ० ४८

२. वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे
भवति तु पुनर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा
प्रभवति शुचिर्बिम्बोद्ग्राहे मणिर्न मृदां चयः ॥ २।४ उ० च०

३. यस्तु प्रकृत्याश्मसमान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि-प्रबन्धैः॥
न तस्य वक्तृत्वसमुद्भवः स्याच्छिक्षाविशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो गायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यति नार्कमन्धः॥ कविकंठाभरण १-२३

"रसानुकूल शब्द और अर्थ की चिन्तना में लीन एकाग्रचित्त कवि की प्रज्ञा जब क्षण भर के लिए पदार्थ के सच्चे स्वरूप का स्पर्श करती हुई उद्‌बुद्ध होती है, तब वह प्रतिभा नाम को धारण करती है। वही भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र है—उसी के द्वारा कवि त्रैलोक्यवर्ती भावों का साक्षात्कार करता है।[1] इसी तथ्य को कुन्तक कहते हैं कि अम्लान प्रतिभा के द्वारा ही शब्द और अर्थ में नवीन चमत्कार प्रस्फुटित होता है—'अम्लानप्रतिमोद्भिन्ननवशब्दार्थः.....।' (वक्रोक्ति जीवित १–२५) दैवी शक्ति से सम्पन्न प्रतिभा के स्पर्शमात्र से ही शब्दार्थ में एक नवीन चमत्कार एवं रसधारा प्रवाहित हो उठती है और इसीलिए काव्य सृष्टि का प्रभाव ब्राह्मी सृष्टि की अपेक्षा अधिक रहता है। जिस प्रकार किसी जड़ी या बूटी का अर्क उस जड़ी या बूटी से अधिक प्रभावोत्पादक होता है, उसी प्रकार कवि की सृष्टि प्रत्यक्ष सृष्टि के अर्क रूप में होने से सत्य होकर भी असत्यसी, मूलरूप में वही होकर भी प्रभाव में अन्य जैसी, प्राकृतिक रूप में होनेपर भी अधिक तेजस्वी, लौकिकी होनेपर भी अलौकिक, और मूलरूप में कष्टजनक होकर भी यह आनन्दजनक होती है, क्योंकि नियति के अधीन न रहने वाली तथा छः रसों के स्थान पर नौ रसों के योग से नितान्त मनोहारिणी काव्य सृष्टि हुआ करती है।[2] निश्चित ही इसी तथ्य की ओर संकेत करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है—"अपूर्ववस्तु निर्माण की शक्ति का नाम है प्रज्ञा। उसका विशेष रूप है प्रतिभा, जिसका अर्थ है रसावेश की विशदता तथा सुन्दरता से अनुप्रेरित काव्य निर्माण की शक्ति।[3]

प्रतिभा की अलौकिक शक्ति को देखकर स्वभावतः ही यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यह दैवी शक्ति से सम्पन्न प्रतिभा कैसी? जिसे विकसित होने के लिये अन्य आलम्बनों या साधनों की आवश्यकता होती है। वस्तुतः प्रतिभा-शक्ति के जन्मजात होने पर भी उसका संस्कार करना परमावश्यक है। जन्मतः मधुर स्वर होने पर भी स्वर का संस्कार (अभ्यास से संस्कृत) किये बिना श्रोतागणों के श्रवणों में सुधारस उड़ेलने का सामर्थ्य नहीं आ सकता। अतः आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—'व्युत्पत्यभ्यासाभ्यां संस्कार्या—अर्थात् जिस प्रकार रत्न को चमत्कृत करने के लिये संस्कार—शाणोत्तीर्ण – करना आवश्यक है, उसी प्रकार काव्य को चमत्कृत एवं मनोरंजक करने के लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास परमावश्यक है, क्योंकि व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा के उपकारक हैं। उपकारक साधन इस प्रकार हैं—(१) निपुणता'*[4]— निपुणता कहते हैं प्रवीणता को, अर्थात् स्थावर, जंगम आदि की स्वरूप-स्थिति के लौकिक वृत्त का ज्ञान, छंद, व्याकरण, कोश, कला, चतुर्वर्ग, गज, अश्व, खड्‌ग, आदि के लक्षण ग्रंथ और काव्य, इतिहास आदि के अध्ययन द्वारा निपुणता प्राप्त करना। यों तो कवि के लिये सभी विषयों के ज्ञान की परमावश्यकता है। भामह ने कहा है—

'न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान् कवेः॥' काव्यालं० ५।४

---

१. रसानुगुण-शब्दार्थ-चिन्तास्तमितचेतसः।
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिमा कवेः॥
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात् करोत्येष भावांस्त्रैलोक्यवर्तिनः॥ महिमभट्ट स० वि० पृष्ठ १०८

२. नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवे जंयति॥ का० प्र० १।१

३. प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा, तस्याः विशेषो
रसावेशवैशद्यसौन्दर्यं-काव्य-निर्माण-क्षमत्वम्॥ ध्वन्या० लोचन पृष्ठ २९

*४. निपुणता का पर्याय व्युत्पत्ति भी है।

(२) अभ्यास—अभ्यास कहते हैं काव्य के निर्माण में और गुरु के सद्-असद् विचार करनेवाले कुशल उपदेश द्वारा काव्य निर्माण में और प्रबन्धादिकों के गुंफन करने में वारंवार प्रवृत्त होना।

इस प्रकार उक्त दो साधनों से सुसंस्कृत प्रतिभा ही काव्यामृत उत्पन्न करने के लिये कामधेनु है। कहा भी है—'अभ्यासो हि कर्मसु कौशलमावहति।' राजशेखर के मत में दैवी शक्ति से सम्पन्न प्रतिभा को सुसंस्कृत करना हानिकारक नहीं, वे कहते हैं—एक कार्य के लिये यदि दो उपाय किये जांय तो उसका फल भी दूना होगा।*[1] राजशेखर कहते हैं कि निपुणता—व्युत्पत्ति—से कवि की वाणी, उसकी प्रतिभा सर्वतोमुखी होती है। क्योंकि काव्य में विविध विषयों का वर्णन करना पड़ता है, जो इस बहुमुखी प्रतिभा के बिना संभव नहीं। वास्तव में सार का ग्रहण और असार का त्याग व्युत्पत्ति—निपुणता द्वारा ही हो सकता है। इसीलिये वामन आदि की प्रवृत्ति निपुणता की ओर अधिक थी। वामन ने प्रतिमान को कवित्त्व का बीज मानते हुए भी उसे 'लोक' और 'शास्त्र' के उपरान्त 'प्रकीर्ण' के अन्तर्गत गौण स्थान दिया है। आचार्यमंगल एक पग और आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने निपुणता या व्युत्पत्ति को काव्य का मूल हेतु माना है, उनका निश्चित मत है कि व्युत्पत्ति*[2] कवि की 'अशक्ति' का संवरण कर सकती है—

'कवेः संव्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्या काव्यवर्त्मनि।'

परन्तु संस्कृत काव्यशास्त्र का यह प्रतिनिधि सिद्धान्त नहीं है। दण्डी से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी प्रतिनिधि आचार्यों ने प्रतिभा को ही मूल हेतु माना है, निपुणता और अभ्यास तो उसके पोषक हैं। इसीलिए मम्मट ने काव्य हेतु का प्रयोग एकवचन में ही किया है—हेतुर्नतु हेतवः। निश्चित ही प्रतिभा-साधनों के सापेक्षिक महत्व के विषय में भारतीय काव्य शास्त्र का प्रतिनिधि मत यही रहा है कि—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः। (आनन्दवर्धन) अर्थात् कवि की प्रतिभा अव्युत्पत्ति-जन्य दोष का संवरण कर सकती है। इस पर यायावरीय कहते हैं कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूप से काव्य निर्माण में उपकारक होती हैं। जैसे रूप सौन्दर्य के लिये रूप और लावण्य दोनों अपेक्षित होते हैं, वैसे ही काव्य सौन्दर्य के लिये प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों सम्मिलित रूप में आवश्यक है।*[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नैसर्गिक प्रतिभा के संस्कार के लिए व्युत्पत्ति (बहुज्ञता) की आवश्यकता होती है। नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का चमत्कार व्युत्पत्ति और अभ्यास पर ही निर्भर है। कवि का लोक निरीक्षण, उसका व्यवहारज्ञान, जितना विस्तृत एवं गंभीर होगा, उतनी ही प्रतिभा चमत्कारपूर्ण होगी। वस्तुतः कवि इस संसार में प्रतिभा-चक्षु द्वारा पदार्थों का निरीक्षण करता रहता है, अनेक प्रकार के अनुभवों को ग्रहण कर, कल्पना (प्रतिभा) शक्ति के द्वारा अनुभूत अनुभवों को 'सुन्दरं' के परिधान में प्रकट करता है। उसकी कल्पना शक्ति की स्थिति दृढ़ लोकानुभव और शास्त्राभ्यास पर ही है। निश्चित ही उसके अनुभव भण्डार (व्युत्पत्ति—अभ्यासरूपी साधनों) से ही प्रतिभा पुष्ट होती है।

———

*१. एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते।

*२. 'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः'—काव्यमीमांसा, अध्याय ५, पृ० ३७।

*३. प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः न खलु लावण्यलाभादृते रूपं सम्पद्यते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धिर्महते सौन्दर्याय। काव्यमीमांसा।

संस्मरण

श्रीमती सावित्री जयरामन्

बचपन से मैंने अपने पिताजी को सदा अध्ययन, अध्यापन या आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए ही पाया है। शैशव काल से ही अपने माता-पिता के स्नेह से वंचित मेरे पिता कई कठिनाइयों को झेलते हुए आज यहाँ तक पहुँचे हैं। साधु सन्तों की तरह सादगी से भरा उनका निर्मल व्यक्तित्व हर किसी को अपनी ओर आकृष्ट करने की शक्ति रखता है। आज तक मैंने उन्हें डाँटते, फटकारते या तैश में आते नहीं देखा। किसी की खामोशी भी इतनी शक्तिशाली हो सकती है इसका आभास मुझे उनके व्यक्तित्व से मिला।

संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में आज जितनी भी सफलता और सम्मान उन्हें प्राप्त हुए हैं इस बात के साक्षी हैं कि केवल कर्मनिष्ठ और परिश्रमी व्यक्ति ही अपनी साधना के बल पर आगे बढ़ सकता है। किन्तु क्या वे इन सब सफलताओं का कारण स्वयं को मानते हैं? नहीं! इसका श्रेय तो उनके गुरु म. म. श्री चिन्नस्वामी शास्त्रीजी को देते हैं जो सच्चे अर्थ में उनके गुरु और मार्गदर्शक रहे। आज भी गुरुपूर्णिमा के दिन गुरु की पूजा करते हुए उनकी आँखें कृतज्ञता से भर आती हैं। यह उनका दृढ़ विश्वास है कि उनके घर का दीपक उनके गुरु द्वारा जलाया गया है।

आर्थिक स्थिति साधारण होने के कारण वे धन दान तो न कर सके किन्तु उन्होंने अपना विद्या का भण्डार खोल दिया। आज इस विद्या दान से लाभान्वित उनके सैकड़ों शिष्य इसके साक्षी हैं जो न केवल भारत वरन् विदेशों में भी संस्कृत साहित्य की सेवा कर रहे हैं। कुछ विदेशी शिष्य भी हैं जो संस्कृत की ओर आकृष्ट होकर पिताजी से ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं। हमें आश्चर्य होता है किस प्रकार वे संस्कृत में लिख और बोल लेते हैं।

हम चार बहिनों में उनकी शिष्या कोई भी नहीं। पुत्री बनने का सौभाग्य प्राप्त कर शिष्या भी बन जाने की आशा करना शायद उस परमेश्वर को ही मंजूर नहीं। किन्तु मदन भैय्या (डा० मण्डन मिश्र) को ऐसा सौभाग्य अवश्य मिला जो शिष्य बन कर छोटी आयु में आए और पिताजी से पिता जैसा स्नेह मिला। रक्षा बन्धन के दिन हम उन्हें राखी बाँधते हैं।

हमारे वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थों को पिताजी अत्यधिक सम्मान देते हैं। उनका कहना है आज वैज्ञानिक क्षेत्र में हो रहे ग्रहों के बारे में अनुसन्धान हमारे प्राचीन ग्रन्थों में हैं जो केवल तपस्या एवं साधना के बल पर हासिल किए गये। वे कहते हैं कि शायद उन्हीं ग्रन्थों को आधार मानकर आज का वैज्ञानिक उनके बारे में परीक्षण कर रहा है।

घर की छोटी-मोटी समस्या पर भी भयभीत हो जाते हैं, और भावुक इतने हैं कि किसी को दुःखी नहीं देख पाते और भरसक प्रयत्न करते हैं कि औरों का दुःख कम करने में वे सहायक हो सकें। पुराने लकीर के फकीर भी वे नहीं हैं। समय के बदलते हुए रंगों को समझते हुए, अपने उसूलों को अपने ही पास रखते हुए उनका विशाल हृदय हालात से समझौता कर लेता है। हमसे हमारी सन्तानों से या किसी की भी गलतियों को उन्होंने सदा क्षमा किया है। कभी भी क्रोध में आकर भला-बुरा नहीं कहा, सदा समझाने का प्रयत्न किया।

कहा जाता है कि हर सफल व्यक्ति के पीछे एक महिला होती है। वैवाहिक जीवन के इस लम्बे समय में मेरे पिता के दुर्बल शरीर की देखभाल करते हुए, उन्हें हर प्रकार सन्तुष्ट रखते हुए और समय पर उचित सलाह देने वाली मेरी माता हैं। घर की तमाम झंझटों का समाधान स्वयं कर मेरी माता ने मेरे पिता के अध्ययन-अध्यापन में कभी कोई रुकावट न आने दी। पार्वती-परमेश्वर जैसे माता-पिता पाकर हम सभी सन्तान धन्य हैं।

—*—

वर्तमान भारत में शिक्षा के प्रति धर्म की उपयोगिता

डॉ० उर्मिला शर्मा, आबूमाऊण्ट

ॐ अग्ने नय सुपथा रायेऽस्मान्
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोधि + अस्माज्जुहुराणमेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥

'धर्मो रक्षतिरक्षित:' तथा 'धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः' के विश्वासी तथा 'भा' में 'रत' होने के सहज शील के कारण भारतीयता के गौरव से समृद्ध भारतवासियों का जीवन-स्तर—आज भी अपने देशगत नाम के योग्य रहा है या नहीं ?—पहले तो यहीं बड़ा सा प्रश्नचिह्न है ।

'वसुधैव कुटुम्बकम्' और 'स्वदेशो भुवनत्रयम्' ही नहीं 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म । तत्त्वमसि ।' पर्यन्त हृदय की विशालता देने वाले धर्म की धारणा आज सीधे रक्त-सम्बन्ध में से भी कुटुम्ब की भावना निकल जाने की स्थिति में घोर विडम्बना सह रही है ।

कहा और सुना जाता है कि दिन प्रतिदिन विज्ञान का विकास प्रगतिशील है । इस तथाकथित वैज्ञानिक प्रगति के मापदण्ड से ही विभिन्न भूमिखण्डों पर बसे देशों को 'पिछड़े' और 'विकसित' विशेषण दिये जाते हैं । उन 'विकसित' देशों की चकाचौंध से उपहत दृष्टि वाले 'पिछड़े' देश उसी स्पर्धा और स्पृहा के दलदल में फँसते चले जा रहे हैं । इसी दलदल में डूबती भारतीयता की कराह को सुनने का भी अवकाश आज भारतवासियों को नहीं है ।

स्वनामधन्य जिस भारत में जन्म देवताओं को भी 'दुर्लभ' अतएव स्पृहणीय माना गया था, उसी भारत में 'उपजने' वाले 'अन्न' को आज विदेशी ढंग से बनी कृत्रिम खाद एवं यन्त्रयक्ष की सन्तति रूप विदेशी रीति के ही साधनों की अनिवार्य आवश्यकता मानी जाती है । भले ही उनके कारण इसी धरती के 'औरस' बेटे—किसानों और गोधन की कैसी भी निर्मम बलि चढ़े और उनके लिए यहाँ के सन्तों को प्राणों की भी बाजी लगानी पड़े । पर 'बहुजनहिताय' की विडम्बना करते शासन और जनता को परवाह कहाँ ? बेचारे किसान और पशुधन की तो बात कौन पूछे, जब कि आहार-विहार के सभी स्तरों पर छायी विदेशीयता घर-घर के बच्चों तक का सब ओर से शोषण कर रही है—हर घर लुटा जा रहा है—इसकी भी होश किसी को नहीं !

कभी कहा था किसी ने पुकार कर !—'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' । पर उस 'स्व' का मर्म न समझ कर आधुनिक व्याख्याताओं ने उस प्रतीक से भारतीयता पर ही सङ्कीर्णता का कलङ्क थोपा और 'त्याग' के नाम पर स्वाभिमान तथा नैतिक मूल्यों का त्याग करके मनुष्यता से घोर पशुता की ओर प्रगति का आनन्द मनाते हुए मनुष्य-तनुधारिणी जाति अब तो पशुता से भी कहीं आगे बढ़ गई है । क्योंकि पशुओं की भी अपनी एक संस्कृति है, नियम हैं, जिनका अतिक्रमण वे अब तक नहीं करते हैं । वृषभ का 'धर्मधुरन्धर' विशेषण अब तक सार्थक है । मातृत्व और वात्सल्य की शालीनता पशु-पक्षियों में पूर्ववत् महिमान्वित है । पर मनुष्य····? वह तो प्रकृति के भी 'ऋत' को छेड़ने में अपना पौरुष मान रहा है ।

आसमन्त में फैले इस अत्याचार (अति + आ + चार) का परिणाम समस्त वैश्विक जीवन को भोगना पड़ रहा है और कितने भीषण रूप से भोगना पड़ सकता है—इसकी घोषणा विज्ञान द्वारा की जाती है। किन्तु सुने कौन ? सुनने के लिए जो नम्रता चाहिये वह इस 'ईश्वरो बलवान् सुखी' में रहे कहाँ ? जहाँ 'कोऽन्योऽस्ति सदृशोमया' के मद की मूर्च्छा को ही चेतना के विकास का उत्कर्ष माना जा रहा है, वृद्ध हो चले माता-पिता को अपने घर में रहने लायक न मान कर उनके लिये 'पिंजरापोल' (अलग बस्ती)* बनाने में और स्वैर विलास में अवरोध लाने वाली दैहिक समस्या का मूल से ही उन्मूलन कर देने में 'न्याय'* दिखाई दे रहा है; और तो और जहाँ 'भगवान्' पदवी का भी 'बिल्ला' लगा कर शास्त्रों के साथ खिलवाड़ करते हुए अनर्गल विलासिता के प्रचार द्वारा 'संन्यास' एवं 'समाधि' तक शब्दगङ्गा में कालकूट घोला जा रहा है—वहाँ धर्म तथा 'भारतीयता' का नाम लेना क्या प्रासङ्गिक है ?

हाँ, है। अभी भी है। क्योंकि 'विदेशी' या 'पर' से यहाँ तात्पर्य केवल पाश्चात्त्य कदापि नहीं; न ही 'भारतीय' का अर्थ एशिया के इस छोटे से भूखण्ड-विशेष से सम्बद्ध है। और 'धर्म' शब्द का वास्तविक अर्थ तो कभी भी देश-काल-पदार्थ की सीमा से बँधा नहीं, भले ही इनसे विशेषित होता रहा हो। 'स्व' का अभिप्राय 'आत्मा' से है। विश्व भर की भाषाओं में उस अर्थ के वाचक जो जो भी शब्द प्रयुक्त हुए हों—सभी के तात्पर्य में लेशमात्र भी अन्तर नहीं, और सभी उस तात्पर्यभूत एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये ही मनुष्यतनु की श्रेष्ठता भी स्वीकार करते हैं। उस मूल स्वभाव की अभिव्यक्ति के अनुकूल आचरण ही स्वधर्म है और उससे विपरीत गति देने वाला परधर्म है। वही मुस्लिम को काफिर बनाता है, हिन्दू-जैन-बौद्ध-सिख आदि को अधर्मी और ईसाई को गुमराह करके 'शैतानी' की ओर ले जाता है। शब्द कोई भी हों पर अर्थतः उसी 'आत्मा' = 'स्व' की 'भा' (दीप्ति) में जिसकी रति है, वही भारतीय है। वह देशविशेष से सीमित नहीं।

अवश्य ही भारत नाम से प्रसिद्ध इस देश के वसुधा-व्योम और संस्कृति में उस 'भा' में 'रति' को अवकाश सर्वाधिक माना गया, इसीलिये जहाँ-जहाँ मानव में वह रति जागती है, वहां-वहाँ उसका भारत के प्रति आकर्षण भी जागता है—यह देखा जा रहा है। किन्तु न जाने क्यों इसी देश में जन्म पाने वाले अपनी गरिमा और सहज प्राप्त कर्तव्य से यहाँ तक विमुख होते चले जा रहे हैं कि सामान्य मानवीयता तक की अवहेलना करके 'येन-केन-प्रकारेण' अधिक से अधिक धन बटोर लेने में ही जीवन की सफलता और स्पृहणीय कर्मकुशलता मान बैठे हैं। उस धन रूपी बीज से ही सत्ता-लालसा पनपती है और उसके दुरुपयोग की हवस बढ़ती है। एक ओर अतिशय धनवालों का जीवन दुराचार प्रमाद से बरबाद होता है, दूसरी ओर आँखें उन्हीं की ओर लगी होने के कारण मध्यम और गरीब वर्ग का भी आर्थिक-सामाजिक-सांस्कृतिक शोषण होता चला जाता है।

संसारी कहलाने वाले ९५ प्रतिशत समाज की तो यह दुर्दशा है ही, किन्तु अतीव खेदजनक तथ्य यह दिखाई दे रहा है कि धनलालसा-उपभोग परायणता की इस महामारी ने तथाकथित धार्मिक वर्ग को भी ग्रस लिया है। अयाचक-वृत्ति तो दूर रही, खुले आम पैसे के आधार पर श्रद्धालुओं की श्रेणियाँ बनती हैं। मन्दिरों में भगवान् के दर्शन मोल बिकते हैं। यहाँ तक कि तथाकथित साधना-पथ और मंजिलें (सिद्धियाँ) भी बाजार की वस्तु हो गई हैं। यह अलग बात है कि जहाँ धनलालसा की अग्नि का स्पर्श हुआ वहाँ वास्तविक 'धर्म-श्रद्धा-जिज्ञासा-साधना-बोध' का पञ्चायतन

---

* विदेशों में वृद्धों के लिये अलग बस्तियाँ—क्लब आदि की व्यवस्था हो गई है। भारत के अति धनिक वर्ग में यह प्रवृत्ति आ रही है।

* भारत में भी गर्भपात कानून सम्मत हो गया है, जहाँ कि कभी कच्चे फल और कली को तोड़ने में भी भ्रूण-हत्या का पाप समझा जाता था।

कपूर की तरह ऐसा भस्म हो जाता है कि सुगन्ध भी शेष नहीं रहती। किन्तु इतने विचार की शक्ति जहाँ हो वह इस रोग की चपेट में आये ही कैसे ? जबकि ९९ प्रतिशत जनता में इस रोग के कीटाणु पनप चुके हैं। अब भी यह धार्मिक समुदाय अज्ञान से मुक्ति की तोतारट लगा रहा है, जबकि धर्म और वर्तमान समाज का सम्बन्ध 'काकोलूक निशा' बन चुका है।

फिर भी धार्मिक समुदाय की ओर आशा की दृष्टि लगना सर्वथा स्वाभाविक है, क्योंकि अन्ततः उनमें जीवन के सच्चे मूल्यों की पहचान तो अवश्य है; ज्ञान-अज्ञान का, भले-बुरे का सही मापदण्ड कम से कम शब्दों में तो उनके पास है ही, अतएव अर्थ के प्रकाश की सम्भावना भी वहीं है। सौभाग्य से, गत पुण्यप्रताप से, सद्विद्या का शिक्षण-स्वाध्याय होने के कारण अधिकांश धार्मिक समुदाय का मानस अभी भी चलनी नहीं बना हैं। और प्रभु के प्यारे इस देश के सौभाग्य से अभी भी १% में सच्चा ज्ञानसूर्य उदित होकर यथावकाश जी भी रहा है। उसी १ प्रतिशत पर आज यह उत्तरदायित्व पुनः अनिवार्य रूप से आ पड़ा है कि सदा से चला आता हुआ अपना 'स्वधर्म' कर्तव्य-लोकशिक्षण-'लोकसंग्रह' सघनता से निभायें। पहले तो पूरे धार्मिक समुदाय को दलदल में डूबने से बचायें, निशा बीतने पर भी प्रमादवश ओढ़ी हुई चादर हटाने का स्नेह-सबल आग्रह करें। जहाँ स्नेह ग्रहण करने की संवेदना जीवित होगी, वहाँ तो दीप उज्ज्वल हो उठने में विलम्ब होगा नहीं। और ऐसे दीप शीघ्र ही आसपास के बुझते दीपों को जीवन देंगे। इसी क्रम से सब दीप जल उठने पर, प्रकाश से अपरिचित आँखें भी स्वभावतः ही आकर्षित होकर अपने-अपने घर में दीप जलाने को सहज ही प्रवृत्त होंगी।

"या मक्षी नियतं कषायकुरसं दुष्टव्रणं याचते,
सा किं फुल्लसरोजकोरकमधु स्वप्नेऽपि पेपीयते।
भक्तानां तव मन्दिराध्वचरतां पादाब्जभृङ्गच्युतं
तस्मै प्रेमदयानिधे मधुकणं हे गौर ! भाग्यं नय ॥"

—स्वामी प्रत्यगात्मानन्द सरस्वती।

रूपक-विमान से व्यावहारिक धरातल पर उतरें तो धार्मिक समुदाय के वरिष्ठ अधिकारियों–मनीषियों–साधकों का आज अनिवार्य कर्तव्य है कि अपने जीवन की शुद्धि की न्यूनतायें तत्क्षण दूर करके अपने आसपास जीवनशुद्धि का विकिरण सघनता से करें। इसके लिये प्रौढ़शिक्षा-कार्यक्रम अविलम्ब अपने हाथ में भी लें, जिसमें निरक्षरता-निवारण के माध्यम से संस्कार-सिञ्चन तथा सच्ची मानवता के जागरण का कार्य वे अनायास कर सकते हैं। क्योंकि सौभाग्य से इस देश के मिट्टी-पानी से उपजे मानवों में, विशेषकर प्रौढ़ों में सही बात समझने की योग्यता जन्मजात है। वे 'पढ़े' बेशक न हों किन्तु 'गुढ़े' अवश्य हैं। और सभी वर्गों का प्रौढ़ समुदाय आज भी धर्म के प्रति सहज श्रद्धालु होने के कारण धार्मिक मनीषियों के हाथ है। विशेष रूप से समस्त महिलावर्ग में धार्मिक व्यक्तियों के द्वारा ही निरक्षरता-निवारण एवं सच्चे मानवीय मूल्यों की पहचान करायी जा सकती है। प्रौढ़ वर्ग ही सेतु है—युवा एवं बालकों तक संस्कार-किरण पहुँचाने में। और यह कहना भी अन्यथा नहीं कि प्रौढ़ वर्ग की अज्ञानवशता या दिग्भ्रान्तता के कारण ही आज की दो पीढ़ियों में दिशाहीन स्वच्छन्दता–उच्छृङ्खलता–संस्कारहीनता पनपी है। यह अनुभूत तथ्य है कि आज भी जहाँ-कहीं प्रौढ़ वर्ग में सच्ची कुलीनता-संस्कारिता और सत्‌शिक्षण के प्रति अभिमुखता जीवित है, उन गिने-चुने वंशों की नई पीढ़ियाँ भी शेष समाज से सर्वथा पृथक् चारित्र्यसम्पन्न हैं। उनमें सच्ची समझ और मानवता को जीने का जीवट है। भले ही इसके लिये उन्हें शेष समाज का कितना ही अपमान और दैनिक जीवन के कष्ट सहने पड़ते हों।

अतएव धार्मिक तथा सच्चे सुशिक्षित समुदाय से भारतीय प्राणों का सम्पूर्ण उत्कटता से सविनय अनुरोध है

कि भटके बल को सही पथ पर प्रवृत्त करें, दिशाहीन को समुचित दिशा दें, सब ओर 'प्रेय' के लिये उन्मत्त लोगों को 'श्रेय' का स्वाद चखायें।

धर्म का दीपक, दया का दीप,
कब जलेगा ? कब जलेगा विश्व में भगवान् !
कब सुकोमल ज्योति से अभिषिक्त हो,
सरस होंगे जली-सूखी रसा के प्राण !! —'दिनकर'

अन्त में उन सभी महानुभावों से सविनय क्षमायाचनापूर्वक निवेदन है, — जिन्हें इस लेख में हुई कुछ आक्रोशभरी तीक्ष्ण आलोचना से कहीं भी आघात पहुँचा हो—कि ये पितृभक्त सन्तान के सन्तति-सुलभ अधिकार से निकले उद्‌गार हैं, अपनी मातृभूमि की वर्तमान दुर्दशा से सन्तप्त हृदय के आँसू हैं, जिन्हें क्षमासहित सुनने का कष्ट कृपया सहन कीजियेगा।

"हरि जननी मैं बालक तेरा। काहे न अवगुन बकसहु मेरा।
सुत अपराध करइ दिन केते। जननी के चित रहत न तेते।
कहे कबीर इक बुद्धि विचारी। बालक दुखी दुखी महतारी॥"

जीवमात्र का वह एक अभिभावक जहाँ-जहाँ प्रकट है, वहाँ-वहाँ उसके चरणों में सन्तति की आर्त्त प्रार्थना पहुँचे—

ॐ असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'शास्त्री जी' एक संस्मरण

सौभाग्यवती विजया श्रीनिवासन्, बम्बई

जब से होश संभाला, गंगा किनारे बसा हुआ, बनारस के एक मध्यम वर्गीय परिवार में अपने आपको पलते हुए पाया। हम चार बहनों में मैं सबसे बड़ी हूँ। परम पूज्य पिता के सान्निध्य में बीते हुए उन दिनों का स्मरण अब भी हो आता है।

मुझमें जब से समझ आई, तब से पिताजी को, संस्कृत के अध्ययन तथा अध्यापन के कार्य में व्यस्त ही पाई हूँ। एक प्रशंसनीय बात जो मैं उनमें प्रमुख रूप में देख पाई हूँ वह है उनकी "गुरु-भक्ति"। प्रातः स्मरणीय महामहोपाध्याय स्वर्गीय श्रीयुत चिन्नस्वामी शास्त्री उनके गुरु ही नहीं थे, सर्वेसर्वा थे। शास्त्री जी के सामने यह प्रश्न ही नहीं उठा कि "गुरु-गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पाय"। अपने गुरु के साथ, प्राचीन आर्य-परम्परा में वर्णित गुरु-शिष्योचित व्यवहार उनका रहा था। यह कहना उचित होगा कि उन्होंने अपने जीवन के अधिकांश भाग गुरु की छत्र-छाया में व्यतीत किया है। गुरु के सान्निध्य में उनका पूरा जीवन ही एक प्रकार से अध्ययन का समय रहा है। अध्ययन का वह क्रम उनमें अभी भी बना हुआ है। प्रातःकाल गुरु के साथ विद्यालय जाते समय मार्ग में ही अगर मीमांसा की चर्चा होती थी, तो संध्या वंदन के समय धर्म-शास्त्र को ही लेकर चर्चा हुआ करती थी। विविध शास्त्र सम्बन्धी चर्चायें जब घर में हुआ करती थीं, तो शास्त्री जी को अपने गुरु के सामने खड़े-खड़े (लगातार चार-पाँच घंटे ही क्यों न लग जायँ) धीमी आवाज में वार्ता करते हुये देखा है जिसे मैं आसानी से भूल न पाऊँगी। कभी-कभी रात के दस बज जाते थे, हमारी माता उनकी प्रतीक्षा में भोजन के लिये बैठी रहती थीं, लेकिन मेरे पितृ-देव अपने आराध्य देव के सामने ऐसे खड़े रहते थे जैसे कोई पुजारी। उन्हें ज्ञान सम्बन्धी तितिक्षा सताती थी।

मैंने कभी भी उन्हें क्रोध में आकर चिल्लाते हुए नहीं देखा है। अगर उन्हें क्रोध भी प्रकट करना रहा हो तो "मूक" रह जाया करते थे। जिसका असर बड़ा प्राभाविक रहा करता था।

मेरी आठवीं कक्षा तक की शिक्षा बनारस में हो पाई थी। मुझे जहाँ तक याद है वे स्त्री-शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। उनकी मान्यता यह थी स्त्रियों के लिये उतनी ही शिक्षा की आवश्यकता है जितना एक परिवार चलाने के लिए अपेक्षित है।

लेकिन समय के परिवर्तन के साथ-साथ उनकी धारणायें भी परिवर्तित होती चली आई है। अंग्रेजी शिक्षा को तो खैर वे मानते ही नहीं थे।

जयपुर के वे दिन भी भुलाये नहीं जा सकते जबकि मेरे पिता "महाराजा-संस्कृत-विद्यालय" के प्रिंसिपल बन कर आये। यहाँ पर आकर जीवन-सम्बन्धी कुछ सुविधाओं के बढ़ने पर भी उनकी ज्ञान-पिपासा ज्यों की त्यों बनी रही। इसी जगह पर श्री मंडन मिश्र जी का परिचय उनसे हुआ। पहले मेरे पिता तथा उनका सम्बन्ध गुरु-शिष्य रूप में आरम्भ हुआ, कालांतर में वही सम्बन्ध पिता-पुत्र रूप में परिणत हुआ। यह सम्बन्ध आज तक बना हुआ है। इन दोनों का यह सम्बन्ध परिवार तक ही सीमित नहीं रहा। संस्कृत सेवा कार्य में भी वे शास्त्री जी के सहायक रहे हैं।

शास्त्री जी की और एक विशिष्टता है उनकी "सादगी"। उनके विचार जितने ऊँचे हैं, उतना ही उनका जीवन सीधा सादा है। बाहरी दिखावा या आडंबर के लिए उनके जीवन में स्थान नहीं है। "Simple living and High thinking" के तो वे एक जीते-जागते रूप हैं। उन्हें अपने काम में रत, आज भी उसी प्रकार, उसी मुद्रा में पाती हूँ जैसे चालीस साल पहले मैंने देखा है। टेबल-कुर्सी की तो खैर कभी जरूरत ही नहीं पड़ती। जमीन पर पलथी मार कर बैठ जाते हैं। इसी मुद्रा में घंटों बैठे हुये, विविध ग्रंथों के बीच में डूबे हुए, आज भी लिखने का उनका क्रम बना ही हुआ है।

अत्यधिक आवश्यक वस्तुओं को छोड़कर, उन्हें परिग्रह करना पसन्द ही नहीं। गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी वे निस्पृह इतने हैं कि इसका सही शब्दों में कथन नहीं हो सकता।

एक विशिष्टता उनके बारे में एक और देखी गई है वह है उनकी निपुणता (accomodative) वे स्वयं धार्मिक मनोवृत्ति के हैं। भगवद्गीता के ज्ञान-भक्ति-कर्म की त्रिवेणी उनके अपने जीवन में बहते हुए हम पाते ही हैं लेकिन कोई भी उनके अपने परिवार वाले या बन्धु-बान्धव जो आधुनिक विचार रखते हों, आधुनिक आचार-विचार रखते हों, वे उनका कदापि निरादर या अवहेलना नहीं करते। अपने आपको ही वे दूसरे के मनोनुकूल कुछ सीमा तक ढाल लिया करते हैं।

आज भी जब हम उन्हें, उसी गंगा किनारे स्थित अपने निवास स्थान में संस्कृत सेवा कार्य में तल्लीन, उसी उत्साह से भरपूर कार्यरत देखते हैं जैसे चालीस साल पूर्व देखा था—आश्चर्य किये बिना नहीं रह सकते। संस्कृत सेवा कार्य काशी में प्रारम्भ होकर, जयपुर में पल्लवित हुआ; कलकत्ते में पुष्पित होकर, पुनश्च काशी में फल धारण करने लगा है। उस गुरु-महिमा की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते जिन्होंने शास्त्रीजी को उस दिशा की ओर पथ-प्रदर्शित किया।

मैं तो यहाँ तक कह सकती हूँ कि उनके जीवन में "संस्कृत सेवा कार्य" का स्थान प्रथम रहा है; बाद में ही पारिवारिक सम्बन्धी बातों का स्थान रहा है।

अन्त में पिता के चरण कमलों में वन्दना करते हुए ईश्वर से प्रार्थना करूँगी कि, वे हमारे जीवन में भी वही आध्यात्मिक तथा मानसिक शक्ति भर दें, ताकि हम भी इन सांसारिक आकर्षणों से निरत-निस्पृह रह कर अपना जीवन शास्त्री जी के समान ही सार्थक बना सकें। एक प्रार्थना ईश्वर से मेरी यह भी रहेगी कि यदि मुझे पुनर्जन्म मिले भी इसी परिवार में मिले।

—:*:—

भगवदवतार बुद्ध

स्व० म० म० पं० गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी

आन्तर जगत् में बुद्धि का अद्वितीय स्थान है। सांख्य-शास्त्र के अनुसार बुद्धि के आठ भेद होते हैं। उनमें चार सात्विक होते हैं, जो धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य कहे जाते हैं और चार तामस कहलाते हैं। इन आठ भेदों में से ईश्वर में सात्विक पक्ष के चार भेद ही रहते हैं और जीव में, जो कि ईश्वर का ही एक अंश है, ईश्वर से चार तामस भेद अधिक रहते हैं। इस प्रकार जीव में आठों का समावेश है। सत्य तो यह है कि इन्हीं तामस-भेदों के कारण जीवन ईश्वर से पृथक् हुआ और उसका ईश्वर भाव जाता रहा। इन्हीं अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य के फंदे में फँस कर वह आवागमन आदि नानाविध क्लेशों से जकड़ा हुआ है।

जीवों की इसी कष्टमय दशा को देख उनको संसार-सागर से तारने की इच्छा से अनेक दया-परवश भगवान् स्वयं उनके बीच आते हैं, यह आर्यसिद्धान्त की दृढ़ मान्यता है। उनके जीवन में बुद्धि के सात्विक भेदों को प्रत्यक्ष पाकर और तामस भेदों को उनसे दूर देख कर संसार उन्हें अवतार के रूप में पहचानता है। समय और परिस्थिति के अनुसार उनमें सात्विक बुद्धि के किसी एक अंश की प्रधानता परिलक्षित होती है। अन्य भाग उसके सहकारी होते हैं।

भगवान् बुद्ध के जीवनचरित और उपदेशों में वैराग्य नामक बुद्धि-भेद की अत्यन्त और असाधारण उत्कटता देखी गई। वहाँ अन्य साहित्यिक भेदों को उसका अनुगामी होने के साथ-ही-साथ तामस भेदों अधर्म, अज्ञानादि का नितान्त अभाव भी देखा गया। इसीलिए कई अंशों में वैदिक सिद्धान्तों की प्रतिकूलता करने पर भी वैदिक सिद्धान्तों के अनुयायियों ने उन्हें भगवदवातार कह कर पूज्य माना।

बुद्ध और वैराग्य

भगवान् बुद्ध के जीवन में सभी क्षेत्रों में वैराग्य की उत्कटता परिलक्षित होती है। उनके उपदेशों में भी वैराग्य ही की प्रधानता रही। उनके सिद्धान्तानुसार इस संसार में दुःख ही दुःख है। यहाँ सुख प्राप्ति की अभिलाषा रखना मृगतृष्णा के समान निरर्थक है। यही उनके 'दुःखं-दुःखं' इस सूत्र से भी प्रकट होता है। उनके सारे उपदेश वैराग्य-भाव से ओतप्रोत हैं। उन्होंने अपनी अनेक जन्मों की कथाओं को कह कर यह बताया कि सभी जन्मों में मनुष्य कष्ट ही कष्ट पाता है। इससे छुटकारा प्राप्त करने का उपाय रागद्वेषादि का समूल उन्मूलन ही है। इन उपदेशों का प्रसार करने वाले भगवान् बुद्ध स्वयं वैराग्य की मूर्त्ति थे। राग-द्वेषादि-जन्य विकार उनको छू तक नहीं गए थे। अपने अन्तिम समय में भी अपने शिष्यों को समझाते हुए उन्होंने जीर्ण वस्त्र की भाँति शरीर का परित्याग कर दिया।

बुद्ध और वैदिक सिद्धान्त

वैदिक सम्प्रदाय में बुद्ध को अवतार-कोटि में स्थान दिया गया, पर बुद्ध ने स्वयं वैदिक सिद्धान्तों का विरोध किया। उन्होंने अपने उपदेशों में प्रायः सभी वैदिक सिद्धान्तों की आलोचना की। इसका कारण क्या था? इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान किया जाता है। परन्तु इसका यथार्थ उत्तर तभी समझ में आएगा, जब वैदिक सिद्धान्त और बुद्ध के वैराग्य की तुलनात्मक विवेचना हो। यह भूलना न होगा कि बुद्ध के द्वारा मोक्ष के लिए अपनाया गया वैराग्य-मार्ग भी वैदिक मार्ग ही है। वेद, उपनिषद आदि पद-पद पर वैराग्य का उपदेश देते हैं और सांख्यादि दर्शनों में भी उसका सविस्तार निरूपण है। वैराग्य-मार्ग के साथ ही साथ वैदिक सिद्धान्त में अधिकारानुसार ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग का ही विशुद्ध विवेचन है। ज्ञान-मार्ग को लेकर वेदान्त-दर्शन आगे आता है और भक्ति-मार्ग को लेकर रामानुज-वाल्लभ-निम्बार्कादि अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। ज्ञान-मार्ग में वैराग्य के निरूपण का यह क्रम है कि राग या प्रेम का मुख्य आधार आत्मा है। वह आनन्दरूप है, इसलिए प्रेम को मुख्य आधारता वहाँ उपपन्न है। वह नित्य है, इसलिए

आत्मा का प्रेम कभी दुःखमय नहीं हो सकता। स्त्री, पुत्र, धन, भवन आदि यदि नष्ट हो जाए तो वह प्रेम उनके वियोग में हमारे लिए अपार दुःखप्रद हो जाता है। किन्तु आत्मा नित्य होने के कारण कभी नष्ट नहीं हो सकती और इसी कारण उसका प्रेम कभी दुःखद भी नहीं होता। अतः ज्ञान-मार्ग मनुष्य को 'आत्माराम' होने का उपदेश देता है, अर्थात् आत्मा से प्रेम करो, उसी में रमण करो। अन्य स्त्री-पुत्र-वित्तादि में जो प्रेम होता है, वह आत्मा की अनुकूलता के कारण ही होता है। कुछ भी अपनी प्रतिकूलता होने पर वह प्रेम टूट जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि राग या प्रेम का मुख्य आधार आत्मा है। अन्य सभी आधार कल्पित हैं। उन कल्पित आधारों को छोड़कर केवल आत्मा पर ही प्रेम होना चाहिए।

भक्ति मार्ग में ज्ञान-मार्ग के आत्मा का स्थान ईश्वर को दे दिया जाता है। उस मार्ग में यही उपदेश होता है कि सबकी आत्मा ईश्वर ही है। इसलिए केवल ईश्वर पर ही प्रेम होना चाहिए। और सबसे राग या प्रेम हटा लेना चाहिए। दोनों ही मार्गों में कोई-न-कोई राग का मुख्य आधार अवश्य माना गया है। किन्तु बुद्ध भगवान् ने वैराग्य की पराकाष्ठा प्रकट करने के लिए राग या प्रेम को सर्वथा निराधार सिद्ध किया, अर्थात् प्रेम या राग तत्त्व कुछ भी नहीं है, केवल कल्पना है। यही कारण है कि उन्होंने आत्मा और ईश्वर दोनों की नित्यता स्वकीार नहीं की। आत्मा या ईश्वर की नित्यता मान लेने पर, राग या प्रेम का एक मुख्य आधार रह जाता है। उसका सर्वथा उन्मूलन नहीं हो सकता। जब नित्य आत्मा या ईश्वर कोई वस्तु ही न रही, तब प्रेम का वह एक आधार भी गया। इस प्रकार राग निराधार होकर अवस्तु सिद्ध हो गया और वैराग्य-भावना की सर्वात्मना विजय हो गई। वैराग्य-भावना का यही सर्वोत्कर्ष बुद्ध-भगवान् का मुख्य लक्ष्य है।

बुद्ध और अहिंसा

वैराग्य-भावना में प्रवेश होते ही हिंसा को हटा देना आवश्यक होता है। किसी भी प्राणी की कोई भी हानि द्वेष के कारण ही की जाती है। वह द्वेष राग का ही प्रतिद्वन्द्वी-रूप है, अर्थात् राग जब प्रतिहत होता है तब वह द्वेष का रूप धारण कर लेता है। यों समझ सकते हैं कि हमने किसी से प्रेम किया। उस हमारे प्रेम-पात्र ने यदि हमारे प्रेम का समुचित सम्मान न किया तो वह प्रेम ही द्वेष रूप से परिणत हो जाता है। अथवा प्रेम के कारण हम किसी वस्तु को चाहते हों और उस वस्तु की प्राप्ति में कोई बाधक बन जाए तो वहाँ भी उस वस्तु का प्रेम उस बाधक व्यक्ति के प्रति द्वेष रूप से परिणत हो जाता है। इस प्रकार प्रेम का ही विपरीत रूप द्वेष है। जब वैराग्य-भावना द्वारा राग या प्रेम ही नष्ट किया गया तब द्वेष या द्वेषमूलक हिंसा नहीं रह सकती। उसका आरम्भ में ही परित्याग करना पड़ता है। फिर उत्कट वैराग्य-भावना में तो उसके अस्तित्व की कथा ही क्या? इसलिए भगवान् बुद्ध अहिंसा के भी मुख्य प्रवर्त्तक माने जाते हैं।

यद्यपि वैदिक संस्कृति में भी अहिंसा का मुख्य स्थान है तथापि व्यवहार मार्ग में कहीं-कहीं उसके अपवाद माने गये हैं। जैसा कि युद्ध के अवसर पर अथवा राज्य-शासन में सुव्यवस्था के लिए दुष्टों को दण्ड देने के अवसर पर और चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में भी हिंसा आवश्यक हो जाती है। ऐसे ही कारणों से काम्य यज्ञों में भी हिंसा को आंशिक स्थान दिया गया है। किन्तु वे सब व्यवहार-मार्ग की बातें हैं। उत्कट वैराग्य-भावना होने पर इन सब बातों का कोई प्रसंग ही नहीं रह जाता। इसलिए बुद्ध भगवान् ने सब प्रकार की हिंसा को त्याज्य ठहराया।

इन सब बातों को देखते हुए भगवान् बुद्ध द्वारा प्रचारित सिद्धान्तों में आंशिक वैदिक धर्म का विरोध स्थूल दृष्टि से प्रतीत होता है, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर बुद्ध भगवान् का लक्ष्य उच्च कोटि की वैराग्य-भावना है और वह भारतीय संस्कृति या वैदिक संस्कृति का मुख्य लक्ष्य है। इसलिए वैदिक संस्कृति के एक मुख्य अंग का पोषण ही बुद्ध भगवान् के द्वारा हुआ है और वह भगवदवतार के रूप में सबके ही पूज्य माने गए हैं।

—:*:—

ज्यौतिष एवं आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री
का
व्यक्तित्व

रामदयालु
प्रधानाचार्य, श्री सनातन धर्म संस्कृत महाविद्यालय, निवाई (टोंक–राजस्थान)

आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री जिनका वरदहस्त अध्ययनावस्था व तदुपरान्त भी लेखक पर रहा है—ने ज्योतिः शास्त्रानुरागी स्वशिष्य को एक लघु पत्र पर निज कर कमल से लिखकर अपनी जन्म कुण्डली दी थी, जिसकी फोटो स्टेट् कोपी प्रकाशनार्थ इस लेख के साथ संलग्न है।

आशा है लघु लेख भी शास्त्री जी के व्यक्तित्व को उजागर करने वाली ग्रह स्थिति को अभिव्यक्त करने में सार्थक होगी।

× × × ×

गर्ग के शब्दों में "ज्योतिश्चक्रे तु लोकस्य सर्वस्योक्तं शुभाशुभम्" इस दृष्टि से प्रातःस्मरणीय आचार्य श्री पट्टाभिराम शास्त्री के व्यक्तित्व को उभारने में उनकी जन्म कुण्डली की ग्रह स्थिति ही वस्तुतः निमित्त है, इसे अतिशयोक्ति नहीं कहा जा सकता।

ज्यौतिष के मर्मवेत्ता मनीषियों ने जातक की कुण्डली में चतुर्थ स्थान से विद्या एवं पञ्चम स्थान से बुद्धि का विचार किये जाने का विवरण दिया है, क्योंकि विद्या और बुद्धि में घनिष्ठ सम्बन्ध है। दशम स्थान से विद्याजनित यश विचार किये जाने का उल्लेख भी मिलता हैं।

प्रातःस्मरणीय श्री शास्त्री जी का जन्म लग्न धनुः है एवं जन्म लग्न से केतु, शनि, गुरु, राहु, चन्द्रमङ्गल, सूर्य, बुध, शुक्र क्रमशः द्वितीय, तृतीय, सप्तम, अष्टम, दशम, एकादश व व्ययभाव में स्थित हैं।

सात भावों में सभी ग्रहों की स्थिति होने से "संख्यायोगाः सप्त सप्तर्क्षसंस्थैरेकापायाद्वल्लकीदामपाशाः" इत्यादि प्रमाणानुसार आपको जन्म कुण्डली में वीणा योग बनता है, एवं "वीणायां सकल क्रियासु निपुणः सङ्गीतनृत्य प्रियः" यह जातक पारिजात का प्रमाण इनकी जन्मकुण्डली की सत्यता को अभिव्यक्त करता है।

जातक तत्व के "खे लाभे सुतेशे पण्डितः" "बली सुतेशे केन्द्र कोणे विद्वान्" "केन्द्र कोणे जीवे वेदान्तज्ञः" इन सूत्रों के अनुसार भी पञ्चमेश मङ्गल के दशम भावस्थ होने से श्री शास्त्री जी विद्वान पण्डित तथा गुरु के सप्तम भावस्थ होने से वेदान्तज्ञ बने हैं।

ज्यौतिष शास्त्र में गुरु से वेद, वेदान्त, व्याकरण और ज्यौतिष विद्या, बुध से वैद्यक, शुक्र से गान विद्या, प्रभावशाली व्याख्यान शक्ति, साहित्य तथा मङ्गल से न्याय विद्या का विचार किया जाता है। उक्त मतानुसार आपकी

जन्म कुण्डली विद्या स्थानाधिप (चतुर्थेश) वृहस्पति केन्द्रस्थ होने से आप वेद, मीमांसा, वेदान्त के उत्तम ज्ञाता बने हैं एवं बुद्धि स्थानाधिप (पञ्चमेश) मङ्गल के केन्द्रस्थ बनने से आपने न्यायशास्त्र में भी पारङ्गतता अधिगत की है। द्वितीयेश शनि पर गुरु की पूर्ण दृष्टि होने से आपकी वाणी में आकर्षण व प्रभावोत्पादकता का पूर्ण संचार हुआ है।

भाग्येश सूर्य की लाभ भाव में स्थिति तथा उस पर गुरु की पूर्णदृष्टि के कारण आप धर्मात्मा, परोपकारी, विद्यादाता एवं चिन्तनशील प्रकृति के बने हैं।

मङ्गल बुध के स्थान संबंध ने आपका अपने कार्यक्षेत्र में कई बार विषम स्थितियों से सामना करवाया है, किन्तु इनकी नैसर्गिक-वाग्मिता से सभी बार इन्हें सफलता मिली है।

जातक तत्व के ही "व्ययेशे खाद्ये विपुत्रः" सूत्र के अनुसार व्ययेश मङ्गल के दशम भावस्थ तथा अन्य प्रमाणानुसार चन्द्र से पञ्चमस्थ केतु होने से आपके औरस पुत्र का अभाव रहा है, किन्तु "जनिता चोपनेता च यस्तु विद्यां प्रयच्छति। अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः॥" इस प्रामाणिक वाक्य के अनुसार आप सत्पुत्रवान् हैं।

वर्तमान समय में आपको कारक ग्रह बुध की महादशा चल रही है; जो सम्मान जनक है, तदपि बुध सप्तमेश बनकर व्यय भाव में स्थित है, अतः स्वास्थ्य विकृति का भी द्योतक है। संस्कृत जगत् का प्रत्येक संस्कृतानुरागी व्यक्ति भगवान् भास्कर से श्री शास्त्री जी के अविचल आरोग्य की अभ्यर्थना करे, जिससे इनके द्वारा हमें अधिक से अधिक लाभ मिलने के अवसर उपलब्ध हों।

●

मेरे पिता

शान्ति

कभी एक किस्सा सुना था—माता-पिता के लाड़ प्यार का वंचित एक अबोध बालक एक दिन अपने आत्म-सम्मान को आँच लगते देख घर त्याग कर निकल पड़ा। भाग्य ने उस बालक की कठिन परीक्षा ली। कई प्रकार के कटु अनुभवों को सहता हुआ वह निरीह बालक अन्त में एक दिन 'श्री चिन्नस्वामी शास्त्री' नामक महान् विद्वान् के चरणों में जा पहुँचा। उसने उन्हें अपना गुरु मानकर उनके हाथों में अपना भविष्य सौंप दिया। उसी दिन कुछ कर दिखाने का, कुछ बन दिखाने का भी बीड़ा उठाया। आज उस कठिन तपस्या के फल से संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में कई उपाधियों से सुशोभित वह बालक और कोई नहीं, मेरे पिता हैं। गुरु के नाम से आज भी उनका कण्ठ गद्-गद् हो उठता है और उनका मस्तक कृतज्ञता से झुक जाता है।

अपने पिता को अधिकतर मैंने दो रूपों में पाया है। कभी दस पाँच विद्यार्थियों के बीच पढ़ाते हुए या फिर चारों तरफ पुस्तकों के बीच कुछ लिखते या पढ़ते हुए। अध्ययन और अध्यापन ही उनके जीवन का प्रथम लक्ष्य रहा है। हमारा घर ऐसा लगता मानों कोई छोटी मोटी पाठशाला हो।

उन्होंने सदा विद्यादान में कोई कसर नहीं छोड़ी। मुक्त कण्ठ हो विद्यादान किया जिसका सिलसिला आज तक चलता आ रहा है। विद्या सीखने आया हुआ व्यक्ति कभी खाली हाथ न लौटा। देश विदेशों में फैले उनके सैकड़ों विद्यार्थीगण इसके साक्षी हैं।

मुझे याद नहीं कभी मैंने अपने पिता की गोदी में खेला या हँसा हो, ऐसा भी नहीं याद है कि क्रोध में आकर उन्होंने भला बुरा कहा हो। हम सभी बच्चे उनके निकट शायद गये ही नहीं, लेकिन हमने यह सदा अनुभव किया है कि उनकी निगरानी हम पर सदा रही। हम बच्चों की खुशी का उन्हें सदा ध्यान रहा।

जीवन की इतनी लम्बी यात्रा तय करने के बाद आज जब उनको एक कर्मनिष्ठ, कर्तव्यपरायण, दयालु, शान्त और सफल पिता के रूप में देखती हूँ तो यह भी स्मरण हो आता है कि जीवन के प्रत्येक कदम पर माता का कितना बड़ा योगदान है जो प्रत्यक्ष न हो सका। कभी-कभी ऐसा भी लगता है क्या माता के बिना यह सब कुछ सम्भव हुआ होता? शायद इसी कारण पति पत्नि को एक-दूसरे का आधार बताया गया है। इस अपूर्व माता-पिता की जोड़ी में मैंने सदा ईश्वर के रूप का दर्शन किया है।

●

पूर्वमीमांसा : एक परिचयात्मक दृष्टि

डॉ० कपिलदेव पाण्डेय, प्राध्यापक, आर्यमहिलामहाविद्यालय, वाराणसी

नित्य विकासशील मानवीय अनुभवों की व्याख्या का प्रयास ही दर्शन है।[1] भारतीय षड्दर्शन इसके अपवाद नहीं हैं। वैदिक[2] और वैदिकेतर सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टिविन्दु से सत्य के क्षितिज को नापने का प्रयास किया है। पुरोदृश्यमान जगत् की व्याख्या सबका समान लक्ष्य होने पर भी सबके प्रमेय भिन्न हैं। फलतः प्रमाण एवं व्याख्या की पद्धति भी प्रतिप्रस्थान भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होती है। मीमांसादर्शन (पूर्वमीमांसा) अन्य आस्तिक भारतीय दर्शनों के समान वेदप्रामाण्यवादी होते हुए भी दर्शनपरम्परा में अपना एक विशिष्ट और सर्वतोव्यावर्तक महत्त्व रखता है। वैदिक वाक्यों का क्रमिक एवं शास्त्रसंगत व्याख्यान प्रधान उद्देश्य है।[3] किसी भी वाक्य, वह वैदिक हो या लौकिक, के साथ यह समस्या समान रूप से जुड़ी हुई है, कि किसी वाक्यविशेष का कौन सा तात्पर्य विवक्षित है और उस तात्पर्य के सन्दर्भविशेष में विवक्षित होने के कौन से निर्धारक नियम हैं? यह आधुनिक व्यवहार की भाषा की ही समस्या नहीं है, वरन् यह समस्या वैदिक भाषा को भी लेकर अतीत काल से चलती चली आ रही है। समय-समय पर जब भी अनियमितता या अव्यवस्था आई, उसके अपनयन के लिए अनुशासनपरक नियमों की रचना हुई। वैदिक वाक्यों से प्राप्त विभिन्न मतभेदयुक्त अर्थों में एक सामञ्जस्य स्थापित करने के लिये अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से वाक्यार्थ-सिद्धान्तों का प्रणयन किया।[4] महर्षि जैमिनि ने उन पूर्ववर्ती मतों का संग्रह किया और अपनी समन्वयात्मिका प्रतिभा से कुछ अपने निजी सिद्धान्तों को जोड़कर एक बृहदाकार सूत्रग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ बारह अध्यायों में विभक्त होने के कारण द्वादशलक्षणी नाम से प्रसिद्ध है। सूत्रग्रन्थ के इस प्रकार नामकरण करने की शैली शास्त्रान्तर में देखने को मिलती है। जैसे—महर्षिपाणिनिकृत 'अष्टाध्यायी'। द्वादशलक्षणी अपने में न्यूनाधिक दार्शनिकता का भी समावेश करने के कारण 'जैमिनीय मीमांसादर्शन' नाम से भी प्रचलित है। महर्षि जैमिनि ने इस ग्रन्थ में कतिपय पूर्ववर्ती ऋषियों के मतों को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करके सिद्धान्तभूत नियमों का भी उल्लेख और निरूपण किया है।

जिस प्रकार उत्तरमीमांसा (वेदान्त) का मुख्य प्रमेय 'मोक्ष' है, उसी प्रकार पूर्वमीमांसा (अथवा मीमांसा) का मुख्य प्रमेय[5] 'धर्म' है। धर्मरूप प्रमेय के प्रतिपादन में मीमांसा ने वेद को करण के रूप में माना

१. Philosophy is only an endeaver to interpret the widening experience of humanity.
—Indian Philosophy by Dr. S. Radhakrishnan vol. II P. 19.

२. वेदप्रामाण्यवादी या वेदमूलक।

३. It is such systematic interpretation of the teaching of the veda, that is the essential aim of the Mimamsa System.
— Outlines of Indian Philosophy by M. Hiriyanna. P. 179.

४. Mimamsa Worked out a system of principles of interpretation and interrelation of ihe various elements in the Veda.
—Mimamsa Uyaya prakasa. (Preface). Tr. by F. Edgerton.

५. धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥ श्लोकवार्तिक (प्रस्तावना)

है और धर्मविवेचनप्रसंग से वेद के वाक्यों के वास्तविक अर्थ के निर्धारक सिद्धान्तों का विवेचन किया है। इसीलिये जयन्तभट्ट ने मीमांसा को 'वेदवाक्यार्थविचारात्मिका' कहा है। यही कारण है कि मीमांसा का अपर नाम 'वाक्यशास्त्र' है। अन्य दर्शनों के ग्रन्थकारों ने वेद के विवादग्रस्त स्थलों पर जैमिनिप्रणीत सिद्धान्तों को उद्धृत किया है और उन्हें सादर मान्यता भी दी है।[१] यह तथ्य है कि मीमांसा में दार्शनिक विषयों की उपेक्षा की गई है और वाक् एवं अर्थ के सम्बन्ध पर अधिक विचार किया गया है। द्वादश-लक्षणी के केवल प्रथम अध्याय के प्रथम पाद (तर्कपाद) में ही प्रमाण का विवेचन किया गया है और वह भी धर्म के निरूपण के प्रसंग में निषेधमुख से केवल यह दिखाने के लिए कि 'धर्म' प्रत्यक्षादि लौकिकप्रमाण-ग्राह्य नहीं है।[२] वस्तुतः वाक्यार्थ-निर्णय में मीमांसा का सर्वाधिक उपयोग है। उदाहरण के लिए हम तीन वैदिक वाक्यों को ले सकते हैं—१. 'अग्निहोत्रं जुहोति।' २. 'दध्ना जुहोति।' और ३. 'उद्भिदा यजेत पशुकामः।' तीनों का आकार-प्रकार लगभग समान है। पदपदार्थविवेचनविवश वैयाकरण एवं प्रमाणप्रपञ्चप्रतिपादनपराधीन नैयायिक इनके उत्पत्तिविधित्व, गुणविधित्व या नामधेयत्व आदि के विश्लेषण और मूल के साथ सन्दर्भसंगति के विषय में उपेक्षावान् दीखते हैं और यहीं आवश्यकता पड़ती है—मीमांसा की।

विशेष अवधेय यह भी है कि मीमांसकों ने वाक्यार्थ-निर्धारण में लोकप्रतीति को विशेष महत्त्व दिया है। उनका कथन है कि शब्द-साधुत्व में हम प्रयोग को आधार मानते हैं, उसके अर्थ-निर्धारण में हमारा कोई वश नहीं है।[४] लोकव्यवहार ही शब्दार्थावधारण और वाक्यार्थावधारण में समर्थ है। यही कारण है कि मीमांसक वैयाकरणों के द्वारा निर्मित वाच्य-वाचक-निर्धारक नियमों का उपहास करते हैं।[५] मीमांसा का अर्थसम्बन्धी यह मनोवैज्ञानिक परीक्षण आधुनिक अर्थ विज्ञान (Semantics) और वाक्यानुशासन (Syntax) के लिये बड़ा उपयोगी है। मीमांसा में आधुनिक भाषा-विज्ञान के लिए उपयोगी असंख्य सिद्धान्त भरे पड़े हैं।[६] मीमांसा के सर्वप्रमुख स्वरूप की समीक्षा करने से ज्ञात होता है कि यह दर्शन होते हुए भी व्याकरणशास्त्र का आवश्यक पूरक है और परम्परा मनोविज्ञान एवं भाषाविज्ञान के लिये भी बहुत अधिक सहायक है। जैमिनि एवं उनके परवर्ती मीमांसकों के द्वारा प्रतिपादित व्याख्या के सिद्धान्त वैदिक वाक्यों से अतिरिक्त वाक्यों (Sentences of the common parlance) में भी उपयोगी हैं। हम आज उन्हें अपने उपयोग में नहीं ला पाते, इसका मुख्य कारण यह है कि मीमांसकों ने अपने वाक्यार्थ-सम्बन्धी न्यायों को समझाने के लिये यज्ञीय अनुष्ठान से सम्बन्धित वाक्यों को ही उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। ये वाक्य उनके समय में निःसन्देह अतिप्रचलित थे, जिससे तत्कालीन बोद्धा को कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती थी।

---

१. 'पदवाक्यप्रमाणज्ञेनाचार्येण....' —शांकरभाष्य, ब्र० सू० १।१।५।

२. Purva Mimamsa in its sources. —Dr. Ganga Natha Jha.

३ The system involves a great deal of discussion velating to social or folk psychology.
—Outlines of Indian Philosophy by M. Hiriyanna. P. 298

४. 'शब्दसाधुत्वे हि प्रयोगपरवशा वयम् न स्वयमीदमहे।' शास्त्रदीपिका पृ० १२२।
'यथालोकं च शब्दार्थावधारणम् न यथेच्छम्।' शास्त्रदीपिका पृ० १२७।

५. 'वाच्यवाचकभावो हि नाचार्येरुपदिश्यते।' तन्त्रवार्तिक ३।४।४ अधिकरण।

६. 'Some Linguistic Notes on the Mimamsa System' by F. Edgorton, publishad in 'Language' 4, 171–177.

सम्प्रति याग एवं यागप्रतिपादक वैदिक साहित्य का प्रचलन—पठन-पाठन—समाप्तप्राय हो जाने के कारण उन नियमों के अवगम एवं विनियोग में अत्यधिक कठिनाई होती है। यह उल्लेख है कि मीमांसा में प्रायः ब्राह्मण-वाक्यों के ही उदाहरण मिलते हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध कर्मानुष्ठान से है। इसीसे 'मीमांसा' को 'कर्ममीमांसा' भी कहते हैं।

मीमांसा-शास्त्र का प्रथम प्रवर्तक-ग्रन्थ जैमिनिप्रणीत मीसांसासूत्र है, जिसकी अभी चर्चा की गई है। इसमें १२ अध्याय (संकर्षणकाण्ड के चार अध्यायों को जोड़कर १६ अध्याय) कुल ६० पाद और २७४५ सूत्र हैं। ये सभी सूत्र एक हजार अधिकरणों में विभक्त हैं।[1] इसका काल अन्य सूत्रग्रन्थों की भाँति अनिश्चित है। कुछ विद्वानों ने २०० ई० पू० निर्धारित किया है।[2] इस पर उपवर्ष और बोधायन की वृत्तियों का उल्लेख मिलता है, जो आज उपलभ्य नहीं हैं। शबरस्वामी ने (४०० ई०)[3] मीमांसा-सूत्र पर एक विस्तृत भाष्य लिखा, जो शाबर भाष्य के नाम से प्रसिद्ध है। शाबर भाष्य पर परवर्ती काल में विभिन्न टीकायें लिखी गई, जिससे मीमांसा के तीन सम्प्रदाय हो गये—

१—भाट्ट सम्प्रदाय—इसके प्रथम प्रवर्तक कुमारिल भट्ट हुए (७०० ई०)। इन्होंने प्रथम अध्याय के प्रथमपाद (तर्कपाद) पर विशालकाय 'श्लोकवार्तिक' लिखा, जो श्लोकमय है। इनका दूसरा ग्रन्थ प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद से तृतीयाध्याय तक गद्यपद्यमय तन्त्रवार्तिक है। अवशिष्ट शाबरभाष्य पर उन्होंने संक्षिप्त टिप्पणी लिखी, जिसका नाम 'टुप्टीका' है। कुमारिलभट्ट के इन ग्रन्थों पर टीका, व्याख्यान और स्वतन्त्र प्रकरण ग्रन्थ लिखकर उनके शिष्यों एवं मतानुयायियों ने इस सम्प्रदाय को समृद्ध किया।

२—गुरुमत—गुरुमत का प्रवर्तन प्रभाकर ने (६५० ई०) शाबर-भाष्य पर 'बृहती' टीका लिखकर किया। प्रभाकर और कुमारिलभट्ट के पौर्वापर्य का विषय विवाद-ग्रस्त है। प्रभाकर के अनुयायियों ने भी प्रभाकर मत का पर्याप्त परिबृंहण किया है।

३—मुरारिमत—मुरारिमत के प्रवर्तक मुरारि मिश्र के नाम का, गंगेश तथा वर्धमान ने अपने ग्रन्थों में उल्लेख किया है, किन्तु ये अत्यन्त अल्प-ज्ञात आचार्य हैं। दो पुस्तकें—त्रिपादनीतिनयन तथा एकादशाध्यायाधिकरण—इनके नाम से मिली हैं। सम्भवतः इनका समय १२ वीं शताब्दी में हो। इनके नाम पर एक लोकोक्ति प्रचलित है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः।'

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मीमांसाशास्त्र (पूर्वमीमांसा) एक अतिविशाल वटवृक्ष के समान है। महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्रों से वाक्यार्थबोध-सम्बन्धी सिद्धान्तों का बीज के रूप में वपन किया। शबरस्वामी ने अपनी अनोखी व्याख्याप्रतिभा से यत्र तत्र विकीर्ण बीजों को अपने भाष्यामृत से सींचकर अंकुरित किया। कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक और टुप्टीका के प्रणयन द्वारा विपक्षपक्षाच्छादित इस वृक्ष को पल्लवित एवं प्रौढ़ शाखाओं से संयुक्त कर स्वच्छन्द नभोमण्डल में लहराने की क्षमता प्रदान की। शनैः शनैः समेधमान इस मीमांसातरु को पुष्पित और फलित कराने का श्रेय पार्थसारथिमिश्र, सोमेश्वर भट्ट प्रभृति मीमांसकों को प्राप्त हुआ। परवर्ती प्रकरण ग्रन्थकार मीमांसकों ने अपने प्रकरण ग्रन्थों से और लघुनिबन्धों से इस उत्तुङ्ग पादप के फल का आस्वादन सर्वजन सुलभ कराया। इन्हीं दयालु मीमांसकों की पंक्ति में परमपूज्य पं० चिन्न स्वामी एवं पं० पट्टाभिरामशास्त्री जी का नाम समादर एवं कृतज्ञापूर्वक लिया जाता है।

---

१. जै० न्या० मा० विस्तर (भूमिका) पृ० १५। २. Karma-Mimamsa by Aof. kaith, p. 2.
३. Outlines of Indian Philasophy by M. Hiriyanna, p. 304.

भारतीय संस्कृति में ज्ञान और कर्म का संबंध

प्रो० राजाराम शास्त्री भू० पू० कुलपति, काशीविद्यापीठ, वाराणसी

मोटे तौर पर किसी समाज की संस्कृति उसके ज्ञान तथा कर्म की परम्परा को कहते हैं। किन्तु वस्तुतः ज्ञान का समावेश कर्म में ही हो जाता है। यह कैसे होता है, यही हमें भारतीय संस्कृति में देखना है। भारतीय संस्कृति के मूल प्रतिपादक ग्रन्थ वेद हैं और कर्ममीमांसा दर्शन वेदों की मीमांसा है। अतः वही भारतीय संस्कृति की मीमांसा है। अतः हमें अपने विषय के लिए उसी का आधार लेना होगा।

वेदों में भारतीय समाज के परम्परित व्यवहार या कर्म का प्रतिपादन है, इसी से उनकी मीमांसा कर्म मीमांसा है। विद्वानों से यह छिपा नहीं है कि कर्ममीमांसा के आदिम रूप में कर्मों का प्रतिपादन उनके अनुभूत फलों के आधार पर ही होता था। किन्तु पीछे जब उन कर्मों की एक परम्परा बन गई और वे अभ्यास सिद्ध हो गये तब उनके फलों का निरन्तर सन्मुख रखना अनावश्यक हो गया और इस कारण उनके हेतु रूप फलों को समाज ने विस्मृति के गर्भ में डाल दिया। ऐसी स्थिति में कर्मों का प्रतिपादन अनुभूत फ़लों से विमुक्त हो गया। कर्मों में स्वतः प्रेरणा आ गई और विधियों का स्वतः प्रामाण्य हो गया। उन्हें और किसी प्रमाण की आवश्यकता न रही। इसी कारण प्रत्यक्ष अनुमानादि के अतिरिक्त आप्त वाक्य से भी वेद का प्रमाण्य अलग माना गया क्योंकि आप्त वाक्य भी अन्ततोगत्वा किसी न किसी व्यक्ति के सहेतुक सफल अनुभव पर आश्रित होता है और उस व्यक्ति द्वारा प्रतिपादित होता है। वेद का विषय सामाजिक कर्म था जिसकी सफलता व्यक्तिगत अनुभव के क्षेत्र के बाहर की वस्तु है। इसी अर्थ में कोई व्यक्ति उसका प्रतिपादक नहीं कहा जा सकता। यह तो समाज के अनेक अनुभवों के घात-प्रतिघात के फलस्वरूप अनेकों की इच्छाओं की टक्कर से प्रसूत (फिर भी या इसीलिए) सभी इच्छाओं से स्वतन्त्र सामाजिक परिणाम के सामाजिक अनुभव से सिद्ध होता है। हर व्यक्ति के कर्म का जो सामाजिक परिणाम होता है वह सीधे उसके कर्म से प्रसूत फल से सर्वथा मेल नहीं खाता, बल्कि कभी तो उससे सर्वथा विपरीत होता है। यह फल हर व्यक्ति को अपने कर्म के फलस्वरूप अपने अन्दर से नहीं बल्कि बाहर से आता हुआ प्रतीत होता है। जब तक वह समाज के अनेक अवयवों के घात-प्रतिघात के नियमों का तारतम्य और उनके सामुदायिक वर्तन की प्रणाली न समझ ले तब तक सामाजिक कर्मों के फल व्यक्ति के लिए अदृष्ट और अपूर्व ही रहते हैं। फिर कोई व्यक्ति उनके लिए कैसे प्रमाण हो सकता है और उनका प्रतिपादक कैसे कहा जा सकता है। वह तो उन कर्मों का संग्रहकर्ता मात्र कहा जा सकता है। किसी व्यक्ति को किसी कर्म का आविष्कारक अथवा प्रमाण तब माना जाता है जब वह अपने अनुभव से किसी कर्म के स्वाभाविक फल को देखे और इस अनुभव के आधार पर उस फल की कामना करने वाले दूसरे लोगों के लिए उस कर्म का प्रतिपादन करे, जिससे दूसरे भी अपने अनुभव से उसकी बात की परीक्षा कर सकें, जैसे किसी वैद्य ने किसी औषधि के प्रयोग का फल देख कर उसका प्रतिपादन किया तथा अन्य लोगों ने भी उसके प्रयोग द्वारा वही फल प्राप्त किया, तब उस वैद्य को उसके लिए आप्त प्रमाण और उसका आविष्कर्ता माना जायेगा। किन्तु सामाजिक कर्म के फल का अनुभव इस प्रकार व्यक्तिगत रूप में नहीं होता। ये सारे समाज के समष्टिगत अनुभव पर आश्रित होते हैं। इसलिए कोई व्यक्ति उसके लिये आप्त प्रमाण या उसका आविष्कर्ता नहीं माना जा सकता। वेदों को अपौरुषेय और ऋषियों को केवल अध्येता मानने का यही कारण है और इसीलिए व्यक्तिगत अनुभव-सिद्ध कर्म वैदिक विधियों के क्षेत्र से सर्वथा निकाल दिये गये हैं। और इन अदृष्ट फलों वाले सामाजिक कर्मों का प्रत्यक्षादि व्यक्तिगत अनुभवमूलक प्रमाणों से सर्वथा स्वतन्त्र स्वतः प्रामाण्य माना गया। अर्थात् सामाजिक कर्मों का प्रत्यक्षादि व्यक्तिगत अनुभव मूलक

प्रमाणों से सर्वथा स्वतन्त्र स्वतः प्रामाण्य माना गया। अर्थात् सामाजिक कर्मों का आविष्कार बोधपूर्वक अथवा अबोधपूर्वक सामाजिक शक्तियों के घात-प्रतिघात के सामाजिक अनुभव से हुआ और इन शक्तियों के व्यापार नियमों के पूर्ण ज्ञान के अभाव में, हम प्रत्यक्षादि प्रमाणों के आधार पर व्यक्तिगत रूप में फलप्राप्ति न देखकर इन सामाजिक कर्मों का तब तक तिरस्कार नहीं कर सकते। जब तक ये प्रत्यक्ष रूप से कुफल न उत्पन्न करने लगे। क्योंकि इनका आरम्भ ही यह बताता है कि प्रत्यक्ष फल न होने पर भी इनका कुछ-न-कुछ अप्रत्यक्ष फल तो होता ही है। हाँ, यदि प्रत्यक्ष रूप से ये कुफल उत्पन्न करने लगे तब अवश्य इनका तिरस्कार किया जाना चाहिए, क्योंकि सामाजिक व्यवस्था कोई व्यक्तिगत प्रयोगों की वस्तु नहीं है। व्यक्तिगत प्रयोगों के लिए सारे समाज को खतरे में नहीं डाला जा सकता। समाज की गत अर्थात् इतिहास तो निरीक्षण की चीज है। इतिहास ही बतायेगा कि कौन सा कर्म किस समय अनुपयोगी हो गया। और जब ऐसा हो जाय तब उन्नतिशील समाज में उसका तिरस्कार होना ही चाहिए। "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" इस सिद्धान्त के अनुसार भारतीय समाज में पीछे बहुत से वैदिक विधान का त्याग कर दिया गया। सारांश यह कि सामाजिक कर्म की सार्थकता-असार्थकता में समाज की गति ही प्रमाण है, यदि इस कर्म समुदाय से समाज सुरक्षित और अबाध रूप से उन्नतिशील है तो वह उपादेय है, और यदि समाज की उन्नति में बाधक होता है तब वह हेय है। 'यही है सामाजिक कर्म के स्वतः प्रामाण्य का सिद्धान्त। इस प्रकार कर्म आपाततः फल विधान से स्वतंत्र हो जाते हैं और उनका ज्ञान तथा प्रतिपादन मूलतः सत्यात्मक न होकर विध्यात्मक ही रह जाता है। अमुक कर्म का अमुक फल होता है, इसके स्थान में अमुक कर्म करो या करना चाहिए—इस प्रकार हो जाता है। अमुक कर्म इसलिए न करना चाहिए कि उससे कोई ज्ञात फल होना सिद्ध है, बल्कि वह स्वयं सिद्ध है, अन्तः प्रज्ञा अथवा सामाजिक भावना प्रसूत प्रेरणा से ही वह सिद्ध होता है और इस भावना को सामाजिक अनुभव अथवा संस्कार की निधि वेदों से ही जाना जा सकता है। चूंकि वे शब्दों में सामाजिक भावना को ही व्यक्त करते हैं, इसलिए उनमें इस भावना के अर्थ अर्थात् सामाजिक कर्म को सिद्ध करने की स्वाभाविक शक्ति है। इन शब्दों और इन अर्थों का निसर्गतः नित्य सम्बन्ध है। अतः इन अर्थों में शब्द ही प्रमाण है। प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण वस्तुस्थिति प्रतिपादक होते हैं, कर्म प्रेरक नहीं। वे किसी स्थित वस्तु की 'सत्ता को सिद्ध करते हैं, कर्म की सिद्धि नहीं, क्योंकि कर्म कोई स्थित वस्तु नहीं है जिसका ग्रहण मात्र करना हो। कर्म तो भावना द्वारा उत्पन्न किये जाते हैं। यहाँ केवल चिद् का नहीं, सत् का प्रश्न है। प्रत्यक्षादि प्रमाण केवल ग्रहणात्मक और निष्क्रिय हैं। शब्द प्रमाण ही रचनात्मक और सक्रिय हैं। इस अर्थ में शब्द प्रमाण का सत्यात्मक ज्ञान के सम्पादन-प्रतिपादन में प्रयोग नहीं किया जा सकता। वह केवल कर्मपरक विधानात्मक ही हो सकता है। इसलिए "अम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" का सिद्धान्त है। भले ही वेदों में सत्यात्मक वाक्य और शब्द भी आयें किन्तु उनका वेदत्व इनमें नहीं है, ये वाक्य कर्म प्रेरणा के सहायक रूप से ही ग्रहण किये जा सकते हैं। इनका सत्यत्व वहाँ अपेक्षित नहीं है, प्रेरकत्व ही अभीष्ट है। (सत्य से वे सर्वथा विपरीत भी हो सकते हैं। यहाँ पर सत्यम् और शिवम् का स्पष्ट पार्थक्य हो जाता है। किन्तु प्रेरकत्व तो उनमें होना ही चाहिए।) यदि वे विधियों में निहित कर्म की प्रेरणाओं से नहीं जोड़े जा सकते तो वे श्रुति नहीं हो सकते, क्योंकि वे व्यर्थ हैं। सत्यात्मक ज्ञान की स्वतंत्रता से इनकार नहीं किया गया है, किन्तु कर्म के मामले में सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान में ऐसे ज्ञान को स्वीकृति नहीं मिल सकती जो केवल व्याख्या करे, विधान नहीं, जो केवल विवेचनात्मक हो रचनात्मक नहीं, जो समाज निर्माण की चेष्टा उत्पन्न न करे, जो सक्रिय अर्थात् कर्मपरक, क्रियार्थक, क्रिया के लिए, क्रिया की ओर ले जानेवाला, क्रिया का सहायक न हो, जिसका प्रयोजन, जिसकी सार्थकता, जिसका प्रयोग, क्रिया में न हो सके। इस क्षेत्र

में तो सब ज्ञान कर्म के लिए है। कर्म में ही उसकी परिसमाप्ति है, और कर्म ही के द्वारा उसकी प्रामाणिकता है। सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों का यही स्वरूप होता है कि अमुक कर्म से अमुक इष्ट की सिद्धि होती है। यह इष्ट कोई वर्तमान सिद्ध वस्तु नहीं है, जिससे प्रत्याक्षादि द्वारा इसकी प्रमा हो सके। इसकी प्रमा तो इसके लिए कर्म करने से ही हो सकती है। सिद्धान्त यदि व्यवहार में इष्टदाता हुआ तो सही है, नहीं तो गलत। इस प्रकार सिद्धान्त व्यवहार का पूर्वरूप है और व्यवहार सिद्धान्त को कसौटी और उसका प्रेरक हेतु या निमित्त सिद्धान्त और व्यवहार दोनों एक शृंखला की कड़ियाँ बनकर वस्तुस्थिति का निर्माण या उसमें परिवर्तन करते हैं और परिवर्तित वस्तुस्थिति फिर नये पूर्णतर सिद्धान्त तथा व्यवहार के लिए आधार बनती है। अथवा यों कहिये कि सिद्धान्त और व्यवहार को शुद्ध और परिमार्जित करती है। इस प्रकार एक ओर सिद्धान्त और व्यवहार तथा दूसरी ओर वस्तुस्थिति, एक ओर पुरुष दूसरी ओर प्रकृति, एक ओर ज्ञाता और कर्ता दूसरी ओर ज्ञेय और कर्म, एक ओर सत्य दूसरी ओर शिव, दोनों पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया के द्वारा परिवर्तित और विकसित होते हैं। जीवन के ऐतिहासिक विकास की यही द्वन्द्वात्मक गति है। किन्तु क्या यह बात सामाजिक व्यवहार के प्रतिपादक ज्ञान या सामाजिक कर्म के सिद्धान्तों पर ही लागू होती है। क्या सत्यात्मक ज्ञान प्रत्यक्षादि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी सचमुच क्रिया से स्वतंत्र है। क्या सामाजिक व्यवहार का प्रतिपादक ज्ञान ही नहीं, वरन् सभी ज्ञान कर्म ही के लिए नहीं है और ज्ञान मात्र की परिसमाप्ति कर्म ही में और उसकी प्रामाणिकता कर्म ही के द्वारा नहीं है।

कर्म-मीमांसा में ज्ञान और ज्ञेय अपनी "उत्पत्ति" और "ज्ञप्ति" दोनों में—

कर्म मीमांसा में ज्ञान स्वतः प्रमाण है। (पार्थसारथि मिश्र की शास्त्र दीपिका-युक्ति स्नेह प्रपूरणी सहित–निर्णयसागर प्रेस–पृ० १९-२३ और शालिकनाथ की प्रकरण पंचिका, चौखम्भा माला, अध्याय ४, पृ० ४८-५०) जिन कारणों से ज्ञान की उत्पत्ति होती है वही उसे प्रमाणित भी करते हैं। इसी प्रकार जब ज्ञान होता है तभी वह प्रमाण भी होता है और उसको प्रमाणित करने के लिए किसी दूसरे साधन की आवश्यकता नहीं है। सभी ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है, जब तक कि कोई विशेष ज्ञान अप्रमाणिक न सिद्ध हो जाय। हम सदा यही मानकर चलते हैं कि ज्ञान सत् है किन्तु यदि उसका कोई अंश मिथ्यासिद्ध होता है तो उसकी अप्रमाणिकता का कारण हम ज्ञान से बाहर अन्य अवस्थाओं में ढूढते हैं, जिन्होंने ज्ञान की स्वच्छन्द सिद्धि में बाधा डाली होगी। ज्ञान की अप्रमाणिकता का कारण ज्ञान के साधन में किसी दोष का होना है, जिसे "कारण दोष" कहते हैं। जैसे यदि कोई मनुष्य एक वस्तु विशेष को देखकर "रजत" समझता है किन्तु पीछे वह देखता है कि वह "शुक्ति" है, या इसी प्रकार पहले सर्प समझी हुई वस्तु को नजदीक जाने पर रस्सी देखता है, तो उसका पहला ज्ञान मिथ्या सिद्ध हो जाता है। यह मिथ्यात्व पश्चाद्वर्ती ज्ञान-बाधक प्रत्यय को प्रतिकूलता से ज्ञात होता है। मिथ्या ज्ञान या ज्ञान के अप्रामाण्य के संबंध में मीमांसा का मत न्याय वैशेषिक के मत के अनुकूल है किन्तु ज्ञान की प्रामाणिकता के संबंध में दोनों का मतभेद है, जिसका मुख्य कारण न्यायवैशेषिक में प्रतिपादित सद्ज्ञान या प्रमा का स्वरूप और उसे प्रमाणित करने का प्रकार है। न्याय वैशेषिक में "प्रमा" की परिभाषा "वस्तु" की अनुकूलता बताई गई है। किन्तु उसकी जो कसौटी बताई गई है, उससे इस बात का निश्चय नहीं होता कि ज्ञान वस्तु के अनुरूप है या नहीं। अतः प्रकारान्तर से संवादि-प्रवृत्ति द्वारा परीक्षा करने की एक विधि बताई जाती है। "संवादि-प्रवृत्ति" का अर्थ है सफल क्रिया। इस प्रकार एक दूसरा अनुभव या ज्ञान ही कसौटी का काम देता है। जैसे—किसी वस्तु के पानी होने के ज्ञान की कसौटी यह दूसरा ज्ञान होगा कि उससे प्यास बुझती है। किन्तु यदि पहले ज्ञान को यह दूसरा ज्ञान प्रमाणित करता है, तो दूसरे ज्ञान को भी उसी प्रकार प्रमाणित करने के लिए एक तीसरा ज्ञान चाहिए।

इस प्रकार अनवस्था दोष हो जाएगा और यदि यह भी मान लिया जाय कि दूसरे ज्ञान को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है, तो भी वह ज्ञान से बाहर तदनुरूप किसी वस्तु की सत्ता को सिद्ध नहीं करता। कोई व्यक्ति पानी का स्वप्न देख सकता है और स्वप्न में ही उसे पीकर अपनी प्यास बुझा सकता है। यहाँ पर संवादि प्रवृत्ति अर्थात् सफल क्रिया तो है किन्तु ज्ञानानुरूप कोई "वस्तु" नहीं है। इस कसौटी से तो केवल दो अनुभवों की अनुकूलता मालूम होती है और इस कसौटी को पर्याप्त मान लेने से सद्वाद का आधार ही जाता रहता है, क्योंकि "वस्तु" की अनुकूलता अप्रमाणित ही रह जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि न्याय वैशेषिक "सद्वाद" से आरंभ तो करते हैं, किन्तु सदसद् ज्ञान की समस्या के हल में उसका निर्वाह नहीं कर पाते और उसका दार्शनिक आधार ही खो देते हैं। वास्तव में "सद्वाद" और ज्ञान के परतः प्रामाण्य का का सिद्धान्त ये दोनों एक साथ नहीं रह सकते। इसी कारण मीमांसा दर्शन अपने सद्वाद के अनुकूल स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, और सर्वज्ञान को प्रमाण मान लेने से उसे किसी और साधन से जाँचने की आवश्यकता सामान्यतः उसे नहीं होती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ज्ञान का मीमांसा सिद्धान्त सद्वादी है और कोई ज्ञान ऐसा नहीं होता जो अपने से बाहर किसी अनुरूप वस्तु को नहीं दिखलाता। किन्तु यहाँ सभी ज्ञान स्वतः प्रामाण्य के सिद्धान्तानुसार सद् माना जाता है और उसकी जाँच तभी आवश्यक होती है जब उसके प्रामाण्य में कोई संशय उत्पन्न हो। वस्तुतः प्रभाकर यह स्वीकार नहीं करते कि ज्ञान कभी भी अपने आप में गलत हो सकता है। फिर प्रश्न यह होता है कि मिथ्या ज्ञान क्या है और वह कैसे उत्पन्न होता है। मिथ्या ज्ञान की व्याख्या शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से नहीं हो सकती। ज्ञान को स्वरूपतः व्यवहार का साधन मानकर ही मिथ्या ज्ञान की व्याख्या की जा सकती है। प्रभाकर के अनुसार सर्वज्ञान क्रिया का प्रेरक है (प्रकरण पंचिका, पृ० सं० ९०–९४) इस नयी व्यावहारिक उपयोगिता की कसौटी पर सद् ज्ञान मिथ्या ज्ञान से सर्वथा पृथक हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि ज्ञान स्वरूपतः तो कभी धोखा नहीं दे सकता किन्तु वह ऐसा हो सकता है कि उससे 'काम चले' या 'काम न चले।' पहली हालत में वह सद्ज्ञान या प्रमा है, दूसरी हालत में असद्ज्ञान या अप्रमा। अप्रमा भी ज्ञानत्वेन तो उतना ही मूल्य रखती है जितना कि प्रमा किन्तु उसमें व्यावहारिक मूल्य नहीं है और उसे 'अप्रमा' कहने का यही आशय होता है कि उसका उपयोग होने का दावा मिथ्या सिद्ध होता है (प्रकरण पंचिका)। तदनुसार उसके संशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थान पर प्रमा का उदय होता है तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता किन्तु उससे प्रेरित कर्म का त्याग मात्र होता है। (और अप्रमा के कारण जिस कर्म का त्याग हुआ है, प्रमा उसे प्रेरित करती है) सारांश यह कि ज्ञान के मिथ्यात्व के बोध का या निराकरण का प्रभाव चेतना के क्रियापक्ष पर देखा जाता है न कि ज्ञानपक्ष पर। किन्तु यहाँ पर कुमारिल प्रभाकर के मत में संशोधन उपस्थित करते हैं। उनके अनुसार भी प्रमा अप्रमा द्वारा प्रेरित कर्म को बाधित करती है, किन्तु यह उसका तात्कालिक फल नहीं है। उसका तात्कालिक फल तो वस्तु या विषय के सम्बन्ध में हमारे ज्ञान का संशोधन है। तब इस संशोधित ज्ञान का ही प्रभाव हमारी क्रिया पर भी पड़ता है।

कुमारिल के इस संशोधन के प्रकाश में प्रभाकर द्वारा निर्णीत ज्ञान और क्रिया के सम्बन्ध में भी कुछ संशोधन आवश्यक हो जाता है और उसी संशोधन से दोनों का समन्वय हो जाता है। वास्तव में ज्ञान क्रिया का साधन मात्र नहीं, उसका एक अंश ही है। यह क्रिया से भिन्न स्वरूपतः सिद्ध वस्तु नहीं है। उसकी क्रिया से पृथक स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। वह अपने स्वरूप को सिद्ध करने के लिए भी क्रिया की अपेक्षा रखता है। वह क्रिया के अंश रूप से ही समझा जा सकता है। वह क्रिया से व्यावृत्त कोई स्थिर वस्तु नहीं, क्रिया का ही आरम्भ है। ज्ञान से क्रिया तक एक ही अनवरत शृङ्खला है और यह शृङ्खला चक्रवत् है। ज्ञान से

क्रिया और क्रिया से फिर ज्ञान इस प्रकार एक वृत्त बनता है। किन्तु यह वृत्त ज्ञाता अथवा कर्ता (व्यक्ति या चेतना) में ही पूर्ण नहीं होता। बाह्य वस्तु भी इसका अविच्छेद्य अंग है। विषयी विषय से अपना सम्बन्ध ज्ञान और क्रिया द्वारा जोड़ता है। क्रिया द्वारा वह विषय को परिवर्तित करता है और ज्ञान द्वारा उसे समझता है। इस प्रकार किसी वस्तु का प्राथमिक ज्ञान विकसित होकर उस वस्तु को बदलने की चेष्टा (क्रिया) के रूप में व्यक्त होता है। इस क्रिया का जो प्रभाव वस्तु पर पड़ता है, उसका अर्थात् क्रिया द्वारा परिवर्तित वस्तु का फिर परिवर्तित ज्ञान होता है और फिर वह परिवर्तित ज्ञान परिवर्तित क्रिया के रूप में व्यक्त होता है। इस प्रकार यह अनन्त विकास चक्र चलता रहता है। जिसमें वस्तु का ज्ञान भी पूर्णतर और शुद्धतर होता जाता है और तदनुसार क्रिया भी। दूसरी ओर इसके फलस्वरूप वस्तु का भी विकास होता जाता है। एक शब्द में विषयी और विषय दोनों विकसित होते जाते हैं। विषयी विषय को विकसित करने की चेष्टा (क्रिया) में अपना भी विकास करता जाता है। इस प्रकार ज्ञान वस्तु का प्रामाणिक प्रकाशक है या नहीं, यह प्रश्न कोरा सैद्धान्तिक नहीं वरन् व्यावहारिक है।

कोई ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं, यह प्रश्न ही निरर्थक है, जबकि हम ज्ञान की उत्पत्ति के क्षण में उसे अप्रमाणिक मान ही नहीं सकते। यदि मान लें तो फिर उसे अप्रमाणिक सिद्ध ही नहीं किया जा सकता। अतएव उसे प्रामाणिक मानकर ही चला जा सकता है, फिर चाहे वह अप्रामाणिक ही सिद्ध हो। वह ज्ञान रूप में ही अप्रामाणिक भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसके लिए उसे प्रमाणिक मानकर व्यवहार करना आवश्यक है। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि कोई ज्ञान प्रामाणिक है या नहीं बल्कि यह है कि किस प्रकार उसकी प्रामाणिकता में सन्देह उत्पन्न होता है और सन्देह उत्पन्न होने पर किस प्रकार उसकी सिद्धि या असिद्धि हो सकती है अर्थात् प्रश्न सैद्धान्तिक न रहकर व्यावहारिक हो जाता है। दूसरे शब्दों में प्रश्न 'अस्ति-नास्ति का नहीं रह जाता, बल्कि ज्ञान को लेकर क्या किया जाय, किस प्रकार चला जाय, यह हो जाता है अर्थात् उसकी उपयोगिता का हो जाता है। क्योंकि शुद्ध सैद्धान्तिक रीति से यह हल ही नहीं किया जा सकता और उस रूप में उसे रख देने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तो फिर प्रश्न का रूप यह हो जाता है कि ज्ञान का क्रिया के रूप में विकास किन मंजिलों से होता है और किस प्रकार वह क्रिया के द्वारा विकसित होता हुआ पूर्णतर होता जाता है।

इस दृष्टि से अप्रमा ज्ञानत्वेन भी उतना ही मूल्य नहीं रखती जितना कि प्रमा और उसके संशोधन के बाद जब अप्रमा के स्थान पर प्रमा का उदय होता है तो उसके ज्ञान रूप में कोई परिवर्तन नहीं होता और ज्ञान के मिथ्यात्व कें बोध या निराकरण का प्रभाव चेतना के ज्ञान पक्ष पर नहीं देखा जाता, ऐसी बात नहीं है। ऐसी स्वतोव्याहत बात ज्ञान को क्रिया से सर्वथा पृथक एक स्वतन्त्र स्थिर, निष्क्रिय और अविकासी वस्तु मानकर ही कहनी पड़ती थी। ज्ञान की सक्रिय और विकासी कल्पना के लिए यद्यपि अप्रमा स्वरूपतः सर्वथा मूल्य रहित नहीं है, किन्तु मूल्य मात्रा में प्रमा उससे बड़ी हुई है। इस दृष्टि से अप्रमा और प्रमा सर्वथा विरुद्ध वस्तुएँ ही नहीं हैं, उनमें ऐक्य भी है। अप्रमा का एक अल्पांश ही है। असत्य वास्तव में अर्द्ध सत्य है, सत्य की एक मात्रा का नाम है जो सदा विकसित होती रहती है। यह सदसद् ज्ञान की समस्या का द्वन्द्वात्मक समन्वय है। इस दृष्टिकोण से सत्यात्मक ज्ञान और कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त में भी पार्थक्य नहीं रहता। बीज रूप से सत्यात्मक ज्ञान भी कर्म प्रतिपादक ही है। कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त सत्यात्मक ज्ञान की ही एक विकसित मंजिल है, जो सत्यात्मक ज्ञान और क्रिया के मध्य में पड़ती है। इस प्रकार पूरी शृंखला चार कड़ियों में विभक्त हो जाती है। सत्यात्मक ज्ञान, कर्म प्रतिपादक सिद्धान्त, कर्म और वस्तु।

कालिदास की कृतियों में गायन-कला

डॉ० सुषमा कुलश्रेष्ठ
वरिष्ठ प्राध्यापिका, संस्कृतविभाग दौलतराममहाविद्यालय, दिल्ली

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव ॥

महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में उनका विविध शास्त्र-विषयक पाण्डित्य परिलक्षित होता है। व्याकरण, दर्शन, आयुर्वेद, वनस्पति-शास्त्र तथा संगीत आदि ललित कलाओं में कवि परम निष्णात थे। 'गीतं वाद्यञ्च नृत्यञ्च त्रयं संगीतमुच्यते।' संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन तथा नृत्य, तीनों को परिगणित किया जाता है। संगीत की इन तीनों विधाओं से कालिदास भली-भाँति परिचित थे। गायन, वादन तथा नृत्य, तीनों के अनेक उल्लेख कालिदास की कृतियों में प्राप्त होते हैं। प्रस्तुत लेख में कालिदास की रचनाओं में उपलब्ध गायन-सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर कालिदास के गायन कला-विषयक ज्ञान के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है।

गायन में गेय किसी पद्य को स्वरबद्ध करके गाया जाता है। 'मेघदूत' में यक्ष मेघ से कहता है— 'मेरी वह प्रिया इस वियोग-काल में धूसरित वस्त्र पहने, गोद में वीणा रखकर मेरे नाम से युक्त रचित गीत को गाने जा रही होगी। उस बीच मेरी स्मृति आने से उसकी आँखों से झर-झर आँसू गिरेंगे, वीणा के तार भीग जायेंगे, तब वह एक ओर उनको पोंछकर जैसे ही बजाना चाहेगी कि दूसरी ओर स्वयं ही आरम्भ किये हुये स्वरों के क्रम को बार-बार भूल जाती होगी'—

उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा।
तंत्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथञ्चिद्
भूयोभूयः स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरंती ॥ उत्तरमेघ २५

इस प्रसंग में गेय (गीत), वीणा, तंत्री, मूर्च्छना और सारणा संगीत-शास्त्र के परिभाषिक शब्द हैं। 'उद्गातुकामा' की टीका करते हुये मल्लिनाथ का कथन है कि यक्षिणी गान्धार-ग्राम में गाने की इच्छा कर रही होगी। संगीत में तीन ग्राम माने गये हैं, जिनमें षड्ज और मध्यम-ग्राम मानवों के लिये तथा गान्धार ग्राम देव-योनियों के लिये निर्णीत हैं।

किन्नर तथा गन्धर्व, ये दो जातियाँ अपने संगीत—विशेषतः गायन के लिये विशेष प्रसिद्ध रही हैं। वे वीणा आदि बजाकर कण्ठसंगीत प्रस्तुत करते थे। 'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग में वर्णन है कि जैसे जब कोई व्यक्ति गायन आरम्भ करता है, तब गायन के पूर्व कोई दूसरा व्यक्ति मुख की हवा से बाँसुरी को भरकर गाये जाने वाले स्वरों का सुर भरता है, उसी प्रकार यह हिमालय भी गुहारूपी मुख-पवन से कीचक-रन्ध्रों को भरता हुआ गाने वाले देव-गायक किन्नरों को मानों तान प्रदान करने की इच्छा करता है—

यः पूरयन्कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगंतुम् ॥ १।८

गायन के साथ वादन की प्रथा बहुत पुरानी है। जिन स्वरों पर काव्य-पंक्तियों को बाँधकर गाया जाता है, ठीक वे ही स्वर अथवा उनसे मिलते-जुलते स्वर गायन के पूर्व किसी एक वाद्य या अनेक वाद्यों

द्वारा बजाये जाते हैं। आज के शास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत तथा चलचित्र-संगीत में भी यह प्रथा अवलोकनीय है। 'तान' यह भी एक संगीत-शास्त्रीय शब्द है। 'तान' तन् धातु से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है 'स्वरों का विस्तार'।

प्रायः कलाओं के प्रदर्शन में घण्टों का समय निकल जाता है, इसलिये कलाकारों को एक कार्यक्रम के बाद दूसरे कार्यक्रम को प्रस्तुत करने के मध्य कुछ विश्राम की भी आवश्यकता होती है। एक गीत गाने के बाद दूसरा गीत आरम्भ करने के पहले किसी किन्नर ने किस प्रकार अपना श्रमापनयन किया—इसका सुन्दर चित्र कालिदास ने 'कुमारसम्भव' में प्रस्तुत किया है—

गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे ॥ कुमारसम्भव–१।३८

इसी ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर मूर्च्छनाओं के प्रयोग द्वारा राग कैशिक के स्वरों द्वारा आलाप भरते हुये किन्नरों द्वारा मंगलसूचक गीत गाकर भगवान् शिव के जगाये जाने का उल्लेख है—

स व्यबुध्यत बुधस्तवोचितः शातकुंभकमलाकरैः समम्।
मूर्च्छनापरिगृहीतकैशिकैः किन्नरैरुषसि गीतमंगलः ॥ ८।८५

यहाँ 'मूर्च्छनागृहीतकैशिकैः' प्रयोग द्वारा कवि ने अपने संगीत-रागों के ज्ञान को प्रकट किया है। विश्वावसु प्रभृति गन्धर्वों द्वारा वीणा बजाकर त्रिपुर-दहन आदि शंकर-चरित के गाये जाने का उल्लेख 'कुमारसम्भव' के सप्तम सर्ग में प्राप्त होता है—

विश्वावसुप्राग्रहरैः प्रवीणैः संगीयमानत्रिपुरावदानः।
अध्वानमध्वान्तविकारलंघ्यस्ततार ताराधिपखण्डधारी ॥ ७।४८

पार्वती के मधुर स्वर का वर्णन करते हुये कवि कालिदास उपमा भी संगीत-सम्बन्धिनी ही देते हैं। मधुर स्वरवाली पार्वती के बोलने पर मधुर स्वर के लिये प्रसिद्ध कोकिल का भी स्वर श्रोता के लिये उसी प्रकार श्रुतिकटु होता था, जिस प्रकार ठीक न मिली हुई तन्त्री का स्वर। कविकृत यह वर्णन उनके संगीत-विषयक परमवैदुष्य का सूचक है—संगीत से अपरिचित जन के लिये ठीक स्वर या बेसुरे स्वर में चाहे कोई अन्तर न हो, किन्तु संगीताभिज्ञ जन के लिये वितन्त्री का स्वर निश्चय ही बड़ा अरुचिकर होता हैं—

स्वरेण तस्याममृतस्रुतेव प्रजल्पितायामभिजातवाचि।
अप्यन्यपुष्टा प्रतिकूलशब्दा श्रोतुर्वितंत्रीरिव ताड्यमाना ॥ १।४५

एकान्त में हर-चरित्र सुनने की इच्छा से अपनी सखी किन्नर-राजकुमारियों को बुलाकर जब उन लोगों के साथ त्रिपुर-दहनादि हर-चरित्र को पार्वती ने गाना आरम्भ किया, तब उनकी विरह-वेदना दुगुनी हो गई और गला भर जाने से गाने में असमर्थ होकर वे स्वयं रोतीं और उन सबको भी रुलाती थीं—

उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम्।
अनेकशः किन्नरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥ ५।५६

'मालविकाग्निमित्र' में मालविका ने जिस गीत पर नृत्य किया, वह शर्मिष्ठा-कृत एक चतुष्पदा कृति थी और वह मध्य लय में बँधी हुई थी। कवि को ताल और लय का भी पूर्ण ज्ञान था। लय तीन प्रकार

की होती है-करुण में विलम्बित, शृङ्गार तथा हास्य में मध्य तथा वीर, रौद्र में अद्भुत, बीभत्स तथा भयानक रसों में द्रुत लय का विधान किया गया है।

मालविका नृत्य प्रारम्भ करने के पूर्व उपगान अर्थात् वसन्तादि रागानुगत स्वर-विशेषों द्वारा आलाप प्रस्तुत कर चतुष्पदसंज्ञक प्रबन्ध गाती है और छलित नृत्य प्रस्तुत करती है। आज भी जब कोई नर्तकी नृत्य प्रस्तुत करती है, तो गीत स्वयं गाती है अथवा गाने का अभिनय करती है।

'अभिज्ञानशाकुन्तल' के प्रारम्भ में सूत्रधार नटी से ग्रीष्म ऋतु का लक्ष्य करके गाने के लिये कहता है और वह यह गीत प्रस्तुत करती है—

ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः सुकुमारकेसरशिखानि।
अवतंसयंति दयमानाः प्रमदाः शिरीषकुसुमानि ॥ १।४

संगीत का प्रभाव धन्य है, जो इस गीत को सुनकर सभी दर्शक आकृष्ट हो, चित्रलिखित से प्रतीत होते हैं—आर्ये साधुगीतम्। अहो, रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः' ('शाकुन्तल', प्रथम अंक)। स्वयं सूत्रधार भी नटी के गीतराग से 'शाकुन्तल' के अभिनय को विस्मृत कर गया था—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा ॥ १।५

यहाँ 'राग' शब्द का प्रयोग विचारणीय है। यह शब्द संगीत-शास्त्र में एक विशेष अर्थ में व्यवहृत होता है। ठाठों से रागों की उत्पत्ति मानी जाती है। एक विशिष्ट स्वर-समुदाय के प्रयोग द्वारा एक विशिष्ट राग का स्वरूप बनता है। प्रमुख छह राग तथा छत्तीस रागिनियाँ मानी गई हैं। यहाँ कविप्रयुक्त 'राग' शब्द श्री आदि राग-विशेष अथवा ध्वनि के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त माना जा सकता है।

पद्य-रचना के लिये जिस प्रकार छन्द के नियमों का पालन कर किसी श्लोक की रचना की जाती है, उसी प्रकार किसी पद्य को किसी राग-विशेष के स्वरों तथा पद्य के वृत्तानुरूप ताल में आबद्ध कर गीत गाया जाता है। जब शकुन्तला दुष्यन्त को मदन-पत्र लिखने का उपक्रम करती है, तब कहती है—'हला, चिन्तितं मया गीतवस्तु। असंनिहितानि पुनर्लेखनसाधनानि।' कवि-लिखित यह पंक्ति सिद्ध करती है कि प्रायः प्रत्येक छन्दोबद्ध रचना गेय हो सकती है।

अपने मन की बात को प्रस्तुत करने के लिए भी प्रायः लोग गीत का आश्रय लेते हैं, तभी तो 'हंसपदिका यह गीत गाती है—

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्।
कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर? विस्मृतोऽस्येनां कथम् ॥ ५।१

'हंसपदिका' के गीत के ही प्रसंग में कवि ने संगीतशाला, कलविशुद्धा-गीति, रागपरिवाहिणी-गीति, स्वर-संयोग तथा वर्ण-परिचय जैसे संगीत-सम्बद्ध शब्दों का प्रयोग कर तद्विषयक अपने नैपुण्य को प्रकट किया है।

संगीत का प्रभाव अक्षुण्ण है, तभी तो कालिदास दुष्यन्त के मुख से कहते हैं कि क्या बात है कि मैं इस प्रकार के भाव वाले गीत को सुनकर प्रिय व्यक्ति के वियोग के विना भी अत्यन्त उत्कण्ठित (खिन्न) हो रहा हूँ, अथवा—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्यशब्दान् पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि॥ ५।२

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद-संगीत के ये सात स्वर विभिन्न पशु-पक्षियों के स्वर से उत्पन्न माने जाते हैं। कालिदास इस विषय से पूर्ण परिचित थे। 'रघुवंश' के प्रथम सर्ग में दिलीप और सुदक्षिणा मयूरों की मनोहारिणी तथा षड्जसंवादिनी केका को सुनते हुये चले—

मनोऽभिरामाः शृण्वन्तौ रथनेमिस्वनोन्मुखैः।
षड्जसंवादिनीः केका द्विधाभिन्नाः शिखण्डिभिः॥ १।३९

षड्ज की उत्पत्ति मयूर से मानी गयी है। मतंग मुनि के अनुसार 'षड्जं मयूरो वदति।' छह स्थानों में उत्पन्न होने के कारण संगीत के प्रथम स्वर को 'षड्ज' कहते हैं।

किसी के द्वारा किसी राजा अथवा देवता के सवाद्य यशोगान का उल्लेख कवि ने अनेकशः किया है, यथा—

'रघुवंश' में वन देवियों द्वारा महाराज दिलीप का ('रघुवंश', २।१२), सस्यपालिकाओं द्वारा महाराज रघु का ('रघुवंश', ४।२०), किन्नरों द्वारा रघु के बाहुओं का ('रघुवंश', ४।७८), लोकान्तरविश्रुत सुषेण का ('रघुवंश', ६।४५) तथा 'कुमारसम्भव' में चराचर विश्व के कारण ब्रह्मा का (२।५) यशोगान वर्णित है।

काव्य के रसों की ही अभिव्यक्ति संगीत द्वारा भी मानी जाती है। 'रसराज' को जो महत्ता साहित्य में प्राप्त है, वह संगीत में भी प्राप्त है। शृङ्गार-प्रधान संगीत कामोद्दीपक होता है। 'ऋतुसंहार' में ग्रीष्म-ऋतु के वर्णन-प्रसंग में कवि की उक्ति है कि अच्छी प्रकार वाद्यमान वीणा के साथ गाया गया गीत कामीजनों के लिए मदनोद्दीपक होता है तथा उनके सुप्त काम को भी जाग्रत करने का सामर्थ्य रखता है—

'सुवासितं हर्म्यतलं मनोहरं प्रियामुखोच्छ्वासविकम्पितं मधु।
सुतंत्रिगीतं मदनस्य दीपनं शुचौ निशीथेऽनुभवन्ति कामिनः॥' १।३

'सचन्दनाम्बुव्यजनोद्भवानिलैः सहारयष्टिस्तनमण्डलार्पणैः।
सवल्लकीकाकलिगीतनिस्वनैर्विबोध्यते सुप्त इवाद्य मन्मथः॥' १।८

इस प्रकार कालिदास-कृतियों में प्राप्त उल्लेख इस तथ्य के परिचायक हैं कि कालिदास गायन-कला के निपुण ज्ञाता थे। संगीत की तीनों विधाओं में कवि की परम प्रवीणता थी। पुरातन काल से लेकर आज तक कवि की सर्वातिशायिनी लोकप्रियता का यह भी एक कारण सम्भावित है।

प्रौढ़ विद्वान् और विनोद प्रिय शास्त्री जी

परमादरणीय पण्डित—श्रेष्ठ वयोवृद्ध पण्डित श्री पट्टाभिराम शास्त्री जी से मैं पचास वर्षों से अधिक से परिचित हूँ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य-धर्म-विज्ञान विभाग में उन दिनों व्याकरण का विद्यार्थी था। मेरी अवस्था काफी छोटी थी। मैं वयस्क भी नहीं था। उन दिनों शास्त्री जी एक प्रतिभाशाली छात्र के रूप में उसी विभाग में पढ़ रहे थे। शास्त्री जी क्या पढ़ते थे, यह मैं नहीं जानता था। मैं नगण्य विद्यार्थी था। परमसंकोची और किसी से न बोलने वाला। किन्तु महामहोपाध्याय पं० श्री शिव कुमार शास्त्री के दौहित्र होने के कारण वहां मेरी एक पहचान थी। महामहोपाध्याय पं० प्रथमनाथ तर्कभूषण उस समय उस महाविद्यालय के प्राचार्य थे। भारत के मीमांसा शास्त्र के विद्वान्, परम-प्रसिद्ध-मीमांसक श्री चिन्न स्वामी जी, श्री पट्टाभिराम जी को मीमांसा पढ़ाते थे। मैं बाद में देखता था कि पं० चिन्न स्वामी शास्त्री जी के शिष्य के रूप में श्री पट्टाभिराम शास्त्री, त्रिपुण्ड्र लगाए मद्रासी वेशभूषा में वहाँ पढ़ते थे और पं० चिन्न स्वामी जी के वे परम-प्रिय थे।

बस उस समय इतना ही परिचय पं० पट्टाभिराम शास्त्री का मुझे था। किन्तु मैं उनको अच्छी तरह से जानता था। संस्कृत महाविद्यालय के छात्र भी उनको भलीभाँति जानते थे।

इसके बाद इनके नाम और यश को मैं बराबर सुनता था। हिन्दू विश्वविद्यालय में श्री चिन्न स्वामी शास्त्री जी के ब्रह्मलीन हो जाने पर प्राच्य विद्याधर्म विज्ञान विभाग में इनकी मीमांसा के अध्यापक के रूप में नियुक्ति हुई थी। फिर सम्भवत: ये जयपुर के राजकीय महाविद्यालय में अध्यक्ष हो गये थे।

व्याकरण में शास्त्राचार्य परीक्षा पास करने के बाद जब मैं पं० महादेव शास्त्री जी के पास न्याय की पंचलक्षणी और काव्यप्रकाश पढ़ने जाता था, उन दिनों पं० पट्टाभिराम जी आदरणीय महादेव शास्त्री जी के यहाँ नित्य आया करते थे। इन्होंने ध्वन्यालोकलोचन ग्रन्थ की एक अप्रकाशित और दुर्लभ व्याख्या के साथ उक्त ग्रन्थ का संपादन किया था और उसी को दिखाने, संशोधन करने पं० महादेव शास्त्री जी को सुनाने और उनका परामर्श लेने आते थे। तब मैंने जाना कि दर्शन और मीमांसा के अतिरिक्त साहित्य शास्त्र में भी पट्टाभिराम शास्त्री जी परम प्रौढ़ विद्वान् हैं।

मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभागीय रीडर पद का त्याग करके तत्कालीन वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय शिक्षा-शास्त्र-विभाग में प्रोफेसर होकर आया। उसके कुछ वर्षों बाद, कलकत्ता विश्वविद्यालय के संस्कृत प्रोफेसर पद से पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी ने जब विश्राम ग्रहण कर लिया था, तब परमादरणीय तत्कालीन कुलपति श्री गौरीनाथ शास्त्री के कार्यकाल में पट्टाभिराम शास्त्रीं जी वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में (जो अब सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के नाम से विश्रुत है।) साहित्य विभागाध्यक्ष के रूप में सादर आमन्त्रित किये गये थे। हमारा उनके साथ अत्यन्त प्रगाढ़ परिचय तभी हुआ। और जब मैंने समझा कि अद्वैत वेदान्त, सांख्य योग में भी वे प्रौढ़ पाण्डित्य के स्वामी हैं। मीमांसा के तो वे आज भी भारत में सर्वप्रथम विद्वान् हैं। परन्तु तभी यह जाना कि वे साहित्य शास्त्र के भी रसिक प्रौढ और शास्त्र-निष्णात एवं परम-कुशल अध्यापक हैं। छात्रों में उनकी वहाँ जो प्रतिष्ठा और लोक-प्रियता थी, वह उनकी अध्यापनप्रियता और शास्त्र विज्ञता की प्रौढ़ी, का प्रतिफल था। साहित्य विभाग के छात्र उनके अध्यापन से गद्गद होकर उनके भक्त बन जाते थे।

मेरे प्रति उनका जो अनुज जैसा व्यवहार एवं सहज प्रेम था वह निश्चय ही मुझे अत्यन्त गौरवान्वित करता रहा। मैंने तभी उनके व्यक्तित्व के इस अंश का आभास पाया कि वे बड़े ही सहृदय, मृदुभाषी, मित्र-गोष्ठी-चतुर, वाग्-

विदग्ध और मनोरंजन प्रिय हैं। अपने परम पाण्डित्य के घटाटोप और आडम्बर को दूर रखकर इतना सरल और सहज भाव से घुल-मिल कर गोष्ठी में भाग लेते रहते थे। हंसी-मजाक, व्यंग्य-विनोद और चुटकुलेबाजी में जिस प्रकार वे खुल कर भाग लेते थे वह उनकी सहज व्यक्तित्व के साथ उदारचित्तता थी और मनोविनोदशीलता की परिचायक भी थी। कभी हमलोग परस्पर जलपान या काफी गोष्ठी में सम्मिलित होते तो ठंडाई पानी करते। एक बार टैक्सी से हमलोग पिकनिक मनाने रामनगर के बड़े वेदव्यास का दर्शन करने गये थे। कभी पट्टाभिराम जी के यहाँ ही हम सब अत्यन्त स्वादपूर्ण काफी पीने पहुँच जाया करते थे। और कभी वे पं० भूपेन्द्रपति त्रिपाठी जी के यहाँ जलपान गोष्ठी में सहृदयता से भाग लेते थे। और कभी-कभी जाड़े के दिनों में मेरे यहाँ चूड़ा-मटर की खिचड़ी तथा बनारसी मगदल की पार्टी में भाग लेते हुए, कहकहे लगाते रहते थे। यह सब देखकर उनके निश्चल और सरल, उदार-हृदय का परिचय मिलता है। उनका व्यवहार आज भी वैसा ही बना हुआ है।

उत्तर प्रदेश अकादमी ने विशिष्ट पंडित के रूप में उन्हें सम्मान अर्पित करते हुए पुरस्कृत किया है।

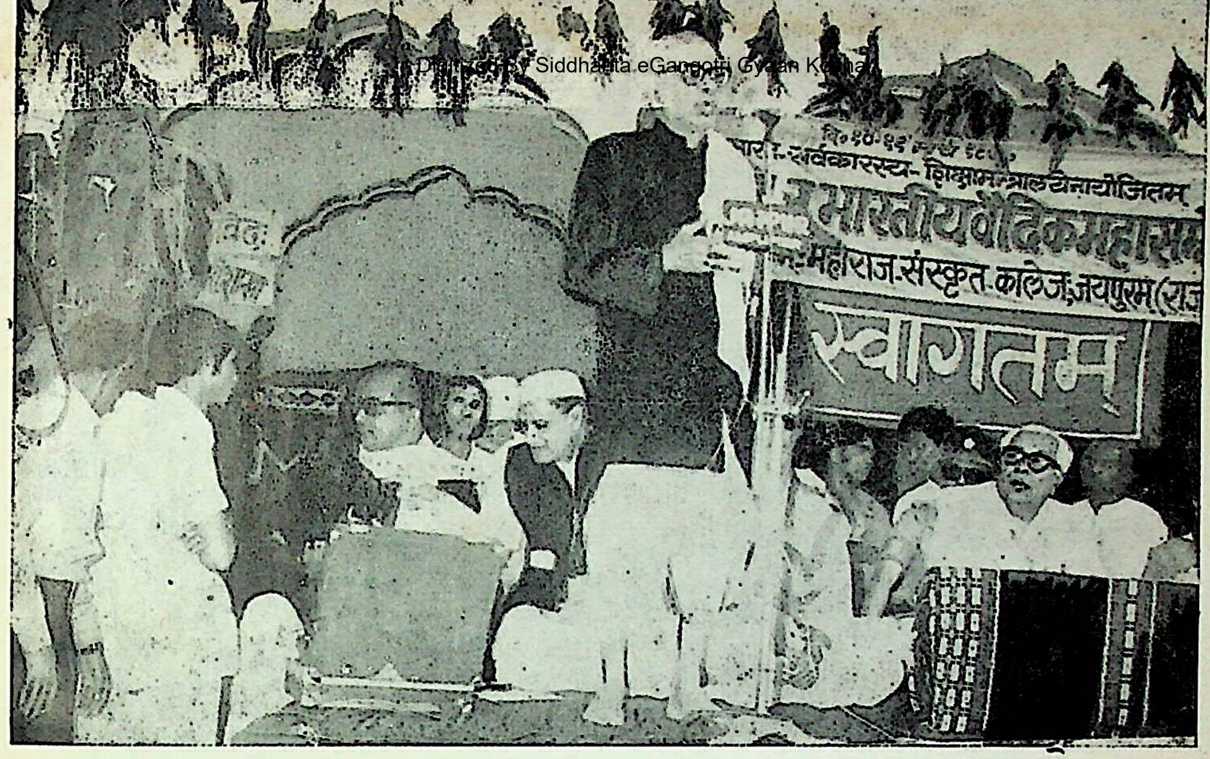
संस्कृत, अंग्रेजीं हिन्दी, आंध्रभाषा एवं तमिल भाषा में वे अप्रतिहत गति से वार्तालाप कर सकते हैं। वैदिक शिक्षाओं पर उनका गहन अध्ययन है। वैदिक वाङ्मय और तन्त्रशास्त्र के भी वे अच्छे ज्ञाता हैं।

आज वे काशी की पंडित मंडली की शोभा हैं। हमें तो वे बड़े सहज, अनुज प्रेम के साथ सदा आशीर्वाद देते रहते हैं।

बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि श्रीमान् पं० पट्टाभिराम शास्त्री जी को इसी प्रकार स्वस्थ, प्रसन्न और सुखी रखते हुए दीर्घायु प्रदान करें।

विश्वास है कि वे हमारी यह सश्रद्धार्पित शब्दकुसुमाञ्जलि को स्वीकार करेंगे। मैं भी आप सबके साथ उनका सादर अभिवन्दना और अभिनन्दन करता हूँ।

पं० श्री करुणापति त्रिपाठी, भूतपूर्व कुलपति
सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय एवं अध्यक्ष उत्तर प्रदेश, संस्कृत अकादमी।



जयपुर में भारत सरकार द्वारा समायोजित अ० भा० वैदिक संमेलन में राजस्थान के राज्यपाल
श्री वेदपालत्यागी के सान्निध्य में अध्यक्षीय भाषण करते हुए श्रीशास्त्री जी.



दिल्ली में भारत सरकार द्वारा १५ अगस्त १८ समायोजित संस्कृत दिवस समारोह के प्रधानातिथि के रूप में बैठे हुए (सहायक संस्कृत शिक्षा सलाहकार) श्री शास्त्री जी—साथ में डा० सी० आर० स्वमीनाथ एवं डा० रामकरण शर्मा
निदेशक राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान



कलकत्ता संस्कृतसाहित्य सम्मेलन में श्री लालबहादुर शास्त्रीजी को अभिनन्दन-पत्र भेंट करते हुए श्री शास्त्रीजी

IS THERE NO GĪTĀŚĀSTRAPRĀRAMBHA TO THE ADVAITINS ?

Dr. K. S. R. DATTA

S. V. Oriental College, Tirupati

The *Bhagavad-gītā* which is one of the triple texts of Vedānta is the jewel-casket of Indian Culture and has synthesised several mutually opposing ideals and philosophies.[1] It depicts the internal conflicts and diversities and unifications that existed during different periods in Religion, Philosophy and ethics, the ideal and the practical, the sacred and the secular. The message of the *Bhagavad-gītā* may be called the Religion of Science.[2]

Among the commentaries now available on the *Bhagavad-gītā* perhaps Śaṅkara's *bhāṣya* is the earliest. Śaṅkara, in his work, maintains his stand-point, i. e., that the *jīva* is not different from the Brahman, the world is unreal and knowledge is the only means attaining liberation. It is also the view[3] of Śaṅkara that according Gītā, knowledge (*jñāna*) (of the Supreme Soul) alone and not knowledge combined with action (*Karmasamuccaya*) is the only means of attaining liberation. He further observes[4] "*śoka* (grief) and *moha* (delusion) are the source of the universe *(saṁsāra)*: they are terminated by a knowledge of the self which follows renunciation of all sections and not by anything else. And desirous of teaching this to the entire world and thus gracing it, Lord Vāsudeva taught the *(Gītā-śāstra)* to the world making Arjuna an apparent cause". Hence, Śaṅkara concludes[5] his prefatory commentary by stating that Lord Vāsudeva taught Arjuna the Gītā, whose essential teaching is the path of knowledge beginning from the verse, *aśocyān anvaśocastvam* etc. (II. 11) which forms the regular *Gītā-śāstraprārambha,* since the verse is preceded by the words *śrībhagavān uvāca*. In proof of his contention Śaṅkara states that the words *paṇḍitāḥ* (in II. 11) means *ātmajñāḥ*; and the *jñānayoga* is concluded in the verse *sarvadharmān parityajya* etc. (XVIII. 66).

---

1. Swami Vireswaranand : The Bhagavad-gita its synthetic character. *The Cultural Heritage of India*, The Ramakrishna Math, Madras, Vol II (1970), p. 180.
2. R. B. Lal : *The Gita in the light of the Modern Science*, Somaiya Publications Pvt. Ltd., Bombay, 1970, p. 2.
3. tasmāt gītāśāstre kevalād eva tattvajñānāt mokṣaprāptir na karmasamuccayād iti niścitórthaḥ. Śaṅkara's *Gītā-bhāsya* II. 10, *Bhagavad-gītā* (with the commentaries of Śaṅkara, Rāmānuja, Vedānta Deśika, Madhva etc.). Gujarati Printing Press, Bombay, 1935.
4. tatraivam sati dharmādharmopacayad.........saṁsārabījabhūtau śokamohau tayośca sarvakarmasannyāsapūrvakād ātmajñānān nānyato nivṛttir iti tad upadidṛkṣus sarvalokānugrahārthaṁ arjunam nimittīkṛtyāha bhagavān vāsudevaḥ aśocyān anvaśocas tvam ityādi. ibid.
5. tatraivaṁ dharmasammūḍhacetaso mahati śokasāgare nimagnasyātmajñānād anyatroddharaṇaṁ apaśyan bhagavān vāsudevas tato rjunaṁ uddhidhārayiṣur ātmajñānāyavatarayannāha aśocyān ityadinā. ibid.

But according to Rāmānuja,[1] who disagrees with Śaṅkara, the *Bhagavad-gītā* teaches Bhakti as the only means of attaining liberation which is reaching the abode of Brahman. The word 'Brahman' denotes Lord Nārāyaṇa who is full of auspicious qualities, who is the Inner Soul of the world consisting of the *cit* and *acit*. Hence to Rāmānuja, who advocates the reality and plurality of souls the verse II. 11 is not helpful and it also becomes a stumbling block for propounding his theory. Therefore, he rejects the view of Śaṅkara and states[2] that the real teaching of the *Bhagavad-gītā* commences not with II. 11 but with the next verse, II. 12 i. e., *natvāhaṁ jātu nāsaṁ na tvaṁ neme janādhipāḥ* etc. He does so because the various words *ahaṁ* (I), *vayaṁ* (We), *tvaṁ* (You) *ime* (these) etc., in this verse (II. 12) support his theory of plurality of souls, though there is no mention of the *bhakti-yoga*.

This view of Rāmānuja on the *gītāśāstrārambha* amounts to proving the denial of the authority of the *Bhagavad-gītā* and *śāstraprārambha* to the Advaitins. None of the earlier commentators on Śaṅkara's *Gītā-bhāṣya* has either discussed this point or attempted to refute Rāmānuja's stand; this unique privilege fell to the lot of Bellaṁkoṇḍa Rāma Rāya Kavi, a fascinating, powerful and prolific writer in Sanskrit.

Rāma Rāya, who lived in Pamiḍipāḍu ;n Narasaraopeta Taluk in Guntur District of Andhra Pradesh from 1875 to 1914, was born of Mohan Rao and Hanumāmbā. He was a Niyogi-Brahmin and belonged to *Bhāradvāja-gotra*. He lost his father in his early age and was brought up by his uncle. He studied Sanskrit hardly for a few months but by the grace of Lord Hayagrīva he became highly proficient in all the Śāstras. Thus he became the author of 143 works in Sanskrit on diverse subjects as poetry, drama, grammar, *stotras*, ethics and Advaita Vedānta.

As a traditional custom he followed and studied the religion and philosophy of Viśiṣṭādvaita; bnt his encounter or quarrel with his religious teacher forced him to discard Viśiṣṭādvaita religion and philosophy and take to the practice and study of the religion and philosophy of Advaita. He considered that the *bhāṣyas* of Rāmānuja were ill-founded and opposed to the real teachings of the *Upaniṣads*, *Brahma-sūtras* and the Gītā. Hence, he produced a number of Sanskrit works, minor and major, independent and commentaries, elaborating the Advaitic tenets and defending Śaṅkara and refuting Rāmānuja and Vedānta Deśika. One such monumental work is the voluminous *Bhagavadgītābhāṣyārkaprakāśikā* which is a detailed and comprehensive commentary on the *Bhagavad-gītā-bhāṣya* of Śankara and which answers elaborately all the objections raised by Rāmānuja and Vedānta Deśika against Śaṅkara.

---

1. sriyaḥ patir nikhilaheyapratyanīkakalyāṇaikatānah...... . vedāntoditam svaviṣayaṁ jñānakarmānugṛhītaṁ bhaktiyogamavatārayāmāsa. Introduction, *Rāmānuja-gītā-bhāsya*.
2. evam asthāne samupasthitasnehakāruṇyābhyām aprakṛtiṁ gataṁ....... bhagavatā paramapuruṣeṇa adhyātmaśāstrāvataraṇam kṛtaṁ.. ....pārtham prahasann iva ....natvevāham jātu nāsaṁ ityārabhya ahaṁ tvāṁ sarvapāpebhyo mokṣayiṣyāmi mā śucaḥ ityetad antaṁ vacanaṁ uvacetyarthaḥ. Ibid II. 10.

Rāma Rāya, refuting the view of Rāmānuja on the *gītāśāstraprārambha*, argues as follows :—[1]

"Rāmānuja considers *na tvevāham jātu etc.*, (II. 12) to be the beginning of the *Gītā-śāstra* and he has separated the verse, *aśocyān anvaśocas tvaṁ* etc., (II. 11), from the Gītā. This is not proper. Because this verse, i. e., II. 11 clearly teaches that the famous Bhīṣma and others are really eternal, that they are not to be grieved for and that the *paṇḍitas* (men of knowledge) do not lament either for the living or the dead. It also exhorts Arjuna that he, being a *paṇḍita*, should not grieve for them (i. e., Bhīṣma, Droṇa etc., who are present before him). Hence, this verse is not to be separated from the *Gītā-śāstra*".

While upholding the view of Rāmānuja on the *Gītāśāstraprārambha*, Vedānta Deśika, in his illustrious commentary, the *Tātparyacandrikā* echoes[2] the view of Rāmānuja and states that the verse II. 11 is intended to invite by sarcasm the attention of Arjuna to prepare him for the teaching of the Gītā which is going to commence from the verse II. 12. Thus, according to Vedānta Deśika, the verse II. 11 is not intended to be *upadeśa* (teaching) but at best can be introductory to the Gītā and thus cannot be the proper *śāstraprārambha*.

Even to a layman this observation of Rāmānuja and Vedānta Deśika that the verse II. 11 is told in jest merely to attract the attention of Arjuna is certainly not convincing as it is contrary to the context, i. e., Lord's intention to teach Arjuna about the real nature of the Supreme Soul and thus enthuse him to fight against his enemies. Therefore, Rāma Rāya attacks[3] the explanation of Vedānta Deśika and observes that it is most improper and also irrelevant to say that the Supreme God, Kṛṣṇa, was jesting with Arjuna, who, in great distress, had sought the feet of the Lord as his refuge.

Vedānta Deśika cleverly tries[4] to connect the word *idaṁ* (of II. 10) with the verse *na tvevāham jātu* etc. (II. 12) to justify his stand that the verse II. 11 is intended by way of sarcasm to arrest the attention of Arjuna, that it is the subject matter of *tam uvāca hṛṣīkeśaḥ* etc. (II. 10); the meaning of *idaṁ* is according to Vedānta Deśika, what is contained in the verse II. 12 and thus becomes the *śāstraprārambha*.

---

1. atra rāmānujah natvevāham ityadinetyuktvā aśocyān iti ślokaṁ gītāśāstrāt pṛthak cakāra, tan mandam. na te bhīṣmādayaśśocyāḥ, paramārthasvarūpeṇa teṣām nityatvāt. na hi paṇḍitāḥ mṛtān jivatas ca prati śocanti tvaṁ ca paṇḍitosi. ato mā śuca iti hitāśāsanaparasyāsya ślokasya śāstrāntaḥpātitvaucityāt. *Bhagavadgītābhāṣyārka-prakāśikā*, Published by K. Venkata Subramanya Śastry, Narasaraopet, A. P.), II. 11.
2. aśocyān iti ślokasyāpi upadeśārthavadhānāpadanārthaparihāsacchāyatayā śāstrāvataraṇamātratvena sākṣāt śāstratvābhāvāt na tvevāham ityārabhya ityuktam. *Tātparya-candrikā*, II. 10.
3. ... .tat tuccham, mahati śokasāgare nimagne svacaraṇaṁ śaraṇam prapanne pārthe bhagavataḥ kṛṣṇasya parihāsabhāvodayāsaṅgatyāt. ibid.
4. yad vā tra aśocyān iti ślokaḥ prahasannivetyasya viṣayah na tvevāhaṃ ityādikam idam śabdārthah. ibid.

The above interpretation of Vedānta Deśika is not only farfetched but also ill-logical and unwarranted. Hence, Rāma Rāya rightly refutes Vedānta Deśika's line of interpretation as follows[1];

"It is logical and correct that the word *idaṁ* should be connected only with the immediately following verse, *aśocyān anvaśocas tvaṁ* etc. (II. 11) and not the second verse, *na tvevāhaṁ* etc. (II. 12). Further the verse II. 11 cannot be logically connected with the verse II. 10. If the word *iti* is to be supplied (as *adhyāhāra*) the sentence has to read as *prajñāvādāṁśca bhāṣase iti prahasann iva* and it leads to a flaw called *samāptapunarādāna* (taking again that which is concluded) since the word *prahasan*, which is concluded, has to be taken up again. This also leads to the flaw of cumbrousness (*gauravadoṣa*). Further, as the latter sentence, *gatāsun gatāsūṁśca nānuśocanti*, cannot be included either in the *parihāsavākya* or in *śāstrāraṁbha*, it becomes a futile (or purposeless) sentence. Strictly speaking, the word *iva* in *prahasann iva* of the previous verse (i. e.. II. 10) clearly establishes that Lord Kṛṣṇa did not really jest with Arjuna. Therefore, it follows that as the Lord did not jest, the verse *aśocyān anvaśocas tvaṁ* etc. (II. 11), which is uttered by the Lord as sarcasm (or jest), according to Rāmānuja and Vedānta Deśika, ceases to be uttered by the Lord. Hence, the verse *aśocyān* etc. (II. 11) and not *na tvevāham* etc. (II. 12) is the beginning of the *Gītā-śāstra*".

The above criticism of Rāma Rāya is very pertinent and logical, because Rāmānuja and Vedānta Deśika have tried, as shown above, to connect the word *idam* (of the verse II. 10) with the meaning and contents of II. 12. This is certainly a far-fetched and involved construction. It is a fundamental and simple rule that a verse can have connection with its immediately next verse and not the latter ones. Further, the word *iva* (as if) in II. 10 clearly indicates that in reality no jest as sarcasm is meant by the Lord. Hence, if the far-fetched or forced-meaning, i. e., to arrest the attention by jest, as given by Rāmānuja and Vedānta Deśika, is to be accepted, the verse II. 11 has to become purposeless, since Lord Kṛṣṇa has not meant any *parihāsa*. Thus Śaṅkara's view on the *Gītāśāstraprāraṁbha*, rightly defended and upheld by Rāma Rāya, stands unassailable. This is one of the rare contributions of Rāma Rāya to Advaita.

---

1. idaṁ śabdasyātrānupadavakṣyamāṇe śaktatayā tad anupadoktasyāśocyān iti ślokasyedaṁ padārthatvābhāvakalpanayā apramāṇatvāt. aśocyān iti ślokasya prahasannityanenānvayāsambhavāt, iti śabdam adhyāhṛtya aśocyān anvaśocas tvaṁ prajñāvādāṁś ca bhāṣase iti prahasannivetyanvaye samāptapunarādānadoṣāt, iti śabdādhyāhāragauravācca gatāsun iti pedārthsya parihāsavākyatvāsambhavena śāstrapraveśāsaṁbhavena ca vyarthatvaprasaṅgāt, parihāsavākyaṁ vadannivetīvaśabdena na tu vastutaḥ parihāsavākyaṁ jagādeti siddhatvena aśocyān iti ślokasya bhagavaduktatvāsaṁbhavācca. tasmād.gītāśāstrasyaśocyān iti sloka evādiḥ. *Bhagavadgītābhāṣyārkaprakāśikā*, II. 11.

SAIVA NĀGĀRJUNA

Dr. B. N. PANDIT

There have been several great teachers and authors with their name as Nāgārjuna. The most prominent among them has been the ancient teacher of the *Mādhyamika* school of Buddhism. Another great Nāgārjuna also was a Buddhist teacher. He belonged to the *Vajrayāna* school of Tantric Buddhism. He has been mentioned by Tāranātha, the Tibbettan historian, as a great Tantric teacher of wonderful supernatural powers. He appeared in the earlier part of the sevnth century A. D. and was the ablest disciple of Śarahā (Rāhulabhadra) who was originally a Brahmin of *Utkala* (Oṛissa) and had got converted to Buddhism. He was the first great Buddhist teacher who picked up erotic Tantric methods of esoteric practices for the sake of a quick attainment of emancipation. He may be taken as the father of the erotic *Vajrayāna* school of Tantric Buddhism. His disciple Nāgārjuna attained complete success in Tantric practices and developed wonderful supernatural powers through it. That made *Vajrayāna* very impressive and popular in India. Many great adepts, teachers and authors appeared in the line and *Vajrayāna* spread from Bengal in the east to *Udyāna* (near Hindukush) in the west. The teachers of this new school of Buddhism adopted all the principles of the Tantric philosophy of Kaulism preached by Matsyendra nātha (Macchanda) in *Kāmarūpa* (Assam). They adopted all the esoteric practices of Kaulism, including even the use of five *Makāras*. Padmasambhava, the eighth century teacher of *Vajrayāna*, had no less than five *Saktis* or female attendents called *Dūtis* in Kaulism and *Ḍākinis* in Tibbtan Buddhism. He went to Tibbet, defeated all the teachers of the Bon religion in that land by means of the super natural powers attained through Tantric practices and impressed the superiority of his faith on the people and the nobles of that country. *Vajrayāna* established by him in Tibbet, lives there as well as in Mongolia in a reformed form, even to this day under its present name—Lamaism. All the teachers of *Vajrayāna*, right from Śarahā and Nāgārjuna down to Padmasambhava and his successors, were wise and clever enough to keep their new school of faith strictly within the frame work of Buddhism. They avoided the two main principles of Tantric philosophy of Hinduism for that purpose. Such principles were (i) the principle of absolute theism and (ii) that of the existence of a permanent conscious soul beyond the psychic elements of *Citta* and its functions. The absolute of the Hindu Tantrism was given the name of Ādibuddha and all other Tantric deities, both male and female, were given Buddhist names. But all of them were taken to be the creation of mind. The same is the belief of the teachers of the modern Lamaism. Much of the credit of such transformation of Hindu Tantrism of the Kaula school into the ancient *Vajrayāna* of North India and the modern Lamaism of Tibbet and Mangolia goes to Nāgārjuna who impressed adepts, monks, nobles, scholars and common people with the super-natural spiritual powers attained by him through a succersful practice in Tantrism. He is thus the second great Nāgārjuna.

One more Nāgārjuna, a master of Indian alchemy, is also known in both Buddhist and Hindu tradition. He is more or less a mythical figure. It is highly probable that he may have

been the same Tantric teacher as the above mentioned *guru* of *Vajrayāna*, because Tantric *siddhas* are very often accepted to be wonderful masters of such sciences. Kashmirian folklore has preserved the accounts of the life of one more Nāgārjuna, known popularly as *Nāgirāya* (Sanskrit *Nāgarāja*), the lover of *Hīmāl*. He was, most probably, the son of some feudal chief belonging to some aboriginal Nāga tribe of Kashmir. His love with *Hīmāl*, a beautiful girl of Aryan origin, impressed rhe ancient people of Kashmir so much that both have continued to live in the memory of singers, poets and dramatists of Kashmir even upto this day. This Nāgārjuna of the Kashmirian folk lore was neither any religious teacher, nor any philosopher, nor any Tantric adept though, being a Nāga, he is believed to have possessed supernatural powers. Nāga-bodhi is another teacher of *Vajrayāna* who is some times confused with any of the above mentioned two great Buddhist teachers. He is counted among the important teachers of *Vajrayāna* in some Tibbetan traditions. He belongs to an age far later to that of the Tantric Nāgārjuna. He has been mentioned by Varadarāja in the eleventh century as a leader of such Buddhist teachers who preached atheism in the time of Vasugupta (825 A. D.). Thus says Varadarāja :

नागबोध्यादिभिः सिद्धैर्नास्तिकानां पुरःसरैः ।
आक्रान्ते जीवलोकेऽस्मिन्नात्मेश्वर निरासकैः ॥ (S. S. V. P. 1)

There is yet another great philosopher poet having his name as Nāgārjuna. He is neither a prince, nor a chemist, nor a sorcerer, nor any preacher of atheism; but is, in stead, a *Mahāmāheśvara*, that is, a great master of Śaiva philosophy. He, though a great thinker and a poet of great merit, is not sufficiently known to scholars and writers. Two of his religio-philosophic hymns of thirty verses each are available at present. These were found in manuscript form in Kashmir and some devotees of Śaivism brought them out in print in two editions at Śrinagar during recent years. The concluding verses of the two hymns mention the name of rhe author simply as Nāga :

(i) निरावरण चिद्व्योम-परमामृतनिर्भरः ।
नागाभिधो व्यधादेनां चित्तसन्तोषत्रिंशिकाम् ॥ (*Citta santoṣa triṃśikā-31*)

(ii) अनवच्छिन्नचिद्व्योम-परमामृतबृंहितः ।
नागाभिधो व्यधादेतां परमार्चनत्रिंशिकाम् ॥ (*Paramār cana-triṃśikā-31*)

The colophones of the two hymns mention him as :

Mahā māheśvara-ācār ya-Nāgār juna :

(i) इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीनागार्जुनविरचिता चित्त सन्तोषत्रिंशिका । (C. S. T.)

(ii) इति महामाहेश्वराचार्यश्रीनागार्जुनकृता परमार्चनत्रिंशिका (P. A. T.)

Mahesvarānanda refers to the latter work as *Arcana triṃśikā :*

यदुक्तमर्चनत्रिंशिकायाम्—
बालिका रचितवस्त्रपुत्रिका-क्रीडितेन सदृशं तदर्चनम् ।
यत्र शाम्यति मनो न निर्मलं स्फोतचिज्जलधिमध्यमाश्रितम् ॥
(M. M. P. P. 108).

It is however an astonishing fact that, in spite of the great philosophic and poetic merits of the two hymns, we do not find any reference to them or any quotation from them in any of the important Śaiva works of any earlier or later Kashmirian authors. The above mentioned quotation is the only one that I have found so far. It is found in *Mahārtha-mañjarī-Parimala* of the 13th century A. D. by Mahesvarananda, a philosopher belonging to the ancient *Cola* country in South India. But no manuscripts of the hymns have so far come to light in the South. Since the manuscripts were found in Kashmir and since Maheśvarānanda was well acquainted with many philosophic works of Kashmirian authors, it is possible that this Śaiva Nāgārjuna may also have belonged to Kashmi . Mahesvarananda alone gives information about the commentaries named *Vimarśinis* written probably by Abhinavagupta, on *Ajaḍa pramātṛ siddhi* and *Iśvarasiddhi* of utpala deva. He says in his *Mahārtha mañjrī rarimala :*

(i) यदुक्तमजडप्रमातृ सिद्धिविमर्शिन्याम्—"इदं मम ज्ञानमिति नाञ्जसा ज्ञानप्रकाशः। अपि तु जानाम्यहमिति ज्ञानस्यास्मदर्थविश्रान्ततैव।" (m. m. p. p. 133)

(ii) एवमाभिप्रेत्य खल्वीश्वरसिद्धिविमर्शिन्यामुक्तम्—"गृहपतिरिव कुटुम्बवर्गे नरपतिरिव गृहपतिवर्गे, चक्रवर्तीव राजवर्गे, लोकपाल इव चक्रवर्तिवर्गे ब्रह्मादिरिव लोकपालवर्गे, ब्रह्मादिवर्गेऽप्यधिष्ठाता" इति।

(m. m. p.-p. 142.)

This also is possible that Nāgārjuna may have belonged to some other part of the country and may have become popular with the Śiva devotees of Kashmir. Dharmācārya, the author of *Pañcastavī*, belonged to Kerala, but his five hymns, dedicated to Mother-goddess, have been enjoying the greatest popularity in the valley of Kashmir for the last several conturies. Nāgārjuna,, the author of the two Śaiva *Triṃśikās*, must belong to an age earlier than the 13th. century, the time of Mahesvarananda but may not be much earlier, because in such a case he would have been quoted by scholars like Jayaratha, Utpala Vaiṣṇava, Kṣemarāja etc.

Citta-santoṣa-trimśikā is devoted by the author to draw a comparison between the state of his mind as it stood, on one hand, before the attainment of the realisation of the real nature of his self and, on the other hand, after the realisation of his self as the only absolute reality endowed with all the perfect divine powers. A wonderful comparision of such two states of his mind has been drawn by him in the medium of a beautiful poetry. *Paramārcana-triṃśika* throws light on the nature and the result of many yogic practices of the Trika system and recognises such practices alone as the real worship of Lord Siva. It is, in fact, the description of the *Parā-pūjā* of Śaiva monism as prescribed in Trika system of Tantric Śaivism.

A few verses from the two hymns, being quoted below, can show this great philosopher to be really a *Mahā mā heśvara*, and to be a great teacher different from the two great Nāgārjunas of Buddhism. These can, at the same time, throw light on the philosophic and poetic worth of this great but unknown Śaiva philosopher. A comparison with some passages, quoted side by side, from some works of some other prominent authors of Kashmir Śaivism, would be of sufficient interest to readers.

१. (a) विश्वसंहृतिरसैकतत्परो लेलिहानरसनाकुलो यमः।
यत्र चिच्छिखिशिखासु हूयते लीलयैव न किमेतदर्चनम्॥ (पर० त्रि०—८)

(b) इत्थमुपोढ-भवन्मयसंविद्-दीधितिदारितभूरितमिस्रः ।
मृत्युयमान्तक-कर्मपिशाचैर्नाथ नमोऽस्तु न जातु बिभेमि ॥ (भै० स्तो०—४)

२. (a) यत्र नित्य-परहर्षनिर्भरश्चित् सुधारसविपानघूर्णितः ।
ध्यानयोगकलनासु लज्जते नीरसासु न किमेतदर्चनम् ॥ (पर० त्रिं०—१३)

(b) प्रत्याहाराद्यसंस्पृष्टो विशेषोऽस्ति महानयम् ।
योगिभ्यो भक्तिभाजां यद् व्युत्थानेऽपि समाहिताः ॥ (शि० स्तो० १—१७)

३. (a) इन्द्रियेषु विषयानुवर्तिषु प्राणवर्त्मनि निजप्रवाहके ।
कापि निर्वृतिमयी चिदूर्जिता यत्र नोल्लसति किं तदर्चनम् ॥ (पर० त्रिं०—१५)

(b) शरीरवृत्तिर्व्रतम् । कथा जपः । (शि० सू० ३—२६, २७)

४. (a) यद्विशृङ्खलमहोदयोल्लसच्छक्तिपातवशतो विजृम्भते ।
तत् पदं यदि गुरुप्रसादतो लब्धमुत्तमपथार्चितः शिवः ॥ (पर० त्रिं०—२६)

(b) (i) इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी ।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता ॥ (मा० वि० वा० १—६९८)

(ii) गुरुरुपायः । (शि० सू० २—६)

५. (a) किञ्चनापि न विमुच्यते क्वचित् किञ्चनापि न च गृह्यते क्वचित् ।
स्वं वपुर्विमलबोधनिर्भरं दृश्यते यदि तदर्चितः शिवः ॥ (पर० त्रिं०—२८)

(b) तत् किं नाम सुनिश्चितं वद पर सत्यं हि तच्छ्रूयताम् ।
न त्यागी न परिग्रही भज सुखं स्वस्थो यथावस्थितः ॥ (अनु०—१)

६. (a) दुःखैकसार इति भीम इति प्रयत्नात्
संसार एष किल यस्य बभूव हेयः ।
दिष्ट्या स एव परचिद्रससामरस्य-
सञ्जीवितः श्रयति तस्य विमुक्तिसाम्यम् ॥ (चि० त्रिं०—११)

(b) दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शाङ्करः ॥ (शि० स्तो० २०—१२)

७. (a) ध्यानेऽर्चनेऽपि च कदाचन काञ्चनापि
कुत्रापि निर्वृतिदशां बत यन्न लेभे ।
दिष्ट्या निमग्नमपि संव्यवहारमध्ये
चेतस्तदद्य न विमुञ्चति पारिपूर्ण्यम् ॥ (चि० त्रिं०—१५)

(b) (i) ज्ञानयोगादिनाऽन्येषामप्यपेक्षितुमर्हति ।
प्रकाशः स्वैरिणामेव भवान् भक्तिमतां प्रभो ॥ (शि० स्तो० २०-१४)

(ii) निमज्जमानमप्येतन्मनो वैषयिके रसे ।
नान्तरार्द्रत्वमभ्येति निश्छिद्रं तुम्बकं यथा ॥ (मा० वि० वा० २—१०४)

Abbreviations

C. S. T. = Citta santoṣa triṃśikā.

M. M. P. = Mahārtha-mañjarī-Parimala.

P. A. T. = Paramārcana-triṃśikā.

S. S. V. = Śiva sūtra-Vārtika.

अनु = अनुत्तराष्टिका अभिनवगुप्तस्य ।

चि० त्रि = चित्तसन्तोषत्रिंशिका नागार्जुनस्य ।

पर० त्रि = परमार्चनत्रिंशिका नागर्जुनस्य ।

भै० स्तो = भैरवस्तोत्रम् अभिनवगुप्तस्य ।

मा० वि० वा० = मालिनीविजयवार्तिकम् अभिनवगुप्तस्य ।

शि० स्तो० = शिवस्तोत्रावलिः उत्पलदेवस्य ।

EXAMINATION OF THE DOCTRINE OF SELF-LUMINOSITY BY KUMĀRILA : AN ASSESSMENT

DR. G. L. CHATURVEDI

Department of Sanskrit, Lucknow University, Lucknow

The chapter entitled 'Śūnyavāda' in 'Ślokavārtika' undertakes a detailed examination of the doctrine of self-luminosity. Although it is the Buddhist formulation of the concept that Kumarila has in mind, the objections he raises against the hypothesis of self-luminosity are of general significance. In fact, after the age of the upaniṣads, systematic thinking on the concept of self-luminosity was determined, to a very large extent, by the controversies which the supporters of the hypothesis had with the Bhattas and the Naiyayikas.

Kumārila's opposition to the doctrine of self-luminosity is radical and thoroughgoing. The supposition of self-luminosity, it may be noted, is one way of accounting for the direct manifestation of experience itself, the other alternative being the possibility of the apprehension of the primary cognition by the subsequent cognition. The significance, of the doctrine of self-luminosity of experience, therefore, hinges on a more basic issue i. e. the question of the reality of the direct knowledge of experience. Kumārila questions the very possibility of the direct apprehension of experience, which the doctrine of self- luminosity presupposes and seeks to account for. Experience, he points out, can be neither self-luminous, nor is it capable of being apprehended by subsequent cognition. It cannot be self-luminous, because the illuminatedness (of the idea) is object-bound and has no capacity for self-reference. Nor can it be that one idea is apprehended by another, since there would be no end to such series.[1] In a cognition e. g. 'this is jar' the object jar alone is revealed but the cognition or the means thereof is never directly apprehended.

It is true that after the cognition of the object such as 'this is jar', there may follow the recollective cognition 'I know the jar'. And though it is true that the recollective cognition evidences cognisance of previous cognition, it is a case of presumption rather than of recollection or direct apprehension of primary cognition. "The notion of remembrance that enters into the element of subsequent cognition, is a mistaken one, because it is only the remembrance of the object (and not of cognition). It is the remembrance of the (cognised) object, that leads to the cognisance of a previous cognition (through Arthāpatti)".[2] After the cognition of the object, whenever there is curiosity as to the specific cause of it, the recollected knowness jñātatā) of the object is explained by presuming the existence of the previous cognition. Hence, contrary to the contention of the idealists, the cognition of the form 'I know the jar', far from being a case of recollection of the self-revealing experience, is ascertainment of the previous cognition of the object through arthāpatti. Most significantly, Kumārila points out that illumination is not

1. Ślokavārt., Śūnyavada, 187.
2. Ibid., 192. Trans. by G. N. Jha.

synonymous with cognition. "The fire etc. that are known to be illuminators (of jar etc.) cannot be said to be themselves illuminable, because they do not stand in need of any other illuminator'.[3] "Whenever they come to be cognised, it is only the sense organ that could be their cogniser, while in the cognising of the organ, the character of the cogniser would belong to the idea. And when this Idea itself comes to be cognised, we shall have another idea for its cogniser, and in no case can the same object be both cogniser and cognised".[4]

It becomes obvious that Kumarila's objection to self-luminosity stems from his conception of cognition as an act. A cognition, far from being a self-revealing fact, is a unique act of the soul, which is directed towards an object and effects its comprehension. An action, is inconceivable without reference to the agent to whom it is ascribed, the instrument by which it is effected and the object to which it imparts some distinction. What is significant is that the three points of an action, the agent, the object and the instrument are distinct and irreducible by one another. The cook is different from the act of cooking and its obeect rice etc. Similarly the act of cutting is different from the cutter and the tree etc. which may be the object of cutting. If knowledge is conceived as an act, the distinction between knowledge, knower and known is a necessary prerequisite. Not only this, there can be no knowledge if any of these terms of the cognitive situation is lacking.

It may be noted that Kumārila's criticism of self-luminosity based on Kartṛ-Karma-Virodha (exclusiveness of the agent and object) Kriya-Karma-Virodha (exclusivenes of the act and object) and Pramāṇābhāva (absence of relevant means) stem from the aforesaid corollaries of the act theory of knowledge.

Kriya-Karma-Virodha

When it is said that knowledge is self-luminous or self-comprehending, it means that either the same cognition is cogniser as well as the cognised or that the act of cognition cognises itself. In the first instance, the nominative becomes identical with the accusative whereas in the second instance, it is the action that is identified with the object i. e. becomes an object unto itself. These identifications, it is pointed out, are contrary to the established usage and are not supported by any known instance of action. In an action, the agent, the instrument and the object are always distinct and irreducible. 'The act of cooking does not cook itself, or cutting does not cut itself, the finger tip does not touch itself or the point of a needle does not penetrate itself. These actions point to the objects different from them.

Kartṛ-Karma-Virodha : Elaborating the contention, Kumarila duly emphasises that the act of cognition is essentially object-bound. "While functioning towards the comprehension of the object the idea does not approach itself, does not render itself comprehensible. Hence, though the idea is illuminator, yet for its own comprehension it stands in need of something else".[5] In order that an idea may be comprehended, it must be presented as an object to a fresh

3. Ślokavāvart Śūnyavāda, 187. (Trans. by G. N. Jha).
4. Ibid, 66, 67 (Trans. by G. N. Jha).
5. Ślokavārt., Sūnyavād, 184 (Trans. by G. N. Jha).

act of cognition. But this too is not possible, since the idea is momentary and does not exist in the moment in which the subsequent idea, that may comprehend it, arises.

Pramāṇābhāva : The supporters of self-luminosity point out that it is no loss to the hypothesis of self-luminosity, if experience does not exist till the conception comprehending it may arise. The theory of self-luminosity upholds that the cognition is revealed in the very moment of its existence. Unlike an object, which depends on cognition for its revelation, the cognition itself does not depend on anything for its manifestation. Hence in the absence of obstructing factors and in view of utter irrelevance of aids with regard to the manifestation of the self (identity) of cognition—the cognition must be admitted as self-luminous.[6]

Against this Kumārila upholds that there can be no knowledge if any of the three terms of the cognitive act, i. e. the nominative, the accusative and the instrumental, is absent. Although it is true that at the time of its appearance there is no obstructing factor to prevent manifestation of cognition, yet it is not apprehended, simply because there is no suitable means to effect it. Kumārila observes : "It is not merely because of the obstructing factors that the object is not comprehended. Even in absence of the specific accessories, means etc. there is absence of cognition."[7]

An estimate of Kumārila's polemics against self-luminosity :

Kumārila distrusts the notion of self-luminosity chiefly because he thinks that the concept invariably leads to idealism by eliminating the independent existence of the object. "If the idea is said to be cognised at the time of the cognition of the object, and in that case, the existence of the object would be struck off at its very root, and it is for this reason that we bring the objections home to them."[8] As has been shown, his refutation stems from his conception of Knowledge, as an act. The finality of the distinctions of knowledge, knower and known, which has been the mainstay of his polemics, flows from the definition of knowledge as an act. It may also be noted that the act of cognising i. e. the object-bound operation of the means of cognition is essentially a mechanical or unconscious process. Once knowledge is identified with it, it can be safely demonstrated as nonself-manifesting and unconscious. What intermediary process intervenes between the eye-object (jar) contact and the resultant cognition 'I know the jar' is scarcely known to us. Kumārila identifies knowledge with the series of unconscious operations of cognitive mechanism and is broadly correct when he upholds it to be nonself-luminous. Besides, the posterity of philosophers owes him certain vital distinctions and points of clarification which helped future deliberations on the problem. They may be noted as follows :

1. Kumārila was the first to distinguish between the 'cognition' and the manifestation (revelation).

6. Ślokavārt., Śūnyavāda, 24.
7. Ślokavārt., Śūnyavāda, 183.
8. Ibid., 233.

2. He rightly affirmed that the subject and the object of knowledge are exclusive notions and the function of one should not be assigned to the other.

3. If knowledge is conceived as an act, the distinctions between the knowledge (instrumentality), knower (agency) and known (accusative) flow from the analysis of the meaning of the term (knowledge) and as such must be basic to all epistemology having such a concept of knowledge at its base.

4. Direct apprehension of the cognitive act is not possible,

It is fairly obvious that in his polemics against self luminosity, Kumārila is simply consistently working out the implications of his concept of knowledge as an act. Against him, however, one may point out that his very concept of knowledge is erroneous. The identification of knowledge with the intervening processes of cognitive mechanism is peculiar and is removed from the commonsense notion of knowledye. Even if an act of knowledge is a necessary supposition to account for the origination and destruction of cognition, it is the result (*phala*) of the act, rather than the act itself which is designated as knowledge. In common parlance, the term knowledge stands for the resultant manifestation e. g. 'this is jar' and not for the operations which effect it. It is with reference to this fact of manifestation that the theory of self-luminosity has been put forth.

It is the manifestive character which distinguishes cognitive occurrence from all other occurrences and entitles it to be so designated. Kumārila's concept of cognition fails by ignoring this unique distinction of all experience and is for this very reason not only repudiated by his ideaiist adversaries, but is embarassing even to the realists.

BHĀVĀDVĀITA AND ĀBHĀSA-VĀDA

Dr. C. MĀRKANDEYA ŚASTRY

Hyderabad

The main principle of Ems-Monism (Bhāvādvaita) attributed to Maṇḍana Miśra is that it recognised unity in diversity of two entities in Mokṣa-viz. the experience of Bliss and negation of Avidyā. According to Bhāṭṭa School of Pūrvamīmāṃsa and all schools of Advaita, the negation, Abhāva is a positive experience eventhough it consists in the negation of an article or experience. Hence Ems-Monism postulated two positive entities at the stage of Mokṣa and an equation between these two is taken as the non-dualism Advaita. The argument adduced in support of this view is that the elimination of Avidyā, which is negative in character, results in the experience of the Brahman, the Supreme Sat, Cit and Ānanda. Maṇḍana Miśra, however, does not state clearly whether the Abhāva of Avidyā enjoys a status of existence in his postulation of Bhāvādvaita. If two positive entities are acceptable in the Final Bliss, are they not experienced as seperate entities, even if there is a complete equalisation between both ? To equalise an Abhāva, the conception of non-existence with the principle of Sat of Brahman perhaps appeared to Maṇḍana as an impossible solution to the problem of Advaita. So, he resorted to the equation of both. But in equation there are two recognisable entities as such and so to claim an Advaita between both, eventhough there is a common factor of positive experience (Bhāva) between both is absurd.

Hence, the non existence of Avidyā should be considered either to have merged in the Supreme existence or should continue as a negative principle only as such. If the latter theory is accepted it will end in the Śūnya-Vāda, nihilism, of Buddhists which is not acceptable to Advaitins. So, the former should be the their postulation strictly. But the merger of non-existence with the Supreme is possible only if the former too is accepted as an existence, for only objects that enjoy a stature of existence can undergo a merger resulting in an uniformed experience. But non-existence, eventhough positive in nature, cannot be an existence by itself. It is only a dialectical proposition to say that negation of an object is experience in the form of the base, because the conception of negation is with reference to the object negated and to extend it to the base on which the negated object is located amounts to only confusing two separate experiences, however, identical both of them may be.

Sureśwara's answer to this problem is that the positive entity of negation is not simply cognised at the time of Mokṣa. "The monism of Advaita which repudiates only a second positive reality does not come into clash with the recognition of negative realities". This view of Maṇḍana Miśra's Bhāvādvaita is not quite convincing for Śankara Advaitins. According to Prof. P. P. S. Śastry and Sri S. Suryanarayana Śastry, Maṇḍana does not recognise even Anupalabdhi as a pramāṇa because it is not ignorance but failure to cognise the object that causes the so called negative judgement. But what causes this failure or rather what conceals the object from

being cognised ? It shall be something that can conceal it and it is the nescience which is a negative reality. The negative judgement shall hence be the explanation of this non-cognition caused by the nescience. What is hence cognised in this process should only be the nescience and the means of knowledge in this cognition should be Anupalabdhi. The learned professors, however, observed "But the failure which functions through being itself cognised. could not be cognised in the absence of prior knowledge of X as distinct from the locus. This cognition of negation involves prior cognition of negation and so ad infinitum". So it is to be concluded that Maṇḍana's cognition of negation at the time of Mokṣa is an imposibility.

But the cognition resulting in the judgement that there is nothing here in which the nothingness or Abhāva is an attribute of 'Being' (Is), Astitva, and not necessarily due to non cognition of a particular thing. Nothing means the absence of anything and negation as such, without a reference of attribution to any X or Y, is the object of cognition at the time of Mokṣa. The conception of 'Neha Nānāsti Kiñcana' is the starting point and the conception of 'Neti Neti' is the end result of this process. Maṇḍana views that a cognition of this end-point continues in the Mokṣa. The Ems Monism does not stop with this end point of cognition of negation but also equates it with the Supreme Bliss, a positive experience.

According to Śaṅkara and his successors, there is no seperate cognition of negation of Avidyā as such at the time of Mokṣa. Since it too is a cognition, it attribute viz. the negation of Avidyā too is dropped through the Āgama Pramāṇa of Mahāvākyas, and it gets merged with the Supreme Bliss; rather the attribute cognition expands as the Supreme cognition. In traditional Advaitā term, the conception of "Idam" is dropped when negation of Avidyā alone is cognised, at ihe prefinal stage as it were, whereas the conception of Aham too is dropped when this attitude of negation of Avidyā disappears.

Sureśvara, however, is not sure of this position. He does not agree with the stand advocated in Brahma-Siddhi that there are two positive realities and an equation between both/ the Mokṣa since it then cannot be a thesis of Monism at all. He is not also sure of Śaṅkara and Post-Śankara doctrine that the Avidyā-nivṛtti as such does not exist at all as a seperate object or cognition because it is not possible to postulate a negative connotation, however positive in conception it may be, leading to an experience of positive realisation of Supreme Enlightenment. So he takes stand mid-way. His opinion appears to be that while the Mahāvākyas reveal the Supreme into experience and thus are the direct causes of Mokṣa which is the Advaita bliss, there is a non-cognition of the negative realisation of nescience at this Final stage. The cognition limited by the attitude of negation of Avidyā is not simply there in Mokṣa. What happens to it then ? Is this cognition as such dropped ? This cannot certainly be the position because even this cognition with an attitute is a part of the al-pervading Supreme consciousness. Or does the attitute of negation of Avidyā drop ? Sureśvara does not say so, presumably because he thinks that Mahavakyas are efficient causes of the dawn of realisation and they are not directly sources of negation of Avidyā. So, he maintains indirectly a gap between Saṁsāra-Nivṛitti and realisation of Advaita and Sureśvara's position in this respect may not be as explicit as that of Maṇḍana.

The Ābhāsa-Vāda advocated by Sureśwara in explaining the down ward process of creation is also based on this stand. If the cognition of negation of dropping away the attribute, the germination of even the primordial soul, Īśvara, becomes impossible because there is nothing to conceal the native of the Supreme Reality even partially and projects the Cidābhāsa. Thus it cannot be said that Avidyā is dropped completely at Mokṣa and it can only be assumed that it is not cognised as such. How does it operate to produce this Cidābhāsa is a big question. It is there and it is inevitable, Avicārita Siddha according to Sureśvara. Its operation is Anirvacanīya.

An examination of ever one or two Mahāvākyas reveals this inescapability of Avidyā, though not cognised, at the Mokṣa level. For Eg : in the aphorism Ayam, Ātmā Brahma, Ayam stands for Avidyā in its final stage or devaluation i. e. the cognition of negation of nescience. Brahman is the Supreme consciousness, the Advaitic realisation and Ātman the cognisor stands in between. He starts with Ayam, drops it or in Sureśvara's view does not cognise it, and realises the Brahman. Similar can be the interpretation of Aham Brahma Asmi-Aham stand for the cognition of negation of Avidyā, Asmi for the realisation of the Advaitic Supreme and Brahman pervading both.

What is the reason for such a stand assumed by Sureśvara, which is not at all in consonance with the theory advocated by his preceptor Śrī Śaṇṅkara and his other disciples ? It must be only his Saṃskāra or past training. While the religious rites are helpful in bringing about the mental purification, Citta-Śuddhi, the six Sādhanas. like Śama, Dama etc. advocated in the Vedānta are means in achieving the negation of Avidyā from its effective stage to causal stage gradually. The prefinal stage of cognition or negation of Avidyā is the last stage in this process but the means of attainment of this stage too is only through the Karma-Kāṇḍa, may be consisting in mental, psychological and intellectual disciplines. This means, which is basically Avidyā oriented can never be a source of Supreme Realisation, according to the Advaita doctrine, and it can dawn through a means of testimony only i. e. the Mahāvākyas. Hence, there is an inevitable gap in between. Sureśvara is not prepared to accept the ineffectiveness of the process of Karma-Kanda and so appears to think that its result is not in the purview or experience of Mokṣa realisation for which of course this experience of negation of Avidyā is an essential prerequisite.

Thus he shows a development on Maṇḍana and falls behind his Guru in this thesis. Does this stand justify the Maṇḍana-Sureśwara equation in the sense that it reflects a rethinking of a doctrine by one and the same individual resulting a shift for improvement ? Perhaps a closer study of the Vidhiviveka, Vibhramaviveka and Brahma-Siddhi in this order and still closer comparison of the doctrines imbibed in them with Sureśvara's works, especially his magnum opus the Bṛhadāraṇya Vārtika may go a long way in substantiating this view.

————

THE CONCEPTION OF SĀMĀNYA (UNIVERSAL) IN MĪMĀṀSĀ

Prof. BISWANARAYAN SHASTRI

The universal (*sāmānya*) is one of the six categories enumerated in the Vaiśeṣika sūtra[1]. The term used in the Nyāya sūtra for the universal is *jāti*. The sixteen *padārthas* of the Nyāya differ from those of the Vaiśeṣika, because they are the list of the central topics of the logical science. The Vaiśeṣika categories are the objects of knowledge. "All things which exist, which can be cognised, and named" are *padārthas*.[3] However, the two systems, in course of time, merged into one and the Nyāya has also accepted the Vaiśeṣika categories.

Sāmānya and *jāti* are used to denote the same thing and they stand for the same cocep-tion. However, some modern writers think that the two conceptions differ, as two terms differ.

The universal (*sāmānya*) has been defined as an aspect which resides in many and is eternal[4]. The impediment of the cognition to *jāti* has been defined to make the concept clear.[5]

The universal is manifested through the individual and the two are quite different categories. Though the universal is totally different, according to the Nyāya-Vaiśeṣika, from the individual (*vyakti*), the two are cognised as one through the relation of inherence (*samavāya*).

Of the five pairs of entities between which the inherence holds, that of the universal and the individual is one of them. The inherence, which is one and eternal, according to the Nyāya-Vaiśeṣika, may hold between an eternal and non-eternal entites. On of the relata of the inherence being non-eternal does not affect its eternal character.

In fact, *samavāya* (inherence) is the corner stone of many concepts of the Nyāya-Vaiśeṣika system, such as the concept of whole (*avayavin*) as distinct from the parts (avayava), the concept of causality i. e. the effect is completely different from its cause (the effect is regarded as being originated a-new in the cause) and the acceptance of the universal as the eternal entity

1. Vaiśeṣika sūtra 1.4.
2. Vyaktyākṛti jātayastu padārthāḥ.—Nyāya-sūtra, 1.2.6.
3. Astitvam, abhidheyatvam, jñeyatvam—Prasastapāda bhāṣya. Of the six categories of the Vaiśeṣika the first three are objective, while the last three are subjective. See Vaiśeṣika system, by-Faddegon, p 117.
   A. B. Keith also says that *sāmānya* a is 'a mental creation; See Indian Logic and Atomisim, p 192.
   Dr. Radhakrishnan calls it 'conceptual product'.—Indian Philosophy, vol 11 p. 209.
4. Padārtha dharma saṁgraha, p. 311.
   'Nityamanekavṛttiḥ sāmānyam'.—Kiraṇāvalī, p 22.
5. Vyakterabhedstulyatvam saṁkaro'tha anavasthitiḥ rūpahānirasambandho jātibādhaka saṁgrahaḥ.—Kiraṇāvalī.

and being manifested through the individual. Without the assistance of *samavāya* these conceptions cannot stand logically.

This Nyāya-Vaiśeṣika theory has been attacked and contested by the other schools of Indian philosophy. While the Buddhist does not recognise universal at all, the Mīmāṁsaka accepts it with substantial modification. The other systems also do not subscribe to the theory propounded by the Nyāya-Vaiśeṣika. The Jaina, as also the Ramānuja Vedantin does not accept *sāmānya* as a separate category, neither they consider it as eternal. However, they do not fall in the line of the Buddhist in repudiating *sāmānya*.[6] According to the Buddhist, *sāmānya* is conceptual and not real, and the Jaina and the Ramānuja do not admit the said position. The later Jaina philosophers, however, have taken a some what radical view against the conception of *sāmānya*. The Jaina has advanced the conception of similarity (sādṛsya) to replace the universal; and with the acceptance of similarity he explains the cognition of 'cowness' in the cow. This change of approach by the Jains to the conception of *sāmānya*, according to Dr. Satkari Mukherjee, is due to the Buddhist influence.

The *Sāṁkhya* holds that the universal is not a separate category by itself, rather it is included in the substance, quality etc. All products being non-eternal, any quality or a property of a non-eternal thing is bound to be non-eternal. Hence how can there be the cognition of eternal 'cowness' in a non-eternal cow? The quality is bound to perish with the destruction of the object where it resides.

It thus appears that, none of the schools of the Indian philosophy shares the Nyāya-Vaiśeṣika conception of the universal. The two schools of Pūrva Mīmāṁsā led by Kumārila and Prabhākar hold different views on the subject. While the Prābhākara school toes, more or less, the line of the Myāya-Vaiśeṣika the Bhatta holds quite an opposite view. In the following paragraphs I propose to present the views of these two schools of Mīmāṁsā, briefly.

The universal is perceptible, and as such, it is to be admitted as an entity-says Kumārila. When we cognise a thing we cognise it as the possessor of the universal i. e. both the universal and the individual are cognised. For instance, when we cognise a cow, the cognition is "that is a cow". The cow individual and the "universal cow" are the object of our cognition. In other words, there are two aspects in every cognition of an object—one aspect is that of the particular object and the other of its class-character. The individual aspect is cognised by the operation of the differentiating function of knowledge (*Vyāvṛtityākārā buddhi*) and class-character of the object by the operation of continued course of knowledge (anuvṛttyākārā buddhi).

In the instance of the cognition "this is a cow" the knowledge of "this" distinguishes the particular cow from all other cows. This cognition is due to the function of the differentiating

6. The Jaina philosopher Samantabhadra in his *Āptamīmāṁsā* discusses the question of universal and says that the universal is not eternal and not witout parts *(naikamanaṁśam)*. But his commentators like Akalanka, Vidyānandī differ from him. See—The Jaina philosophy of Non-Absolutism,

process of knowledge, and that is by the word 'This' (*ayam*). Again the cognition of the "cow" is the congnition of all individuals of that particular species of the animal, i. e. the class-itself. This is due to the function of the continued course of knowledge.

The cognition of the class character which is caused by the continued course of knowledge (anuvṛtti) is much more important than the other, and, therefore, it cannot be denied. Moreover, Kumārila says, the knowledge caused by inference is also based on the class character of an object. For instance, when on seeing the smoke coming out from the mountain we infer the existence of the fire on the mountain, this knowledge by inference is caused by the knowledge of the class i. e. the universal. The inseparable relation of the fire with the smoke, which is at the root of the inference, is obtained from the pervasiveness of the smoke of the fire, and this pervasion is of two universals i. e. the pervasion of the "fire-universal" (*vahnitva*) by the "smoke universal" (*dhūmatva*). In other words, the pervasion is between "fireness" and "smokeness". Had it been between two individuals no body would have cognised them as pervador and pervaded in all cases. The very basis of inference is dependent on the class character of the entities and not on individual entity. Therefore, the class character of the entities cannot be denied. Thus on the basis of the knowledge caused by, both perception and inference, the existence of the universal (*sāmānya*) has been established.

The Bhāṭṭa has no quarrel with the Nyāya-Vaiśeṣika so far as the admittance of the universal rests, but he differs from the latter in upholding the nature of existence of the universal. Unlike the Nyāya-Vaiśeṣika he holds that the universal is not entirely a different entity from the individual where it resides, and against the Buddhist view he maintains that the universal is not identical with the individual. The universal is different from, and identical with the individual- the Bhāṭṭa asserts. Had the universal been completely different from the individual like the horse and the cow, the both would not have been cognised as one. We do not cognise the horse and the cow as one entity, because the horse differs from the cow and vice-versa. Like the horse and the cow the 'cow' and 'cowness' would have been cognised separately. But in the case of the cognition of "this is a cow" we do not cognise the cow individual (*gau*) and the cow universal (*gotva*) separately. Hence, the two may be considered as identical. Since the two have different connotation and function they may be taken as different.

The objection raised by the Bhāṭṭa has been met by the Nyāya-Vaiśeṣika. He says that the universal is entirely different from the individual where it resides, but the manifestation of the universal is strictly confined to the individual. Though the universal is eternal and all pervasive one, it can be cognised only in the individual. And that manifestation is by the power of a relation which holds between the two. The said relation is *samavāya* (inherence) which is eternal. It is the power of the relation of inherence which makes two different entities appear as one.

The Bhāṭṭa does not accept inherence (samavāya) and criticises the stand taken by the Nyāya-Vaiśeṣika. Kumārila attacks the very basis of inherence by saying that we do not cognise "the cowness is in the cow", but our cognition is "this is a cow". Had they been two entirely different entities, as the Nyaya-Vaiśeṣika sought to make out, we would have cognised one as the

substratum *(ādhāra)* and the other as the superstratum (ādheya) as in the cognition of "the apples are in the basket".

Kumārila further questions the definition of *samavāya* (inherence) as given by Praśastapāda[8]. What is this *ayutasiddha* (inseparably connected)? Does it mean the absence of separte movement (*pṛthaggatimatva*) or the absence of separate substratumhood (*pṛthagādheyatva*) of the two relata of *samavāya*?

In the case of the first alternative it is seen that though the whole lacks movement, the part possesses the motion. Therefore, the part and the whole (*avayava-avayavin*) possess separate movement. If the second alternative is taken, that also does not hold good. Take the case of the pot. The potness i. e. the pot universal resides in the pot, and the pot in its parts. Thus the locus of the potness and that of the pot is different, which means the universal and the individual do not share the same locus. Therefore, on the ground of *ayutasiddha* the relation of inherence cannot hold between the whole and the part, the universal and the individual etc.[9] And in the absence of inherence, which is responsible for presenting two different entities as one, the myth that the universal is entirely different from the individual, has exploded.

The Nyāya-Vaiśeṣika however may raise an objection to the conclusion of the Mīmāṁsaka that the universal is responsible for the continued process of knowledge and the particular (individual) for the differentiating process of knowledge, and if both the universal and the individual are taken as identical, the result would be that one universal, which is identified with one individual, will be different from the other, or, all individuals will appear as one. This is totally absurd. Hence, universal cannot be accepted as identical with the individual.

This objection of the Nyāya-Vaiśeṣika has been brushed aside by the Bhāṭṭa. He says that, if the universal is entirely different from the individual as the Nyāya-Vaiśeṣika has made, how the perception of the cow individual as the possessor of cowness will be possible? Had they been two completely different entities in the cognition of "this is a cow", the perception would have been of "this" and "cow" separately. The perception of "this" would be completely different from that of the "cow". Again, if they are taken as identical, "this" and "cow" will stand for "this" "this" or "cow" "cow"; and "this" will be the synonym of "cow", which is totally absurd.

Now a question may arise-how two contradictory attributes can reside together? The Bhāṭṭa says that, though difference and identity are contradictory, there is nothing wrong in their being together in the same locus. It is not as contradictory as "this is silver" and "this is non-silver", therefore both can take place together. Moreover, in a relative sense such contradictory attributes may reside in the same universal. Yajñadatta is taller than Viṣṇudatta and smaller than Devadatta. In this case both tallness and smallness reside in Yajñadatta at the same time. In the same way "difference" and "identity" can be the attributes of the universal.

8. Ślokavārttika, ākṛtivāda.
9. In order to avoid this absurdity parthasarthi Misra has redefined *samavāya* as follows: "*Yena sambandhena ādheyam ādhāre svānurūpām buddhim janayati, svākāreṇa bodhayati ityarthaḥ sa sambandhaḥ samavāyaḥ.*"

The Nyāya-Vaiśeṣika maintains that the universal is omnipresent *(sarva-sarvagata)* which is manifested through an individual. Kumārila does not agree on this assertion and says that the universal is always confined to the individual. It cannot be an omnipresent entity. He says :

> *"Piṇḍeṣveva sāmānyam nāntarā gṛihyate yataḥ /*
> *nahyākaśavadiscchanti sāmānyam nām Kiñcana //*

The Nyāya-Vaiśeṣika may raise another objection to ihe Bhāṭṭa view by saying that if the universal is confined to the individual only, where did it reside when there was no individual ? Where does it go when the individual is destroyed ? When an individual is born wherefrom it comes ? The universal is eternal, hence it cannot be born. The universal is devoid of shape *(amūrtta)*; hence it does not possess action, and without action it cannot join an individual.

To this objection the Bhāṭṭa replies in a circuitous way. He says that when an individual is born, the universal of its own unites with it. The function of union is by the power of self-same relation *(tādātmya sambandha)*. This relation, unlike *saṁyoga*, is not caused by any other agency or action. It is self-caused and therefore the question of coming from some where or going away from it does not arise.

Pārthasārathi Miśra seems to have affected a compromise when he says that whether the universal be accepted as an omnipresent one or as an entity entirely dependent on the individual-it is manifested through the individual,

In fact what is called *tādātmya* by the Bhāṭṭa and *samavāya* by the Prābhākara is a relation which is caused by itself and that is responsible for the universal being invariably identified with the individval.

If it is omnipresent its manifestation is in the individual through the relation of *samavāya* (inherencec), or *tādātmya* (self-same relation), and if it is confined to the individual only, it is manifested in the individual where it resides.[11]

The Prābhākara views :

The Prābhākara admits universal and holds that it is an entity of existential nature. The universal *(jāti)* is different from where it resides and is perceptible[12]. Like the Nyāya-Vaiśeṣike he also maintains that *jāti* is eternal. Unlike Nyāya-Vaiśeṣika he does not accept *samavāya* (inherence) as an eternal relation.[13] The relation between the universal and the individual emerges as soon as the individual is born and the relation disappears when the individual perishes. While the Bhāṭṭa calls that relation *tādātmya* (self-same relation), the Prābhākara calls it *samavāya* (inherence), but the Prābhākara's conception of *samavāya* differs from that of the Nyāya-Vaiśeṣika. There is also difference between the Prābhākara and the Nyāya-Vaiśeṣika in the question of admitting *sattā jāti*.

The Nyāya-Vaiśeṣika admits a *sattā-jāti* in the first three categories (*dravya, guṇa* and *karma*) of the Vaiśeṣika and he calls the rest three categories (*sāmānya, viśeṣa* and *samavāya*)

11. *Tatra yat yāvat pṛṣṭam sāmānyam sarvagatam vyktigatam veti, tatra pakṣadvayamapi vayam kukṣikurmaḥ.—Mānameyodaya* P 231
13. *Samavayam tu na vayam Kasyapiya iva nityamupemaḥ. Prakarana-pañcikā*, P 206.

simply *sat* (existent). The intention is that there is a common character in the substancehood, qualityhood and activity which makes them a class. But there is no such common class character pervading *sāmānya* etc. *Sāmānya* itself is a *jāti* of it. Acceptance of another *jāti* will lead to *regressus and infinitum.*

The Prābhākara does not admit *sattā sāmānya* as the common character in those three categories. He says, we cognise substancehood in a substance, but nothing common is cognised among substancehood, qualityhood and activity. The substance, quality etc. are different categories, they do not present common characteristics for our perception. (The Prābhākara holds that the *jāti* (universal) is *pratykṣa*. For instance, We cognise a common property in one and all pots, but we never cognise such common property in the pot (substance) and in the potness (quality).[14]

It thus appears that, Mīmāṁsakaś conception of *jāti* (universal) is basically different from that of the Nyāya-Vaiśeṣika.

14. *Tasmāt svarūp-sattopādhika eva sacchabdo na punarekākarh sattānām dravya-guṇa-karmanām.—Prakaraṇapañcikā,* P 29

BHĀMATI AND VIVARANA-A COMPARITIVE STUDY

SWĀMI SADĀNANDA GIRI

Formerly Head of the Department of Philosophy, Sannyasi Sanskrit Colloge Varanasi

Acharya Sankar had revolutionised the Indian philosophy in general and the Advaita philosophy in particular by his commentaries on some of the upanishads, the Gītā and the Brahmasutras. After him two almost separate schools of thought grew up with the helf of the Cornmentary on the Brahmsutras. His direct disciple Padmapāda wrote a commentary of Bhāṣya called Panchapādika upto the first four sutras. Prakāshātmā yati wrote Panchapādika-Vivarana. Due to the style of treatment and explanation this is called the Vivarana school of thought. Almost all the asectic āchāryas support this school of thought.

Vāchaspati Miśra, the great commentator of the six Indian philosophies, wrote his famous commentary, Bhāmati, of the bhāṣya. In his exposition Vāchaspati arrived at different decisions when compared to Panchapādika- Vivarana. In this article I shall try to show their different explanations with regard to the first sutra. 'Athato Brahmajijnasa'.

Treatment of this sutra widely differs between Vivarana and Bhāmati. There is no differenee of opinion regarding the meanings of 'atha' and 'atah'. In both the interpretations the former means afterwards, and the latter, hence. Opinion differs regarding the meaning of 'brahmajijnasa'. Each interpretation cites the passages of the bhāṣya for support.

Let us discuss the interpretation of the Vivarana school first. Jijnasa is composed of two words 'jna' and 'san', the meanings of which is 'a desire to know'. According to Panchapadika both the meanings are retained, but at the same time by implication (lakṣana) they mean discussion. The desire to know Brahman by discussion is the direct meaning of the sutra. The bhāṣya states that 'discussion to know Brahman should be performed' (Brahmajijnasa Kartavyā). Here 'Kartavya' is used by the bhāṣya.

Though it may be argued that a desire naturally arises according to the beauty of the thing concerned, so' 'a discussion should be performed' is out of context; yet according to Panchapādika desire as the meaning of the suffix 'san' is the essential part and due to some other words a discussion is meant in an indirect way. In this, the essential meaning 'desire' has not been left. So we get in the bhāṣya : a discussion should be performed.

The bhāṣya 'jnatum ichha jijnasa' shows the desire, the meaning of the suffix. The meaning of the root 'jnā' is 'knowledge' which cannot be an object of performance; yet the knowledge arising as the result of discussion can be an object of discussion, because the qualifier discussion can be performed. So, there is no contradiction whatsoever.

Vāchaspati in his Bhāmati on the other hand accepts the primacy of the sense of the suffix and admits the meaning of 'jijnasa' as the desire for knowledge which is the result of discu-

ssion. Desire segnifies doubt and purpose. Having been directly the objects of desire the undivided state of mind and the revealed nature of the Self are the two purposes of 'jijnāsā'. According to Bhāmati desire has the primacy due to the laws of grammer. So, implication should not be resorted to mean discussion, or there is no need to add 'Kartavya' from outside. The cause of 'jijnasa' is doubt, and doubt forces a man to discussion. So, the sense discussion is implicit in the sutra. There is no need to accept implication. So, Śankara has rightly said 'Brahma-jijnāsā cannot be began'.

TREATMENT OF PARIBHĀṢĀS IN ṚGVEDA PRĀTIŚĀKHYA

Dr. BHABANI PRASAD BHATTACHARYA
Department of Sanskrit, Jadavpur University

The Ṛgveda-Prātiśākhya ascribed to Śaunaka is divided into eighteen paṭalas or chapters. In the first chapter (paṭala) of this metrical work we come across various technical terms (Saṃjñā) and rules of interpretation (paribhāṣā). The interpretative rules or paribhāṣās as they are commonly known provide an interesting study from the standpoint of grammar. Most of the Paribhāṣās dealt with by Śaunaka help us in ascertaining the correct meaning of vexed grammatical problems.

Before discussing the nature of paribhāṣās in RP. we must first of all know the meaning of the term 'Paribhāṣā.' Different grammarians have explained the word in different ways in accordance with the characteristic properties which the paribhāṣās possess. The word does not occur in the Aṣṭādhyāī of Pāṇini. Kātyāyana, the Vārttikakāra, however uses the term paribhāṣā in his Vārttika's on two different sūtras. Though Patañjali, the author of the Mahābhāṣya does not give any definition of the term paribhāṣā, he has explained it as a rule of interpretation which prescribes nothing independently, but which, being connected with injuctive or other rules, becomes helpful to them in the completion of their sense. In the words of the reputed grammarian the paribhāṣā rule casts a glance at all the rules just as the light of lamp and goes wherever it is needed for the clarification of the sense of the sūtras (परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् महाभाष्य २।२।१। Taking the cue from the Bhāṣyakāra, Haradatta in his Padamañjarī defines it as follows—'परितः सर्वत्र पूर्वत्र परत्र व्यवहिते चानन्तरे च भाष्यते कार्यमनया सा परिभाषा'. । The later grammarians have proposed numerous other definitions of the term 'Paribhāṣā' which runs as—परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते । भाष्यन्ते परितो यस्मात् परिभाषास्ततः स्मृताः ।. परितो भाष्यते या सा परिभाषा । अनियमे नियमकारिणी परिभाषा and others.

In RP. I. 53 the Paribhāṣā न्यायैर्मिशानपवादान् प्रतीयात् lays down that an exception is to be taken with reference to its corresponding particular general rule. The word न्याय in the above sūtra means the same thing as उत्सर्ग or general rule. अपवाद means 'a rule in supersession of another rule i.e. a special rule'. The commentator Uvaṭa explains it thus—'न्याया उत्सर्गा महाविषया विधयः । अपवादा अल्पविषया विधयः । तानुत्सर्गैर्मिश्रानेकीकृताञ्जानीयात् ।' According to this observation made by Uvaṭa it is clear that the general rules embrace a wider range of grammatical operations than that of the special rules. And one should understand the exceptions as connected with the general rules. In the process of formation of words a general rule is apllied only after ascertaining the special rules. The later paribhāṣā 'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते' (प० ६४). also signifies the same meaning. First of all the scope of application of a special rule is to be considered for application. Nāgeśa in his Paribhāṣenduśekhara clearly defines it as 'पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः' (प० ६३). In ĀŚS I. 1.22 the term प्रसङ्ग is used for उत्सर्ग which appears

to be an earlier name. Uvaṭa commenting on the above paribhāṣā sūtra cites two examples of the same. The first example relates to a variety of consonantal Sandhi. In RP. IV. I we find Āsthāpita Sandhi which is a mere combination of a mute with a following consonant. It is divided into two classes—Avaśaṅgama and Vaśaṅgama. When mutes precede and consonants follow and neither of them undergoes any change, the sandhi is called Avaśaṅ gama. The name is significant due to the fact that no change takes place in regard to the initial or the final consonant. Uvaṭa explains it correetly—यत्र द्वयोर्व्यञ्जनयोरविकारः सोऽवशंगमः सन्धिः। This Avaśaṅgama Āsthāpita is a general rule concerning consonantal Sandhi. The second type i.e. Vaśaṅgama serves as a special.rule to it according to which eighter of the two or both undergo some change. The next example given by Uvaṭa in this connection belong to the realm of vowel sandhi, known as Anuloma Anvakṣara Sandhi. It occurs when the words eṣaḥ, syaḥ and saḥ or vowels precede and a consonant follows The designation is Anuloma because in this particular euphonic combination the vowels precede and the consonants follow in the natural order. This variety of Sandhi is the general rule to which the Sāmavaśa Sandhi is to be regarded as an exception. RP. I. 60 itself says—'सामवशा इति चैवापवादान् कुर्वन्ति ये सम्पद' पादवृत्तयोः' ।

The next Paribhāṣā-sūtra of RP. lays down that an irregular formation (nipātana) refers not only to one particular general rule but often to several general rules. According to the previous sūtra an exception is to be taken with reference to its corresponding particular general rule whereas the present sūtra states that irregular formations are to be understood as given with reference to the entire work. Thc commentator Uvaṭa makes the point clear when he observes—'सर्वशास्त्रार्थमुत्सर्गत्वेन पुरस्कृत्य तस्यैवापवादत्वेन प्रतिकण्ठमुक्तं जानीयात्। प्रतिकण्ठशब्देन निपातनमुच्यते। तद्धि कण्ठं कण्ठमिव प्रतिसंगृह्यैकैकस्यैव प्रदर्श्यते।' The whole treatise is to be taken here as equivalent to general rule and nipātana is to be looked upon as an exception to it. The name प्रतिकण्ठ for निपातन is significant because it is being referred to in connection with each and every general rule like a person clinging to one throat after another. The above Prribhāṣā finds a more powerful expression in Nāgeśa's maxim बाधकान्येव निपातनानि (प० २२६) which prescribes that nipātanas or irregular formations always supersede general rules coming in conflict with them. Uvaṭa in his commentary illustrates the use of this particular Paribhāṣā-sūtra. In नू इत्था ते (RV. I. 132.4) the expected regular form is न्वित्था according to RP. II. 21. But nipātana serves as an exception to the general rule of Kṣaipra Sandhi as well as to the lengthening of the final vowel. Hence in the above example we find both absence of sandhi and lenthening of the final vowel. In परीतो षिञ्चत (RV. IX. 107.1) the regular form is expected to be इतः सिञ्चत. But nipātana or irregular formation superseds all other general rules, changes the Visarjanīya together with its penultimate letter into 'O' and the following dental sibilant into cerebral sibilant.

Śaunaka in his next Paribhāṣa-sūtra throws light on the nature of savarṇa. He says that in the statement regarding the place of articulation as also of contraction of vowels we are to understand the two homogeneous vowels—short and long. (स्थानप्रश्लेषोपदेशे स्वराणां ह्रस्वादेशे ह्रस्वदीर्घौ सवर्णौ RP. I. 55). TP. I. 3 gives the definition of Savarṇa in a simple manner—द्वे द्वे सवर्णे ह्रस्वदीर्घे. According to its view the two i. e. short and long are the homogeneous vowels, The author of the Tribhāṣyaratna comments on the above rule thus—'इयमन्वर्थसंज्ञा ।

सवर्णत्वं नाम सादृश्यमुच्यते'। VP. is more explicit in its definition and appears to include for the first time consonants also within the scope of savarṇa. In VP. I. 43 the term 'Savarṇa' has been defined as an alphabetic sound having a similar place as well as mode of articulation and also similar vocal effort. Pāṇini's definition is nothing but a short form of the above. The only difference is that in VP. 'karaṇa' is superfluous while in Pāṇini we miss 'sthāna.' CA. employs the word without taking the trouble to explain it. The commentary on CA. I. 27 however follows Pāṇini and says—'मुखनासिके ये वर्णा उच्यन्ते तेऽनुनासिकाः। समानास्यप्रयत्ना ये ते सवर्णा इति स्मृताः ॥' The sounds uttered in the mouth and nose effort of the mouth are styled similar. The term 'savarṇa' 'similar' applied to sounds differing in quantity only and not in quality.

The commentator Uvaṭa explaining the above interpretative rule states that when a short vowel is mentioned in connection with place of articulation as well as contraction of vowels we are to understand by it the two homogeneous vowels, short and long. As for example in the rule कण्ठ्योऽकारः (RP. I. 38) by the mere mention of 'a' we should understand both 'a' and 'ā' because this has reference to the place of articulation. In इकारोऽस्य यकारमकारः सोदयः (RP. II. 16) 'i' stands for both 'i' and 'ī' because the present rule is concerned with the contraction of vowels. This Paribhāṣā, however, does not hold good in other cases except 'sthāna' and 'praśleṣa.' VP. has a similar Paribhāṣā which states—ह्रस्वग्रहणे दीर्घप्लुतौ प्रतीयात् (I. 63).

In RP. I. 56 we come across the most important Paribhāṣā-sūtra which lays down that when a word in the nominative and one in the accusative are used together it is to be understood that the former is changed into latter, and the conversion takes place according to ānantarya or proximity of relationship of the two letters (असावमुमिति तद्भावमुक्तं यथान्तरम्). Almost all the grammatical rules are divided into three parts—kāryin, kārya and nimitta. The word which undergoes a grammatical operation is known as kāryin, the cause or condition of the said operation is called nimitta and the operation itself is known as kārya. The expression असावमुम् in the present rule implies that in RP. the letter to be changed is put in the nominative and the resulting letter in the accusative. यथान्तरम् means that the change is to take place in accordance with the closest proximity of the two letters. Uvaṭa in his commentary on the above rule makes the points clear. He says—'असाविति प्रथमानिर्दिष्टस्य ग्रहणम्। अमुमिति द्वितीयानिर्दिष्टस्य। यत्रासौ वर्णोऽमुमित्येवं वक्ष्यति तत्र तद्भावमुक्तं जानीयात्। यदित्यनेन द्वितीयानिर्दिष्टं परामृश्यते। तेन रूपेण भवनं तद्भावः। स च प्रथमानिर्दिष्टस्य भवति। तं च तद्भावं यथान्तरं जानीयात्। यो यस्यान्तरः सन्निकृष्टः स्थानकरणानुप्रदानैः स तस्य भवति।' The word 'असौ' refers to one in the nominative and 'अमुम्' in the accusative. Where 'this letter to that letter' is stated, one should understand that 'this letter becomes that letter' and the becoming takes place according to proximity in relation to sthāna, karaṇa and anupradāna. In TP. we come across two similar Paribhāṣā-sūtras which say—अःकार आगमविकारिलोपिनाम् (I. 23) and अं विकारस्य (I. 28). According to the first rule a word in the nominative stands for an insertion (āgama) or for an element which undergoes alteration (Vikāri) or elision (lopī). The next rule states clearly that the product of alteration (विकार) is put in the accusative. The author of the Vaidikābharaṇa explains the terms used in the previous rules thus—'अनेन पारिभाषिकाणां कृत्रिमाणां चागमादिवाचिनां शब्दानां विभक्तिविशेषो नियम्यते। अऽकार इत्यकारविसर्जनीययोः समुदितयोर्व्याकरणसिद्धेन कारप्रत्ययेन निर्देशः। स खलु बहुलग्रहणानुवृत्या वर्णसमुदायादपि भवति। अःकारेण प्रथमा विभक्तिरुपलक्ष्यते।

अन्यत्र विद्यमानस्तु यो वर्णः श्रूयतेऽधिकः ।
आगम्यमानतुल्यत्वात् स आगम इति स्मृतः ॥
प्रकृतिस्थस्तु शब्दस्य स्थाने यस्यापरो भवेत् ।
सतो गुणान्तरोपेतः स विकारीह तत्समः ॥
प्रकृतिस्थस्तु यः शब्दः संहितायां न दृश्यते ।
तत्स्थाने च न शब्दोऽन्यः स लोपी नश्वरोपमः ॥

एतेषामागमादीनां प्रथमा विभक्तिराख्या भवति ।
अमिति द्वितीया विभक्तिरुपलक्ष्यते ।

सविकारो यदन्यस्य स्थाने शब्दान्तरं स्मृतम् ।
द्वितीयया तु निर्देशे तस्यैव प्रत्ययो मतः ॥

अत्र द्वितीया विभक्तिः शब्दान्तरविकारस्यैव नियम्यते, न तु गुणविकारस्य । तेन पूर्वस्वरोऽनुनासिकः, अनुदात्तानां प्रचय इत्यादिगुणविधिषु निर्देश उपपद्यते ।

Following in the foot-steps of TP., VP. I. 133 lays down that the result of modification is put in the accusative (तमिति विकारः). Uvaṭa in his commentary on the above rule says—'तमित्युत्सृष्टसर्वनामिका द्वितीया विभक्तिर्गृह्यते । द्वितीयया यो निर्दिश्यते स विकारः प्रत्येतव्यः । यथा अनुस्वारं रोष्मसु मकारः (४।०) इति । मकारोऽनुस्वारं विकारमापद्यते ।' In Āśvalāyanaśrauta-sūtra we find some specific instances where the kārya is put in the accusative. The following sūtras may be mentionned here—स्पर्शेषु स्ववर्ग्यमुत्तमम । अन्तस्थासु तां तामननुनासिकाम् । रेफोष्मस्वनुस्वारम् । (ĀŚS I. 2, 16-18) RT. also uses the accusative with kārya in a similar manner. (अवं वा, 89; रौ मम् 93). Pāṇini, in his Aṣṭādhyāyī, however, indicates kāryin by the use of genitive case and kārya by nominative. Thus we find—षष्ठी स्थानेयोगा (Pāṇ. I. 1.59) which means अस्य (स्थाने) एतत् (भवति). An exactly identical rule is found in TP. I. 136 which seems inexplicable because in his particular Prātiśākhya the kārya is always put in the accusative and the kāryin in the nominative. The scholars are of opinion that the above rule has been framed with a view to dealing with cases of elision. Pāṇini's rule VI. 1.68 may be contrasted here, where the nominative case has been used with the 'lopin.' The practice of putting kāryin in the genitive and kārya in the nominative by the celebrated grammarian has been followed by the Prātiśākhyas of the AV. Thus we find in CA; सोष्मणि पूर्वस्यानुष्मा (I. 94); तेभ्यः पूर्वचतुर्थो हकारस्य (II. 7), नकारस्य शकारे ञकारः (II. 10). The same thing is noticed in AP. :—नकारस्य रेफः (III. 3.2); विसर्जनीयस्य सकारः (III. 3. 7) etc.

The above Paribhāṣā-sūtras dealt with by Śaunaka in his RP. deserve a careful comparative study. Some of the interpretative rules are still in the process of development and they are treated more scientifically in the later systems of Sanskrit grammar. The superiority of strength in Apavāda rules has been amply demonstrated by the various maxims as laid down by the grammarians of later period. But on certain occasions only that the general rule is stronger and sets aside the special rule, if thereby correct words are formed. The nipātana or irregular formation supersedes all other general rules and it stands as an exception to each and every rule coming in conflict with it. If a short vowel is mentioned in the context of places of articulation and contraction of vowels, one should simply mean by its mention the two homogeneous vowels

i. e. short and long. This particular Paribhāṣā-sūtra, however, is not found in the later grammatical systems. The authorities on grammar have interpreted 'Savarṇa' in different way and their treatment differs from the one laid down in the Prātiśākhyas. The Paribhāṣā regarding 'kāryin' and 'kārya' occupies a very prominent position and a detailed treatment of this topic is found in Pāṇini and other Prātiśākhyas as well. The nature of the three important factors kāryin, nimitta and kārya pertaining to rules prescribing grammatical operations have been clearly explained in the Pāṇinian system of Sanskrit grammar. Though the Paribhāṣās treated in the RP. are not of a perfect type still the attempt made by the author in that remote period is undoubtedly helpful for us in arriving at the exact explanation of grammatical rules and correct formation of words.

Abbreviations

RP.	Ṛgveda-Prātiśākhyan ed. M. D. Śastri
TP.	Taittirīya-Prātiśākhya ed. Whitney
VP.	Vājasaneyi-Prātiśākhya ed. Rastogi
CA.	Caturadhyāyikā ed. Whitney
ĀŚS	Āśvalāyanaśrautasūtra ed. Ānandāśrama Sanskrit Series
RT.	Ṛktantra ed. Suryakant
AP.	Atharva-Prātiśākhya ed. Viśvabandu
Pāṇ.	Sūtrās of Pāṇini

VIRAJĀ KṢETRA—A SĀKTA PĪṬHA

Dr. U. N. DHAL

Sanskrit Department, Utkal University, Bhubaneswar

Viraja Kṣetra[1] at Yājapura on the river Vaitaraṇī in the Cuttack district, Orissa is a place of pilgrimage. Like Gayā Kṣetra, or others it is five krośas in extent. The Kṣetra is named after the goddess Virajā, its presiding deity. The old image of the goddess recovered and installed in the present sanctum in semi-broken form is a two-handed image of Mahiṣāmardinī type. She holds the tail of the buffalodemon in one hand and pierces it by the trident held in the other. The icon dates back to the pre-Gupta age[2]. Besides Virajā there are Saptamātṛkās 'Seven Mothers' worshipped on the bank of the river Vaitaraṇi and Aṣṭacaṇḍikās spread inside the Kṣetra, which is triangular in size. The Caṇḍikās are named as Santheśvarī, Nīlākṣī, Uttareśvarī, Bhagavatī, Koṭaviśvarī, Bhīmāvatī, Krodavāsinī and Siddheśvarī. Thus the Kṣetra is adorned by goddesses in different manifest form.

In the Tīrthayātrā section of the Āraṇyakaparvan of the Mahābhārata[3] (3,80-83) in response to Bhīṣma's querry Pulastya gives a long and exhaustive list of Tīrthas in India sacred to different deities like Śiva, Sūrya, Viṣṇu, Kārttikeya, Devī etc., Among these are included the prominent Tirthas like Bhīmāsthāna, Madhuvaṭı, Kanyā Tīrtha, Śākambharī, Sundarika Tīrtha, Udyanta-parvata, Gauśparvata, Śrīparvata and Viraja Kṣetra sacred to the mother goddess.

According to ancient religious traditions there are mainly four sacred Kṣetras in Orissa. They are known as Brahma Kṣetra, Śāmbhava Kṣetra, Vaiṣṇava Kṣetra and Saura Kṣetra and are located at Yājapura, Bhubaneswar, Puri and Koṇārka respectively. The Viṣṇuites name them after the different emblems and attributes of Viṣṇu. Thus the Kṣetras are disignated as Śaṅkha Kṣetra at Puri, Cakra Kṣetra at Bhubaneswar, Padma Kṣetra at Koṇārka and Gadā Kṣetra at Yājapura, Just as the devoted Vaiṣṇavas imprint their body with the emblems and attributes of Viṣṇu for religious sanctity similarly these Kṣetras were known after the emblems and attributes of Viṣṇu and are believed to be the sacred places of pilgrimage for the adherents of Viṣṇu. Later some Viṣṇuite deities were installed in each Kṣetra for their purpose. Accor-

1. For further reference on Virajā Kśetra, refer to my article, "Viraja Kṣetra Māhātmya of Brahmāṇḍa Purāṇa—A Survey", *Purāṇa*, Vol. XIX No. 2 (July, 1977) pp. 292-304; cf. Palmleaf Manuscript No. P/24 of *Virajā Kṣetra Māhātmya* in the O. G. M. L, Bhubaneswar.
2. R. P. Chanda, *Memoirs of the Archaelogical Survey of India* No. 44, *Exploration in Orissa*, Calcutta, 1930, P. 4.
3. *The Mahābhārata*, Vol. 3, Ed. V. S. Sukthankar, Poona, 1942 It may be taken for granted that the text kernel of the Tīrthayātrā portion of the Mahābhārata was composed earlier than the 4th Century A. D. cf. D. C. Sircar, *The Sākta pithas*, 2nd revised edition, Delhi, 1973, p. 8.

dingly we come across Varāha, an incarnation of Viṣṇu in the Gadā Kṣetra at Yājapura, which was visited by the great Vaiṣṇava saint Chaitanya during his visit to Orissa. Devout Vaiṣṇavas regard Ananta-Vāsudeva as the presiding deity of the Cakra Kṣetra at Bhubaneswar and Śiva came to the scene later. Puruṣottama—Viṣṇu adorns the Saṅkha Kṣetra at Puri. Arka 'the sun', the progenitor of Viṣṇu is regarded as the sole deity of Padma Kṣetra at Koṇārka. Subsequently Tulasī Kṣetra at Kendrāparā, Cutiack district, was added to the list of Vaiṣṇava Kṣetras and Baladeva glorifies the Kṣetra as its tutelary deity.

The author of Kapila Saṁhitā[4] (circa 13th century A. D.) lays down the four principal deities-*KṛṣṇĀrkapārvatīHaraḥ* as the guardian deities of the above Kṣetras and names the Kṣetras after them. Accordingly Yājapura is wellknown as Pārvatī Kṣetra, Puri as Kṛṣṇa Kṣetra, Koṇārka as Arka Kṣetra and besides Bhubaneswar, the text adds Kapilāsa in the Dhenkanal district as the Hara Kṣetra. Thus Virajā Kṣetra is variously known as Brahma Kṣetra, as it was founded by Brahmā after sacrifice, Gadā Kṣetra according to Viṣṇuite tradition; above all as Pārvatī in the form of Virajā is the premier deity of the Kṣetra it is known as Pārvatī Ksetra or Virajā Kṣetra. In the Mahābhārata it was known as Virajā Tīrtha. As the mother-goddess shapes the destiny of the Kṣetra it is venerated as a Śāktapīṭha or a seat of worship of the mothergoddess. So it is recommended as a place of pilgrimage for the devout followers of Śakti or the great mother.

The terms like Kṣetra, Tīrtha and Pīṭha need elucidation for clear understanding. Broadly speaking Kṣetra 'field' presupposes an area or region named after a deity such as Bhāskara Kṣetra, Puruṣottama Kṣetra, Pārvatī Kṣetra or Virajā Kṣetra etc; sometimes in view of the place it is Known as Ksetra like Vārāṇasī Kṣetra, Kāmarūpa Kṣetra etc. Tīrtha 'Ford' points to a sacred place by visiting which one expiates one's sins-*tarati pāpādikam yasmāt* (Śabdakalpadruma) and is derived from the root *tṝ* 'to cross' by adding *thuk*. From the study of the four Adhyāyas of the Mahābhārata and allied texts which depict clearly different Tīrthas of India, it is evident that each and every Tīrtha is situated on the bank of a river or pond, by taking a dip into which one washes away one's sins and attains merits of different kinds. Like other Tīrthas Viraja Tīrtha is situated on the bank of the river Vaitaraṇī. A visit to the goddess Virajā after a bath in the river is supposed to remove sins. Pīṭha connotes 'a seat, a place to sit on' and can be deduced from the root *piṭh* with the addition of *ghañ*. Pīṭha refers to place where a Sadhaka of the deity attained Siddhi through austerities and has established the deity. So the Siddha Pīṭha is named after the deity such as Vaiṣṇava Pīṭha, Śaiva Pīṭha, Gāṇapatya Pītha etc. The Buddhist tradition as enumciated in the Catuṣpīṭha Tantra, a Sahajayāna text speaks of the Pītha as the place of intercourse of Vajrasattva with Yoginīs like Prajñāpāramitā and others to attain eternal bliss through sexual pleaaure. Those Pīṭhas are four in number such as Ātmapīṭha, Parāpīṭha, Yogapīṭha and Guhyapīṭha[5]. These holy places of the past were recognised as Pīthas according to their tradition. Slowly the Pīṭha came to be known as the seat of the mothergoddess. Each Pīṭha is followed by a Pīṭhadevī (form of the goddess),

4. *Kapila Saṁhitā*, Ed. R. K. Basu, Cuttak, 1928 Adhyaya 3,1.
5. D. C. Sircar, *OP. Cit.* P. 11.

the Kṣetrādhīśa or Bhairava (a form of Śiva) and the limbs of the goddess related to it. The above list of Śākta Pīṭhas in the Mahābhārata indicates the presence of places sacred to the mothergoddess or where the mothergoddess in some form or other was duly adored. With the evolution of the legend of Dakṣayajña-Vidhvaṃśana,[6] the various limbs of Satī were linked with different Śākta Pīṭhas. The Pīṭhas like Bhīmāsthāna, Udyanta-Parvata, Gaurīśekhara, Śrīparvata, Virajā Tīrtha or Virajā Pīṭha etc. Mentioned in the Mahābhārata were associated with different limbs of the mothergoddess. The wide spread idea of relating different limbs with different Pīthas is peculiar to the mothergoddess.

The number of Śākta Pīṭhas grew through the ages and their account is very well incorporated into the body of various Tantric texts. The Hevajra Tantra[7], a Buddhist work of the 8th century A. D. enumerates the following four regions as Pīṭhas : (1) Jālandhara, (2) Odīyāna (Uddiyana in the Swat valley), (3) Pūrṇagiri and (4) Kāmarūpa (Assam). But the text is silent about Pīṭhadevīs and Bhairavas persent there and the limb of the goddess associated to each Pīṭha. The Kālikā Purāṇa[8] (64,43-48) following the above tradition mentions the four Pīṭhas and adds the name of the Pīṭhadevī and the Bhairava present there in the following manner-(1) Oḍra, the seat of the goddess Kātyāyanī and Jagannatha as Bhairava in the west, (2) Jālaśaila (Jālandhara), the seat of the goddess Caṇḍī and the god Mahādeva in the north, (3) Pūrṇaśaila (Pūrṇagiri), the seat of Pūrṇeśvarī and the god Mahānātha in the south and (4) Kāmarūpa, the seat of the goddess Kāmeśvarī and god Kāmeśvara in the east. But the text does not mention the limbs of the goddess associated with it. These four Pīṭhas represented the four cardinal points of the country and hint at the spread of the mother worship in different corners of the country. In another section of the same text (18,42-51) we come across the name of seven Pīṭhas with Pīṭhadevīs and limbs of the goddess falling there on. Thus : (1) Devīkūṭa having Mahābhāgā as Pīṭhadevī where the two feet of the goddess fell, (2) Ūḍḍīyāna having Kātyāyanī as Pīṭhadevī where the two thighs of the Devī fell, (3) Kāmagiri having Kāmākhyā as the Pīṭhadevī, who is associated with the Yoni 'pudendum muliebre' of the goddess, (4) Dikkaravāsinī is the Pīṭhadevī of a locality on the eastern border of Kāmarūpa where the navel fell, (5) Caṇḍī is the Pīṭhadevī of Jālandhara, where the two breasts of Satī fell, (6) Pūrṇeśvarī is the Pīṭhadevī of Pūrṇagiri, where the neck and the shoulders fell, and (7) Lalitakāntā is the Pīṭhadevī of a locality on the borders of Kāmarūpa, where fell the head of Satī. The seven Pīṭhas include the four stated earlier. Śiva in the form of Liṅga remains as Bhairava in each of these Pīṭhas as a token of his deep love towards Satī.

The Rudryāmala Tantra,[9] which was composed earlier than 1052 A. D. mentions ten principal Pīṭhas of the goddess including the four stated earlier :

(1) Kāmarūpa, (2) Jālandhara, (3) Pūrṇagiri, (4) Oḍḍīyāna, (5) Vārāṇasi, (6) Jvalantī

6. For a discussion on Dakṣayajñavidhvaṁsa episode refer to the article of M. M. Pathak in the *Purāṇa*, Vol.XX, Fo.2 (July 1978) PP-204-223-
7. D. C. Sircar, *Op Cit*, P. 12.
8. *Kālikā Purāṇa*, Ed. B. Śastri, Varanasi, 1972.
9. *Rudrayāmala* quoted in *The Śākta Pīṭhas* p. p. 17-18.

(Jvālāmukhī), (7) Māyāpurī (near Hardwar), (8) Madhupurī (Mathurā), (9) Ayodhyā, and (10) Kāñci. But the language of the text reveals that some other Ṣākta Pīṭhas of less importance were also known to the author.

A work entitled Aṣṭādaśa Pīṭha[10] is said to have been written by some Śambhunāth Kar in 1806 A. D. under the guidance of an Utkala Brāhmaṇa, inhabitant of Yajapura. The list of eighteen Pīṭhas includes Srī Śaila, Kolhāpura and Utkala and the Pīṭhadevīs associated to them are Bhramarāmbikā, Mahālakṣmī and Virajā respectively. The mention of these deities is very interesting, because these goddesses are still worshipped in the places mentioned against their names. In view of their inclusion in the earlier texts like the Mahābhārata, Śrī Śaila and Virajā Pīṭha appear to be very old.

The Kubjikā Tantra,[11] which is supposed to be and early work enumerates fortytwo Siddha Pīṭhas, some of which seem to represent actually the names of deities like Kamalā, Vimalā, Vārāhī, Virajā etc. as Pīṭha devīs. Similar tradition is followed in the Jñānārṇava Tantra (Paṭala XIV, 1-12), Tantrasāra, Tantracūḍāmaṇi etc. where the number of Pīṭhas rises to fifty. In this list Virajā occupies the twentyeighth position in order. The Pīṭhanirṇayaḥ enumerates fiftyone Pīṭhas with Pīṭhadevīs and the Bhairavas accompanying them and refers to the Viraja Pīṭha*ābhideśaśca Virajakṣetramucyate Vimalā sā mahādevī Jagannāthasthu Bhairvaḥ.*[12]

From the text it seems clear that Viraja was a Sākta Pīṭha from the hoary past; when the goddess Vimalā alongwith Jagannātha at Purī rose to prominence, this new tradition of Vimalā, as a Pīthadevī with Jagannātha-Viṣṇu as Kṣetrādhipa (Bhairava) was joined with the old Viraja Pīṭha to make it a complete one, as it is the usual with our tradition that the old is always allowed to continue side by side with the new.

Though the redactor of the Matsya Purāṇa(Adh. 13) enumerates hundred and eight Śākta Pīṭhas with Pīṭhadevīs, the Purāṇa[13] Sṛṣṭikhaṇḍa (Adh. 17, 190-220) associates these Pīṭhas with the diffrent manifestations of the mothergoddess Unlike these the DevīBhāgavata[14] (7,30) speaks of the Pīṭhas associated with the limbs of Satī and the Pīṭhadevīs sprang up there but there is no mention of specific limbs related to the conception of relative Bhairavas followed. The redactore of these text have skilifully neglected the Viraja Pīṭha altogether. It is just possible that by the time of the composition of the urkern of the text, the Śākta Pīṭhas had spread throughout the length and breadth of the country but the Viraja Pīṭha was either losing its significance or the composer of the textkernel from whom these redactors accepted their texts was not aware of the Pīṭha, and so it could not be included in the list of hundred and eight holy Pīṭhas sacred to the goddess.

10. *Ibid*, pp. 18-17.
11. *Kubjikā Tantra* (Paṭala VII) quoted in the *Vācaspatyam*, Vol. V, P. 4342 ff.
12. *Matsya Purāṇa*, Ed. Jivananda Vidyasagar Bhattacherya. Calcutta, 1876.
13. *Padma Purāṇa*, Part I, Gurumandala Granthamala series No. 18, Calcutta, 1957.
14. *DevīBhāgavata*, Ed. Ramtej Pandey, Kasi, 1969.

5

From the study of the origin and development of the number of Sākta Pīṭhas in India we have marked that the list of the Pīṭhas with the Piṭhadevīs and the Bhairavas connected with each of them composed by different writers has a great deal of difference between them. It is clear that no recognised tradition casts any influence on them. The writers had very vague idea about some of the Pīṭhas and often depended on their own imagination. However this much is certain that various mothergoddesses were worshipped in different parts of India from the very early time. As the geographical knowledge of the redactors of the Mahābhārata was not sound, they could not take note of all the Śākta Tīrthas prevailing there. When the Brāhmaṇa immigrants, the harbinger of Vedic religion spread to the east, west and south-west of mid India, their original home, they wanted to brahminize the people of these regions, who had predilection for the mothergoddess. As a result of synthesis of the Vedic and primitive or prevedic tradition, the cult of the mothergoddess acquired an outstanding position and entered into the Buddhist and Brahmanical sects. The period of the wide spread popularity of the mothergoddess could be ascertained in the 6th century A. D. and onwards[15]. Probably when the concept of Sākta Pīṭhas became very popular, the authors of the cult tried to utilise the legend of Dakṣayajña-Vidhvaṃsana to offer a mythological explanation of the origin of the Pīṭhas.

The legend of Dakṣayajña-Vidhvaṁśana is very old and dates back to the rise of the Guptas[16]. The earlier version of the legend in the Brahma Purāṇa[17] (Adh. 39) states : Once Dakṣa-Prajāpati performed a sacrifice in a grand scale and invited all the gods and demigods except Śiva. When Umā, the consort of Śiva came to know that Śiva was denied a share in the sacrifice, a privilege given to all other gods, she wanted to know the cause of it. When Śiva was convinced of Dakṣa's hatred towards him, he wanted to punish Dakṣa by destroying his sacrifice. When the followers of Śiva and Umā destroyed the sacrifice of Dakṣa, he has to beg apology for it and was blessed by them. Here neither Umā is described as the daughter of Dakṣa nor is she mentioned to have sacrificed her life for the insult. The later modified version of the myth as found in the Purāṇas like Matsya Purāṇa (Adh. 13), Padma Purāṇa Sṛṣṭikhaṇḍa (Adh. 5), and Kūrma Purāṇa[18] (Adh. 14) lays down : Satī (Dākṣāyaṇī), the daughter of Dakṣa-Prajāpati was the consort of Śiva. Though Dakṣa performed a grand sacrifice and invited all other gods and demi-gods he ignored his son-in-law, Śiva. When Satī approached her father and wanted to ascertain the cause of it, she was insulted by him. So Satī cursed her father by wishing that the sacrifice would be destroyed by Śiva. Thus saying she perished of broken heart. When the news reached Śiva he became furious and sent Virabhadra and others to

15. In his article on 'Material Milieu on Tantricism' Prof. R. S. Sharma has very clearly and scientifically analysed the cause of the spread of the cult of the mothergoddess and its period of wide popularity. For further discussion on it see '*Indian Society : Historical Probings, In memory of D. D. Kosambi*, Ed. R. S. Sharma etc. 2nd edition, New Delhi, 1977, P. P. 175-189.
16. D. C. Sircar, *OP. Cit*. P. 5
17. *Brahma Purāṇa*, Ed. H. N. Apte, A. S. S. No. 28, Poona, 1895.
18. *Kūrma Purāṇa* Cr. Edn, Ed. A. S. Guha, All India Kashiraj Trust, Varanasi, 1972.

destroy the sacrifice. When the sacrifice was destroyed by the agents of Śiva, Dakṣa begged pardon. When Śiva was assured of his reunion with Satī in the next birth and his share in the sacrifice was assured he pardoned Dakṣa.

The Brahma Purāṇa is silent about the relation of Dakṣa with Umā and there is no mention of her death due to insult of Dakṣa. The present modified version of the text states that when the fact of Sati's death due to the insult of Dakṣa was brought to the notice of Śiva, he tried to destroy the sacrifice through his agents like Virabhadra and others. But this text tradition does not speak of Satī's body being cut into pieces by Viṣṇu to give rise to the number of Śākta Pīṭhas in India.

In the next stage of development a new legend was engrafted to the ole one only to explain the origin of the Śākta Pīṭhas. The texts like the Kālikā Purāṇa (Adh. 16-18), DevīBhāgavata (7, 30) and some Tantras record the later development of the myth thus: when Satī died by entering into the fire of sacrifice, Śiva ordered for the destruction of the sacrifice. Due to the bereavement of Satī, Śiva could not be consoled; he carried Satī's dead body on his shoulder and wandered throughout the eastern region. Brahmā, Viṣṇu and Śani entered into the dead body of Satī to deprive Śiva of it. These gods inside her body cut her into pieces which fell on different places on earth. The two legs fell in Devīkūṭa, the two thighs fell in Uddīyāna, yoni 'pudendum muliebre' in Kāmagiri at Kāmarūpa, the navel on the eastern border of Kāmarūpa, two breasts in Jālandhara and the shoulders with the neck in Pūrṇagiri. Thus the area was elevated to the status of a Yājñika deśa 'places of Vedic tradition'. The places on which different parts of the Satī's body fell turned into Śākta Pīṭhas or Siddha Pīṭhas and Pīṭhadevīs developed together with a form of Śiva as Bhairava. In Devīkūṭa the Pīṭhadevī is known as Mahābhāgā, in Uddīyāna as Kātyāyanī, in Kāmarūpa as Kāmākhyā, in the eastern border of Kāmarūpa as Dikkaravāsinī, in Jālandhara as Caṇḍī, in Pūrṇagiri as Pūrṇeśvarī etc[19]. The Tantrasāra[20] (C. 17th century A. D.) while linking different limbs with different places takes into account the myth under consideration to justify the sanctity of the Pīṭhas. Though all the texts associate the limbs of Satī with different Pīṭhas, there is no uniformity in their identification.

The Tantrasāra in the Pīthanirṇaya section utilised the list of fifty Pīṭhas and the limbs associated with it; there the text speaks of Viraja Pīṭha, where the right thigh of the goddess fell[21]. Caṇḍīmaṅgala of Mukundarāma, a Bengali work of the 16th century A. D. points to Yajapura as a Śākta Pīṭha, where the right foot of the goddess fell and the name of the goddess is Virajā.[22] But other texts uniformly link the nevel of Satī with Virajā. The Pīṭhanirṇaya in describing fifty one Pīṭhas speaks of Viraja thus :

---

19. *Kālikā Purāṇa*, Adhyaya 18, 38 ff
20. D. C. Sircar, *OP. Cit.* p. 23
21. *Ibid*,
22. *Caṇḍīmaṅgala* of Mukundarama Ed. Sukumara Sen, Calcutta University, pp. 49-50 as quoted in the *Śākta Pīṭhas* p. 33, f. No. 3.

Utkale nābhideśaśca Virajakṣetramucyate 13 The author of Śivacarita follows the same traditiion and brings connection the navel with the goddess Virajā. There is a well in the proximity of the goddess Virajā, which is known as Nābhikūpa or Nābhigayā, where Piṇḍas are offered to one's ancestors. People all over India assemble here for the purpose whenever they find any opportunity to visit the place of pilgrimage. It appears that Viraja Pīṭha like other Pīṭhas had become a famous Śākta Pīṭha long before Guptas came to power and revised version of the legend of Dakṣayajñavidhvaṃśana is a post facto attempt to account for the sanctity of the place.

According to another tradition the formation of Nābhigayā is related with the Gayāsura legend. It is wellknown as Gayā Māhātmya in the Vāyu Purāṇa[23] (Adh. 2, 43-50). The legend runs thus: In the Śvetavarāha Kalpa Gayā was a very powerful demon and a devotee of Viṣṇu, who performed severe austerities for thousands of years on the Kolāhala mountain to be purer than all. Gods being terrified by his penance approached Viṣṇu, who accompanied by all gods reached the demon and granted his desire. Then Gaya became pure; whosoever touched his body got liberation and went to Viṣṇuloka. So Yamaloka was desolated. Then Yama in the company of Indra and other gods approached Brahmā, who sought the counsel of Viṣṇu. Viṣṇu advised Brahmā to ask Gaya his pure body for the purpose of a sacrifice. Gaya immediately agreed and fell down on earth towards the south-west; his head fell on the Kolāhala mountain, his nevel in Viraja and his feet on the Mahendra mountain:

ākrāntam daityajaṭharam dharmeṇa Virajādriṇā |
nābhikūpasamīpe tu devī yā Virajā sthitā ||
tatra piṇḍādikam kṛtvā triḥsaptakulamuddharet || 85 ||
Mahendragiriṇā tasya kṛtau pādau suniścalau |
tatra piṇḍādikṛtsapta kulānyuddharate naraḥ || 86 ||

Vāyu Purāṇa, 2, Adh. 44, 85-86.

Brahmā collected materials and performed sacrifice on Gaya's body with the help of mindborn *ṛtviks*, According to the local tradition current in Yajapura and illustrated through the text entitled 'Viraja Kṣetra Māhātmya' quoted above it is stated that Brahmā performed a sacrifice to establish the Viraja Kṣetra. Probably these two traditions are confused together and were utilised to justify the origin of the Kṣetra and Nābhigayā thereon.

Above all there are two legends viz: one is to glorify Viraja Kṣetra as a Śākta Pītha and the other is to justify it as a Pitṛ Tīrtha and a Tīrtha of Vaiṣṇavite baning. The navel of the goddess or the demon appears to be the common element in both. The legend which relates Viraja Kṣetra as a Sākta Pītha is the Dakṣayajñavidhavaṃśana, the urkern of which goes back to the pre-Gupta age. It is not exactly known when the myth was modified and the story of Satī's body falling in different places giving rise to different Pīthas was incorporated into it. But it may be assumed that such development could take place after the 6th or 7th century A. D. when Śakti cult flourished in full swing. Similarly the Gayā Māhātmya can be assigned

23. *Vāyu Pnrāṇa*, Shri Venkateshvara Press, Bombay.

to the 7th and 10th centuries A. D.[24]. So it is equally difficult to say also exactly which one is earlier and which one is later.

It may be taken for granted that originally goddess Virajā was worshipped in the Kṣetra before the Gupta age. During the Gupta age due to revival of Hinduism when various Buddhist centres were converted into the centre of Hinduism, the Viraja Kṣetra was converted into a Śākta Pīṭha. Later on due to the rapid progress of Śakti cult the legend of Dakṣayajñavidhvaṃśana took a new shape and the idea that the parts of Devi's body falling in different places gave rise to Śākta Pīṭhas was evolved. This is Śāktaite redaction of the myth, which seems to take its present shape earlier than the Gayāsura legend. The Gayā Māhūtmya is a Vaiṣṇavite myth and it shows the spread of Viṣṇuism in different parts of India. Thus by associating the nevel of Gayāsura, a devout Vaiṣṇava the place has been glorified and made a sacred place of pilgrimage of the Vaiṣṇavas also.

24. P. V. Kane, *History of Dharmaśastra*, Vol. IV, Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1953, p. 652.

THE ASHVAMEDHA YAJNA OF SAWAI JAISINGH
(An Eye—Witness Account)

KALĀ NATH SHASTRY

Since the big treasure-hunt at the old Jaigarh Fort of Amber (Jaipur) hit the head lines in 1976, and the 250 th anniversary of Jaipur city was celebrated in 1977 the builder of this fort and the founder of Jaipur, Sawai Jai Singh has shot into public prominence once again. This remarkable Rajput Ruler is known in History for many a memorable .deed. As the founder of Jantar Mantars' in Delhi, Jaipur & three other towns and the planner of the city of Jaipur, one of the very few planned cities in the history of our country he is well known to the elite of the nation but few would recollect that he may also go down in history as a centre of another controversy among the Indologists in the late thirties of this century.

The controversy related to the performance of AshvamedhaSacıifice by Jai Singh. Tradition had it that he performed this great sacrifice which only an Emperor can perform according to the Hindu shastras. James tod refers to it in very vague terms "Among the vanities of the founder of Amber it is said that he intended to get up the ceremony of the Ashvamedha yāga or sacrifice of the horse. This vague reference led many historians to think that the Jajna episode may be only a tale spread by the eulogisers of the Prince. Dr. D. C. Sircar, a famous historian maintained that "Sevai Jai Singh most probably did not celcbrate any Ashvamedha." * Dr. Gaurishankar Hirachand Ojha also didnot mention Ashvamedha; he described events of this yajna in its name of Vājapeya yajna.

This sparked of a lively controversy among the Indologists. The late Dr. P. K. Gode, the then Curattor of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona wrote many monographs to prove that the perfamance of Ashvamedha Yajna by Sawai Jai Singh was a historical truth and a remarkable event of its own time and that evidence and references to this interesting as well as important occurrence are found in so many contemporary historical documents, poems & other works. These monographs arrested the attention of historians and scholars all over the country and a probe into the circumstances and details of the sacrifice ensued for a long time.

Today it is established beyond doubt that the performance of Ashramedha was a big historical event. Even today the places connected with this yajna bear testimony to the fact. Quite a few Brahmin scholars brought down to settle in Jaipur at the time of the Yajna from different parts of India have left their progeny here which continues to date, The most vivid, anthentic, detailed and learned account of this Yajna is found in a historical epic named "Ishavara Vilāsa"** composed by the famous scholar Shri Kri'hna Kavi, acelebrated court poet

* INDIAN CULTURE Vol. III No. 2, pp. 376-379.

** This epic has since been published by the Rajasthan Oriental Reseach Institute, Jodhpur (1958) with a commentary in Sanskrit by late Bhatt Mathura Nath Shastry a descendant of the author; but no English a Hsndi translation of the work is available.

of Sawai Jai Singh who was brought down to settle ln Jaipur by him and who also played an important role in this Ashvamedha. As an eye-witness account this description is being used and referred to by all the historians of Rajasthan as the most authentic contemporary record. This epic was the Mainstay of the late Dr. P. K. Gode's contention which proved beyond doubt the historicity of Ashvamedha.

In this epic comprising 14 cantos, 2 full cantos are devoted to the description of this Yajna. As the description is detailed and selfexplanatory it will be of great interest to the historians, Indologists and scholars of Sanskrit. An English rendering of the relevent verses from 4th and 5th Cantos of this epic is therefore given below.

Ishwar Vilās : Canto 4

He (Rājādhirāj Sawai Jai Singh of Jaipur) then, whose glory was in asendance and who had abundant flare for the performances of secred rites had the desire to offer the performance of the Ashwamedha Sacrifice and in order to fulfil this desire of his summoned a religious assembly of scholars[12], From all over the country celebrated scholars gathered to attend the conference held in a great audience hall which had a gorgeous setting; adorned by huge supporting columns profusely inlaid with precious stone.[18] That gathering of learned Scholars, was reminiscent of the conferences of divine preceptors. It was thus a unique assembly which took place at the request of the Maharaja Sawai Jai Singh. Besides in many more ways it for outshone even the assemblies of gods.

At the outset of that conference the great king (emperor of all the lords) thus spoke: his sonorous voice likening him with the thunder of a cloud full of nectar. "You are the most revered and learned scholar the savants of ancient wisdom, you are capable of breaking through the darkness of ignorance and enlightening the generation by the light of your knowledge. You know that since the incarnation of Lord Krishna struck the beginning of the fourth Yuga viz. Kali Yuga, some 5000 years have passed by and since then the practices of religion, Cultivation of ancient wisdom and the sacred performanees are on the wane. They are preserved only in history and heritage, we only hear of them. The very times are dark no light of Dharma is to be seen here.[21] But I have espoused as my duty the performance of solemn religious acts and sacred rites as advised by learned people like you dedicating myself to spiritual devotion in order to attain the salvation.

"I have already performed Chayanas of the three Fires, I have offered the great sacrifice known as Somayaga. I have performed the vajapeya sacrifice and other sacrifices to Brihaspati. Now I wish to perform the great Ashwamedha sacrifice. I hope you would kindly endorse this pledge of mine and guide me in fulfilment of this task."

On being accosted like this even as audience used in ancient days to be addressed by Indra or Janamejaya the pandits assembled there replied to him thus with due respect and courtesy.

"Oh Lord of the country, your highness is mighty. The sacrifices like the great Ashwamedha can be managed to be accomplished by mighty emperors like your highness alone but

one should remember that this sacrifice is ordained to be performed by emperors only and also that ever since its performance by Janamejaya no king or emperor has been able to perform this sacrifice on this earth. Keeping this fact in view your highness may take up this task with care and caution as your highness is himself conversant with all the essence of the learning of the Vedas and the sacred Laws. There is nothing of these which is not known to your highness nor anything which your highness can not accomplish."

Even hereafter still having some hesitation to wards the success of the great observance, the king sent an address to the great pandits of Varanasi asking for their advice on this proposal. On its receipt the learned scholars of Varanasi exchanged their views and having reached on accord and unanimity of opinion sent back a writ to the king thus—"Oh great king, the accounts of your excellent merits have reached the farthest corners of the world. You have already propitiated the three great Fires by performance of sacrifices-you may now perform with pleasure the Ashvamedha secrifice. This sacrifice will continue to be performed even in this Kaliyuga so long as the Vedas survive, the River Ganga flows and the Divisions of varnas and Ashramas exist in the country. It the performance was not offered by any prince after 'Janamejaya' it was only because none was born such as could have the glory and prowess to have conquered all the quarters and the requisite faith in the performance of Vedic sacrifices. Blessed be the fortune of the learned Brahmins of this country that you have taken birth from the consort of His Highness Maharaja Vishnu singh (and are offeiing the performance of this Yajna). Perform this Yajna. give away the gifts, revere the Vedas, learn the ossence of their wisdom, perform the Soma distillations offer the oblations to Lord Vishnu, receive his blessings and establish the glory of this success."

The king was heartened by the receipt of this writ of the Pandits and invited all the great priests from all over the country to the celeberation of the secrifice.

Then there came the great celebrity—the learned scholar of the Vedas, the Dharmashastra & Jyotish—Ayachit Ramchandra, as also another soholar, Rasmachandra Dravid, equally well versed in the Vedas and known as the Upadhyaya among the pandits of Varanasi. Still another Vedic scholar who had himself performed Soma Yajnas-Vyasa Sharma by name, also arrived. The scholar named yajnakara also came whose name matched his deeds because his most cherished exploits were the performances of yajnas. Gunakar also arrived who was famous in Varansi for having learnt by heart all the Vedas.

Hari Krishna Sarma of Karnataka who was respected among the Gokulasthas and who was himself a sacrificer came down. Thus very many Pandits from different places gathered for the sacrifical assembly called by the Rājādhirāja. The sounds of drums heralded the offer of this great observance by the king and the successive arrivals of scholars enhanced the glory of the kingdom of one who had decided to occupy the place equal to that of Dilipa and Mandhatri (who had performed this great Yajna earlir)

All the prerequisites provided as essential for this sacrifice were procured. They included the Aquarian birds—the beasts of the land & everything else that was advised by the pandits according to the provisions in the Vedas.

The provisions required for the sacrifice like Tila (Sesamun), Mundga (Beans), Yava (Barley), Ghrit (Meltedbutter), Sugar, precious stones, silver, gold, clothes like silk & cotton were all procured-Big heaps of each of such provisions were visible in no time.

In the north of the newly built city of Jaipur, a little away from the place where the Lord Govinda has his seat (Mandir) a grand encampment for the yajna was ordered. On the edge of the Manasagar a yajna enclosure was built up. The Huge vamparts glittering with inlaid gold & silver, with colums set in with precious stones, shining & reflacting the rays of light came up very soon. Different sections required for the Yajna, as, the gallery of ladies, the receptacle of the fire, the sacrifical hall, the conference hall & such others were expeditiously built up by able architects.

The winged symbol of Suparna as the emblem of the Vedas was built up with Trivritta as its head, Gayatri Chandas as the eyes, Rathantar and Sama as both the wings and representations of all other parts of the Vedas. This symbolic presence of the Veda deity was an inspiration for the yajna organisers.

4th canto ends. [Verses 12 to 51]

Ishwar Vilās-5th canto

A priest, well-versed in the three Vedas and and expert in the performance of Yajnas acted as the Brahmon who supervised the different sacrificial acts and duties placed under the Ritviks. He was the chief of the priests at Yajna. Shri Yajnakar of varanasi, honoured by the princes of the country acted as the Adhvaryu (of yajurveda). He was the reader (follower) of Madhyandina Shakha. A scholar of Rigveda initiated the offerings of oblations. Another Brahmin who worked as the Uddgata had a sweet voice and his tone far outdid in sweetness the melody of the Gandharvas. Thus with all the scholars attending to their duties started the rituals of the Great performance. The Sacrificial horse was released (to go round the territory) and as long as it went round it was protected by the guards (bowmen). The Brahmins offered oblations to the fire in the mornings & evenings. Towards the south (or in the right) of fireplace two singers to the accompaniment of Veena recited the glory of the Yajamana, the glory, which was the outcome of the gifts made by him at the Yajna. In the evening also they sang to the king of his victories & exploits at the battles. When the horse returned after the tour of the whole territory all went to the yajna enclosure.

Then the Brahmins started the principal part of the yaga for the king Lord Vastoshpati was invoked. A grand golden Yoopa. (tower) had already been erected-which scaled the skies. Just as the king of Amber stands head and shoulders above all other princes so did the tower (Yoopa) stand resplendent, dwarfing all other Yupas. The Brahmins who were amply feasted on sweets & other edibles at the Yajna clearly bespoke of the propitiation of Lord Vishnu. The poor and the orphans also got feasts of sweets and wished that the king may perform such sacrifices every day. There was an all pervading activity of inviting, gifting, cooking, frying, eating & merry-making all over the place. In the morning large heaps of foodgrains were visible but disappeared by the evening. Beautiful clothes, sweetmeats and other gifts were freely received by all and sundry that were present there. The fire accepted with smile the oblations offered to it just as the Brahmins the offerings.

Two Brahimins, Krishnakavi and Lakshman by name, sang of the glory of the king equating him with the great and magnificent Rajarshis like Prithu, Mandhatṛ, Sagar, Dilipa etc. Their exploits were enlivened by the songs as if they were happening before the eyes of people present there.

When the Soma was being distilled & offered to the fire the king was equated with Indra. Lord Indra, who was invoked, should have prided himself being called another Jaisingh. When Prajapati was invoked, the two reciters equated the Yajman with Prajapati.

Thus-perfect in all its aspects the great performance was observed by the king which vouchafed upparallelled glory to him. With red headgears the Ritviks were moving to & fro in the enclosure & were blessing the king. Whoever asked for anything at this observance got it from the king. The moneys brought from all the nooks and corners of the country (from the east & west) were received by the Brahmins gathered from all the quarters The great memorial tower by the edge of the Mansagar looked as if it were a tower of victory. over the whole world erected over the seashore. Glutted with daily offerings of oblations the fire got wollen & ppeared far more brilliant. The lady consort of Agni should have been very pleased to see her lord so fat & resplendent. Pampered with various dishes, Lord Indra too inspired great pleasure in the heart of his consort.

Even the Gandharvas sang of the glory of the great performance at the abode of Brahman. Brihaspati also spoke high of the great performance accomplished by the Rajadhiraj to the Devas.

The Rajadhiraj himself sitting at the "Yajman's" seat of offering, with an apparel of two white precious clothes on, with a Black-deer skin at the shoulder and a deer's horn in the hand-took it as a proud privilege and good fortune that he was having the Deeksha with Shikha & Sootra. Resplendent in his brilliance, the king was looking grand and glorious in his newly built royal town like Yudhishthira in the town built by Maya Danava. Around the enclosure which was brought up for the occasion Rajadhiraj had also got some big pools of water (Vapees) prepared-which were full of clear & sweet water and looked like lily ponds-with water-fowls chirping & playing over them, fragrant flowers emitting sweet smell and blackbees humming along. On the banks of so many of these ponds many Brahmins had sojourned & were using their water. Many beasts and birds whose presence was essential at this Yajna ond which were later released also used some of the ponds with pleasure.

Then the King came down to the bank of the Manasagar to have the final bath after the accomplishment of the Yaga. The Sagara had beautiful stairs on the ford got constructed by the King for the occasion. Four queen consorts of the King accompanied him there, and all the great scholars at the Yaga surrounded him. Just as the Moon with four consorts Rohini, Jyotsna, Raka and Kairavini to name, shines in the sky-so did the king shine at that time. The waters brought from different sacred "Tirthas" (places of pilgrimage) of the country were then poured over there, rich fees were offered, Brahmins were feasted. Thus the great performance which comprised the observance of 105 sacrifices was accomplished by Jaisingh. The Rajadhiraj thus accomplished the great Ashramedha sacrifice.

ON THE SIGNIFICANCE OF THE SAYING :

Gadyaṁ Kavīnāṁ nīkaṣaṁ vadanti

PROFESSOR Dr. MUKUNDA MĀDHAVA SHARMA

Gauhati University

Applied criticism

Side by side with the theoretical aspect there is also an applied aspect of Indian literary criticism. Definition of *kāvya*, its classification into *uttma*, *madhyama* and *adhama* varieties, causes (*hetus*) of poetry and the purposes of poetry are some of the topics which constitute the theoretical as we have it in the standard *alaṁkāra* texts like the *Kāvyaprakāśā* and the *Sāhitya-darpaṇa*. Certain *ālaṁkārikas*, like Paṇḍitarāja, give their own compositions as illustrations of *doṣas*, *guṇas* and *alaṁkāras*, etc. Others draw the illustrations from the existing literature[1]. Comments given along with the illustrations of the various aspects of poetry tend to present literary criticism in its applied aspect. Ānandavardhana's comments on Amacruka's *muktakas*[2] and the principal sentiments of the *Rāmāyaṇa*[3] and the *Mahābhārata*,[4] Kṣemendra's remarks on the metres employed by Kālidāsa, Bhavabhūti and few others,[5] and Mammaṭa's reference to the Rāghava-Bhārgava episode of the *Mahāvīracarita*[6] as an illustration of the literary blemish called Akāṇḍe chheda, are good examples of this applied aspect of literary criticism.

Applied criticism in literary works

Certain poets also in their literary works pass critical remarks on other authors or other works. Such comments also go a long way to serve the purpose of what we understand by the term literary criticism. For example, we have Bāṇabhaṭṭa's verses in praise of *Bṛhatkathā*, *Vāsavadattā*, Bhaṭṭārahari's-Candra Sātavāhana, Pravarasena, Bhāsa, Kālidāsa and Āḍhyarāja,[7]

---

(१) पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च ।
यथा सामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ।। (काव्यादर्शः, १-२)

(२) मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः श्रृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव । (Under *Dhvanyāloka*, 3.7)

(3) Under *Dhvanyāloka*, 4. 5.

(4) *loc cit.*

(5) *Suvṛttatilaka*, 3.29 to 3.35 for comments on the skill of Abhinanda, Vidyādhara, Pāṇini, Bhāravi, Ratnākara, Bhavabhūti, Kalidāsa and Rājashekhara with such verses like सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता प्रवल्गति ।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना ।। (3.34)

(६) अकाण्डे छेदो यथा—वीरचरिते द्वितीयेऽङ्के राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढे वीररसे कङ्कणमोचनाय गच्छामि इति राघवस्योक्तौ । काव्यप्रकाशः-७

(7) Verses 12 to 19 in *Harṣacarita*, I.

Dhanapāla's comment on Māgha or Bhavabhūti,[8] Trivikramabhaṭṭa's remark on Guṇāḍhya,[9] Kavirāja's encomium on his predecessors Subandhu and Bāṇabhaṭṭa,[10] or Govardhanācārya's remark on Bhavabhūti[11].

It is interesting that critical comments of theoretical nature are also sometimes found in the kāvya works of certain poets, e. g., Bāṇa's opinion on the beauty of the Kathā and Ākhyāyikā varieties of composition,[12] or Bhavabhūti's suggestion regarding the merits of an ideal Prakaraṇa[13]. Even some brief remarks of the commentators of kāvya works are found to contain deep significances[14].

Literary criticism in anonymous statements

There are a number of anonymous statements or verses containing elements of literary criticism either of theoretical nature or of applied nature with some clear references to works or authors. Some such comments are as follows :

(1) उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम् ।
नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।।[15]

(2) उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते ।[16]

---

(८) माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा ।। (तिलकमञ्जरी)
स्पष्टभावरसा चित्रैः पादन्यासैः प्रवर्तिता ।
नाटकेषु नटस्त्रीव भारती भवभूतिना ।। (तथा)

(९) धनुषेव गुणाढ्येन निःशेषो रञ्जितो जनः ।। (नलचम्पूः)

(१०) सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इतित्रयः ।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणाश्चतुर्थो विद्यते न वा । (राघवपाण्डवीयम्)

(११) भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरिव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।। (आर्यासप्तशती)

(12) *Kādambarī*, I. 8 and I. 9, *Harṣacarita*, I. 22 for comments on Kathā and *Harṣacarita* I. 21 for a comment on Ākhyāyikā.

(१३) भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि ।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं चित्राः कथा वाचि विदग्धता च ।।
(*Mālatīmādhava*, I. 4)

(१४) नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि यद् विभज्यते ।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिकाः यथेप्सितम् ।।
(Introductory verses of *Ghaṇṭāpatha* on *Kirātārjunīya*)

15. Ghanaśyāma in his com. On the *Uttaracarita* gives a different reading as नैषधे पदलालित्यं भारवेरर्थगौरवम् । उपमा कालिदासस्य माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।। (vide MM. Kaneś edn., 1962, p.5). For an explanation of this verse see my paper "The three Qualities of Māgha' in *Prof. Birinchi Kumar Barua Com. Vol.*

(3) भवभूतेस्तु सर्वस्वमुत्तरं चरितं कवेः ।
तत्रापि च तृतीयाङ्को यत्रच्छाया प्रदर्श्यते ॥

(4) मेघे माघे गतं वयः ।

(5) नैषधं विद्वदौषधम् ।

(6) बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम् ।

(7) काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला ।
तत्रापि च चतुर्थोऽङ्कस्तत्र श्लोकचतुष्टयम् ॥[17]

(8) शाकुन्तलचतुर्थोऽङ्कः सर्वश्रेष्ठ इति प्रथा ।
न सर्वसम्मता यस्मात् पञ्चमोऽस्ति ततोऽधिकः ॥

(1) गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति ।[18]

The depth of the significance of these statements may be best appreciated only after an objective analysis of their import, Hence, it is proposed to discuss here the significance of the last of the extracts given above.[19]

Three probable implications

The plain meaning of the saying is that "prose is the touchstone for the poets." The word निकष is synonymous with कष and शाण.[20] *Śāṇa* is a touchstone or whetstone or a mechanical device for sharpening swords and such weapons. Brightness of a jewel is augmented by rubbing against a शाण.[21] The synonymous word कष is derived from the root कष्, to rub, to scratch, to

16. MM. V. V. Mirashi recognises it as the second half of a subhāṣita *(Bhavabhūti*, 1974, p. 402). Ghanaśyāma attributes it,, to one Vikṛamārka. Ghanaśyāma appears to have rejected the opinion embodied in this statement, as in many others like दण्डिनः पदलालित्यम्, etc. as nothing more than a self-eulogy. *(uttaracarita*, Kane's edn. 1962, p. 5). There is a metrical flow in the earlier foot of this half of a *śloka*. In my opinion the actual reading sh ould be उत्तरे चरिते रम्ये or something of the sort.
17. Often we have many variant readings for such verses.
18. The purport of a number of such floating statements has been explained by Ācārya Rāma Chandra Jha in his work संस्कृत महाकवियों के सम्बन्ध में प्रचलित लोकोक्तियाँ (MuZaffarpur, 1962, leaving, however, enough room for a further objective analysis.
19. The significance of this line has not been discussed by Ācārya Rāmachandra Jha in his Hindi work referred to above.
20. cf. "शाणस्तु निकषः कषः" (अमरः); "निकषः शाणफलके निकषा यातु मातरि" (मेदिनीकारः तथा हेमचन्द्रः)
21. cf. मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेषश्चन्द्रः सुरतमृदिता बालललना ।

test, to rub in a touchstone. Hence the word निकष may mean (1) the object which *enhances the* brightness or *quality* of gold etc. Moreover, the purity of gold is ascertained by rubbing it against a slab of stone called निकष. Hence. (2) a निकष determines *the degree of excellence* of gold, and thus the word निकष is used to signify any quality or attribute which might be capable of determining the excellence of a certain thing. (3) The word निकष may also signify the most ideal one amongst a class of things. In Śūdraka's *Mṛcchakaṭika* Viṭa deseribes Cārudatta as "आदर्शः शिक्षितानां सुचरितनिकषः सज्जनानां कुटुम्बी" Here Cārudatta is said to be a touchstone of good conduct, meaning thereby that his conduct is the most ideal one.

Thus it may be possible to have three implications of the given statement as follows : (1) The poet might attain more and more excellence by composing more and more prose. Only such a poet who takes pain to try compositions in prose may attain perfection like the jewel rubbed against the शाण. (2) The excellence of a poet may be better recognised through his prose compositions; the merit revealed through the prose confirms his genias as a whole. (3) Just as in the matter of good conduct Cārudatta is the निकष or the ideal, in the matter of literary activity the prose should be the most adorable ideal. It is thus implied that the poet should better direct his efforts for composing prose works.

The most probable implication

It appears to us that the second meaning is more suitable. If the second implication is accepted the third will also automatically follow. The first one is not so likely to be intended. In the alaṁkāra works, particularly in the works of the kaviśikṣā type there is hardly any instruction in respect of verse compositions.[22] Hence, the real purport appears to be that if a poet even by writing prose succeeds in giving delight to the men of taste then that poet must be recognised as a greater poet. If a poet earns wider and more permanent fame even by writing prose he deserves to be reckoned as a greater poet. But why?

The relative ease of composing verses

Apparently it is easier to compose prose, not verses. Because, in verses there must be metres; in metres there is strict limitation in respect of the number of letters and measure of *mātrās*, resulting in the loss of freedom of the poet for employing whatever word he likes. Yet, prose is called निकष and not verses. Moreover, it is a curious fact that though in the domain of prose the poets have the liberty to employ any word of any size and nature, yet by and large they engage themselves in the task of composing verses. The verse has an edge over the prose Verses being couched in metres become more easily memorised, and thus enjoy a more sustained

---

मदक्षीणो नागः शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवश्चार्थिषु जनाः ॥
(Given anonymously as an example of Dīpaka by Abhinavagupta in *Locana* under *Dhvanyāloka*, I. 13).

22. The novice is advised to practise समस्यापूरण etc. in such a way that he appears to be trained only for writing verses. cf. *Kavikaṇṭhābharaṇa*, I. 20. f.

appreciation amongst the men of taste resulting in a more extensive and more permanent fame for the poet. This may be the reason why the extant most ancient literature of the world is conspicuously in verses. Because of the metres, verses become endowed with the wealth of a peculiar musical appeal which, to a great extent, eclipse the ordinary faults of the composition. Because of the obvious and unavoidable restrictions in the matter of the employment of words, some degree of condensation of ideas and even some amount of obfuscation of ideas happen to be automatically tolerated in case of the verses. But there being no such restriction in the domain of prose, all the descriptions there are required to be full and elaborate. For example, in the *Raghuvaṃśa* though there is a long description of the celebrations on the occasion of the birth of the child Raghu, the child itself is described by the poet Kālidāsa with only a single verse. cf.

उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलिम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥

(*Raghuvaṃśa*, 3.25)

In the domain of verses this brief description is enough to bring success to the poet. But in the domain of prose to poet could hope to attain success only with a much longer and more detailed description. Hence, Bāṇa gives a graphic picture of every stage of the growth of a child, who was yet to be born, as imagined by Tārāpīḍa. cf.

कदा सर्वौषधिपिञ्जरजटिलकेशो निहितरक्षाघृतविन्दुनि तालुनि विन्यस्तगौरसर्षपोन्मिश्रभूतिलेशो गोरोचनाचित्रकण्ठसूत्रग्रन्थिरुत्तानशयो दशनशून्यस्मिताननः पुत्रको जनयिष्यति मे हृदयाह्लादम् । कदा गोरोचनाकपिलद्युतिरन्तःपुरिकाकरतलपरंपरासंचार्यमाणमूर्तिरशेषजनवन्दितो मङ्गलप्रदीप इव मे शोकान्धकारमुन्मूलयिष्यति चक्षुषोः । कदा च क्षितितलरेणुधूसरो मण्डयिष्यति मम हृदयेन दृष्ट्या च सह परिभ्रमन् भवनाङ्गनम् । कदा केशरिकिशोरक इव संजातजानुचङ्क्रमणावस्थः संचरिष्यतीतस्ततः स्फटिकमणिभित्त्यन्तरितान् भवनमृगशावकान् जिघृक्षुः । कदान्तःपुरनूपुरनिनादसंगतान् गृहकलहंसकाननुसरन् कक्षान्तरप्रधावितः कनकमेखलाघण्टिकारवानुसारिणीमायासयिष्यति धात्रीम् । कदा कृष्णागुरुपङ्कलिखितमदलेखालङ्कृतगण्डस्थलको मुखडिण्डिमध्वनिजनितप्रीतिरुध्वंकर विप्रकीर्णचन्दनचूर्णधूलिधूसरः कुञ्चि.ाङ्गुलिशिखराङ्कुशाकर्षणविधूतशिराः करिष्यति मत्तगजराजलीलाक्रीडाः । कदा मातुश्चरणयुगलरागोपयुक्तशेषेण पिण्डालक्तकरसेन वृद्धकञ्चुकिनां विडम्बयिष्यति मुखानि । कदा कुतूहलचञ्चललोचनो मणिकुट्टिमेष्वधोदत्तदृष्टिरनुसरिष्यति स्खलद्गतिरात्मनः प्रतिविम्वानि । कदा नरेन्द्रसहस्रप्रसारितभुजयुगलाभिनन्द्यमानागमनो भूषणमणिमयूखलेखाकुलीक्रियमाणलोलदृष्टिरास्थानस्थितस्य मे पुरः पर्यटिष्यति सभान्तरेषु । *Kādambarī*, Pūrvārdha, *anapatyatāviṣāda*)

In prose no metre is there to lend an additional charm. The deficiency is required to be compensated by the presence of figures of speech, *padalālitya* and appropriate *rasas*, etc. Hence, a really successful and appealing prose can be composed only with the help of a real talent. That is why only a more gifted poet could venture to try his luck in the domain of prose.

A greater genius is involved in prose

Because of being in metres verse is more easily memorised and retained in mind and enjoys the privilege of being quoted extensively . We find anthologies only of verses and not of prose passages. In the *alaṃkāra* works only verses are given as illustration for various figures and hardly ever any prose pasage is quoted for the purpose. This results in a lasting fame for

the verse writer. Yet if any prose writer happens to attain a remarkable degree of fame on the strength of the prose composition itself, then it must be due to a rare genius of the poet concerned. This is how prose serves as the touch-stone for ascertaining the degree of the excellence of the poet.

Metres are employed also in prose

Although prose is not supposed to have any metre as a rule, yet in order to make it capable of vying with verses, the talented poet chooses such a vocabulary and employes such a texture that the composition comes to possess such a natural cadence and flow which make the prose as appealing as a metrical coposition. This is why we have a variety of prose called वृत्तगन्धि There are four such varieties, viz., मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय and चूर्णक. The वृत्तगन्धि type is defined as वृत्तभागयुत, i. e., one that contains metres partially[23]. Some illustrations of the वृत्तगन्धि type from the *Kādambarī*[24] will confirm as to how an accomplished artist adorns even his prose composition with pieces of various metrical feet. cf.

(१) अम्बिकाकरतलमिव रुद्राक्षग्रहणनिपुणम्, शिशिरसमयसूर्यमिव कृतोत्तरासङ्गम्, वडवानलमिव सततपयोभक्ष्यम्········भगवन्तं जावालिमपश्यम्।[२५] Here in each of the portions, अम्बिकाकरतल and वडवानलमिव there are eight *mātrās* making each one a half foot of the Pādākulaka variety of the Mātrāsama type of the Āryā metre. In both the places there is a marked slmilarity with the celebrated *Mohamudgara* verses of Śrī Saṅkarācārya. The words इव कृतोत्तरासङ्गम् may be taken to present the first or the third foot of a verse in the Anuṣṭubh metre. The words शिशिरसमयसूर्यम् fully agree with the ननमयययुतेयम् part of the definition of the Mālinī metre. Likewise the word ग्रहणनिपुणम् with the यमनसभला part of the definition of the Śikhariṇī metre.

(२) स्वयं करतलेनाभिनवपल्लवेनेव विकचकमलतुल्यम् आननमस्याः साश्रुलेखं ममार्ज पुनः पुनश्च प्रियशत-

---

(२३) वृत्तबन्धोज्झितं गद्यं मुक्तकं वृत्तगन्धि च।
भवेदुत्कलिकाप्रायं चूर्णकञ्च चतुर्विधम्॥
आद्यं समासरहितं वृत्तभागयुतं परम्।
अन्यद् दीर्घसमासाढ्यं तुर्यञ्चाल्पसमासकम्॥ (साहित्यदर्पण–६)

(24) A great poet like Bāṇa presents the other varieties also in due proportions as in the following illustrations from the Kādambarī

मुक्तक="विरतवचनायां तस्यां भूमिपालस्तुष्णीं मुहूर्त्तमिव स्थित्वा दीर्घमुष्णञ्च निःश्वस्य निजगाद–देवि किमत्र क्रियतां दैवायत्ते वस्तुनि, अलमतिरुदितेन, न वयमनुग्राह्याः प्रायो देवतानाम्। (विलासवतीसान्त्वन) उत्कलिकाप्रायम्=यस्यां सुरासुरचूडामणिमरीचिचयचुम्बितचरणनखमयूखो निशितत्रिशूलदारितान्धकमहासुरः ··········प्रलयानलशिखाकलापकपिलजटाभारभ्रान्तसुर–सिन्धुः अन्धकारिः भगवान् उत्सृष्टकैलासवासप्रीतिर्महाकालाभिधानः स्वयं प्रतिवसति। (उज्जयिनीवर्णना) चूर्णक=एवं तस्य मन्त्रिविनिवेशितराज्यभारस्य यौवनसुखमनुभवतः कालो जगाम। भूयसा च कालेनान्येषामपि जीवलोकसुखानां प्रायः सर्वेषामन्तं ययौ, एकन्तु सुतमुखदर्शनसुखं न लेभे। (अनपत्यविषादवर्णना)

(25) *Kādambarī, Pūrvabhāga, Jābālivarṇana.*

मधुराभिः शोकापनोदनिपुणाभिर्धर्मोपदेशगर्भाभिर्वाग्भिराश्वास्य सुचिरं स्थित्वा नरेन्द्रो निर्जगाम ।[२६]

Here we have a foot of the श्लोक metre in each of the portions स्वयंकरतलेनाभि and धर्मोपदेशगर्भाभिर्, the ननमययुतेयम् part of the definition of the मालिनी metre in the portions, विकचकमलतुल्यम् and प्रियशतमधुराभिर्, the मालिनीभोगिलोकैः part of the definition of the मालिनी metre in the words साश्रुलेखं ममार्ज, and the ज्ञेया वसन्ततिलका part of the definition of the वसन्ततिलका metre in the portion शोकापनोदनिपुणा.

Non-metrical regulations in prose

In fact in the other three types of composition also some sort of a regulation in respect of the employment of the short and long letters *(varṇas)* is found to be maintained by the more accomplished poets. While this regulation is very much desirable it is nowhere clearly indicated as to how this regulation could be effectively maintained.[27] The poet must have an inborn or inherent ability to pick up the choicest words for the purpose of bringing forth an appealing cadence and flow to the composition.[28] This is why it becomes more difficult to

26. *Kādambarī*, Pūrvabhāga, Vilāsavatīsāntvana.
27. This inexplicable factor is warranted by the expediency of the employment of the expletives like *Khalu* and *hi* also in prose compositions. How this factor operates may be illustrated with the following simple expressions यत् कथितं कालिदासेन, यद्भणितं कालिदासेन and तथा चोक्तमस्ति कालिदासेन are not agreeable expressions, while तथा चोक्तं कालिदासेन, भणितं हि कालिदासेन are तथा चोक्तमस्ति कालिदासेनापि are agreeable. The presence of simple हि or अपि can make a lot of difference.
28. Abhinava gupta also emphasises on this inherent faculty of the poet under the context of the Samādhi guṇa in the *Abhinavabhāratī*. Bharata names and describes ten guṇas. But, in the light of Vāmana, Abhinavagupta recognises ten *arth a guṇas* and ten *śabdaguṇas* of the same name and explains the *Kārikās* of Bharata in a manner suitable to his own scheme and idea. Accordinghy Abhinava gupta recognises also a *śabda guṇa* Samādhi, which is defined, like Vāmana, as *ārohāvarohakrama*. It is said that *āroha* is a high pitch of pronunciation while *avaroha* means the reverse of the same. The difference in pitch depends on the place and the organ of articulation and the *bāhya* and *ābhyantara prayatnas*. With a number of illustrations it is shown that the phenomena of *āroha* and *avaroha* depend invariably on a judicious employment of the syllables. But, nowhere any clearcut formula is laid down for the same. Hence, the whole device depends solely on the natural genius of the poet. The composition of a poet, lacking in such a genius, is destined to be devoid of this merit. cf. तेन स्वभावप्रतिभादर्शनानुविद्धा भगवती वाणी स्वरसोपनिपतिता स्वरसंभारप्रभावानुरोधेनैवारोहावरोहक्रमं भजते । प्रतिभादृष्टिशून्यत्वात् अन्धपदवदारोहादि न भजेत् । (*Abhinarabhāratī*, 1934 Kavi's edn. vol. II. p. 339) [The goddess of speech, aided by the sight of a natural genius, resorts to the series of *āroha* (ascent) and *avaroha* (descent) out of her own sweet will as it were on account of the effect of the association of the vowels. When the sight of genius is not there, the speech fails to resort to *āroha*, etc. like the faltering feet of the blind.]

7

write in prose than in verse and this is also the reason for recognising prose as the mark of a superior literary craffmanship.

Vāmana's reference to the present adage

In the sūtra No. 1. 3. 21. of the *Kāvyālaṁkārasūtravṛtti* Vāmana mentions prose earlier than verse and then says that prose is mentioned earlier because it is difficult to compose it on account of the difficulty involved in maintaining the distinctions (in respect of the short and long syllables, etc.). In support of this position Vāmana then quotes the adage gadyaṁ kavīnām, etc. itself.[29] That the distinction (*viśeṣa*) referred to by Vāmana is in respect of short and long syllables, ect.,[30] is maintained by the *Kāmadhenu commentary,* where it is clearly shown that the statement *gadyaṁ kavīnām*, etc. is annonymous. The commentary also concludes that prose determines the excellence or lack of excellence of a poet like the touch-stone which determines the same in case of gold.[31]

---

29. Cf. "काव्यं गद्यं पद्यञ्च "(१-३-२१)। गद्यस्य पूर्वं निर्देशो दुर्लक्ष्यविशेषत्वेन दुर्बन्धत्वात्। तथाऽऽहुः-गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति। इति॥"

30. This "distinction" appears to correspond to what has been referred to as "Non-metrical regulations in prose" above.

31. Cf. "दुर्लक्ष्याः कृच्छ्रेण लक्ष्याः विशेषाः गुरुलघुनियमादयो यस्य तस्य भावः तेन हेतुना दुर्बन्धं कृच्छ्रेण बन्धुं शक्यं तस्य भावस्तस्मात् पूर्वनिर्देशः कृत इति शेषः। अत्राभाणकमपि दर्शयति तथाऽऽहुरिति। निकषो हेमादिकषणोपलः। कनकानामिव कवीनां प्रकर्षापकर्षपरीक्षास्थानमिति यावत्।" (*Kāmadhenu*, under *Kāvyālaṁkārasūtra* 1-3-21).

SATĀNANDA POET AND LOGICIAN

E. A. SOLOMON

Prof. and head of the Deptt. of Sanskrit, Gujarat University

Śatānanda is among the Naiyāyīkas who have long been forgotten, but references to, or quotations from whom are found in the works of other authors, especially the Buddhists. Śatānanda's arguments establishing the reality of God are mentioned in the *Īśvaravāda* of Jñānaśrīmitra (first half of the eleventh century) who then shows that they are not effective in any way. Jñānaśrīmitra does not mention Śatānanda by name but refers to him only as *'apara'*. The marginal note supplies the information that Śatānanda is meant Śatānanda must have written a tract on Nyāya Philosophy in which the Buddhist position in respect of God was refuted, and he perhaps even attempted to jeer at the Buddhists thus inviting their wrath. Or his contribution in the field of philosophy was not much and therefore Jñānaśrīmitra refers to him as just *'apara'* ('another'). His view on only one point—reality of God—is mentioned.

The *Subhāṣitaratnakośa* compiled by Vidyākara preserves a number of verses assigned to Śatānanda. Dr. D. D. Kosambi identifies him with the father of Abhinanda (the author of the *Rāmacarita* at places known as Gauḍa-Abhinanda, not the Kashmirian Abhinanda, son of Jayanta, who wrote the *Kādambarī-Kathāsāra*, Śatānanda was perhaps a Pāla court Poet of the first half of the ninth century A. D., and a Śaiva by faith. The Pāla Kings were sometimes called 'of Bengal' from their title Gauḍeśvara, but were actually rulers of Bihar and parts of West and North Bengal for over four centuries (See Kosambi's Introduction, pp. xxxiv ff. to the *Subhāṣita-ratnakośa*, Harvard Oriental Series, 1957; also pp. lxviii ff, ci).

We shall first examine Śatānanda's arguments pertaining to the reality of God and then come to the verses assigned to him in anthologies.

The Buddhist argument against God as the creator of the earth, etc. is that when we see earth, etc. we do not have *'Kṛtabuddhi'* (the notion that they are created things) and therefore we cannot infer God as their creator; on the contrary pot, etc. do give rise to this *Kṛtabuddhi*.

As against this Trilocana and following him Vācaspati want to know what is that speciality (*viśeṣa)* in pot etc. which is not there in earth, etc. due to which the former gives rise to *Kṛtabuddhi* while the latter do not, Vittoka also says, 'Taking it for granted that such a speciality is there, we would like to know from the Buddhists what they intend to put forth on the strength of it (*Jñanaśrīmitra-Nibandhāvalī, Īśvaravāda*, pp. 236-7).

'Apara' (i. e. Śatānanda according to the marginal note) on the other hand says. 'Thus the intrinsic connection (*svābhāvika pratibandha*) between *Kāryatva* (being an effect) and *Sakartṛkatva* (having a creator), like that between smoke or the like and fire or the like has been put forth. Now to provide recreation to the Buddhists some proofs which are sublative in character are also stated. We are not at all poor in respect of such sublative proofs (*bādhaka*

pramāna). but all we want to say is that this approach is not a rational or logical one. Instead of proving a point straight, it is not proper to put forth sublative proofs or point out the difficulties that would arise if the probandum were not there, or point out that intrinsic or invariable relation of the probans has never been seen with anything other than the probandum.

"To take an example, this itself is a *bādhaka pramāṇa* that even once a thing should be one that is not produced through the monitoring of man. In the inference of the Buddhists of fire from smoke, if smoke were produced in any other place or time from another cause also even without fire, then smoke could not have come into existence even once due to fire even in the time and place where we have seen it do so. But since smoke does not come into existence in the absence of fire smoke could be said be something produced as a rule by it, for otherwise it would lead to *atiprasaṅga* (anything could be said to rise out of just anything).

"All that is such (Possible without a particular thing) does not have that as the cause, so it could not be Produced by it even once. But it (smoke) is produced by that (fire), therefore such things are not those that are not produced by them. Thus as there is proof sublative of the opposite (relation between Smoke and non-fire), the relation between smoke and fire is established. Similarly with us if even once an effect were to rise even else where without the monitoring by an intelligent Creator, then pot, etc. could not originate because of the intelligent potter even once. But it does originate. Therefore it is something produced by it, This is *bādhaka pramāṇa* No. 1. "Or, even the Buddhists do not dream of suspecting that smoke could rise from something other than fire, for then it would not have a specific cause, and there would be the contingency of causelessness. And what is causeless would be perpetually existent or non-existent, for it does not defend on anything else, Things are occasional or those that are there at a Particular time and not there at another if they depend on something else.

(Nityaṁ sattvam asattvaṁ vā'hetor anyānapekṣaṇāt /
apekṣāto hi bhāvānāṁ Kādācitkatva-sambhavah //
Pramāṇa Vārttika, 3.34).

Such is the case with us also—the world should be eternally existent or non-existent if it does not have a cause. This is *bādhaka* Pramāna No. 2.

"So also, for you (the Buddhists) an invariable rule is established that smoke is a particular thing which agrees in respect of presence and absence with fire, and it is fire which is its producer. Whatever you may doubt about smoke, you never doubt that it is an effect of fire. So with us also, that is an effect which is created by an intelligent agent (or creator), and it is man who creates it. And if even without a sentient monitor, insentient things were to proceed towards somthing or desist from something. then there would be the contingency of the non-stoppage of their activity—they would keep on doing what they have started to do. If insentient things were to act by themselves, then since their operation is not aimed at anything or is not an intentional one there would always be activity. Cessation of activity all of a sudden would not be proper. So the effects would keep on being produced. And of they are intrinsically indifferent then there would never be any activity, for no special change would ever arise. But We properly see that things are made to act by an intelligent monitor making an effort and

not by anything insentient, for otherwise activity or its cessation dependent on his will would not be possible. This is *bādhaka pramāṇa* No. 3

"We find that 'being an effect' is pervaded by or invariably Concomitant with being endowed with the occasional (or occasioned) presence of the cause', and this occasional presence of the cause is dependent on the operation of an agent as can be seen from its agreement with it both positively and negatively; the presence of the loom and the shuttle is dependent on the operation of the weaver. In contrary circumstances there is not the occasional presence of the causes. Something that is insentient cannot bring together the causes; or if it were capable of doing so, there would be the contingency of the cessation of the agent's operation in respect of pot, etc. also, that is to say, the potter or the like would not be required to operate. Therefore, 'being an effect' (*Kāryatva*) which is absent in dissimilar cases because of the non-perception of the pervader (occasional presence of causes) (*Kadācitkakāraṇasannidhi*) is pervaded by 'being preceded or caused by an intelligent monitor' (*buddhimat pūrvakatva*), and thus the invariable connection is established. This is *bādhaka pramāṇa* No. 4.

Similarly the contingency of the *aniyama* (Variability) of place, etc. is a sublative factor (*bādhaka*). It is like this, if *Kāryatva* (being an effect) pervaded by the invariability of place-time and inherent or constituent cause were there without one making an effort, then it would not occur with the invariability or restriction of place, etc. For it is due to the agent's will that a thing is produced in one place or the like to the exclusion of another place or the like. In its absence it would occur in all places, etc. Therefore *Kāryatva* which is absent in dissimilar cases because of the non-perception of the pervader (*deśādi-niyama*, invariability of place, etc.) is pervaded by its invariable relation with (or its not being possible without) the agent making an effort. Therefore, the invariable connection of *Kāryatva* (being an effect) and *buddhimat-Kartṛmattva* (having an intelligent creator) is established. This is *bādhaka pramāṇa* No. 5." (See *Īśvaravāda*, pp. 237-231).

We see that Śatānanda has attacked the Buddhists for showing the contingencies that would arise if God were accepted as the creator of the world, rather than proving that a thing can be produced irrespectively of the creator, or establishing some other creator. This is negative proof meant to establish their view-point, but this stand is certainly not a logical one. The naiyāyikas are also capable of pointing out the contingencies that would arise if God were not accepted as the creator of the world. this being negative proof meant to establish God, and he gives five such proofs just by way of a rebuff to the Buddhists, but would not as a logician attach much importance to such negative proof.

As said earlier, some verses are ascribed to Śatānanda in anthologies. Verses 76, 253, 285, 320, 370, 671, 978; 1136, 1299, 1509 of the *Subhāṣitaratnakośa* compiled by Vidyākara are assigned to Śatānanda, and verses 123, 1122, 1316, 1522 are assigned in other anthologies to Śatānanda.

V.76 is other an invocation to Śambhu's servants engaged in different tasks as his dance begins, to purify the devotees. They as it were complete the make-up-fully equip him with the

garland of severed heads, set in place the crescent moon, tie the matted hair tight with the serpent, fasten the elephant hide and put in his hand the skull. V.253 describes the earth in the rainy season-the woodlands are as it were covered with young bushes because of the serpent-hungry peacocks flourishing their big beautiful-eyed tails, while the hills seem to be sprouting fresh bamboo-shoots because of the snakes half-crawling out of their holes to drink 'the cloud-borne breeze'. Verse 285 describes the platforms set by the farmers in the fields to keep away wild boars who come to eat the crops, the trees with the firmly built doves' nests and anthills dug out by the sharp claws of jackals-all in autumn. V. 320 is a description of natureleaves, buds, bees invited by the scent of flowers, etc. in late winter (śiśira). V. 370 describes adolescence in a woman-her arms are voluptuously raised to form an arch, this arch signifying the celebration of the entrance of the mind-born god (i. e. Love). V. 671 is a lover's address to an offended woman-he does not mind if anger is dear to her for he cannot help it, but he wants back with interest all the kisses and embraces he has given her. V. 978 describes the moon at dawn-the sinking moon at the sky-ocean's western edge is like the king of tortoises on his back.

V. 1136 describes evening breezes as spring begins-they dry the sandal paste on the swelling breasts of gazelle-eyed damsels who resort to pavilions on roof-tops, and the pain of love is assuaged by the sweet-scented breezes. V. 1299 shows how ineffectual the lust of a lover is without gold, and the malice of a bully without strength-the former can only stare at his beloved and the latter can only chatter. V. 1509 asks disappointedly as to who would now love the river S'oṇa in spate when the river is destroying everything including the river-bank, when the same river was so mild and charming.

V. 123 of the *Subhāṣitaratnakośa* is found in the *Sadukti-karṇāmṛta* of Śridharadāsa and is there ascribed to Śatānanda. It is a fine verse saying that Devakī tells a story to her child (Kṛṣṇa) who does not get sleep-the story of Rāma-at which the child smiles and this smile is invoked to protect. V. 1122 is ascribed to Śatānanda in the *Saduktikarṇāmṛta* and to Nārāyaṇadatta in the *Prasanna Sāhityaratnākara* of Nandana. It is an *anyāpadeśa* or allegorical epigram (as Ingalls calls it) admonishing the ocean for his pride over a few precious little stones and advising him to turn to meru who is so steady and silent in spite of his solid peak of gems.

V. 1316 ascribed to Śatānanda in the *Saduktikarṇāmṛta* describes the pitiable condition of a weary stranger, a traveller who seeks shelter for the night but slowly goes his way being rebuffed by the silence of the matron's stern face. v. 1522 says that old age means Farewell to pleasure and an end to talk of love-girls who look askance at others look straight at man when he grows old (This verse too is ascribed to Śatānanda in the *Saduktikarṇāmṛta*).

The style and spirit of verses 123, 1122, 1316, 1522 are obviously quite different from those of verses 76 and others referred to above, and that is why scholars are inclined to doubt Śatānanda's authorship of these stanzas. But Śridharadāsa (A. D. 1205) who lived in the court of the Sena Kings of Bengal and who compiled the *Saduktikarṇāmṛta* has ascribed them to Śatānanda, and we need not be very sceptical.

These may be simple verses composed, perhaps even on the spot, for poetical contests, while the former may have been meant to be included in literary compositions, or have been composed with a certain amount of effort. One cannot be sure. There is no reason to disbelieve that Śatānanda the logician establishing the reality of God and Śatānanda the poet were the self-same person. This was very commonly found in olden times in India many philosophers were at the same time poets, as we find from the names of poets mentioned by Vidyākar many of whom happen to be philosophers also

Jñānaśrīmitra-Nibandhāvalī-Ed. A. Thakur (K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1959).

Subhāṣitaratnakośa compiled by Vidyākara-Ed. by D. D. Kosambi and V. V. Gokhale Harvard Oriental Series, 1957)

An Anthology of Sanskrit Court *Poetry*-Daniel H. H. Ingalls (Harvard Oriental Series, 1965).

BRAHMADATTA NĀRĀYAṆA, THE AUTHOR OF THE SUBHADRĀHARAṆA : IDENTITY AND HIS AGE.

Dr. M. S. MENON
Head of the Dept. of Sanskrit, University of Calicut

The Subhadrāharaṇa of Brahmadatta Nārāyaṇa who hails from Kerala is a remarkable Śāstrakāvya comparable with the Bhaṭṭikāvya in the merit of presentation of grammatical rules. It is a Mahākāvya of literary merit in addition to its being a treatise illustrating Pāṇini's grammer. This vyākaraṇakāvya in twenty cantos reveals the poetic genius flowering into such an immaculate work in this particular field. The sole aim of the Śāstrakāvya is helping the students with a new method of studying grammar. The conventional method which is drear, tiresome and bitter is replaced by the nector of aesthetic experience. The poem is based on the story of Arjuna's exile and marriage with Subhadrā-the well-known episode in the great epic Mahābhārata.

The author

The verses at the beginning and at the end of the Subhadrāharaṇa explicitly mention the name of the author and also give some details about his family, parentage and education[1]. These stanzas reveal that the author is Nārāyaṇa, the son of Brahmadatta, a reputed scholar and poet. Brahmadatta was the pupil of Jātaveda and Aṣṭamūrti, Nārayaṇa belonged to Viśvāmitra Gotra. He had two paternal uncles, Rāma and Udaya, who were also his preceptors, Their family resided on the banks of the river Nilā of South Malabar which is famous as 'Bhārotappuzha'.

The scholars are of different views with regard to the identity of Nārāyaṇa, the author of the Subhadrāharaṇa and the place he belongs to. K. V. Krishna Iyer, the author of the work "The Zamorins of Calicut", has introduced Nārāyaṇa as a family of the Thiruvegappura Nampūtiris who were traditionally mentioned as the court-poets of Mānavikrama, the Zomorin of Calicut[2]. These poets were known as 'Patinettarakkavikal' and were assigned to the latter half of the 15th century A. D. The author of the Subhadrāharaṇa is often quoted by the famous

1. निलोपकण्ठाभरणाद् विनीताद्यो ब्रह्मदन्तादजनि द्विजेन्द्रात् ।
रामोदया चार्थपितृव्यचुञ्चुर्नारायणोऽसौ कविरस्य कर्त्ता ॥
Subhadrā haraṇa. Canto I. Śloka. 13.
विश्वामित्रस्य गोत्रे द्विजमणिरभवद् ब्रह्मदत्ताभिधानो
श्राद्धस्वाध्यायपूतः सकलगुणनिधिः शास्त्रवित् काव्यशौण्डः ।
अन्तेवासी विपश्चिद्द्विपहरिणसुतो जातवेदोष्टमूर्त्यो-
स्तत्सूनुः काव्यमेतद् व्यधित बुधमुदे ख्यातनारायणाख्यः ॥
S. H. xx. 102.
2. The Zamorins of Calicut. P. 302 ff.

Melputtūr Narayanabhaṭṭathiri in his monumental grammatical treatise 'Prakriyāsarvasva'[3]. The date of Melputtūr Nārāyanabhaṭṭathiri is believed to be between 1560 A. D. and 1660 A. D. Accordingly the author of the Subhadāharaṇa may be assigned to the period of the latter half of the 15th century A. D.

Another reputed scholar E. V. Rāman Nampūtiri identified the poet Nārāyaṇa, with Nārāyaṇa, the preceptor of Kākkāśśeri Dāmodrabhaṭṭathiri who composed the drama 'Vasumatī Mānavikramam'[4]. "His (Namputiri's) view", remarks, Dr. S. Venkita Subramonia Iyer, "on the identity of Aśokapura in the Drama with Tiruvegappura and on the fact this Nārāyaṇa was appointed for teaching Kākkaśśeri by the Zamorin himself and that therefore, he must have been in his court. It is quite possible that our author is identical with this Nārāyaṇa"[5].

Dr. K. Kunjunni Rāja also quotes in his thesis "the contribution of Kerala to Sanskrit Literature", the view expressed by E. V. Rāman Nampūtiri on Nārāyaṇa, the author of the Subhadrāharaṇa and his nativity of Tiruvegappura[6]. According to Dr. Rāja, there is no positive evidence to identify the author of the Subhadrāharaṇa either with a member of the Kūtallūr family of with Kākkaśśeri's preceptor.

Mahākavi Ullur S. Parameswara Iyer[7], Vaṭakkumkūr Rājarāja Varma[8] and Kuṭṭamaśśeri Nārāyaṇa Pisharoti[9] have remarked that Nārāyaṇa, the composer of the Subadrāharaṇa was a member of Kūtallūr, the most celebrated Nampūtiri family of grammarians in Malabar. Ullur believes that the Kūtallūr family belongs to Viśvāmitragotra in which the poet Nārāyaṇa was born. He writes :—"It is not known who were the five Nampūtiri's of Tiruvegappura, who belonged to the group called 'Patineṭṭarakkavikal'. Nārāyaṇa, the teacher of Kākkśśeri, may be one among them. No works composed by him as well as Mullaśśeri have been found yet.

---

3. औपकर्णमिति च सुभद्राहरणे ।
   Prakriya Sarvasvam. Edited by Dr. C. Kunhan Raja, University of Madras. 1941. P. 63.
   सत्यादुशपथे 5. 4. 66. सत्याकरोति सत्यं वदतीत्येवार्थे इति सुभद्राहरणे ।
   Ibid. II. P. 10.
   भुक्ताः पोता अतिथय इत्यादौ तु कर्मविवक्षयाकर्मकत्वात् कर्तरि क्त इति सुभद्राहरणे ।
   Ibid. II. P. 11
4. Tantra Samuccaya-with Malayalam Commentary Part III. Trivandrum Malayalam Series, 68. Introduction. Page 108.
5. The Subhadrāharaṇa Kāvya of Nārāyaṇa wilh his own Commentary. (Journal of the Travancore University Oriental Manuscripts Library, Trivandrum. Vol. V.I. Nos I and II. Page 26.
6. Contribution of Kerala to Sanskrit Literature. University of Madras. 1958 P. 201
7. Kerala Sahitya Caritram. Vol II. py. 69-71 f. University of kerala, Tnivandrum. 1952
8. Keraleeya Samskrita Sahitya Caritram. Part I. pp. 432-434 Kamalālaya Book Depot. 2nd Edition. 1964
9. Mathru bhumi Weekly, Calicut. Vol. XL. No. 4. dated 8. 4. 1962 pp. 15-18

There is no evidence to prove the identity of the author of the Subhadrāharaṇa with the preceptor of Kākkaśśeri Bhaṭṭathiri"[10].

This view of Mahakavi Ullur doesnot convince Dr. S. Venkita Subromania Iyer. He remarks :—"Mahākavi Ullur appears to his opinion on the fact that the Kūṭallūr family belongs to Viśvāmitra gotra which is the Gotra of Nārāyaṇa also. But this alone is not an adequate reason for taking him to be a member of Kūṭallūr, since this is not the only family in Kerala belonging to that Gotra and since Kūṭallūr is several miles away from Bhāratappuzha while Tiruvegappura is on the banks of that river. Moreover no member of the Kūṭallūr family is known to have been among the 'Patineṭṭorakkavikal'[11].

All these scholars unanimously agree on one point that Kūṭallūr family was one of the most reputed centres of Sanskrit studies in Kerala during the 15th century A. D. The learned Pandits and poets of this family devoted their whole life to learn and teach Śastras especially Vyakarana and Dharmaśastra. The late K. Vasudevan Moossad, an erudite scholar from Kerala, has revealed in an article, the reputation of 'Kūṭallūr Gurukulam'[12]. Some of the most gifted scholars of this centre of learning are mentioned in this studied article. The writer refers to this family as specialised in Vyākarana and also quotes a popular saying prevalent at that time about the highly esteemed position attained by it with regard to giving instruction in Vyakarana. This oft-quoted verse refers to a significant incident[13]. Once a student, desirous of studing sanskrit grammar approached a prince of Koduṅgalūr palace of erst-while Cochin state, who was well-versed in Śāstras and requested him to recommend a teacher competent to teach vyakarana. The Prince replied :—

'Oh, boy, if you desire to study 'Koumudi' be a resident scholar with utmost concentration and study under the learned brahmin of Saṃgamālaya (Kūṭal.ūr) for five years'. This Brahmin was one Nārāyaṇa, writes Vasudevan Moosad. He concludes his article with a statement that though the Nampūtiris of Kūṭallūr family were profound scholars, none of them has composed original works in Sanskrit except a commentary on 'Śabdenduśekharam'.

This statement of Moossad has later been proved to be baseless by another scholar Kuṭṭamaśśeri Nārāyana Pisharoti in an article written by him (14). This article refers to a number of wroks in Sanskrit composed by the members of Kūtallūr family. Pisharoti reiterates the traditional belief that Kūṭallūr family is descended from Melathol Agnihotrin who performed

---

10. K. S. C. Parts II & III. (Vol. III) P. 66. 1954
11. Journal of the Travancore University Oriental Manuscripts Library, Trivandrum. Vol. VI. Nos I & II January-April 1960. P. 25
12. Kutallur Gurukulam'. Mathrubhumi weekly, Calicut. Vol. 39. No. 41. dated 24· 2. 1961. pp. 7 and 8
13. कौमुदीपिपठिपा यदि ते स्यात् पञ्चवत्सरमनन्यविचारः ।
    सङ्गमालयमहीसुरवर्यस्यालये वस कृपानिलयस्य ॥
    Ibid.
14. Mathrubhumi Weekly. Vol XL. No. 4, dated 8, 4. 1962 pp. 15 to 18.

seven sacrifices on the banks of the river Nilā (Bhāratppuzha). He points out that ihe original Kūṭallūr Illam was situated near the Yajñeśvara temple on the bank of Bhāratappuzha, one mile to the south of the Tṛttāla temple and he has quoted some verses from the Laghuvivaraṇam (15) composed by Neelakanḍhan Nampūthiripād son of Kūṭallūr Brahmadattan Nampūtiripād. Laghuvivaraṇa is a commentary on the 'Vishṇusahasranāma'. Pisharoti is certain that the Nampūtiris of Kūṭallūr family were the descendants of Agnihotri who was also designated as Yajñesvara. He was the resident of the Mazhattur or Mezhathol in the vicinity of Nila river. Pisharoti mentions that the members of KūṭallūrKūṭallūr Illam migrated later to the village Nareri, Nāgaśreni in Sanskrit) from their original home of Mezhattur at Trittala. At present three Nampūtiri families (Illams) belonging to the descendants of Agnihotri are existing. They are (1) Tekke Mana (Southern family), (2) Kizhakke Mana (The Eastern family) and (3) Vaṭakke Mana (the Northern family) which are also mentioned as 'Velutta Bhaṭṭathiri'. 'Koṭanāt' and 'Kaṭampoor' respectively Kūṭallūr and Kotanāṭ are identical. Now Kūṭallūr family is situated at Koottanāṭ, three miles away from the banks of the river Nila.

Nārāyaṇa Pisharoti presumes that Nārāyaṇa, the author of the Subhadrāharaṇa, belongs to Kūṭallūr family and might have been the grand father of Narayana, the commentator of the Vishnusahasranāma. One of the Nampūtiris of this family has composed another Śāstrakāvya, 'Pāṇinīya Sūtrodāharaṇa kāvya' which resembles the 'Subhadrāharaṇa' illustrating Pāṇini's Sutras and describing Krishna's adventures of childhood.

Some literary works like 'Abhijnana Śakuntala carcā', a criticism on Śākuntalam, 'Naṭānkuśa' a text which vehemently criticises the practice of Chākyars of Kerala who enact Sanskrit plays on the Kerala stage, are attributed to one of the scholars of Kūṭallūr famity. 'Kamalinī Kalahamsam' of one Neelkandhan Nampūtiripād is a play in Sanskrit that gives an account of Cūṭallūr family and some of its members who are stated to be the descendants of Viśvāmitragotra. This work is incomplete. The Manuscriptsof all these works were discovered for the first time from Kūṭallūr family. Pisharoti mentions some distinguished scholars of Kūṭallūr among whom one Vāsudevan Nampūtiri deserves particular mention. He was well-known even outside Kerala as Vasudeva Śāstrigal. He was a versatile genius well-versed in all Śāstras, particularly in Vyakarana. Vāsudeva Dikshita who composed the famous Bālamanoramā-commentary on the Siddhantakaumudi, was a contemporary of this Vāsudeva Śāstrigal of Kūṭallūr. Dikshitar had often consulted with Śāstrigal when he was writing the Bālamanoramacommentary, writes Pisharoty. He continues :—

15. कूटलूरूपरि, भाग नामनि प्रापुषा जननमात्मधामनि ।
ब्रह्मदत्ततनयेन गुम्फिता शोध्यतां कृतिरियं बुधोत्तमैः ॥
जज्ञे यज्ञेश्वरः प्रागुपनिलमधिपो यज्वनामाहिताग्नि-
स्तद्वंशोद्भूतनारायणबुधवरजाद् गोत्रजाद् गाधिसूनोः ।
नागश्रेण्याख्यदेशोद्भवभवनजुषो ब्रह्मदत्तद्विजेन्द्रा-
ज्जातो नाम्नां सहस्रं व्यवृणुत गुरुकारूण्यतो नीलकण्ठः ॥
Quoted in Mathrubhumi Weekly. Vol XL. No. 4. dated 8. 4. 1962. pp. 15 to 18

"Kūṭaliūr has been, for a long time, the source or fountainhead of many precious works in Kāvyas and Śāstras. Neelakandhan Nampūtiripād, Vāsudevan Nampūtiripād, Kuncuṇṇi Nampūtiripād, Kunhikkavu Nampūtiripād, Divakaran Nampūtiripād and Nāıāyanan (Uṇṇi) Nampūtiripād are some of the most distinguished authors belonging to this family", states Pisharoty, in his article mentioned above. According to him, the date of the Subhadrāharaṇa is the early decade of the 7th century of the Malayalam Era, the corresponding 16th century A. D. (16). Mahākavi Ullur has also expressed this view earlier in his Kerala Sāhitya caritram (17).

M. Krishnamachariar, the author of 'History of Classical Sanskrit Literature', introduces the Subhadıāharaṇa as the work of Nārāyaṇı, the son of Brahmadatta of Kūṭallūr mana in Malabar (18).

Dr. C. Kunhan Raja in his introduction to the edition of 'Prakriyā Sarvasvam' (Taddhita edition) refers to the Subhadrāhrraṇa and its author Nārāyaṇa in the following lines :—(19).

'This 'Subhadrāharaṇa' is a Kāvya in twenty sargas, illustrating the rules of Pāṇini. The author is one Nārāyaṇa, son of Brahmadatta. The work is available in Trivandrum in the Curator's collection, described in Vol. VIII on pages 3141 and 3142. There is a complete transcript of the work in the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, in Nos. 2720, 4303 and 4323 (20). Under No. 2721 there is entered a commentary on the Subhadrāharaṇa by some member of Kūṭallūr Mana in Malabar, whose father was Brahmadatta".

After visiting the present Kūṭallūr Mana at Nareri, two miles away from Koottanāt and after conversing with Kūṭallūr Brahmadattan Namputiripad, the eldest member of the family, aged more than eighty, (he expired recently), I am under the impression that Kuṭṭamaśśeri Nārāyaṇa Pisharoti's presumptions and statements have some bases and are convincing to certain extent. Brahmadattan Nampūtiripād and his younger brother Brahmadattan Kunhan Nampūtiripād of the Kūtallūr Mana whom I visisted reitcrate the traditional belief that their forefathers were the descendants of Mezhathol Agnihotrin and their original residence was at

16. Mathrubhumi Weekly. Vol XL. No. 4. dated 8. 4. 1962. pp. 15 to 18
16. Mathrubhumi Weekly. Vol XL. No. 4. dated 8. 4. 1962
17. K. S. C. Part II. P. 69
18. History of Classical Sanskrit Literature. P. 146. Motilal Banarssidas. Delhi. First Reprint. 1970.
19. Prakriyā Sarvasva. (Taddhita). By Narayanabhatta Ed. C. Kunhan Raja. University of Madrạs 1941. PP XXV and XXVI.
20. This MS. S. No. R. 2720 of the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, records that it is transcribed from a MSS. of Kutallur Narayanan Namputiripad Nareri, Tṛttala. Malabar District. It rfers to Narayana of Kutallur Mamo. Son of Brahmadatta, as the authors of the Ṣubhaḍrāharana.

Mezhathol. The present Kūṭallūr Mana is still maintaining the good old Majestic, spacious and extensive building with lon ; halls where the resident students were given instsuction in the Śāstras. The structure of the building reminds the grandeur of the ancient 'Gurukulam'. This family is still preserving with the Utmost devotion a shrine inside the residence where most revered sage and the most respected grammarian Patanjali is worshipped every day. This indicates the reputation of Kūṭallūr Gurukulam, the celebrated centre of learning, especially of Vyakarana Śastra. I presume that Brahmadatta Nārāyaṇa., the authar of the Subhadrāharaṇa, might have belonged to this family.

———

'VĀKYĀRTHA' AND 'KĀVYĀRTHA' IN INDIAN POETICS

Dr. K. KRISHNAMOORTHY
[Professor of Sanskrit, Karnatak University, Dharwar]

I

The expressions *'Vākyārtha'* and *'Kāvyārtha'* are so often used in a way almost interchangeable by writers like Ānandavardhana that it becomes a source of confusion in deciding textual readings. The evidence of Manuscripts is far from decisive and confusion becomes more confounded. To take a few examples :—

१. आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन **वाक्यर्थं** (V. L. काव्यार्थं) आक्षेपोक्तिसामर्थ्या- देव ज्ञायते ।

(*Dhvanyāloka*, Dharwar edn., 1974, p. 22).

२. एवं तावत् ससंवादानां समुदायरूपाणां **वाक्यार्थानां** (V. L. काव्यार्थानां) विभक्ताः सीमानः ।

(Ibid., p. 196).

Citations of such passages by other writers like Hemacandra too are not decisive. Thus we find in the *Kāvyānuśāsana* the verse 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः ...' (Ibid., p. 44) introduced with the prefatory remark :—

यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् **काव्यार्थे** रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोरङ्गभावस्तत्रापि न दोष : ।
(Revised edn. V. M. Kulkarni, Ahmedabad, 1964, p. 164).

This testimonia positively goes against scores of citations of the *Dhvanyāloka-Kārikā* concerned with the reading 'वाक्यार्थे' :–

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ (Ibid., p. 42)

Since textual or lower criticism is of little help here, we have to seek the assistance of higher criticism. This short paper is a humble effort in that direction.

II

The earliest usage of the expression is in Bharata's *Nāṭyaśāstra* (ch. VII). He defines *'bhāvas'* as those factors which stimulate काव्यार्थं s :—

काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः । (Gos edn., P. 342) R. Gnoli translates it as 'the aims of the poem' keeping in mind *Abhinavabhāratī's* explanation :—

अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेति अर्थाः, न त्वर्थशब्दोऽभिधेयवाची ।
(*Loc. cit.* p. 34).

That is to say, *artha* does not carry the usual meaning of 'sense' or 'import' here but means the 'end' or 'goal' towards which the poem is directed, namely *'rasa'*.

Fortunately, this portion of the *Abhinavabhāratī* is found quoted in the recently published *Kalpalatāviveka*, (Ahmedabad, 1968, Lalbhai Dolpotbhai Sanskriti Vidyamandira, p. 308) and is also cited by Hemacandra (*Kāvyānuśāsana*, V. M. Kulkarni's edn., p. 97). The full text is as follows :—

'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावा' इति परिपूर्णं भाष्यवचनम् । अस्यार्थः—पदार्थवाक्यार्थौ (वाच्यार्थौ (appears a misreading) रसेष्वेव पर्यवस्यत इत्यसाधारण्यात् प्राधान्याच्च काव्यस्यार्था रसाः, अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेत्यर्थाः, न त्वर्थशब्दोऽभिधेयवाची । स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनां दर्शितमेव ।

From the *Kalpalatāviveka* we get the idea of the context of this interpretation, which we are prone otherwise to deem as Abhinavagupta's own. The context set out therein is the theory of *bhāvanā* or *bhāvakatva-vyāpāra* propounded for the first time by Bhaṭṭa Nāyaka, while explaining the ultimate end of poetry, viz., *rasa*, and its aesthetic delight (called *bhoga*) to the responsive spectator (*sahṛdaya*) :—

यथा भावनानियोगादिप्रधाने शास्त्रे फलस्यापूर्वलक्षणस्य प्रधानस्य भावनादेवैकत्वात् संसर्गो भेदो वा वाच्यार्थः (वाक्यार्थः ?), तद्वदेवात्र व्यापारप्रधाने काव्ये नियतश्रोतृगत-प्रतिष्ठालक्षणसिद्धिपरमफलहेतोः चर्वणास्वादापरपर्याय-भोगलक्षणस्य फलस्य करणादेवैकत्वात्, शृङ्गारादौ रसः काव्यार्थो मत इत्यर्थः । (Op. cit. pp. 307-308).

We have here a clear and concise statement of the Mīmāṁsā concept of *bhāvanā* in *Vedavākya* applied to the field of *kāvya*. The name of the *vyāpāra* is identical to *Veda* and *Kāvya*; it is *bhāvanā* or *bhāvakatva*. The end envisaged and realised is 'invisible religious merit' or *'apūrva'* in the former, while it is *bhoga* or aesthetic rapture in the latter. In the former the syntactic construction (*saṁsarga*) and the diversity (*bheda*) of the constituent elements are to be reckoned as intended meanings since they can bring forth the end. In the same way, since sentiments like love can bring forth the end of aesthetic delight, they are themselves to be regarded as intended 'ends' of poetry. In other words the causal factors of the end are metaphoricaly termed themselves as 'ends'. Mammaṭa has given the illuminating analogy of the two well-known kinds of perception, viz *savikalpaka* (determinate) and *nirvikalpoka* (indeterminate) while explaining how both stated (*Vācya*) and suggested (*vyaṅgya*) elements are invowed in the figure of speech, Paryāyokta. Our first sensation of a running white cow is unified and has no divisions of quality, action etc. This is *nirvikalpaka-pratyakṣa*. But the very next moment we are also aware of these divisions and that is the *savikalpaka* stage of perception, Similarly in seriptural statements we have a total apprehension of *bhāvanā* as well as syntactical relations of denotative words. Bhatta Nāyaka would say that the total effect of poetry is aesthetic delight while the causal factors leading to it are *rasas* or sentiments like love in their variety. Philosophically, there is identity between *rasas* and their bhoga or enjoyment in the theory of Bhaṭṭa Nāyaka. Hence there is nothing unusual in his equetion of *rasa* as *Kāvyārtha*, and his follower Dhanika equating it further with *tātparya* or *Vākyārtha* (cf. Daśarūpaka- *avaloka*, Sd. T. Venkatacharya, Madras, 1968, p, 212), Bhoja, in his own way, can suggest a synthesis between his own idea of 'dhvani' as merely *'śabda-dharma'* and *tātparya*

as *'artha-dharma'* (cf. तात्पर्यमर्थधर्मस्तच्छब्दधर्मः पुनर्ध्वनिः—Śṛṅgāra-prakāśa, Ed. G. R. Josyer, Vol. I, Mysore, 1955, p. 221 and pp. 250-1). But it is all beside the point in a way. for, it is now virtually clear that the verse which openly declares this idea is originally from Bhaṭṭa Nāyaka. Hemacandra cites it as follows :—

यत्तूक्तम्—"संसर्गादिर्यथा शास्त्र एकत्वात् फलयोगतः ॥
वाक्यार्थस्तद्वदेवात्र शृंङ्गारादी रसो मतः ॥" (Loc. cit. p. 97).

तदस्माकमभिमतमेव ।

In the light of this, it will also be equally obbious that the other verse which openly declares रस as काव्यार्थ-quoted in this very context both by Abbinavagupta and Mahimabhaṭṭa—is also from Bhaṭṭa Nāyaka himself :—

भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचरः ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥(Vyaktiviveka, I)

(The Gos edn. has the misreading-संवेदनाख्यया in place of भावसंवेदना; See Vol. I, Baroda, 1956, p. 277).

In the light of all this we might reasonably conclude that in the school of Bhaṭṭa Nāyaka *rasa* may be regarded either as वाक्यार्थ or as काव्यार्थ or as both.

III

But we have to face the problem posed in the *Dhvanyāloka*, Surely, Ānandavardhana cannot be expected to share the idea of his avowed adversary, Bhaṭṭa Nāyaka, even though Abhinavagupta might choose to adopt some of his ideas and incorporate them in his own reinterpretation of the Dhvani theory. To get an inkling into Ānandavardhanaś usage of the terms वाक्यार्थ and काव्यार्थ we have to peruse the usage of those who preceded him and were near enough to him. Fortemately, the *Kalpalatāviveka* comes to our rescue here also as it quotes from the last *Bhāmaha-vivaraṇa*, Udbhaṭa's usage of the word वाक्यार्थ in connection with रस. Vāmanaś usage that word is non-technical (cf *Kāvyālaṅkārasūtravṛtti*, III. ii. 2 :—पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा) and need not detain us here.

The relevant passage from the *Kalpalatāviveka* is this :

रसस्य वाक्यार्थीभावे ये रसवदलङ्कारं उद्भटादयः प्रतिपन्नास्तान् प्रति ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यवादिना आचार्येण (=मम्मटेन) "भिन्नो रसाद्यलङ्कारात्" इति "एते च रसवदाद्यलङ्कारा" इति च वदता स्वाभिप्रायप्रतिपादनं यद्विहितं तदुपजीव्य परस्येयमुक्ति :—'उपलक्षणीभूतमिति' । वाक्यार्थीभावमनापन्नमङ्गभूतमप्रधानमिति यावत् । तेन मुख्यवृत्त्यैवोदात्तमेतत्, न रसवदलङ्कारापवादत्वेनेत्यर्थः । अन्यत्र तु रसवदिति । एतत्पर्यन्ता भट्टोद्भटादीनामुक्तिः (Loc. cit. p. 280) .

Udbhaṭa's view is that when रस is वाक्यार्थ or primarily signified, it should be regarded as the figure रसवत्; and when रस is अप्रधान or subsidiary to another idea, it should be taken as a kind of उदात्तालङ्कार. Mammaṭa does not accept this as he is a follower of Ānandavardhana who regards अप्रधान-रस as रसवदलङ्कार । This quotation may Possibly be explained in terms of Udbhaṭa's

Kāvyālaṅkārasaṅgraha also. But the following quotation cannot be so explained. It must be traced back to the *Bhāmaha-vivaraṇa* only. We are indebted to Śridhara's commentary on the *Kāvyaprakāś a* for this very important citation :—

भामहेन हि 'रसवद्दर्शितस्पष्टशृङ्गारादिरसोदयम्' (III. 8) इत्यादिना यत्र **वाक्यार्थीभूतो रसः** स रसवदलङ्कारस्य विषय इत्यभ्युपगतम् । एतच्चासमीचीनम्; रसस्य वाक्यार्थीभावेऽलङ्कारत्वानुपपत्तेः । अलङ्कारो हीच्छायत्तः पृथक्सिद्धचारुत्वहेतुः प्रसिद्धो, न पुनरात्मैवात्मनोऽलङ्कारः सम्भवति । न हि य एव रसोऽलङ्कार्यः स एवालङ्कारो भवति ।

एवं उद्भटेनापि यत्र चेतनानां वाक्यार्थीभावः स रसवदाद्यलङ्कारस्य विषय इति (भामहविवरणे) यदुक्तं तदपि न सम्यक्, उपमादीनां प्रविरलविषयत्वापत्तेः ।—(Ed. S. P. Bhattacharya, KP. Vol. II, Calcutta, 1961, p. 141).

Form this quotation we learn for the first time that Ānandavardhana's reference in the Dhvanyāloka to this effect—यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते···· (Dharwar edn., P. 46) is to the opinion of Udbhaṭa and that he had used the word वाक्यार्थीभाव also in the sense of a main subject described in a sentence. For according to him the वाक्यार्थीभाव of रस is tantamount to वाक्यार्थीभाव of sentient characters. We are thus justified in concluding that Ānandavardhana is also usnig the word वाक्यार्थ in the technical sense of the principal sentence-purport in connection with *rasa*. This then is the intended sense in the oftquoted *Kārikā* (II. 5) :—

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः ।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥ (Ibid.)

It cannot be substituted by the word काव्यार्थ which might well convey the general sense of a poetic theme as in :—

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात् प्रतिभागुणः । (IV. 6)

Hence Vidyācakravartin is right in summing up Ānandavardhana's view in the following manner :—

तस्माद् व्यङ्ग्य एव **वाक्यार्थीभूतः** काव्यजीवितमिति । एष एव पक्षो वाक्यार्थविदां सहृदयानामावर्जकः ।

(*Alankāra-Sañjīvinī*, Delhi, 1965, P. 4). It cannot be substituted by the word काव्यार्थीभूतः Thus in the *Dhvanyāloka* काव्यार्थ and वाक्यार्थ are never interchangeable as in Bhaṭṭanāyaka, Bhoja, Dhanañjaya and Dhanika.

IV

Sometimes Ānandavardhana is seen using the word वाक्यार्थ in a sense different from the two senses—one technical (noticed above) and the other general as in the usage :

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः संप्रतीयते [I. 10]—discussed so far. Thus he states under उपोढरागेण····' as follows :

व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते, समारोपितनायिकानायकव्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् । (Dharwar edn. P. 22).

How can the 'moon' and the 'night' themselves be regarded as वाक्यार्थ ? Quite a few copyists of the Dhvanyāloka have thought that the word काव्यार्थ suits better in this context. Hence they have emended this and the word वाक्यार्थ in the immediately next sentence also, namely, आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणो वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थं आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादिव लभ्यते (Loc. cit.) into काव्यार्थं. But this is unnecessary and unwarranted. The *Kalpalatāviveka* gives the meaning intended by Ānandavardhana here as follows :—

वाक्यार्थत्वमिति प्रस्तुतत्वमित्यर्थः । (Loc. cit. p. 81). Themes such as the moon and the night in *Samāsokti* and suggested ideas in *Ākṣepa* are all contextually opposite and that is the third meaning of वाक्यार्थ in the *Dhvanyāloka*.

V

In the practical criticism of verses involving Ānandvardhana's रसवदलङ्कार (such as अयं स रशनोत्कर्षी···and क्रामन्त्यः क्षत ··, Dhvanyāloka, p. 173-4, Dharwar edn.) one or more *rasas* may be subordinate to another dominant one. All the beauties acquired by the subordinate ones are said to redound to the over-all beauty of the dominant rasa only. In this connection the *Locana* quotes a verse:—

गुणः कृतात्मसंस्कारः प्रधानं प्रतिपद्यते ।
प्रधानस्योपकारे हि तथा भूयसि वर्तते ॥

This verse has been quoted thereafter by a host of writers including Mammata, Hemacandra, Kavyakalpalatavṛttikāra etc. But nowhere is the source mentioned. It is not *Nāṭyaśāstra* as the editor of the Bālapriyā edn. has wrongly indicated in his index. It is not Bhartṛhariś *Vākyapadīya* or Kumārilaś *Tantravārttika*. Abhinavagupta refers to the author of this citation as "*Tatrabhavān*". Who could it be ? Will any scholar throw light on this ?

———

QUINTESSENCE OF THE DHVANI THEORY OF ĀNANDAVARDHANA

Dr. A. N. PANDEY

Professor and Head, Department of Sanskrit, Kashi Vidyapith, Varanasi

The Dhvani Theory is a magnum opus of Ānandavardhana. His realization in realm of literary criticism has been acclaimed. His contribution consists in discovering the soul of poetry. The philosophy of dhvani guides the refined critic in his task of appreciation of poetry. The realization of dhvani is not an ordinary achievement; it is a realization of the supreme in the literary world. Ānandavardhana delves deep into the realm of beauty and secret of the poetic world and into the bewitching aspects of personality of the poet and the critic. Here our approach is directed towards the crystallization of the essentials of this theory.

1. That meaning which is admired by refined critics has two aspects, the implicit and the explicit. The implicit is entirely different from the explicit. The implicit is in the same manner different from the external constituents of poetry as the charm of a lady is different from her limbs.[1] As the charm is the total effect produced by the limbs of a lady, so is the suggested meaning the total effect produced by poetry. This shows that only they can appreciate poetry of first-rate poets who have insight into the depth of poetry and not they who can know only the external forms of poetry. The critic has to develop a sense of appreciation of the beauty of poetry and this depends not on the knowledge of various aspects of poetry, but on the total transformation of an individual into a pure and sensitive soul. This process is a long-way journey of the critic, who aspires for the charming meaning. The suggested meaning is something new, which comes off in a particular situation. The form conveys that kind of meaning in a particular context. If the context changes, that form conveys a different meaning. Thus a direct relation between that particular form and that particular meaning cannot be established. This expresses that the task of a critic is a difficult one and that in the absence of such direct relation, the role of a critic becomes more and more significant. The charm of poetry needs a refined critic, otherwise that will sink into insignificance and the poet's purpose will not be fulfilled.

2. Ānandavardhana says that they cannot understand the implicit meaning who are adept merely in grammar and dictionary; but only they can understand it who have an insight into the significance of poetry.[2] This shows that the dhvani kāvya can be understood by them

---

1. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
   यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥
   Dhvanyāloka 1.4.

2. शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
   वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥
   ibid. 1.7.

who are trained in a particular way and have developed a taste to appreciate poetry. Ānandavardhana in a way ridicules them who are complacent with their knowledge of words and meanings, because they will not be able to grasp the significance of dhvani poetry. The most important point emphasized here is the total change in the concept of a reader, so far as the issue of dhvani poetry is concerned.

Ānandavardhana maintains that words and meanings that are employed in the dhvani poetry have a different status and magnanimity. They are not words and meanings, with which the common reader is familiar.[3] So the common reader cannot recognize the rare meaning that is conveyed by it. The words and the meanings, which work miracle in the realm of dhvani poetry are different from those which are employed elsewhere. The reader has to go beyond the scope of grammar and dictionary and has to recognize words and various shades of their meanings in all fullness. This task is very difficult, because mere labour on the part of the reader will not fetch anything sufficient to illumine the majesty of dhvani poetry.

Ānandavardhana uses the word प्रत्यभिज्ञेय in the eighth Kārikā of the first Uddyota. This reflects that the knowledge of words and meanings will not solve the problem, but it is the recognition of them which will do. When a man meets another over and over again and recognizes him, he never forgets him. This type of recognition is desired in the case of words and meanings. This is another significant point to which Ānandavardhana draws our attention. The knowledge of words and meanings do not embrace that realm of aesthetic experience which is the highest bliss according to Ānandavardhana. It is the recognition of words and meanings, which leads the first-rate poet to his goal. This the first occasion in the history of Sanskrit poetics that the conception of rare words and rare meanings has been set forth.

The use of the word महाकवे: in the Kārikā is also significant. Ānandavardhana cautions that if one has to earn the laurels of the first-rate poet, he has to come into contact with rare words and rare meanings, which occupy the central place in the scheme of first-rate poetry. In the vṛtti of the Kārikā, Ānandavardhana says that the rank of first-rate poet is achieved by the employment of suggestive words and suggested meanings.[4] It is to be noted that the dhvani poetry, words which are used therein, the poet and the critic—all these bear marked difference and reflect that the scheme of Ānandavardhana has many strange facets to be known and appreciated. The words यत्नत: प्रतिभिज्ञेयौ show that words and meanings that count in the scheme of Ānandavardhana cannot be easily understood.

3. Ānandavardhana observes that there is not a single variety of poetry, captivating the hearts of refined critics, in which the excellence by the touch of suggestion is not present[5]. According to him this is the greatest secret. He points out that even for expressions adorned by

3. सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥ ibid. 1.8.

4. व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनां; न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ।

5. सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम् ।
वृत्ति on Dhvan. 3.36.

figures, the shade of suggestion is a most important ornament[6]. It has been shown how figures attain a new charm, when they get into touch with the suggested element[7].

4. The poet is advised to concentrate particularly on sentiment, because sentiment, emotion, etc. have striking power to create novelty in the entire work handling even an old theme.[8] The Rāmāyaṇa and the Mahābhārata describe battle, etc. over and over again, but the delineation of sentiment, etc. has presented them in novel form and refreshing vitality. Ānandavardhana says that sentiment is present in all varieties of poetry. When the poet composes poetry with figures of speech and has no desire to adorn sentiment, etc., it is then that poetry is deemed as devoid of sentiment.[9]

The realm of sentiment has enormous treasure of expression and imagination. One who travels in that realm can make use of the treasure with confidence. Ānandavardhana says that even hackneyed subjects will appear new, if they get into touch with sentiment, just as the trees appear new in the spring season.[10]

While speaking in connection with sentiment, Ānandavardhana says that the main task of a first-rate poet is to handle contents and expressions in such a way as to suggest sentiment clearly.[11] The proper use of contents and expressions is desired. Without this the poet cannot

---

6. मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि ।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥
Dhvan. 3.37.

7. वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥
ibid. 3.36.

8. व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे विचित्रे शब्दानां सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत । रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्ये तद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचना-प्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते ।

तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनःपुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते ।
ibid. 4.5 and वृत्ति thereon.

9. सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः । किं तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति, तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते ।
वृत्ति on Dhvan. 3.42.

10. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥
Dhvan. 4.4.

11. वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥

अयमेव हि महाकवेः मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम् ।
ibid. 3.32 and वृत्ति thereon.

reach his destination. The moment the poet thinks of writing a poem, he should think in terms of sentiment. Further, Ānandavardhana says that even Bharata and others have advised to write poetry with the main intention of suggesting sentiment.[12] The poet is advised to know the concepts of non-opposition and opposition of sentiments, because without the knowledge of this aspect, the poet will falter and blunder.[13] The author discusses in detail the concept of sentiment and shows how the poet should handle the theme and use proper words.

5. There is a great problem, which the poet has to face. His predecessors have described objects and handled situations and contents. Now he has to find out something new for himself. Ānandavardhana realized this perplexing situation and pointed out the way the poet should follow. He advises that the poet should make use of contents and objects in such a way that they are filled with sentiments. In this way even a million Bṛhaspatis cannot exhaust the treasure of Nature.[14] The significant point should be borne in mind that even a single object, if viewed in various contexts of place, time, etc. embraces infinite states.

6. Ānandavardhana further reveals another striking point in connection with dhvani. He says that by embracing dhvani the creative imagination of the poet becomes endless.[15] Dhvani is that supreme entity which gives extraordinary charm to poetry. Dhvani adorns poetry, immortalizes it and presents the poet with endless creative imagination. This significant point assures the poet that he shoud not waste time in search of fresh ideas and expressions, but he should associate himself with dhvani, which will solve his problems.

7. Sometimes it is found that instances of dhvani poetry and that of subordinated suggestion seem to merge into each other. In such cases the critics shoud not be biased towards dhvani. They should evaluate individual cases on the grounds of arguments. If the arguments are in favour of subordinated suggestion, that instance should be accepted as a case of subordinated suggestion.[16]

---

12. एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह—
रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
ibid., 3.33.

13. विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः ।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित् ॥
ibid., 3.31.

14. अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।
भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥
रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥
वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥ ibid. 4. 8-11.

15. ध्वनेर्यः सगुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः ।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥ ibid., 4.1.

16. प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते ।

Ānandavardhana strikes a note regarding the evaluation of poetry. He says that if poetry with subordinated suggestion is viewed from the standpoint of the sole purpose of sentiment, etc., it will assumme the form of dhvani.[17]

8. Ānandavardhana's remarks in connection with genius are very illuminating. The discovery of dhvani theory revealed the importance of the genius of great poets. In the absence of the concept of dl vani theory, the genius of great poets cannot be fathomed. The dhvani poetry is a rod to measure the excellence of genius. Thus the real grasp of dhvani theory is the real grasp of the genius of the poet. When we consider poetry, we should have two things in our mind, one the poetry itself and the other the genius that produces it. To know the height of genius is a great realization. This is not possible in the absence of first-rate poetry. The reader or the critic tries to reach the height of genius of the poet through his poetry. He should view the flashes of genius of the poet, which create beautiful images in literature. It is the realization of genius, which unfolds the mystery of poetry, though poetry itself provides material for the realization of genius. This minute observation has been set forth in clear terms by Ānandavardhana.[18]

9. There is another striking point. The poet should dedicate himself to the Goddess of Speech. The best kind of poetry is not a composition of an ordinary man, but it is a composition of a poet, in whom Sarasvati herself resides and guides the poet during the process of composition. There should be no laxity on the part of the poet. In this context the author gives vent to a psychological fact. The mind of the poet should be averse to borrowing the ideas of other poets. This attitude leads the poet to the goal of creativity. The author says that a good poetry is the fruit of righteous deeds, which have been performed by poets in their past births[19].

विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥

सङ्कीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः । तत्र यस्य युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्त्तव्यः । न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम् । ibid., 3.39 and वृत्ति thereon

17. प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥ Dhvan. 3.40.

18. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तमभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा वा महाकवय इति गण्यन्ते ।
ibid., 1.6 and वृत्ति thereon.

19. प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः कर्त्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ।
परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यास-परिपाकवशेन प्रवृत्ता वाक् तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति । ibid. 4.17 and वृत्ति thereon.

Tulasidas also says that Sarasvati comes to the help of poet, when he remembers her in his moments of choosing a new idea or an appropriate word[20].

10. While treating of dhvani, which is the highest aesthetic experience, Ānandavardhana's connection with the ephemeral existence ceases and he enjoys the beatitude, that cannot be described in words. This aspect of his attitude, the phraseology[21] that he uses and the way in which he handles his theme, make clear that the dhvani theory is not a thing which can be easily realized.

---

20. भगति हेतु निज भवन बिहाई।
सुमिरत सारद आवत धाई॥

Rāmacharitamānasa 1.10.2.

21. 'तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतमतिरमणीयमणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्, अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते।

वृत्ति on Dhvan. 1.1.

'यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ्निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः।'

वृत्ति on ibid. 1.4.

RECONSIDERATION OF SRĪ SAṄKUKA'S VIEWS ON RASA-NIṢPATTI

TAPASVI NANDI

Sri Saṅkuka is one of those ācāryas whose views on the problem of rasa-realisation have been quoted by Abhinavagupta in his commentary on the Nāṭyaśāstra of Bharata. For this we are highly indebted to Abhinavagupta. Here, we will concern ourselves with Śrī Saṅkuka's views only.

Śrī Śaṅkuka disagrees with Lollaṭa and is not inclined to take rasa as an intensified mental state, but take it as an imitated mental state which is later inferred by the sāmājika. The actor, holds Śaṅkuka, successfully initates the original characters and their experiences. This imitation by the actor is artificial and unreal, but it does not seem to be so to the spectators, who forget the difference between the actors and the historical characters, on account of the artful presentation by the former, and inferentially experience the mental states of the characters themselves. This experience, actually a peculiar form of inference—say artful inference—is according to Śaṅkuka different from other kind of knowledge and is neither real, nor false, nor of the nature of either doubt or comparison. This is explained on the analogy of *'citraturaga'* or a painted horse.

Thus, Śaṅkuka seems to be the first known critic who divorces art-experience from any worldly experience and connects it with the connoisseurs. However, Abhinava's master Tauta finds fault with Śaṅkuka's theory of 'anukṛti-anumiti' i. e. 'imitation-inference'. The main thrust of Tauta's argument seems to be that the effect of imitation is bound to be ridiculous, causing laughter and mockery and that it cannot have any connnection with aesthetic experience. Inference also cannot be said to cause pleasure : *laukikānumane tu kā rasatā*, observes Abhinavagupta later on.

However, it should be noted carefully that in ordinary parlance we have to take recourse to inference in realising someone else's feelings. In art, it could be an artful inference with the help of artful imitation by the actor. Actually 'imitation' and 'inference' need not be taken in their strict philosophical connotation, for they are not meant to be so by Śaṅkuka himself. Mahimā, a great protagonist of *'kāvyānumiti* clearly declares that the poetic inference is not to be taken as identical with normal logical inference i. e. *'tarkānumiti'*, and that it is foolish to expect the perfection of the latter in the former. What is important and undeniable is the fact that even in our normal walk of life we do infer someone else's feelings, and every-time the inference may not be strictly logical in its form. The process is important. And it is this even in case of art-experience. This imitation and inference are meant to be taken in their poetic context, in their so called loose sense. They may not stand the serutiny of a logician. Actually, same is the position of *'abhivyakti'* also which cannot be saved from charges levelled against it by Bhaṭṭa Nāyaka who observes that a manifested thing has to be *'pūrvasiddha'*, or having earlier independent existence. If *rasa* thus is taken to be *'abhivykta'*

or manifested, it has to be *pūrva-suddha*. And in this case, all the difficulties enumerated by Nāyaka will follow. But then, Abhinavagupta seems to hold that this *'abhivyakti'* is not to be taken as the *abhivyakti* in its normal philosophical connotation, for *rasa* cannot be taken to be *pūrva-siddha* but is only *'tātkālika'* or something that exists only at a given period of time, and is *'vibhāvādijīvitāvadhiḥ'* i. e. co-existent only with the determinants etc.; and so, this is a peculiar *abhivyakti'*.

The point is, that if Abhinava's *abhivyakti*, of course peculiar *avibhivyakti*, can be acceptable in the field of art and literature, what is wrong in accepting peculiar 'imitation-inference' (*anukṛti-anumiti* as suggested by Śaṅkuka ? The problem is-why not *anumiti* ? which as imagined by Śaṅkuka, hardly differs from *vyañjanā* of the dhvanivādins ? Actually there is much substance in what Śaṅkuka says and his unique *anukṛti-anumiti* is not much different in nature from *'abhivyakti'* as imagined by Abhinavagupta and his followers. And perhaps, between the two the postulation of *'Kāvyānumiti'* involves a lesser amount of *'gauravadoṣa'* as compared to the *vyañjanā* of the dhvanivādins. The point is, if you ask, 'why inference ?' then our question is, 'why *Vyañjanā* ?' .

DOWN THE MEMORY LANE

SOW BHANU KRISHNAN, BOMBAY

My memories of my grandfather are perhaps memories of my sunny childhood, for I cannot dis-associate one from another; for me 'grandpa' is not a figure always reclining in an easy chair and roughly discouraging children from playing noisy games and running around him. In fact I have always noticed that he has the effect of subduing even the most troublesome child into sitting near him and behaving with utmost propriety. This was perhaps the teacher figure in him. The largest number of lessons of life, I have learnt in my grandfather's lap. These lessons were universally conveyed through humerous stories and anecdotes—punctuated with puns and playacting. Before we realised the implication of these narratives we had already learnt an important lesson. For a girl of six, at that time, these were merely stories which I implored my grandpa to repeat again and again. He would always oblige, after giving a friendly snort and good naturedly calling me a niusance. Today I cherish these stories and the messages that were subtly conveyed throungh them at every step. I am not embarsased to concede that whenever I meet grandpa even today, I insist on listening to these stories along with my litltle cousins, neices and nephews.

I always accomponied my grandpa on long walks beside the lake. There used to be little conversation between us on these walks, but, even at that time, I experienced a silent comaradarie with grandpa—little girl of six enjoying the peace and tranquilty of nature. A moment of peace and understanding such as those I enjoyed during these walks I am vainly searching even today.

Greater part of the day, I found grandpa surrounded by books and students. They sought him out at all times and brought to him their difficulties, confident of getting sound solutions of them. Grandpa had always been a selfless teacher and mentor in true sense. These sessions in my grandpa's room left such a impact on me that I too collected around me, imaginery students and taught them all I knew. The art of teaching has since then been something pure and noble to me—as pure and noble as my grandpa.

School going was not an attractive prospect to me unless my grandpa agreed to reach me. He always took a great interest and found out from me, all that was taught in my school. He particularly listened to the mursery rhymes and poems that I recited to him. At the same time, he also taught me *Shlokas* and hymns in Samskrit and asked me to repeat them after him till I knew them backwards. He never discouraged me from learning English in school but at the same time took great pains to teach me Sanskrit. I learnt it all on the way to and back from school. If on any day, he was particularly pleased at the way, I was learning and reciting 'shlokas' or samskrit Grammar, he would stop at a sweet-meat shop and buy my favourite sweets. After I grew up and went to middle school and started learning Geography, History and Science, I started discussing and arguing with him on the modern concepts of

nature and science as against his ideas and views. These arguments I started not so much as to put forth my points put to hear him speak on these subjects. Consequently through these friendly verbal combats, I come out richer in understanding and logic. It is also interesting to listen to his views on politics, Theosophy and Astrology. In fact there is never a dull moment where grandpa is around. He is one person, I know of who does not exhibit any kind of generation gap.

Grandpa is what a candle is to darkness or water is to thirsty. The number of times I have derived, courage and inspiration from him is hard to tell. All through my childhood till today, he has always been a person to whom I can run with my worries and complaints and I am sure to get tolerence and understanding from him. Apart from numerous other ways in which I have benefitted from being his grand daughter, I am certain that I shall myself make a good grandmother to my grandchildren for I have known 'perfect grandparent'.

MY GRANDFATHER

Dr. (Mrs.) Kala. P. Kumar, U. S. A.

It is doubtful whether I can do justice to my feelings towards my grandfather in a few words; never-the-less I will try.

Ever since my childhood I have known him to be a simple, honest and a pious man. As I grew up, I heard my mother tell me stories of his struggling boyhood and youth which made me admire him all the more. He is very unassuming and his habits are simple to the verge of austerity. I have never known him to think unkindly of others in word or in deed-an important Lesson he imparted to all his children and grandchildren. We looked forward to the holidays we spent with him, and the long sessions when he told us excerpts from religious books. He also had an inexhaustable store of aneedotes some real stories and some fictional, which made the time spent with him more memorable and enjoyable-so much so that even today we long for those joyous childhood days with our grandfather.

Though extremely softspoken and calm, he has always been the pillar of strength to our family. Another remarkable feature in his character that endeared him to us is his forgiving nature. I have known him to have made allowances for many of our shortcomings and lapses which would have surely offended his sense of discipline.

Last but not the least, he is an extremely educated man and has contributed immensely in the form of books to the Sanskrit language. He has receined many well deserved awards in his field and has made our family extremely proud of him.

I wish him all the happiness and glory in life and am proud to be his granddaughter.

LAKṢAṆA

("*Poor definition-cutters with logical scissors*")

BIMAL KRISHNA MATILAL

1. Introduction : Nyaya and the Paniniyas

It will not be an overstatement if it is said that Indian Philosophic activity, by which I mean the Sanskrit Philosophic writings,* concerned itself to a considerable extent with what it calls *lakṣaṇa* and problems arising out of the same. I shall translate "lakṣaṇa" by "definition" in English, although I do not thereby claim that the function of *lakṣaṇa* in Sanskrit Philosophic activity is nearly matched by the function of "definition" in Western logic. In fact, few Philosophical (and logical) terms in Sanskrit are translatable in this way into English or in Western Philosophical language. But using the principle of charity we select a translation that comes close enough so that our discussion of classical Indian Philosophy can proceed in modern terms. Such a procedure seems quite acceptable (in fact, is current among modern writers) provided care is taken to explain the concept in question in an intelligible manner in the course of our discussion.

While I shall use "definition" for "*lakṣaṇa*", I will not need to use the other two related terms "definiendum" and "definiens". "Lakṣaṇa" in Sanskrit is usually paired with "lakṣya", which I translate as "the item or items to be defined". The sentence which gives the definition will be called a "definition-sentence" and thereby I will translate the Sanskrit "lakṣaṇavākya". For example, the sentence "Man is a rational animal" expresses a definition. Here all the human beings form the set of items to be defined or *lakṣyas* and the *lakṣaṇa* or the definition is the property of being a rational animal; it is usually the property expressed by the predicate-expression of the definition-sentence. Obviously *lakṣaṇa* in this sense is understood also to be the defining property or properties. But "lakṣaṇa" or "definition" is also used ambiguously to denote an act that the philosophers perform when they utter a definition-sentence. As far as I can see, *lakṣaṇa* in this sense belongs to the class of 'illocutionary acts', the kind described by Austin and Searle. As an illocutionary act, it is also correlated with what has been called a 'perlocutionary' act. But I shall come to this point later. In fact I argru that some sort of a speech-act analysis of the act of definition, i. e. *lakṣaṇa*, is illminating.

In ordinary Sanskrit "*lakṣaṇa*" generally means a mark, an indicator or even a characteristic, and "*lakṣya*" accordingly means the indicated entity. Philosophers have taken these two terms to use them in a rather technical sense, which is not entirely unrelated to their ordinary sense. The grammarians (Pāṇinīyas) use the same pair of terms in a slightly different sense. The *sūtras* of Pāṇini which embody the rules of grammar are called *lakṣaṇa*, and the

* Śri Paṭṭābhirāma Śāstriji in one of the ācāryas under whom I studied such Sanskrit philosophical texts, and hence I find it proper to express my regard for him with this little paper on *lakṣaṇa*.

1. Austin, p. 98-99, Searle, p. 54 ff.

correct forms derived in accordance with these rules are called *lakṣya*. This has given rise to some confusion in the minds of some modern scholars. But G. Cardona has set the matter straight by pointing out that there is a much simpler explanation of this phenomenon[2]. "*Lakṣaṇa*" means "explanation through characterization". A grammatical rule or a *sūtra* is called a *lakṣaṇa* because it characterizes, i. e. explains, the correct speech. In fact we should note that a *lakṣaṇa* does not *mean* a *sūtra* or a grammatical rule in the sense of stating a regularity of the word-derivation. (This was the confusion of Al-George[3].) But a *lakṣaṇa*, of course, *stands for* a *sūtra* which states a grammatical regularity. By formulating a *sūtra*, Pāṇini not simply states a regularity of word-derivation (in a 'descriptive sense') but also recognizes that there are correct word-forms (cf. *sādhu-śabda*) which are explained through derivation etc., by the *sūtra* in question in such a manner that they are thereby distinguishable from incorrect, ungrammatical forms (cf. *apaśabda*). In other words, one of the functions of the *sūtra* is to *indicate*, i. e., it serves as an *indicator* of the forms that are grammatically correct (so that the incorrect forms are excluded). Viewed in this way, it does not come as a surprise that the *sūtra* will be called *lakṣaṇa* (indicator) and the correct forms *lakṣya* (the indicated). I suggest therefore that this (grammarians') use of the pair '*lakṣya-lakṣaṇa*' is connected with the logicians' use of the same pair, for which I have adopted' the translation 'defined-definition' in the absence of any better terminology.

Vātsyāyana states under *Nyāyasūtra* 1.1.3 : "This *śāstra* proceeds in three ways. Enumeration or naming (of the categories), (their[4]) definitions *(lakṣaṇa)* and examination (of those definitions)," What Vātsyāyana says here is, in fact, true generally of philosophical treatises of all other schools of classical India. A philosophical treatise would, according to this style of philosophizing, formulate definitions or *lakṣaṇas* of the concepts or categories accepted in the system, and then examine, i. e. ascertain, with the help of *pramāṇas* (means of knowing) whether the defined object *(lakṣita)* conforms, in fact, to the definition as given. After formulating a difinition, the philosopher proceeds to show why and how his definition meets adequately the aceeptable standard or the necessary requirements of a definition and how the defined objects and only such objects are characterized by the definition, i. e. the defining property or properties suggested by him. This eventually leads him to a discussion, and a critique, of the rival theories and inadequacy of rival definitions of the the same concept.

2. Lakṣaṇa as an Illocutionary Act

What is a *lakṣaṇa* or what I have called a definition here ? Vātsyāyana answers. It is the property that distinguishes the object to be defined from that it is not[5]. This answer underlines the fact that a philospher gives a definition by assigning to the object or objects the defining property *(lakṣaṇa)* and by his act of definition he intends to produce some effect or consequence, i. e., an awareness in his students or readers so that they would be able to recognize or identify

2. Cardona, p. 328.
3. Al-George, p. 213-21.
4. Vātsyāyana, p. 181.
5. Ibid; p. 181. See also Staal, p. 122-6, and Matilal, p. 85-95.

the object or objects defined as *distinct* from others. This is, it seems to me, comparable to what is called a 'perlocutionary effect' of an illocutionary act.

Uddyotakara makes this point clear in answer to a slightly different question. It is asked why Akṣapāda (the supposed author of the *Nyāyasūtras*) formulated a separate statement (*sūtra* 1. 1. 3) for classifying the *pramāṇas* (means of knowing) into four while it would have been obvious that there were (according to Akṣapāda) only four *pramāṇas* from the fact that he formulated definitions of only four such *pramāṇas*. Uddyotakara's answer amounts to saying that the intended effect of the act of definition is different such that the students or readers would not have understood from such definitions that there are only four *pramāṇas*. I quote[6].

"Such a contention could have been conceded; since e.g., four (*pramaṇas*) have been defined (by *Akṣapāda*), it is understood that there are only four *pramaṇas* (according to him). But this is not so. For, a definition (*lakṣaṇa*) is the ground/reason for differentiating the object (to be defined) from others. Certainly, the definition differentiates the object (*padārtha)* from those similar to it as well as from those dissimilar. But it cannot perform the function of restricting (cf. *niyama*) the number (such that one would understand that there are only four *pramaṇas*). Such restriction is intended by another act (different from the act of definition). That there are no further *pramaṇas* (besides the four defined) is not understood from the definition........ .Therefore, the classificatory statement (in NS. 1. 1. 3) is justified as it is intended to resolve the doubt (whether there are further *pramāṇas* or not)." (p. 264)

What Udyotakara was trying to explain is easily captured by distinguishing between two different kinds of illocutionary acts with two different intentions and conditions. One is the act consisting of a classificatory statement (*vibhāgoddeśa*) performed by uttering *Nyāya sūtra* 1. 1. 3 intended, among other things, to restrict the number of *pramāṇas* to four, and the other is the act of definition of the four *pramāṇas* performed by uttering *Nyāyasūtras* 1. 1. 4-1. 1. 8, intended to allow the readers among other things to recognize them and differentiate them from each other as well as from those that are not *pramāṇas*. One further point to be noted in this connection is this. If the act of definition in this sense is an illocutionary act and its perlocutionary effect is differentiation of the object to be defined from similar and dissimilar objects, then the above Nyāya definition of definition in terms of assigning a differentiating property may be seen as an acceptable attempt to define an illocutionary verb in terms of its intended perlocutionary effect.

Vācaspati Miśra comments :[7] "Defining is speaking of the unique reason or evidence (what is technically called *kevala-vyatirekihetu* in Udyotakara's system). That (unique evidence) determines the items or things to be defined by separating or differentiating them from similar things as well as dissimilar things." In other words, Vācaspati thinks of definition as a means of supplying a property, a 'unique evidence', for making a valid inference regarding the distinction of a set of things from what they are not.

The nature of this valid inference would be discussed below.

6. Uddyotakara, p. 183-4.
7. Vācaspati, p. 186.

3. Real VS. Nominal Definition

A well-known controversy in the West, as far as the theory of definition is concerned, is usually formulated in the form of a question: What do we actually attempt to define? Things? or, words? This point is reflected in the usual distinction that is made in the West between a *real* definition and a *nominal* definition. If we define things, it is a *real* definition, and if we define words, it is a *nominal* definition-so goes the standard interpretation. A third alternative, which steers clear of both, is added by asserting that we define concepts, neither words nor things. What about the well-known definitions offered and discussed by the respectable ancient and classical (Western) philosophers? There is a strong philosophic tradition, initiated by the Greek 'triumvirate', Socrates, Plato and Aristotle, which regards *real* definition as part of an important style of philosophizing. It is believed that when Socrates asked "What is Knowledge?" or "What is the Soul?" he was asking for a *real* definition. He was not merely concerned with the 'meaning' or 'use' of the word 'knowledge' or 'soul'. The purpose of a nominal definition is roughly to establish or inform the meaning of a word or symbol. This process for real definition has been discredited in modern times in the West and the nominal definition has been preferred with the growing recognition of the importance of language in philosophy. Attempts have been made to focus upon nominal definitions, even to rephrase the older question about things, "What is '*X*'?" into the question about meaning, "What is meant by '*X*'?" Philosophers, under this theory, are supposed to formulate a nominal definition lexical or otherwise. This does not however, discredit the so-called real definitions practiced by the classical philosophers. For in spite of their misconception about what they were defining, things or names, it is possible to derive philosophic insight from such definitions as well as to understand or rephrase them as nominal definitions of the useful kind or as legislative definitions for their systems.[8]

The dispute between real and nominal definition has been somewhat counterproductive in the Western tradition. And the by-product of the dispute has led to such views as that definition is tautology and therefore fruitless or that definition is only 'an insistence on hard-headed clarity'[9]

---

8. Robinson (1954), p. 12-34.

There is one particular use of definition that is most current in modern logic. It is sometimes called contextual difinition for eliminative purposes. This is how the logical connectives of the propositional calculus, for example, were defined in *Principia Mathematica*. These connectives were given a 'definition in use'. They are what the authors of the *Principia* called 'incomplete symbols' and hence defined 'contextually'. What is given meaning by the definitions are these sings in their contexts.

Ouine sharpens the notion of what he calls an eliminative definition as follows. "What is required of an eliminative definition of a word *W*, on the basis of some accepted defining vocabulary *V*, is that it explains how to paraphrase every sentence *S*, in which the word *W* occurs, into a new sentence that contains only words of *V* and *S* other then W". "Vagaries of Definition" in *Ways of Paradox and other essays*, 1976 ed., p.

9. Whitehead, p. 91.

11

In fact, barring some technical as well as some trivial uses of the term 'definition', one can regard, with some ingenuity, most definitions as a very useful sort of philosophic activity by which a word or a symbol is explained in the sense that its *meaning* is rendered precise for a discourse, to enable one (the student, the reader) to correctly apply it to things or items it is supposed (or intended) to apply. If definition is understood in this way, then it will seem that the Indian theory of *lakṣaṇa* is not a strange sort of activity entirely unrelated to the Western notion of definition. Having made this point, I wish to concentrate first on the Indian philosophers and the problems and disputes they engaged themselves in with regard to *lakṣaṇa*.[10]

4. Some Indian Problems of Definiton

One usual objection (*pūrvapakṣa*) raised against the activity of definition is given as follows. It is either useless or it leads to an infinite regress. It is useless, for the defining property does not certainly create the items to be defined. Nor can it generate a precise understanding of such items or things, for we are mostly familiar with the things themselves even before we are presented with a definition. If we insist, however, that precise understanding comes only through a definition, then that definition i. e., the defining character itself, should need to be defined by another definition so that we can assign it as the defining character after having a precise understanding of it. This will then lead to infinite regress, for the process will never end. Therefore, the conclusion is that definition is useless.

Vācaspati in reply has said that definition is meant for such persons as are unable to clearly identify the objects or things concerned as distinct from those that are not, due to some confusion *(vyāmoha)* or other.[11] Udayana has explained :[12]

"It is not that everybydy is confused, so that there could be no teacher and none to be taught. Nor is it that there is confusion (imprecise understanding) with regard to everything, so that there would be infinite regress. Nor is it that every item causes imprecise understanding, so that there would be no knowledge. Nor is it that every item is (entirely) unknown so that the defining character will lack any substratum to begin with".

Udayana's last point is rather technical in nature and hence needs some explanation. The logical defect called *āśrayāsiddhi* (literally, 'lack of a proper substratum') arises if a property

10. One significant distinction between the Indian (Nyāya) notion of *lakṣaṇa* and the Western (say, the Socratic) notion of definition is that the former allows the possibility of a number of parallel defining properties of the same set of objects, while the latter insists on presenting the essence (cf. real definition) of the objects to be defined. Cf. Socrates's reply in *Theaetatus*, 'What the thing itself is," Plato 146e. Nyāya looks for some (one of several) unique property in a definition *(lakṣaṇa)* while Socrates looks for the essential property. Essential properties, if there are any, should be only one for each set of objects, whereas there may be several *unique* properties belonging to the same set of objects.

11. Vācaspati, p. 209, line 6.

12. Udayana, *Pariśuddi*, p. 242-3.

is assigned by a sentence to such a locus or substratum as is entirely unknown (to both the speaker aad the hearer). The defect is connected with the problem of empty subject term in logic. Udayana's solution here is that what we are going to define cannot be entirely unknown for that would render the defining act impossible. What we are going to define is at least vaguely familiar to us, or we have a general, though imprecise, acquaintance with it (cf. *sāmānyajñāna)*. For without such an acquaintance, there cannot arise the required desire to know or understand it precisely. And without such a desire which leads to the question "What is *X*" (cf. *jijñāsā)*, the act of definition does not follow[13].

The situation is, it is argued, comparable to the initial doubt with regard to the specific nature of a tding and the eventual resolution of it when a decision has been reached on the basis of some specific evidence. Doubt cannot arise, according to both *Nyayasūtra*1. 1. 23 and *Vaiśeṣikasūtra* 2. 2. 16, unless there is some acquaintance with the object of doubt. From a distance, we see something and then wonder, i. e. doubt, whether it is a man standing there or a dead tree-trunk. When we have further evidence such as arms and legs, we decide that it is a man. We need not insist, unless of course we are indulging in Cartesian doubt, whether our so-called evidence is really an evidence, for our ordinary doubt is resolved for all practical purposes in the above manner. Similarly, if a defining character that has been assigned already seems to be vague or imprecise to the hearer, we may resort to further definitions. This certainly does not regress to infinity for it is possible to soon reach such characters as are clearly recognizable by both the speaker and the listener. Thus it is said, "*na hi sarvatra sandihānāḥ puruṣāḥ*", "It is not that people entertain doubt with regard to everything"[14].

Bhāsarvajña points out that it would be impractical to entertain a doubt or an indeicision in the case of each definition. For the person addressed to in the act of a definition is a listener in a communication situation. To make communication possible, it is assumed that he understands certain basic categories or is familiar with them. In other words, he understands at least to which things certain words apply or what is meant by them. Therefore, often when the definer reaches that level where he uses such basic words, it would be improper to claim that he still generates doubt in the mind of his listener. In such cases, he does not regress any further.

If however he does not even have a listener who understands even the application of of certain basic words, it would then be a worthless enterprise to utter words for the purpose of defining anything. Such extreme cases, it is argued, may be ignored, just as we ignore the ramblings of a mad man. A mad man, for example, may utter anything pointing at a tree, we need meither take it to be a question for giving a definition of the object, nor can we use the utterance for defining that object (cf. *Nyāyabhuṣaṇa*).

If it is argued that one can possibly define in this way (giving some unique character) everyrhing else but not one can define what a definition is, in the same way, Bhāsarvajña argues that it is untenable. For the definition of definition can be reflexive. Just as the unique character

---

13. Aristotle in *Posterior Analytics:* "When we know that some *is*, we inquire *whot* it ss". 89634.
14. Bhāsarvajna. comm. on his *Nyāyasāra*, p. 6.

of definition (cf. *lakṣaṇa-lakṣaṇa)* characterises each that is called a definition, it can at the same time characterise itself uniquely, i. e., differentiate itself from what is not a definition. It is argued that reflexivity does not always generate a paradox. If one utters "all sound (noise) is impermanent" one does not exclude the utterance itself which is also sound. "The scriptures should be read" can be part of the scriptures which are prescribed to be read. And light can make other things visible including itself. All these examples are used by Bhāsarvajña to remove paradoxicality of the definition of definition.

Śri Paṭṭābhirāma Śāstriji is one of the ācāryas under whom I studied such Sanskrit philosophical texts, and hence I find it proper to express my regard for him with this little paper on *lakṣaṇa*.

Bibliographical References

Al-George. "Lakṣaṇa, Grammatical rule," *Festschuft, K. C. Chattopadhyaya.*

Aristotle, *The Basic Works of Aristotle.* Ed. R. Me Keon.

Austin, J. L., *How to do Things with Words,* Oxford 1962.

Bhāsarvajña. (1) *Nyāyasāra*, with Comms. S. S. Śastri and V. S. Śastri, Madras 1961.

(2) *Nyāyabhūṣaṇa*. Ed. Swami Yogindrananda, Banaras 1968.

Cardona, G., *Pāṇini : A Survey of Research.* London, 1976.

Robinson, R. (1) *Plato's Earlies Dialectic,* Oxford, 1953.

(2) *Definition,* Oxford, 1954.

Searle, J. *Speech Acts*, Cambridge, 1969.

Udayana, Uddyotakara, Vācaspati and Vātsyāyana, *Nyāya-Vārttika-tātparya-pariśuddhi*, Ed. A. Thakur, Mithila Institute, Darbhanga, 1967.

THE MEANINGS OF *ANTARĀ* AND *ANTAREṆA* AND THE INTERPRETATION OF : *VAIDEHĪM ANTARĀ KRUDDHAḤ* OF BHAṬṬI (8.94)

(T. VENKATACHARYA, PROFESSOR OF SANSKRIT, UNIVERSITY OF TORONTO)

The word *antareṇa,* though appears to be an instrumental singular of *antarā,* is regarded in some uses as an indeclinable (i. e. *vibhaktipratirūpaka-avyaya*). Similarly, *antarā.* though looks like a feminine singular, is counted as an indeclinable particle. In these cases, the words cannot be construed either as substantives *(viśeṣyas)* or as aejectives (*viśeṣaṇas*), and so they are rightly described as *nipātas,* i. e. one of the four parts of speech reckoned in Sanskrit (see *Mahābhāṣya : catvāri padajātāni; nāmākhyate ca, upasarganipātāśca*). The declinable type of *antarā,* which sometimes can be construed as a *viśeṣya* and sometimes as a *viśeṣaṇa, (mahad antaram*; and *antarāpurī)* is a homonym (*nānārthaka*) as recorded by many lexicographers. Amara notes thus :

> *antaram avakāśāvadhiparidhānāntardhibhedatādarthye,*
> *chidrātmīyavinābahiravasaramadhye' ntarātmani ca.*

Other lexicons too note it as a *nānārthaka* in a similar manner.

The indeclinable *antarā* and its companion *antareṇa* are seen idiomatically to govern the accusative case, as recorded by Pāṇini in his rule *antarāntareṇayukte* (2. 3. 4). *antarā tvāṃ māṃ ca kamaṇḍaluḥ* and *antareṇa puruṣakāraṃ na kiṃcit labhyate* are cited as examples in the *Mahābhāṣya* and the *Kāśikā.* Of these two again, in the early stages *antarā* is said to have been used in the sense of *madhye* (between, in the middle etc.) and *antareṇa* in the sense of *vinā* (without). In the Mahābhāṣya, the *antareṇa* is always seen in the sense of *vinā.* By the time of the *Kāśikākāra, antareṇa* seems to have been found in both the senses. The *Kāśikā* has the following :

> *antarāntareṇaśabdau nipātau sāhacaryād gṛhyete....tatra antarāśabdo madhyam ādheyapradhānam ācaṣṭe. antareṇaśabdas tu tacca vinārthaṃ* ca. (On 2. 3. 4.)

But, subsequently both are seen to convey both the meanings of *vinā* and *madhye.* On the word *nāntarīyaka*, Nāgeśa notes in his *Uddyota* (on 1. 2. 39; NSP page 34) thus : *vinārthkāntarā-śabdāt bhavārthe cho gahāditvāt, svārthe kaḥ, nañsamāso, nalopābhāvaś ca pṛṣodarāditvāt nāntarīyakaśabde*.

na prayojanam antarā cāṇakyaḥ svapne'pi ceṣṭate is the use in the *Mudrārākṣasa* (before III. 20) Thus *antarā* has also the meaning of *vinā,* though it is not mentioned in the *Kāśikā.* Although it is not recorded by Amara and other lexicographers, that the word *antarā vinā* too is stated in the *Viśvakośa* thus : *antarāpi vinārthe syāt.*

Thought not given in the *Mahabhāṣya,* the word *antareṇa* in the sense of *madhye* as

noted in the *Kāśika*, is also found in the works of famous poets, and recorded by lexicographers. For instance, see the following :

antarenapadaṃ vidyād vināmadhyārthavācakam (*Śāśvata & Medinī;*
mṛṇālāsūtrāmalam antareṇa sthitaś calaccāmarayor dvayaṃ saḥ,
(Māgha; 3. 3.)

These are some of the commonly known instances, and the interpretations. Apart from these, there are some specific uses of *antareṇa* and *antarā* where none of the meanings of *vinā* and *madhye* is applicable. In these, the interpretations offered by the commentators make one wonder as to whether the commentators were really on the right path. Let us see some of the examples : In the *Abhijñānaśākuntala* we have the statement of Vidūśaka the *chāyā* of which is as follows : *atrabhavantam antareṇa kīdṛśas tasyā dṛṣṭirāgaḥ* (before verse 11 of the act II)., where there is the accusative case in the expression *atrabhavantam,* and the word *antareṇa* is seen by the side. Later on also in the *Śākuntala,* after verse V. 1, in the statement of the king Duṣyanta we have the expression thus : *sakṛt kṛtapraṇayo'yaṃ janaḥ. tasyā devīṃ vasumatīm antareṇa madupālambhām avagato'smi.* On these expressions Rāghavabhaṭṭa comments thus : (First on the first one :) *attabhavantaṃ* (Prakrit) *iti saptamyarthe dvitīyā, saptamyā dvitīyā iti sūtreṇa.* udāharaṇaṃ ca "*vijjujjoaṃ rarai mattiṃ*" (iti); *vidyuddyotaṃ = atrabhavati = pūjye, antareṇa = viśeṣeṇa kīdṛśas tasyā dṣṭirāgaḥ* (*ityarthaḥ*)., *antaram randhrāvakāśayoḥ, madhye vinārthe tādarthye viśeṣe ·vasare' vadhau" iti haimaḥ.*

Here, as the statement of Viduāṣka is in Prakrit, Rāghavabhaṭṭa is trying to explain *atrabhavantam* (i. e. of *attabhavanatṃ*) as a case of *saptamyā dvitīyā,* an idiom in Prakrit, another illustration for which is also cited in the sentence: *vijjujjoaṃ marai rattiṃ.* In this context, I have to mention that I have been able to trace the *sūtra: saptamyā dvitīyā* in Hemacandra's *Prakṛta-vyākaraṇa* (*Siddhahemaśabdānuśāsana;* 8. 3 137) Trivikrama has the following rule : *Ṅipo's* (2. 4. 41) where (in his *Prākṛtavyākaraṇa-vṛtti*) the illustration of *vijjujjoaṃ* etc. is found with a slight difference. Trivikrama takes *vijjujjoaṃ* itself as the instance of *saptamyā dvitīyā,* and gives the full *chāyā* as *vidyuddyote smarati ratim* (instead of *vidyuddyotaṃ smarati rātrau* of Rāghavabhaṭṭa). But, there is no doubt that the point of Rāghavabhaṭṭa is confirmed by Hemacandra, and Trivikramadeva. Here Rāghavabhaṭṭa is taking *antareṇa* as a noun (i. e. in the sense of *viśeṣeṇa*) and not as a *nipāta,* and consequently he does not apply the rule : *antarāntareṇayukte* (2. 3. 4) of Pāṇini. Instead, he relies on the Prakrit idiom of *saptamyā dvitīyā,* and takes *atrabhavantam* in the sense of *atrabhavati.* This interpretation may seem plausible in this case, as this is a Prakrit sentence, being the statement of Vidūṣaka. But, in the second example from the fifth act the same *Śākuntala* (*devīṃ vasumatīm antareṇa* etc., cited earlier) the Prakrit rule : *saptamyā dvitīyā* cannot come to the rescue of Rāghavabhaṭṭa, as it is a Sanskrit sentence, being the statement of the king. As a result, he renders the meaning of (*devīṃ vasumatīm*) *antareṇa* as *vinā* and then supplies the expressions : *kṣaṇam api na tiṣṭhāmi iti,* which are not found in the sentence of the king at all.

All these efforts of Rāghavabhaṭṭa, I mean the strained interpretations by having recourse, in one case, to the Prakrit rule, and in the other by the unauthorised supplying of

words (i. e. *kṣaṇam api na tiṣṭhāmi iti).*—all these efforts indicate that Rāghavabhaṭṭa is unaware of a better and suitable interpretation of *antareṇa*. Idiomatic point of *saptamyā dvitīyā* which Rāghavabhaṭṭa cited from Prakrit is, however, not unknown in classical Sanskrit too. In Sanskrit, this type of use is restricted to be governed by a few verbs and their derivatives. As recorded by Pāṇini : *adhiśīṅsthāsāṃ karma* (1. 4.46), *abhiniviaśśca* (1. 4. 47), and *upānvadhyāṅvasaḥ* (1. 4. 48) (*Vaikuṇṭham adhiśete*, instead of *Vaikuṇṭhe; abhiniviśate sanmārgam*, instead of *sanmārge; vanam upavasati*, instead of *vane*, and the like) are the specific rules that mention the few idioms. Even in the Prakrit the use of *saptamyā dvitiyā* must be only in a few uses, as is indicated by *kvacit* in this context by Hemacandra and Trivikrama. These Prakrit grammarians do not cite *attabhavantaṃ antareṇa* of Vidūaṣaka as a similar case. Unlike saptamyā dvitīyā of Prakrit. In Sanskrit, it can be a case of *ṣaṣṭhyarthe dvitīyā*, as in *antarā* or *antareṇa tvāṃ māṃ ca kamaṇḍaluḥ*—in the sense of *tava mama ca (madhye)*. In these uses, the meanings of *antarā* and *antareṇa* are the deciding factors of the use of *dvitīyā*. Patañjali has a good discussion on the rule : *antarāntareṇayukte* (2. 3. 4), where the final explanation given by him and followed others is that the words noted in the rule are only *nipātas* (not *vibhaktyantas*, but *vibhaktyantapratirūpaka-avyayas*) which govern the accusative case. If *antareṇa* is a *vibhaktyanta* as in the example : *kiṃ te bābhrava-śālaṅkāyanānām antareṇa gatena* (noted by Patañjali) = in the sense of *viśeṣeṇa jñātena*, the *dvitiyā* recorded by the rule is not applicable. Here only genetive is correct, and the use cannot be *bābhrava-śālaṅkāyanān*.

As regards the meanings of these two *nipātas*, the *Kāśikākāra* notes, as was pointed out earlier, *madhye* as the sense of *antarā*, and both *madhye* and *vinā* as the meanings of *antareṇa*. It is this noting of the *Kāśikākāra* that is mainly responsible for all the troubles and efforts of Rāghavabhaṭṭa (and some others like him). Because of the more common meaning of the usage, some possible and suitable meaning other, than the two (*vinā* and *madhye*) of *antareṇa* was not realized, and subsequently was almost lost, and therefore the other meaning was missed even by the lexicographers. But some commentators had realized the possibility and the suitability of the other meaning (which will be shown soon) and made it very clear by giving a better interpretation of the sentences, with the use of *antareṇa* governing the accusative case. mention that the meaning is possible, because of the dictum : *avyayānām anekārthatvam*, which corresponds to the definition of *nipāta* given by Yāska as *uccāvaceṣu artheṣu nipatatnīti nipātāḥ*.

The statement of the *Kāśikākāra* that the word *antarā* is in the sense of *madhye*, whereas *antareṇa* is in both the senses of *vinā* and *madhye* is misleading, as it amounts to saying that *antarā* does not have the meaning of *vinā*. This opinion of the *Kāśikākāra* is incorrect. Probably he missed the tradition. The word *antarā* is found also in the sense of *vinā* even in the early writings. The *Vālmīki-rāmāyaṇa* has : *nānyaṃ paśyāmi bhaiṣajyam antarā vṛṣabhadhvajam* (VII. 90. 12) where the sense of *antarā* is *vinā*. As was noted earlier, the *Mudrārākṣasa* has it in the sentence : *na prayojanam antarā cāṇakyaḥ svapne'pi ceṣṭate* (before the verse 20 in the act III), where the meaning is *vinā*. Nāgeśa too notes this meaning of *vinā* for *antarā* in his *Mañjūṣā* (C. S. S., page 13.34). Like the *Kāśikākāra*, many lexicographers also missed this meaning, but some have recorded it. *Amara*, *Vaijayantī*, and *Śāśvatakośa*, for instance, do not mention *antarā* in the sense of *vinā*, but the *Viśavakośa* has : *antarāpi vinārthe syāt*, and this is in

conformity with the use of *antarā vṛṣabhadhvajam* of the *Rāmayāṇa* (VII. 90. 12) and it goes against the statement of the *Kāśikākāra*. I am citing this to show that sometimes certain meanings of expressions, though based on ancient uses, are missed even in the recordings of lexicons. Thus it transpires that *antarā* and *antareṇa* both had and have both the meanings of *vinā* and *madhye*.

Apart from these two, a third menning of *antareṇa* is pointed out by some commentators which is possible and suitable in the given instances. This third meaning is missed by the lexicographers, the *Kāśikākāra*, Rāghavabhaṭṭa, and the commentators from Mithilā on the *Śākuntala*. This meaning is *uddiśya* (or-*viṣaye*)—and not *vinā* or *viśeṣeṇa*—which is to be understood in the following sentences :

1. *atrabhanatam antareṇa* (*atrabhavantam uddiśya* or *atrabhavadviṣaye* = i. e. with regard to you) (before verse 11 in the act II; *Śākuntala);*
2. *devīṃ vasumatīm antareṇa* (i. e. with reference to the queen Vasumati *vasumatīm uddiśya;*); after v. 1, in act V of the *Śākuntala;* in both these cases Rāghavabhaṭṭa, and the Mithilā commentators are not useful;
3. *Kiṃ nu khalu mām antareṇa cintayati vaiśampāyanaḥ* (*Kādmabarī*, page 373; NSP edn. 1948) (=*mām uddiśya* or *madviṣaye;* Bhānucandra is not useful here.);
4. also *Kādambarīm antareṇa tvaṃ śaraṇam* (p. 372, but this reading is noted by Raṅganātha in his commentary on the *Harṣacarita*; page 81):
5. ...*Chalikaṃ nāma nāṭyam antareṇa kīdṛśī mālavikā* etc. (*Mālavikāgnimitra*, after *Prastāvanā* in the beginning) Kāṭayavema, the commentator notes here rightly thus: *antareṇa ityayaṃ nipātaḥ uddeśārthe vartate.); nāṭyam antareṇa* means *naṭyamuddiśya* or *nāṭya viṣaye)*.
6. *Bhavantam antareṇa ayaṃ cakravartī anyathā durjanair grāhita āsīt*. Here the commentantor Raṅganātha notes thus : *bhavantam antareṇa* = *bhavantam uddisya; Harṣacarita;* University of Kerala Sanskrit Series 187, page 81;
7. *Abhijñānaśākuntala-carcā*, Trivandrum publication, notes the meaning of *uddiśya* of *antareṇa* in the examples of the *Śākuntala*. M. R., Kale C. Śankararama Śastri, and some other translators of the *Sākuntala* in English give this meaning of *uddiśya* correctly;
8. *Vaikhānasa* Śrīnivāsācārya in his commentary on the *Śākuntala* gives this correct meaning;
9. V. S. Apte and Monier Williams note the meaning of "with reference to" for *antareṇa*; Among the Sanskrit commentators, Rāghavabhaṭṭa and those from Mithilā had missed it.

Just as *antareṇa* is thus explained by so many to have the meaning of *uddiśya*, so also, I think, its companion *antarā* seems to have this meaning of *uddiśya* and in this sense we have to understand the use by Bhaṭṭi in the following verse :

tataḥ khaḍgaṃ samudyamya rāvaṇaḥ krūravigrahaḥ,
vaidehīm antarā kruddhaḥ kṣaṇam ūce viniśvasan.
(VIII. 94)

vaidehīm antarā kruddhaḥ means *viadehīm uddiśya kruddhaḥ*, though this meaning is not noted by the commentaries, *jayamaṅgalā* and *Sarvapathīnā*.

To sum up : The indeclinables *antarā* and *antareṇa* both have the meaning of *uddiśya*, in addition to the two meanings of *vinā* and *madhye*, and this point is based on the uses of well-known poets, and on the explanations (in the case of *antareṇa*) of eminent writers in Sanskrit. Regarding *antarā*, the meaning of *uddiśya* is not noted by anybody and it is only my guess considering the possible equal denotative power of the companions.

ON THE GURUSAṂHITĀ

LALLANJI GOPAL

Professor & Head, Department of Ancient Indian History, Culture & Archaeology, Banaras Hindu University.

The beginnings of the sciences of astronomy and climatalogy in india go back to the Ṛgvedic times in any case. The requirements of sacrificial rituals supported them. With the help of casual references we can trace the position of these sciences in later periods. The importance of agriculture in the economy of the country attracted greater attention for the two scienccs. The cycle of religious rites and festivities round the year further deepened interest in them. The *Bṛhatsaṃhitā* names some earlier authorities on astronomy whose texts are unfortunately lost, though quotations from them in Bhaṭṭotpala's commentary clearly indicate that they were available to Bhaṭṭotpala. Among the existing texts the *Bṛhatsaṃhitā* is the earliest to give a systematic treatment to the subject of weather-forecasting. This branch of astronomy had an interesting character. It was partly scientific, based on the observation of planets and astronomical phenomena. It was supplemented by information and experience derived from observations of natural phenomena and behaviour of human beings, birds, beasts and insects. Mixed up with all this were many superstitious ideas, unscientific beliefs and wrong notions. The early medieval period, which witnessed large a farms as a result of the feudalised cconomy and State structure, created a deeper interest in agriculture and its problems. For catering to needs of the class of landed aristocracy a number of Sanskrit texts on agriculture, particularly weather-forecastiag, were prepared in the period.[1]

The *Gurusaṃhitā* is one such text on climatalogy and weather-forecasting. It has not been printed so far and is known through a single manuscript (No. 34725) in the Saraswati Bhavan Library of the Sampurnanand Sanskrit University, Varanasi. It contains 61 sheets of the size 6″ × 8.2″.

The credit for bringing this text to the attention of scholars goes to Dr. Dhunirama Tripathi. Earlier studies on the subject, including *Agriculture in Ancient India* published by the Indian Council of Agricultural Research,[2] and Maya Prasad Tripathi's *Development of Geographic Knowledge in Ancient India*,[3] do not take any notice of this manuscript. Dr. Tripathi in his doctorate thesis (for Vidyāvāridhi)[4] quotes profusely from this manuscript to describe the development of the science of climatology in ancient India. But he does not subject it to a critical analysis to determine its age and authorship. He makes casual references

1. The *Kṛṣi-Parāśara* was composed towards the middle of the eleventh century. See our *Aspects of History of Agriculture in Ancient India*, pp. 1 ff.
2. See pages 158 to 164.
3 See pages 113 to 122.
4. Published as *Prācyabhāratīyam Ṛtuvijñānam* (Ancient Indian Science on Climatology ann Weather-forecasting. Sarasvati Bhavana Studies, Vol. XIX, Varanasi, 1971.

to the faulty readings and ungrammatical formation of words and expressions. At place he observes that similar information on a given point is to be found in a number of texts, the *Bṛhat-saṃhitā*, *Kṛṣi-Parāśara*, *Mayūracitraka*, *Meghamālā* and *Vanamālā*, but does not attempt a comparative study of the verses in all these texts to identify common verses and to determine borrowings and sources of borrowings.[5]

The noting on the manuscript says that it is a complete text.[6] At the end of the manuscript we have a clear statement that 'the text comes to an end'.[7] As was the practice with some copists, at the end of the manuscript we have five verses about predicting success or failure (*kāryasiddhi*) as a result of questions asked. Finally we have the date of the copy and the name of the copyist.[7a]

But the text has a very abrupt beginning. There is no reference to the name of the text. The title of the first section is also not indicated. The introductory verses, which would have presented the background, are not to be found. One would expect a reference to the situation when the text was recited or dictated. In the text the verses clearly imply two stages of narration. The first is when Śiva narrated the text to Pārvatī. The second is when Garga told it to Indra[8]. In the text these two layers of narration are not very clearly brought out. An analysis of the text does not leave any doubt about it, though we face difficulty when we start separating the two layers. From verse ? we start getting words which indicate that the verses were addressed to Pārvatī.[9] Likewise verse 400 is the first to show that Indra (*Devarāt*)is being addressed.[9a] The normal practice with Sanskrit texts, Smṛtis, Purāṇas or technical works is that the introductory verses bring out the back-ground and state how the text came to be composed, who addressed whom, and in some cases, when, why and where. Considering the statements in later parts of the text we would have expected in the text first a reference to how Garga started narrating the information to Indra. In the course of his narration Garga would have pointed out that earlier all this information was communicated to Pārvatī by Siva.

All this would suggest that either the earliest one or to pages are missing or, in case we take the present form of the text to represent its original nature, the author, who prepared the

---

5. Our article on the Date of the *Gurusaṃhitā* is being published elsewhere.

6. पुस्तकम्पूर्णमस्ति

7. इति समाप्तोऽयं ग्रन्थः

7A. संवत् १९३४ शाके १७९९ फाल्गुनकृष्णसप्तम्यां ले० (=लेखक) श्री सूर्यनारायण झा ज्यो० आ० (=ज्योतिषाचार्य)

8. देवदेवेन रुद्रेण कथितं गिरिजात्मजां ।
गर्गेणैवं पुनः प्रोक्तं देवराजसमीपतः ॥427॥
एवं शक्र मया ख्यातं यत्प्रोक्तं शूलिना स्वयं ॥438ण

9. Here she is addressed as *Sundari*. In verse 18 she is called *Devi*. *Pārvati* occurs first in verse 200.

9A. *Surādhipe* in verse 189 is used for Pārvatī.

text, later on incorporated passages from other texts without attempting to harmonise them with the overall plan of his works.

D. R. Tripathi mentions this text as the *Gurusaṃhitā*. The name appears on the title page of the manuscript. But it does not occur in the colophon or any other part of the manuscript. The name *Gurusaṃhitā* is not known from any other source. In the *Bṛhatsaṃhitā* and Bhaṭṭotpala's cammentary the name of Guru is conspicuous by its absence though numerous authorities on astronomy and weather-forecasting have been named. Elsewhere also we do not find Guru as the name of any ancient scholar or author.

The question, then, is : who is this Guru and why the text has been named as the *Gurusaṃhitā*. The original meaning of the word *guru* as an adjective is heavy, weighty, great, important, valuable and venerable. It is also used for any venerable or respectable person, farther, mother, or any relative older than one's self. In the Smṛti literature[10] the term *guru* is applied to a spiritual parent or preceptor 'from whom a youth receives the initiatory Mantra or prayer, who instructs him in the Śāstras and conducts the necessary ceremonies up to that of investiture which is performed by the Ācarya'[11]. Among the Śāktas the term is used for the author of a *mantra*. In the *Bhāgavata Puraṇā*[12] Guru is the name of a son of Saṃkṛti. In the Indian tradition the adjective has been applied preeminently to certain individuals. Droṇa got this appellation as the teacher of the Pāṇḍavas and Kauravas. Prabhākara, the celebrated teacher of the Mīmāṃsā system of philosophy, was also known under this designation. Bṛhaspati, as the preceptor of gods, is respected as Guru. In the *Mahābhārata* Guru is once used to refer to Śiva[13].

Of these, Droṇa, prabhākara and Guru, the son of Saṃkṛti, do not have any credentials to be identified with Guru after whom our text is named as the *Gurusaṃhita*. The association of the name Guru with Śiva receives support from the fact that information in the text is stated to have been originally communicated by Śiva or Bhairava to Pārvatī and then Garga reported it to Indra. Thus the text would appear to have been named as the *Gurusaṃhitā* because Guru or Śiva originally narrated it. But this interpretation is not very convincing. If the author wanted to impart to the text the prestige of the association of the name of Śiva, he would have chosen a direct name and would not have made such a veiled, indirect or comparatively insignificant appellation.

However, we may also note that, as shown by us elsewhere[14], the text appears to have

10. Manu II. 142—निषेकादीनि कर्म्मणि यः करोति यथाविधि ।
सम्भावयति चान्नेन स विप्रो गुरुरुच्यते ॥
Yāj. I. 34—स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति ।
11. M. Monier-Williams, *A Sanskrit-English Dictionary*, p. 359, column 2, s. v.
12. IX. 21. 2.
13. XIII. 17. 130—सहस्रमूर्घा देवेन्द्रः सर्व्वदेवमयो गुरुः ।
XIII. 14. 9. 65—आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ।
14. We are publishing a separate article in which we have determined the sources of the present text and the borrowings it has made from them.

made many borrowings from the *Rudrayāmlatantra*. It may not be unreasonable to suggest that the author of the present text in compiling it wanted to emphasise this particular nature of its verses and hence designated it as the *Gurusaṃhitā*.

It may be tempting to read in the name Guru a reference to Bṛhaspati, the preceptor of gods. It is to be noted that after verse 212 of the text we have a reference[15] to a chapter on *dhāraṇa* in the *Bṛhaspatisaṃhitā* coming to an end. It would appear that the text was divided into a number of chapters and that whereas the colophons to other chapters have been dropped out, the one surviving in the present case is important in indicating that the name of the text was the *Bṛhaspatisaṃhitā*; Bṛhaspati being the name of the Guru of gods the text was also named as the *Gurusaṃhitā*. The fact that the text contains long passages recording the views of Garga as communicated to Indra can be construed to support the connection with the name Bṛhaspati in place of Guru as Garga belonged to the family of Bṛhaspati.

In Indian tradition coming down from very early times Bṛhaspati is respected as one of the holy sages (*ṛṣi*). He is credited with having brought out a compressed version of the major work on *dharma*, *artha* and *kāma* which originally Brahmā had composed[16]. He was a reputed authority on *arthaśāstra*. References to *nīti* or *arthaśāstra* of Bṛhaspati are handed down to later times[17]. In the sphere of Smṛti law Bṛhaspati occupies a very honoured position with several texts current under his name. It seems that there was a dharmasutra named after Bṛhaspati which covered Vyavahāra and other topics of *dharma*[18]. The original *Bṛhaspatismṛti* is lost, but its reconstruction on the basis of its verses quoted in later commentaries and digests[19] shows that it was a huge work covering Vyavahāra, Saṃskāra. Ācāra, Srāddha, Āśauca, Āpaddharma and Prāyaścitta. According to Kane[20] this Smṛti was composed between A. D. 200 and 400. There is a Smaller *Bṛhaspatismṛti* in 80 verses[21]. *A Dāna-Bṛhaspati* has been quoted in the *Dānaratnākara*[22]. The commentaries of Aparārka,[23] Vijñāneśvara[24] and Davaṇṇabhaṭṭa[25] show that there was another Smṛti text which was circulated under the name of Vṛddha-Bṛha-

---

15. इति बृहस्पतिसंहितायां धारणाध्यायः ।
16. *Mbh.*, XII. 59. 80-85. According to the *Kāmasūtra* the abridged version by Bṛhaspati dealt only with *artha*.
17. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. I, part I, pp. 287-88. This is not to be confused with the *Bārhaspatya Arthaśāstra* which is a later composition.
18. Kane, *History of Dharmaśāstra*, Vol. I, part I, pp. 288-89.
19. K. V. R. Aiyangar, *Bṛhaspatismṛti* (G. O. S.). It is a huge work with original passages covering 286 pages. Earlier Fuhrer had noticed 84 verses (Leipzig, 1879) and Jolly had collected 711 verses (S. B, E., Vol. XXXIII).
20. *History of Dharmaśāstra*, Vol., I, part I, p. 488.
21. Jivananda Part I, pp. 644-51: A. S. S., pp, 108-111.
22. Quoted by Kane, *Op. cit.* These verses are identical with verses 6-7 of the smaller *Bṛhaspatismṛti* in verse.
23. On *Yāj.*, II. 3-4.
24. *Mit.* on *Yājñ.*, III. 261.

spati to distinguish it from the well known *Bṛhaspati-smṛti*. None of the verses appearing in the *Gurusaṃhitā* occur in any of the Smṛti texts current under the name of Bṛhaspati. These Smṛtis do not deal with the subject covered by the *Gurusaṃhitā* and do not have anything common with the *Gurusaṃhitā*.[26]

The known texts of Bṛhaspati do not deal with problems of astronomy or weather-fore-casting and hence do not provide any justification for his being recognised as an authority on these topics. However, we have independent testimony to Bṛhaspati being recognised as an authority on astronomy. A *Jyotir-Bṛhaspati* is quoted by Hemādri[27] as prohibiting a *śrāddha* on the thirteenth day of the dark fortnight. Varāhamihira admits that whatever he says on the conjunction of the Moon with Rohiṇī is based on what Bṛhaspati told Nārada in the garden on the Meru[28]. Bhaṭṭotpala quotes five verses from Bṛhaspati, of which four concern architecture *(vāstuvidyā)*[29] and one deals with rainbow (*indrāyudha*). It is thus clear that a text on astro-nomy ascribed to Bṛhaspati was known to Varāhamihira and that it survived up to the times of Bhaṭṭotpala.

But we do not approve the reading *Bṛhaspatisaṃhitā* after verse 212 of our text[30]. We take it to be a mistake on the part of the scribe. The correct intended reading was *Bṛhatsaṃhitā*. It is to be noted that not only verse 212 but also the preceding verses 205 to 211 are all taken from the *Bṛhatsaṃhitā*. Thus, the line after verse, which we are discussing, is not a colophon at the end of a chapter of *dhāraṇ* in our text. It is actually a citation at the end of quotations from the *Bṛhatsaṃhitā*. The section in which these verses are quoted begins with verse 193 and ends with verse 234.

On the basis of the above analysis we can conclude that though the name *Bṛhasyatismṛti* is apparently reasonable. being synonymous with the title *Gnrusṃhitā*, it cannot be accepted as it is based on a wrong reading. Thus, as things stand, we may retain the name *Gurusaṃhitā* for our text.

---

25. *Smṛticandrikā*, *Āhnika* (Gharpure), p. 10.
26. The smaller *Bṛhaspatismṛti* in verses mentioned above is in the form of instructions which Bṛhaspati gave to Indra about gifts. In the *Gurusaṃhitā* Indra is represented as being instructed by Garga.
27. *Caturvargacintāmaṇi*, III, part 2, p. 472.
28. *Bṛhatsaṃhitā*, XIV. 1-3.
29. On *Bṛhatsaṃhitā*, LII. 2-3, 87-88.
30. On *Bṛhatsaṃhitā*, XXV. 3--

    नीलताम्रमविच्छिन्नं द्विगुणं सिद्धमायतम् ।
    पृष्ठतः पार्श्वयोर्वापि जयायेन्द्रधनुर्भवेत् ॥

31. D. R. Tripathi, *Op. cit.*, p, 178 does not suspect it. He says--

    अत्र बृहस्पतिसंहितातो धारणाध्यायः समुद्घृतः,
    परमयमेवांशः काश्यपवचनैः सह बृहत्संहितायामपि विद्यते ।

SHRI M. M. YAGNIK—HIS LIFE AND WORKS

Dr. A. N. JANI
Director, Oriental Institute, Baroda

Shri Mulshankar Yagnik of Gautama gotra and the son of Maneklal and Atilakshmi was born in a Vadnagara nagar brahmin family in Nadiad on 31-1-1886 during the pandit period of Nadiad represented by the well-known scholars such as Shri Mansukhram Tripathi, Shri Chhaganlal Pandya, Shri Chandrashankar Tripathi, Shri Govardhanram Tripathi, Shri Dhanshankar Tripathi, Shri Ambalal Jani, Shri Manilal Nabhubhai Dvivedi etc.

The mother of Shri Yagnik was an extremely simpleton woman. He and his brother Bhupatishankar were therefore looked after by one aged brahmin widow, whom they used to address by the loving term 'moṭība' (lit. elder Mother). She in turn used to address Shri Yagnik as 'mota' (The elder one) She was a devotee of Lord Krishna. Shri Yagnik used to tease her often out of love. When she felt too much harassed once she told him "Moṭa, you are harassing me too much. You will therefore become a great pandit, but won't be happy".

Shri Yagnik took his primary and secondary education in Nadiad in a school in the Mugalkot area-the then only English school in Nadiad. He then joined the Baroda College (Now called Faculty of Arts) and took higher education under the able guidance of Shri Aurobindo Ghosh and other savants. He passed the B. A. Examination in 1907 with Sanskrit.

He worked as an agent of the Indian Specie Bank Ltd., Broach, which he served till it was closed down. Thereafter he started his academic career as an asstt. teacher in a secondary school at Shinor in ex-Baroda state and later joined the Sanskrit Pathashala as a Principal, at the invitntion of H. H. Sir Sayajirao Gaekwad the III, when it was established in 1915 with two students only. He served this institute till he retired in 1932.

Shri Yagnik was well-versed in Sanskrit literature as can be seen from his creative works in Sanskrit. He also studied *āyurveda*, Jyotish and was found of playing upon Sitar. He was adept in astrology to the extent that he could prognisticate the exact day and time of his death.

He passed his time in the learned company of his friend-circle, among which was a poet Shri Jayakrishna Chimanlal Surati Master (nickname-*Mastamayūra*) an adept in literature, music, painting etc.

Shri Yagnik was a religious-minded person and had performed a *gāyatrīpuraścaraṇa* standing in the river Narmadā, while he was at Sinor.

In 1914 he was initiated in the Srīvidyā by Shri Abhinava Sacchidānanda Bhāratī-the Shankaracharya of Śivagaṅgāpītha.

The nagars are famous for being expert in three arts viz. Kalama (writing) Kaḍachhi (cooking) and Baḍachhi (warfare). Shri Yagnik was thus expert in the art of cooking and used

to prepare several kinds of sweets for him. In his last days he took the vow of preparing food for himself (svayampākī).

Shri Yagnik was married to Mahāvidyā at the age of 16 only. After her premature death he married another lady Vīrendrabālā by name. He got no male child. He begot two daughters from the first wife and three from the second one. His family tree may be given as under :

Yagnik-Mahāvidyā: Sumati + ; Madhumati +

Yagnik-Virendrabālā: Aravindā (in Ahmedabad) ; Suvarṇā (in America) ; Mudrikā (in Khambholaj)

He passed his later life-after retirement-in seclusion in Nādiad and was looked after by his daughters occasionally. He came to Baroda to stay with his daughter Sumati just before two months of his death and left his mortal coil in Baroda at 3-55 a. m. on Saturday, the 13th November 1965 as foretold by him eartier astrologically. ***Works :*** Shri Yagnik used to compose poems even when he was a teenagar. His works are :

(1) Satya dharmaprakāśa 1912.

(2) Srīviṣṇupurāṇam (stories in Sanskrit, in the Purāṇakathataraṅgiṇī series) in collaboration with Pt. Gopalacharya Utgikar, Bombay, 1917.

(3) Tulanātmaka Dharmavicāra (Gujarati translation of "Comparative Religion," by Jevons, (Sayaji Sahitya Mālā No. 32), 1919.

(4) Chatrapatisāmrājyam,[1] A sanskrit drama in 10 acts, Baroda, 1929.

(5) Āpaṇū Prācīna Rājatantra-in collaboration with Shri L. B. Shastri and Shri S. L. Padeshastri (Sayaji Sahitya mālā, 130, p 1928.

(6) Saṃyogitāsvayaṃvaram, a Sanskrit drama in 7 acts, Baroda, 1928.

(7) Genealogical Tables of Solar and the Lunar dynasties with the Map of Jambudwipa, Baroda, 1930.

(8) Pratāpavijayam, a Sanskrit drama in 9 acts, Baroda, 1931.

(9) Harṣadigvijaya (drama in Gujarati in 9 acts), 1933.

(10) Narasiṃhaninādā-a vyāyoga in Gujarati on Narasimha Gupta Bālāditya, 1934.

(11) Mevāḍapratiṣṭhā (drama in Gujarati 9 acts), Ahmedabad 1935,on mahārāṇā Rāgasimha.

(12) Biography of Mahatma Gandhi (in Gujarati), 1948.

(13) Viṣṇupurāṇanī Vāto (in Gujarati) Date-?

(14) Vijayālaharī-a minor Sanskrit poem eulogising the goddess, seems to be his earlier work.

---

1. Second edition of this drama is brought out, with Hindi translation, by Shri Prabhat Shastri, editor 'Sangamani', Allahabad, 1970.

Shri Yagnik has thus contributed greatly. His aptitude for history is seen from his works, most of which are historical. His work No. 7 is a specimen of historical research.

However his special contribution is the three Sanskrit dramas which are characterised by melody of diction', 'grace of expression' and 'choice of scenes'[2].

All the three dramas are commented upon by his colleage late Shri Shridhara Pade Shastri and are translated into English by another colleague late Shri Lakshminath Badarinath Shastri.

The special feature of his dramas is the introduction of *geya* songs to be sung in classical *rāgas*. Shri Pade Shastri has given the notation of these songs also. "The introduction of songs that can be set to lyre and sung on the stage makes the plays very realistic"[3]. His dramas received wa m welcome by the savants both in India and abroad.

His contribution during the first half of the present century is thus by no means mean.*

---

2. Krishna Machariar, M. History of Classical Sanskrit Literatvre (Reprinted 1970), p. 672.
3. Ibid.
4. The writer is thankful to Smt. Aravinda Tripathi, the daughter of Shri Yagnik for giving some details about her father.

PHILOSOPHER GAUTAMA : PERSONALITY AND THOUGHT

PROF. (SMT) KAMALA RATNAM

Since man is a thinking animal, he has the capacity to think. He has from the very beginning occupied his mind with two questions :

(1) What is the meaning of his life, why is he born on this earth; and

(2) What is the reality behind the Universe which he sees around him. A systematic and reasoned pursuit of this thought gave rise to the science or discipline which we call philosophy. The history of philosophy begins very early in India compared to Greece where philosophical speculations cannot be traced earlier than the sixth century B. C. Indian philosophy finds its beginnings even in pre-Vedic times. Early Dravidian and Indus-Valley Civilizations were very much concerned with questions such as the felt unity between all creatures of the universe. They could feel that the sky, earth and forest around them, the fruit, flower and trees which sustained them and the bird and beast which kept them company, were somehow one with the whole being or entity which we call the universe. At the very dawn of civilization they had realized that both the male as well as the female element were parts of the divinity which held the universe together.

Philosophy in course of time became the instrument of acquiring a very special kind of knowledge, namely the knowledge of the ultimate Reality behind the universe. Philosophy came into being as a consequence of man's incessant and eternal search for Truth. In the development of Philosophical thought in India, two main streams are visible. One which derives its inspirarion from revealed knowledge as expressed in the Vedas, and the other which relied mainly on reasoning and intellection to the exclusion of the Vedas. This latter was also called 'Hetu-Vidya or Vadavidya' Science of discussion 'Anvikshiki and Adhyatmavidya' were other names given to it. Amongst the systems of Indian philosophy which derive inspiration from the Vedas, also there are two groups: Those that rely on the Veda completely and finally and consider the Veda to be the ultimate authority like 'Mimamsa' relying on the Karma-Kaṇda or ritual of the Veda and Vedanta which is based on the 'Jnana-Kanda or knowledge portion of the Veda. Still there are other Schools which though accepting the authority of the Vedas, rely more and mainly on logic or 'Tarka' and reasoning. The Nyaya system of philosophy propounded by Gautama belongs to this second category.

In India Philosophy is expressed by the term 'Darshana', a discipline by whose aid truth can be perceived. Vatsyayana the famous commentator on the 'Nyaya-Sutra' of Gautama begins his inquiry by asking "कः पुनरयं न्यायः ?" What is this Nyaya ? And replies, प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः ।" The examination of objects of knowledge by means of Pramanas is Nyaya. Pramanas are instruments of valid knowledge. Panini the great grammarian

derives Nyaya with the help of the root √इ which means to go. Thus Nyaya would mean the process of going thoroughly into a subject—penetrating deep into the subject of inquiry. In the words of an American commentator "Nyaya is the system where knowledge is gained by logical proof".

The Nyaya philosophy has come down to us in the form of short cryptic sentences known as Sutras or aphorisms. In fact the Nyaya-Sutra is one of the earliesi examples of Sutra literature in India. The author of the Nyaya-Sutra is Gautama-Akshapada believed to have flourished in the 6th C. B. C. The title Akshapada refers to him as having eyes on his feet. A person named Akshapada is mentioned in the Valmiki Ramayana. He came from Mithila and was known as Akshapada because God gave him "eyes on his feet" after he fell in a well. Maha-mahopadhyaya Ganganath Jha believes that he had an additional pair of eyes on his feet in order to keep a Vow. The philosophical discussion of the Nyaya-Sutra had existed even before, but Akshapada wrote out the final version. Maha-mahopadhyaya Satish Chandra Vidyabhushan in his monumental work on the Nyaya-Sutra of Gautama gives this additional information about the sage. He is also known as Akshapada as stated by Udyotakara in his Nyayavartika—"यदक्षपादः प्रवरो मुनीनां शमाय शास्त्रं जगतो जगाद", foremost amongst sages promulgated this science for the good "Akshapada of the world". Another legend records that Gautama was the son of Dirghatama and Pradveshi. His father was born in the Angirasa Gotra. The Rigveda refers to a Gautama who was born blind on account of a curse given by Brihaspati He married a Sudra woman named Aushinari and through her begot a son named Kakshivan. Gautama taught high philosophy known as Hamsa and Paramahamsa-Vidya while his son became a teacher of Brahma-Vidya. Gautama was finally given a place amongst the venerable seven sages or Saptarshi.

Kalidasa refers to Gautama as Dirghatapas and identifies him with the Sage Gautama who lived near Mithila during the times of Janaka and whose wife Ahalya was seduced by Indra, on account of which she was cursed to become a stone, by her husband. She was later released of the curse when Sri Rama visited Mithila for Sita-Svayamvara and met her on the way and restored her to her original state. According to Satish Chandra Vidya Bhushan the titles Akshapada and Dirghatapas refer to his meditative habit of walking with eyes fixed on his feet and his long sessions of hard penance. Gautama seems to be his family name, whose origin is traceable to early vedic times. The vedas and Aranyakas mention a number of persons bearing the family or Gotra name of Gautama. The Vayupurana describes a sage named Akshapada who was the son or disciple of a Brahmana named Somasharma. Somasharma was supposed to be an incarnation of Siva and he practised Tapas in the famous Prabhasa-Kshetra on the western sea-coast at the time when Jatukarnya Vyasa was also present. The Vayupurana mentions four illustrious sons of Somasharma: Akshapada, Kanada, Uluka and Vatsa. Since Kanada is the founder of the Vaisesika system of metaphysics and which is closely allied to the Nyaya system, we can safely conclude that this Akshapada is the one who is the author of the Nyayasutra. According to Vayupurana the name Akshapada was given to him because being deeply absorbed in his philosophical contemplation, one day when he unwittingly fell into a well, God mercifully provided him with a second pair of eyes on his feet. Maha-mahopadh-

yaya Bhimacharya Jhalkikara in his Nyayakosa gives a more interesting explanation of the name Akshapada, "गौतमो हि स्वमतदूषकस्य व्यासस्य मुखदर्शनं चक्षुषा न कर्तव्यमिति प्रतिज्ञाय, पश्चात् व्यासेन प्रसादितः, पादे नेत्रं प्रकाश्य तं दृष्टवान् इति पौराणिकी कथा।"

It seems that Gautama vowed not to look upon the face of the famous author of the Mahabharata who was criticising his philosophy. Later when Vyasa apologized then he condescended to look upon him not with his natural eyes, but with a pair of second quality eyes placed on his feet, in order to show his annoyance with him. This seems to be a legend invented by later students of Nyaya in order to humiliate Vyasa who had in reality criticised Gautama's doctrine in his Mahabharata and Vedanta-Sutra.

Gautama Akshapada's lasting impression upon the Indian mind and his popularity is also indicated by the fact that till today the people of modern Mithila (in the Darbhanga district of north Bihar) confuse him with Risi Gautama, husband of Ahalya. They hold a festival in a nearby place known as Gautama-Sthana on every 9th of Chaitra that is March-April. There is a mud-hill in the vicinity, at the base of which lies Gautama-Kunda whose perennial waters are said to taste like milk. This Kunda feeds a river called Kshirodadhi 'Ocean of Milk'. According to this tradition Mithila was also the home of Nyaya philosophy. The upshot of all these facts and discussions seems to be that Gautama-Akshapada founder of Nyaya philosophy was born in Mithila near the Kshirodadhi river, lived for some years in the Village Godna at the junction of Ganga and Sarayu rivers and later moved to Prabhasa far west in Kathiavad on the Arabian sea-coast. In point of time around 550 B. C. Gautama Akshapada was a close contemporary of Siddhartha Gautama, founder of Buddhism and Indrabhuti Gautama the disciple of Mahavira founder of Jainism.

The Doctrine

Gautama has divided his Nyayasutra into five books, each containing two chapters called Ahnikas or Diurnal portions. In all probability Akshapada finished his entire discourse on Nyaya in 10 lectures. Several centuries later in 200 B. C. Vatsyayana wrote his first regular commentary on the Nyaya-Sutra. His work brought about a certain sense of sequence and order in the entire Nyaya literature which was available upto that time. Later noted commentators were Udyotakara who wrote the Nyaya-Vartika and Vachaspati Mishra who composed the Nyaya-Vartika-Tatparya-Tika. Jayanta Bhatta, Sridhara and Udayana carried further and clarified the argument. Much later Gangesa in his Tatvachintamani was able to martial the best and ripest fruits of past masters, and give a new direction to Nyaya philosophy. He called it Navya-Nyaya or New Nyaya.

The Chhandogya Upanisad reveals that in the beginning Brahmanas occupied themselves with the study of the Veda alone and had nothing to do with Darsana or philosophy also known as Adhyatma-Vidya. On other hand, it was the Kshatriyas who took interest in philosophy. It is interesting to note that the founders of both the great non-vedic systems of thought Buddhism and Jainism were Kshatriya princes. With the exception of Kapila, the Brahmana founder of Sankhya philosophy, Gautama Akshapada seems to be the first learned Brahmana who fearlessly and openly propounded his philosophical views based on logic and reason.

Gautama's Nyaya-Darsana, thus is one of the earliest attempts to gain true knowledge through personal experiences. In his very first Sutra, Gautama states clearly that Moksha or liberation is the ultimate goal of a spiritual aspirant. This is through a proper understanding of the 16 topics, including 'Pramana' or proofs or sources of authentic knowledge and "Prameya" the objects of cognisance or authentic knowledge. Nyaya believes that all that exists is Prameya knowledgeable or capable of being known. Gautama speaks of 4 kinds of Pramana : Pratyaksha, Anumana, Upamana and Sabda. These are direct perception, inference, comparison and verbal testimony of a reliable witness. Compared to Anumana (Inference), as a means of knowledge, Pratyaksha (direct perception) is limited in time, since it gives us knowledge of that alone which is present (Vartamana). Vatsyayana elucidates this further by saying "त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते", Universal truths (valid in past present and future) are perceived through Anumana alone. He continues 'सद्विषयं च प्रत्यक्षं, सदसद्विषयं चानुमानम्' Pratyaksha-Pramana has for its object things present, while Anumana (Inference) has for its object things both present (Sat) and absent (Asat.). In his lucid style Vatsyayana explains 'सद्विषयं च प्रत्यक्षं, सदसद्विषयं चानुमानम्' कस्मात् ? why ? He replies, "त्रैकाल्यग्रहणात् त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते, भविष्यति इति अनुमीयते, भवति इति च, अभूत, इति च" ।

Because of its capacity for knowing objects belonging to all times, past, present, future. Through Anuman we infer, "It will be; It is; It was".

Gautama says that knowledge is acquired by the Atman through the mediation of Manas or the mind. Manas is an internal Sukshma sense-organ. It is अन्तर-इन्द्रिय. It is not Sthula, it has no physicality. It is the Manas which perceives the Atman and the dual states of Sukha and Dukha. All objects of cognisance are within the scope of Manas while the field of knowledge through other sense-organs is limited. The nature of Manas is like a very minute atom, hence it can perceive only one object at a time. But the speed of mental cognisance is so great that many objects are within the scope of the mind at one and the same time.

The Nyaya philosophy grew both in strength and volume as a result of stiff opposition from rival schools mainly Buddhistic. Gautama's logic and theory of knowledge were mercilessly attacked by Dingnaga, Vasubandhu and others. To these fitting replies were given by Udyotakara, Vachaspati Mishra, Jayanta Bhatta, Sridhara and Udayana. As a result of this fight, Nyaya came to be known as the Science of definitions. The importance and necessity of correct and precise definitions in all scientific investigation is coming to be realised more and more today. Clarity of thought and accuracy of expression is the characteristic feature of Nyaya philosophy. Test of true knowledge is when it agrees with or corresponds to the nature of the object. If it does not, it becomes false knowledge. True knowledge leads to successful practical activity. Knowledge gained through Pratyaksha Pramana is due to direct contact with the sense-object इन्द्रियार्थसन्निकर्ष. It is immediate knowledge not due to any previous experience or reasoning. As opposed to this Anumana is knowledge gained through inference. Like the three arms of the Syllogism of Aristotle's Logic, the reasoning of Anumana goes somewhat like this : (1) I see smoke on the hill (2) यत्र यत्र धूमः तत्र तत्र अग्निः wherever there is smoke there is fire (This I argue with

the help of reasoning and memory of past experience) (3) Hence I infer there is fire on the hill. In Upamana Pramana knowledge is based on comparison. The fourth Pramana Sabda is testimony or the word of a reliable person about things of which he has direct knowledge. The testimony of the Vedas comes under this head.

From the foregoing brief analysis, it would be seen that the Nyaya theory of knowledge or Epistemology is highly developed and thoroughly reliable. In order to round itself off as a balanced and complete system of philosophy, the Nyaya teachers accepted the metaphysical view of the Vaiseshika in toto. Thus Dravya or substance or the substratum of qualities and actions constitute the material cause of composite things. Nine kinds of Dravyas substances, are recognised : Prithvi, Jala, Tejas, Vayu, Akasa, Dik, Kala, Atman and Manas. These are earth, water, fire, air, ether, time, space the Atman (soul) and mind. The 'Paramanus' or atoms of these 9 Dravyas are eternal while their compounds are perishable, non-eternal (Maranasila). Atoms cannot be seen. They are perceived by Inference. The Atman is an eternal and all-pervading substance. The qualities of Atman are cognition, desire, aversion, volition, pleasure, pain, merit, demerit etc. Atman is different and distinct from the body, senses, mind and consciousness.

Salvation according to Nyaya is freedom from personalised existence. It is a state of a total absence of Dukha (pain). The experience of Dukha is possible only through the body. Hence the aim of Nyaya philosophy is to obtain Salvation by putting an end to Karma and its fruit and avoiding rebirth. This is technically known as Nihsreyas. Nyaya aimed at perfection in knowledge in order to attain perfection in life.

Finally the synthesis of Nyaya-Vaiseshika believes in Pluralistic Realism and the existence of God as the Supreme Self. God is one, infinite and eternal. He is the omnicient, and omnipotent cause of the Utpatti-Sthiti-Laya (evolution-preservation and involution) of the world. As such he is the moral governor of the world, and the impartial dispenser of the fruits of our actions and the supreme giver of our joys and sorrows.

———

JĀRA IN THE ṚGVEDA

Dr. R. C. DWIVEDI

Professor in Sanskrit and Dean, Faculty of Arts, University of Rajasthan, Jaipur.

The word *jāra* is derived from *Jṛī* by adding *Ghañ* suffix in the sense of agent.[1] It means 'becoming old' (RV X. 106.7), a consumer (Nirukta V.10; Pāṇini III.S.20, Vārtika 4), a paramour or a lover. An identical root *Jṛī* (=*Gṛī*) stands for : 'to call out, to address, invoke and to praise'.[2] This word occurs number of times in the RV[3] in the hymns addressed to *Agni, Aśvins, Uṣās, Pūṣan, Mitrāvaruṇa* and *Somapavamāna*. *Agni* and *Pūṣan* are directly described as *Jāra*. The farmer is spoken of as *Jāra* of (i) waters[4] (I.46.4), (ii) maidens (I.66,4), (iii) dawns (VII. 9.1), (iv) his sister (X.3.3), who is obviously *Uṣas,* and finally of (V) the sacrifice (X.7.5). *Agni's* association with the Waters is prominent throughout the Vedas.[5] Legend of *Agni* hiding in the waters and plants and being found out by the gods occurs in some of the later hymns of RV (H.5-3.124). More importantly than this it is the conception of Waters as females (II.35.13) which is responsible for describing *Agni* as her paramour. His description as the lover of maidens *(Jāraḥ Kanīnām)* and the Lord of married women *(patir janīnām)* gave rise to a marital myth, which, according to *Sāyaṇa,* is contained in the RV X.85.41. The preceding *mantra* (X.85.40) very clearly states the myth :

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद्द उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजः ॥

Soma is the first, *Gandharva* the second. and *Agni* is the third husband who, according to the next *mantra* gives away the bride to the human husband. It is at this stage that a girl becomes wife.[6] In this marital myth of the RV one can discern recognition of premarital sex and free

1. See Rāmāśramī on the Amarakośa.
2. See Monier-Williams, Sanskrit-English Dictionary.
3. I.46.4; 66.4: 69.1; 5; 117.18; 134.3; 152.4; VI.55.4; 5; VII.9.1: 10.1; 76.3; IX 32.5; 38.4; 56.3; 96.23; 101.14; X 3.3; 7.5; 11.6; 34.5; 42.2; 106.7: 162.5.
4. Sāyaṇa considers Sun, instead of *Agni* to be the lover of Waters. This is evidently wrong on account of the context of feeding with oblations and the patent description of the *Agni* as the Lord or Guardian of the house or family. *Gṛhapati,* here as elswhere (see VIII.15.2; VIII. 49.19).
5. See A. A. Macdonell; The Vedic Mythology, p. 92, Delhi, 1961.
6. In his explanation of the RV 1.66.4 Sāyana states different stages of a maiden when the three divinities including fire become her lovers, and gives the reason why are they so described : कनीनां कन्यकानां जारो जारयिता, यतो विवाहसमयेऽग्नौ लाजादिद्रव्यहोमे सति तासां कन्यात्वं निवर्तते. अतो जरयितेत्युच्यते. तथा जनीनां जायानां कृतविवाहानां पतिर्भर्ता, तथा चाख्यायते—अनुपजात पुरुषसंभोगेच्छावस्थां स्त्रियं सोमो लेभे. × × × सोम ईषदुपजातभोगेच्छां तां विश्वावसवे गन्धर्वाय प्रादात् स च गन्धर्वा विवाहसमयेऽग्नये प्रददौ, अग्निश्च मनुजाय भर्त्रे धनपुत्रैः सहितामिमां प्रायच्छदिति :

love. Gandharvas represent free love in the post-Vedic Sanskrit literature and the marriage through mutual love, known as *Gāndharva*, is sanctioncd by the *Smṛtis*. Acceptence of love-marriage by the family elders and the society is very, succintly stated by Kālidāsa in his *Śākuntalam* (III.20). In many cases free love may not end up in marriage and this possibility is recognised and accepted in the Ṛgvedic myth by formulating that before a girl is married by a human being she has had three divine husbands, namely; *Soma, Gandharva* and *Agni.* Descriptions of females being possessed by Gandharvas in the *Upaniṣads* may in certain cases suggest the effect of free love on them. *Agni* is produced and kindled for the sacrifice at every dawn and is, therefore, very naturally associated with the *Uṣas*. Both are described paradoxically as young and ancient. *Uṣas* causes sacrificial fire to be kindled (I.113.9). He goes to meet the refulgent *Uṣas* as she appears, asking her for fair riches (III.61.6). Being kindled at dawn the fire is described as "waking at dawn" (*Uṣarbudha*). The brightness of both, *Uṣas* and *Agni,* is described in great detail. As young maiden dressed in gay attire, like a dancer, *Uṣas* displays her bossom (I.92.4), shows her form (I.123.1) and unveils her charms (I.124.3-4). This makes *Uṣas* a perfect model of young beauty whom an equally bright and young lover, *Agni* perpetually seeks for making love. *Uṣas* is repeatedly called the daughter of heaven (I.30.22). Agni is similarly described as the child of heaven (IV.15.6; VI.49.2) who generated the fire (X.45.3). This makes him the lover of his *Svasṛ* (X.3.3) Uṣās, both being the progeny of the heaven. *Uṣas* is *Svayamsāriṇī*, who, like *Abhisārikā* of classical Sanskrit Litt. moves freely to meet her lover. In a similar description of *Pūṣan* as the lover of *Svasṛ* (6.55.4-5), same meaning is intended to be conveyed by the seer. He is, like *Agni,* the lover of the maidens, dawns (I.152.5) and is described as such by way of a simile *(Uṣona Jāraḥ)* in the RV I.69.1; 5; and VII.10.1.

Besides *Agni* and *Pūṣan* or Sun,[7] *Somapavamāna* is also likened to a paramour (VII.32.5; 76.3; IX.38.4; 56.3; 96.23; 101.14).

The popular notion of a *Jāra* (lover, Paramour) and his beloved (*Jāriṇī*) can be gleaned from the Ṛgvedic references. The beloved was conceived as *kani* or unmarried young girl with resplendence (Sāyaṇa on I.66.4; 152.4) the lover as daring and gallant as is evidenced by the character of Ṛjrāśva (I.117.18) who cut piecemeal one and a hundred in order to please she-wolf. He inspired the imagination of his beloved and enkindled her spirits (I.134.3) through his message. He was lauded, addressed (VI.55.4) and sung (IX.32.5; 56.3). He was the most sapient (*Kavitama*, VII.9.1) who gleamed with refulgence (VII.10.1). His beloved was not known i. e.

A liberal interpretation of this legend in simple English would mean that a girl, before she is given away in marriage, has three kinds of sex experience : first yearnings for love with no real sex, romance and actual love-making which takes away (consumes) her maidenhood. It is very significantly represented by *Soma*, *Gandharva* and fire.

7. Sāyaṇa has construed all references occuring by way of *upamāna* is favour of *Sūrya* or *Āditya* and none in favour of *Pūṣan.* He has done this obviously on the basis of similarity between the two and their complete identification in the post-Vedic literature. If some distinction is maintained between the Puṣan and *Sūrya*, then all indirect descriptions should refer to the former.

expected to forsake him (VII.76.3). Conquering all the obstacles he approached his love who was glad to accord him welcome (IX.56.3: 96.23; 101.14) in her home. His beloved was known as *Svasṛ* (a sister, free in love) by perhaps intentional play on the word because she moved freely to a rendezous (X.3.3). The *jāra* delighted his parents whom he inspired for creativity (X.11.6). The lover who took away the maidenhood (I.66.4) was known doing his religious duty of feeding with oblations. He is associated with spread of light (I.69.1; 69.5) and advancement without downward fall (I.152.4). He woke up his sleeping beauty and enkindled love in her (I.134.3). Such was the Ṛgvedic notion of a lover and a beloved.

Jāra is always explained as *upapati* (paramour) by Sāyaṇa. There is hardly any reference in the RV which might suggest that a lover was looked down upon or was considered morally wrong or corrupt. Sāyaṇa also does not consider loving sinful. Mythically speaking, *Agni, Pūṣan* and *Vāyu* are the cosmic paramours. Waters and dawns are the cosmic beloveds. Various sex symbols pervade the hymns of the RV[8]. Heaven and Earth are represented as cosmic sex partners. Agni is invoked to stir up these parents through sexual imagey (X. 11.6). Besides normal sex symblos, RV also presents seemingly abnormal sex relationship. For example, *Agni* (II.35.13) and *Soma* (X.30.5) are represented as child-seeders (Śiśu.Vṛṣan) who impregnate the waters described as sisters who invoke their brother-husbands (X.65.1). *Yama* and *Yamī* represent the same seemingly abnormal sex-relationship. The Ṛgvedic concept of *Jāra* also involves some kind of abnormal sex symbolism. This explains the occurence of the term *Svasī* in the case of a beloved, *Uṣas*. The sense of illicit sex relation between brother and sister was prohibited (X.10.12), The term *Svasṛ* (sister) gradually gives way to the sense of *abhisārikā*, beloved going to meet her lover. In the post-Vedic tradition the normal cosmic partnership is conceived variously, such, as, by the union of *Śiva* and *Śakti* in *Śaivism* or by the union of *Prajñā* and *Upāya* in the Buddhism. Even the philosophical schools were led to explain the origin of the world in terms of real or imaginary interaction of two entities, such as Puruṣa and *Prakṛti* in the Sāmkhya or Brahman and inexplicable Māyā in the Vedānta.

However, the relationship of free love epitomised in the RV by the *Jāra* and his beloved finds its similarity in the concept of Kṛṣṇa and Rādhā. Their playful love-making aesthetically leads to the delineation of *Madhura rasa*. Kṛṣṇa for the *Gopīs*, is the supreme lover, a *Jāra* (Bhāghavata, X.1.11-12). His love for the maidens in general and for Rādhā in particular is devoutly prasied in the esoteric Vaiṣṇavism. Rādhā reminds us of *Uṣas* and her lover and resembles the descriptions of fire, sun and the wind. All esoteric schools, Śaiva, Bauddha or Vaiṣṇava abound in clear sex symbols. Sex images seem to be indispensable to communicate the relationship of the supreme with the world of men. The relation of lover and the beloved between the supreme and the individual soul is often described by the mystics of all shades. In the Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad (IV. 3.21) union with the self is compared with the loving and deep embrace of a beloved. Close affinity intimate association between the emotions of love and religion is

8. For sex-symbolism in the RV, see S. A. Dange's paper, "Cosmo-sexualism in the Vedic Ritual, Charudev Shastri Felicitation Volume, Delhi, 1974.
9. Studies in the Psychology of Sex, Vol. I, Pt. I, p. 311, Random House, New York.

widely recognised. Havelock Ellis observes; "early religious rites were largely sexual and orgiastic because they were largely an appeal to the generative forces of nature to exhibit a beneficial productiveness"[10].

"There exists a close co nnection between mystic ideas and erotic ideas, and most often these two orders of conception are associated in insanity,". Says Regis, Indian tradition did not find anything immoral insane or absurd about this empirical relation of a lover and beloved being extended to the mystical realm.

Mystics, like Mīrā, who conceived herself as the bride of Lord Kṛṣṇa, soeur, Jeanne des Anges,[12] Marguerite-Marie[13] express their love for God in sexual terms. The Hebrews used a common word for empirical and divine love.

Thus, the RV has a wholesome attitude towards the lovers. It looks upon them respectfully and finds nothing morally degrading in the act of Love-making. This healthy attitude of the Āryans is later on manifested in giving pre-eminence to the erotic sentiment and in divinising the playful dalliances of Rādhā and Kṛṣna with no sense of inhibition or puritanical reproach.

10. As quoted ibid, p. 314.
11. See ibid, p. 322.
12. Ibid, p. 324-5.

प्रथमो भागः

राष्ट्रपतिसम्मानितैः कविशिरोमणिभिः विद्वत्प्रवरैः

श्रीअमीरचन्द्रशास्त्रिभिः

विरचितं

श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणां काव्यमयं

स्रग्धराभिरामंनाम

जीवन-चरितं शास्त्रिचरणानां

विशिष्टलेखाश्च

श्रीराधावल्लभो जयति ।

स्रग्धराभिरामम्

(श्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रिचरितात्मकं खण्डकाव्यम्)

प्रथमः सर्गः

आचारैः सद्विचारैरपि रुचिरतरा संस्कृतिर्भारतीया
यस्यां वल्लीमतल्लीवदतिविकसिता सौरभाण्यातनोति ।
तस्या मद्रासदेशो जयति कटितटो भारताख्याबलाया
यस्मिन् काञ्चीव काञ्ची हरति जनमनः किङ्कणीक्वाणघोषैः ॥१॥

यस्यामद्वैतवादी जनिमभजदसौ शङ्कराचार्य आदिः
सा काञ्ची कामकोटिः कलयति हृदये कौतुकं सत्कवीनाम् ।
विद्यारण्यादयोऽस्यामदधुरभृततां प्राप्य सत्तत्त्वयेक-
मद्वैतं वेदनीयं नियमितकरणैर्वीतरागैश्च सद्भिः ॥२॥

तत्क्षेत्रीयाद्य गाथा मम सहजतया शान्तिमन्तर्वितन्या-
च्छ्रोतॄणां पाठकानां विविधबुधगतं बोधमेषा च कुर्यात् ।
मित्रं मे मण्डनाख्यं गुरुवरसहितं नूनमाराधितं स्यात्
सम्मुद्येरन् रसज्ञा जगति यदनया तत्कृतार्थः श्रमः स्यात् ॥३॥

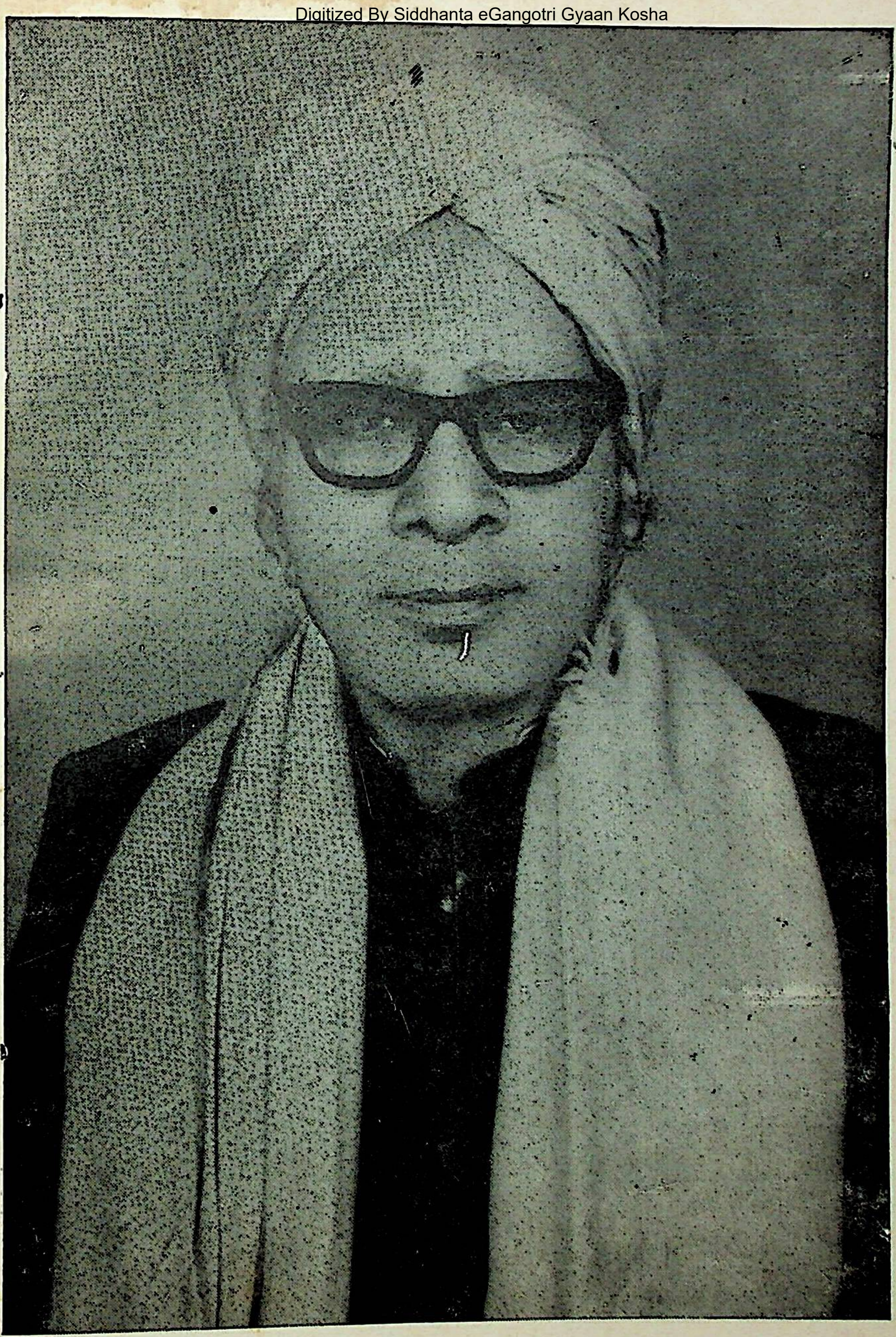
विद्यास्वध्यात्मविद्या भवति भगवतः कापि वन्द्या विभूतिः
सा चेयं सुप्रतीता सुरसरिदिव नः पावयन्ती त्रिमार्गा ।
तत्राद्यः साङ्ख्ययोगौ भवति तदपरो न्यायवैशेषिके ते
द्वे मीमांसे तृतीयः प्रथयति परमो हन्त पूर्वोत्तराख्ये ॥४॥

मार्गेष्वाद्यो न भोगो भवति तदपरो हन्त पातालगामी
त्यक्त्वा तौ मे तृतीये निज[1]गुरुचरण-न्यासपूतेऽस्ति तृप्तिः ।
आद्ये वेदोक्तियोगो विलसति-बहुलोऽसौ द्वितीयेऽपि दृष्टो
मार्गे त्वस्मिंस्तृतीये विमृशति पथिकः केवलां वेदवाचम् ॥५॥

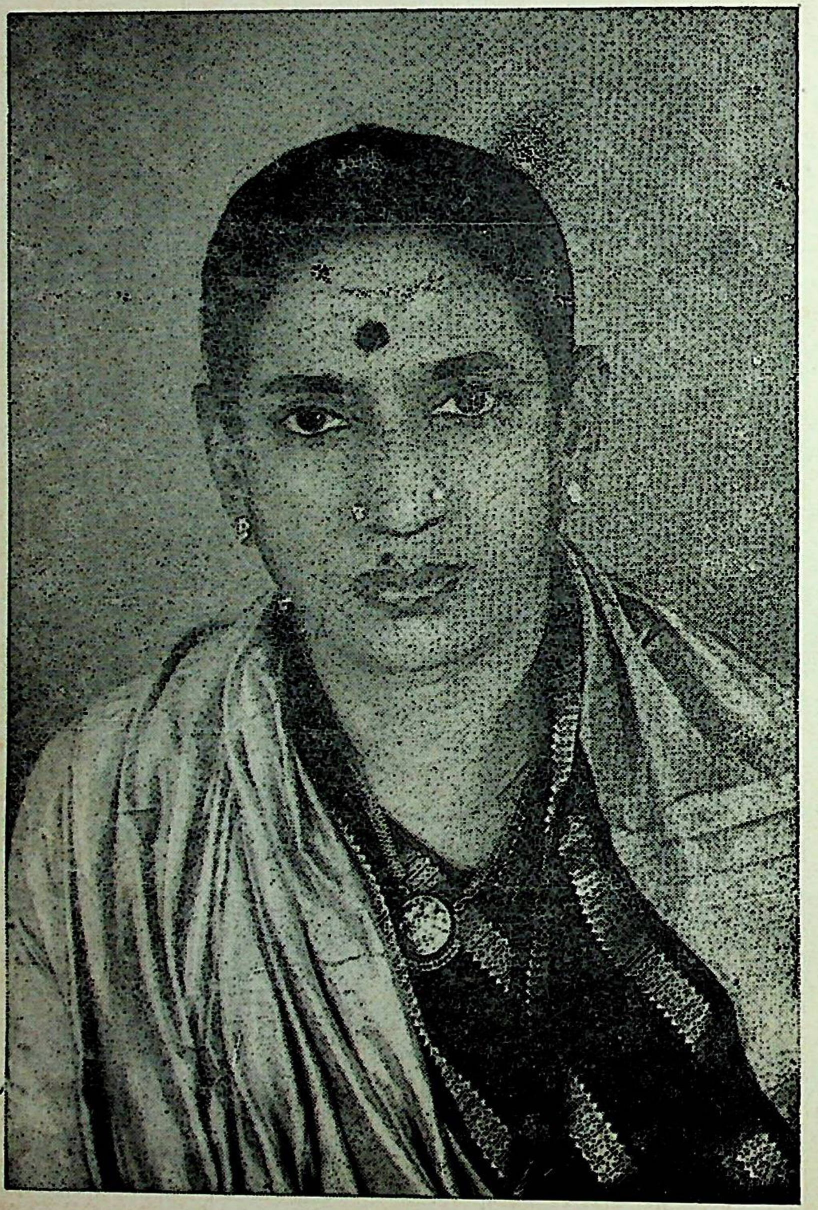
पूर्वामाहुश्च शास्त्र-प्रमुखमिति मुखं चोत्तरां सन्निषेव्यां
कृत्स्नं शास्त्रं तथोभे गदति समुदिते शङ्करस्तत्त्वदर्शी ।
अध्यायञ्जैमिनीयान्दश च षडिति वैयाशिखैस्तैश्चतुर्भि—
र्युक्तान् रामानुजोऽपि प्रथयति सकलां विंशतिं लक्षणानाम् ॥६॥

---

१. मम निजगुरुः—मीमांसकः श्रीकृष्णलालझामहानुभावः अन्धरा ठाढी (दरभङ्गा) वास्तव्यः ।



पं० पट्टाभिराम शास्त्री विद्यासागर



श्रीमती श्री शारदाम्बा
(धर्मपत्नी—श्री पट्टाभिराम शास्त्रीजी)

वेदप्रामाण्यनिष्ठोऽपुरुषकृतिमुखेष्वेकरूपो मतेषु
मीमांसेत्येकमार्गो द्विमुनिविरचिताद् दिग्विभागाद् विभिन्नः ।
पूर्वा नापेक्षतेयं प्रभुमिहतुधर वर्ष्टिनिःश्वासहेतु-
माद्या कर्मप्रधाना भवति तदितरा ब्रह्मवादप्रधाना ॥७॥

यातायाताश्रयत्वात्प्रतिपथमिह यो दृश्यतेऽसौ विभाग—
स्तेनाभिन्नेऽपि भेदः प्रकट इति बुधा जानते मन्वते च ।
मार्गे मार्गे किलैका जनयति पदवीत्वप्रवृत्तप्रवृत्तिम्
अज्ञातज्ञापिकान्या भवति किल तयोरित्यसौ भेदहेतुः ॥८॥

नाप्येकः कर्तृभेदस्तदुभयविषयो यावदस्तीतरोऽपि
ब्रूते साध्यं किलैका कथयति च परा सिद्धमेव स्वभावात् ।
श्रेयो लोकद्वये चाभ्युदयमयमिहैका प्रसूतेऽनुयाता,
ज्ञाता निःश्रेयसाख्यं वितरति च परेत्यस्ति भेदः फलेऽपि ॥९॥

इत्थं भेदेऽप्यभेदं वहति मतिमतां सेवनीयस्तृतीयो
मीमांसाख्यः स मार्गः प्रसरति पदवी यस्य पूर्वाधुनापि ।
भाट्टी प्राभाकरी चाभवदिह विततिः सा च मौरारिकी, ता-
मस्यां विंश्यां शताब्द्यामपि समदिशतां द्वे विचारप्रणाल्यौ ॥१०॥

गङ्गनाथादिविद्वत्प्रवरपरिचिताऽऽङ्ग्लादि-भाषासु काचित्
कुप्पूस्वाम्यादिविज्ञोत्तमपरिचरिता संस्कृतात्मा च काचित् ।
अस्यामाचार्यवर्यैर्बहुविधरचनाचुञ्चुभिः सद्भिरद्धा
श्रद्धावन्तः सुशिष्याः किल सविधिसमध्यापिताः शास्त्रमेनत् ॥११॥

अथ कथारम्भः—

अस्ति श्रीचोलदेशे खलु तिरुवशनल्लूरमन्नार्गुडीति
ख्यातं धन्यातिधन्यं जनपदयुगलं श्रीमदप्पय्यवासे ।
पूर्वं श्रीरामसुब्बागुरुचरणरतिर्वेङ्कटोऽलञ्चकारा—
न्यत्कुप्पूस्वामिशास्त्री प्रणिहितहृदयो राजुशास्त्रिस्वशिष्यः ॥१२॥

श्रीराजू रामसुब्बाभिधबुधयुगलं दाक्षिणात्येषु पूर्वं
मीमांसाचार्यताया धुरमवहदलं नैकशिष्योपयाताम् ।
श्रीराजूशास्त्रिणा चातलजलधिसमं शास्त्रमेतत्तु कुप्यां
श्रीकुप्पूस्वामिबुद्धौ भृतमिति चकिता आसतागस्त्यशिष्याः ॥१३॥

मीमांसापारगौ तौ निजनिजगुरुतः प्राप्य विद्या अशेषाः
सद्विद्यासम्प्रदायं जगति वितनुतः स्मात्र शिष्यप्रशिष्यैः ।
एकस्ताभ्यामुभाभ्यामपि परमकृपापात्रमध्यापितोऽभू—
च्चिन्नस्वामी प्रमाणागमपदनिपुणो मूर्ध्नि मीमांसकानाम् ॥१४॥

सोऽयं श्रीचेन्नपुर्यामजनि बहुगुणे नार्थ आर्काडभागे
शय्यारे मण्डकोलत्तुरिवसतिवरे श्रोत्रियैर्भासमाने।
यस्य श्रीरामनाथः प्रवरविधिबुधो न्यायसंस्थानमुख्यो
ऽप्यन्ये विद्वद्गरिष्ठा अपि जनिकृतिभिर्वर्द्धयन्ते प्रतिष्ठाम् ॥१५॥

चिन्नस्वामी स्वपित्रा रघुपतिसदृशा नामतो वेङ्कटादिः
सुब्रह्मण्यः कृतोऽभूदुपनयनमधात्तैत्तिरीयाधिगत्यै।
श्रौतस्मार्तेषु कर्मस्वपि निपुणतया योजितोऽधीतवान् सः
कर्पूण्डीवासिनस्तां कृतिमपि सुकवेर्वेङ्कटादेस्तु रामात् ॥१६॥

कृष्णस्वाम्यार्यक्लृप्ते पितृभिरनुमतो वेदविद्यालयेऽसौ
मीमांसामध्यगाद् विश्रुततिरुवशनल्लूरशास्त्रिप्रकाण्डात्।
तस्मान्मन्नार्गुडीयादपि गुरुवरतोऽधीतवान् दर्शनानि
प्राप्तश्चाध्यापकत्वं सपदि स तिरुवय्यारुविद्यानिकेते ॥१७॥

श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयरचनचणो मालवीयोऽथ दिग्भ्यो
दिग्भ्यो विज्ञान् विचिन्वन्नधिकृतपदवाक्यप्रमाणादिशास्त्रान्।
मीमांसाशास्त्रमध्यापयितुमतिपटुं नैकशास्त्रप्रवीणं
श्रीचिन्नस्वामिनं तं समनयत विदां वर्यमाचार्यमार्यम् ॥१८॥

वाराणस्यां तदीयं विमलमथ यशोऽल्पेन कालेन काञ्चिद्
व्याप्तिं प्राप्तं समन्तादपि समुचिनुतान्तेवसद्वर्गमिष्टम्।
सोऽप्यन्तेवासिवर्गः समधिगतगुणः शोभनीयं यशस्तत्
सौशील्याध्यापनोत्थं दिशि-दिशि विकिरन् विश्रुतं तं व्यधत्त ॥१९॥

अत्रास्ते चेन्नपुर्याः प्रथितगुणगणे नार्थआर्काड्प्रदेशे
नूत्ने दुर्गे तदीये स्म निवसति पि० ऐन्० वेङ्कटः कृष्णरावः।
तत्पुत्रोऽथ प्रसिद्धोऽभवदिह स पि० ऐन्० लक्ष्मणो रावशर्मा
तत्पुत्रः 'साल्ट इन्स्पैक्टर' पदमुपयन्वै पि० ऐन्० कृष्णरावः ॥२०॥

श्रीपैलाशूरनामा विलसति स जनापद्विरामोऽभिरामो
ग्रामस्तस्मिन्ननेकेऽजनिषत सुधियः सद्विवेकेन वन्द्याः।
तेष्वेषोऽभूदनन्यो भगवति रतिमान् शीलधन्यो वदान्यः
श्रीमान् श्रीकृष्णरावः कलयति जननी यस्य शिष्टैः प्रशस्तिम् ॥२१॥

एतद्वंश्याः किलार्काड्नरपतिमहितास्तत्सभाभूषणानि
प्रापुः पोलूरवल्लूरुभयसख—पुटुक्कोट्टनाट्टारभावम्।
नाट्टारो देशपालार्थक इति विदितं तत्र रावेत्युपाधि-
स्तेभ्यः प्रादायि राज्ञा कथितजनपदान् शासत् स्वाज्ञयेति ॥२२॥

श्री पी० ऐस्० कृष्णरावो जनिमलभत यो लक्ष्मणात्स्वर्णवल्ल्यां
कार्येऽसौ राजकीये धृतमतिरभवद् वैदिकाचारमग्नः।
भक्तो देवद्विजानां समुचितसमयेऽप्यव्यवंशोपजातां
कामाक्षीं तूपयेमे निहितगुरुभरः स्वर्यता पूज्यपित्रा ॥२३॥

भर्तव्या नीलकण्ठानुजसमनुगतास्तस्य तिस्रः स्वसारः
पूर्वैश्चोपार्जितं तत्सकलमपि धनं संविभक्तव्यमासीत्।
कामाक्षी चास्य पत्नी मरकतलतिकां पुत्रिकां चापि पुत्रं
कृष्णान्तं वेङ्कटं चाजनयदथ दिवं तौ विहाय प्रयाता ॥२४॥

कर्तुं कौमारभृत्यां पुनरुदवहतान्यां स रामार्यपुत्रीं
लक्ष्मीनाम्नीमियञ्च प्रणयपरिगता पालयामास बालौ।
उद्वाहंकारयित्वा स कनकलतिकां प्रेष्य तद्भर्तृपार्श्वं
बालं तं लालयन्ती स्वयमपि सुषुवे पुत्रकांस्त्रीन् क्रमेण ॥२५॥

तेष्वग्र्योऽभूत्प्रसिद्धो जगति वरदराड्, मध्यमः सुन्दरेशः
शेषः पट्टाभिरामः कतिपयऋतुभिः पोषितोऽयं जनन्या।
लक्ष्मीरेषा विहायावनिमहह गताऽकालिकं स्वर्गयोगं
शोकार्तः कृष्णरावस्त्वशरणशरणं दीनबन्धुं प्रपन्नः ॥२६॥

तस्यादेशात्स्वसारं तिरुपतिनगरेत्वेष लक्ष्मीमुपेत-
स्तस्याः पट्टाभिरामं शिशुमुपहृतवांश्चापरान् शिक्षकाणाम्।
तत्रैकां ब्राह्मणीं वै परिणतवयसं योजयित्वा च पाके
पुत्राणां पोषणादेरकृत समुचितामेष काञ्चिद् व्यवस्थाम् ॥२७॥

कार्यं स्वं राजकीयं विदधदथ कडप्पाख्यभागं समायात्
काले काले सुतानां स्थितिमिह च गतिं वीक्षितुं कृष्णरावः।
दृष्ट्वा पट्टाभिरामं सकलमपि वचः स्पष्टमाचक्षमाणं
विस्पष्टं चेष्टमानं मनसि समवहत्कौतुकं स्नेहदीनः ॥२८॥

ग्रामेऽधीयान एषोऽप्रथयदतितरां कौशलं वाचि लेखे
खेले चैवाभिवादादिषु समजनयद्विस्मयं शिक्षकाणाम्।
तच्छिक्षामेष चाधाच्चपलमतिरयं प्रत्यवोचच्च तूर्णं
सम्पूर्णं तस्य वर्चोऽकथयदिव पुरा जन्मनो बुद्धियोगम् ॥२९॥

वर्षं पट्टाभिरामे विशति तु वयसा सप्तमं तत्पितापि
प्रायात्तं लोकमस्मिन् प्रतिपदमवयन्नापदां दुर्विलासम्।
मात्रा पित्रा विहीनोऽप्ययमनयत तं बालभावादजानन्
कालं स प्रातिकूल्यं, व्यषहत च सुखे चापि दुःखे समानः ॥३०॥

ज्यायान्, पुत्रस्तु सेवामकृत किल पितुस्तत्र काले स तस्मात्
कृत्वा तस्यैष चान्त्यं निजपितृवपुषस्तत्र संस्कारकार्यम्
प्रत्यायातः शुचार्तस्तिरुपतिनगरं सर्वमप्यौर्ध्विकं तु
श्रीकृष्णो वेङ्कटाख्यस्त्रिभिरनुजनिभिः साकमस्य व्यधत्त ॥३१॥

एतान् मातामही सा किल कनकलता पुत्रिकागेहसंस्था
कञ्चित्कालं पुपोष स्वगृहमनयत त्रींस्तु वात्सल्यभावात्।
तत्रैषां मातुलस्तानपुषदतितरां स्नेहतः पुत्रकल्पान्
शर्मा श्रीमान्नटेशो द्वयमथ पठितुं प्रैषयन्मातृपार्श्वे ॥३२॥

बालः पट्टाभिरामः स कमललतिकां नाम मातृष्वसारं
स्नेहार्द्रां पोषयन्तीं निजतनयधिया मातरं मन्यमानः।
आदिष्टो मातुलेनाकृत सकलमपि क्षेत्रवीक्षा-गवादि-
सञ्चारेत्यादिकार्यं परिचयमधियन् शब्दशास्त्रे च कोशे ॥३३॥

पत्या मातृष्वसुश्चोपनयनविधिना भूषितो वेङ्कटादि-
श्रीसुब्रह्मण्यनाम्ना जननिसहजनिश्रीनटेशेन चायम्।
सन्ध्यामन्त्रप्रयोगौ प्रति परिचयतोऽलङ्कृतो वेङ्कटादि-
रामोपाध्यायपादैरवहदनुपमां ब्रह्मवर्चस्वितां च ॥३४॥

चिन्नस्वामी कदाचित्किमपि किल महत्कार्यमुद्दिश्य गेहात्
पैलाशूरे समायाद् गुणवति निकटे श्रीनटेशस्य मातुः।
क्लिन्नायां तत्र भूमावसुखमनुभवन् दत्तवेत्रासनोऽपि
प्रीतः पट्टाभिरामाभिधपटुबटुना पादपीठार्पणेन ॥३५॥

कोऽयं कस्यायमित्यादिकमतिचकिते पृच्छति प्रीयमाणे
तस्मिन् विज्ञोत्तमेऽद्धा सकलमकथयत्तस्य मातामहीयम्।
शिष्यत्वं नीयतां सम्प्रति पितृरहितो बालकोऽयं त्वयेति
प्रार्थ्याङ्घ्र्योः पातितोऽयं शरणमिवगतः स्वामिना स्वीकृतश्च ॥३६॥

शिक्षां प्रारम्भिकीं चेत्क्वचिदपि लभतां तर्हि सम्प्रेषणीयो
मत्पार्श्वे नूनमेनं सकलमपि शिवं शास्त्रमध्यापयिष्ये।
इत्याश्वास्य प्रयाते तदुदितमुचितं चिन्तयन्त्यास्य माता-
मह्या श्रीरामचन्द्रो धनपठनपटुः प्रार्थितो नीतवांस्तम् ॥३७॥

तेजोलिङ्गप्रदेशे विदुषि गणपतौ शास्त्रिणि प्रापिपत्तं
तत्रत्यां पाठशालां स च विनयसखं साधुरावीविशत्तम्।
शैल्या त्वध्यापनस्य प्रमुदितहृदयो राघुवंश्यान् स सर्गान्
वर्षादिकादशान्तानधिगत इति तां मन्यतेस्मानुकम्पाम् ॥३८॥

अर्थज्ञाने न वृद्धिः स्खलति विचलति त्वस्य वाक् शब्दपाठे
इत्यस्मै शास्त्रिवर्योऽदिशदनुदिवसं सेवनं तद्वचायाः।
शास्त्रिस्वस्राकिलोक्तोऽभृत नयनरुजं यां गुडूचीविकर्षे
वात्सल्यं तत्र पश्यन् गुरुहृदयगतं मोदमेषोऽन्वविन्दत् ॥३९॥

चूडां मूर्ध्नां स बिभ्रत्सुरभिखुरमितेर्द्राघिमानं वहन्तीं
गेहे संस्कारभाजं सपदि गुरुकुले दूषितामत्र कीटैः।
कीटक्लेशासहिष्णुर्ह्युपसमहृत तां नापितस्य क्षुरेण
क्षुब्धा अध्यापकास्तं पतितमिव पृथक् पङ्क्तितोऽतिष्ठिपंस्ते ॥४०॥

प्रायश्चित्तं व्यधत्त स्नपनजपनकृत्पञ्चगव्याशनाद्यैः
शेषाद्रिस्वामिनाऽसौ परिचरणविधौ ताडितोऽभूत्कपोले।
दृष्ट्वा पञ्चाङ्गुलाङ्कं श्वयथुमथ गुरुः प्राह सम्प्रत्यमुष्य
दूरीभूयात्तु वाचःस्खलनमिह सतां ताडनेऽप्याशिरास्था ॥४१॥

ज्ञातोदन्तः कुटुम्बे स्वजनवति पितृष्वस्रपत्योपदेशात्
पाठे मन्दा गतिस्तं विचलितमकरोच्छीघ्रमध्येतुकामम्।
नापृच्छ्यैवैष यातस्तिरुपतिनगरं मातुलं वा गुरुं वा,
विद्यापीठं च तत्स्थे शरणमुपगतो माधवं सेतुपूर्वम् ॥४२॥

आचार्योऽसौ परीक्ष्य क्षममिममवयन् शिष्यमङ्गीचकारे—
त्याहृष्टो मेघदूतादिकमपठदयं तत्र पद्यञ्च गद्यम्।
षष्ठीं कक्षाञ्च यावन्नियमितमपठद्, विश्वविद्यालयीया—
गाद्यां दत्वा परीक्षां निषधपतिचरित्रादिकाव्यान्यवेदीत् ॥४३॥

सिद्धा सिद्धान्तकौमुद्यथ पठितमभूत्तर्कवेदान्तमूलं
मीमांसाद्यञ्च तत्तद्गुरुचरणगतेनामुना साध्वधीतम्।
तत्रत्यां मध्यमोत्थां समधिगतवता क्रीडनेनेव शिक्षां
सर्वत्राश्चर्यकारि प्रकटितमभवत्तेन मेधाबलं स्वम् ॥४४॥

येनासौ वाचि चित्ते वपुषि च विनयेनान्वितोऽल्पेन वेला—
लेशेनागात्समेषामपि सहपठतामञ्जसाग्रेसरत्वम्।
तत्रासंस्ते सतीर्थ्यास्त्रय इति चतुरांस्तानधीतौ प्रवृत्ता—
नुत्साहः कोऽप्यपूर्वोऽवृणुत यदनुगास्ते विचारं प्रचक्रुः ॥४५॥

यास्यामो हन्त काशीं पृथगिह च पृथक् शास्त्रमभ्यस्य सम्यक्
तस्मिंस्तस्मिन् पटुत्वं किमपि वयमुपेत्यागमिष्याम एते।
विद्यापीठं किलान्यत्तिरुपतिनगरे स्थापयित्वा त्रयोऽपि
स्वं स्वं शास्त्रं विशेषादिह निपुणतयाऽध्यापयामः पुरेति ॥४६॥

14

तेषां पट्टाभिरामोऽवृणुत धृतरुचिः शब्दशास्त्रे प्रयत्नं
न्याये श्रीदेशिकोऽधाददधिकरुचितया कर्तुमुद्धं प्रयासम् ।
साहित्ये भावनार्यः प्रियविषयतया सश्रमं वोढुमैच्छत्
प्रस्तावं देशिकस्य स्व्यकुरुत धनवान् प्रीतिमांस्तत्पितृव्यः ।।४७।।

त्रिभ्यस्तेभ्योऽनुमासं द्विशतरजतिकां छात्रवृत्तिं प्रदातुं
कृत्वा चैष प्रतिज्ञां किमपि महदिदं पुण्यकार्यं प्रपन्नः ।
एतेऽप्युत्साहवन्तः प्रमुदितमनसः श्रीपितृव्येण साकं
यात्रामारेभिरे श्रीनृहरिचरणयोर्मङ्गलाद्रौ नताश्च ।।४८।।

तत्रैतेषां पितृव्यो व्ययसदृशधनं भावनार्यस्य हस्ते
दत्त्वा प्रत्यागतोऽभूद् गृहमथ सुहृदः प्रस्थितास्ते पिठायै ।
गोदावर्यां निमज्ज्य प्रणतनृहरयः सिंहशैले विशाखा—
पत्तन्ये वाष्पयानस्थल इदमधिगन्तुं प्रतीक्षामकार्षुः ।४९।।

एतेष्वेव क्षणेषु व्ययधनमखिलं यानपत्रादिकं चा—
प्येषां सर्वं हृतं भावनबटुनिकटात् केनचित्तस्करेण ।
शेषार्थं त्वाकलय्याऽऽविजयनगरकं चैत्य विद्यालयं ते
घस्राभ्यां लब्धसाह्याः कथमपि तु जगन्नाथपुर्यां समेताः ।।५०।।

तद्भाषाऽज्ञानहेतोः कमपि जनमिमे चात्मकष्टानि वक्तुं
नो शक्ताः सिन्धुतीरे स्नपनजपमुखं त्वाह्निकं क्लृप्तवन्तः ।
अन्योन्यं चालपन्तः सुरगिरिकुतुकात्केनचित्पृच्छ्यमानाः—
'का भाषा भाष्यते भो' रिति सपदि तमावेदयन् संस्कृतेति ।।५१।।

आन्ध्रेभ्योऽध्येतुमेते कथमपि चलिता हन्त काशीमुपेतुं
मध्येमार्गं हृतस्वाः क्वचिदपि शरणं नाप्नुवन्तो भ्रमामः ।
इत्युक्त्वा तन्निदेशात्कमपि मठमिमेऽभ्येत्य तत्स्वामिदत्ते—
नान्नाद्येनाथ पाकं सविधि कृतवता भोजिता भावनेन ।।५२।।

मध्याह्ने श्रीमहन्ते सकलमपि समाचारमावेदयंस्ते
साहाय्यं तत्पितृव्यादपहरणमथो केनचित्तस्य चेति ।
तेषां संस्कृत्तिमायां गिरिसहजतया भाषणेनोत्सुकः सन्
विद्वांसं कञ्चिदामन्त्रयत मठपतिः कर्तुमेषां परीक्षाम् ।।५३।।

पृष्टा सिद्धान्तकौमुद्यथ च बुधवरेणामुना यत्र तत्र,
सर्वत्रैवोत्तरं ते समदुरिति मुदं प्राप्तवान् श्रीमहन्तः ।
मैत्र्या तस्यागता ये मठमिममपरे पण्डितास्तेऽपि तेषां
ज्ञात्वा प्रश्नोत्तराभ्यां वचसि निपुणतां संस्कृते प्रीतिमापुः ।।५४।।

तेषां पट्टाभिरामः स खलु पटुतमो विद्धपात्कण्टकेन
क्लेशं प्राप्तश्चिकित्सालयमुपगमितो लब्धसाधूपचारः।
द्वित्रैरुल्लाघताभागभवदिह दिनैश्चोत्सुको गन्तुमासी—
त्काशीमध्येतुकामः परमिह स महानादिशत्स्थातुमेतान् ॥५५॥

अत्रैवाधीयताश्चेत्यधिगतवचनैस्तैः सकृत्सर्वपाठ—
श्रुत्या निश्चेष्यते तद्ध्रुवमिति विनताः प्रार्थयाञ्चक्रुरेनम्।
तेनैते प्रेषिताश्चाधिकनिपुणगुरौ क्वापि विद्यालयोद्धे
यत्र न्यायस्य पाठः सुरुचिमजनयन्नैव शास्त्रान्तराणाम् ॥५६॥

मध्ये मध्ये किलौद्धीमभिदधति गिरं शिक्षकाः केचिदेषु
केषाञ्चिच्चास्त शैली न खलु रुचिकरी पाठनस्येति खेदः।
गत्वा द्वित्राण्यहानि प्रतिविदितगुणाः पाठशालान्तराणि
श्रुत्वा पाठान्न तोषं क्वचिदपि विगता, गन्तुमैच्छंस्तु काशीम् ॥५७॥

काश्यां का स्याद्व्यवस्थेत्यभवदनियतं, येन पट्टाभिरामः
पूर्वं गच्छेच्च पश्येदिति कृतमतयस्ते महन्तेन साकम्।
तस्मात्साहाय्यमाप्य प्रथममिममिहैकाकिनं प्रैषयन्तां
स्थित्वा श्रीभावनार्यः स च तदनुजनिर्देशिकस्तत्र पुर्याम् ॥५८॥

द्वितीयः सर्गः

स श्रीपट्टाभिरामः श्रुतमतहनुमद्भट्टनामा तु काश्यां
निर्यातो वाष्पयानाद्धयशकटमथारुह्य तत्रैव यातः।
चिन्नस्वामी तमन्तर्गृहमनयदपृच्छच्च तत्क्षेमवृत्तं
गङ्गास्नानाय चैनं समनयत कृपादत्तनूत्नाम्बरोऽस्मै ॥१॥

सन्ध्योपास्त्यादि कृत्वा सपदि च गुरुणा साकमेषोऽपि यातः
श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयमिह च सुखावस्थितेनैष पृष्टः।
किं किं वर्णिन्नधीतं तिरुपतिनगरे पारिता का परीक्षे-
त्याहास्मै नम्रभावात्सकलमधिगतं ग्रन्थजातं स नाम्ना ॥२॥

अस्त्युत्तीर्णः प्रवेशाभिधदलमिति चावेत्य भार्गस्य वृत्तं
पृष्टा सिद्धान्तकौमुद्यधिगतरुचिना तस्य तत्रोत्तरेण।
आहूयैतां स्वमित्रे अपि पठनमिह न्यायसाहित्ययोः स्या-
न्मीमांसाऽधीयतां चाध्ययनमिह भवेद् व्याकृतेस्तु स्वभावात् ॥३॥

इत्याज्ञा पालनीया, हितमिह निहितं नः समेषामितीदं
स्वीकृत्यासौ स्वमित्रे अपि झटिति किलानेतुमैच्छत्कृतज्ञः।
विद्वद्भिर्वीक्षितोऽयं खलु, निपुणतया शास्त्रिकक्षार्हणोऽपि
प्रत्युत्पन्नोपलब्धिर्बत नियमवशाद् वेशितो मध्यमायाम् ॥४॥

मीमांसामध्यमायामधिकृतपठनोऽयं स्वमित्रद्वयाय
प्रेष्यौत्सुक्येन पत्रं मनसि विहितवान् काममेदं प्रतीक्षाम्।
अभ्यायातौ प्रविष्टौ निजनिजविषये, श्रीलपट्टाभिरामे,
खिन्नौ स्नेहान्न कस्मादिह विषयतया व्याकृतिर्ग्राहितेति ॥५॥

न्यायं श्रीशङ्करार्याददधियति निपुणं देशिके तर्करत्नात्
साहित्यं श्रीलताराचरणगुरुवराद् भावने चाधियाति।
चिन्नस्वामीतिनाम्ना जगति सुविदिताद्" विद्वदाप्तप्रतिष्ठा-
न्मीमांसां शास्त्रिवर्यात्कलयति सकलां श्रीलपट्टाभिरामः ॥६॥

तौ हिन्दूविश्वविद्यालयमिह हनुमद्घट्टतो नित्ययान्तौ
मार्गे न्यायप्रकाशं किल परिचरतो वक्तृताश्रोतृताभ्याम्।
त्यक्त्वा ग्रन्थावलोकं गुरुवचनचये ध्यानदानेन विद्यां,
ग्रन्थेक्षातः परीक्षोत्तरणमभिलषेदित्यभूत्तत्र वादः ॥७॥

वाराणस्यामिहैषोऽध्ययनमभिलषन् यं यमेव प्रपन्न-
स्तेनाचार्येण मेधाविनयमुखगुणैरादृतोऽङ्गीकृतश्च।
साङ्ख्यं प्राप्यान्नदाङ्घ्रेः पदनिपुणमहादेवतो व्याकृतिञ्च
नैकस्मिन्नेव विज्ञेऽधृत हठकटुताद्योतकं पक्षपातम् ॥८॥

श्रीचिन्नस्वामिशास्त्री श्रुतिमननमयं सम्प्रदायद्वयोत्थं
शास्त्रं सैकोऽन्वरक्षत्किल सकलमपीत्युक्तमादौ रसेन।
शिष्ये पट्टाभिरामे सदयहृदयतां तां विशिष्यैव धृत्वा
मीमांसां तां समस्तां श्रमसहितधृतां प्राददात्साग्रहोऽस्मै ॥९॥

शास्त्राण्येषोऽधिगच्छन् गुरुचरणमथो नम्रकम्रोऽनुगच्छन्
छात्रैरध्यापकैश्च प्रतिदिनविहिते वेदपाठेऽपि युक्तः।
मध्याह्ने शास्त्रिवर्यादयमधिगतवान्नाटकान्युज्ज्वलानि
साहित्यालोचनाभिर्गुरुवरकृपया प्रस्तुताभिः श्रिवानि ॥१०॥

सोऽयं ग्रीष्मावकाशे विदितनिजगृहोदन्तज्ञातः स्वगेहं
गत्वा मातृष्वसुस्तं पतिमुपचरति स्मातुरं चातिमात्रम्।
दुर्दैवात्तत्र याते दिवमथ ससुतां तां स मातृष्वसारं
निन्ये ग्रामं, नटेशोऽग्रजतनयमिहामुष्य कर्मस्वयुङ्क्त ॥११॥

चिन्नस्वामी तदैवोद्वहनमरचयत्पुत्रिकायाः किलास्मिन्
यातः पट्टाभिरामः सकलमपि जनं तत्र चैषोऽभ्यपश्यत् ।
ग्रामे प्रत्यागतं तं त्वरमनुगतवानादिशच्छास्त्रिवर्यो
मच्छ्यालीकन्यकां त्वं निजसहचरितां प्रापयेर्दृष्टपूर्वाम् ॥१२॥

इत्यादिष्टः स यावत्कथयति विवशीभावमात्मीयमस्मै—
'श्रीमन्, शिष्योऽस्मि सर्वं निजभरमिह वः पादयोर्न्यस्य जीवन् ।
दीनो हीनः पितृभ्यां, पितृधनरहितो मध्यमायामधीये
किञ्चिद्वक्तुं च नार्हः परिणयविषये मातुले चास्म्यधीनः' ॥१३॥

इत्यार्त्येवोक्तवन्तं तमदिशदथ स प्रेष्ठशिष्यं प्रसन्नो—
'नो चिन्तां त्वामकार्षीः पठसि पटुरसि प्राप्स्यसि स्वेष्टकार्यम्' ।
इत्याश्वास्यास्य गेहे परिणयविषये निर्णयं कर्तुकामः
पृष्ट्वा मातामहीं सोऽलभत मुदमलं स्वार्पिताशेषभारः ॥१४॥

एतन्मातामही सान्वमनुत मनसा मातुलश्चापि तेनो-
द्वाहं तत्कन्यकाया इह समरचयच्छास्त्रिवर्योऽविलम्बम् ।
काश्यां पट्टाभिरामं वरमथ च वधूं शारदाम्बां कुटुम्बं
चात्मीयं स्वेन साकं हनुमदवतरं नीतवान् प्रीतिमान् सः ॥१५॥

आसीदष्टादशाब्दः स्वयमथ भवती शारदाम्बाष्टवर्षा
श्रीचिन्नस्वामिगेहे शिशुवदवसतां प्रीतिपुष्टौ च तुष्टौ ।
मीमांसामध्यमाया अयमुदतरदेवात्र वर्षं तृतीयं
प्रत्यायासीत्स्वदेशं स गुरुमनुगतो दैन्यदृङ् मातुलस्य ॥१६॥

आवृत्तस्यर्णपत्रे प्रतिनिधिवदसौ यद् व्यधाद्धस्तलेखं
तत्रास्मिन् स्वःप्रयाते तदपनयनकृत्सद्यदात्स्वं समस्तम् ।
श्वश्र्वाश्चायं भगिन्यास्त्रिसुत-निजसुतानाञ्च वृत्तिं शिलोञ्छ-
वृत्त्या निर्वोढुमासीत्स हि दुरवसरो मातुलस्यातिकष्टः ॥१७॥

दृष्ट्वा पट्टाभिरामस्तमगमयदयं यन्निदाघावकाशं
काशीं प्राप्तश्च शास्त्रिप्रथमदलमधि च्छात्रवृत्तिं यदाप्नोत् ।
तत्तस्याभूद्धृदन्तः किमपि बलकरं रूप्यकेभ्यो दशभ्यो—
ऽदादष्टौ मातुलाय स्वमिह सकलं निर्वहंस्तद् द्वयेन ॥१८॥

मीमांसाशास्त्रिभावात्परमयमतरन्मध्यमां न्यायशास्त्रे
कार्यञ्च ब्राह्मणाच्छंस्युचितमधिगतः श्रीशिवश्रौतिपार्श्वात् ।
काशीराजादिसृष्टे सुमहति च मखे तत्प्रयुक्तर्त्विगेको
ज्योतिष्टोमे पदार्थान् फलितगुरुकृपो दक्षिणायामवाप्नोत् ॥१९॥

श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयगुरुरपि स पराह्णेऽन्यविद्यालयेऽपि
मीमांसाध्यापनार्थं व्रजति किमिति नाहं ततोऽध्येमि विद्याम् ।
इत्यन्तश्चिन्तयित्वा द्विविधमिह परीक्षाक्रमं च श्रयाणोऽ-
यं श्रीपट्टाभिरामः पठितुमयततात्रापि तत्रोभयत्र ॥२०॥

श्रावण्यां दक्षिणादामपि स वटपदे जायमानां परीक्षां
मीमांसारत्नमानं श्रयितुमुदतरत्तीर्णशास्त्रिद्वयोऽपि ।
तस्मै न्यायप्रकाशाधिगमनपरमानर्थिनश्चार्पयित्वा
चिन्नस्वामी प्रशिक्षापथपथिकतया कौशलं तद्वितेने ॥२१॥

तत्तत्सम्पादनेषु प्रतिलिपिलिपिसंवादकार्येषु चैनं
कृत्वाऽऽत्मीयं सहायं गुरुरतिगुरुतां नीतवान् प्रीतचेताः ।
तत्साहाय्यञ्च तत्तत्कृतिषु स कृपया प्राचकाशत्सनाम-
निर्देशं येन शिष्योऽप्ययमगमदनेकत्र भूयो गुरुत्वम् ॥२२॥

दातुं काश्यां परीक्षामुपगतमथ तं श्रीगुरुः सोऽनुमेने-
ऽर्थित्वं धर्तुं मुजफ्फर्पुरमिति विदितेऽध्यापकत्वाधिगत्यै ।
प्रेष्याथ प्रार्थनां तां पुनरगमदयं त्वन्तिके मातुलस्य
साक्षात्कारार्थपत्रं कुसुमपुरमिमं गन्तुमत्रैरयच्च ॥२३॥

तत्रायं चाध्वखिन्नोऽपरिचर्यविकलो जाह्नवीस्नानसन्ध्यो-
पास्तीः सम्पाद्य साक्षात्कृतिपदमगमद् वारि गाङ्गं गृहीत्वा ।
क्रीत्वा तत्रापणात्तादधिपृथुकसिता भक्षयित्वा च पीत्वा
पानीयं तत्र सुप्तः श्रमशिथिलतनुः प्राप्तवान् गाढनिद्राम् ॥२४॥

साक्षात्कारस्य काले पुनरपि च पुनर्बोध्यमानः स नाम्ना
निद्रामुद्रां कथञ्चित्परिहरति पुरा याति कार्यालयञ्च ।
आसीत्तत्राधिकारित्रयमुपरिगतं चारुवेत्रासनेषु
किञ्चित्त्वाकृष्य रिक्तं तदुपरि स विनाऽऽदेशमेवोपविष्टः ॥२५॥

तत्तस्यासोढवांश्चाङ्गलवसनधरस्तेषु चैकोऽधिकारी
क्षुभ्यन् पट्टाभिरामं तदभिजनपरीक्षाप्रमाणाद्यपृच्छत् ।
दत्ते तेनोत्तरे चाधिपतिरुदनयत्पुस्तकं न्यस्य चाग्रे
प्रष्टव्योऽयं कुतोऽपीति हरिहरकृपालुं प्रति प्रोक्तवांश्च ॥२६॥

दत्त्वाऽसौ दीपिकाया अधिकरणमयास्मै 'प्रयाजस्य शेषम्
अस्मानध्यापये' त्यादिशदयमथ तत्पुस्तकं प्रत्यबध्नात् ।
मौखिक्या च स्वशैल्या प्रकरणममुकं पाठयन् विस्मयाया-
भूदेतेषां समेषामुदतरदथ च प्रश्नमन्तःसमुत्थम् ॥२७॥

श्लोकादेर्वार्तिकस्याधिपतिरथ कमप्युद्धृतं भागमग्रे
न्यस्यन्नाहात्र कार्या विवृतिरिति तदादाय सम्यङ् निरीक्ष्य ।
शास्त्री पट्टाभिरामः प्रकरणमखिलं प्राब्रवीदन्तरुत्थं
प्रश्नं चोत्तीर्णवान् सोऽद्भुतमिव जनयन् बालकृष्णश्रियोऽपि ॥२८॥

मिश्रः श्रीबालकृष्णो मम परमगुरुः पृष्टवान् शास्त्रिवर्यं
मीमांसाशास्त्रिणः किं गुणमभिदधते शब्दमाकाशनिष्ठम् ।
किं वा द्रव्यं स्वतन्त्रं तमिति विवृणु नः, सोऽपि तत्साधिकानां
युक्तीनां बाधिकानामुपह्नुतिसहितं स्थापयामास पक्षम् ॥२९॥

सूत्रं त्वाद्यं प्रमाणं भवति यदनुगं भाषते भाष्यमर्थं
कृत्वा शङ्कासमाधिं पुनरभिदधते तेऽपि सिद्धान्तमेकम् ।
मन्त्रान् श्रीजैमिनिर्नः प्रदिशति सकलान् द्रव्यमेवेति भट्ट-
पादाद्या अप्यमुष्मिन् प्रणिदधति बलं युक्तिभिः सूक्तिभिश्च ॥३०॥

तच्छ्रुत्वा तुष्टचित्तैरनुमतगमनोऽयं बहिर्यात एव
कञ्चित्कालं प्रतीक्षामनुचरमुखतः कर्तुमादिष्ट आसीत् ।
श्रीमिश्रश्रीकृपालू चरणपतितमुत्थाप्य चारोप्य यानं
नीत्वा पाकं प्रकल्प्याश्वसितमशितवन्तं गृहं प्रैषयाताम् ॥३१॥

काशीमागत्य वृत्तं कथयितुमखिलं स प्रतीक्षामकार्षी-
त्प्रत्यायाताय देशादथ च स गुरवे वेदयामास सर्वम् ।
शुक्लश्चण्डीप्रसादस्तमनयत मुदा जातु केदारघट्टं
स्थातुं काश्यां मुजफ्फर्पुरमथ मनसा हातुमावेदयच्च ॥३२॥

जातः साहित्यशास्त्री सपदि वटपदे लब्धसाहित्यमानो
मीमांसाचार्यतायां सफलविफलते प्राप्य हृष्टोऽप्रहृष्टः ।
कार्यान्वेषी तु वाग्रीजनपदमहितां वित्तवान् पाठशालां
मीमांसाकोशकार्ये न्यरमत नितरां तत्र चाध्यापनेऽपि ॥३३॥

तत्राप्येतेन पृष्टो गुरुरदिशदिमं पञ्चविंशत्यपेक्षा
चत्वारिंशद्गरिष्ठा परमिह वसतिः सर्वतः स्यान्महिष्ठा ।
अन्यत्त्यक्त्वैष काशीमधिवस सुमते शुक्लसञ्चालिते गो-
यन्काविद्यालयेऽस्मिन् परिचर दिविषद्भारतीं कामधेनुम् ॥३४॥

गुरवदिशान्मुजफ्फर्पुरगमनमयं त्यक्तवान् सन्नियुक्तो-
ऽप्यासीत्पूर्णेऽभिधेऽयं प्रवचनपटुतां प्राचकाशत्प्रतापा-
न्मीमांसाध्यापकः सन् प्रणयपरिगतात् प्राज्ञविद्यालयस्य
वाराणस्यां ततोऽगात् सपदि गुरुपदं ख्यातगोयेनकाख्याम् ॥३५॥

मध्ये मार्गं कदाचिन्मिलितमथ मुदाऽनामयं पृष्टवन्तं
श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयगुरुमयमनमत् प्रार्थयच्चात्र सेवाम् ।
सोऽपि स्नेहेन दृष्ट्याऽभ्युचितमवसरं त्वं प्रतीक्षस्व विद्व-
न्नित्याश्वास्यैव यातः सपदि च समयं कल्पयामास कल्पम् ॥३६॥

तं हिन्दूविश्वविद्यालयपरिचरणे योजयामास वृत्त्या
पञ्चाशन्मुद्रया श्रीप्रमथपतिरयं तत्सहाध्यापकत्वे ।
यत्रापाध्यायमानास्पदमगमदयं क्षिप्रमाचार्यभावं
यद्वा यान्त्येव सर्वोन्नतपदमचिरात्सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः ॥३७॥

साकं मीमांसयाऽसावधिगमयति तच्चारु शाकुन्तलाद्यं
साहित्ये न्यायशास्त्रे सविधि स गतवान् शास्त्रितां शिक्षकः सन् ।
मिश्रैः श्रीबालकृष्णैरथ स विनयवान् न्यायमुक्तावलीति—
ग्रन्थस्याध्यापनेऽपि प्रमुदितहृदयैर्योजितोऽभूत्कृतार्थः ॥३८॥

प्रत्याख्यातोऽथ तेनातिशयमयमगाद्विस्मयस्य स्मयस्या-
घातं कश्चिच्च चित्तेऽन्वभवदिह गुरोर्यः कृपाभारतोऽभूत् ।
दैवं मत्वा च हेतुं कथमपि हृदयं बिभ्रतः सान्त्व्यमानं
तातार्यानुशंसापरकमिह दलं तद्गुरोर्दर्शयित्वा ॥३९॥

चिन्नस्वामी गुरुश्रीस्तिरुपतिनगरेऽध्यक्षभावेन याता,
रिक्ते स्थाने तदीये गुरुभिरनुमतो यत्नमालम्बयत्सः ।
यातोऽयं कालिकातां शिवधनिहरिणा मालवीयं प्रपन्नो
याञ्चा मोघास्य खेदं कमपि कृतवती किन्तु नासीन्निराशः ॥४०॥

काशीं प्रत्यागतोऽसौ स्वजनपरिवृतां दृष्टवान् हा मुमूर्षुं
श्वश्रूं, बन्धून् विषण्णान्, परमतिधृतिमान् धारयामास सर्वान् ।
तस्याः स्वर्गं गतायाः स्वयमकृत समं देहसंस्कारमुख्यं
त्राभावे हि माता भवति दुहितृजानाञ्च जामातुरेषा ॥४१॥

चिन्नस्वामी समायात्तिरुपतिनगरादत्र शोकप्रसङ्गे
कार्यं सर्वं च सम्पादितमभवदिदं तत्सपिण्डीकृतादि ।
तं तु प्रस्थास्यमानं सकलमकथयन्मालवीयप्रपत्ते—
र्वृत्तान्तं पृष्टवांश्च 'स्खलितमिह किमासीन्ममानर्हतायाम्' ॥४२॥

इत्येवं पृष्टवन्तं स गुरुरकथयत्त्वय्युपेक्षा न काचि-
त्ताताचार्ये त्वपेक्षाऽभवदिति नियतं कारणं पत्रलेखे ।
तस्मिन्याते स्वदेशं स शयनपतितः श्रीमहादेवशास्त्रि—
पत्रेणोत्थापितोऽभूत्त्वरितमुपनमेर्मालवीयाज्ञयेति ॥४३॥

तत्रायातस्तु शास्त्री शिवधनिहरिणाभ्यन्तरं प्रेषितोऽभू—
त्तं दृष्ट्वा मालवीयः कुलपतिरवदत् 'त्वं नियुक्तो मयेति'।
किन्तु त्याज्यं न जातु व्यसनमिदमिहानेकशास्त्राभ्यधीते—
रित्यादिष्टोपदिष्टो मुदमयमगमत्प्राणमच्चैनमीडचम् ॥४४॥

अन्त्येद्युः कौंसिलेनाध्रियत निनियतोऽयं प्रधाने पदेऽस्मिन्
राधाकृष्णश्च यातः कुलपतिपदवीं मालवीयैर्विसृष्टाम् ।
साहित्याचार्यभावं दधदथ स गतो न्यायशास्त्रेऽपि तत्त्वं
चिन्नस्वामी च वर्षद्वयसमपगमे भूय एवागतोऽभूत् ॥४५॥

अध्यक्षत्वं गतश्चाखिलनिगमबुधो धर्मविज्ञानभागे
मीमांसाया विभागोऽप्यमुमुपगमितः शास्त्रिणः सत्प्रयत्नात् ।
अध्यक्षत्वं किलाप्तुं जयपुरनगरे राजकीये महीयो-
विद्याकेन्द्रेऽर्थिभावादयमपि कृतवान् प्रार्थनापत्रदानम् ॥४६॥

मिर्जा इस्माइलाख्यो जयपुरनृपतेर्मुख्यमन्त्री तु पत्रं
चिन्नस्वाम्यर्थिभावं कमपि विशदयन्प्रार्थयत्तं महान्तम् ।
तस्मिंस्तस्यारुचित्वादपरमथ दलं राज्यतः प्रेष्यते स्म
यस्मिन् पट्टाभिरामो जयपुरनगरे वीक्षितुं प्रार्थितोऽभूत् ॥४७॥

अन्येषाञ्चास्ति साक्षात्कृतिरिति गुरुरप्येनमामन्त्रणं स्वं
तत्रत्यं दर्शयित्वाऽवददथ बदरीनाथशुक्लोऽपि तद्वत् ।
सोऽप्येतेनैव साकं जयपुरनगरात्तत्र पट्टाभिराम—
स्वागत्यै वाष्पयाने तमनु सुरजनोऽगादपश्यच्च शुक्लम् ॥४८॥

नीत्वाऽसौ तावुभावप्यगममिह भिषक्पुङ्गवस्यैव गेहं
यत्रासीत्सुव्यवस्था किल बुधवरयोर्वासभोज्यानुरूपा ।
साक्षात्काराय चान्येद्युरुचितसमये तौ गतौ तत्र यत्रा—
हूतः शास्त्री तृतीयः सकलकृतियुतोऽन्तः प्रविष्टः प्रसन्नः ॥४९॥

साक्षात्कर्तुं किलैतान् गिरिधरसहिता आस्थितास्तत्र पञ्च
प्राज्ञा मध्ये च तेषामधिपतिरमरो वित्तमन्त्री स्थितोऽभूत् ।
एष प्रागाङ्ग्लभाषी किमपि बुधवरं पर्यपृच्छत्तदाङ्ग्ल-
भाषायामुत्तरेण प्रमुदितहृदयः प्रेरयज्जोवनेरस् ॥५०॥

हिन्द्यामेषोऽन्वपृच्छत्तदुदतरदयं तं तया भाषयेव
प्रश्नं गीर्वाणवाण्यां दधति गिरिधरे दत्तमत्रोत्तरञ्च ।
'शिक्षायां तत्प्रचारेऽपि च किमु कृतवान् किं करिष्यत्यथाग्रे ?'
इत्यस्यात्मानुरूपं प्रतिवचनमदात्तुष्टिदं धीमतां यत् ॥५१॥

साक्षात्कारे किलास्मिन्विविधगुणभरैर्भूषितो विद्वदग्र्याः
स श्रीमान् घूटराख्योऽस्मदृषिकुलगुरुः श्रेष्ठभावाद् वृतोऽभूत् ।
तत्स्वीकारेण केचिन्मुदमधुरपरेऽगुस्तुदं केऽपि मोदा-
त्तोदाच्चासन् विदूरे प्रविलसतितरां तेषु पट्टाभिरामः ॥५२॥

श्रीमत्पट्टाभिरामादधिगतनिगमस्तन्त्रिनारायणाख्यो
मीमांसाशास्त्रिताभाक्क्वचिदपि विदितज्योतिषस्तान्त्रिकोऽभूत् ।
दत्तात्रेये मठेऽसौ न्यवसदिह गुरोर्नष्टजन्माङ्गक्लृप्तौ
शीघ्रं किं भावि भद्रं तदनुदिशमनागित्यसौ पृष्ट आह ॥५३॥

एतत्कुण्डल्यवेक्षा कथयति भवतः स्थानभेदेन वृद्धिं
तत्स्थानं पश्चिमायां दिशि च विनियतं पञ्चषाब्दावधिस्थम् ।
तन्निर्देशात्परं तज्जयपुरनगरे स्थानमासीत्तु रिक्तं
प्राचार्यो घूटरश्रीः परिमितसमयेनैव तत्याज देहम् ॥५४॥

बाल्ये पञ्चाम्बुभाषामथमपि मयका काव्यमाकल्प्यते स्मे-
त्येषा शक्तिर्ममासीदथ च निपुणताऽभूदधीयानबुद्धौ ।
यत्तत्काव्यज्ञशिक्षाभ्यसनमिह कृतं कारणं तन्ममाभूत्
प्राचार्ये घूटरेऽस्मिन् सुकविगुरुवरे प्रेरके शोधके च ॥५५॥

तस्मिन् रिक्ते पदेऽथो जयपुरनृपतेर्मुख्यमन्त्री स मिर्जा
श्रीचिन्नस्वामिनं तं मुहुरभिलषतिस्मास्य काम्यानुरूपम् ।
साक्षात्कारोपगोष्ठी त्वभिलषति तयोः शास्त्रिशुक्लार्थिनोस्तं
यं श्रीमान् मालवीयो हितमिह मनुते राज्यविद्यालयाय ॥५६॥

ताभ्यां पत्रं प्रहायाभिलषितविदुषः सङ्ग्रहाय प्रयत्ने
श्रीचिन्नस्वामिनान्ते वसति जनहिते स्वार्थहानिः कृताऽभूत् ।
स श्रीमान् मालवीयः सुदृढपरिचयं श्रीलपट्टाभिरामं
मत्वा श्रेयस्करं तं जयपुरनगरे प्रेषयन् प्रीत आसीत् ॥५७॥

श्रीमद्गीतासु विद्याविनयसहकृतब्राह्मणाशंसि मन्त्रं
व्याख्यास्यन्मालवीयो निरदिशदिह तं श्रीलपट्टाभिरामम् ।
तस्मै स्युर्नो नमांसि प्रणयविनययोर्व्यञ्जकानि स्वभावा-
त्तत्राद्यस्तेन दत्तो भवति तदपरश्चास्मदिष्टोऽस्ति दिष्ट्या ॥५८॥

तृतीय सर्गः

गुर्वादेशान्मुहूर्ते महति जयपुरं प्राप्तुमेष प्रतस्थे
तत्रापश्यत्क्रमेणाखिलमधिकरणं मुख्यमन्त्र्यादिमुख्यम् ।
मान्यो वीरेशशास्त्री प्रथममुपगतोऽनेन नत्यादृतोऽभू-
च्छ्रीगोपीनाथशास्त्री स च नृपतिगुरुर्वन्दितः सादरेण ॥१॥

दृष्टोऽभूद् वित्तमन्त्री अटल इति शुभाख्यानतः सुप्रतीत-
स्तस्यादेशाच्च जिब्बूरिति जनविदितस्तत्र निर्देशकोऽपि ।
ताभ्यां प्रोत्साहितोऽयं 'सति तु सहकृतामप्यसाह्ये न धैर्यं
त्याज्यं' चेत्यादि मन्त्रं रहसि निर्गमितोऽभूत्सुधीरेष धीरः ॥२॥

पश्यन्विद्यालयस्याकृतिगतविकृतिं छात्रसङ्ख्याद्यवेत्य
ग्रन्थागारस्थितिं चावगत इह समं जीर्णशीर्णं च दृष्ट्वा ।
खिन्नोऽप्यन्तः स्व-कार्यं निरचिनुत तथाऽऽमन्त्रयच्छात्रवर्गं
सर्वानध्यापकांश्चोन्नतिपथविषये किञ्चिदावेदयच्च ॥३॥

स्थाने सङ्कीर्णता सोपकरणनिचये जीर्णता साऽऽसनेषु
प्राग्दृष्टा शीर्णता सा भृशमतुददहो मानसं तस्य वेत्तुः ।
पश्चात्संस्कारकार्यं मनसि समुदितं साहसायानुदत्तं
सप्ताहानन्तरं तत्सकलमधिकृते दत्तकर्णेऽवदच्च ॥४॥

तत्सम्मत्या नवीनं त्वनुमितिफलितं पत्रमायव्ययार्थं
निर्माप्य प्राक्कृतायव्ययविवृतियुतं प्रेषयिष्यन् स पूर्वम् ।
मिर्जा इस्माइलाख्यं प्रमुखमधिकृतं द्रष्टुमभ्यागतस्तं
तत्तत्संस्कारकार्यं सनयमकथयत्सर्वथैवानिवार्यम् ॥५॥

कार्या विद्यालयेक्षा सकृदिति निपुणं प्रास्तवीत्तच्च तेना-
ङ्गीकृत्याश्वासितोऽयं मनसि मुदमधात्तस्य कुर्वन् प्रतीक्षाम् ।
सोऽकस्मात्कर्ह्यधस्तादुपगत इनि ते विस्मितास्तावदासन्
मर्यादारक्षकोऽयं तदुपरि भवने मन्दिरे न प्रविष्टः ॥६॥

दृष्ट्वा राजाधिराजप्रणयपरिगतं दीनदीनं समन्ता-
द्दीनं विद्यालयं तं मनसि स परमं खेदमापद्यतेस्म ।
तेनादिष्टोऽधिकारी सममपवरकं मापयित्वानुरूपा-
ण्यानेतव्यानि कारागृहरचितनवान्यासनानीति सद्यः ॥७॥

देवस्थानस्थितानामपवरकतया कोष्ठकानां स सङ्ख्यां
कृत्वा तस्योपयोगात्पृथगिह कलिताः सन्तु विद्यालयाय।
इत्यन्यं मन्दिरस्याधिकृतिधरजनं ज्ञापयित्वा गतोऽसौ
सर्वं संस्कर्तुकामो भवति सहजतः संस्कृतस्यानुरागी ॥८॥

संस्थाने राष्ट्रिये वा यदि भवति जनो राजकीयेऽथवाऽयं
सर्वं कार्यं झटित्यावहति स मतिमान् संस्कृतस्यार्चकः सन्।
अन्यस्त्वस्याधिकारी गणयति न दिनं नापि मासं न वर्षं
कार्ये कार्ये विलम्बं कलयति सकलानर्थहेतुं विमूढः ॥९॥

आयातान्यासनानि त्वपवरकगणोऽप्यास्त रिक्तीकृतोऽन्यः
प्राचार्यावासहेतोरधिगतमथ तन्नाट्यसद्म क्रमेण।
काश्यां ग्रीष्मावकाशावधि सुखमुषितः 'शास्त्रिवर्यः सदारः
प्रत्यायातोऽत्र विद्यालयपरिकरतः स्वागतं प्राप भव्यम् ॥१०॥

गेहोऽप्यासीत्सुसज्जः स खलु नवसुधालिप्तभित्तिस्ततोऽस्मिन्
शास्त्री कृत्वा प्रवेशं सपरिकरजनस्तोषमन्तः प्रपन्नः।
तत्रत्यानां जनानां सुरगिरिविदुषां च स्वरूपं स्वभावं
जानानो वन्दनीयानयमनमदथास्निह्यदर्हेषु पूर्णम् ॥११॥

गेहे विश्रम्य किञ्चिल्लिपिकगणकयोः कार्यमालोक्य ताभ्यां
तत्रत्यं वृत्तशेषं श्रुतवति मुकुरे भासते स्माखिलं तत्।
नेतारौ पण्डितानां गिरिधरमथुरानाथभट्टौ प्रणम्य
साहाय्यं तद्द्वयस्यार्थिथदखिलकृतेष्वत्र विद्यालयस्य ॥१२॥

आसन्नूलासनानि स्फुटमपवरकाणि प्रभूतानि चासन्
कायाकल्पः कृतोऽभूदिति ललिततयाऽभात्स विद्यालयोऽपि।
क्लृप्त्वा सोऽध्यापकानां समयविभजनं दर्शयित्वा समेषां
निर्बन्धैः शोधयित्वा व्यतनुत जगदीशस्य साहाय्यकेन ॥१३॥

नाट्याचार्यस्तु हिन्दीगुरुरवददमुं स्मो महापाठशाला-
ऽऽचार्यास्तत्पञ्जिकायां समुचितमसुकं नाम हस्ताक्षरं नः।
अस्माकं वेतनानां मितिरपि च मिता, सापि संवर्धनीये-
त्यन्येद्युर्धर्मशास्त्री तदिदमनुवदन्प्रार्थयामास नम्रः ॥१४॥

शास्त्री चेतस्यकार्षीदधिकृतिविषये चिन्तयन्तीह सर्वे
कर्तव्ये नैव चिन्तामणुमपि दधते मानवा द्रव्यकामाः।
राजस्थानेऽनिवार्यं भवतु सुरगिरः शिक्षणं पाठ्यमध्ये
कर्तव्यं साम्प्रतं नोऽस्ति पुनरसुलभग्रन्थसम्पादनस्य ॥१५॥

तत्तच्छात्रेषु छात्रान् समुचितनिपुणान् कर्तुकामोऽभिरामः
पाक्षिक्याः संसदोऽहं क्रममिह रचयिष्यामि विद्यालयेऽस्मिन् ।
भाषिष्यन्ते किलास्यां स्वनियतविषये निर्मितं स्वप्रबन्धं
वाचिष्यन्तेऽथवामी तदनु गुरुजना बोधयिष्यन्ति बोध्यम् ॥१६॥

इत्थं सञ्चाल्यमाना भृशमुपकुरुते स्मात्र सा छात्रवृन्दं
विद्वद्वृन्दस्य चिन्तादिशमपि कुरुते स्मानवद्याञ्च हृद्याम् ।
छात्राणां भाषणेषु क्वचन बुधजना यत्समीक्षां वितेनु-
स्तेनासीत्तद्विनोदः सपदि च विदुषां कश्चिदासीत्प्रमोदः ॥१७॥

कृत्वा संयोजनां तामखिलभरतभूसंस्कृतामेलनस्य
श्रीचिन्नस्वामिपादाञ्जयपुरनगरेऽध्यक्षतायै निमन्त्र्य ।
नानाप्रान्तागतेभ्यः प्रतिनिधिविबुधेभ्यो निवासादिरूपां
कृत्वा साधु व्यवस्थां जगति सुरगिरोऽसाधयत्स प्रचारम् ॥१८॥

कालेजे संस्कृतस्य प्रचलदपि चिरान्नैकधोपाधिदानं
मध्येऽकस्मान्निरुद्धं पुनरपि मतिमान् स प्रवृत्तं चकार ।
मिर्जाइस्माइलोऽत्रावहदधिपतितां दत्तवान् शास्त्रिवर्यो
दीक्षान्तं भाषणं तद्यदिह निगमवाग्भावितं भाति लोके ॥१९॥

मध्ये विघ्नं विरच्य प्रकृतिपरिचयः कैश्चिदासीत्प्रदत्तः
किन्तु श्रीशास्त्रिणायं सहजगुरुतया त्रातवद् व्यथितोऽभूत् ।
कर्तुं विद्यालयेऽस्मिन् जयपुरनृपतौ लार्डवेवलप्रतिष्ठा-
मुद्युक्ते योजनां तामकुरुत महतोऽत्राभिनन्दोत्सवस्य ॥२०॥

मुख्यं मन्त्रित्वमाप्ते बुधमुकुटमणौ कृष्णमाचार्यवर्ये
राज्ये काञ्चित्सभां तामघटयदखिलः संस्कृतप्रेमिवर्गः ।
तस्याः पट्टाभिरामो गिरिधरगुरवोऽन्ये च विज्ञाः सदस्याः
श्यामादिः सुन्दरश्चाभवदिह सचिवश्चिन्तको नूत्नतायाः ॥२१॥

आचार्यान्तासु कक्षास्वयमिह सरणी द्वे किलारब्धुमैच्छत्
नाम्ना प्राच्यप्रतीच्ये जगति सुरगिरो मुख्यतागौणताभ्याम् ।
प्राच्यायामस्तु कश्चित्सुरगिरि निपुणः पण्डितोऽध्यक्षताया-
मालम्बेत प्रतीच्यां परमिह निपुणः कश्चिदेम्० ए० प्रधानः ॥२२॥

इत्थं विद्यालये स्यात्सपदि च विदुषोस्तुल्यसम्मानभाजोः
सङ्घर्षस्तेन चान्ये द्विदलविदलिताः स्युर्विभक्ताः स्वभावात् ।
शास्या एते विभज्येति च कपटमयी कूटनीतिः प्रवर्त्या
शिष्टैर्वर्तानियाया इह भरतभुवं यामुपाश्रित्य शास्ति ॥२३॥

इत्यासीत्तस्य दृष्टिर्न खलु सुरगिरो नापि तत्कोविदानां
कल्याणाय प्रक्लृप्ता, ध्रुवमुपरचिता शासनासक्तियोगात् ।
तस्याश्चैवोपयोगं प्रथयितुममुना पण्डितानां प्रबन्धा-
नैपुण्यख्यापनार्थं जनमतनिचयोऽध्यक्षभङ्गाय सृष्टः ॥२४॥

तस्याधारेण चायं द्विसरणिविषये शास्त्रिणं पृष्टवांस्तं
स स्वातन्त्र्येण तस्योत्तरमिदमददाद् यद् वृथोपक्रमोऽयम् ।
तच्छ्रुत्वा क्षुब्धचेताः कटुतरमरटत् किन्तु शास्त्री सुधीरः
शिक्षासंस्था अनेकाः स्वमतमिह पुरस्कर्तुमामन्त्रयत् सः ॥२५॥

श्रीहीरालालशास्त्री तदनुगतमतं दत्तवाँस्तेन सार्धं
संस्थानां सम्मतीस्ताः स जयपुरसचिवागारमानाययच्च ।
श्रीश्यामः सुन्दरोऽपि स्वविवरणमिह प्रैषयत् किन्तु संस्थाऽऽ-
कारं पारम्परीणं दृढमवितुमयं सर्वकारः स्थिरोऽभूत् ॥२६॥

श्रीमान् राजाधिराजो जयपुरनृपतेरासने सम्प्रतिष्ठां
प्राप्तः श्रीमानसिंहोऽस्नुनयनशरदस्तस्य चासन् व्यतीताः ।
राज्यप्राज्यप्रियत्वादिह रजतजयन्ती समायोज्यतेस्म
शास्त्रिप्रस्तावतश्च श्रुतिविदितविधेरप्यभूत्सन्निवेशः ॥२७॥

राज्ञीनां चापि राज्ञो रजतसमुदयैः स्यात्तुलादानमस्मिन्
शिक्षासंस्थाविभक्तं महदुपकुरुते द्रव्यमेतत्किलेति ।
देवस्थानेषु विद्याविनयपरिगतैर्ब्राह्मणैर्वेदपाठाः
कल्याणं साधयेयुः किल जगति पुराणादिपारायणानि ॥२८॥

मन्त्राणां चात्र तेषां जपमनु हवनं, देवताभ्यर्चनञ्च
स्थाने-स्थाने पवित्रे प्रतिनियतमभूद् गेहमन्त्रालयेन ।
शास्त्री नैयायिकश्चाखिलसुकृतभरं वाहितौ, तौ च तत्त-
त्कर्मानुष्ठानकार्ये द्विजवरवरणं चक्रतुस्तत्र वाचा ॥२९॥

तावच्छ्रीशास्त्रिगेहं स्वयमगमदसौ गेहमन्त्री वदान्यः
पत्रं चादर्शयत्तत्प्रविहितमनसो नाम नारायणस्य ।
तत्रासील्लेखितं यद् ग्रहगणितदृशाऽऽयोजितोऽनल्परूपो
ऽनुष्ठानानां क्रमोऽयं भवति नरपतेर्घातहेतुर्महीयान् ॥३०॥

इत्यावाच्यैव पत्रं त्वशनिपतनवत्कष्टदं मूर्च्छयेव
प्राप्तः संज्ञावियोगं क्षणमथ धृतिमान् मन्त्रिणं प्रत्यवोचत् ।
पत्रे हेतुर्न दिष्टः परमिह यदि स स्याद्यथार्थस्तदेदं
सर्वं रोद्धव्यमेवासति च पुनरिदं साध्वनुष्ठेयमेव ॥३१॥

कार्या विद्वत्सभेति प्रतिनियतमभून्मन्त्रिणाऽऽमन्त्रितेयं
तस्यां त्रिःपृष्टवान् स प्रतिबुधमिह को घातहेतुर्मतो वः।
विद्वांसस्ते न हेतुं कमपि समवदन् सम्मतास्तत्र कार्ये
किन्तु प्रश्ने तृतीये परिषदि सहसाऽभ्युत्थितो दैववित् सः ॥३२॥

प्रोचे—प्रारम्भकाले भवति नरपतेः सावधायैव तारे-
त्येनं शास्त्री व्यपृच्छत्—'किमिह नरपतेर्जन्मनक्षत्रमस्ति'।
इत्याकर्ण्यैष सूरिः प्रतिवचनमदाद्—दृश्यतां माननीयै
'र्जन्मर्क्षं नैव जानन् कथमयमकरोन्निश्चितं तन्मुहूर्तम् ॥३३॥

इत्यस्य च्छद्मवाचा न च स विचलितस्तं पुनः पृच्छतिस्म
'त्वं जन्मर्क्षं वदास्य प्रचलति यदुपादाय कश्चिद्विचारः।
इत्यादिष्टः स पुष्यं नरपति-जनुषः प्राचकाशत्तदृक्षं
यत्पर्यालोच्य शास्त्री 'शुभफलजननी सास्ति तारे' त्यभाणीत् ॥३४॥

शिष्टाचारं प्रमाणं स्व्यकृत न स यदा तर्हि विद्यालयीयो
विद्वान् विन्ध्याचलाख्यस्त्वरितमुपनयन् ग्रन्थमेनं जगाद।
'पर्यायेऽसौ तृतीये भवति न विषमा घाततारे'ति पश्यन्
भूयो नारायणोऽसावकथयदितरं श्राद्धपक्षाख्यहेतुम् ॥३५॥

शास्त्री तत्राह—राज्यासनमधिकृतवान् श्राद्धपक्षे नरेशो
नाभूत्तत्रैष दोषः कथमिति तदुपाकर्ण्य मौनोऽभवत् सः।
दृष्ट्वा तद्गेहमन्त्री स्फुटमवगतवान् सूरिषड्यन्त्रमेनत्
ज्ञात्वा सिद्धान्तपक्षं परिषदभिनयं कर्तुमादिश्य यातः ॥३६॥

तस्यां विद्वत्सभायां प्रवचनपटुना शास्त्रिणा साधु गौण-
प्राधान्ये कर्मणां ते खलु विशदयतौचित्यमस्योपदिष्टम्।
शिष्टाः सर्वेऽपि तस्मिन् सहमतिमदिशंस्तर्ह्यमी राजहर्म्ये
गायत्र्यै नामदेव्यै परिषदभिनयं दर्शयिष्यन्त ईयुः ॥३७॥

प्रातर्विद्वत्सभायां यदभवदखिलं तद्यथावत्सदस्यै-
श्चक्रे नारायणाग्रे यदिह यवनिकान्तर्हिताभिर्व्यलोकि।
तत्सर्वं लेखबद्धं व्यरचयत बुधो वृद्धिचन्द्रोऽथ तत्रा-
कार्षुस्ते हस्तलेखं स्फुटमखिलबुधाश्चापि नारायणोऽपि ॥३८॥

तद् दृष्ट्वा सापि देवी प्रमुदितहृदया कर्मकाण्डानि कर्तुं
तान्विज्ञानादिदेशामरहरिमुखतः शास्त्रिनैयायिकादीन्।
कर्मानुष्ठानमेतद्दशदिवसमितेऽनेहसि क्रान्तमासी-
देकादश्याञ्च सिंहासनपदपुनरारोहणं कल्प्यतेस्म ॥३९॥

राजप्रासादमध्ये महति पटमये मण्डपे विज्ञवर्याः
श्रीगोपीनाथवीरेश्वर - गिरिधरशर्मादयस्ते विरेजुः ।
यज्ञानामृत्विजस्तेऽप्यधिकृतपुरुषाश्चापि सामन्तभूपाः
श्री वी० टी० कृष्णमाचार्यचरणसहिता आस्थिताः स्वासनेषु ॥४०॥

श्रीशास्त्री यावदेकादशभिरनुगतस्तत्र ऋत्विग्भिरेत्य
शान्तिस्वस्त्यादिमन्त्रान् पठति नरपतिस्तावदध्यास्त पीठम् ।
गाङ्गैस्तं मन्त्रयुक्तैः सुरभितसलिलैः प्रोक्षणेनाभिषेकं
कृत्वा गन्धैश्च माल्यैरपि कुसुमविकिरणाद्यैश्च तेऽवर्धयन्त ॥४१॥

ऋत्विग्भ्यो दक्षिणासु प्रचुरविभवतो दीयमानासु मान्यः
स श्रीमान् गेहमन्त्री स्वयममरहरिर्धन्यवादान् वितेने ।
सम्पन्ने चाभिषेके तदपरदिवसे मुख्यमुख्याधिकारि-
वर्गे राजाधिराजोऽनुगुणमनुगुणान् स व्यातानीदुपाधीन् ॥४२॥

राजा पट्टाभिरामं सदकृत मुदितः श्रीकन्हैयादिलालं
यद् विद्यासागरेति प्रथितसुयशसोपाधिना माननीयौ ।
तत्तस्यैवातिरेकं कमपि कथयतिस्मात्र नूनं विवेके
लोके येनानुयुङ्क्ते जनमतिमतिमानत्र योग्येन योग्यम् ॥४३॥

उक्तो विद्यालयेऽस्मिञ्जयपुरनृपतेश्चाभिनन्दोत्सवार्थं
प्रस्तावं गेहमन्त्रिण्ययममरहरौ न्यस्तवान् शास्त्रिवर्यः ।
तत्स्वीकारे किलानाययदिह विशदे चामरे चातपत्रं
रम्यं सिंहासनञ्चेत्यतिचकितमवालोकयत्तत्र लोकः ॥४४॥

सत्कुर्वन् पूर्णकुम्भादिभिरुपकरणै राजराजं समन्त्रा-
घोषं चित्रैर्विचित्रं नवरजतमयेश्चाभिनन्दार्थपत्रम् ।
श्रीशास्त्रीत्वार्पिपत्तत्प्रणयपरिगतः संस्कृतेनोपबद्धं
नानालङ्कारभावोदयमयमुचिताचारपूर्वञ्च तस्मै ॥४५॥

सोऽपि श्रीमान् करेणास्पृशदिदमददाच्चोत्तरं तस्य हिन्द्यां
सामन्तैर्गण्यमान्यैर्जयपुरपुरुषैर्मण्डिते मण्डपेऽस्मिन् ।
तावत्कश्चिद्विडालव्रतिषु महिमवानुत्ससर्ज बिडालं
येनामात्यो व्यषीदत स च भृशमरुषद् गेहमन्त्री शुभज्ञः ॥४६॥

किन्तु श्रीमान् स राजाऽस्मयत परिषदालोचयत् किन्तु शास्त्री
प्रोचे—'देव्याः शिलाया भवति मृगपतिर्वाहनस्तज्जनोऽयम् ।'
इत्याकर्ण्याधिकारी सकलपरिषदप्यत्र तेने स्मितानि
सम्पन्नाभूत्सभेयं गृहसचिवकृतैर्धन्यवादैः सहर्षम् ॥४७॥

अस्मिन्वर्षे च दीक्षावसितिकृतमहे कल्पितोपाधिदाने
कुञ्जन्राजा स्वकीयैः प्रवचनरचनैर्बोधयामास विज्ञान् ।
श्रीहीरालालशास्त्री समभवदिह नो मुख्यमन्त्रीप्रदेशे
स श्रीमान् मानसिंहः प्रमुखपदमधाद् राष्ट्रमासीत्स्वतन्त्रम् ॥४८॥

श्रीदेवीशङ्करोऽभूदिह स मतिमान् शिक्षणे मन्त्रिताभाक्
श्रीश्यामः सुन्दरश्चाभजत सचिवतां चिन्तको नूत्नतायाः ।
इत्याशङ्किष्ट लोको झटिति हि भविता शास्त्रिणो मानभङ्ग-
श्छिन्नो नूनं भविष्यत्ययमुपरिगतस्तत्प्रतिष्ठापतङ्गः ॥४९॥

आसीत्कांग्रेससम्मेलनमिति बहवस्तत्र नेतार एता-
स्तेषां दीक्षान्तकालेऽवृणुत स मतिमन्मण्डनं टण्डनं तम् ।
स स्वातन्त्र्येण टीकामकृत कृतमतिः संस्कृते संस्कृतौ चे-
त्याहुः केचिद्बुधास्तं प्रतिवदितुमिमं श्यामसत्सुन्दराद्याः ॥५०॥

शास्त्री त्वामन्त्रितस्यात्यनुचितमतिथेर्भाषणे दोषदृक्त्वं
तन्नस्यादित्यमुष्योत्तरमपि न ददौ नापि वाक्कालमेभ्यः ।
कुर्वाणो धन्यवादं स्वमकृत स गतिमान् बुद्धिशक्ति तदुक्तां
तस्याश्चैवातिरिक्तामपि स भगवतः शक्तिमास्थापयच्च ॥५१॥

इत्थं सम्यक् सभेयं समजनि नगरं चेदमासीदयोध्या
यस्यां नित्योत्सवानामभवदभिनवोपक्रमोऽस्मिन् युगेऽपि ।
किन्त्वेतस्यां स शास्त्री परिचयमगमच्चारु विद्वज्जनानां
प्रत्येकस्मिंश्च कार्ये निहितमिव भयं वीक्षते सावधानः ॥५२॥

आसीद्विद्यालयोऽयं प्रथममधिकृतौ शिक्षणादेशकस्य
विच्छिन्नीभूय तस्मादयमिह सचिवाधीनतायां गतोऽभूत् ।
स श्यामः सुन्दरोऽस्मिन् पुनरपि रचनां ध्यातपूर्वां करिष्यन्
शिक्षामन्त्रिप्रकाशे विवरणमखिलं न्यस्तवानात्मनीनम् ॥५३॥

स श्रीशास्त्रिप्रयुक्तं विवरणमपि समुपन्यस्यतामित्युवाचा
पश्यच्चैवानयोस्तद् बलमबलभयं संश्रये सम्मतीनाम् ।
दृष्ट्वा श्रीशास्त्रिपक्षे समतबहुलतामाह तस्मै न किञ्चित्
कर्तव्यं शिष्यतेऽस्मिन्निति चलति यथा तत्तथा चालनीयम् ॥५४॥

भङ्गेनानेन दूनो मनसि स सचिवः शास्त्रिणे द्रुह्यतिस्मे-
त्यागाद्विद्यालयेऽयं विरमति सहसाऽऽभ्रम्य चैवापयातः ।
आज्ञां कार्यालयाच्च 'त्वरितमुपनमेच्छास्त्रिवर्यः किलेति'
प्रेष्यासौ वैद्यजिब्बू परिवृतविभवो वीक्षतेस्मास्य मार्गम् ॥५५॥

16

अभ्यायाते तु तस्मिन् प्रतिमुखनयनोऽज्ञातवद् व्यस्तवच्च
नास्मै वेत्रासनाद्यं किमपि समदिशत्कर्तुमेवावमानम् ।
शास्त्री तत्रोपविष्टः स्वयमथ सचिवः प्राह—नास्त्येव बुद्धि-
र्युष्मद्विद्यालयेऽस्मिन्नुपगतविदुषां तावदध्यासनेऽपि ॥५६॥

कश्चिद् वातायनेदृक्, स्वपिति तदपरोऽन्यश्च जृम्भां करोति
कोऽप्यालिङ्ग्योपधानं प्रलपति च परस्थूत्करोत्युत्थितार्धः ।
द्रष्टा विद्यालयस्य क्वचिदुपविशति प्रेक्षते नास्यकार्यं
सम्प्रत्येवागतोऽहं सकलमपि भवत्कार्यजातं निरीक्ष्य ॥५७॥

शास्त्री तस्याविषह्यं वचनमिदमुपाकर्ण्य तत्कालमेवो-
त्थायायातो वहिष्टादकथयदथ तं—'त्यज्यतेऽध्यक्षतेयम् ।
कार्यं विद्यालयेऽस्मिन् क्षणमपि न परं कर्तुमेषोऽस्मि शक्तो
मोक्तव्योऽहं किलास्मा'दिति लिखितमभूच्छास्त्रिणा त्यागपत्रम् ॥५८॥

भृत्येन प्रापितं तत्प्रमुदितमनसाऽपीपठच्छ्यामशर्मा-
कार्षीट्टीकाञ्च काञ्चित्स परुषहृदयो मादृशैर्नानुवाद्याम् ।
वृत्तं दावानलाभं प्रसृतमिदमभूत्सर्वतो राजधान्यां
शिक्षामन्त्री च बुद्ध्वाऽभवदतिचकितो मुख्यमन्त्री च रुष्टः ॥५९॥

शिक्षामन्त्री कृपाशङ्करमनुजममुष्यान्तिकं प्रेष्य सद्यः
सम्मानामन्त्रणेन त्वरितमिममिहाहूतवान् शास्त्रिवर्यम् ।
आलप्यानेन साकं सकलमपि समाचारमाश्रुत्य तस्मा-
न्मुख्यं तं मन्त्रिणं तन्निखिलमपि निवेद्याकरोज्ज्ञातवृत्तम् ॥६०॥

श्री श्यामं मुख्यमन्त्री निकटमगमयद् दूरभाषेण तूर्णं
वृतान्तं पर्यपृच्छत्तदभिहितमथ व्यश्वसीन्नातिखिन्नः ।
गत्वा तान् क्षामयस्वेति च तमगमयच्छास्त्रिगेहं स तत्र
भूयो भूयोऽनुरुन्धन् बहुभिरनुनयैः क्षामयामास दोषम् ॥६१॥

नीत्वा चैनं स विद्यालयभवनमुपावेश्य चैवासने तं
ह्रीणो गेहानयासीत्कथमपि सचिवः सोढवांस्तं विडम्बम् ।
श्री हीरालालशास्त्री स्वयमिह विदुषां क्षेममार्गे प्रवृत्तः
सर्वेषां वृत्तिवृद्धिं सपदि विहितवान् संस्कृताध्यापकानाम् ॥६२॥

यातो वीरेश्वरः स्वस्तदखिलमकरोदन्त्यकर्मास्य गोपी-
नाथः शास्त्री च सर्वं सविधि च तदिहाकारयत्कर्मदक्षः ।
अस्मिन्वर्षे च दीक्षावसिति समुदितोपाधिदानेन हीरा-
लालोऽसौ मुख्यमन्त्री प्रवचनविधिना चानयत्तान् प्रसादम् ॥६३॥

दृष्ट्वा सर्वानुकूल्यं प्रमुदितमनसस्तस्य संरक्षणार्थं
देवीं कल्याणधानीं सकलहितकरीं मित्रभावप्रपन्नाः ।
स्तोतुं चक्रुस्तदानीं रसभरभरितैः स्तोत्रपुञ्जैर्दयार्द्रां
भक्त्या तेषां प्रसन्ना सुफलवितरणं कर्तुकामेव जाता ।।६४।।

श्री हीरालालशास्त्रिण्यधिकृतिविरहं लम्भिते शास्त्रिवर्यः
श्री बी० एन्० झा गुणाढ्यं स्वनयत विविधोपाधिदीक्षान्तकाले ।
स श्रीमान् संस्कृतेनाकृतमधुरतरं भाषणं चोत्सवोऽयं
सम्यक् सम्पन्न आसीदिति मुदितमभून्मानसं पण्डितानाम् ।।६५।।

नूत्नोऽभूद्वित्तमन्त्री जयपुरविषये संस्कृतं प्रत्युदस्तः
श्रीमान् नारायणाख्यस्तमपि स मतिमान् प्रीतिमंतं चकार ।
येनायं माध्यमिक्याः प्रभृति सुरगिरोच्चैस्तरश्रेणिसीमां
यावच्छिक्षाऽनिवार्या भवतु नियतमित्यन्वहं चेष्टते स्म ।।६६।।

सत्यं सत्याग्रहस्य ध्रुवपरिणतिरासीदियं तत्र राज्ये
सम्पन्नाभूत्तदर्थं समितिरिह यया कारिता साऽनिवार्या ।
आसँस्तस्याः सदस्याः स्फुटमिह मथुरालाल-शर्मादयस्ते,
श्रीकालूलालमुख्याः स्वयमिह मतिमानेष संयोजकोऽभूत् ।।६७।।

श्रीबी०एन्०झा कदाचिद्विहितमनुनयं पालयन् प्राप्त आसीत्
सत्रा नारायणेनाप्यधिकृतिपरमेणेक्षितुं कार्यजातम् ।
दृष्ट्वा प्रत्यागमिष्यन् पुनरपि विनयाच्छास्त्रिणा नीयमानो
योग्यानध्यापकांस्तान् समुचितभृतिकावञ्चितान्वीक्ष्य खिन्नः ।।६८।।

खिन्नेनानेन नुन्नः सपदि च गणकं लेखकं च प्रहातुं
प्राचार्यं प्राह सोऽपि व्ययविवरणकाद्यैः सह प्रैषयत्तौ ।
दृष्ट्वा नारायणस्तत्प्रतिपुरुषमिहायोज्य योग्याञ्च वृद्धिं
श्री बी०एन्० झा समीपे सपदि प्रहितवान् सोऽपि तच्छास्त्रिदृष्ट्यै ।।६९।।

तद् दृष्ट्वा शास्त्रिवर्यः कृतिषु कुशलतां स्तौति नारायणस्य
मत्वा कार्यालयञ्च प्रवितरति स पुरा धन्यवादानमुष्मै ।
द्वित्रानेवात्र बिन्दूनभिलषति धनाच्चातकोऽयं तृषार्तः
स त्वम्भोवृष्टिसृष्ट्याऽखिलमपि भुवनं पूरयत्यञ्जसैव ।।७०।।

इत्यौदार्यं तदीयं स्तुवति सति पुरः संस्कृते दोषभाषी
पृष्टो नारायणोऽयं किमिति तव वचोऽन्योन्यवामं शृणोमि ।
तुष्टाः स्युः संस्कृतज्ञा इति तव यतनं, संस्कृते दोषदृष्टि-
श्चेति व्याघातमेनं कथमिव सहतां मानसं मामकीनम् ।।७१।।

स स्मित्वोवाच निन्दाम्यहमिह सुगमं नेति तत्संस्कृतं व-
स्तस्मिन् दक्षा भवन्तः पुनरिति भवतस्त्वाद्रियेऽन्तर्मनस्तः।
अस्त्वद्यास्यानुरूपं प्रणयभृतिदलं प्रेरयाध्यापकांश्च
गृह्णन्त्वद्यैव वृत्तिं नवमिति रचितां मा स्म भूत्कोऽपि विघ्नः ॥७२॥

अस्मिन् काले नवीनोऽक्रियत सुरगिरां कोऽपि निर्देशको यः
सोऽभून्नो संस्कृतज्ञो न च भरतभुवः संस्कृतौ सानुरागः।
इत्येतस्मिन् प्रबन्धे विमतिमनुदिशन् संस्कृतार्थं तदन्यः
कश्चिन्निर्देशकः स्याद्य इह सुरागिरां सेवको वेदिता स्यात् ॥७३॥

राजस्थाने च सर्वास्वपि तरतमता पाठशालासु कार्या
तामाधृत्यासु मानो भवतु नियमितो वेतनस्यापि चेति।
प्रस्तावः स्वीकृतोऽभूदथ तरतमताज्निर्णयार्थं नियुक्तः
शास्त्री पट्टाभिरामः प्रतिदिशमगमत्पाठशालाः सुहृद्भिः ॥७४॥

प्रत्यागत्य स्वदृष्टिं त्वधिकृतपुरुषायार्पिपत्तत्फलेन
राजस्थाने नियुक्तः पृथगिह मतिमान् माधवः कृष्णशर्मा।
अद्याप्यास्ते विभागः स खलु सुरगिरां तत्र सञ्चाल्यमानो
यस्मिन् श्रीशास्त्रिशिष्यो वहति कृतिभरं रामनारायणाख्यः ॥७५॥

प्रान्तेऽस्मिन् संस्कृतस्य प्रचलति सुचिराद्यः परीक्षाक्रमोऽयं
तस्य स्यान्मान्यतेति न्ययमयदसुकं विश्वविद्यालयेन।
तेनाद्यैताः परीक्षा विधिवदुपधृता विश्वविद्यालयेन
राजस्थानस्थितेन प्रतिशरदमयं चाप्युपाधीन् प्रदत्ते ॥७६॥

इत्युन्नेतुं समन्तादयममरगिरं सद्गुरुः पण्डितानां
कुर्वन् कार्याण्यनेकान्यभजदिह पुरोगामितां नेतृताञ्च।
स्थानीयद्वेषजोष्मा मनसि विचलतां काश्चिदुत्पादयंस्तु
राजस्थानस्य किञ्चित्प्रथयति स पुरा दैवगं प्रातिकूल्यम् ॥७७॥

केचिद्विद्याभिरक्षां विदधति नवलग्रन्थनिर्माणसक्ता
अन्ये शिष्येषु सम्यग्वितरणरुचयोऽध्यापनैकार्थलग्नाः।
अस्माकं तूभयं तच्छ्रितवति विदुषि श्रीलपट्टाभिरामे
प्रीतिः कापि प्रयुङ्क्ते कमपि सविनयं वाक्यपुष्पोपहारम् ॥७८॥

सन्त्यत्रैके गुणज्ञा अपि गुणरहिताः सन्ति चान्ये गुणाढ्या
अप्येतज्ज्ञानशून्या इति भुवि विरलाः स्रग्धरास्ते भवन्ति।
ये जानन्तो गुणांस्तान् स्वयमपि च गुणांस्तान् दधाना विवेकाद्
ग्राहं ग्राहं परेषां गुणकुसुमचयं तत्स्रजं गुम्फयन्ति ॥७९॥

नष्टा साकेतराज्याधिकृतिरिति बुधैरत्र विद्याधिराज्ये
क्लृप्तो लोकाभिरामे भगवति सरसः कोऽपि पट्टाभिषेकः ।
तेनासौ विश्रुतोऽभूत्रिभुवनवलये हन्त ! पट्टाभिरामो
यो मोहाख्यं दशास्यं जयति जनकजामात्मविद्यां प्रपन्नः । ८०॥

यत्रोपाध्याय-मानास्पदमगमदयं क्षिप्रमाचार्यभावं
यद्वा यान्त्येव सर्वोन्नतपदमचिरात्सर्वतन्त्रस्वतन्त्राः ।
आश्चर्याचार्यभावं बुधवरमिममाकृष्टचेताः सचेताः
स श्रीमान् मालवीयोऽनयदतिविनयाद्विश्वविद्यालयं स्वम् ॥८१॥

सद्भिश्चास्यानुकार्यौ सकलकलिमलध्वंसिनौ सद्गुणौ तौ
शिष्येषु स्नेहभावः सहजकरुणया सम्भृतोऽनुग्रहश्च ।
याभ्यां निघ्नीकृतोऽयं निजगृहवसतिं भोजनं वस्त्रजातं
शिष्येभ्यः सम्प्रयच्छंस्तनयसदृशतांताननैषीदजस्रम् ।'८२॥

ख्यातिं चाध्यापनोत्थां प्रतिदिशमथितां शृण्वतां मानसेषु
प्रादुर्भूतोऽतिलोभो जयति जयपुरे वासिनां कोऽप्यपूर्वः ।
बुद्ध्वा यस्यानुरोधं प्रभवति न पुरा मालवीयोऽपि रोद्धुं
खिन्नश्चित्तेन चादादिममतिदयितं सोऽत्युदारस्त्वमीभ्यः ॥८३॥

अत्राध्यक्ष्यं दधानो जयपुरसुरगीःशालिविद्यालयस्या-
नेकान् श्रीमण्डनाद्यान् व्यवहृतिनिपुणान् शास्त्रदक्षांश्च कृत्वा ।
राज्ञश्चापि प्रजानां मनसि बहुतरं मानमुल्लास्य कीर्त्या
वैदुष्योद्भूतयाऽगात्किल भरतभुवः सर्वतो दिग्विभागान् ॥८४॥

श्रीचिन्नस्वामिनाऽऽशीर्वचनमिव निजं दत्तमासीद्यथार्थं
सोऽयं दत्तो वरोऽभूज्जयपुरवसता मालवीयेन हार्दः ।
अत्रत्याः केचिदज्ञाः परमतिविबुधम्मन्यभावादधन्या
ईर्ष्याकालुष्यदोषादिममतिकुशलं नो सहन्तेस्म मन्दाः ॥८५॥

वाल्मीकीयं तु रामायणमयमनिशं स्वान्तशान्त्यै पपाठे-
त्याह्वानार्थं स तन्त्रीं स्वमधिगतवान् कालिकाताप्रणीताम् ।
'बह्व्यः सन्त्वाशिषस्ते वरणमिदमिह स्वीकुरुष्वेति पत्रम्'-
चिन्नस्वामीति तत्रोल्लिखितमयमवालोकयद्विस्मितः सन् ॥८६॥

अन्या तन्त्री समायादपसरतिरवौ विश्वविद्यालयाद्या-
'सम्मानेन प्रवक्तास्युपकुलपतिना त्वं नियुक्तो हृदेति ।'
पत्रे पश्यन्तु सर्वं विशदमिति च सासूसुचद्येन हृष्टो
घस्राभ्यां प्राप पत्रे युगपदिह गुरोर्विश्वविद्यालयाच्च ॥८७॥

पूर्वस्मिन्-'विश्वविद्यालयकृतिविरतोऽहं नियुक्तोऽस्मि शोध-
प्राचार्यत्वेन, रिक्तं तदिह मम पदं स्वीकुरुष्वे' ति दिष्टम् ।
अन्यस्मिंश्चोक्तमासीत्-'कुलपतिवचनादवृणमहे संस्कृतार्थे
सङ्घायेऽस्मिन्प्रवक्तुर्महिमवति पदे रिच्यमाने भवन्तम् ॥८८॥

इत्यासाद्यानवद्यं द्वयमपि दलयोः प्रीतिसम्मानपूर्णं
षट्शत्या रुप्यकाणां भृतिमथ वयसः पञ्चषष्टेश्च सीमाम् ।
एकैकं श्लाघनीयं तमिममिह शमं नोपयन्तं महान्तं
किन्नाकर्षेद् गुरूणामनुमतमिति सोऽकाङ्क्षतान्तः प्रयातुम् ॥८९॥

स श्री जी० स्वामिनाथं तदनु च मथुरालालशर्माणमेत्या-
पृच्छत्किं कार्यमस्मिन्निति मतमुभयोर्भिन्न-भिन्नं स लेभे ।
रुष्येन्नारायणो मद्गमनविवरणादित्यनेनात्र चोक्ते
तत्राश्वं स्वामिनाथोऽभिमुखयितु मिवानीतवान् शास्त्रिवर्यम् ॥९०॥

श्रुत्वा नारायणस्तत्प्रथममतिरुषा प्रत्यवादीत्स पश्चा-
ल्लाभालाभौ विचिन्त्यानुमतिमधिकृतात्प्राप्तुमादेशयत्तम् ।
तज्ज्ञात्वा हृष्टचेताः स तमवददिदं त्यागपत्रं प्रदाय
गन्तुं शक्यं भवद्भिस्तमथ स मथुरालालशर्मा न्यगादीत् ॥९१॥

राजस्थानेन पुण्यैरयमतिमतिमान् पण्डितः प्राप्त आसी-
दस्मै दत्वावकाशं विसृज सविनयं वर्षयुग्मस्य हेतोः ।
तत्तेनाङ्गीकृतं च प्रहितमथ च मन्त्रालये शिक्षणस्य
तत्रत्यैः स्वीकृतं तद् भृतिरहितमहो गोरवान्न्यायतश्च ॥९२॥

निर्यास्यत्येवमस्मिन् जयपुरनगरश्रीर्हृदि म्लानिमाधा-
दश्रीश्चाधात्प्रहर्षं, सति वसतिपुरे सा हि मान्द्यं स्म धत्ते ।
सद्भिर्विद्वद्भिरस्यादरभरसहिताऽकारि पूजा महद्भि-
रासीद् दुःखं महद्वै विबुधपरिवृतं तत्पुरं मुञ्चतोऽस्य ॥९३॥

भारं विद्यालयस्यार्पितवति सचिवे माधवे कृष्णशर्म-
ण्यासंस्ते वृद्धिचन्द्रप्रभुशिवसहिताश्चेतसाऽत्यन्तखिन्नाः ।
निक्षिप्याथो कुटुम्बं निखिलमपि पुरे. प्रस्थितः कालिकातां
नासीद् दुःखस्य लेशोऽप्यनभिमतमिदं तत्पुरं मुञ्चतोऽस्य ॥९४॥

चतुर्थः सर्गः

प्राप्यासौ कालिकातां गुरुवरचरणे सादरं सम्प्रणम्य,
पाप्ताशीर्वादराशिः पुनरिव नवतामन्वभूज्जीवनस्य।
अन्येद्युश्च प्रभाते प्रमुदितहृदयः सैष कृत्वाह्निकाद्यं,
श्रीमच्छाताकडीभ्यो गुरुवरनिकटे सोऽग्रहीत्कार्यभारम् ॥१॥

यातश्चाध्यापनार्थं समयविभजनं प्राप्य कैश्चित्प्रबुद्धै-
श्छात्रैरध्यापकैश्च प्रथमपरिचयं शातकड्योपनीतैः।
छान्दोग्यादेस्तुभाष्यं, सहविवृतिचतुःसूत्रिका भूमिकाथो
ऋग्वेदेऽध्यापनीयेत्यभवदुपहितं तत्र तत्पाठनार्थम् ॥२॥

यातो ग्रीष्मावकाशेष्वथ गृहजनं कालिकातां तु नेतुं
किन्त्वत्रावासलाभोऽसुकर इति गमिष्यंस्तु वाराणसीं सः।
तावद्विश्वेश्वरेणाधिगतमिह गृहं योग्यमित्यर्थितोऽयं
मार्गे वासन्तराये वसतिमकलयत्कालिकातामुपेतः ॥३॥

व्याख्यानाध्यापनाभ्यां सपदि सुरगिरा छात्रवृन्दे विशेषा
त्सम्मानं प्राप्यचित्ते प्रशममथ शमं चानुभूयैष भूयः।
सन्वापं चेतसस्तं जयपुरजनितं विद्रुतं क्वाप्यपश्यत्
शङ्कापङ्कापयानाद् भ्रमरहितमभूत्तन्मनः सत्सरोवत् ॥४॥

काले विद्यालयोपस्थितिरथ समयेऽध्यापनं चाधिवेलं
प्रत्यायानं निवासे, प्रतिनियतमभूत्तत्र कार्यत्रयं यत्।
तस्मात्तत्रावकाशः क्वचिदपि मनसोऽशान्तिहेतुर्न जात-
श्छात्राश्चात्र प्रबुद्धाः प्रकृतिसविनयाश्छात्रिकाश्चाप्यभूवन् ॥५॥

मीमांसावेदपत्राण्यथ च समधुरं तत्रसाहित्यपत्रं
वैशिष्ट्यादेष तत्तद्विषयनियमितान् पाठयत्यादरेण।
साधारण्येन सर्वानपि शतकमितान् वेदपत्रं तु तत्रा-
ध्याप्यावाप्नोत्स तोषं सुरगिरि पठतां संख्यया प्रख्यया च ॥६॥

वङ्गीया दाक्षिणात्ये गुरुसदृशि गुरौ श्रद्दधाना भृशं ते
प्रत्यक्षं प्रान्तवादादिकमबलजनव्याजमात्रं वदन्ति।
आचार्यं कामयन्ते न तु विषयविशेषोद्भवं शिक्षकं ते
येषां श्रोत्रे न नष्टे न च हृदयमपि क्षीणमास्ते बहूनाम् ॥७॥

आचार्यः सात्विकः स्याद्यदि वरुणदृशः सन्तु शिष्याश्च पूर्व्याः
पूर्व्यो वा स्यादयं चेदथ च पठितयः स्युः प्रतीपास्तथापि ।
तस्मिन् स्निह्यन्ति शिष्या मतिमति विषयाध्यापनेषु प्रहृष्टा
दुःशीले कोऽनुरज्येत्प्रकृतिपरुषके शास्त्रमूके प्रगल्भे ॥८॥

तस्मादस्माकमेष प्रवचननिपुणोऽध्यापकोयं यमेव
देशं प्राप्तस्तमेव स्वचरितवचनैरात्मवश्यं चकार ।
स्वावासे देववाणीपरिषदपि कृता शास्त्रिवर्येण काचि-
त्प्रौढानां कार्यभाजामधिजिगमिषतां संस्कृताध्यापनाय ॥९॥

अस्याः साहाय्यतोऽयं समदृभदखिलाद्वैतसद्ग्रन्थकोशं
श्रीकाञ्चीशङ्करार्याद्विरुदमधिगतः शास्त्ररत्नाकरेति ।
वङ्गीयाः सामशाखा अपि भुवि यजुषा संस्क्रियन्ते न साम्ना
सा रीतिः शङ्करार्यप्रणुदितमनसा शास्त्रिणा शोधिताभूत् ॥१०॥

तत्रत्यैर्धार्मिकैश्चोद्यमपतिभिरयं सङ्गतो द्रव्यराशीन्
सङ्गृह्यच्छात्रवर्गानपि च स भवनं भाटकेनोपगृह्य ।
पश्चाल्लक्षद्वयेनापरमिह भवनं सम्परिक्रीय तस्मिन्
साम्नामध्यापनार्थं गुरुकुलविधयाऽऽद्याश्रमं क्लृप्तवान् सः ॥११॥

दत्तं लक्षद्वयेऽस्मिन् स्वयमपि गुरुभिस्तत्र त्रिंशत्सहस्रं
धन्यैरन्यैर्वदान्यैः सुबहु च विरलामैर्हताद्यैर्धनिष्ठैः ।
विद्वद्भिः श्रीचटर्जीप्रभृतिभिरपि प्रोद्यमोऽस्मिन्नकारि
स्तम्भः कीर्तेरिवायं विलसति भवनं वेदपूर्वं स्वनाम्ना ॥१२॥

अस्मिन् एस्० बी० नृसिंहः श्रममकुरुत यं, यं च मन्त्रं मुखर्जी-
भट्टाचार्याविदत्तां, यमपि च गुरवो दत्तवन्तो वरं ते ।
तत्सर्वं श्लाघनीयं प्रयतनमथ च श्रौतिनः शङ्करस्य
यस्यैवाध्यापकत्वे प्रचलति कलिकातासु विद्यालयोऽयम् ॥१३॥

भूयो ग्रीष्मावकाशे गृहजिगमिषया यावदेति स्वदेशं
तावत्तं चेदरम्बड्विति जनवसतौ श्रीगुरुं वेत्ति रुग्णम् ।
पक्षाघातेन भुग्नं तमथ स शयितं वीक्ष्य वेलूररुग्णा-
गारे गाढं विषण्णः कतिचन दिवसान् सेवया नीतवान् सः ॥१४॥

माभूत्कार्यातिपातः स इति स गुरुणा गन्तुमादिष्ट आसी-
न्मद्रासे वीक्ष्य कार्यं स्वयमथ सुकृती तत्र काञ्चीमयासीत् ।
नूत्नान् श्रीशङ्करार्यान्नि पथिकतां प्राप्य भूयोऽपि कार्यं
मद्रासे स स्वकीयं सपदि विहितवान् यातवान कालिकाताम् ॥१५॥

तस्यां मासद्वयेनागतवति च गुरौ तच्चिकित्सार्थमेष
श्रीमद्योगीन्द्रनाथं भिषजमुपगतः प्रार्थयामास नम्रम् ।
चिन्नस्वामी गुरुर्मे झटिति स भजतां नीरुजत्वं यथाऽयं
चेष्टस्व त्वं तथेति प्रथितमतिरसौ तच्चिकित्सामकार्षीत् ॥१६॥

नूनं रोगे चिकित्सा प्रभवति न मृतावित्ययं चेष्टमानः
पक्षाघातद्वितीयाहृतिमपि विनयन्नाशकत्तां विनेतुम् ।
ब्राह्मं वर्चस्तदीयां तनुमति तनुतां प्राप्नुवन्तीं विहाया-
कस्मात्क्वापि प्रतीतं सकलमपि जनं ध्वान्तलीनं चकार ॥१७॥

दाराः पुत्राश्च सर्वेऽप्यनुजपरिजनाः पार्श्वगा अप्यमुष्य
प्राणान् रोद्धुं न शक्ता इव विवशतया रोदितुं ते प्रवृत्ताः ।
तानाश्वास्यातिदुःखं निजहृदयगतं चाप्यवष्टभ्य कश्चि-
ज्जे०त्री० त्याख्योऽन्त्यकर्मण्यनुददखिलमपि प्रेष्ठवृन्दं सशोकम् ॥१८॥

कृत्वा चान्त्येष्टिकर्मापरदिवसमुखे शेषकर्माणि कर्तुं
ते काशीमभ्युपेताः सविधि सकलमप्याचरन् कर्मजातम् ।
श्रीशास्त्री निःसहायं स्वमिव च कलयन् कालिकातां गतोऽपि
चित्ते ध्यायन् गुरुं तं करचरणमुखैरङ्गकैरास्त कार्ये ॥१९॥

संयोगात्तत्र मान्यः स भुवनविदितः पाणिपात्रो महात्मा
दुर्गापूजावकाशे किमपि महदनुष्ठातुकामोऽत्र वङ्गान् ।
आयातः शास्त्रिणं चादिशदिह 'विषमामार्यसामाजिकानां
वेदव्याख्यां निरोद्धुं श्रुतिविटपमहामेलनं सन्तनुष्व ॥२०॥

सज्जा काचित्तदर्थं श्रवणपुरभुवि प्रस्तुतास्ते तमेनां
सम्पूर्यैकैकविप्रालयपरिमितया संख्यया रूप्यकाणाम् ।
मध्येव्यायामशाल तदनुगुणमहामण्डपं कलयित्वा
यज्ञान् पाठान् श्रुतीनां विरचय सुभगा वादगोष्ठीश्च तत्र ॥२१॥

तस्यादेशात्तु शास्त्री सकलमपि यथावद्वितेनेऽथ दिग्भ्यः
सर्वाभ्यो वैदिकानामुपगमनविधौ चापि पौराणिकानाम् ।
चातुर्मास्यादिकेष्टीः कलयितुमिह सा निर्मिता यज्ञशाला
आवासादिव्यवस्था व्यरचिषत सती पाकशाला यथेष्टम् ॥२२॥

अन्यैरप्यादृताऽभूदिह बहुविधता स्वव्यवस्थासु सत्रं
सौविध्यं कल्पयद्भिर्निजबुधगणसम्मानयोग्या पृथक् सा ।
मध्याह्ने वादवेलाऽभवदिह नियता शङ्कराचार्यसाक्ष्ये
वादार्थं पक्षयोस्ते गिरिधरसदृशाः पण्डिताः सङ्गताश्च ॥२३॥

संक्षेपाद्वादगोष्ठ्या विवरणमखिलं प्रास्तवीच्छास्त्रिवर्यः
सायं साधारणायां परिषदि विततं पाणिपात्रः स्वयञ्च ।
सिद्धे सम्मेलनेऽस्मिन् कतिपयविदुषः प्रार्थयत्कालिकाता-
मागन्तुं ते च गत्वा सविधि विदधते स्मात्र तां तां श्रुतीष्टिम् ॥२४॥

गोहाट्यां शास्त्रिवर्योऽसमनवसभयाऽऽमन्त्रितोगात्स तस्यां
दीक्षान्तं भाषणं चाकुरुत सुरगिरा श्रोतृकर्णामृतेन ।
वाञ्छन् पुत्र्या अरोगं स जिगमिषितवांस्तां मसूरीं सुशीतां
द्वार्येकं रक्तवस्त्रावृतपुटकधरं सत्रिपुण्ड्रं त्वपश्यत् ॥२५॥

साश्चर्योऽपृच्छदेनं किमिदमिति कुतश्चेति स प्राह तस्मै-
'श्रीमद्भिः शङ्करार्यैः प्रहितमिममिह स्वीकुरुष्व प्रसादम् ।
श्रीमत्पुत्र्या अरोगार्थकमुपनयथा एनमस्यै किलेति'
प्रादात्तत्कुङ्कुमाद्यान्वितमतिशयितं यन्त्रमाधतुमस्यै ॥२६॥

तं नम्रेणैव मूर्ध्ना स्व्यकृत करपुटेनार्पिपत्पुत्रिकायै
सा यन्त्रं धारयित्वाऽतिलकयदलिकं कुङ्कुमेनाक्षतेन ।
प्रस्थायाथो मसूरीमधिवसति पुरा मासयुग्मेन तत्रा-
भूदारोग्यञ्च तस्या भवति न महतां निष्फला काचिदाशीः ॥२७॥

तत्र श्रीपाणिपात्रो यतिरपि दशकं वासराणां न्यवात्सीत्
सेवायाः शास्त्रिणेऽस्मै स्ववसरमददाद्यत् कुटुम्बान्विताय ।
तत्तस्यामङ्गलानामलमुपहतये, सिद्धये मङ्गलानां
चासीत्सत्साधुसेवा किमु न वितनुते वाञ्छितं गेहभाजाम् ॥२८॥

दीक्षामादाय तस्मादधिकतरमसौ भ्राजमानो द्विजाग्र्यः
सत्पुत्र्यारोग्यसि॒द्ध्यै हितमिति विषमं शल्यकर्माप्यकार्षीत् ।
नीरोगां तां सरस्वत्यभिधगुणवतीं ग्राहयामास पाणौ
ज्ञाने शीले कुले चाप्यतिशयमयता रामनाथेन यूना ॥२९॥

यातश्चित्तौड़दुर्गेऽप्यखिलभरतभूसंस्कृतामेलनेऽसौ
शिक्षागोष्ठ्याः किलाध्यक्षपदमधिगतोऽवीवृधत्तत्र शोभाम् ।
नाथद्वारादितीर्थेष्वथ सपरिजनः पर्यटन् कालिकातां
यातः सामूहिकास्तानुपनयनविधीन् क्लृप्तवान् स प्रवक्ता ॥३०॥

काश्यां श्रीपाणिपात्रैः श्रुतिविटपमहामेलनं प्रस्तुतं य-
त्तन्मन्त्रित्वं दधानोऽघटयदयमिदं सर्वथा श्लाघनीयम् ।
शिष्ये श्रीमण्डनेचाखिलभरतभूसंस्कृतामेलनस्य
स्तुत्योत्साहे महामन्त्रिणि सति महदायोजयत्कालिकाता ॥३१॥

मन्त्रित्वेनात्र सद्यः समितिघटनया स्वागताध्यक्षतायां
साहू शान्तिप्रसादोऽव्रियत नरहरिर्गाडगिलश्चातिथित्वे ।
श्रीराजेन्द्रप्रसादो महिमनि स महान् राष्ट्रपो भारतस्या-
ऽऽध्यक्ष्ये सम्मेलनस्याव्रियत सविधि च स्वागतेनादृतोऽभूत् ॥३२॥

अस्मिन् नानासभानां विविधपरिषदां नैकगोष्ठीमयीनां
कृत्वा संयोजनानि प्रकटितमभवच्छास्त्रिणा दाक्ष्यमग्र्यम् ।
विद्यावाचस्पतित्वे सदकृत विदुषः पञ्चषान् राष्ट्रपोऽसौ
तेषामाद्योऽयमासीदखिलजनपदव्याप्तशिष्यप्रशिष्यः ॥३३॥

श्रुत्वाऽसौ वेदघोषं सविनयमखिलान् पण्डितान् पूजयित्वा-
ऽऽत्मानं मेने कृतार्थं प्रमुदितहृदयो राष्ट्रपः संस्कृतेष्टः ।
साहूशान्तिप्रसादोऽपि स निजसदने संस्कृतज्ञान् समस्तान्
सम्मानेनार्चिचत्तानिदमखिलमसौ चास्तवीत्कार्यजातम् ॥३४॥

कालेजे किन्तु रिक्ते दधतमपि परां योग्यतां तां प्रवक्तुः
स्थाने यन्न न्ययुङ्क्तनधिकृतिसमदास्तन्न सेहे गुणज्ञः ।
श्रीमान् नीहाररायः कुलपतिभिरथ प्राप्तवित्ताधिकारैः
साकं सम्मन्त्र्य तस्मै पदमिदमददात्पक्षपातं विनिन्दन् ॥३५॥

योगे त्वष्टग्रहाणां पुनरपि समिता लोककल्याणकामा
वङ्गानां राजधान्यामिह वरयतयः पाणिपात्रादयस्ते ।
तैस्तत्रायोजनानि प्रकृतविषयकाण्यक्रियन्तात्र यानि
सर्वेषामेव तेषां व्यवहरणभरे शास्त्रिवर्यो नियुक्तः ॥३६॥

षाण्मासिक्यां विसृष्टौ जिगमिषति गृहं संस्कृताध्यक्षवर्ये
श्रीमान् नीहाररायस्तदधिकृतपदं शास्त्रिवर्याय दित्सुः ।
आहूयैनं दिदेशाखिलमपि भवता कार्यमाभालनीयं
वैधं चादेशपत्रं त्वरितमिह भवान् प्राप्नुयादेव मत्तः ॥३७॥

इत्यादिष्टः स यावद्वहति धुरमिमां तावदाङ्ग्लप्रवीणाः
सम्माने संस्कृतस्य क्षुभितमिव मनः सान्त्वयन्तो निशायाम् ।
सम्प्राप्ताः संस्कृताध्यक्षशरणमयि किं कर्तुमिच्छस्यनर्थं,
मा यासीरन्यथा स्यादनय इह महान् संस्कृतज्ञस्य मानात् ॥३८॥

तैरेवं प्रेरितोऽसौ स्थगयितुमगमत्सोऽवकाशान् गृहीतान्
आङ्ग्लेनाध्यापयन्तः सुरगिरमिति ते मत्सराः शान्तिमापुः ।
षण्मासानन्तरं चोपगतवति पदादेव विश्रान्तिमस्मिन्
श्रीमान् नीहाररायोऽगमदथ शिमलां चात्रविज्ञापनाऽभूत् ॥३९॥

शास्त्री जातस्तदर्थी परमिह समयेऽकार्षुरेते न किञ्चिद्
भूयो विज्ञापनायां न स निजमनसो व्यक्तवांस्तत्र भावम् ।
निर्णेतारस्तमेवोचितमवदधते पूर्वपत्राश्रयेण
किन्त्वेतेनास्य हर्षो न च न च समभूत्कोऽपि चान्तर्विषादः ॥४०॥

येषां चेतोऽव्यवस्थं भवति तदुदितः सम्प्रसादोऽपि भीष्म;
इत्यस्यासीद्वितर्कः स भृशमवितथोऽभून्निशाव्यत्ययेन ।
निर्णीतिर्व्यत्ययोऽभूद् विघटकदलगोऽध्यक्ष आसीत्प्रभाते
शास्त्री यातस्त्रिमास्या अधिकृतिविततेनावकाशेन देशान् ॥४१॥

तैस्तैरामन्त्रितोऽयं प्रणयपरिगतैर्हन्त विद्यानिकेतैः
पूर्वामाशां श्रितोऽभून्मिहिरसमुदयां सर्वथोदीयमानः ।
नेतव्या वत्सरास्ते त्विह नियमवशाद् विश्वविद्यालयेऽस्मिं-
ल्लब्धुं स्वं भाविकोशं सुनिपुणविदुषा पञ्चयुक्ता दशापि ॥४२॥

पञ्चमः सर्गः

दिल्लीविद्याधिपीठादथ समधिगतं किञ्चिदामन्त्रणं तं
नैवाकर्षत्तदासीन्न परमविदुषस्तस्य योग्यं किलेति ।
प्राप्तं वाराणसेयादपि महिमजुषः स्निग्धमामन्त्रणं यद्,
यातस्तद्विश्वविद्यालयमिममिह साहित्यमध्यक्षयिष्यन् ॥१॥

तत्रायातेन पत्रं समधिगतमभूत्-'शास्त्रिवर्य, प्रतिष्ठा
मीमांसायामवाप्ता क्वचिदपि न तु सा प्रापि सहित्यशास्त्रे,
तच्छास्त्राध्यापने स्याद् भृशमवगणने' त्येहि तां कालिकातां
मैनां वाराणसीं त्वं कलय वसतये प्रौढविद्वन्निवासाम् ॥२॥

नोदर्कस्ते शुभः स्यादिति तव सुहृदस्त्वद्धितं मन्त्रयामः
इत्यावाच्यैव भीरोरविलसदभिधं पत्रमासीन्न भीतः ।
'त्यक्ता सा कालिकाता यदवमतिभयात्तत्किलात्रागतं मे
दूरीकुर्युस्तु शिष्याः प्रतिकृतिकुशलाश्चात्र तन्मे सखायः ॥३॥

मन्त्यत्रान्येऽपि मान्या मम गुरुचरणा, अस्मि साहित्यशास्त्रे
ऽधीत्यान्वाध्यापनेन ध्रुवमतिनिपुणो नास्ति मे भीतिहेतुः ।
यद्यत्रत्याः प्रचण्डानपि मयि परुषान् पातयिष्यन्ति दण्डां-
स्तन्त्राण्युच्चाटनादीन्यपि, मम भविता काशिवासः कृतार्थः ॥४॥

इत्थं निश्चित्य काश्यामधिवसनमनेनात्र निर्धार्य चित्ते-
ऽन्येद्युर्विद्यालयान्तर्गतमिह भवनेऽध्यापनाय स्थितश्च।
साहित्याचार्यकक्षागतबहुविषयश्च्छात्रवर्गः स्थितोऽभू-
त्पाठं श्रोतुं च मध्ये जनयितुमपि चैवान्तरायं क्रियाभिः ॥५॥

किन्त्वेते प्रेरिता अप्यनुचितविधये मत्सरोन्मुक्तचित्ताः
श्रावं-श्रावं तदीयां गिरमतिगरिमैकाश्रयां मुग्धमुग्धाः।
आसन् भक्ताः क्रमेणोज्झितकृतकमलास्तद्गुणग्राहकत्वा-
त्तेषामुत्तेजकानां मनसि हतधियां क्लृप्तवन्तो निराशाम् ॥६॥

अभ्यस्तः संस्कृतेनाखिलविषयगणाध्यापने शास्त्रिवर्यैः
साहित्ये छात्रवर्गं भृशमयमकरोत्तोषभाजं च लेखैः।
ताँल्लेखान् दोषदृष्ट्या मुहुरपि पठतां विद्विषां न प्रभावः
कश्चित्क्वापीह दोषः खलु विवशतया तत्यजुर्द्वेषमन्तः ॥७॥

तत्रत्याध्यापकैर्दर्शनपरिषदि योऽध्यापको भाषणाय
श्रीहिन्दूविश्वविद्यालयपरिसरतोऽभून्नियुक्तः स चायम्।
भाष्यं श्रीसायणादेस्त्रुटिमयमवदत्तन्मतं तत्क्षणेन
श्रीशास्त्री खण्डयन् काञ्चनबुधविहितां लब्धवान् स प्रतिष्ठाम् ॥८॥

इत्थं शास्त्रेषु दाक्ष्यं प्रकटयति परं मत्सरोद्वेजितास्तु
द्वेषाद्दोषं विशेषात्प्रकटयितुमिमे यत्नवन्तः सदाऽऽसन्।
इत्याहुः शास्त्रिवर्यैः किल निपुणतरोऽध्यापने भाषणे च
नासौ साहित्यभागेऽकविरिति सदृशोऽध्यक्षतायै किलास्ते ॥९॥

तेऽपश्यन्यत्कवित्वं भवति न यतनैस्तत्तु जन्मान्तरीयैः
संस्कारैरेव शक्त्योद्भवति न विषयेऽस्मिन्कृतार्थत्वमीयात्।
तस्माद्दोषान्तरोक्त्या गुणवति पुरुषे सूचितं तैः खलत्वं
श्रीशास्त्री त्वत्रगोष्ठ्यां कवयितुमलगत्पूरयित्वा समस्याम् ॥१०॥

नैनीतालं कदाचिद्गतमिति कविता कल्पिता वर्णनेऽस्या-
नुष्टुब्भिश्चात्र वार्ताशतकमपि कृतं, प्राह पद्याशिषश्च।
पद्यान्येतानि लेखाः प्रवचनरचनाश्चापि सङ्गृह्य सर्वा
लोकेऽवश्यं प्रकाश्याः कृतिभिरुपकृतिः स्याद्विवाभिर्बुधानाम् ॥११॥

आचार्ये वाक्परीक्षास्वयमिह मथुराद्वारिका-बद्रिका-श्री-
वृन्दारण्यादिधामान्यटदिति कविता तेष्वपि प्रोदितैव।
आहूतश्चोज्जयिन्यामयमतिसमतां कालिदासस्य सम्यक्
संसाध्य प्राच्यविद्यापरिषदि वहतेऽध्यक्षतामत्र यावत् ॥१२॥

वाराणस्यामथासौ मृदुनि च सरसे प्राप्य साहित्यशास्त्रे
सत्कीर्त्तिं विश्वविद्यालयमहिमकरीं प्रापदाचार्यकत्वम् ।
मीमांसायां दृढायामपि विमलयशः ख्यापयन् गोपयिष्यन्
विद्यावारांनिधौ स्वं प्रतरणपटुतां मज्जने दक्षताञ्च ॥१३॥

दिल्ल्यां यद्विश्वसम्मेलनममरगिरां योजितं तत्र चित्र-
मीमांसायां गभीरं स्वलिखितमपठल्लेखमुल्लेखनीयम् ।
वाराणस्यां नियुक्तः किल कुलपतिना योगतन्त्राख्यभागे
वर्षेऽस्मिन् राष्ट्रपत्याचरितमयमधात्सोपहारञ्च मानम् ॥१४॥

वर्षाणां पञ्चषष्टौ वयसि परिणते प्राप सेवानिवृत्ति
किन्त्वद्याप्येष यूनामनुकृतिपदतां कर्ममार्गेषु धत्ते ।
बाल्यात्पश्चात्किलैषोपनयन-विधिना संस्कृतोऽन्यूनवर्ष-
विंशत्याधीतवांश्च स्वगुरुविरचनासाधुसम्पादनेन ॥१५॥

ग्रन्थानां सा त्रयोविंशतिरिह विदिता यास्ति सम्पादितैवं
लेखानां नास्ति संख्या नवसु दधति ये पत्रिकासु प्रकाशम् ।
मीमांसाशोधकेन्द्रात्प्रथमसुमतया व्यासशिक्षा द्वितीय-
पुष्पत्वेनाथ काण्वं शतपथमधुनाऽनेन सम्पादिते स्तः ॥१६॥

यां यामाशां श्रितोऽयं सपदि कलितवांस्तत्र सर्वाङ्गपूर्ति
स्फूर्तिं चादर्शयत्तां युवजनसुलभां चिन्मयानन्दमूर्तिः ।
यातोऽभूत्कालिकाताश्रियमुपजनयन्विश्वविद्यालयस्य
मीमांसासन्दिकायां किमपि गुरुतया गौरवं सन्दधानः ॥१७॥

वाराणस्यां ततश्चाध्यगमदयमिदं सद्गुरुस्तद्गुरुत्वं
साहित्याध्यक्ष्यसृष्टं सुविदितसुरगीर्विश्वविद्यालयस्य ।
मीसांसाध्यक्षतायां पुनरिह - भवताध्यासितायां नितान्तं
कान्तिः काचिन्नवीना समुदलसदहो तन्त्रशास्त्रेऽपि तद्वत् ॥१८॥

आस्ते चैषास्य शेषात्सकलगुणगणाच्छेमुषी सद्विशेषा
यद्धेतोर्ब्रह्ममूर्तेरिव सदृशगतिः सर्वथा सर्वदिक्का ।
सोऽयं साहित्यकारो रसिक इह वरो लेखकश्च प्रभावी
वक्ता योग्यः प्रशासी सहृदयहृदयोऽध्यापकश्चैक एव ॥१९॥

स्थानानामेष राजा भवति किमथवा स्थानमेवास्ति राज्ञां
मीमांसागङ्गयायन्मरुदधिरभूत्सम्भृतः ' पावितश्च ।
तस्यास्त्वेनं प्रसारेऽद्भुतरुचिरनयच्चोत्तराहं प्रदेशं
स्थाने-स्थाने च काचिद्विलसति महतस्तीर्थतास्य साक्षात् ॥२०॥

किन्नामैतत्प्रदेशत्रयमिह निखिले भारते स्नातकानां
वर्गो मीमांसयाद्धान्वितमधिकुरुते कार्यंजातं प्रयत्नैः।
नैतैरेव स्वरूपैरपि तु पितुरिवास्यानुशिष्टौ पटुत्वाद्
राजस्थानोत्तरादौ सपदि सुरगिरो जागरा कल्पितेयम् ॥२१॥

वङ्गेष्वस्यैव यत्नादखिल-भरतभूसंस्कृतामेलनस्य
श्रीराजेन्द्रप्रसादाधिपतिपदमहिम्नोऽभवद्योजना सा।
तस्यैवाभून्मनोज्ञा परिणतिरिह सा यत्र दिल्ल्यां नवीनं
विद्यापीठं प्रतिष्ठापितमिदमभवत्पण्डितैर्मण्डनाद्यैः ॥२२॥

दर्शं दर्शं यदीयान् परिचरणविधीन् संस्कृतस्यानुरागा-
त्प्राप्ता हर्षप्रकर्षं कमपि बुधजनाः श्लाघमाना भवन्ति।
विद्वांसो निर्मितास्तै शतशतगणिता भानवो भास्करस्य
तेऽस्मिन् देशे विदेशे कमपि नवनवं चारयन्ति प्रकाशम् ॥२३॥

आचार्यो दाक्षिणात्यो भवति स जनुषा, कर्मणा त्वौत्तराहो
देशस्याखण्डतायां वहति दृढमतिं प्रीतिमैकान्तिकीञ्च।
इत्येवाध्याय शिष्या दिशि दिशि वितता मुक्तदेशादिभेदाः
संसारे संस्कृतस्य प्रसरणविधये सन्ति सङ्कल्पवन्तः ॥२४॥

यस्मिन् साहित्यसम्मेलनमवति किलाध्यक्षभावेन भव्यं
विद्यापीठं प्रजातं किसलयितमथोत्फुल्लितं च क्रमेण।
तस्मिन्नस्मिन् समन्तान्निजगुणमहिते शासनैर्गृह्यमाणे
शिक्षामन्त्रालयेन प्रथमसदसि यः सन्नियुक्तः सदस्यः ॥२५॥

धत्ते चाद्यापि यस्याधिपतिपदजुषः शङ्कराकादमीयं
साहाय्यं मार्गनिर्देशनमुखमखिलं प्रीतिभावेन साकम्।
दिल्लीयं राजधानी पुनरपि महतः पण्डितेन्द्रात्प्रकामं
प्राप्तानेकोपकारा भजति जगति तां धन्यतां मान्यतां च ॥२६॥

सौवर्ण्यां योजितायामिह पुनरकरोत्संस्कृतामेलनस्या-
ध्यक्षत्वं वेदगोष्ठ्या अथ च जयपुरे तत्र शिक्षाधिगोष्ठ्याः।
दिल्लीतः कालिकातावधि सकलविदां वेदधर्माभिरक्षा-
शीलायाः सत्सभाया अपि स विधृतवान्नैकदाऽध्यक्षभावम् ॥२७॥

एते कान्ता गुणा ये जनदयिततया मत्स्मृतिं न त्यजन्ति
प्रौढिः सा दर्शनानां कथमिव भजतां विस्मृतिं कोविदानाम्।
यस्यां न्यायेन साकं विहरति रसनाग्रेऽस्य वैशेषिकं तत्
सत्रा मीमांसयाऽयं विलसति सकलश्चैष वेदान्तवादः ॥२८॥

लेखन्यां योऽधिकारः प्रथमवयसि सन्दर्शितोऽभून्महद्भिः
श्रीमद्भिः पूज्यपादैर्गुरुभिरपि समं ग्रन्थसम्पादनाभिः ।
पश्चादध्यात्मतन्त्रैर्यदिह विलिखितं यच्च सम्पादितं तै-
स्तत्सर्वं ग्रन्थषष्ट्यात्मकमिह विबुधैर्वाचितं जन्मभिः स्यात् ॥२९॥

मीमांसान्यायतन्त्रश्रुतिषु विरचितान्नूनमष्टादशैतान्
ग्रन्थानष्टादशत्वं स्पृशति गणनया तासु विद्यासु शिष्टम् ।
यावत्तेष्वस्ति काचित्सह गुणनिकया वैदुषी राजमाना
याऽत्र श्रीमत्स्वरूपं प्रथयति परमं सर्वतन्त्रस्वतन्त्रम् ॥३०॥

ग्रन्था ये मौलिकास्ते विदधति कुतुकं मानसे पण्डितानां
तेषामेकैकमार्ये स्थितमतिशयितं सर्ववित्त्वं व्यनक्ति ।
भाट्टीं प्राभाकरीञ्च प्रकटयति परां कोऽप्यहो भेददृष्टि-
माटीकेते च टीके विवृतिशतधुरं, वृत्तिमौलिञ्च वृत्तिः ॥३१॥

भाट्ट-प्राभाकराभ्यामुपनतमखिलं भेदखेदं मताभ्यां
नित्यं नूत्ना कृतिः सा हरतिमतिमतां सास्य दृष्टाऽऽकृतिश्च ।
टीका न्यायप्रकाशं स्फुटयति किल माध्यन्दिनीं चापि शाखां
भाष्ये श्रीशाबरे च प्रथयति विषयं वृत्तिरर्थानुवृत्त्या ॥३२॥

चत्वार्येतानि नूनं चतसृषु जगतो दिक्षु विक्षुब्धतान्तं
ध्वान्तं त्वज्ञानजन्यं निरसितुमिव नो रत्नवत्कल्पितानि ।
यद्वा धर्मार्थकामत्रितयसमुदितं मोक्षसंज्ञं पुमर्थं
लोके कर्तुं सुगं नः स्वमिह दयया प्रेरितस्तान्यकार्षीत् ॥३३।

ताण्ड्यं सम्पाद्यमानं सपदि शतपथब्राह्मणं च श्रुतं नो
धूर्तस्वाम्युक्तभाष्यान्वितमथ विशदं श्रौतसूत्रं महत्तत् ।
आपस्तम्बोदितं तत्सकलकलिमलस्रावणं गृह्यसूत्र-
मद्वैतग्रन्थकोषः पुनरुपनिषदां भाष्यमाध्यात्मिकं तत् ॥३४॥

सा सुन्दर्याः समर्चा मुहुरिह सरसा मञ्जरी सा प्रमाणे
ध्वन्यालोके च बालप्रियमिह तिलकं जायवंशञ्च काव्यम् ।
तर्काद्वा कर्कशोक्तेर्निबिडचयनतश्चापि तन्त्रान्मनोज्ञा-
त्साहित्याच्चार्वचित्योपहरति विविधं साधु सम्पाद्य गुच्छम् ॥३५॥

क्लृप्तो वेदप्रकाशः परिधृतमुरसा कौस्तुभं शीर्षिणवर्हं-
स्तान्त्री सिद्धान्तरत्नावलिरपि रचिता गुम्फितं तद्रहस्यम् ।
सन्दृब्धं चात्र तौतातिकमततिलकं न्यायमालापि मृष्टा
ऽऽकृष्टा यागैश्चतुर्भिर्निपुणमसुलभा कौतुकाधायिवृत्तिः ॥३६॥

एतस्योद्घाटनायां भवति नवमहे चोपराष्ट्राधिपोऽसौ
बी० डी० जत्तीः स्वहस्ताम्बुजयुगलमपि व्यापृतं कर्तुमुत्कः।
शिक्षामन्त्रिश्रियाधीक्षितमियममलं शारदज्ञानयज्ञं
मीमांसाभाषणैः स्वैस्त्रिभिरतिविशदैर्भूषयत्येष आर्यः ।।३७।।

वेदप्राणोऽस्ति देशो भरतविरचितस्ते किलापौरुषेया-
स्तद्रक्षायाञ्च शिक्षा भवति फलवती, तद्वधूत्वं वरत्वम्।
मीमांसोदाहृतीनां सरणिरथ रसस्तद्दृशा कीदृशोऽयं,
किं स्वं मीमांसकानामिति विनिगदितं देवतायाः स्वरूपम् ।।३८।।

विद्यापीठेन विद्यानिधिपदकमलद्वन्द्वसन्दर्शनेन
प्राप्ता या काप्युदारा सरणिरिह मुदां सन्मिलिन्दोपमेन।
तस्यैतद्गुञ्जनं मे किमपि कवितयाऽनूद्यमानं समानं
भूयान्नूनं बहूनामथ च सुमनसां प्रीतये कौतुकाय ।।३९।।

द्वावेतौ पञ्चशाखौ युगपदुपगतावद्य यत्पूर्मतल्लीं
दिल्लीं तद्द्वारवत्या द्विगुणमुदयते साधु सौभाग्यमस्याः।
एताभ्यां साध्यमानान् बुधजनमनसां सर्वकामान् प्रपश्यन्
मन्दारो भाति मन्दारमणमिति धृतं नामतात्पर्यमस्य ।।४०।।

विद्यापीठेऽत्र विद्वच्चयनविधिषुया सद्विवेकेन साकं
दृष्टा श्रीशालिनः सा सरसहृदयता तां सदा संस्मरामः।
काले काले च वाग्भिः सुमधुरविमलाभिः कृतञ्चोपदेशं
छात्राणां शिक्षकाणामपि च सविनयं दर्शितं कर्ममार्गम् ।।४१।।

इत्येतत्किं वदामः सकलमपि शुभं यत्कृतं मण्डनेन
प्राचार्येणात्र भूत्वा प्रथममथ सता चास्य निर्देशकेन।
तत्सर्वं श्रीमतैवोपकृतमिति वयं मन्महे मानसेन
प्रायः शिष्येषु दाक्ष्यं गुरुभिरुपहृतं त्यज्यते कार्यकाले ।।४२।।

यत्तत्साहित्यसम्मेलनसचिवतयानेन रत्नाकरस्यै-
तिह्यस्याथो शताब्द्या विहितमिह सता चारुसम्पादनादि।
यत्सम्मर्दैर्भृतानां क्वचिमिह महतां संस्कृतायोजनानां
कार्यञ्चाश्चर्यकारि ध्रुवमिह गुरुनिर्देशनं हेतुरासीत् ।।४३।।

यातायातान्यभूवन् पुनरपि सुहृदां दुर्हृदां चाप्रियाणि
प्रायस्तैरत्र पीठेऽपकृतमिति वयं कष्टमन्तर्भजामः।
धैर्यं यत्तेषु दृष्टं स्थिरमथ सबलं मण्डनस्यास्य सद्भि-
स्तत्राप्यास्ते गुरूणां गुरुरिह भवतामेव कश्चित्प्रभावः ।।४४।।

18

वाराणस्यां च पीठं प्रति सहृदयता सादरा या किलास्ते
तस्याः प्रत्यक्षहेतुं गुरुवरकरुणामेव मन्यामहे ताम् ।
सम्मानं यत्र तत्रोचितमथ भजते यत्सुहृद्भिः समेतः
शिष्यो भावत्क एष स्फुटमिह भवतामन्वयो मूलमस्ति ॥४५॥

भूयः सम्मेलनेषु प्रपठितममलं तं प्रबन्धोच्चयं च
शृण्वन्तो वा पठन्तः कमपि निजहृदन्तःश्रिवाः सम्मद स्मः ।
मीमांसा तत्र पूर्वा क्वचिदपि च परा, चित्रमीमांसया चो-
पेताः प्रस्तूयमाना प्रथयति सुरुचिं तासु मीमांसकस्य ॥४६॥

अध्यक्षीयाश्च तास्ताः प्रवचनरचनास्तास्तदुद्घाटनार्था
अप्यस्माकं पुरस्ताद्दधति फणिमुखोद्भूतभाष्याह्निकाभाम् ।
लेखांश्चैवाभिलेख्यान्मुहुरिह पठितानप्यहो प्रत्नतूनान्
नूत्नानाभासमानान् प्रणिहितमनसा मन्महे वन्दनीयान् ॥४७॥

अन्वाख्याता च काचित्कविकुलगुरुणा दर्शनोत्थापि दृष्टि-
र्व्याख्यातं तस्य काव्ये श्रुतिभिरुपमिते तन्महर्षित्वमुच्चम् ।
प्रोक्तौ चेमौ विशेषैः सह भुवि कविता कालिदासश्च दिव्या-
वित्थं मालां गुणज्ञे ग्रथितवति नवं भावयामो गुणित्वम् ॥४८॥

दृष्ट्या मीमांसकानां पृथगपि कथितं यद्रसस्य स्वरूपं
साहित्याचार्यवर्याभिमतमिह पुनस्तत्स्वरूपं प्रदिष्टम् ।
कामं पश्यन्तु चन्द्रं स्वनयनसुखदं साधवोऽन्येऽपि लोके
तत्रैतस्मिंश्चकोरा निजनिपुणतयोल्लेखनीया इतीष्टम् ॥४९॥

एतैरन्यैश्च धन्यैर्भुवनहितकरैः कर्मभिः कल्प्यमानै-
र्नव्यैर्भव्यैश्च सिद्धं भवति मतिमतः कर्ममीमांसकत्वम् ।
तद्विद्यासागरत्वं स्फुरति मनसि साहित्यरत्नाकरत्वं
विद्यावाचस्पतित्वं पुनरिह पदवी मानदा राष्ट्रपालात् ॥५०॥

यन्निर्देशेऽत्र देशे बहुविषयगतं सम्यगन्विष्य तत्त्वं
विद्यावाचस्पतित्वं दधति वुधगणास्तत्र वा वारिधित्वम् ।
तेषां श्रीशालिनां तत्कथमिव वचसा वर्णयामो महत्त्वं
किं वो विद्याम्वुधित्वं किमथ समुचितं चारु विद्याम्बुदत्त्वम् ॥५१॥

गम्भीरश्चाप्यलङ्घ्यं प्रतिपदतिविशज्ज्ञानसद्वाहिनीकं
किञ्चिच्छ्रीमत्स्वरूपं प्रदिशति महतो हन्त विद्याम्बुधित्वम् ।
किञ्चित्त्वत्यन्तमुच्चाचरणसमुचितं पापसन्तापहारि
प्रेमोद्गारि स्वरूपं वदति शुभवतश्चात्र विद्याम्बुदत्वम् ॥५२॥

यद् विद्यासागरत्वं जयपुरपतिना दृष्टमाचार्यवर्ये
यत्काञ्चीकामकोटीश्वरगुरुचरणैः शास्त्ररत्नाकरत्वम् ।
विद्यावाचस्पतित्वं यदि च सुरगीः साहितीमेलनेन
दृष्टं तद्वस्तुमात्रं किमथ परिगतं तैरलङ्कारसारैः ॥५३॥

इत्याकांक्षा समाप्ता सगरसुतकृतेस्तद्गभीरत्वबुद्ध्या
शास्त्राणां रत्नभावादिह च पुनरमीषां किलैकाकरत्वात् ।
[ि]द्यानाञ्चापि वाचां स्थितमिह विशदं तत्पतित्वं च मत्वा
प्रापं रूढार्थबाधं किमपि च सुखदं यौगिकार्थानुबन्धम् ॥५४॥

हा हा बुद्ध्यानया मे सुलघुविषयया सागरस्यास्य पारं
गन्तुं रत्नाकरस्य स्फुटमथ च तलं स्प्रष्टुमेष प्रयत्नः ।
विद्यावाचस्पतेश्चाप्तुमिह परिचयं विद्यया स्वल्पयैवा-
णीयस्या चापि वाचा ध्रुवमिह विदुषां धास्यते हास्यमास्ये ॥५५॥

सोऽयं भूयाच्छतायुर्विरचयतु पदं संस्कृतेः संस्कृतस्य
प्राणेभ्योऽपि प्रकृष्टं किल भरतभुवो वासिनां हृत्सु हृद्यम् ।
भूतार्थानेव वक्तुं स्थगितवचसि मय्यद्य यावद् भवन्तो
यत्नास्ते तद्द्वयोत्त्यापनहितविहिता हन्त शिष्यन्त एव ॥५६॥

विद्यासम्मेलनं यन्महदभवदिदं यादवानां पुरेऽद्धा
तत्रोन्मेषं विशेषं सपदि विहितवान् पण्डितानां सभायाः ।
राजस्थाने निदेशालयविधिषु कृतः संस्कृतस्य प्रवेश-
स्तत्रत्या तत्परीक्षा पुनरुपगमिता विश्वविद्यालयान्तः ॥५७॥

शोधैः सम्बन्धितास्ता नवललिखितयः सन्ति चोच्चस्तरीयाः
प्राकाश्यं प्रापवत्यः प्रथितमहिमनि प्रायशः पत्रिकौघे ।
वाराणस्यां नवीनं विरचितमधुना शोधसंस्थानमेकं
मीमांसावेदयोर्यत्किमपि नवनवं कार्यमालम्बतेऽद्य ॥५८॥

दिल्लीविद्याधिपीठादपि विवृतियुता शास्त्रसन्दीपिका सा
श्रीमत्सम्पादिताद्यप्रभृति विशदतां प्राप्नुवन्ती श्रुताऽऽस्ते ।
भाष्ये श्रीशाबरे चोल्लिखति स विवृतिं नूतनां स्तुत्यकर्मा
शीघ्रं यायात्प्रकाशं सममपि लिखितं वेदशास्त्रप्रयुक्तम् ॥५९॥

यद्यद्ब्रूते बुधोऽस्मिञ्जगति मतिमतोऽध्यापयन् प्रब्रुवन्वा
तत्तत्सार्थक्यमेति श्रवणपुटगतं हृद्गतं धीगतं वा ।
यत्त्वेकान्ते स्थितोऽयं लिखति जनहितं यातु तद्वै प्रकाशं
नो चेदायुर्वृथा स्याच्छ्रमलिखितमिदं वाङ्मयं वा वृथा स्यात् ॥६०॥

तन्मा भूदित्यनन्तं हृदि हृदि निहितं धाम सारस्वतं तद्
भूयोभूयोऽर्थयेऽहं यदिह निजकृतं कौशलं रक्षणीयम् ।
लक्ष्म्या ईर्ष्याभिभूता अवदधति न चेत्तत्र भक्ता विमूढा
विद्यावद्भिः सरस्वत्यनुगमनपरैस्त्वत्र यत्नो विधेयः ।।६१।।

इत्याधायैव चित्ते सहृदयतिलकं मण्डनं मिश्रमेनं
तत्तद्विद्वत्प्रयत्नप्रकटननिरतं धन्यवादैर्भजेऽहम् ।
नव्या त्वं गीतिकादम्बरि, रसभरितस्वान्तसिद्धान्त, सत्यं
भव्यं त्वं चासि लोके, भजतमिह यशस्तेन नीतौ प्रकाशम् ।।६२।।

दिव्या पृथ्वी प्रशस्ते, त्वमसि च चरितस्तोत्र, नूनं पवित्रं
चित्रं शार्दूलविक्रीडित भुवि गुरुमण्डल्य, भूयो विचित्रम् ।
युष्माकं मित्रमेतत्समुदितमधुना स्रग् राद्याभिरामं
प्राकाश्यं याति लोके सहृदयहृदये मण्डने तुष्यतीह ।।६३।।

चित्रं विद्वच्चरित्रं प्रविरचितमहो भाविमित्रं पवित्रं
विद्याव्यासङ्गभङ्ग्या प्रथितमिहबुधेन्द्रस्य वैदुष्यमग्र्यम् ।
नूनं कौटुम्बिकं चेदिह किमपि मया नोपलिख्येत वृत्तं
तर्हि स्याद्दिव्यमेतन्न तु भवति पुरा भव्यमेवञ्च नव्यम् ।।६४।।

पूर्वं पट्टाभिषेके भवति भगवतः सारदा शारदाम्बा
देवानामाग्रहेण स्थगयति तमिमं कैकयी वक्रसंस्था ।
सेयं पश्चात्तपन्ती जगति सुरगिरः प्राप्तपट्टाभिषेकं
तं देवं सेवतेऽद्धा स्वयमिति विदितं दम्पतित्वे रहस्यम् ।।६५।।

पुत्रान्मत्वा जनन्यो रघुकुलतिलकान्याश्रयन्ते स्नुषास्ता
वैदेह्याद्याश्च, तासां रतिरिह रसिता वाङ्मयेनात्मना मे ।
पुत्रीप्रेम्णा यथा ता जनकदुहितरः सेविताः स्युर्मयैता
जामातृस्नेहतश्चाखिलदशरथजा इत्यवाञ्छत्किलेयम् ।।६६।।

तस्मात्पट्टाभिरामोऽजनयदिह सुताः शारदायां चतस्रो
विद्याविद्योतमानाः पतिपरिचरणाल्लब्धमानाः प्रकामम् ।
भक्त्यार्यं श्रीनिवासं भजति तु विजया, रामनाथं सरस्व-
त्येषा सावित्रिकार्यं यजति च जयरामं, श्र्युपेन्द्रं च शान्तिः ।।६७।।

सन्त्येता वेदमूर्तेः सपदि दुहितरः संहितावत्प्रवृत्ताः
पुत्र्यो नूनं पवित्रीकृतकुलयुगलास्ताश्चतस्रोऽपि वन्द्याः ।
पूज्या जामातरश्च ध्रुवमुपचरिता देवतावज्जयन्ति
प्रार्थ्या ये तत्र-तत्र स्वयमपि सकलं मङ्गलं सज्जयन्ति ।।६८।।

श्री पी. एन्. वेङ्कटादिर्भवति कुलतरोः कृष्णशर्मा स मूलं
श्री पी. एन्. लक्ष्मणोऽस्य प्रथयति पृथुलस्कन्धतां च स्वरूपात् ।
श्री पी. एन्. कृष्णशर्मा पुनरिह भवतः श्री पि. एन्. नीलकण्ठ-
शर्मा चैतस्य शाखे तदुदितविटपैः शोभते वंशवृक्षः ॥६९॥

श्री पी. एन्. कृष्णशर्मा परिणययुगलं प्राप्तवान् दैवयोगात्
कामाक्ष्या चापि लक्ष्म्या सह सदृशसुतप्राप्तिकामः क्रमेण ।
श्री पी. एन्. वेङ्कटादिं त्वपरमजनयत् पूर्वपत्न्यां किलैकं
लक्ष्म्यां पुत्रत्रयं सोऽजनयत वरदं राजशर्माणमग्र्यम् ॥७०॥

मध्यस्थं सुन्दरेशं प्रकृतमथ परं चात्र पट्टाभिरामं
तस्मात्पट्टाभिरामादजनिषत सुतास्ता इहोकाश्चतस्रः ।
प्रत्येकं नाम पत्युः प्रथममुपहृतं संहितादेवसाम्यात्
सन्तानानत्र वक्ष्ये तदनुगुणतया यज्ञयागेष्टितुल्यान् ॥७१॥

सायुष्यं शङ्करान्तं रविमथ च कलाभानुमत्यौ जनित्वा
पुत्र्योर्मध्ये सुपुत्रं पट्टमिह विजयाश्रीनिवासौ प्रपन्नौ ।
सारं सारस्वतं चाजनयत मधुरं श्रीधरं रामनाथः
सावित्र्यां श्रीगणेशं व्रतमिव जयरामोऽजनिष्टाथ गीताम् ॥७२॥

प्रासूतां विश्वनाथानुजयुतसुषमां शान्त्युपेन्द्रौ बुधेन्द्रौ
येनायं वंशवृक्षो दलकुसुमफलैः कल्पवृक्षो विभाति ।
कामाक्ष्यां कृष्णशर्मा यमजनयदिमं श्री पि. एन्. वेङ्कटादिं
पी. एन्. गोपालशर्मा तत इह च पि. एन् कृष्णशर्माऽजनिष्टाम् ॥७३॥

पी. एन्. गोपालशर्माऽजनयदिह सुतां श्रीनिवासस्य भावि-
पत्नीं सीतां, सुतौ चाखिलगुणमहितौ मोहनं, शङ्करञ्च ।
श्री पी. एन्. नीलकण्ठात्त्वजनिषत सुताः, श्रीनिवासस्त्वदाद्यो
मध्यस्थो लक्ष्मणोऽयं तदनुजनितया श्रीलरामः कनिष्ठः ॥७४॥

एषाञ्च श्रीनिवासादपि समभवतां नागराड्-नीलकण्ठौ,
यावद्विज्ञानमेवं न्यगदमिममहं नाम्नि पितृप्रधानम् ।
डी. सी. एस्. श्रीनिवासः स्फुटमिनजिनियर् रामनाथो जयादी
रामश्चैवोपमन्त्री कृषिषु विजयते चाप्युपेन्द्रः प्रबन्धी ॥७५॥

श्रीकाञ्चीकामकोटीश्वर-गुरुचरणाः श्रीजयेन्द्रा यतीन्द्रा-
स्तीर्थक्षेत्रादियात्राक्लमश्रमहृतयेऽभ्यागता यर्हि काशीम् ।
तर्हि श्रीशास्त्रिवर्यो विविधबुधसभायोजनैः शास्त्रचर्चा-
वेदावृत्त्यादिकानां क्रममतिसुभगं क्लृप्तवानाप्तकामः ॥७६॥

तैः श्रीमद्भिः सहायं पशुपतिभगवत्पूजनार्थं गतोऽभू-
न्नेपालांस्तत्र भूपो भुवनगुरुमिमं चार्चिचद्राङ्कवाद्यैः ।
तैरादिष्टोऽथ काश्चिच्छ्रुतिविदुरसभां कालिकातापुरेऽपि
प्रावर्तिष्ट प्रतिष्ठापयितुमिह पुनर्वेदशास्त्रानुरागम् ॥७७॥

भूयः काञ्चीपुरेऽपि प्रचलति भगवच्छङ्कराचार्यजन्म-
धस्रोद्देशेन यज्ञेऽगमदथ स महानत्र चण्डीसहस्रे ।
रुग्णत्वं बाधकं यत्तदपि गुरुकृपातो निवृत्तं क्षणार्द्धात्
मङ्गल्यात्कर्मणः स्युर्मुनिमखत इवोद्वासिता विघ्नदैत्याः ॥७८॥

नैवं स्वोद्भाविते वा गुरुजनजनिते वापि धर्मोत्सवेऽयं
यावत्केन्द्राधिकारैरपि विहितमहे वा प्रदेशाधिकारैः ।
ईदृक्षं वेदसम्मेलनमुपगमितोऽयं धनादिस्वरूपं
व्याचष्टे स्मानुरूपं रघुकुलतिलके राज्यपाले सुगम्यम् ॥७९॥

सम्मान्याध्यापकत्वे मुहुरपि स वृतो विश्वविद्यालयेऽभूत्
मीमांसाग्रन्थसम्पादनमिह कृतवान् दुर्लभोद्धारणार्थी ।
कालट्यां सत्प्रतिष्ठां कलयति भगवच्छङ्कराचार्यपाद-
कीर्तिस्तम्भे विशाले विविधबुधसभाऽऽयोजिता शास्त्रिवर्यैः ॥८०॥

अस्यां विद्वत्सदस्यां सकलभरतभूवासिनः संस्कृतज्ञा
विद्वांसः संगतास्ते मुदमुदजनयन् दर्शकश्रावकानाम् ।
मीमांसान्यायशब्दादिषु च समभवत्सर्वशास्त्रेषु चर्चा
यस्या हेतोरनेकैरधिगतमभवत् 'शास्त्ररत्नाकर'त्वम् ॥८१॥

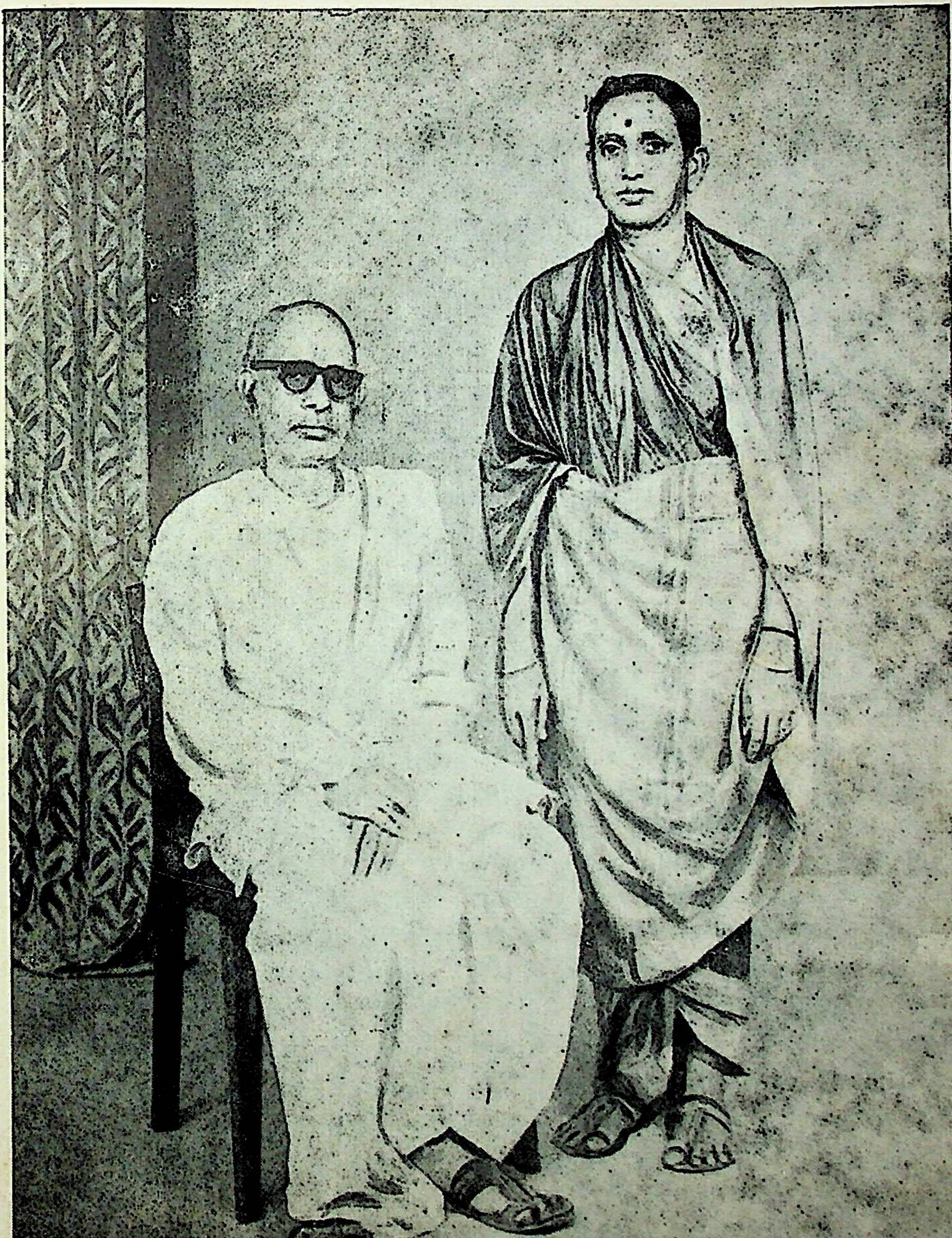
वर्षेऽत्रोदक्प्रदेशे समितिरुपहूतिं संस्कृताकादमीति
साऽस्मै विज्ञाय पञ्चाधिकदशदशशत्यात्मिकां तां व्यतानीत् ।
अध्यक्षो हन्त तस्या अपि च कुलपतिर्विश्वविद्यालयस्य
तत्रासीद् हेतुभूतः सहृदयबदरीनाथशुक्लोऽभिवन्द्यः ॥८२॥

अद्याप्यध्यापनादिव्यसनपरिगतो ग्रन्थसम्पादनाद्या-
सक्तिं बिभ्रत् सभासङ्घटनपरिणतोऽप्येष नूनं युवैव ।
विद्यावाचस्पतिः खल्वयमिह ममतां संस्कृतज्ञेषु धत्ते
पुत्र्यो जामातरश्च स्वतनयसहितास्तल्लवानाश्रयन्ते ॥८३॥

मय्यद्धा मन्दबुद्धावपि कमपि ममत्वातिरेकं प्रपश्यन्
प्राज्ञो निष्कारणं ते कमपि कलयते दुर्बले पक्षपातम् ।
श्रीमत्सन्दर्शितेयं सरणिरनुगता शिष्यवर्गैरपि स्यात्
इत्येतत्पण्डितानां परिषदि सुहृदा साधितं मण्डनेन ॥८४॥

आचारग्राहकत्वं प्रथितमिह किलाचार्यवर्गे विशेषात्
सच्छिष्यैस्तद्विचारग्रहणमपि कृतं कुत्रचित्सद्गुरूणाम् ।
सङ्क्रान्ति भावनानामपि विहितवति श्रीमति श्रद्धयेदं
काव्यं कृत्वाभिरामं समुपहृतमिहामीरचन्द्रेण नम्रम् ॥८५॥

श्री अमीरचन्द्र शास्त्री
भू० पू० प्राध्यापक
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान
दिल्ली



पं पट्टाभिराम शास्त्री जी अपनी सहधर्मिणी श्री शारदाम्बा के साथ

वेदरक्षणे शिक्षायाः स्थानम्

पट्टाभिराम शास्त्री

भारतस्य प्राणा वेदाः। प्राणिमात्रस्य स्वस्वप्राणाः प्रियतमा भवन्ति। अतस्तद्रक्षणे सर्वो भवति जागरूकः। न केवलं स्वप्राणानेव रक्षितुं यतन्ते मानवाः, किन्तु स्वसम्बन्धिनामपि तान्। मानवमात्रस्य भारतेन जन्यजनकभावस्सम्बन्धस्स्पष्टः। जनकस्य मातुर्वा प्राणास्सुतै रक्षणीया इत्यत्र भारतीयेषु न कोऽपि विप्रतिपद्येत। विश्वस्य जगतो महानिधिरयं वेदो नाम। उच्चावचं पूर्वजैः प्रवर्तितानां विद्यास्थानानां धर्मस्थानानाञ्चोद्गमस्थानम्! अक्षय्यसुकृतावाप्तये परमं साधनम्। सच्चारित्र्यस्य संस्कृतेश्चायं गुरुरिव ग्राहकः। कुमार्गगामिनां मानवानां उपदेशक इव सन्मार्गप्रदर्शकोऽयम्। वेदसम्बन्धेनैव भारतं वर्षं सकललोकस्पृहणीयमनितरसाधारणं गौरवमाबिभर्ति। अत एतादृशस्य महाफलस्य वेदस्य रक्षणं भारतीयानां मुख्यं कर्तव्यम्। तदस्य वेदस्य रक्षणमध्ययनाध्यापनैकसाध्यम्। ग्रन्थानां प्रकाशनमात्रेण वेदो न रक्षितो भवेत्। अध्ययनञ्च छात्राधीनम्, अध्यापकाधीनञ्चाध्यापनम्। छात्राभावेऽध्यापकलोपः, अध्यापकाभावे च छात्रलोपः। उभयोर्मिथस्सापेक्षता। अत एव मीमांसका अध्ययनमिति पदस्य गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणमर्थं इत्यवधृतवन्तः। तदिदमध्ययनं ग्रहण-धारण-जप-भेदेन त्रिविधम्। प्रत्यध्ययनं सन्ति उच्चावचमङ्गानि, यानि च शिक्षाग्रन्थैरुपदिश्यन्ते।

तत्र शाखाभेदेन तदङ्गानामपि भिन्नत्वात्प्रतिशाखं शिक्षाग्रन्थोऽपि व्यास-नारद-पाणिनि-याज्ञवल्क्य-भरद्वाजप्रभृतिभिर्महर्षिभिर्भेदेन प्रवर्तितः। एतेषु शिक्षाग्रन्थेषु साधारणान्यङ्गानि कानिचन, असाधारणानि च कानिचन प्रतिपादितान्युपलभ्यन्ते। असाधारण्यञ्च शाखाभेदावद्योतकमिति नैषां मिथो विरोधावसरः। वेदाङ्गेषु षट्सु त्रीणि वेदार्थप्रतिपादनौपयिकानि त्रीणि च शब्दस्वरूपप्रतिपादनौपयिकानि। तेषु शिक्षाग्रन्थाः 'वर्णः, स्वरः, मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः इत्युक्तश्शीक्षाध्यायः' इति तैत्तिरीयश्रुत्यनुसारं प्रवृत्ताः। शिक्षाग्रन्थेषु प्रतिपादिता नियमा अध्ययनव्यापारावसरे छात्रैरध्यापकैश्चानुसर्तव्या भवन्तीत्यध्ययनाङ्गं शिक्षा, तद्द्वारा वेदस्याप्यङ्गं भवति। शब्दादर्थावबोधं प्रति प्रथमं शब्दज्ञानमावश्यकमिति सर्व एव शास्त्रकाराःस्वीकुर्वन्ति। तत्र 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति विधिना विहितस्य स्वध्यायाध्ययनस्य फलं विचारयन्तो मीमांसकाः पूर्वपक्षेऽक्षरावाप्तिं फलं निरूपयन्ति, सिद्धान्ते चार्थज्ञानम्। अर्थज्ञानार्थत्वमध्ययनविधेर्यदि न स्यात्तर्हि शास्त्रस्यानारम्भणीयत्वं स्यादिति सिद्धान्ताभिप्रायः। किन्तु येन केनचन प्रकारेणार्थज्ञानसम्पादनं न पुरुषार्थाय कल्पेत इत्यध्ययनविधेर्नियमविधित्वमङ्गीकृत्याध्ययनविधिलब्धाक्षरावाप्तिद्वारैव तत्सम्पादनमिति स्वीकुर्वन्ति। एतेन तादृशाक्षरावाप्तेरप्यावश्यकता सिद्धान्तेऽपि सिध्यति। अत एव सायणवासुदेवदीक्षितप्रभृतयो मीमांसकास्तादृशाक्षरावाप्तौ प्राधान्यमभिप्रयन्ति। अन्यथा शब्दस्वरूपव्यवस्थायै प्रवृत्तानां वेदाङ्गानां विशेषतश्च शिक्षाया आनर्थक्यं प्रसज्येत। तत्र—

सुव्यक्तस्सुस्वरो धैर्यं तच्चित्तत्वं चतुर्गुणाः। एतद्युक्तः पठेद्वेदं स वेदफलमश्नुते॥

इति पद्येन स्थानकरणादिनियमेन वर्णानां सम्यगुच्चारणम्, नासादिदोषराहित्यपूर्वकमुदात्तादीनां स्वराणामुच्चारणम्, धैर्यमित्यनेनाव्यग्रता, तच्चित्तत्वमित्यनेनाध्ययनव्यापारे लीनत्वञ्चेति चत्वारोऽध्येतृगुणाः। एवमध्यापकस्यापि गुणाः केचन प्रतिपादिता :—

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः। स्वरमात्राविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसम्पदम्॥ इति।

अध्यापकानां पञ्चविधेषु क्रमेषु वैचक्षण्यमावश्यकमिति पद्येनानेन प्रतिपाद्यते। ते च—शुद्धवर्णक्रमः, स्वरवर्ण-

क्रमः, मात्रावर्णक्रमः, अङ्गवर्णक्रमः, वर्णसारक्रमश्चेति। अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ औ इति स्वरेष्वाद्यानां त्रयाणां ह्रस्वदीर्घप्लुतभेदेन प्रत्येकं त्रैविध्यम्, ऋवर्णस्य ह्रस्वदीर्घौ, ऌकारो ह्रस्वः, एकारादीनां चतुर्णां दीर्घ एव, ओकारौकारयोः दीर्घरङ्गः प्लुतरङ्गश्चेति प्रत्येकं द्वौ भेदौ, ओमिति प्रणव ओकारः पृथगिति स्वराः। स्वयं राजन्ते नान्येन व्यज्यन्त इति स्वरा भवन्ति। कादयो मान्ताः स्पर्शाः, यादिवोत्तरा अन्तःस्थाः, जिह्वामूलीयोपध्मानीयसहिता हकारान्ता ऊष्माणः, डकारानुस्वारगकारसंयुतानुस्वारविसर्गाः स्वरभक्तयः, यमाश्चेति व्यञ्जनानि। व्यज्यन्ते प्रकाश्यन्ते परेण स्वरेणेति व्यञ्जनशब्दव्युत्पत्तिः। इमे वर्णाः स्वभावतस्सिद्धाः। इतोऽप्यन्ये केचन नैमित्तिका वर्णा स्वीकृताः शिक्षाकारैः।

कालतः स्थानतश्चैव करणान्नामतस्तथा। यदुच्चारणविद्भिस्तु वर्णत्वं क्रियते पृथक्॥ इति।

'यः क्कामयेत' 'यः प्पाप्मना' इत्यादौ यो विशेषस्तद्युक्तस्य वर्णस्य वर्णान्तरत्वमभ्युपगच्छन्ति। अत एव कालनिर्णयशिक्षायां कालं प्रधानीकृत्य, आरण्यशिक्षायां करणं प्रधानीकृत्य, लक्ष्मीकान्तशिक्षायां कालं, स्थानं, कारणं, नाम च प्रधानीकृत्य वर्णविभागो न्यूनाधिकभेदेन प्रतिपादितो दृश्यते। एतेषां वर्णानां सन्ति पञ्च राशयः। तत्र अ आ ए क च ट त प य ष इति वायुदेवताकाः। इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र स इति अग्निदेवताकाः। उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल र इति पृथ्वीदेवताकाः, ऋ ॠ औ घ स ढ ध भ व ल इति चन्द्रदेवताकाः, ऌ ङ ञ ण न म क्ष श इत्यर्कदेवताकाः। तदिदं व्यासशिक्षायामुक्तम्—

अदादेत्प्रथमयशा ल्वनासिक्याश्च व्होपेताः। अनिलाग्निमहीन्द्वर्काः पञ्चानान्त्वधिदेवताः॥ इति।

व्या० शि० ४८९

एवमेतेषां वर्णानां जातयोऽपि शिक्षायामभिहिताः। स्वराणां वर्गप्रथमद्वितीयानां ब्रह्मजातिः, वर्गतृतीयचतुर्थानां क्षत्रजातिः, वर्गोत्तमानामन्तःस्थानाञ्च वैश्यजातिः, अनुस्वारविसर्गोष्मणां शूद्रजातिरिति। इमा जातयो मूलाक्षराणामेव।

'स्वराश्च प्रथमाश्चैव द्वितीया ब्रह्मजातयः। तृतीयाश्च चतुर्थाश्च क्षत्रजातय ईरिताः॥
उत्तमाश्चैवमन्तःस्था वैश्या हि परिकीर्तिताः। अनुस्वारो विसर्गश्च शूष्माणोऽवरजास्स्मृताः॥

(व्या० शि० ४९७, ९८)

एवं वर्णानां देवताजातिप्रतिपादन इदं तात्पर्यं शिक्षाकारस्य प्रतिभाति—यदनिलाग्निमहीन्द्वर्कानां देवतानां ब्राह्मणादीनां जातीनाञ्च वेदवर्णैस्संबन्धान्नित्यसिद्धत्वम्, उच्चनीचभावाभावेन तासां स्वस्वकार्यनिरतत्वं, तथा व्यवहारदशायामपि मानवैर्वर्तितव्यमिति। इममाशयं वेदा यथा अर्थत उपदिशन्ति—

'संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानं मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानो मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति' ॥ इति।

तथा वर्णात्मकशब्दतोऽपीमं भावमवद्योतयन्तीव।

एवं शिक्षासु क्वचिदागमो वर्णानां, क्वचिद्द्वित्वं, क्वचिल्लोपश्च निरूपिताः। 'त्रपु च मे' 'मिथु च मे' इत्यत्र 'त्रपुश्च मे' 'मिथुश्च मे' इत्यत्र शकारागमः, 'विभु च मे' 'प्रभु च मे' इत्यत्र तदभावः, 'सुश्चन्द्रदस्म' इत्यत्र शकारागमः, 'प्र चन्द्रमाः' इत्यत्र तदभावः, एवं 'षट् संपद्यन्ते' 'विद्वान् सोमेन' 'प्रत्यङ् सोमः' इत्यादौ 'षट्त्संपद्यन्ते' 'विद्वान्त्सोमेन', 'प्रत्यङ्क्सोमः' इत्यागमवर्णनियमा अनेके समुपदिश्यन्ते। एवं 'स नु वै यजेत'

'इनु वा उपस्तीर्णम्' इत्यादावुकारस्य लोपः, 'विश्वाराऽसि' 'प्रावणेभिः' इत्यादौ दीर्घः, 'गर्भो अस्य' 'यमो अस्य' इत्यादौ पूर्वरूपाभावः, 'ऋक्कच मे' 'दधिक्राव्ण्णः' इत्यादौ द्वित्वम् इत्यादीन्यनेकानि वर्णस्वरूपाणि ज्ञेयत्वेन शिक्षासूपदिश्यन्ते।

एवमध्येतॄणां स्वरधर्मज्ञानमत्यावश्यकं भवति। तत्रोदात्तानुदात्तस्वरितप्रचयभेदेन भवन्ति चत्वारः स्वराः। उदात्तोच्चारणे देहदैर्घ्यं, अनुदात्तोच्चारणे देहस्य ह्रस्वता, उदात्तानुदात्तयोः समाहारः समावेशः स्वरितस्य, उदात्तश्रुतित्वं प्रचयस्येतीमे स्वरधर्माः। उदात्तप्रचययोर्मुखं स्थानम्, अनुदात्तस्य हृदयम्, प्रचयस्य च शिर इति स्वराणां स्थानानि। 'प्रजापतिः' अत्र प्र इत्यनुदात्तः, जा इत्युदात्तः, प इति स्वरितः, तिः इति प्रचयः। तत्र क्वचिदनुदात्तो विक्रमसंज्ञो भवति। द्वयोरुदात्तयोः, द्वयोस्स्वरितयोः, उदात्तस्वरितयोः, स्वरितोदात्तयोः, प्रचयोदात्तयोः, प्रचयस्वरितयोर्मध्ये योऽनुदात्तस्स विक्रम इत्युच्यते। वोढवे योऽस्य स्वोऽग्निः, तस्य क्व, धन्वनागाः, अनाप्तस्नापयिता, उपरिष्टाल्लक्ष्मा याज्या इति क्रमेणोदाहरणानि। स्वरितश्चतुर्विधः—अभिनिहितः, क्षैप्रः, प्रश्लिष्टः, नित्यश्चेति। तत्र क्षैप्रस्वरितस्य आकार-ऊकार-एकार-ऐकारैर्योगे कम्प इति संज्ञा भवति। एवमभिनिहितप्रश्लिष्टकम्पा अप्युपदिष्टाः। तैरोव्यञ्जन-पादवृत्त-प्रतिहतादिभेदेन स्वरितोऽनेकविधः। एतेषां ज्ञानं छात्राध्यापकयोरध्ययनावसरे आवश्यकं भवति।

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम्। ऋग्यजुस्सामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते'॥

इति फलश्रुत्या सामवेदे यथा हस्तस्वरः तथा ऋग्यजुर्वेदयोरप्यस्तीति ज्ञायते। वर्णानामुच्चारणे कालनिर्णयोऽपि वर्णितश्शिक्षासु। वन्यकाकेन चाषेणोक्त एकमात्रः कालः। वायसेन ग्राम्येण काकेनोक्तो द्विमात्रः, मयूरोक्तस्त्रिमात्र इति मात्राकालास्त्रयः। मात्रायाश्चतुर्थो भागोऽणुः, अर्धमात्रस्तु व्यक्तमात्रः कालः। 'यस्ते' इत्यत्र सकारस्याणुः, 'ग्राव्णः' इत्यत्र वकारस्यार्धमात्रः। 'अङ्गुलिस्फोटनं यावाँस्तावान् कालस्तु मात्रिकः' इति मात्राकालस्य परिमाणम्। प्रतिवर्णं कालमवगत्य तदुच्चारणेन फलविशेषोऽपि शिक्षायां प्रतिपादितः। वर्णोच्चारणावसरे च न हि उ वा स्म ह तु ईम् वै नु इत्येतेषां पूर्वपदेन यदि संहिता तर्हि पूर्वतो विश्रामो न कर्तव्य इति नियमः। यथा—'वाजश्च प्रसवश्च' इत्यत्र प्रसव इति, 'संवदेत न सहासीत' इत्यत्र संवदेत इति, 'तस्मा उ हव्यम्' इत्यत्र तस्मै इति विश्रामो न कर्तव्य इत्येवमादयो नियमाः परिपालनीयाः।

स्वरधर्माः क्वचिद्व्यञ्जनेष्वपि प्राप्नुवन्ति। व्यञ्जनानां स्वभावत उदात्तादिस्वराभावेऽपि यत्र व्यञ्जनानि स्वरवर्णाङ्गानि भवन्ति तत्र तानि तद्धर्मवन्ति जायन्ते। क्वचिद्व्यञ्जनं पूर्वस्वरवर्णस्याङ्गं क्वचिच्च परस्वरवर्णस्य। 'देवा वै' इत्यत्र दकार एकाराङ्गं, वकार आकाराङ्गं, द्वितीयवकार ऐकाराङ्गम्। 'आभवत्' इत्यत्र पदावसानगतस्तकारः पूर्वस्वरवर्णाङ्गम्। तन्नैर्ऋतम्' इत्यत्र ऋकारात् पूर्वो रेफः पूर्वस्वरस्यैकारस्याङ्गम् न परऋकारस्य। एवमादयो धर्माः प्रकृतिपाठस्य। विकृतिपाठावसर एतेषामुच्चावचमुत्सर्गापवादाः शिक्षासूपलभ्यन्ते। शुद्ध-स्वर-मात्रा-ङ्गवर्णानां यथायथं क्रमं सुविज्ञाय यो वर्णसारक्रमे विचक्षणस्स एवाचार्यो भवितुमर्हतीति शिक्षाकाराणां सम्मतिः। शिक्षाग्रन्थोऽध्ययनस्याङ्गं सद्वेदाङ्गं भवतीति पूर्वमवोचाम। वेदवाक्यानां यथायथं वाक्यार्थं निर्णेतुं प्रवृत्तो महर्षि जैमिनिः 'तस्य ज्ञानमुपदेशः' इति सूत्रयन् प्रतिज्ञातस्य धर्मस्य ज्ञापकं प्रमाणम् 'उपदेश' इति शब्देन निर्दिशति। उपदेशशब्दस्य 'विशिष्टमुच्चारणम्' इत्यर्थं वर्णयति भाष्यकारः श्रीशबरस्वामी। उच्चारणे वैशिष्ट्यञ्च नियतस्वरवर्णक्रमादिनियमाधीनम्। एतादृशमुच्चारणमनु उच्चारणं यत्तदेव वेदाध्ययनम्। अतश्च नियतस्वरवर्णक्रमादिनियमपुरस्सरं गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणव्यापारैक-

लभ्यो यश्शब्दराशिः स एव वेदशब्दाभिधेय इति निर्गलितम्। तस्यास्य शब्दराशेः प्राचीनभारते अध्ययनाध्यापनाभ्यां, तदुदितानां नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां यथावदनुष्ठानेन, मीमांसान्यायैः तदीयवाक्यार्थविधारणेन, तत्परिशीलनेन च संरक्षणमभवत्। अध्ययनाध्यापनतन्तुरयमविच्छिन्नस्तदानीमासीत्। यदाऽस्मिन् व्यापारे किञ्चिच्छैथिल्यमन्वभूयत प्राचीनैस्तदा परम्परासमागतं क्रममवलम्ब्य सूत्रलक्षणग्रन्थाः प्रवर्तिताः। कल्पसूत्राणां स्वरवैदिकप्रक्रियाया अन्येषाञ्च लक्षणग्रन्थानां प्रातिशाख्यप्रभृतीनां विरचनात्पूर्वमपि वेदाध्ययनाध्यापनसंप्रदायोऽक्षुण्ण आसीदित्यत्र न कश्चन संशयः। परम्परया समागतानेव पुरातनान् नियमान् महर्षयस्संगृहीतवन्त इत्यभ्यूहनं न निर्युक्तिकम्। अत एव कल्पसूत्राधिकरणपूर्वपक्षे मीमांसायामेतेषामपि ग्रन्थानां वेदवत्प्रामाण्यं निरूपितम्। पूर्वपक्षा अपि न निर्युक्तिका भवन्ति। तदानीन्तने काले यथा गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणव्यापारेण वेदानां वाचोविधेयता तथैवाङ्गानां लक्षणग्रन्थानाञ्च तेनैव व्यापारेण वाचोविधेयताऽऽसीत्। अत एव याज्ञिकाः कर्मणां प्रायोगावसरे कल्पसूत्राण्यपि मन्त्रोच्चारणवदुच्चारयन्तीति संप्रत्यपि क्वचिदुपलभामहे। इमां रीतिमनुभूय कल्पसूत्राधिकरणपूर्वपक्षी वेदवत्तेषां स्वतःप्रामाण्यमुपपादयतीत्युन्नेतुं शक्यते। तत्रत्यसिद्धान्ती च वेदवदध्ययनव्यापारे तुल्येऽपि कल्पसूत्राणां प्रणेतारः स्पष्टं स्मर्यन्त इति तेषां प्रामाण्यं वेदमूलकमिति व्यवस्थापयति। अनेन सन्दर्भेण नूनं निश्चेतुं शक्यते वेदरक्षणार्थं नियतं शिक्षादीनामप्यध्ययनं तदानीमभवदिति। अन्यथा प्रथमं वेदाध्ययनमव्यवस्थितमभूत् अनन्तरं ग्रन्थान् प्रणीय महर्षयो व्यवस्थामकुर्वन्निति कल्पनीयं स्यात्। एवं कल्पने प्रागस्माकं समाजोऽव्यवस्थित आसीदिति स्वीकर्तव्यं भवेत्। तदिदं न युक्तियुक्तमिव।

अत्रैवं विवेचयितुं शक्यते—वेदाध्ययनकर्तॄणां प्राचां वेदग्रन्थपठितॄणामाधुनिकानाञ्च भूयानस्ति प्रभेदः। अध्ययनं पठनञ्च नैकरूपे भवितुमर्हतः। गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणव्यापार एवाध्ययनपदप्रयोगः शास्त्रविदामभिमत इति पूर्वमवोचाम। पठनपदन्तु वर्णवाचनरूपे साधारणव्यापारे प्रयुज्यते। असाधारणाध्ययनव्यापारविद्भिरेव चिरन्तनी सा परम्परा ज्ञायेत, न तु केवलं पठितृभिः। व्याकरणशिक्षा प्रातिशाख्यप्रभृतयो ग्रन्था असाधारण एव व्यापारे उपयुज्यन्ते। केवलमानुपूर्व्याश्शब्दतोऽर्थतो वाऽधिगमने नैषां ग्रन्थानामावश्यकता। अध्ययनव्यापारगतमसाधारण्यं प्रतिपादयितुमेव शिक्षादयस्संप्रवृत्ताः। वेदसंरक्षणे मुख्यं स्थानमावहति शिक्षा। शिक्षाया मूलं सम्प्रदायः। अर्वाचीनाश्च शिक्षां मूलं स्वीकुर्वन्तः विकृतिपाठान् नैकविधान् वेदरक्षार्थं प्रवर्तितवन्तः। अत एवात्र पाठपदप्रयोगः—पदपाठः, क्रमपाठः, जटापाठः, घनपाठ इति। विकृतिपाठशिक्षणेन अक्षराणां मात्रायाः कालस्य क्रमस्य स्वराणां पूर्वापराङ्गानाञ्च व्यतिक्रमो यथा न स्यात्तथा शिक्षाग्रन्थो वेदं रक्षति। अधुना स्वेच्छानुसारं पाठभेदं प्रकल्प्य साधारणग्रन्थान् प्रकाशयन्ति। तादृशो व्यापारः शिक्षायां जीवन्त्यां वेदाख्यशब्दराशौ कदापि न भवितुमर्हति। अतः सर्वानेव शिक्षाग्रन्थान् पर्यवेक्ष्य तद्गतांश्च नियमान् यथायथमवगत्य वेदाध्यापकाः पूर्वजा आचार्यपदं लब्धवन्तः। अधुना परम्परेयं प्रायो लुप्ता भारतवर्षे। अस्या उज्जीवनाय सर्वैरेव यथाधिकारं यतितव्यमिति।

वेद-धर्मशास्त्र-परिपालनसभायास्तृतीयाधिवेशनस्याध्यक्षाणां

ब्रह्मर्षिपट्टाभिरामशास्त्रिणाम् अध्यक्षीयसभिभाषणम्

'सत्यं सत्यं पुनस्सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते । वेदशास्त्रात्परं नास्ति न दैवं केशवात्परम् ॥

नमस्सदसे ! नमो विद्वदपश्चिमेभ्यः !

पवित्रतमस्य भारतवर्षस्य राजधान्यां वयमद्य 'वेदधर्मशास्त्रपरिपालनसभया' समायोजितेऽस्मिन्नधिवेशने समवेतास्स्मः । समस्तस्य जगतो रक्षकत्वेन यश्शब्दराशिर्वेदपदाभिधेय आसीत्, समेषामपि प्राणिनां श्रेयसः प्रेयसश्च प्राप्तये मुख्यं साधनं यो धर्मः संस्कृत्यपरनामा पर्यगण्यत, यानि च जगतश्शासकत्वेन शास्त्राण्यभवन् तेषां पालनाय सभाया निर्माणमस्माकमापतितमिति विचिन्त्य नितरां दुःखमनुभवामि । इतोऽप्यधिकतरं दुःखस्य स्थानम्—यत्तस्मिन्देशेऽद्य वयं समवेतास्स्मो वेदरक्षणोपायान् परिचिन्तयितुम्, यस्माच्च पञ्चमवेदत्वेन परिगण्यमानं व्यासाचार्यैः प्रणीतं महाभारतं समुद्भूतम्, यत्र च द्रोणाचार्यप्रभृतयो महाभागा वेदान् तदङ्गानि विशेषतो धनुर्वेदञ्च कौरवान् पाण्डवाँश्च ग्राहयामासुः, 'तस्मात्सत्यं परमं वदन्ति' इति श्रुत्युक्तमर्थं यथावदनुसरन्तो धर्मपुत्रप्रभृतयो राज्यञ्चाकुर्वन् । जिह्रेमि चाहम्—यत्सत्स्वपि तेषु तेषु शास्त्रेषु वेदेषु च निरतिशयं वैदुष्यमावहत्सु भूयस्सु विद्वत्तल्लजेषु, तान् विहाय सभाया अस्यास्समायोजका अज्ञं मामस्मिन् कर्मणि न्ययूयुजन्निति ।

देशेषु स एवोत्कृष्टत्वेन परिगण्यते यश्चात्मनः पुरातनमितिहासम्, अनितरसाधारणीं लोभनीयाञ्च संस्कृतिं परिरक्षति, नोल्लङ्घते च शासकैश्शास्त्रैर्निर्दिष्टं पन्थानम् । कलियुगस्य पञ्चसहस्राब्दिकवर्षेषु व्यतीतेष्वप्यधुना आ च हिमवत आ च कुमारिकाया वैदिकपथावलम्बिनः प्रत्यहं सन्ध्योपासनादौ सङ्कल्पवाक्ये 'अष्टाविंशतितमे कलौ युगे' इत्येकरूपेण निर्दिशन्तोऽष्टाविंशतितमत्वं कलियुगस्य स्मरन्तीति सर्वप्रत्यक्षमिदम् । आश्चर्यस्य महतोऽयं विषयः—यदतिप्राचीनेषु कालेषु प्रचाराय साधनसामग्रीष्वाधुनिकीष्विवासतीष्वपि सर्वेऽपि भारतीयाः कलेः कथमष्टाविंशतितमत्वं स्मरन्तीति । विनैवाधारेण ते स्मरन्तीति कथनं साहसिकस्य स्यात् । चतुर्षु युगेषु कलेरष्टाविंशतितमत्वञ्चेत्कियानस्माकमितिहासः प्राचीन इति महाँश्चिन्तनस्य विषयोऽयम् । आपस्तम्ब-बौधायन-कात्यायनप्रभृतयो महर्षयो भारतस्यानुकूलां संस्कृतिं ग्रन्थरूपेण निबध्नन्तो नूनं ते संस्कृतेः परिरक्षणे जागरूका आसन्निति गम्यते । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' (छा. उ. २. २३. १) इति छान्दोग्यवचने विमृश्यमाने स्पष्टं प्रतीयते—यदस्माकं संस्कृतिः कीदृशीति । पूर्वं कदाचिद्विदुषां गोष्ठीषु ऋत-सत्य-तपो-दम-शमाग्न्यतिथिः मानुष्य-प्रजा-प्रजन-प्रजातिषु स्वाध्यायप्रवचनसहितासु संस्कृतिषु कस्याः श्रेयस्त्वमिति विवादे जाते विदुषां मतानि प्रकाश्यन्ते—'सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः, तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः, तद्धि तपस्तद्धि तपः' (तै. उ. १.९.) इति । तत्र मौद्गल्यमते 'स्वाध्यायप्रवचने एव' इत्येवकारेण ऋतसत्ययोर्निषेधे गम्यमानेऽपि स्वाध्यायप्रवचनापेक्षया तयोरुपसर्जनत्वे तात्पर्यं परिकल्पनीयम् । स्वाध्यायप्रवचनयोर्निरतं मानवम् ऋतसत्यप्रभृतयस्स्वत एवानुवर्तेरन् । एतेन प्राचीनैरध्ययनेऽध्यापने च सर्वस्समयोऽनीयतेति गम्यते ।

प्राचीनेतिहासे यदि वयं दत्तदृष्टयो भवेम तर्हि नूनमिदानीन्तनैस्तथाविधमध्ययनमध्यापनं वा न क्रियते, नापि कर्तुं शक्यत इति निश्चेतुं शक्नुमः । सर्वशास्त्राध्यायी नारदः सनत्कुमारं भगवन्तमासाद्य प्रार्थयते—'अधीहि

भगव' इति । सनत्कुमारेणाऽपि-यत्त्वं वेत्सि, तन्मे ब्रूहि, तदूर्ध्वं त्वामध्यापयामीति नियुक्तो नारदः स्वाधीतान्विषयान् परिगणयति-'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं, दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं वेदविद्यां, ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां, सर्प-देव-जन-विद्याम् एतद्भगवोऽध्येमि' (छा. उ. ७.१२.) इति । एतावतो विषयानधीत्यापि नारद आत्मनोऽपूर्णत्वमध्ययनस्य निश्चित्य पुनरध्येतुं गुरूपसदनं करोति । कियती प्रवृत्तिरध्ययनेऽध्यापने च प्राचामासीदित्यधुनाऽभ्यूहितुमपि न शक्यते । लोकानामस्मिन् कर्मणि शैथिल्यं मा भूदिति तैत्तिरीयश्रुतिर्भर्त्सयति—'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' इति । अधीत्य तद्विस्मरणे महान्तं दोषमाविष्कुर्वन्ती श्रुतिः प्रवृत्ता-'यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति' (तै. आ. २. १५) इति । अनुचितस्य द्रव्यस्य प्रतिग्रहे, अनापदि आपदि वा दुष्टस्य याजने प्रवृत्तं पुरुषं दोषादुन्मोचयितुं स्वाध्यायाध्ययनमेव प्रायश्चित्तं बोधयति श्रुतिः'अनश्नँस्त्रिः स्वाध्यायं वेदमधीयीत' 'शुचौ देशे स्वाध्यायमेवैनमधीयन्नासीत' इति ।

एवमादिषु प्रमाणेषु विविच्यमानेषु पवित्रेऽस्मिन् शब्दराशौ पूर्वजा महान्तमादरभावमाबबन्धुरिति स्पष्टमवगम्यते । यश्च शब्दराशिर्न केवलं जगति मानवानां किन्तु समेषां प्राणिनां हितं पश्यन्नुपदिशति, सतः पदार्थान्, साधूनि कर्माण्यनुष्ठापयति, निष्कण्टकान् मार्गान् प्रदर्शयति, सर्वत्र समं दर्शनमवबोधयति, विभिन्नानपि सम्प्रदायान् विरुद्धान्यपि च मतानि सूत्रेणैकेन बध्नाति, सत्यपराधे विना पक्षपातं दण्डान् नैकविधानि च प्रायश्चित्तानि विदधाति, पुण्यानि पापानि च विवेचयति, तस्मिन् महाफले शब्दराशौ कथमिवादरभावं न कुर्युः ? इमं शब्दराशिं सर्वज्ञत्वेन परिगणयन्ति श्रीमद्भगवत्पादाः'''किमु वक्तव्यमनेकशाखाभेदभिन्नस्य देव-तिर्यङ्-मनुष्य-वर्णाश्रमादिप्रविभागहेतोः ऋग्वेदाद्याख्यस्य सर्वज्ञानाकरस्य' इति । यावदाध्यात्मिकं तत्त्वमधिगन्तुमुच्चावचानुपायानवबोधयत्ययं शब्दराशिस्तावदाधिभौतिकमपि तत्त्वमासादयितुमुपायानुपदिशति । प्रपञ्चे हि सर्वोऽपि नैकरूपो भवति—कश्चन प्रवृत्तौ चेन्मतिं करोति—अपरो निवृत्तौ । स्वर्गं पशून् पुत्रान् वा चेदभिलषति कश्चन, मुक्तिमपरः । कर्माणि साधनत्वेन गृह्णाति कश्चन, इतरश्च तानि सन्न्यस्यति । आस्तिकपथे कश्चन गन्तुमिच्छति, इतरस्तु नास्तिकपथे । भिन्नरुचिः खलु लोकः । सर्वस्याप्युपाया अत्र समुपलभ्यन्ते । अधुना त्विदं लोकानामाश्चर्यं प्रतिभायात्-यत्पुरा असाध्या अपि महान्तो रोगा वेदशब्दैरेव चिकित्स्यन्ते स्म । तादृशानि कर्माणि विहितान्युपलभ्यन्ते वेदेषु येषां यथाविध्यनुष्ठानेन महद्भ्यो रोगेभ्य उन्मुक्ता अभवन् मानवाः । आधुनिकी या विज्ञानधारा औषधान्वेषणे तत्प्रयोगे च प्रचलति, तादृश्येव पुरा मन्त्राणां जपस्य कर्मणामनुष्ठानस्य च धारा प्रवहति स्म । पूर्वं 'हेयं दुःखमनागतम्' इत्यासीत्सिद्धान्तः, अधुना त्वागतं दुःखं हेयमिति । पुरा चेतनविज्ञानधारायां अधुना हि जड़विज्ञानधारायाः प्रवाहः । संहारेऽपि प्रवृत्तिरासीत्पूर्वजानां प्रतिसंहारेऽपि, सम्प्रति तु संहार एव । एवं नैकविधाभिर्धाराभिः प्रवहन्तीयं भगवती श्रुतिर्यथायथं भुवं परिपालयति स्म ।

पूर्वजैरतिकृच्छ्रेण सञ्चितस्य महतस्तपसोऽयं शब्दराशिः परिपाकः । भुवनकोशस्यैवायं महान्निधिः । किं ब्रवीम्यहमस्माकं पनेलिमं भागधेयमहिमानम्-तस्मिन्देशे वयं जन्मालभामहि यत्राम्बरं वैदिकैश्शब्दैरोतंप्रोतञ्च विलसति, तमेव गन्धवहमधुनापि वयमनुसरामः-यश्च महर्षिभिरनुष्ठितेभ्यः कर्मभ्यस्समुद्भूतेन पवित्रेण धूमेन संस्कृतः, तास्वेव पुण्यासु नदीषु वयमवगाहामहे यासु वसिष्ठभरद्वाजप्रभृतयो महामानसा अवागाहन्त, तान्येवास्थीनि तदेव च रुधिरमस्मच्छरीरेषु सम्बद्धानि यानि पूर्वजानामासन्, तान्येव तेजांसि वियत्यधुनापि नक्षत्ररूपेण प्रज्ज्वलन्ति, यानि च तपोधनानामासन् । नूनमस्मत्पूर्वजा भारतीया भाग्यशालिनः-यदनेकैः श्रोत्रियतल्लजैरनूचानाग्रगण्यैश्च क्षुण्णे पथि वर्तमानाः कालमनयन् ।

आसीत्तादृशः कश्चन कालो रमणीयः, यत्र भारतभूप्रदेशोऽयं वेदाध्ययननिरतैर्बालैर्युवभिः स्थविरैश्च मानवैर्व्याप्तः । य एव यथाधिकारं वेदं नाधीते स्म, स लौकैर्दूरतः पर्यह्रियत । य एव नित्यानि नैमित्तिकानि

कर्माणि नानुतिष्ठति, स शिष्टैरजुगुप्स्यत । जले मार्गे वा यो निष्ठीवति, सोऽनिन्द्यत । अतश्शेवधेरस्य परिरक्षणे भारते जनिमाँस्तस्थिवानेकैकोऽपि स्वस्वाधिकारानुसारं यतमानोऽभवत् । केचन यथायथं वेदान् कण्ठे धारयन्तस्तदर्थांश्च विवेचयन्तः, अपरे कण्ठे केवलं कुर्वाणाः इतरे तदुदितानि ऐहिकान्यामुष्मिकाणि ऐहिकसंवलितामुष्मिकाणि च फलान्युच्चावचं जनयितुं समर्थानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि यथावत्समाचरन्तः, एके वेदसम्बन्धीनि संख्यातीतानि ग्रन्थरत्नानि निर्माणकर्मतां नयन्तः, कतिपये सुहृत्संमितैः कान्तासंमितैश्च सरलैस्सरसैश्च शब्दैस्तदर्थान् संगृह्य लोकान् यथायथं ग्राहयन्तो भगवन्तं वेदं परिपालयाम्बभूवुः ।

किं बहुना ?

'शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै । स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ॥

'दर्भमुष्टिप्रहरणानग्निकुण्डायुधांस्तथा' । 'तपस्सन्तापलब्धस्ते योऽयं धर्मपरिग्रहः ।

न स नाशयितुं शक्य आत्मप्राणपरिग्रहः' ॥

इति भगवतो वाल्मीकेर्वचनैः—मानवा भवन्तु असुरराक्षसा वा, आस्तिका वा भवन्तु नास्तिका वा सर्वेषां वेदेन सह साक्षात्परम्परया वा कश्चन सम्बन्ध आसीदिति कथनं न युक्तिरहितम् ।

एवं महते फलाय प्रवृत्तानां वेदानामध्ययने सन्ति भूयांसो नियमाः । त एव गौतमापस्तम्बादिभिर्महर्षिभिरुल्लिखिताः स्वस्वसूत्रग्रन्थेषु । तेषां पालनमेकैकस्याध्येतुरनिवार्यं भवति । यथानियमं साङ्गमनुष्ठितमेव कर्म फलाय कल्पेतेति शास्त्रविदां मर्यादा । ऐहिकमामुष्मिकं वा दृष्टमदृष्टं वा महदल्पं वा फलम् अल्पीयसाप्येकेनाङ्गेन विना प्रधानमुत्पादयितुं न समर्थं भवेदिति लोकतस्सिद्धोऽयं पन्थाः । यथायथं यथाक्रमं यथाधिकारं यथाकालं यथामर्यादञ्चानुष्ठितेनाध्ययनेन सम्पादिताद्वेदात् स्वस्वाभिलषितान् मनोरथान् देशस्य समाजस्य वा समुन्नत्यौपयिकानि फलानि साधयितुं शक्यन्त इति निश्चित्य तत्र तत्र गुरुकुलानि च प्रतिष्ठाप्य मनोरमां काञ्चनाध्ययनाध्यापनपरिपाटीं सञ्चालयाम्बभूवुः कुलपतयो भारद्वाजप्रभृतयः । अद्य वयं यत्र समवेतास्स्मः, इदमपि गुरुकुलमेकदाऽऽसीत् । सकलवेदतदर्थरहस्याभिज्ञात् द्रोणाचार्यात् भीष्मपितामहाच्चाधीतवेदतदङ्गाः पाण्डवाः कौरवाश्च । इमे हि कुलपतयः पूर्वं चतुरो विषयान् प्राधान्येनाध्ययनाय स्वीचक्रुः—आहार-नियमः प्रथमः, व्यवहारनैपुण्यं द्वितीयः, चारित्र्यरक्षणं तृतीयः, अनुशासनपालनञ्च तुरीयः । चतुर्ष्वेतेषु दत्तदृष्टय इमेऽभवन् । इदं चतुष्टयं न केवलमध्ययनस्यैव, किन्तु देशस्य समाजस्य च समुन्नतेरपि कारणं तैरवधारितम् । आहारो बुभुक्षोपशमनायैव न परिगणितस्तैः, किन्तु व्यवहारौपयिकस्य शोभनस्य मनसस्सम्पादनाय । तेन च चारित्रानुशासनपरिपालनयोस्सिद्धिः । बाल्य एवेदं चतुष्टयं सुसम्पादमिति निश्चित्य प्रथमं ते दत्तावधाना विनेयान् वेदान् ग्राहयन्ति स्म । विनेयैः क्रियमाणं स्वाध्यायाध्ययनं नाक्षरग्रहणमात्रेण निर्वृत्तमभवत्, किन्तु बोधः फलं तस्य । बोधोऽपि नात्मसन्तुष्ट्ये, किन्त्वाचरणाय । आचारोऽपि न स्वस्वरूपावेदनाय, किन्तु सर्वतः प्रचाराय । प्रचारोऽपि न ख्यातिख्यापनाय, किन्तु जगतः कल्याणाय । एवं परमस्य पवित्रस्य च प्रयोजनस्य सम्पिपादयिषया सनियमं वेदानधीत्य तदर्थान् तद्रहस्याणि च सम्प्रदायतोऽवगत्य चमत्कृतयाधायकानि कर्माणि प्राञ्चस्समाचरन् ।

एकाकी कुलपतिर्भगवान् भरद्वाजः, संख्यातीताश्च भरतस्य सैनिकाः । आश्रमे तरुगुल्मादिभिः परिवृताः पर्णशाला एव, न हर्म्याणि प्रासादा वा । उञ्छवृत्त्या सञ्चितान्येव धान्यानि-आरण्यकानि, न शालयो गोधूमा वा । शिष्यजनसम्पदेव, न परिचारकाः परिचारिका वा । शम एव धनम्, न सौवर्णं राजतं वा द्रविणम् । ग्रहणधारणजपाध्ययनजनिता एवोदात्तानुदात्तस्वरितादिस्वरान्विताः शब्दाः, न वृथालापाः । शाद्वलैश्छन्ना एव भूप्रदेशाः, न नीलमणिभिः खचिताः । सर्वतो वल्कलान्येव, न क्षौमाण्यम्बराणि । तथापि कुलपतिः ससैन्यं भरतं निमन्त्रयति, अग्निशालाञ्च प्रविश्य त्रिराचामति, द्विरोष्ठौ प्रमृजति, किञ्चिच्च जपति । तथाविधश्चातिथ्य-

चमत्कारो जायते, यच्च वल्मीकजन्ममुनिरेव प्रभवति वर्णयितुम् । एवमेव ब्रह्मर्षिस्तपोधनो वसिष्ठः मृगयाव्याजेन समागतं क्षत्रकुलावतंसं विश्वामित्रं ससैन्यं विशिष्टेनातिथ्येन सत्करोति, धेनुलुब्धेन विश्वामित्रेणोच्चावचं प्रयुक्तानि जगद्विध्वंसकान्याग्नेयकान्यस्त्राणि भीषणानि च शस्त्राणि ब्रह्मदण्डेनैकेनैव ग्रसति । एवमेवैकाकी कपिलो महर्षिः दशसहस्रं राजपुत्रान् सगरजान् क्षणेनैव भस्मसात्करोति । किमिदं भरद्वाजस्याचमनं जपो वा ? कोऽयं वसिष्ठस्य ब्रह्मदण्डः ? केयं कपिलस्य शक्तिः ? कथमिमे चमत्कारा महर्षिभिस्सम्पादिताः ? इत्यादीनां प्रश्नानामिदमेकमेवोत्तरं भवितुमर्हति—यत्तैः कृतस्य नियतस्य वेदाध्ययनस्य तपसः परिणामः । 'तद्धितपस्तद्धि तपः' इति हि भगवती श्रुतिर्वदति । किमहं महर्षीणां माहात्म्यं वर्णयामि—सत्यवसरे ते देवानप्याहूय प्रत्यक्षं तैस्संल्लप्य तान् किङ्करानिव तेषु तेषु कर्मसु नियोक्तुं प्रभविष्णवोऽभवन् । सर्वञ्चेदं जगदादानप्रदानेनैव व्यापारेण जीवति । देवा ददति, मानवाः प्रतिगृह्णन्ति, मानवाः प्रददति, देवाश्च गृह्णन्ति ।

'देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' ॥

इति हि भगवान् पार्थसारथिरुपदिशति । तस्यामेव पुण्यभूमौ वयमद्य निवसामः, यत्र पदे पदे देवा अपि सङ्गता अभवन् । सैवेयं भारतमाता या च स्वसुतान् शश्वद्दैवैस्संल्लपतो निरीक्ष्य प्रमुदितान्तरङ्गाऽऽसीत् । मातेयं स्वप्राणभूतान् वेदान् रक्षितुमेकैकोऽपि सुतो बद्धपरिकरोऽस्तीति समनुभूय निर्वृतान्तरङ्गाऽभवत् । एवं क्रमो बहुकालपर्यन्तं निष्प्रत्यूहः प्रसृतोऽभवत् ।

परिवर्तनशीले संसारचक्रे निश्चितमिदं यत्सर्वमेव वस्तुजातं परिणमनशीलं भवतीति । वेदानां संरक्षणन्तु पठनपाठनपरिपाट्येकसाध्यमित्यत्र न सन्देहः कश्चन । लोकानामस्यां परिपाट्यां किञ्चिदिव शैथिल्यमनुभूय मन्वादयः स्मृतिग्रन्थान् प्राणैषुः । मीमांसासूत्रप्रणेता भगवान् जैमिनिः—'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्' इति सूत्रं विरचयन्नवद्योतयति—यत्तस्मिन्नेव काले बह्वीनां स्मृतीनां मूलभूताश्शाखा अध्ययनव्यापाराऽभावाल्लोपं गता इति । तामिमामवस्थामनुभूय वेदबाह्या मस्तकान्युन्नमय्य समन्ताद्भारतभुवं सञ्चरितुमारेभिरे । स्वस्वमतप्रचारे ते यत्नवन्तोऽभवन् । सहजोऽयं किल गुणो लोकानाम्—यत्परस्य छिद्रं दौर्बल्यं वा समनुभूय विरोधिनस्समुत्तिष्ठन्त इति । देवासुरसंग्राम इव वैदिकानां वेदबाह्यानाञ्च तत्र तत्र भारते महानासीद्वादसंग्रामः । सर्व एव दार्शनिका एकीभूय विरोधिनामाक्रमणं निरोद्धुं शक्तिं व्ययीचक्रुः । आस्तिकैर्नास्तिकैर्वा विरचितेषु ग्रन्थेषु परिशील्यमानेषु पक्षद्वयेऽपि कियानासीत्सङ्घर्ष इति न प्रच्छन्नमिदम् । एवं बहूनि शतकानि व्यतिगतानि । इत एवारभ्य शास्त्राध्ययनं वेदाध्ययनञ्चेति मार्गद्वयं प्रवृत्तमिति ज्ञायते । एवं भिन्नं मार्गमाश्रयतामपि नष्टाश्वदग्धरथन्यायेनोभयेषां सम्बन्ध आसीत् । वेदवित्सु घनपाठिषु शास्त्रिणामादरः, शास्त्रज्ञेषु च घनपाठिनामादरः । यवनानां शासनसमयेऽपि मार्गद्वयमिदं कथमपि प्रसृतमभवत् ।

तदनु-आङ्ग्लानां शासनमारब्धम् । आङ्ग्लभाषा राजभाषाऽभवत् । तदनुसारं विद्यालयेषु महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च तस्या एव प्राधान्यं न्यायतस्समापन्नम् । शनैश्शनैस्तस्यायं परिणामो जातः–यत्पूर्वापेक्षया संस्कृताध्ययने वेदाध्ययने वाऽध्येतॄणामभावः । पूर्वोक्तेषु विद्यालयेषु यत्संस्कृताध्यापनं तदाङ्ग्लभाषामाध्यमेन प्रचलितमभूत् । एवं येऽधीतसंस्कृतास्त एव तेषु विद्यालयेषु स्थानानि लभन्ते स्म । विद्यालयेषु संस्कृतमेवाध्यापनीयम् । तत्र तासु संस्कृतपाठशालास्वधीतसंस्कृता न योग्याः, आङ्ग्लविद्यालयेष्वधीतसंस्कृता एवाधिकारिण इति वैषम्ये जाते मार्गत्रयं सम्पन्नम्—१—आङ्ग्लभाषामाध्यमेनाधीतसंस्कृताः २—स्वस्वमातृभाषामाध्यमेन संस्कृतमाध्यमेनवाऽधीतसंस्कृताः, ३—वेदपाठिनश्चेति । बलाबलाधिकरणसिद्धान्तन्यायेन पूर्वे पूर्वे प्रबलाः परिगण्यन्ते स्म । प्राबल्ये चायं हेतुरुच्यते–यत्प्रथमे संस्कृतमाङ्ग्लभाषया पाठयन्ति, आङ्ग्लदेशीयैः प्रवर्तितं पन्थानमनतिक्रम्यैतिहासिकदृशा ग्रन्थानां विमर्शं कुर्वन्ति, कवीनां शास्त्रकाराणाञ्च कालादिनि-

र्णयेऽनुमानं कुर्वन्तीति। द्वितीये च ग्रन्थान्तर्गतेष्वेव विषयेषु तिष्ठन्ति। इदं दौर्बल्ये कारणम्। तृतीये च वेदाक्षराणि केवलं कण्ठे कुर्वन्ति नान्यत्किमपीति परमदौर्बल्ये कारणम्। प्रथमेन किमुच्यते किंवा लिख्यत इति द्वितीयो न जानाति, द्वितीयेन किमुच्यत इति प्रथमो न वेत्ति। उभाभ्यां किमभिधीयत इति तृतीयो नावगच्छति। एवमज्ञानपरम्परायां तुल्यायामपि पूर्वस्य पूर्वस्य प्राबल्यम्। इयमाङ्गलशासनसमये संस्कृतस्य वेदानाञ्चाध्ययने स्थितिः।

अद्यत्वे भारतस्य प्रशासका नाङ्गलाः। वयमेव देशस्य प्रशासकास्स्मः। भारतमातुस्सुपुत्राणामेव हस्तेषु शासनसूत्रमस्ति। सत्यममीशब्दाः श्रवसोः प्रविश्यामृतद्रवमाश्च्योतयन्ति। किन्तु मातुः प्राणा वेदा निर्गच्छन्तो वर्तन्ते। मातुः प्राणेषु निर्गच्छत्सु सुतैस्तूष्णीं न खल्ववस्थातव्यम्। कुशलं भिषजमाहूय नाडीपरीक्षणं कर्तव्यम्। सुपरीक्ष्य शोभनमौषधं प्रदाय मातुश्चिकित्सा कर्तव्या। मातुः प्राणा गरीयांसो भवन्ति। अस्मत्सन्ततिजा भारतीयसंस्कृतिं सर्वात्मना विस्मरन्तो दृश्यन्ते। ये हि लोकहितैकदृष्टयः शोभनानि चमत्कृत्याधायकानि कार्याण्यकुर्वन् तान् वसिष्ठभरद्वाजादीन् न कोऽपि बालोऽस्मदीयः स्मरति। आङ्गलशासनसमये प्रवर्तितायाश्शिक्षापद्धतेरेवायं परिणामः। सैव शिक्षापद्धतिरधुनापि प्रचलति यथायथम्। अध्ययनस्योद्देश्यं न कार्यालयेषु कर्मकरणं भवति। तदुद्देश्यन्तु बोधरूपम्। अधुना विद्यालयेष्वध्येतुं प्रविशन्नेव चिन्तयति बालः—कस्याध्ययनेनाहं प्रभूतं द्रव्यसञ्चयं कर्तुं प्रभविष्यामीति। नेदमुद्देश्यं समीचीनम्। द्रव्यसञ्चयस्तु विनाऽप्यध्ययनेन सिध्येत्। प्रथमं शिक्षाया उद्देश्यं परिवर्तनीयमस्माभिः। महतः खेदस्यायं विषयः—यच्चिरन्तनस्य शेवधेः परिरक्षणे कोऽपि न दृष्टिं दधातीति। अत्र च कारणम्—उद्देश्यपरिवर्तनाभाव एव। देशं समाजं वा धनेन, अभ्रंलिहैः प्रासादैः, विविधैरस्त्रैश्शस्त्रैः, नैकविधैर्वीरैः पुरुषैः, विविधैर्यानैर्यन्त्रैर्वा समृद्धं कुर्वन्तु, जडविज्ञानधारायाः प्रवाहाय मार्गान् कल्पयन्तु, साकमनेन कर्मणा शमेन, शीलेन, सच्चारित्रेण वैदुष्येणानुशासनपरिपालनस्वभावेन, समीचीनया संस्कृत्या च देशः समेधनीयः। अन्यथा देशान्तरेभ्यो भारतस्य किं वैशिष्ट्यं भवेत्? 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' इति खलु मनोरुपदेशः। जगति सम्प्रति मानवो मानवं दृष्ट्वा बिभेति। मृगसादृश्याय स्पृहयते। देशान्तराण्यनुकर्तुमिच्छति। प्राञ्चस्तु महर्षयोऽनुकार्या अभवन्। अनुकार्याणां खलु चरितमनुकर्तारोऽभिनयन्ति। अनुकर्त्रपेक्षयाऽनुकार्याः किल प्रबलाः परिगण्यन्ते। प्रबलैरस्माभिर्भवितव्यं न दुर्बलैः। प्राबल्यञ्च चिरन्तनैरनुसृतायाः सरणेरवलम्बनेन सिध्यति। नाहं ब्रवीमि नवीनमार्गानुसरणं न कर्तव्यमिति, किन्तु पुरातनो मार्गो न परित्यक्तव्य इति। उभावपि मार्गौ यथा मिलितौ भवेताम् तथा सम्पादने यतितव्यम्। विद्यालयेषु नवीना विषया बालैः कामं पठ्यन्ताम्, किन्तु यथाधिकारं वेदतदङ्गानि स्मृतयश्शास्त्राणि च तैः पठनीयानि। प्रत्यहमेकैव होराऽत्र बालैर्व्ययीकर्तव्या, तेनापि महती सिद्धिरिष्टस्य भवेत्। आङ्गलैः प्रवर्तितं शिक्षाया उद्देश्यमुत्सृज्य बोध एव तदुद्देश्यमिति दृष्ट्या यदि शिक्षाविभागः पर्यालोचयेत्तर्हि नास्त्यत्र किमपि काठिन्यम्। शिक्षाविभागस्तु प्रशासनाधीनः। प्रशासनेन या नीतिर्निर्धार्यते साऽनुसर्तव्या भवति शिक्षाविभागेन। शिक्षाविभागो यावच्छक्नोति कर्तुं देशस्य कल्याणाय तावत्करोतु, किन्तु ये बालानां संरक्षकास्ते तु बालान् समीचीने पथि प्रवर्तयितुं स्वतन्त्राः। नात्र शिक्षाविभाग- प्रत्यूहमाचरेत्। पञ्चषहोराणां कृते बाला विद्यालयान् गच्छन्ति, शिष्टाश्च होरा गृहेषु बालैर्यापनीया भवन्ति। गृहेषु च राजकीयशिक्षाविभागो न खल्वागच्छति। तत्र शिक्षाविभागस्य काऽऽवश्यकता। सप्तमं वर्षमारभ्य षोडशवर्षपर्यन्तं बालकानां शोभनस्समय उत्कृष्टश्च। अस्मिन्नेव समये ते सत्पथमसत्पथं वाऽवलम्बन्ते। शोभने ऽस्मिन्समये बालान् यां संस्कृतिं वयं ग्राहयामः सैव जीवनं व्याप्यानुसृता भविष्यति।

बालानस्मिन् पथि समानेतुं प्रथमं संरक्षकैः स पन्था अनुसर्तव्यो भवेत्। संरक्षकास्तु वयं पुरातनं पन्थानमुत्सृज्य नवीनमाश्रिता वर्तामहे। देशस्य समाजस्य च कल्याणायास्माभिः कश्चन त्यागः कर्तव्य एव।

अस्मदपत्यानां क्षेमाय कुटुम्बस्य च श्रेयसेऽस्माभिर्युवभिः स्थविरैर्वा जीवनोपयुक्ता वेदभागाः स्मृतयो धर्मशास्त्राणि पुराणानि च पुरातन्या शैल्याऽध्येतव्यानि। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः' इति न्यायेनास्मान् विलोक्यास्मदपत्यनामपि प्रवृत्तिरस्मिन् पथि सुकरा भवेत्। तदर्थं प्रातर्वा रात्रौ वा समयः कियान् कल्पनीयः। यथासमयं बाला विहितैर्जातकर्मनामकरणान्नप्राशन-चूडाकर्मोपनयनादिभिस्संस्कारैस्संस्कर्तव्याः। एषु कर्मसु प्रयुज्यमानानां मन्त्राणामर्था अवबोद्धव्याः। मन्त्राणामर्थेषु कर्मणां किं माहात्म्यमिति बोधो भवेत्। कर्षणादिसंस्कारैस्सुसंस्कृतायां भूमौ खलु उप्तानि बीजानि फलितानि भवेयुः। विषयेऽस्मिन् संरक्षकैर्दत्तावधानैर्भवितव्यम्। प्रतिकुटुम्बमेकोऽपि बालश्चेदेवं प्रवर्त्यते तर्हि सिद्धमस्माकं भवति समीहितम्। मुष्टिभिरेव मेयानि भवन्ति। न क्वापि भस्त्रिकाभिस्तानि मीयन्ते। सत्यं देशस्येमे बाला रत्नानि भवेयुः। भारतीयसंस्कृतिवृक्षस्य कामं पर्णानि शुष्काणि, शाखाश्च विलीनाः, किन्तु मूलं न विलीनम्, अधुनाप्यार्द्रमेव तद्वर्तते। जलसेचनं परं तदपेक्षते। सेचनकर्तारः त्यागैकमयजीवनाः केचन वर्तन्त एव। यान्त्रिकेऽस्मिन् युगे कियताप्यंशेन तेषामुपयोगाभावेऽपि नैकविधान्यवहीनान्यनुभवन्तोऽपि, केनापि पुण्यवशेनावशिष्टा वेदानां शाखाः साङ्गाः कण्ठे धारयितारो महात्मानो वैदिका जीवन्त्येवेति धन्योऽयं देशः। नूनमेभिर्देशस्य कल्याणाय महाँस्त्यागः कृतः। नैषां भारतेऽधुना कश्चन जीवनोपायः, नापि कश्चन समादरस्समाजे, तथापि कथञ्चित्कालं नयन्ति। सत्यमिमे रत्ननिचयैरभिषेक्तव्याः। एतेषां शरीरेषु मृतेषु सत्यमहं ब्रवीमि—पवित्रतमोऽयं देशो गाढेन तमसाच्छन्नःस्यात्। स्थाने वयं महामानसैः श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वरैर्जगद्गुरुभिः श्रीशङ्कराचार्यश्रीचरणैरुद्बोधिताः स्मः। तैर्जगति किमप्यवाप्तव्यं वस्तु नास्ति, जीवन्मुक्ताः खलु ते, तथाप्यस्माकं कल्याणाय 'वेदधर्मशास्त्र-परिपालनसभायास्सञ्चालनाय तैः समये समुद्बोधिता वयम्। गुर्वाज्ञापरिपालनं परमस्य श्रेयसो मूलं भवति। अस्मदीयासु संस्कृतिष्वियमेका—यदनुशासनपरिपालनं नाम। सभाया अस्या उद्देश्यं कार्यरूपेण परिणमयितुं महान् यत्नः प्रचलति। क्वचित्क्वचिदुद्देश्यपरिपूर्तिश्चक्षुर्गोचरा भवति। देशव्यापिनी सिद्धिरस्योद्देश्यस्य यथा भवेत्तथा विभिन्नेषु प्रान्तेषु सभाया अधिवेशनानि कारयितव्यानि। तेषु तेष्वधिवेशनेषु वैदिकमार्गस्य समुत्थानायोपाया अन्वेष्टव्याः। अन्विष्टानुपायान् कार्यरूपेण परिणमयितुं व्यवसायाः कर्तव्याः। अवशिष्टानां वेदशाखानां यथाविध्यध्ययनाय पाठशालाः परिकल्प्य तास्सुचारु सञ्चालनीयाः। अनधीतवेदैरप्यस्माभिः सधैर्यं पाठशालासु स्वस्वसुतान् सम्प्रेष्य पवित्रेऽस्मिन् कर्मणि यथाशक्ति साहाय्यं शरीरेण मनसा धनेन च यदि क्रियेत तर्हि नूनं महतः श्रेयसो भागिनो वयं भवेम। इति शम्।

—: ० :—

चित्तौड़ दुर्गे अखिल-भारतीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य पञ्चविंशाधिवेशनावसरे

पं० श्री पट्टाभिरामशास्त्रिमहोदयानाम् अभिभावणम्

चिन्मुद्रितकरममलं चिन्तितभक्तेष्टदं विमलम् । गुरुवरमाद्यं कञ्चन निरवधिकानन्दनिर्भरं वन्दे ॥

सभासदो विद्वदपश्चिमाः !

अखिल-भारत-वर्षीय-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य संस्कृतिपरिषदोऽहमाध्यक्ष्यं वोढुं भवद्भिर्नियुक्तः, तदर्थं भवद्भ्यः कोटिशो धन्यवादान् समर्पये ।

आ च भगवतः परमेष्ठिनः प्रथमायास्सृष्टेराचैतन्निमेषात् भारतवर्षमिदं देशान्तराण्यतिशय्य वर्तत इत्यत्र न संशयः कस्यापीति मन्ये । विंशतितमेऽस्मिन् शतके प्रायस्सर्वोऽप्यभिप्रेयात् यत्स एव देशोऽतिशयितः परिगण्यते, यस्मिन् जड-विज्ञान-द्वारा प्रकटीकृतानि ध्वंसकानि यन्त्राणि तत्साधनानि, विस्फोटकान्यस्त्राणि, विविधानि च यानानि नित्यं नवीनान्याविष्क्रियन्ते । एतन्निर्माणाय लक्षशः कोटिशो वा जना व्यापृतास्सन्तो यथापरिश्रमं द्रव्याण्यर्जयित्वा जीवनं सुखेन निर्वर्तयितुं समर्था भवन्ति । अशनाय वसनाय च निरपेक्षा भवन्ति । भारतन्त्वेतैस्साधनैर्नं समृद्धम्, नवैतेषां समुत्पादने भारतस्य क्षमता, न चापि प्रभूतेन वित्तेन समन्वितमिदम् अशनाय वसनायापि साम्प्रतं नेदमनन्यपरतन्त्रम् । सति चैवं कथमिदं देशान्तराण्यतिशय्य वर्तत इति सञ्ज्ञच्छतामिति । सत्यमेवेदं शङ्कास्थानम् । अचेतनैर्यन्त्रराजैः परिचाल्य-मानेऽस्मिन् युगे, भीषणैरायुधविशेषैर्देशं विध्वंसयितुं, यथाकथमप्यशनं वसनञ्च लब्धुं यतमाने देशान्तरे, यदि नाम भारतमिदमेतैर्विहीनम्, नूनं भारतस्य न्यूनतैव प्रतिभायात् । परमेतन्न समुचितमिव । या च समृद्धिर्लोकानां हृदयेष्वशान्तिं जनयति, भीतिं समुत्पादयति, ईर्ष्यां परिवर्द्धयति, पशुवर्द्धितितुं प्रेरयति, कामं क्रोधं लोभञ्च समेधयति; दुश्चारित्र्यं शिक्षयति, स्नेहं सौहार्दञ्च नाशयति, प्रेम्णा वर्तनं विघटयति, सा समृद्धिः कस्मै फलाय स्यात् । भयान्नैकविधाया अशान्तेः पीडाया वात्मानं मोचयितुं भीषण-शस्त्रमस्त्रं वा शाश्वतिकं फलं समुत्पादयितुं न क्षमम् । महत्याऽनया जडविज्ञानेनाविष्कृतया सम्पदा समवेता अपि निरस्तशत्रवोऽपि भयादशान्तेः पीडायाश्च ते निवृत्ता इति नाभ्युपगन्तुं शक्यते । स्वभावोऽयं देशस्य समाजस्य देशसमाजान्तर्गतानाञ्च मानवानाम् यत्सर्वदा शत्रुसमन्वितत्वं नाम । शत्रवो हि सहजाः, कृत्रिमा, आभ्यन्तरा, बाह्याश्चेति नैकविधा भवन्ति । समेषामेषामुत्सादनं मनीषिभिः काम्यत एव । तत्र देशान्तरापेक्षया भारतं तेषामुत्सादनाय विलक्षणं तत् साधनं परिगृह्णाति, यच्च शाश्वतिकं फलं जनयति ।

बहूनामेव शत्रूणां यदीच्छेत्कर्तुमप्रियम् । आत्मा तेन गुणैर्योज्यः तत्तेषां महदप्रियम् ॥

इति हि भारतीयानां सिद्धान्तः । यदि ह्यासुरेण साधनेनासुरमेव साध्यम् प्राप्नुमः, तर्हि किं तेन प्राप्तेन प्रयोजनम् । यदि वाऽऽसुरात्साध्यादासुरस्यैव साध्यस्यावाप्तिः, किं तया साधितं भवति । न हीमानि साधनानि साध्यानि वा नियतानि भवन्ति, नवा निरतिशयानि । एतान्यवाप्य किं साधितं मानवेन मनीषिणा । अत एवास्मकं प्राञ्चस्सुमतयो महर्षयः जगत्तत्त्वपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवास्सुचिरं विमृशन्तो जडविज्ञानावलम्बनाच्चेतनविज्ञानावलम्बनं श्रेय इति तत्र निश्चयमाबबन्धुः । इदं वैलक्षण्यं भारतस्य, अत एवास्य वैशिष्ट्यम् ।

इदं वैलक्षण्यमक्षुण्णं विदधातुं परिपालयितुं परिवर्द्धयितुं वा संमर्शिनः प्राञ्च आयतिं पर्य्यालोच्या-संख्याकान् ग्रन्थान्निर्माय तद्द्वारा काञ्चन मनोरमां लोभनीयाञ्च संस्कृतिं प्रवर्तयाम्बभुवुः। संस्कृतिस्तु सैव भवति या हि मानवान् सच्चारित्र्यं ग्राहयति, मानवेभ्यो मानवत्वमुपदिशति, कुपथे प्रवृत्तान् सत्पथे प्रवर्तयति, सर्वानेव मतभेदेन सम्प्रदायभेदेन वा वर्त्तमानानप्येकेन सूत्रेण बध्नाति, सौहार्दं सौजन्यं विनयसम्पदञ्च शिक्षयति, क्रमश आध्यात्मिकीञ्च शक्तिं प्रवर्द्धयति। किं वर्णयाम्यहं भारतीयानां पचेलिमं भागधेयमहिमानम्-यदस्माकं पूर्वजाः—

'यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये। सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत् ॥

इति कथयन्तो यत्किञ्चिल्लिलिखुरुपदिदिशुर्वा तेन पूर्वोक्तफलप्रदां संस्कृतिं ग्राहयन्ति। आ च प्रातः आ च सायं दैनंदिनं यथामर्यादं कर्त्तव्यत्वेन विहितेषु कर्मसु परिशील्यमानेषु संस्कृतिरसेन तानि संसिक्तानीति प्रतिभान्ति। आमुष्मिकफलकेष्वैहिकसंवलितामुष्मिकफलकेष्वैहिकफलकेषु वा स्मार्त्तेषु श्रौतेषु वा कर्मस्वधुना-तनानां लोकानां मा नाम प्रवृत्तिर्भवतु, दन्तधावने, स्नाने, भोजने, शयने च कर्मणि लोका अवश्यं प्रवर्तन्त इति विदितमेव नस्समेषाम्। तत्रापि दन्तधावनं स्नानं वा लोकः परित्यजतु, भोजनं शयनञ्च न कोऽपि परित्यक्तु-मीष्टे। भोजनञ्च क्षुच्छमनाय भवति। यथा तथा यदा तदा वा क्रियमाणं तत् क्षुधं शमयेदेव। चतुष्पादो विहगाश्चैवमेव कुर्वन्तो दृश्यन्ते।

तेषां मानवानाञ्च को भेदस्स्यादिति विचार्य पूर्वजास्तत्र कांश्चन नियमान् प्रवर्त्तयाम्बभूवुः। हस्तौ पादौ च प्रक्षाल्य, भूमावासनमास्तीर्य, तत्र पद्मासनेनोपविश्य, पत्रे परिविष्टमन्नं गायत्र्या सम्प्रोक्ष्य, 'देव सवितः प्रसुव', 'ऋतं त्वा सत्येन परिषिञ्चामि' इत्यन्नं परिषिच्य, 'अमृतोपस्तरणमसि' इत्यापोऽशनं विधाय, जठराग्नौ पञ्च प्राणाहुतीः हुत्वा, 'ब्रह्मणे स्वाहा', इति षष्ठीमाहुतिं विधाय, 'ब्रह्मणि म आत्मा अमृतत्त्वाय' इति वामेन करेण हृदयं संस्पृश्य, यावदपेक्षितमन्नं भुक्त्वा, 'अमृतापिधानमसि' इत्युत्तरापोशनं कृत्वोत्तिष्ठेदिति प्रकारो भोजनस्य। क्व वोपनिषत्सु प्रतिपाद्यमानं तत्त्वम्, क्व वेदं लौकिकं कर्म ? अनयोः कीदृशस्सम्बन्धः प्रतिपादितः प्राचीनैरिति विभावयन्तु सभासदः। एवं प्रकारेण मन्त्रार्थमनुस्मरता पुरुषेण भुज्यमानमन्नमेव पुरुषस्य मनो-रूपेण परिणमति। छान्दोग्यस्य षष्ठेऽध्याये त्रिवृत्करणप्रकरणे "अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुः तत्पुरीषम्, यो मध्यस्तन्मांसम्, योऽणिष्ठस्तन्मनो भवति" इति खण्डं विवृण्वाना भगवत्पादाः "अन्नमशितं भुक्तं त्रेधा विधीयते जाठरेणाग्निना पच्यमानं त्रिधा विभज्यते।..............योऽणिष्ठः अणुतमो धातुः, स ऊर्ध्वं हृदयं प्राप्य सूक्ष्मासु हिताख्यासु नाडीष्वनुप्रविश्य वागादिकरणसंघातस्य स्थितिमुत्पादयन् मनो भवति, मनो-रूपेण विपरिणमन् मनस उपचयं करोति" इति मनसो भौतिकत्वमेव प्रतिपादयाम्बभूवुः। 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' इति सर्वस्यापि कारणत्वेन विद्यमानं मनः प्रथमं परिशोधनीयम्। तत्र च सर्वस्यापि नान्तरीयकमिदं भोजनमपि साधनत्वेन जगृहुः प्राञ्चः। 'संध्यायां गावोऽपि न चरन्ति' 'अष्टम्यां शुनका उपवा-समाचरन्ति' इत्येवं कथयन्तो मीमांसाभाष्यकाराः शबरस्वामिनः भोजनक्रियायां विद्यमानं निगूढं तत्त्वमेव द्योतयन्ति। चतुष्पदः पशून्विलोक्य कुपथे प्रवृत्ता मानवाः शिक्षां प्राप्नुवन्त्विति परमेश्वरः तेष्वपि स्वभावत एवं कांश्चन नियमान् कल्पयामासेव। 'युक्तियुक्तं वचो ग्राह्यं बालादपि शुकादपि' इति हि सुभाषितम्।

अन्यापदेशेन नीलकण्ठदीक्षितास्तत्त्वमिदमवबोधयन्ति—

'अस्पृश्योऽस्तु मलीमसोऽस्त्वनियताहारोऽस्त्वतोऽप्युद्भटैर्दोषैरस्तु परश्शतैः परिवृतः काकस्ततः का क्षतिः।
भुंक्ते भोज्यमुपस्थितं समुपहूयैव स्वयं बान्धवान् यस्सीदन् क्षुधया विचिन्तय ततो धन्यश्च पुण्यश्च कः ॥

भारतीयानामेवायं पुण्यस्य परिपाकः—यत्पुण्यश्शब्दराशिर्वेदनामा समधिगतः। स च भोजनात्पूर्वमवश्यकर्त्तव्यत्वेन वैश्वदेवाख्यं कर्म बोधयन् तत्र मन्त्रान्विनियुङ्क्ते। तत्रेमे शकलहोममन्त्राः—"देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि स्वाहा। यद्दिवा च नक्तञ्चैनश्चकृम तस्यावयजनमसि स्वाहा। यद्विद्वांसश्चाविद्वाँसश्चैनश्चकृम तस्यावयजनमसि स्वाहा। एन एनसोऽवयजनमसि स्वाहा"। एवमन्नहोममन्त्रान् बलिहोममन्त्रांश्च विनियुज्य भोजनात्पूर्वं सिंहानुवाकं जप्यत्वेन विनियुङ्क्ते 'सिंहे मे मन्युः' व्याघ्रे मेऽन्तरायः, वृके मे क्षुत्,..................राज-गृहे मेऽशनया, अश्मनि मे तन्द्रिः,............ऋक्षे मे शोकः,...............अपेहि पाप्मन्पुनरपनाशितो भवा नः पाप्मन् सुकृतस्य लोके पाप्मन् ह्यविहतो यो नः पाप्मन्न जहाति तमुत्वा जहिमो वयम्' इत्येवमन्तम्। एतेषामर्थे पर्य्यालोच्यमाने स्पष्टमिदं प्रतीयते यद् भोजनात्पूर्वं कियती शुद्धिरावश्यकीति। एवमपहतपाप्मा भोजने प्रवर्त्तमानः पुरुषो नूनं मनसः परिपाकं विन्देत इत्यत्र न संशयलेशोऽपि। अतएव 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्' 'अन्नं न परिचक्षीत' इत्यादिश्रुतयः भुज्यमानमन्नं ब्रह्मत्वेनानुसन्दधीत इत्युद्घोषयन्ति। इयं संस्कृतिर्भारतीयैर्भोजने प्रवर्तिता। यं कमपि सम्प्रदायं देशं प्रान्तं वाऽवलम्ब्य वर्त्तन्तां मानवाः,तान् सर्वानेव संस्कृतिरियं यथामर्य्यादमेकरूपेण बध्नाति।

भरतभूमिवासिनः स्नानाय जलं जलत्वेन न पश्यन्ति, किंतु तीर्थत्वेन, तीर्थेन स्नानं न शारीरिकमलापकर्षणायैव, किन्त्वान्तरिकमलापनोदाय। कुत्रचित्कूपजलेनापि स्नानमाचरन्—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति। नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु॥

इति सर्वतीर्थत्वेन तज्जलमनुसन्दधाति। धर्म्मभेदेन धर्मिणो भेदः, दृष्टिभेदेन च दृश्यस्य भेदो न केवलं शास्त्रसम्मतः, अनुभवबलादपि प्रत्यक्षसिद्धः। अतएवाघमर्षणसूक्तं स्नानकाले पठनीयत्वेन भगवती श्रुतिर्मातेव सुतानस्मानादिशति—

हिरण्यशृङ्गं वरुणं प्रपद्ये तीर्थं मे देहि याचितः। यन्मया भुक्तमसाधूनां पापेभ्यश्च प्रतिग्रहः॥
यन्मे मनसा वाचा कर्मणा वा दुष्कृतं कृतम्। तन्न इन्द्रो वरुणो बृहस्पतिस्सविता च पुनन्तु पुनः पुनः॥
यदपां क्रूरं यदमेध्यं यदशान्तं तदपगच्छतात्। अत्याशनादतीपानाद्यश्च उग्रात्प्रतिग्रहात्।
तन्नो वरुणो राजा पाणिना ह्यवमर्शतु। सोऽहमपापो विरजो निर्मुक्तो मुक्तकिल्बिषः।
नाकस्य पृष्ठमारुह्य गच्छेद्ब्रह्मसलोकताम्॥ आर्द्रं ज्वलति ज्योतिरहमस्मि, ज्योतिर्ज्वलति ज्योतिरहमस्मि
योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि, अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि॥ अहमेव हं मां जुहोमि स्वाहा।
अकार्यकार्यवकीर्णी स्तेनो भ्रूणहा गुरुतल्पगः। वरुणोऽपामघमर्षस्तस्मात्पापात्प्रमुच्यते॥"

"आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः प्राणा वा आपः पशव आपोऽन्नमापोऽमृतमापस्सम्राडापो विराडापस्स्वराडापश्छन्दांस्यापो ज्योतींष्यापो यजूंष्यापस्सत्यमापस्सर्वा देवता आपो भूर्भुवस्सुवराप ओम्॥" इति। कियद्वात्सल्यमस्मासु भगवत्या मातुः श्रुतेः। सम्यगुक्तं जीवनमुक्तकल्पैः श्रीसदाशिवेन्द्रसरस्वतीमहात्मभिः—

मातेव पुत्रमनुबोधयति श्रुतिर्हि लोकं समस्तमपि योजयितुं सुखेन।
तस्माच्छ्रुतेरभिहितार्थमतन्द्रितेन चित्तेन साधयितुमत्र जना यतध्वम्॥

एषा संस्कृतिर्भारतीयानाम्। एवमहनि नान्तरीयकाणि तानि तानि कर्माण्याध्यात्मिकदृशाऽनुसन्धाय पुरुषो रात्रौ शयनावसरे—

नमोस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः । जरत्कारोर्जरत्कार्वां समुत्पन्नो महायशाः ॥
अस्तोकस्सत्यसन्धो मां पन्नगेभ्योऽभिरक्षतु । अपसर्प सर्प भद्रं ते दूरं गच्छ महाविष ॥
जनमेजयस्य यज्ञान्ते अस्तीकवचनं स्मरन् । अगस्तिर्माधवश्चैव मुचुकुन्दो महाबलः ॥
कपिलो मुनिरस्तीकः पञ्चैते सुखशायिनः ॥

इति मन्त्रानभिधाय यदा शेते, तदा स नूनं 'स्वपिति'। स्वापस्तु प्राणिनां सुखहेतुः। दिवानुभूताः पदार्था एव स्वप्नावसरे मनसि प्रतिबिम्बिताः पारिप्लवेन सुखं दुःखं वा जनयन्ति। यादृशी मनसोऽशान्तिर्दिवा, तादृश्येव रात्रौ स्वापावसरेऽपि यदि स्यात्तर्हि किं पुरुषेण साधितं भवति। स्वापस्तु नित्यनिरतिशयस्य सुखस्यानुभवस्थानं परिगणितं शास्त्रेषु। कथमिदं परिगण्यतां दिवा तदनुकूलव्यापारादृते। दिवा जड़विज्ञानेष्वेव मनो बुद्धिञ्च व्यापारयामः स एव व्यापारो रात्रावपि। बुद्धेर्मनसश्च शक्तिमतिक्रम्य किञ्चिदस्तीति चिन्तैव न प्रसरति। 'यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह' इत्यौपनिषच्चेतनं तत्त्वं विस्मृत्यैव बुद्धिं व्यापारयामो यदि, तदा बुद्धेर्विरामस्यावसरः कदा प्राप्तस्स्यात्। अद्य कश्चिद् बुद्धिबलेन किंचिद्विलक्षणं वस्त्वाविष्करोति, श्वस्तनेऽपरस्ततोऽपि विपरीतं विलक्षणञ्च वस्तु प्रकटयति, अन्यस्त्वपरम्। एवमस्या धारायाः क्व विरामो भवेत्। पूर्वं पूर्वमाविष्कृतानां च पदार्थानां का गतिस्स्यात्? इदन्तु निश्चितमेष्टव्यम् यदचेतनेष्वपि पदार्थेषु काचन विलक्षणा शक्तिरस्ति, याञ्चाश्रित्य बुद्धौ विनियुज्यमानायां विलक्षणस्य वस्तुन आविर्भावो जायत इति। पुरुषस्तु तां शक्तिमनादृत्याज्ञात्वा वा स्वबुद्धिप्रयुक्त एव पदार्थानामाविष्कार इति मन्यते। तामेव शक्तिं सद्रूपां वदन्ति मनीषिणः। तामिमां सर्वत्रानुसन्दधानः पुरुषो यदा शेते तदा स्वं ह्यपीतो भवतीति। अत्रैवं भगवत्पादानां भाष्यम्—"यदा स्वपितीत्युच्यते पुरुषः, तदा-तस्मिन् काले सता सच्छब्दवाच्यतया प्रकृत्या देवतया सम्पन्नो भवति। संगत एकीभूतो भवति। मनसि प्रविष्टं मन आदिसंसर्गकृतं जीवरूपं परित्यज्य स्वं सद्रूपं यत्परमार्थसत्यम् अपीतः अपिगतो भवति। अतस्तस्मात्स्वपितीत्येनमाचक्षते लौकिकाः इति।" एवं वर्णयतो मे नायमभिप्रायः यत्सर्वो लौकिकानि कर्माणि परित्यज्य सर्वदाऽत्मानुसन्धानमेव कुर्यात्पुरुष इति, किन्तु नान्तरीयकतया क्रियमाणेषु कर्मस्वपि पूर्वोक्ता भावनाऽतिदेष्टव्येति। इयमेव भारतीयानां संस्कृतिः।

यथाहि विंशतितमेऽस्मिन् शतके सर्वत्र जगति उच्चावचं जडविज्ञानधारायाः प्रसृतिरनुभूयते, तथैव प्राक्तनेषु कालेषु चेतनविज्ञानधाराया भूयसी प्रसृतिरासीदिति सुखेनाभ्यूहितुं शक्यते। जगतः कल्याणाय प्राचीनैः प्रवर्तितमेकैकमपि कर्म वैज्ञानिकतत्त्वेन समन्वितमित्युपपादनं न दुष्करमिदम्। अधुनातनजडविज्ञानधाराया एव परिपाकोऽयं-यत् वसिष्ठभारद्वाजादिमहर्षिकुलप्रसूतोऽपि भारतीयः श्वसूकरादीनां रोमभिर्निर्मितेन कूर्चेन दन्तान् क्षालयति, दन्तधावनकाष्ठञ्च हेयत्वेन परिगणयति, परमपवित्रां मृदं प्रकृतिसिद्धञ्च जलं शौचसाधनत्वेन न स्वीकरोति, मलस्य प्रोञ्छनाय पत्रमेवोपादत्ते, तिष्ठन्नेव मूत्रं पुरीषञ्चोत्स्रष्टुं कामयते, नोपविशन्; गोः पूजने मतिर्न प्रसरति, तच्चर्मणा निर्मितस्य पादत्राणस्य परिधानेऽस्य महानुत्साहः, रसाभासव्यञ्जकानां चित्रपटानां विलोकने भूयसी प्रवृत्तिः, न मन्दिरस्थदेवतादर्शने।

मान्याः सभासदः! किमहं ब्रवीमि साम्प्रतं भारते सर्वत्रैव मितव्ययिभिर्लोकैर्भाव्यम्, मुद्रास्फीतिनिरोद्धव्या, देशान्तरेभ्यस्समागतानां विलाससाधनानां पदार्थानामुपयोगो न कर्तव्यः द्वितीयपञ्चवार्षिकयोजनायास्साफल्यसम्पादने यतितव्यम् इत्यादीन् उच्चावचं शब्दान् शृणुमः। सत्यमेव भारतनिवासिनो वयं वाङ्मनसयोरगोचरे सङ्कटे सम्पतिताः। नूनं चर्वितार्द्रकाः शाखामृगा इव नेत्राण्युन्मीलयामः। गलरज्जुं विहाय पशूनां पुच्छं गृह्णीमः। दन्तान् प्रकटय्य दैन्यञ्चाविष्कृत्य नानादेशेभ्य ऋणग्रहणं निस्सङ्कोचमाचरामः! अङ्गुल्यनुसारिणं श्वयथुं न विभावयामः। शलभा इव दीपं मोहेन जनपदान् परित्यज्य नगराणि शरणं गच्छामः।

नैकविधैः करैः पिशाचतुल्यैर्ग्रस्ता अपि पटाटोपेनाडम्बरेण वा जीवनं यापयितुमभिलषामः। सर्वस्या अप्यस्या अनर्थपरम्परायाः किं मूलम् ? सुदृढं वक्तुं शक्यते यत्प्राचीनात्संस्कृतिपथादस्माकं च्युतिरेवेति।

कामं द्वितीयां तृतीयां चतुर्थीं वा 'पञ्चवार्षिकयोजनां' संघटयामः। कामञ्च शत्रूणामाक्रमणाद्देशं सुरक्षितुं नैकविधान्यस्त्राणि शस्त्राणि यन्त्राणि यानानि च समुत्पादयामः परं 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' इत्युक्तदिशा पवित्रतमस्य भारतस्य शिक्षकत्वपदं सुरक्षितुमेकैकेनापि भरतभुवि जनिमातस्थुषा यतनीयमेव। शिक्षकत्वञ्चास्याचरणाद्व्यवहाराच्च सिध्येत्। तथाविधमाचरणं तादृशश्च व्यवहारोऽवलम्बनीयः, येन च देशान्तरस्था अपि शिक्षामस्मदीयामवाप्नुयुः। मृगा अप्याचरणेन व्यवहारेण चास्मभ्यमुपदिशन्ति—

'यद्वक्त्रं मुहुरीक्षसे न धनिनां ब्रूषे न चाटून् मृषा नैषां गर्ववचः शृणोषि न च तान् प्रत्याशया धावसि।
काले बालतृणानि खादसि परं निद्रासि निद्रागमे तन्मे ब्रूहि कुरङ्ग ! कुत्र भवता किं नाम तप्तं तपः'॥

इति॥

किमेवं वयमाचरणेनान्यानुपदेष्टुं न प्रभवामः ? न हि वाङ्मात्रेण पदार्थः प्रसिध्येत्। 'मितव्ययिभिर्भाव्यम्' इति कथनमात्रं न कार्यकारि स्यात्। 'धान्यानामुत्पादनं वर्धनीयम्' इति मञ्चेषु भाषणमात्रं धान्यानां वर्धनं न कुर्यात्। इतस्ततः परिभ्रमणमात्रेण देशः क्षेमसुभिक्षो न स्यात्। प्राचीनैरवलम्बिते पथि गन्तुमभ्यासः कर्तव्यः। क्षुच्छमनायैव भोजनं भवति, न जिह्वाचापल्यं पूरयितुम्। गात्रस्य पिधानायैव वसनं भवति, न परेषां चक्षुषस्तर्पणाय। अयं प्राचीनैरवलम्ब्रितः पन्थाः। यथा हि काव्यशरीरस्य शब्दस्यार्थस्य च प्राधान्येनोपकारका उपमादयोऽलङ्काराः, न रसस्य, तथैव भूषणादयोऽलङ्कारा नश्वरस्य शरीरस्यैव नात्मनः। आत्मनस्तु गुणा एव साक्षादुपकारकाः, माधुर्यादयो यथा रसस्य। गुणानां वर्धनमेव प्रथमं कर्तव्यम्। तदर्थमाहारे वसने व्यवहारे च प्राचीनैः प्रवर्तिता संस्कृतिरेव समुपासनीया।

अस्यास्संस्कृतेः प्रसाराय मुख्यतमसाधनं शिक्षा। विद्यानां शिक्षणं सत्यावबोधफलकं भवति। सत्यस्यावबोधायैव विद्यानां प्रवृत्तिः। सैव विद्याऽध्येतव्या यया च समीचीना गुणाः प्रादुर्भवेयुः। यावदसद्गुणा मानवानाक्रामन्ते, तावत्सत्यं वस्तु तैः पिहितं भवति। यावच्च सद्गुणाः तावत्तत् प्रकाशपथमायाति। सद्गुणा एव सत्यस्यावबोधकाः। तत्र विनयः प्रथमो गुणः चरमश्च सत्यावबोधः। अतएवाध्येतॄणां 'विनेय' इति नामान्तरम्। विनयश्चानुशासनपालनम्। विना तेनाध्ययनं विफलमेव। सम्प्रति देशे शिक्षायाः प्रसाराय भूयान् लोकानामुत्साहः परिदृश्यते। प्रत्यब्दं नूतनानि विद्यामन्दिराणि निर्मीयन्ते। शिक्षाधिकारिणश्च प्रभूतं वित्तसाहाय्यं वितरन्ति। पूर्वपिक्षया न केवलं बाला बालिकाश्च, किन्तु प्रवयसोऽपि शिक्षायामनुरक्ता वर्तन्ते। अस्यैवायं परिणामो यद्विविद्यालयेषु विनेयाः स्थानमेव न लभन्त इति। अत एव रात्रिन्दिवं विद्यालयाः परिचाल्यन्ते। प्रारम्भिक-माध्यमिको-च्चो-च्चतरो-च्चतम-स्नातकोत्तरभेदेन श्रेणीनां परिचालनाय पृथक्पृथग्विद्यालयाः, भूयांसो विश्वासां विद्यानाञ्चालयास्तत्र तत्र प्रवर्तिता दृश्यन्ते। परं यत्रेमे वर्तन्ते तत्रैवोच्चो-च्चोच्चतरोच्चतमन्यायालयाः, तेषु च विविधा न्यायाधीशाः नीतिपतयः, संख्यातीता वावदूका राजपुरुषाश्च प्रत्यहं प्रतारकाणां पश्यतोहराणां प्राणापहारकाणाञ्च विवादविषयान् विचारयन्ति। तत्र तत्र विश्वविद्यालयेषु विनेयानामविनयं प्रशमयितुं न केवलं राजपुरुषाः प्रेर्यन्ते, किन्तु भुसुण्डीधारिणस्सैनिका भटा अपि। विचित्रमिदं प्रतिभाति क्व विद्याध्ययनप्रयोजनं विनयः, क्व वाऽयं दुष्प्रशमनीयो विनेयानामविनयः ? शिक्षाप्रकारे न परिवर्तनमीषदपि सम्प्रति विभावयामः, यादृशः प्रकार आङ्ग्लानां शासनावसर आसीत् स एवान्यूनानतिरिक्तस्सम्प्रत्यपि विलोक्यते। परं तेषां शासनसमये नैतादृशोऽविनयः ? परिलक्षित आसीत्। सम्प्रत्ययं पिशाचः कथमागतः ? किं वा तत्र कारणम् ? मन्ये स्वकृतापराध एव तत्र कारणमिति। महामानसानां मालवीयमहोदयानां ते शब्दा

इदानीमपि मे कर्णविवरे गुञ्जारवं कुर्वन्ति—'राजनीतिकलहे छात्रा न प्रवेशनीयाः ते स्वकीयमध्ययनव्यापारं यथेच्छमाचरन्तु। तेषामत्र सम्बन्धो भविष्यति महतीं दुर्गतिं समुत्पादयेत्' इत्यादयः। 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति' इति खलु भवभूतिराह। स्वपक्षस्य पोषणाय राजनीतिकलहे तेषां सम्बन्धो विपरीतफलाय स्यात् यादृशं संस्कारं बाल्ये वयसि कारयामस्स एवोत्तरत्राप्यनुवर्तत इति सहजो गुणः। असत्यस्य वस्तुनो वृद्धि निरोद्धुं सत्यस्याग्रहः कर्तव्य इति लौकिकः पन्थाः। अयमपि राजनीतिविषयेष्वेव प्रवर्तितः। तमिमं पन्थानमवलंबमाना विनेया अपि 'सत्याग्रहम्' अकाण्डे कर्तुमारभन्ते। 'सत्याग्रहस्य' विनेयानाञ्च सुमहदन्तरमस्ति। इदं सत्यम् इदमसत्यम् इति परिज्ञानाय शिक्षायां प्रवृत्तो विनेयः अपरिज्ञायैव तत्स्वरूपं कथं 'सत्याग्रहे' प्रवर्तेत इति चिरमालोचयतो मे न स्फुरति। अथवा सत्यस्य शिक्षणं विद्यालयेषु सम्प्रति न प्रचलतीत्यङ्गीकर्तव्यम्। कथमन्यथा विनेया अस्मिन् कर्मणि प्रवर्तेरन्।

अपरञ्चेदं कारणं भवितुमर्हति-आङ्गलशासकैर्विद्याध्ययनस्य यदुद्देश्यं परिकल्पितम्, तस्यापरिवर्तनेनैव वयं शिक्षाविभागं परिचालयामः। अध्ययनावसर एवाध्येता निश्चिनोति—यदहं परीक्षामुत्तीर्य कुत्रचित्कार्यालये विद्यालये वा भृतकं स्थानं प्राप्नुयामिति। विद्याध्ययनस्य चरमं फलं सत्यस्यावबोधइति पूर्वमवोचाम। तावद्दूरमिदानीं गन्तुं नास्त्येवावसरः। न हि कार्यालयेषु गणका लेखकाश्च सत्यं व्यवस्थापयन्ति, अचेतनैर्यन्त्रैरिव तत्रैतैः कार्याणि कर्तव्यानि तदर्थं सत्यावबोधपर्यन्तमनुधावनं कथमेभिः कर्तव्यम्? 'अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्' इति हि न्यायविदस्समामनन्ति। कस्यापि ग्रंथान् यथावदधीत्य तद्गतान्विषयान्वेत्तुं न प्रवृत्तिर्दृश्यते। एवं सति कथं विनयादयो गुणा अस्य प्रादुर्भवेयुः?

पूज्याः सभासदः! सम्प्रतितनं शिक्षाक्रमं चिन्तयतो मे मनो नितरां खिद्यति। बालकस्याष्टमं वर्षमारभ्याष्टादशवर्षपर्यन्तं समयो विनयादीनां ग्रहणायैव परिकल्पितः प्राचीनैः। शोभनोऽयं समयश्छात्रस्य। अस्मिन्नपि समये संस्कृतिपरिवर्धकान् विषयान् यदि तान्न ग्राहयामः, तर्हि कदा पुनरवसरः प्राप्स्यते? धर्मनिरपेक्षं राष्ट्रं वयं परिचालयितुमिच्छामः। तुष्यतु दुर्जन इति न्यायेन भवत्वियमिच्छा शासकानाम्, परं राष्ट्रस्य धर्मनिरपेक्षत्वं ज्ञातुं धर्माणां परिज्ञानमावश्यकमेव खलु। धर्मो न ज्ञातः, तन्निरपेक्षं राष्ट्रं कथं परिचालयितुं शक्नुमः? धर्म इत्युक्तेऽस्मच्छासकैस्सम्प्रदाय इति परिगणितः। धर्मस्तु व्यापकः पदार्थः, न सम्प्रदायवत्संकुचितः। यावज्जगत्तिष्ठति तावद्धर्मधार्मिकभावस्तन्न जहाति। सम्प्रदायस्य क्वचिदापेक्षिको लोपस्स्यादपि, न धर्मस्य धर्मधर्मिभावस्य वा। धर्मधर्मिभावेन रहितमेकं तदेव भवति-यत् सत्यम्। याज्ञवल्क्यस्सत्यज्ञोऽपि यथा गोकाम आसीत्, तथा वयं राष्ट्रं समेधयितुकामास्स्मः। शत्रुभ्यस्तद्रक्षणीयम्, देशस्य सुभिक्षता सम्पादनीया, समाजो व्यवस्थापनीय इत्यादीनि भूयांसि कार्याणि कर्तुमिच्छामो वयम्। तत्रेदं राष्ट्रस्य विशेषणं समुचितं-यत् पक्षपातरहितम् इति। राष्ट्रपदस्य धर्मनिरपेक्षं विशेषणमस्तीति विद्यालयेषु धर्मशिक्षणं न निरोद्धव्यम्। धर्मपदेन संस्कृतिरेवोच्यते, नान्यः कश्चन सम्प्रदायः। विनये सत्यभाषणेऽहिंसायाम् अस्तेयेऽन्यस्मिश्चैतादृशपदार्थे न कस्यचन सम्प्रदायस्य स्वत्वमस्ति। ईश्वरनामोच्चरणं न सम्प्रदायं निर्दिशेत्। वसिष्ठवामदेवादीनां वंशाज्जातान्यस्मदपत्यानि कामं तान् वंशप्रवर्तकान् विस्मरन्तु, किन्तु सर्वस्य जगतः स्रष्टुः पालकस्य च परमात्मनो नाम न विस्मरन्तु। इदं कर्तव्यम्, इदमकर्तव्यम, इदं भक्ष्यम्, इदमभक्ष्यम्, इदं निन्द्यम्, इदमनिन्द्यम्, इदं ग्राह्यम्, इदमग्राह्यम, एवं वर्तितव्यम्, एवं न वर्तितव्यम्, इति ज्ञानन्त्वेकैकेनापि भारतीयेनावाप्तव्यमेव। बाल्ये वयसि यच्छिक्षितं तदेव कीलितं भवति। मनसः परिपाकायेदमेवोचितं वयः। सद्बीजानां वापायेदमेव सत्क्षेत्रम्। "सूचीप्रवेशे मुसलप्रवेश" इति न्यायेन सरलानावश्यकांश्च पदार्थानस्मिन्वयसि यदि न ग्राहयामस्तर्हि दुरूहान्विषयान् परस्ताद्ग्राहयितुं कथं प्रभवामः? 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः' इति हि न्यायः। देशान्तरस्य भारतस्य च भूयान् भेदः। तद्वदभारतं कर्तुं सुकरम्, भारतमिव तत्कर्तुं दुष्करम्। पर्वतावरोहणं सरलम् तदारोहणं कठिनम्। भारते

कृतविद्यानामपि भूयसी आवश्यकता, न सेवकानामेव। यावती अनयोरावश्यकता तावती शूराणामपि।

'सुवर्णपुष्पां पृथ्वीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः, शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्' ॥

इति ह्यभियुक्तानामुक्तिः। स्वस्वकर्मनिरतान् यथा वयं वाञ्छामस्तथैव आत्मसन्तुष्टानपि।

महामानसाःसभासदः! यावद्भारतीयः स्वमातरमादरेण सत्करोति, तावत्स्वजायां प्रेम्णा पश्यति। जाया च स्वमातरं यथाऽभिनन्दति तथा शुश्रूषते श्वश्रूम्। माता च दुहितरं यथा वात्सल्येन पालयति, ततोऽप्यधिकं पोषयति वधूम्। सुतश्च पितरं न केवलं जनकत्वेन विभावयति, किन्तु पूज्यत्वेन। भ्रातृषु परस्परं न भागहारकत्वदृष्टिः, किन्तु सहोदरभावः। गुरावन्तेवासिनो न भृतकाध्यापकत्वभावना, किन्त्वाचार्यत्वभावना। तस्य चास्मिन् सुतनिर्विशेषं वात्सल्यम्। भ्रातॄणां भगिनीषु निरतिशयं प्रेम। अबलासु लोकानां मातृत्वबुद्धिः। वयसा ज्ञानेन च ज्येष्ठेषु बालानां मातुलत्वबुद्धिः। यजमानभृत्ययोः स्वस्वामिभावभावना। इयं भारतीया संस्कृतिपद्धतिः। देशान्तरे तु विपरीतैव पद्धतिः प्रचलति। न तत्र वधूश्वश्र्वोः, सुतजनकयोः, भ्रातृभगिन्योः, गुरुशिष्ययोश्च सामानाधिकरण्यं दृश्यते। भारतीयामिमां पद्धतिं विलोक्य ते विस्मितचेतसो भवन्ति। तथाप्यस्मद्भ्रातरः केचन देशान्तरीयसंस्कृतिमेवावलम्बितुमीहन्ते। मानवा अपि मानवत्वमपहाय विरुद्धं पन्थानमातस्थिवांसः परिदृश्यन्ते। न कस्यापि मनसि शान्तिः परिलक्ष्यते। एकस्य स्वम् अपरो ग्रसितुमिच्छति। न कमप्यन्यो विश्वसिति। अनुचरा यजमानं न श्रद्दधते। जाया पतिं नाभिनन्दति। मधुनि पतितां मक्षिकामिव पतिर्जायां दूरमुद्धृत्य प्रक्षेप्तुं यतते। भ्रातृषु सौहार्दं सौजन्यञ्च लुप्तप्रायमेव। एवमेवेयं धारा भारते प्रवहेद्यदि भारतमचिराद् भारतं न स्यात्। पञ्चवार्षिकयोजनासु नदीनां प्रवाहधारामवरुध्य देशस्य क्षेमाय सेचनक्रियोपयुक्तां तां विधातुमधिकारिणो यथा यतन्ते, तथैव दुस्संस्कृतेर्धारामिमामप्यवरुध्य सत्संस्कृतिधारायाः कृते यतेरन्निति विश्वसिमः। कामं भारतवासिनः प्रभूतेनार्थेन विहीनाः, परं संस्कृतिसम्पदा सुसमृद्धाः। अधुनापि भारतीयेषु दृढबद्धमूला संस्कृतिर्जीवति।

अस्यास्संस्कृतेरुज्जीवनायैकैकेनापि भारतीयेन यतितव्यम्। संस्कृतिरियं शिक्षाधीनेति पूर्वमवोचाम। संस्कृतेः शिक्षायाश्च तदनुकूलायाः प्रसाराय प्रधानं साधनं संस्कृतमेव। संस्कृतस्यैव देववाणीति नामान्तरम्। देववाणीं ब्राह्मणवाणीति मत्वा तत्पोषणे तत्प्रसारे चास्मदधिकारिणो बिभ्यतीव प्रतिभान्ति। ब्राह्मणवाण्याः पोषणेन ब्राह्मणानामेवाधिकारो भवेत् तेन साम्प्रदायिकत्वं राष्ट्रस्यापतेदिति भीतेः कारणमधिकारिणाम्। अहञ्च स्पष्टं वक्तुमिच्छामि—यद् देवा न ब्राह्मणाः, न च क्षत्रियाः नापि वैश्याः, न चापि शूद्राः। वर्णाश्रमधर्मबहिर्भूता एव ते। ममैव केवलं नायमाशयः, भगवान् जैमिनिरप्येवं षष्ठेऽध्याये व्यवस्थापयाम्बभूव। युक्तञ्चेदम् देवताभाराधयन् पतितोऽप्युच्चं पदमारोहति, तां चानाराधयन् विप्रोऽप्यधः पतति। अतोऽत्र साम्प्रदायिकत्वशङ्कायाः कथमपि नावसरः। भारतस्यायमपूर्वो निधिर्यद् देववाणीति। संस्कृतेः स्रोतोऽस्मादेवोद्भवति। यदि संस्कृतमुज्जीवयामः तर्हि संस्कृतिरप्युज्जीविता स्यात्। संस्कृतेस्तु संस्कृतं मूलम्। मूलस्य सेचनेन संस्कृतिलता पल्लविता कुसुमिता च सती समन्ताद्भारतभुवं सुगन्धीनि कुसुमानि विकिरन्ती भगवतीं भारतमातरं प्रीणयेत्। मातुः प्रीणनं सुतैः कर्तव्यमित्यत्र न भारतीयः कश्चन विप्रतिपन्नः स्यात्। सदाचारेण संयुतान् संस्कृत्या च भूषितान् सुतान्वीक्ष्य माता मुदितान्तरङ्गा भवति। नूनमस्माकं भगवती भारतमाता यथावत्संस्कृतिपरिरक्षकानसंख्याकान् सुतान् प्रसूय गर्वितान्तरङ्गाऽऽसीत्। अधुना मातुर्मस्तकं अवनमितं दृश्यते। यथा हि तस्या उत्तमाङ्गमुन्नमितं स्यात् तथा भ्रातृभिरस्मदीयैरवश्यं यतितव्यम्, तदर्थञ्च आ च कुमारिकाया आ च हिमवतः संस्कृतं शिक्षायामनिवार्यं यथा स्यात्तथा प्राणपणेनापि यतितव्यम् ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

उज्जयिनी-प्राच्य-विद्या-परिषदि

मीमांसा-प्राध्यापकानां पं. पट्टाभिरामशास्त्रिणां पण्डित-परिषदः सभापतित्वेन भाषणम्

उपस्थिताः विद्वन्महेच्छाः अभिरूपाः भ्रातरः मातरश्च ।

प्राच्य-विद्या-परिषदा समायोजितायाम् अस्यां पडित-परिषदि स्थाने वयं समवेताः । नानादेशेभ्यः समागतानां तेषु तेषु विषयेषु तलस्पर्शि पाण्डित्यम् आवहतां पण्डित-रत्नानां समक्षं भाषितुम् अवसरम् अवाप्य अहं नूनं धन्यम् आत्मानं संभावयामि । महर्षि-कल्पस्य कवि-शिरोमणेः अभिजनः, क्षिप्रायाः सु-शीतलः तटः, महाकालेश्वरस्य भगवतः सांनिध्यं, कवि-कुल-तिलकेन कालिदासेन समुपासितायाः कालिदेव्याः सांमुख्यं, महाकवि-संचार-परिपूतः समुद्देशः, कविवाङ्निस्सृतैः मधुर-मधुरैः शब्दनिचयैः परिपूरितम् अम्बरम्, अचेतनः अपि समारोपित-चेतनः सन्देशहारकः सः एव बलाहकः, नायिकायाः अङ्गानि संस्पृश्य पुनः प्रतिनिवृत्तः सः एव शीतलः पवनः, कवि-कल्पना-संदोह समुज्जृम्भिताः ते एव तरु-गुल्म-लतोद्यान-पल्वल-तडाग-पशुपक्षिमृगसङ्घाः इति परमपवित्रे अस्मिन् समुद्देशे समवेतानां भवादृक्षाणां विद्वदपश्चिमानां समाजे स्थातुम् अपि योग्यताविहीनस्य ममापीदृशं पचेलिमं भागधेयं यदत्र प्राच्यविद्यापरिषदः अधिकारिभिः समायोजितायां पण्डितपरिषदि भाषितुं संप्रवृत्तः इति नितरां जिह्लेमि । अथवा बहुश्रुतानां सभास्ताराणां विद्वत्-तल्लजानां श्रोत्राकाशेषु कवितल्लजस्य वागाडम्बरैरनवकाशतरेषु मदीयाः शब्दाः कथमिव स्थानं लभेरन् इति सधैर्यम् अस्मिन् कर्मणि प्रावर्तिषि ।

पवित्रतमः अयम् अस्माकं भारतदेशः । पुण्य-सलिलासु जाह्नव्यादिषु सप्तसु नदीषु प्रवहन्तीषु, मोक्षप्रदायिनीषु सप्तसु अयोध्यादिषु पुरीषु विद्यमानासु, पञ्चभूतलिङ्गैः द्वादश-ज्योतिर्लिङ्गैः द्वात्रिंशत्-शक्तिपीठैः, नैकविधैः शिवविष्ण्वादिदेवैरधिष्ठितैर्मन्दिरैश्च परिलसितेषु सत्सु क्षेत्रेषु, रामकृष्णाद्यवतारेषु मतानां संप्रदायानां च प्रवर्तकेषु भगवत्पाद-शंकर-रामानुजादि-महापुरुषेषु, चतुर्दश-विद्यास्थानानां प्रवर्तकेषु योगिषु साधुषु च सत्सु कथमयं पुण्यभूमिः भारतदेशः स्पृहणीयः पवित्रतमः च न स्यात् । विशेषतश्च सर्वशक्तिमतः महतश्शब्दराशेर्वेदाभिधानस्य प्रभवोऽयं भारतदेशः । सत्यमेव वयं सर्वेऽपि भारतीयाः धन्यधन्याः स्मः, यदस्यां पुण्यभूमौ अजनिष्महि । धन्याः अस्मत्पूर्वजाः प्राञ्चः, यच्छब्दराशिम् अविकलमविलम्ब्य प्राच्यं संस्कृत-वाङ्मयं प्रणीय भारतस्य गौरवं समेधयाम्बभूवुः । साक्षात् परंपरया वा वेद-संपर्क-शून्यं किमपि संस्कृत-निबन्धनं न प्रवृत्तम् इति स्वैरं वक्तुं शक्यते । वेदास्तु अस्माकम् अक्षय्याः निधयः । यथा यथा पदार्थाः ततः उन्नीयेरन् तथा तथा नवनवाः पदार्थाः जायेरन् । बुद्धिशक्तेः विवर्धनाय महान् आहारः । शरीर-संरक्षणाय यथा उच्चावचाः आहाराः क्लृप्ताः, तथा बुद्धिशक्तेः मनःप्रवृत्तेश्च विवृद्धये वेदाः क्लृप्ताः । इन्द्रियाणि शरीराणि च तर्पयितुं यथा लौकिकाः परस्सहस्रं विषयाः तथा बुद्धिवृत्तिं मनोवृत्तिं च तर्पयितुम् अलौकिकाः संख्यातीताः विषयाः सन्ति वेदेषु । इयांस्तु विशेषः इन्द्रियाणि शरीराणि च तर्पयन्तः वयं नान्तं गच्छामः, किन्तु बुद्धिशक्तिं तथा विधातुं प्रवृत्ताः अन्तं यामः । उच्चावचानां वैज्ञानिक-पदार्थानामाविष्करणे लोकाः सातिशया एव भवेयुः, किन्तु विज्ञानातिरिक्तं प्रज्ञानमप्युपदिशन्तः वेदाः निरतिशयाः भवन्तीति नेदं तिरोहितं तत्त्वाभिज्ञानाम् । सातिशयेषु न वयम् अन्तं पश्यामः, किन्तु निरतिशयेषु वेदेषु वेदान्तम् अनुभवामः । अन्तवन्तः पुरुषार्थाः भवन्ति, यदि अनन्तास्ते तर्हि नान्तरीयकः जननमरणक्लेशः । अत एव तुरीयः पुरुषार्थः । सः च नित्यः निरतिशयश्च । धर्मार्थकामानां सविशेषं स्वरूपं तदधिगमोपायं च प्रदर्शयन्तः वेदाः मोक्षे तत्प्राप्त्युपायप्रदर्शनेन उपरमन्ते ।

प्राञ्चः सुमतयः अस्मत्पूर्वजाः अनवरतं वेदसन्दर्भपरिशीलन-परिपक्वमतिवैभवाः—अर्थं कामं च इष्टकास्थाने स्वीकृत्य धर्माख्यया स्नुह्या तादृशीः इष्टकाः संयोज्य मोक्षाख्यया सुधया संलिप्य मनोहरं दृढं च समाज-प्रासादं निर्माय तत्र अस्मान् यथाधिकारं यथायथं च सुखेन निवसितुं प्रेरयन्ति। ईदृशेनैव प्रासादेन भारतस्य समुत्कर्षः, न त्वर्थकामप्रधानैः धर्ममोक्षसंपर्कविहीनैः सप्ताष्टभौमैः अभ्रंलिहैः प्रासादैः। समाजपरिष्कर्तृभिः आपस्तम्बप्रभृतिभिर्महर्षिभिः सुविचार्य सविमर्शं प्रवर्तितं वैदिकं पन्थानं तत्र तत्र अनुसरन् कविवरः कालिदासः नाटकानि रचयामास, काव्यानि च निबबन्ध। प्रभुसंमिताः शब्दाः अवलम्बः महर्षीणाम् कान्तासम्मिताश्च शब्दाः कविवरस्य। यदेव कार्यं प्रभुसंमितैः शब्दैः सिषाधयिषितं तदेव कान्तासंमितैः तैः इति इयान् भेदः। प्रथमदर्शनेनैव शकुन्तलायाम् अत्यन्तमासक्तस्य दुष्यन्तस्य चारित्र्य-संरक्षणच्छलेन कविः उच्चावचान् श्रुतिसूत्रसंसिद्धान् पदार्थान् ग्राहयति। रसमये अस्मिन् काव्ये शुष्काणाम् एतादृशानां विषयाणां संनिवेशः सहृदयान् उद्वेजयेदिव, कविसम्राडयं शुष्केषु सार्द्रं, सार्द्रेषु च शुष्कं वस्तु समावेश्य सहृदयान् रञ्जयत्येव। एकत्र पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयं सन्निवेश्य तपोधनमध्यस्थां शकुन्तलाम् उपमिनोति, अपरत्र रसाम्बुनिधौ सर्वात्मना नायिकां तथाविधं च नायकं सहृदयानां समक्षं समुपस्थापयन् **"सायन्तने सवनकर्मणि संप्रवृत्ते"** इत्यादिना शुष्कं 'सवनकर्म'-शब्दं प्रयुञ्जानः नायिकानायकाविव सहृदयानपि प्रकृत-रसास्वादात् निवारयतीव। क चेमे **"कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु", "संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ", "संवीजयामि नलिनीदलतालवृन्तैः"** इत्यादयः रसस्यन्दिनः शब्दाः? क चायं तन्मध्ये पतितः श्रोत्रियजनैकगम्यः रसविधुरः 'सवनकर्म'-शब्दः। किन्तु कवेरत्र सुमहद् तात्पर्यमस्तीव प्रतीयते। अभिषवार्थक-षूञ् धातोर्ल्युट्-प्रत्यये कृते सवनशब्दः' निष्पद्यते। यस्मिन् कर्मणि सवनम्-अभिषवः भवति तत्कर्म सवनकर्मशब्देनोच्यते। अभिषवश्च सोमलतायाः प्रसिद्धः। वेदेषु सोमयागं विहाय न क्वापि इष्टिपशुषु सोमाभिषवः भवति। सोमयागे च प्रातस्सवनं माध्यन्दिनसवनं सायंसवनम् इति त्रीणि सवनानि। त्रिषु कालेषु सोमलताम् अभिषुत्य रसं निष्कास्य ग्रहैस्तं परिगृह्य इन्द्रवाय्वादयः देवाः इज्यन्ते। तथा च सोमयागीयं सायंसवनाख्यं कर्म संप्रवृत्तम् इति अनेन कविः अवद्योतयति। कवेः अत्र आशयद्वयं प्रतीयते इव। एकस्तु, **'सन्ध्यायां गावोऽपि न चरन्ति'** इति धर्मनीत्या नित्यनैमित्तिकानि विहाय नान्यत्कर्म कर्तव्यम् इति नायिकानायकाभ्यां सह सहृदयान् अपि संबोधयति इति। अपरस्तु नायकं सच्चारित्र-संपन्नं व्यवस्थापयितुं सवनकर्मशब्दं प्रयुङ्क्ते इति। तथाहि—तृतीयाङ्के **'अयि चक्रवाकवधु! आमन्त्रयस्व सहचरम्, समुपस्थिता रजनी'** इति सखीवचनमप्रस्तुतप्रशंसापरं निशम्य शकुन्तला ससंभ्रमं प्रेयांसं विटपान्तरितं विधाय यावत्तिष्ठति तावदार्या गौतमी समागत्य मन्त्रजलेनाभ्युक्ष्य प्रेयसीं नयति। अनन्तरं नायकः शकुन्तला-परिभुक्तं स्थानं प्राप्य शकुन्तलाशून्यम् अपि तन्न परित्यक्तुमभिलषति। अस्मिन् सन्दर्भे पद्यमिदं **'सायन्तने सवनकर्मणि'** इत्यादि संप्रवृत्तम्। **'कामुकस्य न नेत्रं नापि श्रोत्रम्'** इत्याभाणकम् अनुसृत्य **'लतावलय! संतापहारक! आमन्त्रये त्वां भूयोऽपि परिभोगाय'** इति नायिकावचः अनुस्मरन् तत्रैव स्थातुमर्हति। किन्तु कविः तं ततः प्रस्थापयति **'अयमयमागच्छामि'** इति अस्मिन् व्यतिकरे अयमत्र निष्कर्षः पूर्वापरसन्दर्भपर्यवेक्षणेन निर्गलति-द्वितीयाङ्के ऋषिकुमारमुखेन 'तत्रभवतः कण्वस्य महर्षेरसांनिध्याद्रक्षांसि नः **इष्टि-विघ्नमुत्पादयन्ति तत्कतिपयरात्रं** सारथीद्वितीयेन भवता सनाथीक्रियताम् आश्रमः' इति कविर्वदति। चतुर्थाङ्के सख्याः अनसूयायाः मुखेन **अद्य सः राजर्षिः 'इष्टिं' परिसमाप्य ऋषिभिर्विसर्जितः आत्मनः नगरं प्रविश्य अन्तःपुरं समागतः इतोगतं वृत्तान्तं स्मरति न वा'** इति ब्रवीति। मध्ये च तृतीयाङ्के **'सायन्तने सवनकर्मणि'** इति इष्टि-शब्दाभ्यां संदष्ट **'सवनकर्म'**-शब्दं-प्रयुङ्क्ते। ओषधिप्रभव-द्रव्यकेषु दधिपयोद्रव्यकेषु च यागेषु याज्ञिकाः इष्टि-शब्दं प्रयुञ्जते, सवनकर्म-शब्दं च सोमयागेषु। तत्र प्रथमेष्टिशब्दः **'आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद् दीक्षिष्यमाणः'** इति विहितां प्रथमां दीक्षणीयेष्टिम्, द्वितीयेष्टिशब्दश्च **'अवभृथमभ्यवयन्ति'** इति विहितामन्तिमाम् अवभृथेष्टिं चाभिधत्ते

इति स्वीकारे, कण्वस्याश्रमे सोमयागः समपद्यत इति निर्णेतुं शक्यते। अत्र **कतिपयरात्रम्'** इति शब्दः अपि विषयम् इमम् उपष्टम्भयति। **'द्विरात्रं त्रिरात्रं चतूरात्रम्'** इत्यादयः शब्दाः रात्रिपदघटिताः सोमयागेष्वेव प्रयुज्यन्ते। वेदेषु असंख्याकाः सोमयागाः उपदिष्टाः तेषु कोऽयमाश्रमे निर्वर्तितः ? इति परिशीलनेन प्रतिभाति—सर्वसोमयागानां प्रकृतिभूतः अग्निष्टोमसंस्थाकः ज्योतिष्टोमः एवाश्रमे अनुष्ठितः इति। **द्वितीयाङ्के** दुष्यन्तमात्रा प्रेषितः करभकः मातुः सन्देशमानयति—**'देव्याज्ञापयति-आगामिनि चतुर्थदिवसे निर्वृत्तपारणः मे उपवासः भविष्यति, तत्र दीर्घायुषा अवश्यं संभावयितव्येति।'** आश्रमं समागतस्य दुष्यन्तस्येदं द्वितीयं दिनम्। अस्माद्दिनात् चतुर्थदिने मातुरुपवासस्य समाप्तिः। तस्मिन् दिने राजा तत्रोपस्थातुं शक्नुयादेव, कण्वाश्रमतः नातिदूरे एव दुष्यन्तस्य राजधान्या भवितव्यम्। रथारूढः एकेनैव अह्ना राजधानीम् अवाप्तुं शक्नोत्येव। किन्तु आश्रमे ऋषीणां यज्ञः तावद्दिनव्यापी वर्तते। इतः मातुराज्ञा, ततश्च ऋषीणाम्। **'शमप्रधानेषु तपोधनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः'** इति प्रागवोचद् दुष्यन्तः। अतः उभयोः प्राबल्यदौर्बल्यं सुविचिन्त्य स्वप्रतिनिधितया विदूषकं मातुः सकाशं प्रेषयति। एवं च मातुरुपवास-समाप्ति-दिन पर्यन्तम् आश्रमे ऋषीणां कार्यं व्यासम् अस्तीति सिध्यति। पुनः **चतुर्थाङ्के** वेलावगमाय कण्वेन प्रेषितः शिष्यः गगनमण्डलं विलोक्य कथयति—**'यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्'** इत्यादि। पद्यम् इदं प्रभातं समयम् अवद्योतयति तथा तिथिम् अपि। सूर्याचन्द्रमसोरुदयास्तमयौ पूर्णिमायाः अनन्तरं कृष्णप्रतिपदि प्रातः समानसमये भवतः। सह पूर्णिमया पूर्वोक्तानि चत्वारि दिनानि आहत्य पञ्च-दिन-साध्यं कर्म ऋषिभिः अनुष्ठितम् आसीदिति स्वीकर्तव्यं भवति; चतुर्थाङ्के एव अनसूया **इष्टिं** परिसमाप्य **'ऋषिभिर्विसर्जितः'** इत्यादिना कृष्णप्रतिपद्येव दुष्यन्तः राजधानीं प्रतस्थे इति वदति। अतश्च शुक्लैकादशीतः पूर्णिमा-पर्यन्तम्, आश्रमस्थाः ऋषयः कर्म अन्वतिष्ठन् इति सिद्धं भवति। **'यः इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत स अमावास्यायां पौर्णमास्यां वा यजेत'** इति विधिना समानरूपेण इष्टि-पशु-सोमानां पर्वकालानुष्ठेयत्वे बोधिते अपि ज्योतिष्टोमयागे इष्टीनां दीक्षणीयातिथ्यादीनां, पशूनाम् अग्नीषोमीयादीनां यागानाम् अङ्गत्वेन, तेषां पर्वकालानुष्ठेयत्वाभावेऽपि **'अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात्'** इति न्यायेन प्रधानस्य सोमयागस्य पर्वकालानुष्ठेयत्वं यथा प्रसिध्येत् तथा अङ्गानां पूर्वमपकर्षणं विधाय एकादशीतः चतुर्दशीपर्यन्तम् अङ्गानि अनुष्ठाय पूर्णिमायां सवनकर्म अनुष्ठेयमिति पद्धतिः। एवं च वैशाख-शुक्ल-दशम्यां दुष्यन्तः आश्रमपदमवाप्य षड्रात्रम् आश्रमे एव अतिवाह्य ज्येष्ठे कृष्णप्रतिपदि प्रातः राजधानीं प्रतस्थे इति अनुमातुं शक्यते। वैशाख-मासः इत्यनुमाने तृतीयाङ्कगतं—**'किमत्र चित्रं यदि विशाखे शशाङ्कलेखाम् अनुवर्तेते'** इति दुष्यन्तवाक्यं साधकं भवितुम् अर्हति। एवमादीन् निगूढान् श्रौतविषयान् पर्यवेक्ष्य कविमणिः कालिदासः नायकस्य सच्चारित्र्यम् अवख्यापयितुं नाटके संनिवेशयति इति अहो कवेः प्राविण्यम् एतादृशानि अपत्यानि प्रसूय भारतमाता सत्यम् एव गर्वितान्तरङ्गा बभूव।

भारतमातुस्तु प्राणाः वेदाः। कयापि विधया मातुः प्राणपरिरक्षणम् अपत्यानां परमं कर्तव्यम्। भारताभिजनानां वेदेषु यादृशी समुत्कर्षबुद्धिः न तथा इतरेषाम्। अस्माकं तु अत्र आत्मीयताबुद्धिः, परेषां तु न तथा। सत्याम् आत्मीयता-बुद्धौ जीवने सुमहान् लाभः परिप्राप्यते लोकैः। मातेव पितेव च भगवती श्रुतिः भगवान् वेदपुरुषः च अपत्यानि निर्विशेषं साधुष्वेव कर्मसु प्रवर्तयति निवर्तयति च असाधुभ्यः कर्मभ्यः। सांसारिकावस्थायां मानवैः यावन्ति शुभानि फलानि कामयितुं शक्येरन् व्यष्ट्या वा समष्ट्या वा, यथा-धनं तेजः श्रुताध्ययनसंपत्, पुत्र-पौत्र-भृत्य-संपत्तिः, आयुः, शरीरारोग्यं, लोकसंग्रहः विविधानां रोगाणां निवृत्तिः, वृष्टिः क्षेमसुभिक्षता, नैकविधानाम् इति-बाधानां निवारणं, राजयक्ष्म-प्रभृतीनां राजरोगाणाम् अपसारणं, सामूहिक-रोग-निवृत्तिः जनतायाः एकता, दुर्वृत्तस्य राज्ञः, तथाविधायाः जनतायाः वा सन्मार्गे अवस्थापनम् इत्यादीनां समेषां साधनाय उपायान् परिदर्शयन्ति वेदाः। अमीषां साधनाय अधुना यावन्तः वैज्ञानिकाः उपाया आविष्कृताः

अवलम्ब्यन्ते तथैव पूर्वस्मिन् काले अलौकिकाः इमे उपायाः अवालम्ब्यन्त पूर्वजैः इत्यत्र न कोऽपि संदिहीत। विविध-वाक्चातुर्यसमायुक्ते अस्मिन् युगे अधुना भूतकालं प्रयुञ्जानः अहं नितरां जिह्रेमि। न्यायः खलु मीमांसकानां-**'न हि भूते भाविनि वा तादृशी प्रीतिः यादृशी वर्तमाने'** इति। अनेन न्यायेन वस्तुतः वर्तमाने एव प्रीतिः स्वाभाविकी, किंतु एवं प्रीति-समुद्भवे कारणम् अपि अस्माभिः अन्वेष्टव्यम्। न खलु केवलं विभावना-लङ्कार-प्रतिपादनमात्रेण किमपि प्रयोजनम्। कविप्रौढोक्त्या कामं तादृशानि कार्याणि प्रसाध्यन्ताम्। तत्र खलु व्यवहाराय कल्पेत। **हेतुमन्निगदाधिकरणसिद्धः अयं न्यायः** 'न हि भूते भाविनि वा' इति, **'शूर्पेण जुहोति, तेन ह्यन्नं क्रियते'** इति विधेय-शूर्पगत-प्राशस्त्य-द्योतने एव वर्तमानकालस्य तत्र प्रयोगे तात्पर्यं, न तु भूते भाविनि वा पदार्थे वैरस्यबुद्धि-समुत्पादने। कामम् आधुनिकानां वैज्ञानिक-दृशा उच्चावचम् आविष्कृतानां पदार्थानां चमत्कृति-जनकता अनुभूयतां लोकैः, किं तु वास्तविक-स्थित्यपलपनं न योग्यं लोकानाम्। वर्तमानकालम् आश्रयन्तः अपि लोकाः सिंहावलोकनन्यायेन भूते भाविनि च दृष्टिं निदध्युः। अप्रतिहतया गत्या गच्छन् अपि पञ्चाननः मुखं परिवृत्य पश्चाद् अपि विलोकयति, पुरः च पश्यन् अग्रे गच्छति। प्रगति-शीलैः सर्वैः भवितव्यम् इत्यत्र न कश्चन सन्देहः। किन्तु पूर्वापर-सन्दर्भ-पर्यवेक्षणम् अपि आवश्यकम्। सविमर्शं पदार्थतत्त्वावधारणं समुचितम्, किंतु विमर्शस्य अपि प्रबलेन आधारेण भवितव्यम्। अद्य यावत् केनापि अनुक्तः विषयः अनेन प्रतिपादितः इत्येतावता एव तस्य उपादेयता न निश्चेतुं शक्यते। अनुकार्यगत-गुणविशेषान् अवधार्य अनुकर्तारः तदनुकरणे प्रवर्तेरन् इति न्याय्यः पन्थाः। नटाः रामरावणयोः नेपथ्यं धृत्वा अनुकुर्वन्ति। तत्र एकत्र उपादेयता अपरत्र च हेयता फलम्। 'रामवद् वर्तितव्यं न रावणवद्' इति खलु तत्र बुद्धिः भवति। नवीनता-संपादनाय नटः हॅट् बूट् इत्यादि परिधाय हस्ते च धूम्रपानसाधनम् अवलम्ब्य परस्त्रीधर्षणकार्यम् आचरन्तं रामं परिकल्प्य तदनुकरणम्; एवं रावणं साधु-चरितं पातिव्रत्यादिधर्मोपदेष्टारं तदनुकूल-वेषधारिणं परिकल्प्य तदनुकरणं च कुर्यात्, तदा समाजस्य देशस्य च का परिस्थितिः स्याद् इति सभास्तारः समालोचयन्तु। सांप्रतं तथाविधाः अपि मानव-पशवः देशे सन्ति एव। तादृग् एव इदं यद् वेदविषये केनचन देशान्तरीयेण, यः च वेद-विषये नैव आत्मीयता-बुद्धिम् आदधाति, न तत्र अलौकिक-पदार्थविदकत्वं परिचिनोति, नापि तत्र श्रद्दधाति, केवलं 'प्रथमं पुस्तकं, द्वितीयं पुस्तकम्' इति जानन् व्यवहरति, किंचिद् नवीनं कथितम् इति तदनुकुर्वन्तः अस्मदीयाः अपि तदुपष्टम्भनाय लेखान् प्रकाशयन्तः विमर्शकाग्रगण्याः भवन्ति। संहिता ब्राह्मणं च इति द्वौ भागौ वेदेषु प्रसिद्धौ। वेदाः च ऋक् यजुः सामाथर्वभेदेन सिद्धाः। तत्र च मण्डलम्, अष्टकं, काण्डम्, अध्यायः, वर्गः, सूक्तं, प्रपाठकः, अनुवाकः, इत्यादयः सन्ति प्रविभागाः। तत्र प्रथमं पुस्तकं, द्वितीयं पुस्तकम् इति जानन् पूर्वम् इदं विरचितं परं च इदं प्रणीतं, संहिता प्रथमम् आविष्कृता तद्-व्याख्यानाय ब्राह्मणभागः अनन्तरं विरचितः इत्यादि वदन्ति लिखन्ति च। प्राधान्येन वेदवाक्यार्थ-निर्णयाय परःसहस्रं न्यायान् प्रवर्तयन् महर्षिः जैमिनिः **'कर्मैके तत्र दर्शनात्'** इति सूत्रयन् विवादम् इमम् अतिप्राचीनम् अवगमयति। सूत्रेऽस्मिन् **'तत्र'**-शब्देन संहिता ब्राह्मणं च इति उभयं जैमिनिः अभिप्रेति इति तावत् स्पष्टम्। उभयोः वेदपदाभिधेयता तदभिमता इति अपि स्वीकर्तव्यम्। तत्र द्वादशसु अध्यायेषु प्रत्यधिकरणं प्रायः ब्राह्मण-वाक्यानि एव उदाहृत्य तत्र संदेहं पूर्वपक्षं सिद्धान्तं प्रयोजनं च प्रतिपाद्य याथातथ्येन तस्य वाक्यस्य अर्थं ग्राहयति। एवं कुर्वन् जैमिनिः ब्राह्मण-भागस्य अपि वेदत्वं नित्यत्वं च स्वीकराति इति एष्टव्यम्, अन्यथा सर्वं मीमांसा-शास्त्रं काकदन्त-परीक्षावत् स्यात्। समग्रस्य मीमांसाशास्त्रस्य आनर्थक्यापेक्षया कतिपयानां वेदसंपर्क-शून्यानाम् उक्तिषु कतिपयासु तथात्वाङ्गीकरणम् उचितम् इति शास्त्रतः लोकतः च सिद्धः पन्थाः। भवतु वा संहिता प्रथमं प्रवृत्ता, ब्राह्मणं च तदनन्तरम् इति अभ्युपेत्य विचारयामः—ब्राह्मण-भाग-प्रवृत्तिपर्यन्तं तेन संहिता-भागेन लोकाः किं कृतवन्तः स्युः ? किं पद-पदार्थावधारणाय काव्यनाटकादिवद् उपयोगः संहिताभागस्य ? किं वा अन्यः कश्चन उपयोगः ? न द्वितीयः कल्पः, अन्यस्य कस्यचिद् अनवधारणात्। न

प्रथमः, अन्यथासिद्धत्वात् । कामं विकासवादिने प्रथमः कल्पः रोचेत । स हि मन्यते क्रमशः कृमि-कीटादयः परिणताः मर्कट-पर्यन्तं समागत्य ततः मानवाः जाताः इति । न वयं पितृ-पितामह-प्रपितामहान् शाखामृगजान् स्मरामः । स्मरामः तु अष्टाविंशतितमे कलौ युगे भारतवर्षे भरतखण्डे वर्तमानान् । दृढतरम् इदं स्मरणम् अस्माकम्, आ च हिमवतः आ च कुमारिकायाः न व्यभिचरति । मम तु प्रतिभाति-न खलु पद-पदार्थविबोध-मात्रेण मन्त्राणां प्रयोजनम् अवसितं भवेत् । न हि मन्त्रभागः कस्याश्चन कथायाः आख्यायिकायाः वा इतिवृत्तस्य वा बोधनाय प्रवृत्तः, येन तां ताम् अवगत्य कादम्बरीम् इव प्रसन्नमनसः स्मः । निरतिशयेन मनन-व्यापारेण खलु महर्षिभिः प्राप्ता इमे मन्त्राः आख्यायन्ते । एतेषां दर्शनेन एव खलु ऋषयः ते समभवन् । अतः तदनुकूलं किमपि विशिष्टं कार्यं मन्त्राणां वक्तव्यम् । तदपि तथैव तैः एव अवधृतम् । तद्बोधकम् एव भवति ब्राह्मणम्—

"रमयत मरुतः श्येनमायिनं मनोजवसं वृषण ँ सुवृक्तिम् ।
येन शर्ध उग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त ँ स्वस्ति ॥"

(तै. सं. २-४-७)

इति अस्ति मन्त्रः—हे मरुतः, यूयम् अतिवेगेन समायान्तं पुरोवातं तथा क्रीडयत यथा पाश्चात्त्य-वातस्य निरोधः स्यात्, येन मेघेभ्यः तीव्रधारारूपेण पतत् जलं ग्रीष्मेण अतिसंतप्ताम् इमां पृथिवीं प्राप्नुयात् । तदिदं जलं हे अश्विनौ, पृथिव्याः क्षेमकरं यथा स्यात् तथा परितः धारयतम् इति मन्त्रस्य अर्थः । पश्चाद्-वातः ग्रीष्मवर्धकः वृष्टि-प्रतिबन्धकः च, पुरोवातश्च ग्रीष्मशामकः वृष्टि-प्रदः च इति इमम् अर्थं लोकतः अवगत्य मन्त्रम् इमं रचयामास कश्चन, नित्यसिद्धः पश्चाद्वातः पुरोवातो वा नाम, तम् इमम् अर्थम् अपबोधयन् अयं मन्त्रः निष्प्रयोजनः च इति द्राक्प्रब्रूयाद् विमर्शकः । किन्तु **'मरुतः' 'अश्विनौ'** इति शब्दौ संबुध्यन्तौ देवतावचनौ, देवतायाः च कर्मभिः संबन्धः नियतः इति विमर्शकस्य पर्यालोचने कथं बुद्धिः प्रसरतु ! मन्त्रैः विना ब्राह्मणभागस्य, ब्राह्मणेन विना मन्त्रभागस्य च स्वरूपलाभः दुष्करः इति कथं सः जानातु ? भागद्वयमपि बध्नाति एकेन सूत्रेण श्रौत-स्मार्त-कर्माणि । तेषां च अनुष्ठानाय मानवाः क्लृप्ताः । मानवानां कर्मणां च यथाधिकारं नियतः संबन्धः । कर्माणि शारीरिकाणि मानसिकानि वाचिकानि वा सर्वविधैः अपि तैः मानवानां नियतः संबन्धः । आत्मचिन्तनं क्रियतां, देवाः वा यागादिभिः आराध्यन्तां जप्यन्तां वा मन्त्राः सर्वत्र तेषां प्रयोगावगमः ब्राह्मणाधीनः । प्रयोगः च मानवाधीनः मन्त्रसाध्यः च इति इमां चिरन्तनीं रीतिं कथम् अवगच्छेद् विमर्शकः । अनादी यथा सृष्टिप्रलयौ तथैव मन्त्र-ब्राह्मण-कर्म-मानवानां मिथः संबन्धः अपि अनादिः इति विषयः कथं बुद्धिम् आरोहतु ? निश्चितम् इदं, यत् क्वचिद् मानवाः कर्मरहिताः, कर्माणि च मन्त्रविहीनानि, मन्त्राश्च ब्राह्मणासंबद्धाः आसन् इति प्रसाधनं दुष्करम् इति । अतः एव **'रमयत मरुतः श्येनमायिनम् इति पश्चाद्वा प्रतिमीवति पुरोवातम् एव जनयति'** इति प्रवृत्तः ब्राह्मणभागः मन्त्रं स्तुवन् कारीरेष्ट्यां विनियुङ्क्ते । अतः अत्र एवं निश्चेतुं शक्यम्—संहितागताः मन्त्राः प्रयोजनविशेषम् अलभमानाः कर्मविशेषम् आकाङ्क्षन्ते, कर्माणि च ब्राह्मणविहितानि कैः मन्त्रैः अनुष्ठेयानि इति अपेक्षन्ते । तत्र एकः अपरस्य न्यूनतां परिहरन् **नष्टाश्वदग्धरथन्यायेन** द्वावपि मिलितौ कृतार्थौ भवतः इति । यदि अत्र पौर्वापर्यक्रमः आश्रीयेत तर्हि यः एव प्रथमम् उत्पन्नः विरचितः वा सः चिरकालम् आकाङ्क्षावान् एव तिष्ठेत् । तावत्पर्यन्तम् उत्पन्नं भागम् अवाप्य अपि मानवाः किं कुर्युः । विना मन्त्रैः कर्मानुष्ठानम् असंभवं, विना च कर्मभिः मन्त्राणां न उपयोगः इति ते तूष्णीम् आसन् इति कल्पनीयम् । तदिदं न युक्तियुक्तम् इति प्रतिभाति । भारते परिचलितायाः कर्मानुष्ठान-परंपरायाः देशं कालं च न वयं निर्णेतुं शक्नुमो । मनसा अपि च चिन्तयितुम् अशक्यः खलु कालः व्यतीतः अस्याः परंपरायाः । अनुमानम् अपि अत्र कुण्ठितम् एव भवति । संभावनामात्रम् आश्रित्य किंचिद् वक्तव्यम् तत्र च विनिगमनाविरहः । अतः महर्षीणां निरतिशय-मनन-प्रसूताः यथा मन्त्राः तथा एव ब्राह्मणभागाः अपि इति सिध्यति ।

विमर्शकाः केचन प्रत्यवतिष्ठन्ते—यत् सर्वेषु ब्राह्मणग्रन्थेषु **'तद्धैके तद् तथा न कुर्यात्' 'तन्नादृत्यम्'** इत्येवं दार्शनिक-ग्रन्थेषु इव खण्डन-वाक्यानि उपलभ्यन्ते। तदिदं ब्राह्मण-भागानां न केवलं पौर्वापर्य-निर्णय-साधकम्, अपि तु पौरुषेयत्वे नित्यत्वाभावे च परमं साधकम्। मीमांसकैः व्यर्थः एव प्रयासः समाश्रितः स्याद् यदि मन्त्रब्राह्मणयोः वेदत्वापौरुषेयत्वसाधने इति।

अत्र किंचिद् विमृशामः—शतपथ-ब्राह्मणे दर्शपूर्णमास-प्रकरणे दृश्यते—**'तद्धैके स्रुक्संमार्जनान्यग्नावभ्यादधति—तदु तथा न कुर्यात्, तस्मादु परास्येदेवैतानि'** (श. ब्रा. १-२-४-११)। अस्य अर्थः—एके शाखिनः, स्रुचां जुहूपभृद्ध्रुवाणां संमार्जनानि-संमार्जनसाधनानि वेदाग्राणि अग्नौ-आहवनीये, अभ्यादधति-प्रक्षिपन्ति। तत्तथा न कर्तव्यम्, अपि तु तानि परास्येदेव-निरस्येदेव इति। एतद्ब्राह्मणानुसारेण माध्यन्दिन-शाखिनः वेदाग्राणि परास्यन्ति न तु अग्नौ प्रक्षिपन्ति। तेषाम् अग्नौ प्रक्षेपं तु तैत्तिरीय-शाखिनः समाचरन्ति। तेन तैत्तिरीय-शाखायाः प्राचीनत्वं माध्यन्दिनशाखायाश्च अर्वाचीनत्वं स्पष्टं प्रसिध्यति। किन्तु तैत्तिरीय-ब्राह्मणे का स्थितिः इति पश्यामः। तत्र हि. **'स्रुक्संमार्जनान्यग्नौ प्रहरति'** इति विधाय अनन्तरं **तानि एके वृथैव अपास्यन्ति, तत्तथा न कार्यम्—तस्मात् तानि अग्नौ एव प्रहरेत्'** इति (तै. ब्रा. ३-३-२) शतपथोक्तं निरस्य अग्नौ प्रहरणम् उपसंहरति। एवं सन्ति नैकविधानि उदाहरणानि येषु परस्परं खण्डन-मण्डने समुपलभ्येते। अस्मिन् व्यतिकरे किं वा कथं वा निश्चिनुमः। विषयः अयम् अतिगभीरः, समालोचनम् अर्हति। **'कश्चित् कान्ता'** इति श्रवणमात्रेण कवेः दोषम् उद्घाट्य समालोचनं न समुचितं यथा, तथैव सर्वाः शाखाः अनवलोक्य द्राङ्निश्चयः न समुचितः। अत एव **विरोधाधिकरणे** श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनाम् आत्यन्तिकम् अप्रामाण्यं वदतां भाष्यकाराणां मतं विमृशन्तः भट्टपादाः यावच्छ्रुत्युपलम्भं तासाम् अननुष्ठानलक्षणम् अप्रामाण्यं स्वीचक्रुः। सूत्रकारः अपि अनुपलभ्यमानमूलानां स्मृतीनां **'कर्तृसामान्यात्'** इति हेतुना दृढनिश्चयः मूलम् अनुमिनोति। अधुना इव तदानीन्तनः समाजः न अभवत्, येन कर्तृसामान्यं हेतुर्व्यभिचरेत्। वेदानाम् अध्ययनाध्यापन-तन्तुः अविच्छिन्नः समन्ताद् भारतभुवं प्रचलति स्म। अतः न मूलभूतश्रुत्युपलम्भे आसीत् काचन विप्रतिपत्तिः। किन्तु यदैव किंचित् शैथिल्यम् अध्ययन-अध्यापनव्यापारे अन्वभूयत पूर्वजैः, तदा एव तत्तत्सम्प्रदायपरिरक्षणाय सूत्राणि कल्पाः च प्रवर्तिताः। स्मृतिग्रन्थ-प्रणेतृभिः च तत्तत्-शाखागताः पदार्थाः स्मृतिरूपेण समगृह्यन्त। तद् इदम् एव स्मृतीनां स्मृतित्वम्। अत एव तत्तत्प्रान्तसम्प्रदायभेदेन विभिन्नाः स्मृतयः अनुष्ठानाय स्वीकृताः सामाजिकैः। किन्तु तासां प्रामाण्यविषये **होलाकाधिकरणन्यायेन** सर्वासां स्मृतीनां तन्मूलकाचाराणां च तुल्यं प्रामाण्यं **जैमिनिः** व्यवस्थापयति। एतेन इदं निर्णेतव्यं भवति—यत् तत्तद्-दिक्-प्रयुक्तेषु, दिगन्तर्गत-प्रान्तप्रयुक्तेषु, प्रान्तान्तर्गत-शाखा-प्रयुक्तेषु, शाखान्तर्गत-गोत्र-संप्रदाय-प्रयुक्तेषु च भेदेषु सत्सु अपि भूयस्सु, वेदात्मना सूत्रेण प्रबद्धाः सर्वे एव भारतीयाः भेदविनिर्मुक्ताः एव स्वां संस्कृतिं परिपालयाम्बभूवुः इति। अधुना इव तदानीं भेदभावपिशाचः मुक्तकेशः न ननर्त। एकस्मिन्नेव प्रान्ते मण्डल-नगरादि-भेदेन साम्प्रतं यादृशी भेदभावना लोकेषु समनुभूयते, तत्र कारणं शाखासूत्रगोत्राद्यपरिज्ञानप्रयुक्तम् एव इति निश्चेतव्यं भवति। संस्कृताध्येतारः अपि गोत्रं, सूत्रं, शाखां च विस्मरन्तः अनुभूयन्ते बहवः। गोत्रसूत्रादीनां समूलम् उन्मूलने केचन बद्धपरिकराः समवलोक्यन्ते। उन्मूलितेषु तेषु भारते किम् अवशिष्टं स्यादिति ते न परिचिन्तयन्ति। देशान्तरतुल्ये संजाते भारते अस्य गौरवं महत्त्वं वा किम् इव स्यात्। अशन-वसन-साधारण्य-सम्पादन-मात्रेण न मानवाः एकरूपाः भवेयुः। काकाः इव गृध्राः इव वा न पिकाः शुकाः वा भवन्ति। मृगाः पशवः च यथा तृणानि चरन्ति न तथा सिंहाः। यथा पशवः न तथा मानवाः। परस्परं भेदः तु अमीषाम् अनिवार्यः। पृथक् पृथग् विद्यमानाभिः एव इष्टकाभिः स्नुहीसंयोजनेन गृहाः निर्मीयन्ते, एकया एव तावद् बृहत्येष्टकया न क्वापि गृहाः निर्मातुं शक्यन्ते। भिन्नेषु एव सत्सु अभेद-संपादने कौशलं परिगण्यते। अनेन एव भारतस्य गौरवं परिरक्षितं भवेत्। अशन-वसन-समृद्धिः देशस्य आवश्यकी,

अस्मिन् विषये पूर्वम् अपि चिरकालं पराश्रितः देशः न अभवत्। किन्तु तदानीं जीवनाय एव आहारं कल्पयन्तः बुद्धिजीविनः अभवन्। इदानीं तु आहाराय जीवनं मन्यमानाः वर्तामहे। तद् इदं न उचितम्। अशन-वसन-समृद्ध्या सह चारित्रसम्पद् अपि आवश्यिकी देशस्य। सा च संपद् तन्मूलकेषु समेषु संस्कृत-वाङ्मयेषु विलीना वर्तते। धनधान्यसंपदः अस्त्र-शस्त्रादि-संपदश्च अभिवृद्धये अन्ये व्याप्रियन्ताम्, चारित्रसंपदः च विवृद्धये प्राच्य-विद्यापरिषत्सदस्यैः विशेषतः च पण्डित-परिषदि समवेतैः अस्माभिः एव बुद्धिजीविभिः यतनीयम्। अन्यथा सम्प्रति देशे लोकेषु परिदृश्यमाना स्थितिः अस्मान् क्व प्रापयेद् इति मनसा कल्पयितुम् अपि न शक्यते। प्रजातन्त्रं देशस्य स्पृहणीयम्। जनतायाः समानरूपेण अवस्थितिः अत्यन्तं समुचिता, किन्तु मर्यादोल्लङ्घनं न समुचितम्। स्वं स्वं कार्यं नियतं संपादयन्तः वर्तेरन् जनाः तर्हि एव जनतायाः अभिवृद्धिः सह समाजेन। निष्कण्टकं पन्थानम् उत्सृज्य कण्टकाकीर्णे वक्रे पथि गमनं क्लेशदायकम् इति सर्वसम्मतः पक्षः। अशनेन वसनेन च विना कस्यापि वर्तनम् अशक्यम् एव। किन्तु स्वात्मवत् सर्वत्र दृष्टिः इयं निक्षेपणीया। अन्यः कथम् अपि वर्तताम्, वयं तु उत्कोचग्रहणेन भूयः द्रव्यम् एकीकृत्य सुखिनः भवामः इति बुद्धिः प्रजातन्त्रस्य न लक्षणम्। नवीनोपकरणैः सुसज्जिते प्रासादे स्वस्य स्वकुटुम्बस्य च अवस्थितिः, अन्येषां च अवस्थितिः मार्गेषु, इति रीतिः प्रजातन्त्रस्य न शोभते। जनतायाः यथा यथा निर्णयः तथा तथा शासकवर्गः परिणमितः भवति। तत्र सम्प्रति सर्वत्र भारते विनेयाः राष्ट्रियभावनाम् अप्राप्य राष्ट्रविघटनकार्ये प्रवर्तन्ते इति यत्पश्यामः तत्र न विनेयाः कारणम्, किन्तु तान् ये प्रेरयन्ति ते एव कारणम्। अतः बुद्धिजीविनः वयं सत्प्रेरककार्यं स्वीकुर्मो यदि, देशस्य महान् लाभः स्यात्। शृङ्गारप्रधाने काव्ये कामसक्तम् अपि नायकं श्रौतपदार्थोपनिबन्धनद्वारा एव सच्चरित्रं कविः व्यवस्थापयन् शाश्वतीं कीर्तिम् अविन्दत। तस्य पन्थाः अस्माभिः अवलम्बनीयः। धन्या इयम् अवन्तिका, धन्यतमा च इयम् उज्जयिनी।

अखिल भारतीयसंस्कृत-साहित्यसम्मेलन-स्वर्णजयन्तीसमारोहे

वेदपरिषदः सभापतीनाम् अध्यक्षीयं भाषणम्

आचार्य श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणाम्

उपस्थिता विद्वन्मणयः !

अखिलभारतीयसंस्कृतसाहित्यसम्मेलनेन स्वीये स्वर्णजयन्त्युत्सवावसरे भारतराजधान्यां समायोजितायामस्यां वेदपरिषदि वयं स्थाने समवेतास्स्मः।

वेदस्तु न केवलं भारतवर्षस्य किन्तु विश्वस्य जगतो महानिधिः, निखिलानामपि विद्यास्थानानामुद्गमस्थानम्, अक्षय्यसुकृतावाप्तये परमं साधनम्, दुःखत्रयदलनाय महाहेतिः, सांसारिकरोगापनुत्तये निरुपममौषधम्, सामाजिकव्यवस्थायै मार्गदर्शी, सच्चारित्रस्य शिक्षायाश्च गुरुरिव ग्राहकः, कुमार्गगामिनां मानवानाम् उपदेशक इव सन्मार्गप्रवर्त्तकः, भूवलयस्यायं कल्पतरुरस्तीति ज्ञात्वा प्राप्तव्यमर्थं निरूपयितुं प्रवृत्तोऽयं पवित्रः शब्दराशिर्वेदनामा। इममेव शब्दराशिं मूलमाश्रित्य प्रवृत्तस्संस्कृतवाङ्मयनिवहः। अनेन समुपदिष्टैव सरणिस्सकलजनपरिग्राह्या। अस्मा एव स्पृहयन्ति निखिला अपि शिक्षाशास्त्रिणः। खनेर्विविधानि रत्नानीवास्मादेव तत्त्वान्युद्धृत्य दार्शनिकाः पौराणिका अन्ये च समाजपरिष्कर्तारः प्रकाशयाञ्चक्रुः। अस्यैव साहाय्येन सर्वं भारतवर्षं सकललोकस्पृहणीयमनितरसाधारणञ्च गौरवमाबिभर्ति। अस्मिन्नेवास्माकं प्राणा निहिता वर्तन्ते। सत्यं भारतमातुः प्राणा वेदाः। नैकरूपाणामपि भारतीयानामेकरूपत्वापादने महासूत्रस्थानीयोऽयम्। यथा वायुना सूत्रेण सर्वाणि भूतान्याबद्धानि सन्ति, तथैवानेनापि वेदात्मना सूत्रेण मिथो विरुद्धान्यपि दर्शनानि पुराणानि साम्प्रदायिकतत्त्वानि च सुदृढमाबद्धानि। एक एवात्मा सर्वभूतात्मा, एक एव देवोऽग्निमित्रवरुणेन्द्रादिनानारूपाणि धत्ते, तथैवायं शब्दराशिस्सर्वेषामात्मा विविधविद्यास्थानानां रूपाण्याधत्ते। यथा रत्नाकरस्य वीचयो रत्नाकरादनन्यत्वं भजन्ते तथैवास्मात्समुद्भूतानि शास्त्रजालानि। बहुरूपास्स्यन्दमाना नद्यः समुद्रराजेनैकरूपतामापद्यन्ते तथैव नानारूपाण्यपि दर्शनानि वेदाख्ये ग्रन्थराशौ निलीयैकरूपत्वं भजन्ते। एकमपि सद् वस्तु द्रष्टॄणां कल्पनाभेदेन भिन्नं प्रतिभाति, एकैव माता निरूपकभेदेन भिन्नानि नामानि रूपाणि च परिगृह्णाति, तथैव जननी श्रुतिरपि।

वेदविषये भारतीयानां संख्यावतां दृष्टिरन्यादृशी, विदेशीयानां तदनुयायिनाञ्च भारतीयानां दृष्टिरन्यादृशी। मिथो विरुद्धे इमे दृष्टी भवतः। एका चाकृत्रिमत्वदृष्टिरपरा च कृत्रिमत्वदृष्टिः, एकत्र चानुपहसनीयत्वम् अपरत्र चोपहसनीयत्वम्। क्वचिदर्था अपि शब्داननुधावन्तीति भारतीया मन्यन्ते, सर्वत्र शब्दा एवार्थाननुधावन्तीति तदितरे। अलौकिकार्थविदकत्वं शब्दस्य क्वचित्, सर्वत्र च लौकिकार्थविदकत्वं तस्य। शब्दार्थयोर्नियतो नित्यश्च सम्बन्धइत्येके, सोऽनियतोऽनित्यश्चेत्यपरे। मन्त्रद्रष्टृत्वं महर्षिषु पश्यन्ति भारतीयाः, कर्तृत्वञ्च तत्र निर्धारयन्ति तदितरे। एवं दृष्टिभेदे मतभेदे च मुख्यं कारणं यद्भारतीयानां वेदसन्दर्भे स्वीयत्वभावना, इतरेषाञ्च तत्र परकीयत्वभावनेति। यादृशोऽभिनिवेशः यादृशी वा श्रद्धा भारतीयानां वेदसंरक्षणे तदध्ययने वा न तादृशोऽभिनिवेशः न तादृशी च श्रद्धा देशान्तरीयाणां भवितुमर्हति। साम्प्रतिकी स्थितिस्त्यज्यताम्, प्राचीनभारते स्वाध्यायाध्ययनं नियतकर्तव्यमासीद्द्विजानाम्। स्वाध्यायाध्ययनव्यापारात्प्रच्युतिर्महते दोषाय पर्यगण्यत। सहस्रशः शतकानि वत्सराणां स्वाध्यायाध्ययनतन्तुमेनमविच्छिन्नं परिरक्षन्तः पूर्वजा यापयाम्बभूवुः। अध्ययनम-

ध्यापनम्, नित्यानां नैमित्तिकानाञ्च कर्मणां यथायथमनुष्ठानम्, मीमांसया वेदवाक्यार्थावधारणं तत्परिशीलनमित्यादीन्यनेकानि तेषां परिरक्षणसाधनानि। एतेषु यदा किञ्चिच्छैथिल्यमन्वभूयत पूर्वजैः तदा परम्परासमागतं क्रममवलम्ब्य सूत्रलक्षणग्रन्थाः प्रणीताः। कल्पसूत्राणां स्वरवैदिकप्रक्रियाया अन्येषाञ्च लक्षणग्रन्थानां प्रातिशाख्यप्रभृतीनां विरचनात्पूर्वमपि पूर्वोक्तस्तन्तुरविच्छिन्न एवासीदित्यत्र न कश्चन संशयः। प्रत्नं किमपि न निर्मितमेभिः। परम्परया समागतानेव पुरातनान् नियमानिमे सङ्गृहीतवन्तः। प्रतिपद्, अष्टमी पर्वकालादिश्च मन्त्राध्ययनेऽनध्यायाः भवन्ति, किन्तु तेषु कालेषु श्रौतानि च कर्माण्यनुतिष्ठन्तः श्रोत्रिया मन्त्रानुच्चारयन्त एवाभवन्। 'स्वाध्यायेऽनध्यायो मन्त्राणां, न कर्मण्यर्थान्तरत्वात्' इत्यापस्तम्बसूत्रात्पूर्वं ग्रहणधारणयोरेवाध्ययनयोः प्रतिपदादयोऽनध्यायाः, न तु कर्मणीति नियमं श्रोत्रिया न प्रज्ञातवन्त इति न, किन्तु याज्ञिकानामेवाचारं जानन्नापस्तम्बाचार्यस्सूत्रयति। श्रौतकर्मणामनुष्ठाने सोमपूर्वत्वमिष्टिपूर्वत्वञ्चासीत् याज्ञिकानाम्, तदेव सूत्रयन्ति सूत्रकाराः। **'मन्त्रान्तैः कर्मादीन् सन्निपातयेत्' 'आघारे धारायाञ्चादिसंयोगः' 'विकल्पो याज्यानुवाक्यासु'** इत्यादयो नियमाः सम्प्रदायतः प्राप्ता एव महर्षिभिर्लिखिताः। ञित्-नित् प्रत्ययान्तानां पदानामाद्युदात्तत्वं **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** इति सूत्रप्रवृत्तेः पूर्वमेव छात्रानध्यापका ग्राहयन्ति स्म। स्थलविशेषेष्वनुस्वारागमस्तुस्य च गकारसंयुतत्वम्-यथा-**अग्नौ ७ रफ्सुषदः' 'प्रत्युष्ट ७ रक्षः' 'स ७ समिद्युवसे'** इत्यादौ

'रोष्मभावात्तु नात्पूर्वं लुप्तान्माच्च तदुत्तरात्। नकाराद्याकृतेर्लुप्तादनुस्वारागमो भवेत्।
अनुस्वारो यजुष्येवमध्यायेऽपि यदा भवेत्। तदा गकारसंयुक्तो न शान्तिश्शासरूपतः' ॥

व्या. शि. १२.२३७

इति व्यासशिक्षातः पूर्वमेवाध्ययनाध्यापनसम्प्रदाय आसीदित्येव स्वीकर्तव्यम्। स्वरप्रक्रिया वा वैदिकी प्रक्रिया वा लक्षणग्रन्था वा सम्प्रदायात्प्राप्तानि लक्ष्याण्यवलम्ब्यैव महर्षिभिः प्रवर्तिताः। अन्यथा **'दक्षिणाचारेण कर्म कर्त्तव्यम्' 'यज्ञोपवीतिना कर्त्तव्यम्'** इत्यादि स्मृत्युदयात्पूर्वं याज्ञिकाः श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि वामहस्तैः निवीतिनः प्राचीनावितिनो वा समाचरन्तोऽभवन्निति शङ्काया अवसरस्स्यात्। अत एवमादीनां ग्रन्थानामाविर्भावात्पूर्वमपि सुदृढः कश्चन सम्प्रदाय आसीदित्यनुमानं नासङ्गतम्। न चास्य सम्प्रदायस्य जन्मपत्रिका निर्मातुं शक्या। न खल्वद्यावधि केनापि निश्चित्येदं निरूपयितुमपार्यत—यद् बीजं प्रथमम् उत वृक्ष इति। अनिदम्प्रथमात्कालात्प्रवृत्तानां पदार्थानां निश्चये नान्यत्किञ्चित्साधनं भवितुमर्हति—ऋतेऽविच्छेदेन परिप्राप्तायाः परम्परायाः।

किञ्च वेदाध्ययनकर्तॄणां भारतीयानां वेदग्रन्थपठितॄणामाधुनिकानाञ्च भूयान् प्रभेदः। अध्ययनं पठनञ्च नैकरूपे भवतः। गुरुमुखोच्चारणानूच्चारण व्यापारेऽध्ययनपदप्रयोगः शास्त्रविदां भवति, पठनपदन्तु वर्णवाचनरूपे साधारणव्यापारे प्रयुज्यते। असाधारणाध्ययनव्यापारवद्भिरेव चिरन्तनी सा परम्परा ज्ञायेत, न तु केवलं पठितृभिः। नियतस्वरवर्णक्रमविशिष्टाया आनुपूर्व्या अधिगमनेऽध्ययनव्यापारः तद्रहिताया आनुपूर्व्याः शब्दतोऽर्थतो वाऽधिगमने पठनव्यापारः। स्वरवैदिक व्याकरण-प्रातिशाख्यलक्षणग्रन्था असाधारणेऽध्ययनव्यापार एवोपयुज्यन्ते। अथवा ते ग्रन्था एवाध्ययनस्यासाधारण्यं प्रतिपादयितुं प्रवृत्ताः। **'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'** इति सूत्रोक्तो नियमोऽध्ययनव्यापार एव समन्वितो भवति, न केवलं पठनव्यापारे। नियमानां ज्ञानमन्यत्, तेषां परिपालनञ्चान्यत्। परिपालयितृभिरेव सा परम्परा संरक्ष्यते न केवलं ज्ञानवद्भिः। विदेशीयाः तदनुयायिनश्च नियमज्ञानवन्तो नूनं भवेयुः। सत्यमेव ते सुपरिश्रम्य शाब्दबोधं सम्पादितवन्तस्स्युः स्वीयविमर्शदृष्ट्या वेदविषये यत्किमपि लिखितवन्तो भवेयुः। किन्तु वेदवाक्यानामर्थप्रतिपादनाय निर्णयाय वा या सामग्री निगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसादिरावश्यिकी तामनादृत्यैव लेखनीं व्यापारयामासुः। कथमन्यथा **'अज एकपाद् देवः** इत्यस्य—एकपादयुक्तोऽजो

मृगः' (One footed goat) इति ग्रिफिथमहोदयः (T. H. griffith) ब्रूयात्। नूतनस्य पदार्थस्याविष्कारे बोधने वा क्वचित्सत्यमस्ति वैचित्र्यम्। नूनं तत्र प्रतिभायाः कौशलं परिगण्येत। किन्तु तदितराविरोधेनैव प्रतिपाद्यमानं वैचित्र्यमावहेत् कौशलं वा प्रकटयेत्। सत्यपि विरोधे तत्परिहाराय भूयांस उपायास्समुपदिष्टाः सन्ति शास्त्रेषु। तानादाय तत्र तत्र प्राप्तं विरोधं प्रशमयितुं यतन्ते दार्शनिकाः। नवीनाविष्कारे तु न विरोधपरिहारोपायाः, नापि तत्प्रशमने कियानपि यत्नः। प्रत्युत विरोधमेवावलम्ब्य वेदानामितस्ततो नयनं कुर्वन्ति तेषामुपहसनीयत्वञ्चाविष्कुर्वन्ति नवीनाः। वेदानां सन्निकृष्टकालत्वं कृत्रिमत्वञ्चेतीदं नाद्यतनम्, चिरादेवमादयश्शङ्काः प्रवर्तन्ते स्म, तासां परिहाराय भूयान् यत्नः कृतः शास्त्रकारैः। तत्र च सुमहत्साफल्यमप्यवाप्नुवँस्ते।

तेषां विचारधारासु परिशील्यमानासु स्फुटमेवं निर्णेतुं शक्यते—ऋग्यजुस्सामाथर्वभेदेन विभक्तेषु चतुर्षु वेदेषु संहिताभागानां विवरणपराणि ब्राह्मणानि सन्ति नियतानीति प्रसिद्धमिदम्। मन्त्रेष्वधीयमानेषु निरुक्तव्याकरणादिपरिष्कृतमतीनां नूनमर्थावबोधो भवेत्। किं तेन जातेनार्थावबोधेन प्रयोजनमिति जिज्ञासायां न किमपि साधूत्तरं भवति। न खलु पदपदार्थावबोधमात्रेण मन्त्राणां प्रयोजनं सिध्यति। न हि मन्त्रभागः कथाया आख्यायिकाया वा बोधनाय प्रवृत्तः, येन कथामाख्यायिकां वावगत्य मनः प्रसीदेत्। निरतिशयेन मननव्यापारेण खलु महर्षिभिः प्राप्ता इमे मन्त्राः। एतेषां दर्शनेनैव किल ते ऋषयस्समभवन्। अतस्तदनुकूलं किमपि विशिष्टं कार्यं मन्त्राणां वक्तव्यम्। तदपि तैरेवावधृतम्। तद्बोधकमेव भवति ब्राह्मणम्। मन्त्राणां यः क्रमः तमनुधावन्ति ब्राह्मणानि, अथवा ब्राह्मणेन यः क्रमोऽवलम्बितस्तदनुसारं मन्त्रा एकीकृता इति सन्देहे—मन्त्रा एव प्रथमं रचिताः, अनन्तरञ्च ब्राह्मणानीति द्राक्प्रब्रूयाद्विदेशीयो विमर्शकः। तस्य च मते सृष्टेरादौ लब्धजन्मानो मानवाः पशुतुल्या आसन्, तृणानि पर्णानि च खादन्तस्तान्येव च वसानाः संस्कृत्या सभ्यतया वा विहीना अभवन्, क्रमेण विकसिताश्चाभूवन् इति हि सिद्धान्तः। सृष्टिशब्दः प्रलयशब्दो वा सापेक्ष इति न तस्य बुद्धौ समारोहति। प्रलयंगतस्यैव सृष्टिः, सृष्टस्यैव प्रलय इति न स समालोचयति। यदि समालोचयेन्न तर्हि संहिताब्राह्मणयोः पौर्वापर्यम्। प्रलयकाले येषां प्रलयस्तेषामेव सृष्टिरिति कुतः पौर्वापर्यम्? सृष्टिश्च प्रलयश्चेति द्वावपि नेष्येते यदि, न तर्हि साधयितुं शक्यमनयोरादिमत्वम्। मन्त्रब्राह्मणपाठयोः प्राबल्यदौर्बल्यविचारावसरे मीमांसकाः मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वं ब्राह्मणपाठस्य च बहिरङ्गत्वम् व्यवस्थापयाम्बभूवुः। इमे चान्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वे पाठयोरेव न मन्त्रब्राह्मणयोः। मन्त्रैर्विना ब्राह्मणैश्च विना मन्त्राणां स्वरूपलाभो दुष्करः। भागद्वयमपि बध्नन्त्येकेन सूत्रेण श्रौतस्मार्तकर्माणि। तेषाञ्चानुष्ठानाय मानवाः। मानवानां कर्मणाञ्च यथाधिकारं नियतस्सम्बन्धः। तानि कर्माणि भवन्तु शारीरिकाणि मानसिकानि वाचिकानि वा। सर्वविधैरपि तैर्मानवानां नियतस्सम्बन्धः। आत्मचिन्तनं क्रियताम् देवा वा यागादिभिराराध्यन्ताम् जप्यन्तां वा मन्त्राः, सर्वत्र तेषां प्रयोगावगमो ब्राह्मणाधीनः। प्रयोगश्च मानवाधीनो मन्त्रसाध्यश्चेत्ययं याज्ञिकानां राजमार्गः। अनादी यथा सृष्टिप्रलयौ तथैव मन्त्र-ब्राह्मण-कर्म-मानवानां मिथस्सम्बन्धोऽप्यनादिः। क्वचित्कदाचिन्मानवाः कर्मरहिता अभवन्, कर्माणि मन्त्रविहीनान्यासन् मन्त्राश्च ब्राह्मणसम्बद्धा न अभूवन्निति साधनं दुष्करम्। विदेशीयास्तु विमर्शका नेमां परम्परामङ्गीकुर्वन्ति, नाप्यत्र विश्वसन्ति, न चाप्येतादृशेष्वलौकिकफलजनकेषु कर्मसु श्रद्दधते। तेषां मन्त्रेषु ब्राह्मणेषु च पदपदार्थसम्बन्ध एव मनः प्रसरति। तद्बलेन ते यत्किमपि वदेयुः। भारतीयाः पुनः काञ्चन मनोहरामविच्छिन्नपरम्परामावहन्तः संहितागतान् मन्त्रान् ब्राह्मणविहितकर्मभिस्सम्बन्धयन्तस्तानि कर्माणि यथावदैहिकम् आमुष्मिकम् ऐहिकसंवलितमामुष्मिकञ्च फलमवाप्तुमन्वतिष्ठन्निति।

सांसारिकावस्थायां मानवैर्यावन्ति फलानि कामयितुं शक्यन्ते व्यष्टिरूपाणि समष्टिरूपाणि वा यथा, धनं तेजः श्रुताध्ययनसम्पत्तिः, पुत्रपौत्रभृत्यसम्पत्तिः, आयुः शरीरारोग्यम्, लोकानां सङ्ग्रहः, विविधानां रोगाणां निवृत्तिः, वृष्टिः क्षेमसुभिक्षता, ईतिबाधानिवारणम्, सामूहिकरोगनिवृत्तिः, जनताया एकतेत्यादीनि, समेषामेषां

साधनाय कर्माण्युपदिष्टानि दृश्यन्ते वेदेषु। अधुनाऽमीषां साधनाय यावन्तो लौकिका उपाया विज्ञानेनाविष्कृता अवलम्ब्यन्ते, तथैव पूर्वस्मिन् कालेऽलौकिकानीमानि कर्माण्यवलम्बितानि पूर्वजैरित्यत्र न कोऽपि सन्देहः।

'रमयत मरुतः श्येनमायिनं मनोजवसं वृषण ँ सुवृक्तिम्।
येन शर्धंउग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त ँ स्वस्ति'॥
तै० सं० २.४.७

इति कश्चन मन्त्रः। मरुतो देवतास्सम्बोध्य प्रवृत्तः। हे मरुतः, यूयमतिवेगेन समायान्तं पुरोवातं तथा क्रीडयत यथा पाश्चात्यवातस्य निरोधस्स्यात्, येन मेघेभ्यः तीव्रधारारूपेण पतज्जलं ग्रीष्मेणातिसन्तप्तामिमां पृथिवीं प्राप्नुयात्। तदिदं जलं हे अश्विनौ, पृथिव्याः क्षेमकरं यथा स्यात्तथा परितो धारयतम् इति तस्यार्थः। अस्यार्थस्य ज्ञानेन किमस्माकं प्रयोजनं निर्गलति। पश्चाद्वातो ग्रीष्मवर्धको वृष्टिप्रतिबन्धश्च, पुरोवातश्च ग्रीष्मशामको वृष्टिप्रदश्चेति न न वयं जानीमः'? ग्रामवासिनः सर्वेऽपि पुरुषाः स्त्रियश्चेमं विषयं परिचिन्वन्त्येव। तस्यास्य किं प्रयोजनमिति प्रश्ने पाश्चात्यो विमर्शको ब्रूयान्निष्प्रोजनमेवेति। भारतीयास्तु-मरुतः' इति शब्दस्य वायुमात्राभिधायकत्वं न मन्यन्ते। किन्तु तदधिष्ठात्र्या देवताया बुद्धिस्तेषां मरुच्छब्देन भवति। देवतायाश्च कर्मभिस्सम्बन्धो नियतः। तदस्य प्रयोजनवत्त्वाय ब्राह्मणभागः—**'रमयत मरुतः श्येनमायिनमिति पश्चाद्वातं प्रतिमीवति पुरोवातमेव जनयति'** इति स्तुवन् कारीरेष्ट्यां मन्त्रं विनियुङ्क्ते।

एवम्—

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रे।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरति दीर्घमायुः॥

इति मन्त्रश्चन्द्राभेदेनादित्यं स्तोतुं प्रवृत्तः। नित्यसिद्धमर्थमादित्यं वर्णयन्नयं किं विशिष्टं प्रयोजनमादधातीत्यजानानेभ्योऽस्मभ्यं ब्राह्मणभागः—**'यः पापयक्ष्मगृहीतस्स्यात्तस्मा एतमादित्यं चरुं निर्वपत्'** इति राजयक्ष्मरोगेण पीडितं मानवं तस्मादुन्मोचयितुमिष्टिं विधाय तत्रास्य मन्त्रस्योपयोग इत्युपदिशति। एवमादयस्सहस्रशो मन्त्रा ब्राह्मणेन तत्र तत्र क्रतुषु यथायथं विनियुक्ता दृश्यन्ते। अत्रैवं निश्चेतुं शक्यम्—संहितागता मन्त्राः प्रयोजनविशेषमलभमानाः कर्मविशेषमाकांक्षन्ते, कर्माणि च ब्राह्मणविहितानि, कैर्मन्त्रैः कर्तव्यानीत्यपेक्षन्ते। तत्रैकोऽपरस्य न्यूनतां परिहरन् द्वावपि मिलितौ कृतार्थौ भवत इति। यद्यत्र पौर्वापर्यक्रम आश्रीयेत तर्हि य एव प्रथममुत्पन्नो विरचितो वा स चिरकालमाकांक्षावानेव तिष्ठेत्। तावत्पर्यन्तं मानवा उत्पन्नं भागमवाप्यापि किं कुर्युः? विना मन्त्रैः कर्मानुष्ठानमसम्भवम्, विना च कर्मभिः मन्त्राणां नोपयोग इति ते तूष्णीमासन्निति कल्पनीयम्। तदिदं न युक्तियुक्तमिति प्रतिभाति। भारते परिचलितायाः कर्मानुष्ठानपरम्पराया देशं कालञ्च न वयं निर्णेतुं शक्नुमः। मनसापि चिन्तयितुमशक्यः खलु कालो व्यतीतोऽस्याः परम्परायाः। अनुमानमप्यत्र कुण्ठितमेव भवति। सम्भावनामात्रमाश्रित्य किञ्चिद्वक्तव्यं भवति। अतएव विदेशीयविमर्शकेषु 'मैक्समूलर' महोदयः—वैदिकमतविकासावरोधार्थमेव प्रवृत्ताद्बौद्धमतात् पूर्वमेव (क्रिस्तोः पूर्वं ५००) सर्वं वैदिकसाहित्यं संहिताब्राह्मणोपनिषदारण्यकादिकमासीत्। तत्रापि क्रिस्तोः पूर्वं १२०० वत्सरेभ्यः १००० वत्सरपर्यन्तं वैदिकमन्त्राणामृचां प्रारम्भिकः कालोऽभ्युपगन्तुं शक्यत इत्यभिप्रैति।

Budhism is-nothing else than a re-action against Brahmanism and it presupposes the existance of the entire Veda, i. e, of the Literature embodied in the hymns, the Brahmans, Aranygkas, and the Upanishads, The whole of this literature must have therefore been pre-Budhistic, i. e., it must have arisen

before 500 B.C. The Vedanga and the sutra Literature could be approximately simultaneous with the origin and the expansion of Budhism in its initial stages. These Sutra works, whose origin might be attributed to the period from 600 to 500 B. C. x x x

Before the formation of these collections, however, which were already regarded as holy sacrificial songs and authoritative prayer books, there must have preceded a time in which the hymns and the songs contained in them should have arisen as popular or religious compositions. . This period must he before 1000 B. C. Two hundred years must be assigned for the growth of this poetry and thus we may arrive at 1200 to 1000 B. C. as the initial period of the vedic poetry.

एवमेव पाश्चात्यपण्डितः 'विण्टर्निज' महोदयः 'मैक्समूलर' महोदयसम्भावनास्पदेषु संकोचं विकासञ्च कुर्वन् संहितादिवैदिकसाहित्यस्य यदि काचिन्निश्चिता तिथिरुन्नीयेत तर्हि क्रिस्तोः ५०० वत्सरेभ्यः पूर्वमित्येव वक्तुं शक्यत इति निरूपयति ।

In reality, nothing has been known than that the vedic period extends from an altogether un-defined post to the fifth centary before christ. Neither the figures 1200 to 500, nor 1500 to 500, which are often to be met with in the popular account. about the age of the Vedic literature have any justification. The only date justifiable is X to 800 B. C. And as the result of the investigation of the last ten years it could be said that it is probable that in place of 500 B.C. will have to be substituted the date 800 B. C. ....we must, however, guard against giving any definite figures, where such a possibility is, by the nature of the case, excluded................The Age of the Veda, by winternitz.

एवं 'मूर' महोदयः (Original Sanskrit Text) नाम्नि स्वीये ग्रन्थे, कांश्चन मन्त्रान् परिगणय्य तत्र कृञ्, तक्ष प्रभृतीनां धातूनां प्रयोगबलात् मन्त्रेषु च ऋषीणां विश्वामित्र-जमदग्निप्रभृतीनां नामोपलम्भाच्च वेदानां नित्यत्वं कथं भवितुमर्हति इत्याक्षिपति ।

एवं मैक्डोनल महोदयः—वैदिकलौकिकसंस्कृतगतभाषाभेदमवधारयन् ऋग्वेदस्य दशमं मण्डलमत्यर्वाचीनमित्यादिकं स्वीये संस्कृतसाहित्येतिहास (History of Sanskrit Literature) ग्रन्थे लिखति ।

Never the less, the supplements collected in it appere for most part to be older than the additions which occur in the earlier books. (L43-45).

एवं सम्भावयतामेषामिदं कारणं भवितुमर्हति-यद्वेदं पुस्तकाकारमिमे मन्यन्ते, न श्रुतिरूपम्, नापि ग्रन्थाकारम् । अत एव ते प्रथमं पुस्तकं, द्वितीयं पुस्तकमिति ऋग्वेदगतमण्डलानि निर्दिशन्ति । मण्डलम्, अष्टकम्

काण्डम्, अध्यायः, वर्गः, सूक्तमित्यादयश्शब्दा अध्ययनाध्यापनसौकर्याय पूर्वजैर्ग्रथितानां वेदभागानां वाचकाः। मण्डलमष्टकं काण्डश्चेति न पुस्तकं भवति प्रथमं श्रुत्येकगोचरा ये शब्दराशयोऽभवन् श्रुतिशब्दवाच्याः कालान्तरे ग्रथितास्सन्तो ग्रन्थरूपा अजायन्त। त एव कालान्तरे लिपिनिबद्धाः क्रियन्ते स्म। सम्प्रति च ते मुद्रिताः पुस्तकशब्दवाच्या अभवन्। अस्माकं चिरन्तनीयं परम्परा यच्छ्रुत्यैव बहुकालं गृहीताः श्रुतीः कालान्तरे विभज्य यथायथं प्रवर्तितवान् महर्षिर्व्यासः। अत एव स लोकैर्वेदव्यास इति प्रख्यातिमलभत। अनन्तरं केचन काण्डादिविभागं कृत्वा अध्यापयाम्बभूवुः। अत एव च ते काण्डर्षय इत्युच्यन्ते सम्प्रत्यपि। यथा सूक्तानां मन्त्राणाञ्च द्रष्टारो नियमेन स्मर्यन्ते तथैव काण्डर्षयोऽपि। इयमस्मत्परम्परा। विदेशीयास्त्वस्यां परम्परायां नान्तर्भूताः। ते खल्वस्मानेव वदन्ति—यदिमे देशान्तरेभ्यस्समागता आर्या इति। तद्वयं सर्वात्मना नकेवलं विश्वसिमः, तथैवास्मदपत्यानि च ग्राहयामः। महतो दुःखस्यायं विषयः।

मीमांसासूत्रकारस्य जैमिनेः काले कल्पसूत्राणां षडङ्गानां मन्वादिप्रणीतानां स्मृतीनामपि मन्त्रब्राह्मणयोरिव वेदरूपत्वं लोकैराशङ्कितमासीत्। तथाविधाया आशङ्काया इदमेव मूलं भवितुमर्हति—यदिमे सन्दर्भा अपि तदानीन्तने समये श्रुतिग्राह्या वाचो विधेया अभवन्निति। यथा वेदसन्दर्भो नियमेन श्रवणेन्द्रियग्राह्यःसन् श्रुतिशब्दवाच्यस्तथैवैतेषामपि सन्दर्भाणां तद्ग्राह्यत्वेन कथं तच्छब्दव्यवहारो न भवत्विति आशङ्काऽपि न खलु निर्मूला भवितुमर्हति। तत्र परीक्षको महर्षिर्जैमिनिः कल्पसूत्राधिकरणे सयुक्तिनिर्देशं व्यवस्थापयामास—यत्तेषां वेदमूलत्वेनैव प्रामाण्यं न वेदरूपत्वेनेति। एवं स्मृत्यधिकरणे शबरकुमारिलप्रभृतयो मीमांसकाः स्मृतिमूलत्वेन श्रुतिग्रन्थानेवानुमिन्वन्ति। तेनेदं निश्चेतुं शक्यते—यत्तस्मिन् काले श्रुतीनां ग्रन्थनमभवदिति। सूत्रकारस्तु जैमिनिः **'प्रमाणमनुमानं स्यात्'** इति वदन् द्योतयति—यत्तत्समये श्रुतिविषयत्वेनैव वेदसन्दर्भ आसीदिति। इदन्तु स्वीकर्त्तव्यमेव भवति—यद्बह्वीनां वेदशाखानामध्ययनाध्यापनपरम्परागतानां श्रुतिगोचराणां जैमिनेः काल एव लोपं गतः। अत एव शाक्यादिग्रन्थानामप्युच्छिन्नशाखामूलकत्वमाशङ्कन्ते स्मेति। एवं परम्परायां विद्यमानायां पुस्तकयुगान्तर्गता विमर्शकाः मण्डलेषु काण्डेषु च पुस्तकत्वभ्रान्त्या वदन्ति यदृग्वेदस्य प्रथमं दशमञ्च पुस्तकमर्वाचीनम् इतराणि च पुस्तकानि प्राचीनानीति। अत्र च ते भाषाभेदमाकलयन्ति। अस्माकन्तु संस्कृतमेकैव भाषा। लौकिकं वैदिकञ्च संस्कृतमनन्यमेव। य एव लौकिकाश्शब्दास्त एव वैदिकाः। कतिपये शब्दाः नूनं वेदेषु लौकिकशब्देभ्यो वैलक्षण्यमावहेयुः। तावता नानयोर्भेद आपादयितुं शक्यते। लोके गृहीतपदार्थसङ्गतिक एव वेदे पदानां सङ्गतिं गृह्णाति। वैदिकपदानां सङ्गतिग्रहणाय नान्यः कश्चन उपायो दृश्यते। यत्र च शब्दभेद उपलक्ष्यते तत्र पृथगनुशासनानि विद्यन्ते। लोके एकस्य, शब्दस्य, यथा-अग्निरित्यस्यैकमेव प्रवृत्तिनिमित्तम् वेदे तु तस्य नाना प्रवृत्तिनिमित्तानि, यथा-एत्य दग्ध्वा नयति, अग्रे पुरस्तान्नीयते-प्रणीयते, अग्रं नयति, अग्निर्देवः, अग्निः पुरोहितः, देवानामाह्वाता इत्याद्यर्थेषु भवन्ति। न तावता वैदिकाग्निशब्दो लौकिकाग्निशब्दाद्भेदमावहेत्। क्वचिदिन्द्रशब्दस्य वेदेऽग्निरर्थो भवति। पावकोऽग्निः, पवमानोऽग्निः शुचिरग्निरित्यादावेक एवाग्निशब्दो भिन्नानर्थानाचष्टे। एवमव्यवस्थया प्रयुज्यमानस्यास्य नियामकं शास्त्रं प्रमाणीक्रियते पूर्वजैः। विना शास्त्रेण क्वाप्यर्थभेदो नेष्यते। प्रस्तरशब्दो वेदे दर्भमुष्टिविशेषे वर्तते, लोके तु शिलायां, पीलु शब्दवाच्यो वृक्षो भवति वेदे, लोके तु गजः, यूपशब्दो वेदे दृष्टादृष्टसंस्कारगणे प्रयुज्यते, लोके तु केवलं काष्ठविशेषे, आचार्यशब्दो वेदेऽलौकिकार्थविदकः, लोके तु केवलमध्यापकवाची। एवमर्थभेदे विद्यमानेऽपि कथं भाषाभेद उन्नेतुं शक्यते ? भाषा तूभयत्र संस्कृतमेव। प्रयोगभेदमात्रेण भाषाभेदो न प्रसिध्यति। प्रयोगभेदे च प्रमाणानि सन्ति। कतिपयानां शब्दानां प्रयोगभेदमात्रेण भाषाया भेदः कुतस्त्यः ? ग्रन्थिका व्यावहारिकाश्च शब्दा भिन्ना भवन्तीति नेमे भाषाभेदप्रयोजका भवन्ति। प्रान्तभेदेन हिन्दीशब्दः भिन्नास्सन्तीति न हिन्दीभाषा भिन्ना परिगण्यते। अतो वैदिकलौकिकशब्दा अनन्या एवेति लोकवेदाधिकरणे मीमांसका निर्णीतवन्तः।

किञ्च भाषागतं सारल्यं काठिन्यं वा न भाषाभेदप्रयोजकं भवेत्। आभ्यां कामं शैलीभेदस्स्यान्न भाषाभेदः। एक एव लेखकः क्वचित्कठिनान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते क्वचिच्च सरलान्। दीर्घसमास-यङ्लुङन्तशब्दघटितानि वाक्यानि ग्रन्थस्य काठिन्यमावहेयुः, तदघटितानि च सारल्यम्। एकस्मिन्नेव ग्रन्थे रसानुसारेण प्रकरणानुरोधेन वा सरल-कठिनशब्दाः प्रयुक्ता भवेयुः, तावता न तत्र पौर्वापर्यं प्रचीनार्वाचीनत्वरूपं साधयितुं शक्यम्। पाश्चात्यविमर्श-कैरतिप्राचीनत्वेन स्वीकृत एव वेदभागे शैलीद्वयमनुभावामः—**'अग्निहोता नो अध्वरे'** (ऋ. सं. ४.१५.१) **'हंसश्शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्'** (४.४०.५.) इति। एवमर्वाचीनत्वेन परिगण्यमाने वेदभागे—**'योवश्शिवतमो रसः'** (ऋ. १०. ९.२.) **'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू'** (ऋ.सं.१०,१०६,६) इत्यत्रोभयमप्यनुभवामः। एवञ्च भाषागते सारल्यकाठिन्ये समादाय भाषाभेदप्रतिपादनं युक्तिसंगतं न प्रतिभाति। किञ्च कांश्चन शब्दविशेषानादाय भाषाया पोर्वापर्यप्रसाधनाय भषाशास्त्रिणः प्रवृत्ता दृश्यन्ते। किन्तु तेषां विमर्शनं न वेदगतभागानां पौर्वापर्य-सिध्यौपयिकं भवितुमर्हति। विमर्शकानां कथनानुसारेण ऋग्वेदीयं दशमं मण्डलमर्वाचीनमिति स्वीकारे एकत्रैव क्रतौ द्वितीयतृतीयादिमण्डलगतसूक्तानां विनियोगो यथा ब्राह्मणेन क्रियते, तथैव दशममण्डलगतसूक्तानामपि तस्मिन्नेव क्रतौ ब्राह्मणेन विनियोगः कृतो दृश्यते। तत्र वक्तव्यं भवेत्-यद्दशममण्डलविरचनानन्तरमेव ब्राह्मणाविर्भाव इति। तदत्र ब्राह्मणसंहितयोः पौर्वापर्यं न भवितुमर्हतीति पूर्वमवोचाम।

निरर्थकाश्शब्दा वेदेषु वर्तन्त इति कश्चिद्विमर्शकः परिगणयति। **'नायं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यती'** तिन्यायेन न वेदगतस्य शब्दस्यायं दोषः। एतादृशेषु स्थलेषु शब्दानामर्थनिर्णयाय तत्सिद्धिः, जातिः, सारूप्यं, प्रशंसा, भूमा, लिङ्गञ्चेत्यादीनि भूयांसि प्रवृत्तिनिमित्तानि परिकल्पितानि मीमांसकैः। क्वचिन्मुख्योऽर्थो भवति शब्दानां, क्वचिच्च गौणः। अयं शब्दानां धर्मः। स च लोके यथा वर्तते तथा वेदेऽपि। केचन शब्दास्तथा-वर्तन्ते यांश्चार्था एवानुधावन्ति। लौकिकोऽर्थो न प्रसिध्यतीति न वैदिकाश्शब्दा निरर्थका भवन्ति। तत्र शब्दानु-पूर्व्येव शब्दार्थः। पङ्कजाक्षीति शब्दो लोके तिन्त्रिणीदलाक्षीमपि नारीं बोधयत्येव। गङ्गाधर इति तस्यापि नाम भवति यश्च पिपासवे जनाय जलस्य बिन्दुमपि न ददाति। अत्रानुपूर्व्येव खलु शब्दार्थः परिगण्यते। अत एव **'हुं फट्'** **'अस्त्रायफट्'** इत्यादिषु मन्त्रेष्वानुपूर्व्येवार्थः। किं बहुना ! प्रसिद्धार्थकेष्वपि स्थलेषु क्वचिदानुपूर्व्येवार्थ-स्स्वीकर्तव्यो भवति वेदेषु। यस्मिन् कर्मणि देवताग्निस्तत्र त्यागावसरे **'अग्नये'** इत्येवानुपूर्वी वक्तव्या भवति, न तु **'जातवेदसे वह्नये'** इत्यादि। अग्निवह्निजातवेदश्शब्दाः पर्यायवाचिनः, तथाप्यानुपूर्वीनियम आद्रियते याज्ञिकैः।

केचन वेदगतशब्देषु केषाञ्चनाश्लीलार्थबोधकत्वं वर्णयन्तो वेदेऽनादरतामाविष्कुर्वन्ति। अश्लीलत्वं हि न शब्दस्य नियतो धर्मः। वक्तृबोद्धव्यभेदेनैव शब्दस्याश्लीलार्थकत्वं परिगणनीयम्। **'इयं कन्या पुष्पिता शोभते'** इतिपरिणतवयोभिरुच्चारिते वाक्ये नाश्लीलता, स्त्रीलोलुपेन यूना समुच्चारिते तस्मिन्नश्लीलता। वाल्मीकि-रामायणेऽसकृद् **'वरारोहे'** इति पदं भगवान् वाल्मीकिः प्रयुङ्क्ते। तदपि सीतां सम्बोध्य। पदमिदमश्लीलार्थकम्। तावता किं रामायणस्य वाल्मीकेर्वा हेयत्वमनादरता वा सिध्यति ? रामायणं वाचयन्तो वयं सीतां सम्बोध्य रावणमुखेन निःसृतमिमं शब्दं शृणुमः हनुमन्मुखेनापि, उभयत्र भावभेदः स्फुट एव। वामदेव्यशब्दनिर्वचनावसरे **'आपो वा ऋत्वियमाच्छंन् तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत ततो वामं वसु समभवत्तन्मित्रावरुणावपश्यताम् तावब्रूतां वामं वा देवेभ्योऽजनि'** इति वेदवाक्यं प्रवृत्तम्। रजोधर्मं प्राप्ताभिरद्भिः वायोस्सङ्गमे सति उत्तमं वसु जातम्। तच्च देवसम्बन्धि, तेनेदं वामदेव्यं साम इति तदर्थः। अत्र रजोधर्माद्यर्थप्रतिपादनेनाश्लीलत्वं वर्णनीयम्। अश्लीलस्य दोषत्वं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वेन भवतीत्यालङ्कारिकैः स्वीकृतम्। तदत्र ब्राह्मणवाक्ये-पूर्वोक्तार्थान्यतमव्यञ्जकत्वं दुरुपपादम्। अपां रजोधर्मप्राप्तिः वायोश्चतत्सङ्गमः, वामस्य धनस्य समुत्पत्तिः, तस्य च देवसम्बन्धित्वमित्यस्मिन्नर्थे न तात्पर्यम्, किन्तु **'वामदेव्यम्'** इति शब्दनिर्वचनायैवेदं ब्राह्मणं प्रवृत्तम्। निर्वचनेन सिद्धस्य शब्दस्य सामविशेषोऽर्थः। अत्राश्लीलस्य क्व प्रसरः ?

एवं संवादरूपेण प्रवृत्तेषु मन्त्रेषु वैषयिकानर्थानुपलभ्य तत्रानादरतां प्रकटयन्तः केचन ऋक्संहितायाः प्रथममण्डलस्य एकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तं षड्ऋचमुदाहरन्ति। ऋक्संहितागतानां समेषां सूक्तानां मन्त्राणांचानुक्रमणिकाकारः ऋषिं छन्दः देवतां विनियोगञ्च यथायथं प्रतिपादयति। इमान्येव सूत्राण्यवलम्ब्य मन्त्रार्थविवरणं कर्तव्यं भवति। मन्त्रार्थे प्रतीते तस्य तात्पर्यनिश्चयाय मीमांसान्याया आश्रयणीयाः। निगमनिरुक्तव्याकरणादीनि पदपदार्थनिर्णये साहाय्यमाचरन्ति। इमास्सामग्रीरादायैव भाष्यकारस्सायणो भाष्यं विरचयामास। तत्र प्रधानसामग्री अनुक्रमणिका। निगमनिरुक्तव्याकरणैः पदपदार्थे ज्ञातेऽपि प्रकृतसङ्गतिर्विनियोगश्चानुक्रमणिकयैव बोद्धव्यौ भवतः। विनियोगश्च मन्त्राणां तृचानां सूक्तानां वा श्रौतकर्मसु क्रियते। येषां च मन्त्राणां तृचानां सूक्तानां वा श्रौतकर्मसु न विनियोगस्तेषां लैङ्गिको विनियोग इति सम्प्रदायः। तत्तन्मन्त्रगतसामर्थ्यमवबुध्य तस्मिन्नर्थे तद्विनियोगो लैङ्गिकविनियोगः कथ्यत इति स्थितिः। प्रकृते—**'पूर्वीः षट् जायापत्योः लोपामुद्राया अगस्त्यस्य च द्व्यृचाभ्यां रत्यर्थं संवादं श्रुत्वाऽन्तेवासी ब्रह्मचार्यन्त्ये बृहत्यादी अपश्यत्'** इत्यनुक्रमणिका वर्तते। **'पूर्वीः'** इति सूक्ते षड्ऋचस्सन्ति। तत्र प्रथमद्व्यृचस्य लोपामुद्रा ऋषिः, द्वितीयद्व्यृचस्य अगस्त्य ऋषिः, तृतीयद्व्यृचस्य अगस्त्यशिष्य ऋषिः। तृतीयद्व्यृचस्य प्रथमा बृहतीछन्दस्का, शिष्टाऋचः त्रिष्टुप्छन्दस्का, दम्पत्योस्संवादश्रवणजनितमागः क्षपयितुं शिष्योऽपश्यदन्तिमं द्व्यृचम् इत्यनुक्रमणिकाया अर्थः। अत्र प्रथममन्त्रचतुष्टयेन योऽर्थो बोध्यते तत्राश्लीलं दोषमुद्भावयन्ति। अत्रायं विवेकः—अस्य सूक्तस्य श्रौते कर्मणि विनियोगोऽनुक्रमणिकायां न दृश्यते। तेन लैङ्गिकविनियोग आश्रयणीयः। यदि कदाचिल्लोके दम्पत्योः रहस्सम्भाषणं श्रुतिपथमागच्छेत्तर्हि तद्दोषनिर्हरणाय मन्त्रोऽयं जप्तव्य इति तात्पर्यं कल्पनीयम्। अगस्त्यलोपामुद्रे एवं प्रकारेण सम्भाषणमकुरुतामित्यत्र न तात्पर्यम्। शिष्यश्रुतसंवादानुपूर्वीद्रष्टृत्वमेवानयोः। नात्र लोपामुद्रा मन्त्रोक्तप्रकारेणाकामयत, न चापि भगवानगस्त्यस्तस्याः प्रार्थनां समर्थयासास। गणिताध्यापकस्य शब्दा अर्थाननुसृत्य न गच्छन्ति, किन्तु गणितस्योत्तरसम्पादनाय शिष्यस्तेषां शब्दानामर्थं कल्पयति। तत्र यथा शब्दानेवार्था अनुधावन्ति, तादृगेवेदम्।

एवम्—**अष्टममण्डलस्य** प्रथमसूक्तगतं चतुस्त्रिंशं मन्त्रमुदाहृत्य तस्याश्लीलार्थकत्वमाकलयन्ति। इन्द्रदेवताकस्यास्य सूक्तस्यैकोनत्रिंशत्संख्याकानामृचां गवामयनान्तर्गतमहाव्रते कर्मणि निष्कैवल्यशस्त्रे विनियोगमनुक्रमणिकाकारः प्रदर्श्यविशिष्टानां दानस्तुतिपरत्वं निर्दिशति। तत्रान्तिममन्त्रस्य लैङ्गिकं विनियोगं सूत्रकारोऽभिप्रैति। यदि पुंस्त्वावरोधकं प्रतिबन्धकं स्यात्तर्हि मन्त्रेणानेन तन्निवर्तयितुं शक्यमित्यर्थे तात्पर्यं परिकल्पनीयम्। भूयसां रोगाणां निवृत्तिः मन्त्रैः, तद्युक्तकर्मभिश्च भवतीत्यत्र सन्ति बहून्युदाहरणानि। यदि चार्थानुसारिण एव मन्त्रा भवेयुः तर्हि नित्यानां नैमित्तिकानाञ्च कर्मणामुच्छेद एव स्यात्। सति पापे तन्निवृत्तिर्मन्त्रैर्भवति, असति च तस्मिन् मन्त्रानुपूर्वीसमुच्चारणमभ्युदयकारि इत्येव नित्यनैमित्तिककर्मसु मन्त्राणां तात्पर्यं स्वीकर्तव्यम्। तथासति न तेषां परित्यागस्सिध्येत्, अन्यथा तेषां लोप एव स्यात्, भवतु लोप इति कथयताऽऽत्मनो भारतीयत्वं विस्मर्तव्यं स्यात्। ये चाभारतीयास्ते किमपि वदितुं प्रभविष्णवः मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वे विद्यमानेऽपि मन्त्रगता ये शब्दा असमेवार्थाभिधायिनस्तेषामानुपूर्वीसमुच्चारण एव तात्पर्यमित्यत्र मीमांसान्याय एव प्रमाणम्। अनेनैव प्रकारेण यत्र यत्र वेदेषु महर्षीणां राज्ञां नदीनां पर्वतानां पत्तनानाञ्च नामानि सन्ति तत्रतत्र तत्तद्व्यक्तिवाचित्वमनङ्गीकृत्य गणिताध्यापकशब्दवत्तेषां नयने स्वीक्रियमाणे न काचित्क्षतिः।

एवं ब्राह्मणग्रन्थेषु मतान्तरखण्डनपराणि वाक्यानि बहुलमुपलभ्य तत्र पौर्वापर्यं केचनाभिप्रयन्ति। शतपथब्राह्मणे **'तद्धैके स्रुक्संमार्जनान्यग्नावभ्यादधति.........तदु तथा न कुर्यात्.........तस्माद् परास्येदेवैतानि'** (श. ब्रा. १.२.४.११) इति। दर्शपूर्णमासयोः स्रुचां जुहूपभृद्ध्रुवाणां वेदाग्रैः संमार्जनं विहितम्—**स्रुचस्संमार्ष्टि'** इति। वेदस्य दर्भमुष्टिविशेषस्याग्रभागा एव संमार्जनानि। तैः स्रुचस्संमृज्य तानि केचन शाखिनः अग्नौ प्रक्षिपन्ति, तत्तथा न कर्तव्यम्, किन्तु तानि निरस्येदेवेति ब्राह्मणस्यार्थः। एवम्—**'अश्वशफमात्रं कुर्यादित्युहैक**

आहुः । **कस्तद् वेद यावानश्वशफः, यावन्तमेव स्वयं मनसा न सत्रापृथुं मन्येतैवं कुर्यात्** (श. ब्रा. १. १. ६. १०) इति । दर्शपूर्णमासयोः पुरोडाशपरिमाणं कियद्भवेदिति विचारे केचनाश्वशफमात्रं भवेदिति वदन्ति, तदिदं ज्ञेयं यदश्वशफः कियान् भवेदिति । अतः प्रधानयागसाधनाय यत्परिमाणं पर्याप्तं भवेदिति मन्येत तावत्सम्पादनीयमिति प्रकृतार्थः । एवं **'तद्धैके यजमानमवख्यापयन्ति·······तस्मादध्वर्युरेवावेक्षेत'** (श. ब्रा. १. २. ४. २६.) इति । दर्शपूर्णमासयोः आज्यावेक्षणं यजमानद्वारा कारयन्ति, तन्न समीचीनम्, अध्वर्युरेवावेक्षेत इत्यर्थः । एवं **'संक्रामत्यभितरामुजयन्·········तदु यथा न कुर्यात्'** (श. ब्रा. १. ४. ४. ६.) इति । प्रयाजानुष्ठानावसरेऽभिक्रम्याभिक्रम्याहुतीर्जुह्वति तन्न कर्तव्यमिति तस्यार्थः । एवमादीनि खण्डनान्यसंख्याकान्युपलभ्यन्ते । ऐतरेय तैत्तिरीयादिब्राह्मणेष्वपीमानि दृश्यन्ते । सत्यमेवैवञ्जातीयकानि स्थलानि भ्रमसमुत्पादकानि । भ्रमनिवृत्तये धीरैरत्र विमर्शः कर्त्तव्यः । विमर्शयोग्यानीमानि स्थलानि ।

तत्र शतपथब्राह्मणखण्डनानि प्रायः तैत्तिरीयशाखां विषयीकुर्वन्तीति प्रतीयते । नैतावता शतपथब्राह्मणस्य तैत्तिरीयशाखापरवर्तित्वं निर्णेतुं शक्यम् । तैत्तिरीयशाखायामपि शतपथब्राह्मणविषयाणां खण्डनमुपलभ्यते । अत्र कथमस्माभिरेवं निर्णेतुं शक्यम्—यच्छतपथब्राह्मणं परवर्ति तैत्तिरीयब्राह्मणं वा । तैत्तिरीयशाखायाः **'स्रुक्संमार्जनान्यग्नौ प्रहरति·················तान्येके वृथैवापास्यन्ति, तत्तथा न कार्यम्·········तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्'** (तै. ब्रा. ३. ३. २.) इति वाक्यं स्पष्टमेव शतपथविषयं खण्डयत् स्वमतं संमार्जनीनामग्नौ प्रहरणमुपसंहरति । एवं पुरोडाशपरिमाणमश्वशफमात्रं स्वीकुर्वाणाः तैत्तिरीयशाखिनः **'यावन्तं वा मन्यते । तं न सत्रापृथुं करोतीत्येके'** (आप. श्रौ. सू. २. २५. ५. ६.) इति कल्पान्तरमपि निर्दिशन्ति । यद्यपीदं श्रौतसूत्रं शतपथब्राह्मणपरवर्त्येव, तथापि कृष्णयजुर्वेदीयशाखान्तरगतपरम्परामवलम्ब्यैव मतान्तरमापस्तम्बाचार्य उल्लिखतीत्यभ्यूहितुं शक्यते । अत एवमादयो विषयास्सत्यमेव विमर्शयोग्याः । आसीत्कश्चन समयः—यत्र ब्रह्मवादिनो महर्षयः मिथस्सम्भूय गोष्ठीं कुर्वन्त एवमादीन् विषयान् विचारयाम्बभूवुः । विचार्य निर्णीतानां विषयाणामनुष्ठानेनाध्यापनेन च तान् यथावत्परिपालयाम्बभूवुः । सततं तेषामिदमेवैकं मुख्यं कार्यमभवत् । विचारगोष्ठीषु सादरं सगौरवञ्च पूर्वजानां नामानि वसिष्ठविश्वामित्रादीनि निर्दिदिशुः । अनन्तासु वेदशाखासु—अध्ययनाध्यापनपरम्परायां संमिलितासु तदनुसारं श्रौतस्मार्तकर्मस्वनुष्ठानपथमवतीर्णेषु विचारसरणिरियं तेषां नासङ्गता भवितुमर्हति । तेषां विचाराणामेवेदं रूपान्तरं यद्ब्राह्मणं नाम । यथा—ऋषीणां निरतिशयमननव्यापारफलं मन्त्राः, तथैव तेषामनितरसाधारणगोष्ठीविचारपरिणामो ब्राह्मणानि । लिपिनिबद्धत्वन्तु मन्त्राणां ब्राह्मणानाञ्च नासीदिति कश्चन काल एष्टव्य एव । सर्वेऽपि विषयाः श्रवणेनैवावधार्यन्ते स्म । ब्रह्मचर्यं चिरमवस्थितानां तेषां महीयसी खलु स्मरणशक्तिः । अतएव श्रुतिरिति नामान्तरं संहिताब्राह्मणयोस्सङ्गच्छते । अनेन पथा विमृश्यमाने नूनं प्राचीनपरम्परासिद्धं वस्तु निर्गलितं स्यात् ।

इदन्तु निश्चितमङ्गीकर्तव्यम्-यदधुना प्राचीनतत्त्वान्वेषणाय सर्वकारेण नियुक्तो विभागः यान् पदार्थान् भूगर्भावस्थितान् आविश्चकार, तैः पुरा निर्णीतस्य कालस्य व्यभिचारो जात इति । प्रायोऽधुना विश्वविद्यालयेषु तान्येव पुस्तकानि पाठ्यन्ते यानि च नवीनधारापरिष्कृतमतिभिर्लिखितानि । प्राचीनधारापरिष्कृतमतिभिरपि पुस्तकानि लेखनीयानि । उभयविधानामपि ग्रन्थानां पठनपाठनव्यवस्था परिचालनीया । अत्रेयमस्माकं चिरन्तनी परम्परा—वेदश्रुत्याम्नायादिपदाभिधेयः पूर्वमविभक्तावस्थो व्यसनेन त्रिरूपः चतूरूपोवाऽभवत् । स च त्रयीशब्देन व्यवह्रियते चत्वारोवेदा इति वा । कर्मानुष्ठानायोपयुज्यते वेदभागः, अतो यज्ञार्था प्रवृत्तिर्वेदस्येति प्रसिद्धिः । यज्ञे च प्राधान्येन चत्वार ऋत्विजः—होता, अध्वर्युः, उद्गाता, ब्रह्मा चेति । क्रमेण च ऋग्यजुस्सामाथर्ववेदाः चतुर्भ्योऽपि प्रवृत्ताः । एतरेयब्राह्मणे—**'यदृचैव हौत्रं क्रियते यजुषाऽध्वर्यवं साम्नोद्गीथं व्यारब्धा त्रयी विद्या भवति** । अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियते' इत्याशंक्य **'त्रय्या विद्ययेति'** ब्रूयात् इत्युत्तरमुक्तम् । अस्य वाक्यस्यार्थविवरणे

बहुधा विवादः प्रचलति। केचन वदन्ति—'**त्रय्या विद्यया**' इत्यस्य वेदत्रयमेवार्थः, ब्रह्मणस्तु वेदत्रयेण क्रियमाणेषु कर्मसु प्रायश्चित्तादिविधानमेव कार्यम्। अतो वेदत्रयपरिज्ञानवान् ब्रह्मा भवेत्। चतुर्थवेदस्यातिरिक्तस्यानपेक्षत्वादुक्तेष्वेव वेदेष्वाथर्वणस्यान्तर्भाव इति।

अन्ये वदन्ति-ब्राह्मणोक्तत्रयीविद्येत्यस्य न वेदत्रयग्रहणमर्थः, त्रयो विद्येति पदमाथर्वणवेदमेवाभिदधाति। यदि वेदत्रयमेवार्थस्तर्हि '**त्रय्या**' इत्येव ब्रूयात्, '**विद्या**' पदसाहित्येन चतुर्थस्यैव वेदस्य ग्रहणम्। यद्यपि प्रतिवेदं विद्यापदसाहित्यमस्ति, तथापि त्रयीविद्येति शब्दस्य संज्ञार्थप्रतिपादकत्वाद्रूढार्थत्वमेव स्वीक्रियते। अत एव ब्राह्मणे शङ्कापरे वाक्ये '**व्यारब्धा**' इति पदं रूढार्थमेव द्योतयति अन्यथा आरब्धात्रयी विद्येति ब्रूयात्। विपदप्रयोगस्तु द्योतयति—त्रयी-विद्या-आथर्वणो वेदः, व्यारब्धा विशेषेण भिन्नत्वेनारब्धा वर्तते सम्पन्ना वर्तत इति। अतश्चाथर्वणवेदश्चतुर्थः। त्रयी, त्रयीविद्या वेदत्रयं त्रयो वेदाः इति प्रसिद्धिस्तु केवलयज्ञोपयोगाभिप्रायेण, आथर्वणे यज्ञोपयोगातिरिक्तानामर्थानां प्रतिपादनादिति। अधुनापि लोकाः प्रवरपठनावसरे यथा तत्तद्वेदस्य शाखाया नाम उपाददते, तथैवाथर्वणवेदस्यापि शाखानामानं गृह्णन्ति। न चेयं परम्परा निर्मूलेति वक्तुं शक्यम्। नित्यब्रह्मयज्ञविषयत्वं चतुर्णामपि वेदानामस्त्येव। वैदिकानां चतुर्वेदपारायणकर्मणि सम्प्रत्यपि रीतिः प्रचलति यत्-क्रमेण ऋग्यजुस्सामाथर्वणां पारायणमिति। एवं परम्परायां सत्यामाधुनिका विमर्शका आथर्वणवेदस्यार्वाचीनत्वं परिगणयन्ति। तत्र सम्प्रदायानवगम एव कारणमिति वक्तव्यं भवति।

एवञ्च व्यसनेन चतुर्विधत्वमापादितोऽपि वेदः पुनर्व्यसनेनानेकशाखात्वमापन्नो वेदवृक्षः विषयमिमं भगवान् यास्काचार्यः—'**साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समाम्नासिषुः वेदञ्च वेदाङ्गानि च**' इति वदन् द्रढयति। अनेनाशक्तिरेव कारणं शाखाभेदव्यसन इति ज्ञायते। अशक्तिवशतः सर्ववेदग्रहणासम्भवे नित्योपयोगं कादाचित्कोपयोगञ्च निमित्तीकृत्य वेदभागविभाजनं संवृत्तम्। तत्र नित्योपयोगभागस्साधारणस्सर्वत्र, असाधारणस्तु कादाचित्कोपयोगभागः। अत एव शाखाभेदेऽपि बहुलांशसाम्यवैषम्ययोः खण्डनमण्डनयोश्चोपपत्तिः। व्यसनेनानेकविधत्वं महाभाष्ये सङ्गृहीतम्—'**साङ्गाः सहस्याः, एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, नवधा आथर्वणो वेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्**' इति।

एवं प्रवृत्तानां शाखानां नामान्यपि न विज्ञायन्तेऽधुना। तत्र सन्ति भूयांसि कारणानि, तन्मध्ये सम्यङ्नियमापरिपालनमपि बलवत्तरकारणं चरणव्यूहे प्रतिपादितम्—'सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसन् अनध्यायेष्वधीयानास्ते शक्रेणाभिहताः प्रणष्टाः इति। यथानियमं यथाधिकारञ्चाधीतानामेव वीर्यवत्त्वं भवति। अद्यतनेषु दिवसेषु वेदाध्ययनपरम्परैव लुप्ता। साऽस्माभिरवश्यं संरक्षणीया। पद-पदार्थज्ञानमात्रेण वेदाध्यायित्वं न सिध्यति। सनियमं वाचो विधेयास्ते कारयितव्याः। तेषां शब्दानां प्रसारेण देशस्य महानुपकारो भवेत्। वेदार्थावगमेन तद्व्यक्तेरेवोपयोगः, शब्दप्रसारणेन तु सामूहिक उपकारस्सिध्यति। यद्यप्यनेनार्थिको लाभो न भवेत् किन्तु अर्थव्ययेन यदवाप्तुं प्रयत्यते तल्लाभश्शब्दद्वारैव भवेत्।

इदमस्माकं संस्कृतसाहित्यसम्मेलनमत्रापि दृष्टिं विदध्यादिति विश्वसिमः। उपलभ्यमानाः शाखा उज्जीवयितुं विशेषतोऽनेन यत्नः कर्तव्यः। यथा भारते पञ्चवर्षयोजनाः परिचाल्यन्ते तथैव प्राचीनपरम्परायाः उज्जीवनाय योजनाः परिचालनीयाः। अत्र कैश्चन भारतीयैः पवित्रेऽस्मिन् क्षेमङ्करे कर्मणि स्वापत्यानां प्रेषणेन त्यागः कर्तव्य एव। यथायथं वेदेषु संरक्षितेषु देशोऽयं पुरातनं गौरवमावहेत् क्षेमसुभिक्षञ्च स्यादिति सम्भावयामः।

राजस्थान-संस्कृत-साहित्य-सम्मेलनस्य भीलवाडाधिवेशनावसरे

पं० ब्रह्मश्री पट्टाभिरामशास्त्रिणाम् अभिभाषणम्

**बालार्कायुतसप्रभां करतले रोलम्बमालाकुलां मालां सन्दधतीं मनोहरतनुं मन्दस्मितोद्यन्मुखीम् ।
मन्दं मन्दमुपेयुषीं वरयितुं शम्भुं जगन्मोहिनीं वन्दे देवमुनीन्द्रवन्दितपदामिष्टार्थदां पार्वतीम् ॥**

पूज्यपूजनीयास्सदसस्पतयः, सम्मान्याश्शिक्षाधिकारिणः, सहृदया विद्वत्तल्लजास्सभासदश्च !

महानयं प्रमोदस्यावसरः—यद्वयं राजस्थान-संस्कृतसम्मेलनेन समायोजितायामस्यां शिक्षापरिषदि समवेताः। देशस्य समुन्नतये समाजस्य चाभ्युत्थानाय शिक्षैव साध्वो प्रधानतमं कारणमित्यत्र न कोऽपि विप्रतिपद्येत। शिक्षितैरेव मानवैर्देशस्समाजो वा मस्तकमुन्नमय्यावस्थातुर्हति। य एव देशश्शिक्षितैर्विद्वद्भिर्विहीनः स नूनमचिराद्विशीर्णो भ्रष्टश्च स्यात्। निकेतनस्येव धारकाः स्तम्भा देशस्य शिक्षिता भवन्ति। यथा हि विश्वस्य जगतश्चराचरात्मकस्य मुख्यात्मा धारकः प्राणः, तथैव देशस्य शिक्षितः। चिरन्तनादेव कालादियमस्माकं पवित्रतमा भारतमाता संख्यातीतान् शिक्षितान् सुतान् प्रसूय प्रमुदितान्तरङ्गा देशान्तराणां शिक्षयित्री विलसतीति सत्यमेव वयं भारतीया भाग्यशालिनः। महामानसानां मनुयाज्ञवल्क्यप्रभृतीनां महर्षीणां सत्कार्याणि विलोक्य कथं भारतमाता मुदितान्तरङ्गा न भवेत् ? **'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः'** इति खल्विमे लोकान् शिक्षयन्ति। न केवलमिमे वाचैव शिक्षकाः, किन्तु देशसमाजोन्नत्याधायकानि कर्माण्युच्चावचं प्रवर्तयन्तः, यथायथ समाचरन्तश्च तानि, मानवान् ग्राहयाम्बभूवुः। चारित्रपरिरक्षणे तेषां महानभिनिवेशः। अतस्तच्छिक्षणे ते जागरूका अभवन्। चारित्रसंरणौपयिकान् विविधान् विषयान् ग्रन्थात्मनोपनिबध्य, तदध्ययने लोकान् निर्बबन्धुः। कुमार्गगामिनामपि मतिमान्द्येनाध्ययनव्यापारे मन्दोत्साहानामप्यधीतिनां मनांसि स्वमतिकौशलेन समाकृष्य तान् सत्पथे प्रवर्तयितुं, मतेर्मान्द्यं निरस्याध्ययने उत्साहञ्च वर्धयितुं कुशलास्ते शिक्षका अभूवन्।

त एव कुशलाश्शिक्षकाः परिगण्यन्ते ये च सच्चारित्रं सततं परिपालयन्ति, वैदुष्यं चानितरसाधारणमाबिभ्रति, लोभनीयां चिरन्तनादेव च कालात्सम्प्रवृत्तां संस्कृतिमादधते, देशसमुन्नतिमेव केवलं कामयमानास्सन्मार्गं छात्राननुशासति। एवं शासिताः शिक्षिताश्चैव देशस्य शासका भवितुमर्हन्ति। अतएव शासकानां धर्मान् नीतिञ्च प्रधान्येन निरूपयितुं प्रवृत्तः कुशाग्रधिषणश्चाणक्यः स्वीयेऽर्थशास्त्रे विनयाधिकारं नाम प्रथममधिकरणं निवेशयामास। विनयो हि नाम शिक्षणम्। अक्षरग्रहणमात्रेण न शिक्षणं परिसमाप्यते। शिक्षितानामक्षराणां बोधोऽप्यावश्यकः। विषयावबोधनमात्रेण न कृतकृत्यता, तदनुसारमाचरण-मप्यपेक्ष्यते। स्वयमाचरणेनापि न कार्यपरिसमाप्तिः, तस्य प्रचारोऽपि भूयानावश्यकः। एतावान् शिक्षकाणां व्यापारः। अस्मिंश्च शिक्षाक्रमे चतुरा अस्माकं पूर्वजा मन्वादयः।

एतेषां महानवलम्बो वेदो नाम। नियतस्वर-वर्ण-क्रम-विशिष्टो गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणैकव्यापारपरिप्राप्योऽलौकिकार्थावेदकः शब्दराशिर्वेद इत्यभिधीयते। अस्तु स शब्दराशिः केनचन पुरुषेण निर्मितो वा पुरुषसम्बन्धरहितो वा। नायं विषयः प्रकृते विवादमर्हति। इदन्तु निश्चप्रचमङ्गीकर्तव्यम्—यत्पवित्रतमस्य भारतस्यायममूल्यश्शेवधिरिनि। मन्त्रब्राह्मणरूपैर्विविधै रत्नैः परिपूर्णोऽयं महान् निधिर्भारतस्य। अनेनैव निधिना भारतमद्यापि देशान्तराण्यतिशेते। यदि जगति किमपि प्राचीनतमं वस्तु, तर्हि तद्वेदाभिधानमेव। पुरुषविरचितत्वं स्वीकुर्वद्भिरपि तस्य प्राचीनतमत्वं बलादेष्टव्यमेव। निधेरस्य सर्वात्मना संरक्षणायैव प्राचीनाः प्रवृत्ताः।

प्राचीनैर्विरचिता ये ये ग्रन्थसन्दर्भास्ते साक्षात्परम्परया वा वैदिकीं मर्यादामनतिक्रम्यैव प्रवृत्ताः। कामं भवन्तु ग्रन्थकर्तारो वेदबाह्याः। वेदान्निन्दन्तोऽपि ते स्वस्वरचितस्य ग्रन्थस्य वेदमूलत्वमभ्युपगन्तुं कामयन्त इत्यत्र सन्ति सुलभान्युदाहरणानि। अस्मिन्नेव शब्दराशौ समग्रापि भारतोया संस्कृतिर्निहिता वर्तते। संस्कृतिर्धर्मश्चेत्यनर्थान्तरं वयं मन्यामहे। एक एव वायुर्यथा व्यष्ट्या समष्ट्या च लोकान् धारयति, तथैव वैदिकी संस्कृतिर्भारतं धारयति। नूनं सन्ति नैकविधाः सम्प्रदाया भारते, तथापीमे लोभनीयेन वैदिकसंस्कृतिसूत्रेण प्रबद्धा वर्तन्ते। इदमेव वैशिष्ट्यं भारतस्य देशान्तरापेक्षया. यद्वेदाभिधानः शब्दराशिः तत्तत्साम्प्रदायिकसिद्धान्तैः, तत्तत्प्रान्तोयाभिर्भाषाभिश्च भिन्नानपि भारतीयान् चिरन्तनात्कालादेकरूपेणानुशास्तीति। वेदोदितं संस्कृतिसूत्रमिदमप्रमत्ताः पालयन्तश्चिरन्तना भारतस्य गौरवं समेधयाम्बभूवुः। यदा हि ते वैदिकधारायाः किञ्चिदिवायतौ क्षीणतामाकलयाम्बभूवुः, तदा क्षीणतायास्तस्या अपाकरणाय पुराणानि स्मृतिग्रन्थांश्चानल्पान् प्राणैषुः। अथवा—प्रभुसंमितैश्शब्दैः प्रवृत्तिनिवृत्त्योरवगमः क्लेशाय लोकानां भवेदिति सुहृत्संमितैश्शब्दैः स्मृतिपुराणादीनां विरचने प्राचामियान् प्रयासः। अतएव विमर्शकानामग्रणीर्भगवान् जैमिनिः प्राक्तनैः शिक्षा-शास्त्रिभिर्वैदिकसंस्कृतेः परिपालकैर्विरचितानां स्मृतिपुराणादीनां मूलभूतानि वेदवाक्यानि प्रत्यक्षमनुपलभमानो वैदिकसंस्कृतौ तेषां प्रामाण्यव्यवस्थापनाय **'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्'** **"अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्। ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामास्स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा वर्तेथाः। एष आदेशः, एष उपदेशः"** इति श्रौतमर्थं स्मारयति।

भगवानापस्तम्बाचार्यः स्वकीये धर्मसूत्रे निखिलानपि भारतीयसंस्कृत्यपरपर्यायान् धर्मान् सविशेषं निरूप्यान्ते श्रान्त इव **'शेषं सर्ववर्णभ्यः स्त्रीभ्यः प्रतीयात्'** इति कथयन् भारतीयानां सन्नारीणामपि शिक्षावैशिष्ट्यमवद्योतयति। स्त्रियो वा भवन्तु पुमांसो वा, युवानो वा भवन्तु प्रवयसो वा, बाला वा भवन्तु बालिका वा; सर्वे एवेमं वैदिकं पन्थानमातस्थिवांसो यदाऽऽसन् तदा देशः क्षेमसुभिक्ष आसीत् अत्र च कारणं तदानीन्तनः शिक्षाक्रमः, शिक्षकाणामाचरणञ्च। सेनानायकस्याज्ञामिव सैनिकाः शिक्षकाज्ञां विनेया अन्ववर्तन्त। शिक्षकैरवलम्बिताया नीतेः परिवर्तने, तत्र न्यूनातिरेकसमुद्घाटने वा विनेया न प्रावर्तन्त। अनुशासनपरिपालन एव तेषामधिकारः। प्राचीनैः प्रवर्तितस्यैव शिक्षाक्रमस्यायं महिमा यद्विनेयानां शिक्षकेषु महत्त्वबुद्धिः, शिक्षकाणाञ्च विनेयेषु वात्सल्यञ्चेति। शरीरव्यायामेन सह शारीरिकव्यायामोऽपि तेषामासीत्। बुद्धिशक्तिस्साधुष्वेव कर्मसूपायोज्यत पूर्वजैः। केवलमक्षरावाप्तयेऽध्ययनं पूर्वजैर्नाक्रियत। वस्तुतत्त्वपरीक्षाया निकषोपलाः पूर्वजा अभूवन्। जीवितुमेव तेषामभ्यवहारः, न त्वभ्यवहाराय जीवनम्। द्रव्योपार्जनैकफलानि तेषां कर्माणि नाभवन्, किन्त्वाध्यात्मिकशक्तिसम्पादनायापि। आढ्यत्वं द्रविणेन ते न पर्यगणयन्, किन्तु सत्येन वा तपसा वा स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां वा। **'सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः, तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः, स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः'** इति वेदवाक्येषु पर्यालोच्यमानेषु पठनं पाठनञ्चेति कर्मद्वयमेव तेषां प्रशस्तमभवदिति परिज्ञायते। **'स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्'** इत्यनुशासनं सर्वैरनुस्रियते स्म। नियतकर्तव्येषु कर्मसु पूर्वजानां मुख्यमावश्यकञ्चेदं कर्म-यदध्ययनं नाम। य एव नाधीते, अधीतानुसारेण कर्माणि नाचरति, चारित्रञ्च न पालयति स लोकैर्दूरतः पर्यह्रियत। गुरुकुलान्येव तदानीमासन् विद्यालयाः, न प्रासादाः। वलभीष्वेव छात्रा अधीयते स्म न सुन्दरेषु निकेतनेषु। अधीतं छात्रं सुपरीक्ष्यैव गुरवः स्नानाय प्रेरयामासुः।

सम्प्रति सर्वमिदमधरोत्तरं दृश्यते प्राज्यं स्वातन्त्र्यसुखमनुभवत्यपि भारते! निम्नोन्नतेषु प्रदेशेषु गच्छन् शकट इव भारतदेशस्सम्प्रत्यनुभूयते। भारतमाता विनेयानामसह्यानि कर्माण्यनुभवन्ती सस्नेहं साश्रुनयना तान् वीक्षत इव। सर्वकारे प्रभूतं द्रविणं शिक्षाविषये व्ययीकुर्वत्यपि शिक्षायाः पवित्रं फलं नोपलभ्यते। अध्येतॄणां संख्यावृद्धिमवलोक्य तदनुसारं प्रतिहायनं नूतनानि विद्यामन्दिराणि सर्वकारो निर्माति,

शिक्षकांश्च तत्र नियोजयति, परं सहैवानेन कर्मणा विनेयानामविनयं प्रशमयितुं राजपुरुषाणां न्यायाधीशानाञ्च नियोगः कर्तव्यो भवति सर्वकारस्य। क्व वा पवित्रायाः शिक्षायाः प्रयोजनं शमदमादिसम्पत्समृद्धिः चारित्र-सम्पादनञ्चेति ? क्व वाऽयं विनेयानामविनयः ? सम्प्रति विनेयाः शस्त्रेणास्त्रेण वा छुरिकया भुसुण्डया वा शिक्षकान् भीषयन्तः परीक्षासु साफल्यमवाप्तुं समीहन्ते। अधिकारिभिरुन्मिषिते निमिषिते वा क्षुते जृम्भिते वा छात्रा धर्मघटं कर्तुमारभन्ते। किमत्र कारणं भवितुमर्हति ? किं शिक्षकाणामसामर्थ्यम् ? आहोस्वित्सम्प्रतितन-शिक्षाक्रमस्यैव दूषितत्वम् ? मम तु प्रतिभाति-यदुभयत्रैव कियान् दोष इति। न हि बाला विनेया अविनये स्वतः प्रवृत्ता भवेयुः। कुतश्चित्तैरस्मिन् कर्मणि प्रेरणा लभ्यत एव। यदा हि शिक्षकाः स्वीयमध्ययनाध्यापन-लेखन-भाषण-तत्त्वविमर्शनादिव्यापारं त्यजन्तो राजनीतौ प्रविशन्ति तदायमनर्थस्समुद्भवति। राजनीतिस्तु गहना विचित्रा च भवति। सा हि रागं द्वेषञ्च समुत्पादयेत्। स्वभावोऽयं गुणो दोषो वा तस्याः। तत्र रागद्वेषविनिर्मुक्तानां शिक्षकाणां कस्सम्बन्धः ? शिक्षाशास्त्रिणां जीवनं परमं पवित्रं खलु भवति। राजनीतेरन्यः पन्थाः, शिक्षायाश्चान्यः। स्वे स्वे पथि विचरन् शासकश्शिक्षको वा साधुकर्म सम्पादयितुं प्रभवति। मार्गयोरनयोर्मिश्रणं दोषाय कल्पेत। शासकैरेवमेव शिक्षणं कर्तव्यमिति न निर्बन्धः कर्तव्यः, शिक्षकैश्चैवमेव शासनं कर्तव्यमिति निर्बन्धो न विधेयः। यर्हि उभयोर्व्यतिक्रमो भवति, तर्हि समापन्नं रागद्वेषादिकालुष्यम्। निसर्गसिद्धोऽयं गुणः, यन्महतां व्यतिक्रमं विलोक्य विनेयाः कोमलमतयोऽपि पन्थानमतिक्रम्य वर्तेरन्निति। केरलप्रान्ते कामनिष्ठानां प्रशासनावसरे स्वपक्षपरिपोषणाय शासकाः शिक्षाक्रमं परिवर्तयितुमारभन्त। पूर्वेद्युस्त आसन्, अद्य तु ते न सन्ति। परिवर्तितस्य च शिक्षाक्रमस्य पुनः परिवर्तनञ्चेद्भविष्यति, तर्हि अनवस्था स्यात्। संस्कृतिस्तु शासकानां स्वं न भवति, शिक्षकाणां वा। सा तु देशस्य स्वम्। शासकैराथिकं साहाय्यं विधेयं शिक्षा-क्रमस्य, न शिक्षा-नीतिनिर्धारणं कर्तव्यम्। शिक्षकैश्च शिक्षिताः शासने समारोपणीयाः, न राजनीतिनिर्धारणं कल्पनीयम्। एवं परस्परं साहाय्यसम्पादनेन तैस्तैर्द्वौ पन्थानौ पृथक्पृथक्परिरक्षणीयौ।

कुशलाश्शासकाः, चतुराश्च शिक्षका देशस्य स्तम्भा इवेति पूर्वमवोचाम। स्तम्भाश्च पृथक्पृथङ् निकेतनस्य धारणं कार्यं कुर्वन्ति। स्वं स्वं कार्यमकुर्वन् स्तम्भः परत्र चेत्सम्बध्नाति तर्हि निकेतनस्य का स्थितिरापद्येत ? सम्प्रतितने शिक्षाक्रमे भारतीयसंस्कृतिशिक्षणस्य प्रसङ्ग एव नोपलभ्यते। रामवद्वर्तितव्यं न रावणवत्; धर्मपुत्र इव स्थातव्यं न दुर्योधनवत् इति शिक्षयितुमेव खलु रामायणभारतादिकं निर्मितं पूर्वजैः। सम्प्रति तु दक्षिणप्रान्ते रावणवद्वर्तितुमुपदिशन्तो भगवन्तं रामचन्द्रं निन्दन्ति। अस्य च परिणाम-मस्मदपत्यान्यनुभवेयुः। काममस्माकं प्रान्ता भिन्नाः, किन्तु देशस्य संस्कृतिस्त्वेकैव। तां प्रसारयितुं सर्वसाधारणी भाषा काचन साधनत्वेनावलम्बनीया। राज्यस्य कार्याणि यया कयाचन भाषया सञ्चाल्यन्ताम्, संस्कृतेः प्रसारणाय संस्कृतमेव सर्वसाधारणमेष्टव्यं शिक्षाक्रमे, न हि संस्कृतं कञ्चन सम्प्रदायविशेषमवलम्ब्य प्रवृत्तम्। भारतस्य समग्रस्य गौरवं समेधयितुं संस्कृतमेव प्रधानं साधनम्। शिक्षाक्रमे संस्कृतमनिवार्यत्वेन क्रियमाणं देशं समाजञ्च भूषयेन्न तु दूषयेत्।

संस्कृतं मधुरं सरसं सरलञ्च भवतीति सर्वसम्प्रतिपन्नमिदम्। ओजसा गुणेन संयुतं संस्कृतमवश्यं कठिनमिव, किन्तु तदेव यदा माधुर्येण प्रसादेन च सम्बद्धं भवति तदाऽत्यन्तं सरलमेव प्रतीयात्। भवतु सरलं सरसञ्च, किन्तु तदध्ययनं निष्प्रयोजनम्। न हि संस्कृतं द्वितीयं पुरुषार्थमुपलम्भयति। कथमिदमनिवार्यतयाऽधीय-तामिति प्रष्टारो भवन्ति। अर्थोपार्जनमेवैकं प्रयोजनमुद्दिश्य नाध्येतव्यं भवति, कस्याप्यध्ययनेन विनापि प्रभूतं धनमर्जयितुं शक्यते। न हि बाल्यावस्थायामध्याप्यमाना विषयास्सर्वेऽपि द्वितीयपुरुषार्थसम्पादका भवन्ति। आङ्ग्लानां शासनसमये तैं विद्याध्ययनस्य प्राचीनं मुख्यं प्रयोजनं परिवर्तितम्। कार्यालयेषु कार्याणां सञ्चालनायैव तैर्विद्यालयाः प्रवर्तिताः। विद्यालयेभ्यो निर्गताः स्नातकाः तेषां कार्यालयेषु प्रविशन्ति स्म। नेयं रीतिः प्रशस्ता

परिगणयितुं शक्यते। विद्याध्ययनस्य मुख्यं फलं ज्ञानलाभः। तत्र च संस्कृतमनुपयुक्तमिति कथनं दोषाय स्यात्। संस्कृतवाङ्मयं समग्रं यदि परिशीलयामो वयम्, तर्हीदं स्पष्टं परिज्ञायेत, यत्तदानीं कियान् संस्कृतस्याध्ययनाध्यापनव्यापार आसीदिति। तस्य सहस्रतमोऽप्यंशोऽद्य नास्तीति वक्तव्यमापतति। संस्कृतं भारतीयानां स्वं वर्तते। स्वीयं स्वं स्वेन रक्षणीयमिति हि न्याय्यः पन्थाः। रक्षणञ्चास्याध्ययनाध्यापनव्यापारेणैव सिध्यति। स्वतो न प्रवर्तन्तां लोकास्तदध्ययने, परमधिकारिभिर्देशस्य गौरवमीहमानैर्निर्बन्धनीयास्ते तदध्ययने। स्वतन्त्रभारते शक्तिसम्पन्ना अपि वयं यद्यस्मिन्विषये जोषमास्महे तर्हि नूनमचिरात्संस्कृतं नामावशिष्टमेव स्यात्। चिरन्तनात्कालादागतं भारतस्य गौरवमपहृतं भवेत्। अपहृतगौरवे भारते स्थितिरप्यस्माकमजागलस्तनसदृशी स्यात्।

अपूर्वेण केनचन व्याधिनाऽधुना ग्रस्तास्सन्ति भारतीयाः। द्वित्रिवयस्का एव शिशवः तेषु विद्यालयेषु प्रेष्यन्ते ये च प्रायः विदेशीयैः ख्रिस्तुमतावलम्बिभिः परिचाल्यन्ते। एकैकस्य शिशोः कृते प्रतिमासं प्रभूतस्य वित्तस्य व्ययो भवति। शिशून् सावधानं ते परिरक्षन्तीति सत्यम्। परं तेषां मुख्यमुद्देश्यं किमिति पर्यालोच्यमाने न निगूढमिदं समेषाम्—यद्वेषेण नेपथ्येन व्यवहारेणाचारेण संस्कृत्या च स्वमतानुरागिण इमे कर्तव्या इति। बिम्बोष्ठ्यः, उरःकञ्चुकधारिण्यः, कर्तितकेशाः, 'कीचीकूची' ति व्यवहरन्त्यो युवत्यश्शिशून् बालान् बालिकाश्च शिक्षयन्ति। शिक्षापि तेषु विद्यालयेषु प्राधान्येन प्रथममाङ्गलभाषायाः, प्रान्तीयभाषाया राष्ट्रभाषाया वा, गणितस्य, स्वमतसिद्धान्तस्य च भवति। बाल्यावस्थायां हृदयेषु समारोप्यमाणं वस्तु कालान्तरे स्वस्वानुरूपं फलेदिति प्रत्यक्षमिदम्। स्वकीयां संस्कृतिं देशान्तरेऽपि प्रसारयितुं कृतोद्यमास्ते। वयन्तु स्वदेशेऽपि स्वीयां संस्कृतिं शिक्षयितुं संकुचितमतयस्स्मः। इमे हि नगरेष्वेव स्वीयं जालं प्रसारयन्तीति न, किन्तु ग्रामे ग्रामे पर्यटय्य तत्रापि निराबाधं जालं प्रसारयन्तो दृश्यन्ते। धारेयमस्माभिः भारते जनिमातस्थिवद्भिरवश्यं निरोद्धव्या। भारतमातुरपत्यानि व्याधेरस्माद्रक्षणीयानि। पुरुषास्तु कर्तितकेशा अभवन्नेव, किन्तु नारीणामपि तथाभावो यथा न भवेत्तथाऽस्माभिर्विधेयमेव।

अधुनाऽस्मदपत्यानि पूर्वजानां नामान्यपि न जानते दूरे च तेषां चरित्रम्। ये हि देशस्यार्थे त्यागैकजीवना अभवन्, यदधीनं भारतस्य गौरवमवलम्बितमासीत्, येषाञ्च रुधिरमस्मच्छरीरेषु प्रवहति, ते हि नामात्रिभृगुकुत्सवसिष्ठप्रभृतयो महापुरुषा विस्मृता अस्मदपत्यैः। परं चित्रपटेष्वभिनेतारः अभिनेत्र्यश्च सविशेषं स्मर्यन्ते। लौहकन्दुकस्य पादकन्दुकस्य च क्रीडने प्रसिद्धानां जयसिंह-पंकजराय-ओनील-आरवीप्रभृतीनां नामानि न विस्मरन्ति ते। प्रत्यक्षमस्माभिरनुभूयते—यदिमे क्रीडाङ्गणे समुचितं स्थानं लब्धुं प्रातरनुवाकस्य समये समुत्थाय पाथेयञ्च परिगृह्य गृहात्प्रस्थिता भवन्ति, सूर्यास्तादनन्तरं गृहान् प्रतिनिवर्तन्ते। तत्रैव भोजनं जलमलादीनामुत्सर्जनमपि। क्रीडाङ्गणे सूचिकानिपतनस्याप्यवकाशो न भवति, जलं मलं वोत्स्रष्टुं कथमन्यत्र गन्तुं पारयेयुस्तपस्विनः, गत्वा वा पुनस्तत्स्थानं कथं लभरेन्? कथं वा क्रीडनप्रबन्धका एतावतो जनसमूहस्य स्थानानि परिकल्पयेयुः? प्रथमं स्वास्थ्यं गतं बालानाम्, आचारो गतः व्यवहारश्च। सत्यमुक्तं श्रीशंकरभगवत्पादैः—**'पश्वादिभिश्चाविशेषात्'** इति। एवं वदतो मे नायमभिप्रायः—चित्रपटदर्शनं न कर्तव्यम्, कन्दुकक्रीडनं न विलोकनीयम् इति। विंशतितमेऽस्मिन् शतके बालानां कर्णविवरेषु शब्दा इमे न प्रविशेयुः, प्रविशन्तो वाऽर्थं नावबोधयेयुः, अवबुद्धमप्यर्थं लोका न परिगणयेयुः। केवलं विडम्बनैव स्यात्। किन्तु पशुतुल्यताया अपाकरणे यत्नस्तु कर्तव्य एव।

मदीयानि वचनानि कर्णकठोराण्येव भवेयुः। ममाप्येवमेवेमानि प्रतिभान्ति। 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्' इति मानवीं सूक्तिमुल्लङ्घ्यैवाहं प्रवर्तमानोऽस्मि। किं मया क्रियताम्? एवं कथनं कदाचित्महाफलाय स्यादिति विभाव्य कथयामि। एतस्य कृते कामं विधीयतां प्रायश्चित्तं मे यदसस्पतिभिस्सदस्यैश्च।

सानन्दमहं तदाचरामि। भारतस्य प्राणो वेदः, अपूर्वश्च कश्चन निधिरिति पूर्वमवोचम्। तद्रक्षणायैव सर्वाणि विद्यास्थानानि महर्षिभिः प्रवर्तितानीत्यपि पूर्वमकथयम्। एवं सत्यामपि मर्यादायां तामुल्लङ्घ्य यथेच्छं तदानुपूर्वीमपि परिवर्त्य, पुस्तकाकारेण समुद्य तच्छिक्षयति निरंकुशं कश्चन समुदायः। महानयं कुठाराघातो वेदस्य। अर्थांशे यथा तथा वा स्वस्वसिद्धान्तानुसारमाकृष्यतां केशेषु गृहीत्वा भगवतो श्रुतिः, किन्तु तदानुपूर्व्याः परिवर्तने मन्येऽहं भगवतः परमेष्ठिनोऽपि नाधिकार इति। आ च भगवतः प्रथमायाः सृष्टेः आ चैतन्निमेषात्-यादृशस्वर-वर्णक्रमविशिष्टानुपूर्वी सम्प्रदायतस्समागता, तस्याः परिपालने सम्प्रति भारते द्वात्रिंशत्कोटिसंख्याकेषु जनेषु सहस्रं जनास्सन्ति वा नवेति सन्देह एव। ये च सन्ति तेऽपि मुमूर्षव एव। तत्राप्ययं नृशंसः कुठाराघातः। पुस्तकरूपेण पुस्तकालयेषु वर्तन्त इत्येव गौरवं भारतस्य न भवेत्, इमानि हि पुस्तकानि विदेशीयानां पुस्तकालयेष्वपि वर्तेरन्। विदेशेभ्यो भारतस्य किञ्चिद्वैशिष्ट्यं हार्देन भावेन यदि वयं वाञ्छामस्तर्हि पुस्तकानां संरक्षणेनैव तन्न सिध्येत्। कण्ठे तद्धारयितारः कतिपये समुत्पादनीया अस्माभिः। न सन्तु ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे वा वेदस्याध्येतारः, एकैकस्मिन् मण्डले तादृशाः कतिपये भवन्तु। यदि मण्डलेऽपि कर्तुमिदं दुष्करं प्रतिभायात्तर्हि तत्तत्प्रान्ते वाऽवश्यमिमे रक्षणीयाः। तत्र चतुर्णामपि वेदानां सम्प्रदायतो ये रक्षकास्तेऽन्वेष्टव्याः। सम्प्रदायशब्दान्न भेतव्यम्। सम्प्रदायो नाम **'शिष्योपाध्यायसम्बन्धस्याविच्छेदेन शास्त्रप्राप्तिः'** इति न्यायवार्तिककारः श्रीभारद्वाजोद्द्योतकरो ब्रवीति। अविच्छेदेन गुरुशिष्यपारम्पर्यमेव सम्प्रदायः। नात्रैकदेशीयताबुद्धिरुदेति। सम्प्रदायोऽयं तन्तुर्भवति। तन्तुर्यथा त्रुटितो न भवेत् तथा तद्रक्षणमस्मत्कर्तव्यम्। तथासति निरङ्कुशं वेदानुपूर्वीपरिवर्तयितॄणां प्रवेशो न भवेत्। एवं कृते सति **"यथा सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धो वाति"** इति श्रुत्यर्थानुसारं भारतस्य गौरवं पुरेव सर्वतः प्रसृतं स्यात्।

चतुर्दशविद्यास्थानानां परिपालनायैव केवलं कश्चन विश्वविद्यालयस्संस्थापनीयः, यस्मिश्चानुभवशालिनः गुरुशिष्यपारम्पर्यपरिरक्षकाः शिक्षकाः सादरं नियोक्तव्याः। यद्यपीमेऽधुनातनैरुपाधिभिः शास्त्र्याचार्यशिरोमणितीर्थप्रभृतिभिर्न भूषिताः, तथाप्युपाधौ मोहमुत्सृज्य निरुपाधिका एवान्विष्य शोभनेऽस्मिन् कर्मणि नियोज्याः। काममिमेऽपरवयसि वर्तन्ताम्, वयःक्रमनियमं लघूकृत्य योग्यानां छात्राणां समुत्पादने ते प्रार्थनीयाः। शिक्षकाणामपि शिक्षायै व्यवस्थास्मिन्विश्वविद्यालये विधेया। योग्यानामध्यापकानामेव सम्प्रति वैरल्यं दृश्यते। तेषां समुत्पादने विशेषेण दृष्टिः कर्तव्या। अल्पीयसैव कालेन संस्कृतभाषायां प्रवेशो लोकानां भवितुमर्हति, किन्तु तत्र पाठनशैली काचन मनोहरा निर्धारणीया। तदर्थं परिपक्वबुद्धयः प्रेरणीयाः। सन्ति सम्प्रत्यपि शोभनं मार्गं प्रदर्शयितुं कुशलाः वैदुष्यातिशयेन वयसा च वृद्धाः पूज्यपूजनीयाः विद्वांसो महाभागाः। तेषां साहाय्यमत्रलम्ब्य मनोहरं पन्थानं निर्णेतुं वयं प्रभवामः। तेषां मार्गनिर्देशः संस्कृतजगतः कल्याणाय भवेत्।

आङ्ग्लशासकानां समयमारभ्य काचन भेदबुद्धिरस्मासु प्रविष्टोपलभ्यते—अयं संस्कृतेन प्रान्तीयभाषया वा संस्कृतमधीतवान्, अयञ्चाङ्ग्लभाषया प्रान्तीयभाषया वा संस्कृतमधीतवानिति। सेयं बुद्धिरपाकरणीया। उभयत्रापि गुणा वर्तन्ते दोषाश्च वर्तेरन्। उभयेषां विना तारतम्येन यथा समन्वयो भवेत्; तथा नीतिरास्थेया। येषु येषु विद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु वा संस्कृतमेवाध्यापनीयं तत्र एम्० ए०, पीएच्० डी० इत्याद्युपाधिधारिण एव योग्याः, न वाचस्पत्याचार्याद्युपाधिधारिण इति वैषम्यमपाकरणीयम्। योग्यता खल्वध्यापन उपयुज्यते, नोपाधिः। तैस्तैर्विश्वविद्यालयाधिकारिभिरेष नियमः प्रवर्तितो यदयमेवात्र नियोज्यो नायमिति। सोऽयं नियमो विदेशीयैः कल्पितः। ते हि भेदे रुचिमादधते स्म शासननिर्वाहाय। वयन्त्वभेदबुद्धिमाश्रित्य राज्यं परिचालयितुमिच्छामः। तत्र किं कल्पितं भेदमिमं दूरीकर्तुं वयं न प्रभविष्णवः? किं वास्य भेदस्य निराकरणमनुचितमसाध्यं वा भवेत्? चिरात्प्रवृत्ताया वासनाया अपाकरणमवश्यं दुस्साध्यं भवेत्, न त्वसाध्यम्। उपाधयस्तु रागद्वेषजनका इति सर्वसम्प्रतिपन्नम्। तदुत्सारणं क्रमशो बुद्धिमद्भिः क्रियत एव। दुग्धेन पूरितं

भाण्डं बिडालः पातयति, तदनुचितं कर्म। तत्र स्वीयो वा बिडालः पातयतु परकीयो वा। स्वीयत्वेऽनुरागः परकीयत्वे च द्वेष इति भेदबुद्धिर्न खलु समीचीना।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थायां द्वैतिनो निश्चिता दृढम्। परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥

इति हि नीतिस्साधीयसी। 'अन्यैस्सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्' इति खलु मार्गः श्रेयान्। कूटनीतिविज्ञैस्तैर्विदेशीयैरवलम्बितोऽयं पन्थाः, वयन्तु ऋजुं मार्गमवलम्ब्य गन्तारः। अतोऽस्माभिरियं सरणिः परिवर्तनीयैव।

सर्वमिदमस्मत्केन्द्रीयशिक्षामन्त्रिणः पर्यालोच्य भारते देशे संस्कृतं प्रसारयितुमुज्जीवयितुञ्च संस्कृतायोगं नियोज्य, तद्द्वारा विषयानवगत्य, सदस्यैः प्रकाशितं विवरणं कार्यरूपेण परिणमयितुं बद्धादरास्सन्तीति न केवलं ते धन्यवादार्हाः, किन्तु तेषां वयं सर्वेऽप्यधमर्णाः। संस्कृतशिक्षायाः कृते परामर्शदात्रीं परिषदञ्च संघटय्यातितरां प्रशंसनीयं ते कार्यमकुर्वन्। तमिमं पन्थानमनुकुर्वाणो राजस्थानीयसर्वकारोऽपि संस्कृतप्रचाराय प्रभूतं द्रव्यराशिं व्ययीकुर्वन् संस्कृतशिक्षापरामर्शदात्रीं परिषदमप्यद्य सङ्घटयतीति निशम्य नितरां प्रसीदामः। युक्तप्रान्तीयसर्वकारः संस्कृतविश्वविद्यालयं प्रतिष्ठाप्य साधु कर्माकरोत्। अस्मन्नेतॄणां हृदयेषु संस्कृतोद्धारविषये समुत्पन्नामभिरुचिमनुभूय देववाणीसमुपासका विद्वांसो विकसितहृदम्बुजास्सन्ति। आ च हिमवतः आ च कुमारिकायाः संस्कृतपण्डितास्त्यागैकमयं जीवनमद्ययावदतिवाह्येदानीं द्रव्यलोलुपा जाता इति न मन्तव्यम्। वायुमपि भक्षयित्वा सुचिरं जीवितुमिमे समर्थाः, किन्तु सन्मानं परं वाञ्छन्त्येव। कालो देशश्चैभिरप्यनुसर्तव्यावेव। सम्प्रति कीदृशः कालः प्रचलतीत्यस्मन्नायकानां नाविदितम्। अहन्तु केवलं तान् स्मारयितुमिच्छामि, न बोधयितुम्। अधोनिर्दिष्टेषु सिक्षाधिकारिभिर्दृष्टिः पातनीया—

१. उच्चतरश्रेणीपर्यन्तं संस्कृतस्यावश्यावश्यपाठ्यत्वसम्पादनम्,

२. राजस्थान इव सर्वेषु प्रान्तेषु संस्कृतशिक्षाध्यक्षस्य पृथङ्नियोजनम्,

३. संस्कृतविद्यालयेभ्यो निर्गतानां स्नातकानां विद्यालयान्तरेभ्यो निर्गतानां संस्कृतस्नातकानाञ्च विना तारतम्येनाध्यापकपदेषु नियोगः,

४. तत्र तत्र संस्कृताध्यापकानां शिक्षाप्रणालीशिक्षणाय विद्यालयस्थापनम्,

५. अल्पीयसैव कालेन संस्कृतभाषाधिगमाय समुचितानि पुस्तकानि, आङ्गलभाषापरिचितानां साहाय्येनाधुनिकनवीनविषयाणां संस्कृतमयानि च पुस्तकानि निर्मातुं योग्यानां विदुषां समितेर्योजनम्,

६- वेदानां तच्छाखानां तदङ्गानाञ्च यथावद्रक्षणायाध्ययनाध्यापनपरिपाटीप्रवर्तनम्,

७. ग्रामे ग्रामे पुराणानां प्रवचनाय विदुषां प्रेरणम्,

८. तत्र तत्र परिचाल्यमानानां संस्काराणामुपनयनविवाहप्रभृतीनां यथावदनुष्ठानाय योग्यानां पुरोहितानां सम्पादनम्,

९. केन्द्रीयसर्वकारेण विशिष्टस्य संस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रतिष्ठापनम्।

इत्येवमादिषु विषयेषु यदि वयं दत्तावधाना भवामः, यदि चेमान् कार्यान्वितान्विदध्मः, तर्हि भारतस्य नूनं पुरेव गौरवं समेधितं भवेत्, भगवती भारतमाता चावश्यं प्रसन्नचित्ता सत्यस्मानाशिषा पूरयेदिति शम्॥

—:०:—

गीतिकादम्बरीसमालोचनम्

पं० प्र० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागरः
योगतन्त्रविभागाध्यक्षः वा० सं० वि० वि० वाराणसी

कविरत्नेन श्री-अमीरचन्द्रशास्त्रिणा साहित्याचार्येण श्रीलालबहादुरशास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठे साहित्यविभागाध्यक्षपदं भूषयता विरचिता 'गीतिकादम्बरी' दृष्टिपथमागता। संस्कृतवाङ्मये श्लाघनीयो नूतनश्चायमुद्यमः पण्डितवरस्य। बहोः कालादेव लुप्तप्राया कवितानिर्माणकला पुनरिदानीं दृष्टिगोचरं गमिता कविरत्नेन। पञ्चषाणि, दश, द्वादश वा पद्यानि निर्मातुं समर्थाः कवयो दृश्यन्ते, किन्तु सहस्रशः पद्यानि सङ्ग्रथ्य सहृदयानां मनांस्यावर्जयितुं प्रथमोऽयं श्लाघनीयः प्रयासः श्रीशास्त्रिणः, अस्मिन् ग्रन्थे सन्ति द्वादश प्रकरणानि:— गीतिकादम्बरी, श्रीमद्भागवतकथासारः, अध्यात्मदर्शनमित्यादीनि। अष्टषष्ट्युत्तरपञ्चशतं पृष्ठानि, तेषु च प्रायः सप्तसहस्रं श्लोकाः। यद्यपीमे श्लोका एकदैव श्रीशास्त्रिणा न विरचिताः किन्तु तत्र तत्र सभासु गोष्ठीषु च विदुषां मनांसि रञ्जयितुं निर्माय श्राविताः, तथापि सन्त्यत्र काव्यान्यपि, तेषु रसकल्पतरुः, हितकल्पतरुः, सङ्गीतवृन्दावनमित्यादीन्युल्लेखमर्हन्ति। तत्र रस-हितकल्पतर्वोः "विभावानुभावसञ्चारिभावसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" भरतसूत्रोपात्तानां विभावादीनां स्वरूपमुपवर्ण्य तेषां रस-रूपत्वम्, रसश्च हितम्, हितञ्च राधाकृष्णतत्त्वमिति सुविस्तरं प्रतिपाद्य, भरतसूत्रगतसंयोगशब्दस्य हितयोगार्थकत्वमाश्रित्य यस्समन्वयः कविरत्नेन प्रकाशितः—

परं वृन्दावनरसे हितेनैव विभावितः। विभावः केलिकुञ्जेषु केलीः श्रयति मञ्जुलाः॥
हितेनैवानुभावाच्च कश्चिदत्रानुभावितः। हितेन व्यभिचारी च विशेषेणाभिचारितः॥
अनेन हितयोगेन स्थायितां प्रतिपद्य तत्। प्रेम निष्पद्यते सद्यो वृन्दावनरसो नवः॥
(रसकल्पतरुः ५, ४०-४२)

इति स नूनं विदुषां मनांसि रञ्जयेदेव। हिततत्त्वं स्नेहानुरागप्रणयप्रेमभक्तिमयं पवित्रतमम्। तस्यैव विवर्तरूपा इमे स्नेहादयः। रसानुभवमलौकिकं वर्णयन्तोऽलङ्कारशास्त्रप्रवर्तकास्तत्रालौकिकत्वं कथं प्रसाधयन्ति? किं तदलौकिकत्वम्? कास्तत्र सामग्र्यः? किं प्रमाणं तत्र? प्रमाणेन वेद्यं प्रमेयं कीदृशम्? वेत्ता च कीदृशः? प्रमाणप्रमेयप्रमातॄणां को निष्कर्षः? इत्यादयो रसतत्त्वाधिगमोपयिकाः पदार्थाः साधु विवेचिताः कविरत्नेन। विना क्लेशेन रसमार्गं प्रविविक्षूणां रसतत्त्वाधिजिगांसूनां च सरलसाधनतयानुष्टुभंछन्दस्समाश्रितं रसकल्पतरौ, हितकल्पतरौ चेति श्लाघीयान् प्रयासः श्रीमतः कविरत्नस्य। सरलैः सरसैः सारगर्भितैः पदैर्गुम्फितानि छन्दांसि च। तत्रेमान्युल्लेखमर्हन्ति।

यौवनस्नेहसौन्दर्यकामप्रेमाभिलाषजैः। मदैस्सङ्क्रीडितः श्यामावुन्मत्तकरिणीगजौ॥
अत्र क्रीडासु सर्वासु सख्यो यदुपकुर्वते। ऋतवस्तद्विलोक्यैव सर्वेऽप्यायान्ति सेवितुम्॥
प्रेमतृष्णाकामकेलिद्वयजे मधुरे रहः। विहारेऽस्मिन् द्वयं भाति हितमद्वयमद्भुतम्॥
पश्यन् श्रीराधिकारूपं गात्रविश्लेषदुःखितः। आश्लिष्यन्नथ तां रूपदर्शने विरहोत्सुकः॥
दारुपुत्तलिकाभूतः तदिच्छामनु नृत्यति। सर्वस्वं जीवनं वित्तं बलं हारयतीह सः॥
प्रेम्णाकर्णयते राधा गाथां गायति चासकृत्। स्वदेहं राधिकापादपद्मगेहं च मन्यते॥
श्यामेन तेन हृदयं सर्वं श्यामीकृतं व्रजे। राधया त्वनया सर्वं बलाद्गौरीकृतं पुनः॥
स्वर्णरेखाङ्कितं लोके निकषं निकषं स्मृतम्। राधारूपाङ्कितं भावे हृदयं हृदयं तथा॥
प्रेमैव भोक्ता श्यामोऽयं प्रेमभोग्यं च राधिका। अथोभयोस्तु यत्प्रेमप्रेरकं स सखीजनः॥

भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन च राधाश्यामयोर्भेदे प्रतीयमानेऽपि वस्तुत एकमिदं तत्त्वम्। हितस्य द्वे रूपे—प्रेम रूपं चेति। तत्र श्यामः प्रेमा रूपं चश्यामा इति प्रमाणैर्निर्णये सत्युभावपि प्रेममूर्ती रूपमूर्ती चेत्यभेदः पर्यवस्यति।

महर्षेर्जैमिनेरौत्पत्तिकसूत्रन्यायेन शब्दार्थाविव राधाश्यामौ सम्पृक्तौ। राधां विना श्यामस्य, श्यामञ्च विना राधायाः पृथक्स्वरूपलाभोऽसम्भव्येव। अतोऽभेदः प्रसिध्यति। तदिदं साधु विशदीकृतं शास्त्रिवर्येण। किञ्च, सङ्गीतवृन्दावने विषयविवेचनं कविरत्नस्य मर्म स्पृशति। 'राधाननं हि मधुराङ्कलानिधानम्' इत्यत्र 'कलानिधान' शब्दस्य उपवर्णिता नैकविधा अर्थाः सहृदयान् सन्तर्पयेयुरिति निश्चितं वक्तुं शक्यते। एवं "रससिन्धुसारम्" इति राधाननस्य विशेषणं वितन्वन् कविः -

ग्रद्धा परात्परमिहोपनिषत्सु गीतमानन्दनं कमपि यं शृणुमो रसाख्यम्।
तस्यापि सिन्धुमुपमथ्य समुद्धृतं यद्राधाननं तदुदितं रससिन्धुसारम्॥

कवयति। कल्पनेयं राधातत्त्वस्य परमां पुष्टिमादधाति। अत्रत्यानि सर्वाणि पद्यानि सहृदयानां हृदयावर्जकानि सन्तीति नितरामहं प्रसीदामि। वृन्दावनान्तर्गते यस्मिन् निकुञ्जे श्रीराधा कुसुमान्यवाचिनोत्, तन्निकुञ्जं वर्णयन् कविरनितरसाधारणीं प्रतिभामाविष्करोति। लतातलगतानि पल्लवानि कुसुमानि वा कस्मै फलाय राधावचिनोतीति, प्रश्नमुत्थाप्य तत्समाधानतया कवयति कविः—

कान्तालङ्कृतयेऽथवा नवमहत्सेवाक्षणादित्सया। काचित्पश्यतु मेति वा प्रियसखी पश्येदिदं द्वारतः॥
कान्तो मत्प्रतिबिम्बधारिषु न वा स्राम्येद्दलेष्वित्यसौ। शय्यां वा नवलां रहो रचयितुं तान्याचिनोति स्वयम्॥

इति।

काव्येषु—अतियोक्तिरुत्प्रेक्षा वा कविप्रतिभोत्कर्षाभिव्यञ्जिका परिगण्यते काव्यतत्त्वविद्भिः। तत्र काव्येषु पात्राणि सामान्यतो द्विविधानि-साधारणान्यसाधारणानि च। तत्र साधारणेषु पात्रेषु क्रियमाणोत्प्रेक्षैवातिशयोक्तौ पर्यवस्यति। असाधारणेषु क्रियमाणोत्प्रेक्षा भवति तात्त्विकी। यद्यप्यलङ्कारसामान्यं कृत्रिममेव; न किञ्चित्तात्त्विकम्। कृत्रिम एवाकारो जनानां रञ्जको भवति। अतः कवयः प्रायः कृत्रिमवेषधारिण एव विलोक्यन्ते—केचन काकपक्षधराः, अपरे गलम्बिकेशाः, अन्ये स्कन्धावलम्बिकचाः, केचिच्च कपोलार्धरोमाः, श्मश्रुधारिणः कतिपये, श्मश्रूण्यपि वैविध्यं धारयन्तः कतिपये। एवं विविधरूपधरा भवन्ति कवयः। ते हि स्वस्वानुरूपं स्वस्वप्रतिभानुगुणञ्च साधारणपात्राणि वर्णयन्तो नैकधोत्प्रेक्षन्ते। उत्प्रेक्षाश्च तत्र सङ्घटिता भवन्ति, यतस्तेषां पात्राणां वाङ्मनसगोचरत्वमस्ति। प्रकृते च वर्णनाविषयं पात्रं राधातत्त्वं श्यामतत्त्वं वृन्दावनतत्त्वञ्च। तत्त्वत्रयमिदं वाचामविषयम्, मनसश्चागोचरमसाधारणम्। कविरपि श्री-अमीरचन्द्रः स्वाभाविकवेषः—धवलोष्णीषः, सितकञ्चुकः, धवलोत्तरीयः, सितवासा वेषानुरूपसत्त्वगुणवाँश्च। सोऽयमसाधारणानि पात्राणि वर्णयन् पात्रगतं वाचामगोचरत्वमेव वाचा प्रतिपादयति, मनोऽविषयत्वमेव मनसोत्प्रेक्षते। यावद्वर्णयति, यावदुत्प्रेक्षते, यावच्चालङ्कारैस्संयोजयति तावत्तत्त्वत्रयं तैर्वर्णनैरुत्प्रेक्षाभिश्च ताभिरलङ्कारैश्च तैरसङ्घटितमेव प्रतीयते। वाङ्मनोविषयाः खल्विमे वर्णनादयः! ते कथमत्र प्रवर्तन्ताम्, "यतो वाचो निवर्तन्तेऽप्राप्य मनसा सह" इति श्रुतेः। तथापि श्रीअमीरचन्द्रशास्त्री श्रीहरिलालव्यासकृतहरिवंशस्तोत्रविवरणमवलम्ब्य त्रिंशत्सर्गात्मकं **'संगीतवृन्दावनम्'**ताललयसमन्वितं मधुरमधुरैः शब्दैः परिगुम्फितं वैदग्ध्यानुरागवात्सल्यकारुण्यलावण्यसाररससारसुखैकसारपात्रसंवलितं नामरूपरहिताभ्यामपि भक्तजनचकोरलालनाय धृतदिव्यसुन्दरविग्रहाभ्यां सङ्ख्यातीतभक्तसखीजनपरिवृताभ्यां श्रीराधिकाश्यामाभ्यामनुष्ठितानेकदिव्यलीलाविनोदावद्योतकं निर्माय संस्कृवाङ्मयं परिबृंहितवानिति नूनं श्लाघनीयः कविवरः। 'हितं राधा, हितं श्यामः, हितं वृन्दावनं स्मृतम्" इति सर्वं हितं परिकल्प्य सहृदयेभ्यो हितमेवोपदिदेश कविशिखामणिः।

अत्युत्तमानां ग्रन्थानामेतादृशां प्रकाशनाय प्रवृत्तमिदं श्रीलालबहादुर-शास्त्रिराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठमिदं लोकोपकारकं शोभनं कर्मानुतिष्ठतीति प्रसीदति मे चेतः। अतो विद्यापीठसञ्चालकान् विद्यापीठकुटुम्बान्तर्गतांश्च प्रशंसन् कविरत्नं श्रीअमीरचन्द्रशास्त्रिणं प्रोद्दीपयितुमिच्छामि यदेतादृशे श्लाघ्ये कर्मणि प्रवृत्तिविशेषमादध्यादिति।

रसस्वरूपे काचन दृष्टिः

श्री पी० एन्० पट्टाभिरामशास्त्री, वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालये साहित्यविभागाध्यक्षः

शरीराणि पोषयितुं मानवा विविधानि भोज्यद्रव्याण्यपेक्षन्ते। तथैव चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां मनसो बुद्धितत्त्वस्य च पोषणाय साधनानामपेक्षा भवति। जगन्नियन्ता परमेश्वरोऽपि तांस्तान् प्राणिनस्सिसृक्षुर्नैक विधानि दुग्धप्रभृतीनि जीवनधारणौपयिकानि वस्तूनि प्रथमं संसृज्यानन्तरं प्राणिनस्सृजति। तत्राहाराय जीवनमिति प्रतिपद्यमानाः केचिदवतिष्ठन्ते, जीवनायाहार इति कतिपये। उभयेषां परिणामे भूयान् फलभेदः। प्रथमां कोटिमनुप्रविष्टाः शरीरमिन्द्रियाणि च प्राधान्येन समेधयन्तो भौतिकस्य फलस्य लाभाय चेष्टन्ते। द्वितीयां कोटिमनुप्रविष्टास्तु मनो बुद्धिं च प्राधान्येन पोषयन्त आध्यात्मिकस्य फलस्य लाभाय। यदा शरीरादीनां प्राधान्यं तदा मनोबुद्ध्योस्सहकारिता, यदा च मनोबुद्ध्योः प्राधान्यं तदा शरीरादीनामुपसर्जनता। प्रथमस्य जडविज्ञानाविष्कारः फलम्, द्वितीयस्य च चेतनविज्ञानाविष्कारः। प्रथमः पक्षस्सावसानः सातिशयश्च, द्वितीयश्च निरवसानो निरतिशयश्च। प्रथमपक्षे जननं मरणं च भवतः, द्वितीये च न मरणं न वा जननम्। प्रथमस्तु पुरः पश्यन्नग्रे गच्छति, परं प्रत्यावर्तते। द्वितीयस्त्वन्तः पश्यन्नग्रे याति, न प्रत्यावर्तते। प्रथमो मरणाद् बिभेति, द्वितीयश्च तस्मान्न बिभेति। प्रतिबिम्बं श्लाघते प्रथमः, द्वितीयश्च बिम्बम्। रागद्वेषादयः प्रथमस्यावलम्बः, द्वितीयस्य च शमदमादयः। क्रूरकर्मा हिंसकः प्रथमः, द्वितीयश्चाहिंसकस्साधुकर्मा। प्रवृत्त्युन्मुखो गच्छन् प्रथमस्स्खलति, निवृत्त्युन्मुखो द्वितीयस्स्थिरस्तिष्ठति। अशान्तचित्तः प्रथमः, द्वितीयश्च परमां शान्तिमधिगच्छति। स्वस्वमतिकौशलेन सातिशयेष्वाणविकेषु पदार्थेषूत्पाद्यमानेषु प्रथमः कथं शान्तिं लभताम्? रागद्वेषादीनामुद्भवस्तस्य नैसर्गिक एव। नित्यनिरतिशयस्य पदार्थस्याविष्कारावसरे शमदमादिसम्पत्समृद्धिः स्वाभाविक्येव।

प्राक्तना अस्माकं महामानसा भारतीया जीवनधारणाय कन्दमूलादीनेवाभ्यवहरन्तो भारतस्य जीवातून् वेदान् निर्मन्थ्य स्वस्वबुद्धिवैशद्येन नाना दर्शनानि शास्त्राणि च प्रवर्तयन्त ऋषयोऽभवन्। तैः प्रवर्तितान्येव तानि बुद्धेः पोषकाणि तत्त्वानि। एतेषु सेव्यमानेषु परमां मनसश्शान्तिं तानि जनयन्तीत्यनुभवः प्राचाम्। एकैकस्यापि जनिमातस्थुषो मानवस्य मनसः शान्तिरावश्यकीत्यत्र मन्ये कोऽपि न विप्रतिपद्येत। प्रकृतिरपि रात्रिरित्येकं वस्तु कल्पयामास शान्तिमवाप्तुम्। यदि दिवा नक्तमिति प्रविभागो नाभविष्यत्, तर्हि जगदेव नावृत्स्यत्। अनवरतं नैकविधेषु वैषयिकेषु कर्मसु व्यापृतानां शरीरेन्द्रियाणां क्वचिद् विश्रामः खल्वावश्यकः। अत एव नक्तम्, तत्र च निद्रेत्येवं प्रविभागः। तस्यामवस्थायां काममिन्द्रियाणि न व्याप्रियन्ते, किन्तु मनो न जोषमास्ते। तस्याप्युपरमाय सुषुप्तिः। अस्यामवस्थायां मानवः परमं सुखमवाप्नोतीति प्रत्यक्षमिदम्। तदिदं सुखं जाग्रदवस्थायामप्यवाप्तुं प्रभुसंमितैश्शब्दैर्दर्शनानि, सुहृत्संमितैश्च तैरनल्पानि पुराणानि, कान्तासंमितैश्शब्दैश्च संख्यातीतानि काव्यानि नाटकानि चर्षिभिस्सन्दृब्धानि। ऋषयः कवयश्चैकामेव तुलामधिरोहन्ति। विचित्राणां भावानां संस्कृतेस्तत्त्वस्य च प्रख्या दर्शनं कथ्यते। एतादृशे दर्शने श्रवणं मननं निदिध्यासनं चेति भवन्ति त्रीणि कारणानि। तानीमानि यथर्षिभिराश्रितानि तथैव कविभिरपि। तदुक्तं दर्शनात् खल्वृषयो भवन्ति। भट्टतौतेन—

> **नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्। विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥**
>
> **स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः। दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥ इति।**

अत एव सांख्यन्यायमीमांसादय इव साहित्यमप्यलङ्कारशास्त्रं नाट्यशास्त्रमित्येवं शास्त्रसंज्ञामलभत। युक्तं चेदम्—हितेन सह वर्तते इति सहितम्, तस्य भावस्साहित्यम्। हितं च वस्तु सर्वस्यात्मैव भवति, स हि निरतिशयप्रेमास्पदः। **"आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति"** इति खलु काण्वास्समामनन्ति। एतादृशं निरतिशयप्रेमास्पदं वस्तु प्रतिपादयितुं यथा शास्त्रान्तराणि प्रवृत्तानि, तथैव साहित्यमपि प्रवृत्तम्। इयांस्तु विशेषः—शास्त्रान्तराणि प्रभुसंमितैश्शब्दैस्तस्य प्राप्तये मार्गमङ्गुल्या निर्दिश्य निवृत्तव्यापाराणि, निर्दिष्टे च पथि गन्तुं यत्नोऽस्माभिरेव विधेयः। साहित्यशास्त्रं नु तदधिगमाय क्लृप्ते मार्गे सहृदयानां करं परिगृह्य तान् बहुदूरं न केवलं प्रापयति, अपि तु रसाम्भोधाववमज्जयति। यद्यपि तस्यामवस्थायामलौकिक्यां चिरं सहृदयान् नावस्थापयति, प्रापकप्रकारेषूपरतेषु लौकिकीमेवावस्थां ते प्रपद्यन्ते, तथाप्येवमेवासकृदनुभवतां सहृदयानां कालान्तरेऽन्तर्मुखत्वमासादयितुमस्ति भूयानवसर इति साहित्यस्य वैशिष्ट्यम्। साध्वी काचन प्रेयसी आ च प्रातः आ च सायं क्लेशसाध्येषूच्चावचं कर्मसु सुभृशं परिश्रम्य गृहान् समागतं क्लान्त्या च समन्वितं प्रेयांसं मधुरमधुरैः सरससरसैश्च वचोभिरातिथ्यैश्च परिसान्त्वयति, कुमार्गगामिनं च तं कुपथान्निवर्तयति, सुशीतलैरपाङ्गैर्मनस्समाकर्षण गात्रयष्टिस्खलनेन भुजोत्क्षेपणेनाकुञ्चितेन भ्रूविक्षेपणेनान्यैश्च विविधैर्हावैर्भावैश्च सन्तर्पयति, तथैव साहित्यविद्येयमनवरतं दुःखबहुलैर्नश्वरैश्च सांसारिकक्लेशैः परीतं सहृदयं समाकृष्य तस्य श्रवसोर्नयनयोश्च कान्तासंमितशब्दार्थद्वारा सुधाबिन्दूनासिच्य सन्मार्गगामिनं विधाय परां च निर्वृतिं प्रापयति। अत एवालङ्कारशास्त्रनिकेतनस्य प्रधानस्तम्भभूतो मम्मटाचार्यः काव्यस्य प्रयोजनोपवर्णनावसरे यशोऽर्थः शिवेतरक्षतिश्चेति काव्यनिर्मातॄणां प्रयोजनान्युपवर्ण्य लोभनीयायाः संस्कृतेर्व्यवहारस्य च परिज्ञानं स्वस्वरूपावस्थितिरूपं च परमं प्रयोजनं काव्यानि शृण्वतां पश्यतां च व्यवस्थापयन् शास्त्रस्यास्यानितरसाधारणं गौरवमुद्घोषयति। एवम्—

"शब्दार्थौ मूर्तिराख्यातौ जीवितं व्यङ्ग्यवैभवम्। हारादिवदलङ्कारास्तत्र स्युरुपमादयः॥
श्लेषादयो गुणास्तत्र स्वभावा इव रीतयः। शोभामाहार्यिकीं प्राप्ता वृत्तयो वृत्तयो यथा॥
पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या शय्येव संमता। रसास्वादप्रभेदास्स्युः पाकाः पाका इव स्थिताः॥
प्रख्याता लोकवदियं सामग्री काव्यसम्पदः।"

इति काव्यस्य लोकानुगुणां सम्पदं बोधयन्तोऽप्यालङ्कारिकाः काव्यजीवातोर्व्यङ्ग्यस्यालौकिकत्वं व्यवस्थापयन्ति। तत्र यथा महति प्रासादे निवसन्तं लोकप्रियं कञ्चन कोट्यधीशं प्रभुं राजानं वा वशीकर्तुमाप्तैरङ्गुल्या निर्दिष्टं मार्गमवलम्बमानः प्रासादस्य द्वारमासाद्य तत्र द्वारपालेन निरुद्धः कश्चन तमेव प्रभुमवगच्छन् चिरं सेवमानः स्वाभिलषितमवाप्नोति। अपरो द्वारपालं परिचिन्वानस्तमुल्लङ्घ्य प्रभो राज्ञो वा बहिरङ्गकार्यकर्तारमेव प्रभुमवगत्य सेवते। अन्यश्च तमपि परित्यज्यान्तरङ्गकार्यकर्तारं तथा निश्चित्य स्वमनोरथं साधयति। इतरश्च तमप्युत्सृज्य प्रभोरङ्गसंरक्षकं तथा मन्यमानः स्ववाञ्छां पूरयति। कश्चित् तु कुशलः क्रमेण साक्षात् प्रभुमेवाश्रित्य सफलमनोरथो भवतीति लौकिकः पन्थाः; तथैवालङ्कारिकैर्निर्दिष्टे पथि सञ्चरन्तः शब्द एव काव्यं नार्थः, शब्दश्चार्थश्चेत्युभयं काव्यम्, अलङ्कार एव काव्यस्यात्मा नान्यः, गुण एव तथा, रीतिरेव तथा, रसस्यैवात्मत्वं नान्यस्य, ध्वनेरेव तथात्वं न रसस्यैवेत्येवं नैकविधानि मतानि प्रकटयन्तः स्वस्वाभिलषितं प्रसाधयन्ति। तत्राप्यास्वादविषयीभूतो रसोऽनुकार्यरामदुष्यन्तादिगत एव प्रतीयत इति कश्चित्, अनुकर्तृनटगतत्वेनैव तस्य प्रतीतिरित्यन्यः, सहृदयगतत्वेनैव प्रतीतिरित्यपर इत्येवं विविधाः सरणयः। रीतिरेषा दार्शनिकेष्वपि समाना। शरीरमिन्द्रियाणि मनो बुद्धिम् एतदतिरिक्तमहंपदवाच्यं जीवं तदतिरिक्तं चेश्वरं पृथक्पृथगात्मत्वेन साधयन्तो दार्शनिकाः प्रख्याताः। एवं भूयस्सु प्रस्थानेष्वेकस्य पन्थानमपरो नानुसरतीत्येवं विद्यमानायामपि स्थितौ, दार्शनिकानामालङ्कारिकाणां च नायमभिप्रायो यन्मानवा विभ्रान्तचेतसो मिथो विवदमाना रागद्वेषादिभिराविष्टाः परस्परं निन्दन्त ईप्सितस्य वस्तुनोऽधिगमाय मार्गं निश्चेतुमशक्नुवानाः कालं यापयन्त्विति। आपणे

नानाविधानि विरुद्धान्यविरुद्धानि च वस्तूनि विक्रयणाय प्रसारयत आपणिकस्य नेदमुद्देश्यं स्याद् यद् ग्राहका वस्तूनीमानि विलोक्यापणस्य पुरतः कलहायमाना अवतिष्ठन्तामिति। विरुद्धवस्तुप्रसारणं हि न मनसः कालुष्य-समुत्पादनाय परिगण्यते। विरुद्धेष्वविरुद्धेषु च सर्वेषु वस्तुष्वनुभूतेषु यद् यस्मै रोचते स तद् परिगृह्णातीति लौकिकी स्थितिः। मनसः शान्तये समैव दृष्टिरुपयुज्यते न विषमा। काकस्य हि विषमा दृष्टिः, न काकवद् भवितव्यमस्माभिः। हंसस्य च समा दृष्टिः, सैवानुसर्तव्या मानवैः। तदैव क्षीरनीरविवेक इव वस्तुतत्त्वविवेको भवितुमर्हति। विवेकेन च मनसः शान्तिः, तया च परमः प्रबोध इति दार्शनिकानामालङ्कारिकाणां चाशयः।

शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः। य एव सर्वशास्त्रज्ञस्तस्य शान्तं मनः सदा॥

इति वदन् भगवान् व्यासः प्राक्तनानां शास्त्रकाराणामाशयं सगौरवमाविष्करोति।

तत्र '**विभावानुभावसञ्चारिभावसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः**' इति भारतं सूत्ररत्नं परीक्षितुं रत्नतत्त्वपरीक्षका इव विमर्शकाः शास्त्रकाराः प्रवृत्ताः स्वं स्वं मतमाविरकार्षुः। स्वभावोऽयं रत्नतत्त्वपरीक्षकाणां यद् यो यथा निश्चिनोति रत्नस्य स्वभावं मूल्यं च न तथान्योऽपीति। अवश्यं तत्र न्यूनाधिकभावो भवत्येव निर्णये। निर्णय-प्रकारभेद एव न्यूनाधिकभावं प्रति प्रयोजकः, न वस्तुतत्त्वं तत्प्रयोजकम्। तत् त्वेकरूपमेवास्ते। प्रकाराणां भेदेन मिथः कामं विरोधः स्यात्, किन्तु न तेन वस्तुनः कोऽपि विरोधः। चूषणक्रियया चूतफलमास्वाद्य त्वचं बीजं च निरस्यति कश्चित्। अपरस्तु कर्तनेन त्वचं पृथक्कृत्य फलमास्वाद्य बीजं निरस्यति। कश्चिच्च कर्तनक्रियया सत्वचं फलमास्वाद्य बीजं निराकरोति। एवं प्रक्रियाभेदेऽपि, आस्वाद्यवस्तुनो भेदो न सिध्यति। तथैव काव्येषु रसास्वादप्रकारे ग्रन्थकर्तॄणां मतभेदः। रसास्वादकर्तारः काव्येषु त्रयः परिगण्यन्ते—अनुकार्यो रामादिः, अनुकर्ता नटादिः, सामाजिको डित्थादिः सहृदयश्चेति।

तत्र मीमांसासम्प्रदायानुयायित्वेन कथ्यमाना भट्टलोल्लटप्रभृतयोऽनुकार्यरामादिगतत्वेन रसमभिप्रयन्ति। दाशरथी रामः कौमारावस्थात एव राज्यभ्रंश-विपिननिवास-पितृवियोग-निशिचरपीडासीतावियोग-वानरसख्य-भीषणसङ्ग्रामादिजनितां दुःखपरम्परां क्रमशोऽनुभवन् शोकेन सन्तप्त आसीदिति कथावस्तु भगवता वल्मीक-जन्ममुनिना वर्णितं वयं जानीमः। अन्ततः कथायाः परिणाममपि वयमवगच्छामः। तदिदं कथावस्तु पठतां शृण्वतां पश्यतां वा हृदयमद्यापि द्रावयति, वेपथुं जनयति, रोमाञ्चमुत्पादयति, अश्रूणि निर्गमयति, आततायिनो रावणकुम्भकर्णेन्द्रजित्प्रभृतीन् दूषयितुम्, भ्रातृवत्सलं रामम्, तद्भक्तांश्च भरतलक्ष्मणाञ्जनानन्दनादीन् स्तोतुं च प्रवृत्तिरुपजायत इति प्रत्यक्षं समेषां सहृदयानाम्। कथैवं खल्वियम्। कलौ युगेऽस्मिन् रामस्य सीताया वा क्वावसरः? तत्रापि गृहस्य वेदिकायां नाटकशालायां वा वर्तनमस्माकं कथावस्तु पठतां शृण्वतां पश्यतां वा निश्चितमेव। तथापि कुत अमी भावाः पूर्वोक्ता निष्पद्यन्ते? कुशलस्य कवेः प्रवक्तुर्नटस्य वा नैपुण्यातिशयेन वयमेतां दशां प्राप्ता इति नूनं वक्तव्यम्। तत्राप्यद्य ते कवयो न सन्ति, सन्ति च तेषां काव्यानि, विद्यन्ते च काव्यप्रवक्तारः, काव्यार्थाभिनेतारश्च। काव्यान्यस्मान् रोदयन्ति हर्षयन्ति च प्रवक्तारो नटाश्च। शब्दार्थमयेषु काव्येषु रोदनहर्षयोर्जनकत्वं कुशलस्य कवेः सम्बन्धाद् वक्तव्यम्, प्रवक्तृषु नटेषु च तज्जनकत्वं साधुशिक्षयाऽभ्या-सेन च स्वीकर्तव्यम्। सामाजिकानां हृदयानि समावर्ज्य कञ्चित् कालं यावत् तेषां मनांसि निश्चलानि विधातुं खलु चेष्टन्ते कवयः प्रवक्तारो नटाश्च श्रोतारो द्रष्टारो वा सामाजिकास्तेषां त्रयाणां वर्णने प्रवचनेऽभिनये च विद्यमानं पाटवं निशम्य निशाम्य च सुखदुःखमोहमयेषु सांसारिकविषयेषु निमग्नस्य चञ्चलस्य मनसः स्थिरी-करणाय पठने श्रवणे दर्शने च यथारुचि प्रवर्तन्ते। क्रमशो यदा समाकृष्टचेतसो भवन्ति सहृदयाः, तदा नूनमयं कविः प्रवक्ता नटो वाऽस्मन्मनस्समाकर्षणे पटुरिति बुध्यन्ते। तत्र विशेषतो नाट्ये नटा अनुकर्तारो रामदुष्यन्ता-दीनां चरितं यथायथमभिनयेन प्रदर्शयितुं यतमानाः साक्षाद् रामदुष्यन्तादीनिवात्मनः प्रकटयन्ति। इमांश्च तेषु

तेषु घट्टेषु रामादिसमानरूपतां प्राप्नुवतोऽनुभूय सहृदया अनुकार्यानेव साक्षादुपस्थितान् प्रतिपद्यन्ते। अनुकार्ये दाशरथौ रामे सीतालम्बनकः शोको विभावादिसम्पातेन प्राप्तपरिपोष आसीदिति यच्छाब्दं ज्ञानं तदेव रामादिसमानाकारमनुकर्तारं पश्यतां सहृदयानां प्रत्यक्षात्मकं जायते। इदं त्वनुभवसिद्धमङ्गीकर्तव्यं भवति यद् ये शोकं नाम कञ्चिद् भावं कदापि नान्वभवन्, रामकथां च नाश्रृण्वन्, ते कुशलेन नटेनाभिनीयमानं नाट्यं पश्यन्तोऽपि न समाकृष्टचेतसो भवन्ति। यश्च नटः शोकेनात्यन्तमपरिचितो रामचरितमभिनेतुं रङ्गं प्रविशति, तदभिनयं पश्यन्तोऽपि सहृदया न समाकृष्टचेतसो भवन्ति। चित्तस्य समाकर्षणं नाम न सुकरम्। विविधाभिर्वृत्तिभिराक्रान्तमिदं चित्तं भवति। प्रवाहधर्मिणीयं चित्तवृत्तिः सहृदयानां यावन्न स्थिरीक्रियते तावत् सहृदया अपि साधारणा एव भवेयुः। तत्र च नटस्य कौशलमेवैकं साधनमभ्युपेतव्यम्। एवं तत्कौशलेन स्थिरीकृतचित्तवृत्तिः सामाजिकोऽनुकार्यगतं रसमनुभवन् सन्तृप्तहृदयो भवति। एवञ्च, यश्च रसोऽनुकार्यरामाद्याश्रितस्तमेव नाट्ये कुशलो नटोऽभिनयविशेषेण सामाजिकान् ग्राहयतीति भट्टलोल्लटप्रभृतय आशेरते।

युक्तं चेदम्। आहिताग्निर्यजमानो विविधान् सप्ततन्तून् अनुतिष्ठन् ऋत्विजो वृणीते। ते चाध्वर्युहोतृप्रभृतयो यथाधिकारं सश्रद्धं स्वानि कर्माणि कुर्वन्तो मन्त्रांश्चोच्चारयन्ति। मन्त्रैश्च देवतानां रूपाणि प्रतिपाद्यन्ते। यदि च होता वाध्वर्युर्वा यथायथं मन्त्रार्थमवबुध्य देवतानां गुणान् कीर्तयेत्, तर्हि सामाजिकाः कर्मठा यजमानश्च यज्ञमण्डपे हविर्ग्रहणाय प्रत्यक्षमागतानिव देवानिन्द्रप्रभृतीनवगच्छन्ति। तेन च निर्वृतिं लभन्ते। चित्तवृत्तीनां नियन्त्रणायैव खल्विमानि कर्माणि प्रवर्तितानि प्राक्तनैः। विविधाभिर्धाराभिश्छिन्नचित्तवृत्तयः कामं प्रवहेयुः, तथापि ता निरुध्य **"यज्ञो वै यजमानः"** इत्युक्तदिशा यजमानं यज्ञत्वेन भावयन् होता, **"अग्निर्वै होता"** इति होतारमग्नित्वेनावधारयंश्च यजमानः कर्माणि कुरुतः, तर्हि नूनं प्रेक्षकाः कर्मठा यज्ञे समाकृष्टचेतसः प्रसन्ना भवन्त्येव। अतः प्रेक्षकाणां चेतांसि निश्चलानि विधातुं कर्मानुष्ठातृभिर्यथायथं कर्माणि कर्तव्यानि भवन्ति। तत्र कर्तुर्यजमानस्य कर्मजन्यफलभोक्तृत्वे सत्यपि होतृप्रभृतीनामृत्विजां प्रेक्षकाणां च कर्मठानां मनःप्रणिधानेन विलक्षणा काचन शान्तिस्तृप्तिर्वोपजायत एव। तथैवानुकार्यरामादिगतत्वेन रसे विद्यमानेऽपि नटानामनुकर्तॄणां रामसीतादिभावनाहितचेतसां तेषु च रामसीतादिसमानाकारतामाकलयतां सामाजिकानां च रसास्वादोऽप्रतिहत एव। अनुकर्तॄणां नटानां रामसीतादिभावनाविष्टत्वे नृत्तगीतवाद्यानामेकतानतारूपस्य लयस्यानुसरणमपि शिक्षाया अभ्यासस्य चातिशयेनोपपद्यत एव। सामाजिकैरपि नटाभिनयसामर्थ्यात् 'रामः सुखी', 'रामः सीताविषयकशोकवान्', दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्येवमादिचित्तवृत्तिविशिष्टैरानन्दोऽनुभूयत एव। कञ्चित् कालं बाह्यजगत्सम्पर्केण विहीना अभिनेतारः सामाजिकाश्च रामैकतानमतयः सन्तः सांसारिकदुःखसम्पर्कशून्या अवतिष्ठन्त इत्यस्यानन्दस्य चमत्कारजनकत्वमप्यव्याहतमेवेति मीमांसकमतानुयायिनः।

अत्रैव नैयायिकसरणिमवलम्बमानाः श्रीशङ्कुकप्रभृतयोऽनुकर्तरि रामादिगतं भावमनुमिन्वन्ति। सामाजिका जानन्त्येव यदिदानीं रामदुष्यन्तादयोऽनुकार्या न सन्ति, तेषां नेपथ्यं धृत्वा नटा एवाभिनयन्तीति। नटस्य कौशलेन सामाजिकानां चित्तवृत्तिश्चित्रतुरगन्यायेन नटेऽनुकार्यगतस्थायिभावमनुमातुं प्रवर्तयति। तं तं स्थायिनमुद्दिश्य नटेन प्रयुज्यमानान् विभावानुभावव्यभिचारिणोऽनुभवन् सामाजिकः 'अयं (नटः) रामः, सीताविषयकशोकवान्, अयं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्, तत्तदनुकूलविभावादिमत्त्वाद्' इति प्रतिपद्यते। पूर्वस्मिन् मते सामाजिको नटं राम इति पश्यति, अस्मिंश्च नटं राम इत्यनुमिनोति। 'प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः' इति खलु चिरन्तनानामुक्तिः। नटे रामादेरनुकार्यस्यारोपो वा भवतु, अनुमानं वा, पदार्थस्त्वेकरूप एव। मतभेदस्तु पदार्थप्रतिपादनप्रकारभेदात् सिध्यति। न्यूनाधिकभावः प्रकार एव न तु वस्तुनि। नाट्यसम्बन्धी रसो नाट्यरस इति मीमांसकमते, नटाश्रयकत्वेन नाट्यश्रयकत्वं रसस्येति श्रीशङ्कुकमते। प्रथममतेऽनुकार्यगतत्वेऽपि रसस्य नाट्यसंबन्धित्वेन नाट्यरसत्वं नानुपपन्नम्। द्वितीयमते चानुकर्तृगतत्वेऽपि रसस्य

नाट्याश्रयकत्वेन नाट्यरसत्वं नानुपपन्नम्। उभयत्र स्थायिनोऽवभास आवश्यकः। नाट्यसम्बन्धित्वेन नाट्याश्रयकत्वेन नाट्यहेतुकत्वेन नटनयोग्यत्वरूपेण वा सोऽवभासताम्। सर्वथाऽवभासस्तस्य सर्वैरिष्यत एव।

ये च रसस्य प्रतीतिमुत्पत्तिमभिव्यक्तिं वाऽनङ्गीकुर्वाणा अभिधायकत्वं भावकत्वं भोगकृत्त्वं चेति व्यापारत्रयं स्वीकृत्य तृतीयव्यापारेण रसस्य भोगो भवति सहृदयानामिति वदन्ति, तेषामपि मतेऽभिधायकत्वव्यापारस्य श्रव्यकाव्याश्रितत्वेन दृश्ये नाट्येऽनुपयोगात्, भावकत्वव्यापारेण नटाभिनयविषयाणां विभावादीनां रामसीतादिसंबन्धपरित्यागपुरस्सरं नायकनायिकासम्बन्धमाश्रित्य साधारणत्वापादनं विधाय तृतीयव्यापारेण रसस्य भोगो वक्तव्यः। अयं च भोगः साक्षात्कारविशेषोऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षणः। वैलक्षण्ये च तिस्रोऽवस्थाः कारणत्वेन स्वीक्रियन्ते—द्रुतिर्विस्तारो विकासश्चेति। प्राथमिक्यवस्था चित्तस्य द्रुती रजोगुणाधीना, विस्तारो द्वितीयावस्था तमोगुणाधीना, रजस्तमोभ्यामनुविद्धं तत्त्वम्, तदधीनश्च विकासः। तदा भोगःस्वस्वरूपं लभते। भोगावस्थायां सत्त्वस्य प्राचुर्येण स्वात्मचैतन्यरूपां परां निर्वृतिं प्राप्नुवतः सामाजिकस्य विगलितवेद्यान्तरतयाऽवस्थितिर्भवति। तदानीम्—'अहं रामः सीताविषयकशोकवान्', 'अहं दुष्यन्तः शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्येवं लोकोत्तरमानन्दमनुभवन् सामाजिको भवति। इयं चावस्था नटेन कुशलेन प्रकाश्यमानानां विभावादीनामनुवर्तनं यावदवतिष्ठते।

इयमेव पार्यन्तिकी स्थितिरानन्दवर्धनाचार्याणामभिनवगुप्तपादानां च मतेऽपि। भावकत्वभोजकत्वरूपव्यापारद्वयमनङ्गीकृत्यैकेनैव ध्वननव्यापारेण स्वीयं मतं ते प्रतिपादयन्ति। सर्वेष्वपि पक्षेषु सहृदयानां रसप्रतीतिस्तावदस्त्येव। श्रव्यकाव्येषु सालङ्कारैः सगुणैश्च शब्दैरर्थैश्च समर्प्यमाणानां विभावादीनां योगात्, नाट्ये च कुशलैर्नटैः समर्प्यमाणानां तेषां योगात् सामाजिकानां रसप्रतीतिः। इयं क्वचित् प्रात्यक्षिको, क्वचिदानुमानिकी, क्वचिद् भोजकत्वव्यापारजन्या, क्वचिच्च ध्वननव्यापारोत्थेति भिन्ना भवति। प्रतीतित्वरूपं सामान्यं च सर्वत्राविशिष्टम्। शाखाचन्द्रन्यायेनारुन्धतीदर्शनन्यायेन वा सर्वेऽपि पक्षा उपपादनीयाः। सर्वेषु पक्षेषूद्देश्यं चैकरूपमेव चित्तवृत्तिनिरोधेनानन्दावाप्तिः। तत्र व्यापारसामान्यस्य साध्यम्, साधनम्, इतिकर्तव्यता चेति त्रयमपेक्ष्यते— किं, केन, कथमिति। श्रौतेषु व्यापारेषु यागादिषु स्वर्गादिकं साध्यम्, यागहोमादिकं साधनम्, अङ्गकलापश्चेतिकर्तव्यता। तथा च वेदो भावकः फलार्थिनः पुरुषस्याङ्गसहितेन यागादिना करणेन यथा स्वर्गादिरूपमानन्दं भावयति, तथैव काव्यं नाट्यं वा भावकं प्रत्याक्षानुमानभोगकृत्त्वध्वननादिव्यापारेण साधनेन गुणालङ्कारौचित्यादिरूपयेतिकर्तव्यया सामाजिकस्य रसमानन्दं भावयति। तत्र यागो, दानं, होमः, प्रणयनं, निर्वापश्चेत्यादीनि श्रौतेषु साधनानि भिन्नानि, इतिकर्तव्यताश्च प्रयाजादयो भिन्नाः, साध्यानि च स्वर्गपशुपुत्रादीनि भिन्नान्यपि तज्जन्यं सुखं त्वेकरूपमेव, तथैव काव्ये नाट्ये च करणानामितिकर्तव्यतानां साध्यानां च भेदेऽपि सुखमेकमेव। हंसतूलिकामञ्चे कश्चन शयानः सुषुप्तिजन्यं सुखं लभते, अपरस्तृणैर्घासैश्च प्रपूरितायां शय्यायां शयानस्तादृशं सुखमवाप्नोति, अन्यश्च कर्कशे स्थण्डिल एव लुठन् तत् प्राप्नोति। सुषुप्तिजन्यं सुखं तु सर्वत्राविशिष्टमेव।

विमर्शकानां क्वचित् काचिन्न्यूनता परिस्फुरेत्। तेन च मिथो निन्दाव्यापारोऽपि प्रवर्तेत। स्वं स्वं मतमुपपादयन् परं निन्देदेव। किन्तु प्रेक्षकैस्तत्र समां दृष्टिमवलम्ब्य वस्तुतत्त्वं परीक्षितव्यम्, न तु निन्दाव्यापारे प्रवर्तितव्यम्। गा अश्वांश्च स्तोतुं प्रवृत्तो वेदोऽपि "अपशवो वाऽन्ये गोअश्वेभ्यः गोअश्वाः पशवः" इत्यजादीन् प्राणिनो निन्दतीति नास्माभिरप्यजादयो निन्दितव्याः। 'न हि निन्दा निन्दितुं प्रवृत्ता, अपि तु स्तुत्यं स्तोतुम्' इति तस्य तात्पर्यं परिकल्पनीयम्। एवमेव रसविषये पूर्वजैः प्रवर्तितेषु मार्गेषु समन्वयात्मिका दृष्टिरवलम्बनीयेति शम्।

ऋषिकल्पः कालिदासः

पी० एन्० पट्टाभिरामशास्त्री, साहित्यविभागाध्यक्षः;
वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वाराणसी।

शरीराणि पोषयितुं मानवा विविधानि यथा भोज्यद्रव्याण्यपेक्षन्ते तथैव चक्षुरादीनामिन्द्रियाणां मनसो बुद्धितत्त्वस्य च पोषणाय साधनानामपेक्षा भवति। जगन्नियन्ता परमेश्वरोऽपि तांस्तान् प्राणिनस्सिसृक्षुर्नैकविधानि दुग्धप्रभृतीनि जीवनधारणोपयिकानि वस्तूनि प्रथमं संसृज्यानन्तरं प्राणिनस्सृजति। तत्राहाराय जीवनमिति प्रतिपद्यमानाः केचिदवतिष्ठन्ते, जीवनायाहार इति कतिपये। उभयेषां परिणामे भूयान् फलभेदः। प्रथमां कोटिमनुप्रविष्टाः शरीरमिन्द्रियाणि च प्राधान्येन समेधयन्तो भौतिकस्य फलस्य लाभाय चेष्टन्ते, द्वितीयां कोटिमनुप्रविष्टास्तु मनो बुद्धिश्च प्राधान्येन पोषयन्त आध्यात्मिकस्य फलस्य लाभाय। प्रथमस्य जडविज्ञानाविष्कारः फलम्, द्वितीयस्य च चेतनविज्ञानाविष्कारः। प्रथमःपक्षस्सावसानः सातिशयश्च, द्वितीयश्च निरवसानो निरतिशयश्च। प्रथमपक्षे जननं मरणञ्च भवतः, द्वितीये च न मरणं न वा जननम्। प्रथमस्तु पुरः पश्यन्नग्रे गच्छति, परं प्रत्यावर्तते। द्वितीयस्त्वन्तः पश्यन्नग्रे याति, न प्रत्यावर्तते। प्रथमो मरणाद्बिभेति, द्वितीयश्चतस्मान्न बिभेति। प्रतिबिम्बं श्लाघते प्रथमः, बिम्बञ्च द्वितीयः। रागद्वेषादयः प्रथमस्यावलम्बः, द्वितीयस्य च शमदमादयः। क्रूरकर्मा हिंसकः प्रथमः, अहिंसकस्साधुकर्मा द्वितीयः। प्रवृत्त्युन्मुखो गच्छन् प्रथमः स्खलति, निवृत्त्युन्मुखश्च द्वितीयः स्थिरस्तिष्ठति। अशान्तचेताः प्रथमः, द्वितीयः परमां शान्तिमधिगच्छति। स्वस्वमतिकौशलेन सातिशयेष्वाणविकेषु पदार्थेषूत्पाद्यमानेषु प्रथमः शान्तिं कथं लभताम्? रागद्वेषादेस्समुद्भवस्तस्य नैसर्गिकः खलु। नित्यनिरतिशयस्य पदार्थस्याविष्कारे द्वितीयस्य शमदमादिसम्पत्समृद्धिः स्वाभाविक्येव।

प्राक्तना अस्माकं महामानसा अनवरतं देशसमाजहितचिन्तनैकतानमतयो भारतीया जीवनधारणाय कन्दमूलादीनेवाभ्यवहरन्तो विश्वस्य जीवातून् वेदान् निर्मथ्य स्वस्वबुद्धिवैशद्येन नानादर्शनानि शास्त्राणि च प्रवर्तयन्त ऋषयोऽभवन्। तैः प्रवर्तितान्येव तानि बुद्धेः पोषकाणि तत्त्वानि। एतेषु सेव्यमानेषु परमां मनसश्शान्तिं तानि जनयन्तीत्यनुभवः प्राचाम्। एकैकस्यापि जनिमातस्थुषो मानवस्य मनसश्शान्तिरावश्यकीत्यत्र मन्ये न कोऽपि विप्रतिपद्येत। प्रकृतिरपि रात्रिरित्येकं वस्तु परिकल्पयामास शान्तिमवाप्तुम्। यदि दिवा नक्तमिति प्रविभागो नाभविष्यत्, तर्हि जगदेव नावर्त्स्यत्। अनवरतं नैकविधेषु सांसारिकेषु कर्मसु व्यापृतानां शरीरेन्द्रियाणां क्वचिद्विश्रामः खल्वावश्यकः। अत एव नक्तम्, तत्र च निद्रेति प्रविभागः। निद्रावस्थायां काममिन्द्रियाणि न व्याप्रियन्ते, किन्तु मनो न जोषमास्ते। तस्याप्युपरमाय सुषुप्तिः। तामिमां प्रकृतिसिद्धां निर्मितिं लक्षीकृत्य लक्ष्यैकचक्षुषो महर्षयो जाग्रदवस्थायामपि परमं सुखमवाप्तुं प्रभुसंमितैश्शब्दैःशब्दैश्चरनल्पानि पुराणानि, कान्तासंमितैश्च तैस्सङ्ख्यानीतानि काव्यानि नाटकानि च प्रवर्तयाम्बभूवुः। ऋषयः कवयश्चैकामेव तुलामधिरोहन्ति। दर्शनात् खलु ऋषयो भवन्ति। विचित्राणां भावानां संस्कृतेस्तत्त्वस्य च प्रख्या दर्शनं नाम। तदस्य प्रवर्तनाय श्रवणम्, मननं, निदिध्यासनञ्चेति भवन्ति कारणानि। तानीमानि यथर्षिभिराश्रितानि, तथैवकविभिरपीति साधनं न दुष्करम्। तथाहि—

आ च भगवतः परमेष्ठिनः प्रथमायास्सृष्टेः आ चैतन्निमेषात् प्रभुतेव नितान्तं दुरवगाहा किल कवीनां कविता अमृतधारेवास्माकं श्रवणविवरं सम्प्रविश्य तदा तदा चेतश्शीतलयति, चेतयते च भृशं सन्तप्तेऽपि

सहृदयानां हृदये प्राचां गौरवम्। कविताया भगवत्याः किलोत्सङ्गमधिशयाना वयमिदानीं पुरातनमस्मदीयं गौरवमनुभवामः। का प्रबोधयति प्रसुप्तानस्मान्? का वा जनयति नितान्तं क्लिन्नानामस्माकमानन्दसन्दोहम्? का वा प्रापयति वैभवशिखरमस्मान्? का वा ग्राहयति साध्वीं संस्कृतिम्? का वा तनोति समीचीनां जीवनपद्धतिमस्माकम्? इत्यादीनां सहस्रशः प्रश्नानामिदमेकमेवोत्तरं भवितुमर्हति—यत्कवीनां कविता नाम। यथा हि कश्चन चित्रकारश्चित्रपटे हावभावविन्यासपुरस्सरं द्रष्टॄणां हृदयाकर्षकाणि समुट्टङ्कयति चित्राणि, यानि चावलोक्य सुवर्णरञ्जितानि मुग्धोऽपि सामयिकं भावमवबुध्य प्रसन्नश्चित्रकारं प्रशंसति। एवमेव सुकविरपि सुवर्णघटितां कवितां निबध्नाति, यामधीत्य रसिकः कर्तारं नितरां श्लाघते। अत एव योग्यैर्वर्णविन्यासैः परिकलिता चित्रकला कविताकला चैकामेव तुलामधिरोहत इति जनस्सामान्यं व्यवहरति, परं कलातत्त्वपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवा विचक्षणाश्चित्रकलायाः कविताकलां भित्तिस्थानीयामाचक्षते। सन्तापपरीतं जनस्य हृदयमावर्ज्य तत्र किमपि नूतनं वैभवमातन्वतोरपि, अनन्यसाधारणीं योग्यतां प्रकटयतोरपि विलक्षणं भावं श्रोतॄणां द्रष्टॄणाञ्च मनसि सम्पादयतोरपि पुरातनीं शैलीं प्रबोधयतोरपि चित्रकवित्वयोर्विद्यमानः कश्चिद्विशेषो विवेकिनां न निगूढः। रामकृष्णाद्यवतारपुरुषाणां चरितं खलु कविभिश्चरातस्वतन्त्रया स्थिरया कवितया चित्रीक्रियते।

एवं प्रवृत्तेषु कविषु सङ्ख्यातीतेषु द्वित्रा एव महाकविपदं भूषयाम्बभूवुः। तत्रापि कवितल्लजः कालिदास एव कनिष्ठिकामूलपातमनुभवन् कविसम्राट्पदमलमकार्षीत्। कविसम्राडयं केवलमनितरसाधारणेन वाक्पाटवेन न मुखरायते किन्त्वधरितसुधारसमाधुर्यं वर्णनातीतमवाङ्मनसगोचरं कमपि रसं वर्षितुमेव सधीरं गर्जन् योग्यतमान् विषयान् ग्राहयत्यस्माभिः; विचारवैचित्र्येणाक्षाल्यशासनीयानां हृदयं पवित्रं शुद्धं कोमलञ्च कुरुते। न केवलमयं बुद्धिमत्तामुदारताञ्च स्वीयां प्रकटयितुं प्रयतते, परं ताभ्यां साकमविचारकर्दमस्खलितानुद्दिधीर्षुर्ग्राहयति सन्तं विचारम्। कविकौस्तुभोऽयं स्वीयामुच्चैस्तरां योग्यतामुदारताञ्च न वाचा, किन्तु कार्येण; ते च न केवलम्, परं साकं ताभ्यां धर्मप्रपञ्चपटुतामुपनिषत्तत्त्वविज्ञानञ्च; ते च न केवलं परेषामुपदेशाय, किन्त्वाचरणाय च व्याहृत्य सह कविसम्राट्त्वोपाधिना महर्षित्वोपाधिमप्यभजतेति कथने मन्ये नातिशयोक्तिरिति। ऋषी राजर्षिर्महर्षिरिति यथा भेदेन व्यवहारः, तथैव कविर्महाकविः कविसम्राडित्यादयो व्यवहाराः। ऋषिकव्यादयश्शब्दा न जातिप्रवृत्तिनिमित्तकाः। ऋषेः कवेर्वा पुत्रो न ऋषिः कविर्वा भवति किन्त्वनितरसाधारणकार्योपाधिका एष्टव्याः। प्रत्यक्षादिलौकिकप्रमाणाविषयाणां नैकविधानां भावानां सूक्ष्मतमानां धर्मांशानां निगूढानाञ्च तत्त्वानामाविष्कारान् निमित्तीकृत्य पूर्वजा ऋषयः कवयश्चाभवन्। तत्र ये प्रभुसम्मितैरेव शब्दैः पूर्वोक्तान् पदार्थानाविरकार्षुस्ते ऋषयः, ये च कान्तासम्मितैशब्दैस्ते कवय इति व्यवाह्रियन्त। नियतिकृतनियमपरिपालनमावश्यकमृषीणाम्, कवीनान्तु तन्नावश्यकम्। कवीनां प्रतिभानप्रयुक्तं तत्त्वदर्शनम्। अपरोक्षानुभूत्या यत्कवयः पश्यन्ति तदेव ते प्रकटयन्ति वर्णयन्ति च कान्तासम्मितैर्वचोभिः। कवीनां तत्त्वदर्शनस्य तत्प्रकाशनस्य च पन्था अनितरसाधारणः। अत एव महर्षीनप्यतिशय्य वर्तन्ते कवय इति कथनं नायुक्तियुक्तं भवेत्। तदिदमाह भट्टतौतः—

नानृषिः कविरित्युक्तमृषिश्च किल दर्शनात्। विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः। दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथाहि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः। नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना॥ इति।

कवितल्लजोऽयं दृश्यश्रव्यभेदेन काव्यानि रचयंस्तत्र न केवलं कथाविशेषमेव प्रतिपादयति, किन्तु सारिष्ठान् ऐहलौकिकस्य पारत्रस्य च श्रेयस उपायान् सुबहूनाविष्करोति ललिततमया शैल्या आख्यायिकारूपेण

वर्ण्यमाना एतेऽर्था भावुकानां हृदयङ्गमा अनुष्ठानपर्यवसायिनः श्रेयसे स्युरित्यभिसन्धायैव तान् स्वकाव्येषु निबबन्ध। तथाहि—

"वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, श्रद्धया देयम्, अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात्, ये तत्र ब्राह्मणास्संमर्शिनः, युक्ता आयुक्ताः, अलूक्षा धर्मकामाः स्युः, यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः" इत्यादिभिः प्रभुसम्मितैश्शब्दैर्बोधितमर्थं संवादप्रदर्शनपुरस्सरं स्वीये काव्ये कवितल्लजः प्रदर्शयति। वरतन्तोर्महर्षेरन्तेवासी कौत्सो दानशौण्डं रघुं तादृशं गुरुदक्षिणायै चतुर्दशकोटीः सुवर्णानां ययाचे, यश्च तदात्वे प्रत्यग्रनिर्वर्तितविश्वजिदध्वरो मृण्मयपात्रावशेषः। स च कुबेरं जित्वाप्यर्थिनो मनोरथं पूरयिष्यामीति समकल्पयत्, निश्चिकाय च परेद्यवि प्रातः प्रयाणम्। तद्विक्रमादमानुषाद् भीतभीतः कुबेरो निशि तत्कोशगृहे हेमवर्षमवर्षत्। सर्वं त्वयैव स्वीकर्तव्यमिति निर्बध्नाति दाता, प्रतिग्रहीता च प्रवदति-गुरुप्रदेयादधिकं किञ्चिदपि नादास्य इति।

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ। गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

"सत्यान्न प्रमदितव्यम्" इतीमं श्रौतं प्रमेयम् **"सत्याय मितभाषिणाम्"** इति; **"प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"** इतीमं श्रौतमर्थम् **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'** इति; **"स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्** इति वैदिकमनुशासनं **"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानाम्"** इति च सन्दर्भैः सूत्ररूपेणावद्योतयति।

'यौवने विषयैषिणाम्' 'प्रजायै गृहमेधिनाम्' इत्याभ्यां सूत्रकल्पाभ्यां विरुद्धवदवभासमानाभ्यां धर्माविरोधेन तृतीयः पुरुषार्थो निषेवणीय इत्यभिसन्दधानः सप्तदशे सर्गे विषयमेनमुपबृंहयति भगवतो रामभद्रस्य स्वभावविशेषवर्णनव्याजेन—

न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ। नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु॥ इति।

अत्रान्वयमुखेन प्रतिपादितमेवार्थम् अजस्याग्निवर्णस्य च चेष्टितेन व्यतिरेकमुखेन विशदयति। अजः किल इन्दुमतीं परिणीय साकं तया नैकविधान् भोगाननुभूय कुसुमपातेन व्यसुं तामनुगन्तुं व्यवस्यन्नपि लोकापवादाद् बिभ्यदिव तथा नान्वतिष्ठत्। अन्ते च तच्चिन्तयैवाभैषज्येनामयेनाभ्यसूयत, पातयामास च स्वीयं शरीरं पवित्रतमे गङ्गासरय्वोस्सङ्गमे। एवं सवितृकुलप्रसूतस्याग्निवर्णस्य सर्वतोमुखं स्त्रीषु चापलं विस्तरेण वर्णयन्नतिप्रसङ्गाद् व्याधिना कालधर्ममुपेयिवानिति च वर्णयन्नतिप्रसङ्गः कामादिष्वनर्थायेतीन्द्रियसंयमःसर्वथा कार्य इति च वेदसारमिममर्थं साधु प्रकाशयति।

विवाहप्रकरणे वधूनिश्चयाय वरपक्षीया वरान् ब्राह्मणान् सम्प्रेष्य निश्चित्य समागतेभ्यस्तेभ्योऽवगत्य वरो वध्वा दर्शनाय समीक्षणाय च गच्छेत्। तत्र दर्शनार्थं मन्त्रमेकम्, समीक्षणार्थञ्च द्वितीयं मन्त्रं विनियुञ्जान आपस्तम्बाचार्यस्सूत्रयति—**"स्वयं दृष्ट्वा तृतीयां जपेत्", "चतुर्थ्या समीक्षेत"** इति। मन्त्रौ च ताविमौ—

"अभ्रातृघ्नीं वरुणापतिघ्नीं बृहस्पते। इन्द्रापुत्रघ्नीं लक्ष्म्यन्तामस्यै सवितस्सुव॥"
"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवापतिभ्यस्सूनास्सुवर्चाः। जीवसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शञ्चतुष्पदे॥"
इति।

प्रथममन्त्रेण वरुणं बृहस्पतिमिन्द्रं सवितारञ्च सम्बोध्य प्रार्थयते वरः—हे देवाः। यूयमस्यै वध्वै अभ्रातृघ्नीम् अपुत्रघ्नीञ्च लक्ष्मीं प्रदायानुगृह्णन्त्विति। द्वितीयमन्त्रेण च हे वधु, त्वम् अघोरचक्षुः शिवा सुमनाः जीवसूश्च भूत्वा सर्वात्मना सर्वेषां सुखकरी भवेति कामयते वरः। अनेन सन्दर्भेण चिरन्तनोऽयं सम्प्रदायः प्रवृत्त इत्यवगम्यते यद्वधूवरयोर्मिथः परीक्षणं नाम। तमिमं सम्प्रदायं कवितल्लजः कालिदासः—

अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः । अज्ञातहृदयेष्वेवं वैरीभवति सौहृदम् ॥

इति निबन्धन् विवाहात् पूर्वमेव दम्पत्योरन्योन्यहृदयपरीक्षणस्यावश्यकत्वं निरूपयन् द्रढयति ।

एवं मेनाया हिमवतश्च विवाहं वर्णयन् तद्व्याजेन विवाहसंस्कारस्याभ्यर्हितत्वं तदनुबन्धिनश्च कांश्चन विशेषान् निर्दिशन् स्वस्य वैदिकश्रेष्ठत्वं ऋषिकल्पत्वञ्च सुस्पष्टमवद्योतयति । इत्थं हि स उपश्लोक्यते—

स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः । मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥

अत्र **"मुनीनामपि माननीयाम्"** इति विशेषणेन न केवलं शरीरं रामणीयकं विवक्षापदम्, किन्त्वान्तरं सौशील्यादिकमेवोपपादयति । **'विधिनोपयेमे'** इत्यनेन पाणिग्रहणविधेरावश्यकतामुपनिबध्नाति । **'कुलस्य स्थितये'** इति वदन् पाणिग्रहणं नामेदं न भोगायैव, किन्तु **'प्रजायै गृहमेधिनाम्'**, **'अप्यर्थकामौ तस्यास्तां'**, **धर्म एव मनोषिणः'** इत्यन्यत्र स्पष्टमभिहितमाशयं स्मृतिपथमुपनयति । **'कन्याम्'** इति प्रथमतो निर्दिशन् 'कालक्रमेणाथ तयोः प्रवृत्ते स्वरूपयोग्ये सुरतप्रसङ्गे' इति च प्रतिपादयन् कविवरः परिणयनानन्तरं कालक्रमेण मेनकाया यौवनप्रादुर्भावस्तया च साकं तदनु हिमवतस्सङ्गम इति चोपवर्णयन् 'प्रदानं प्रागृतोः' इति गोतमीयस्य वचनस्य स्मारयतीव । न केवलमिदमेव, किन्तु समाजपरिष्कर्तॄणां गौतमापस्तम्बादीनां महर्षीणां मितव्ययशीलतां 'परिवारनियोजन' पद्धतिश्चानुसरन् कुलस्य स्थितये केवलं मैनाकमुमाञ्चेत्यपत्यद्वयमेव हिमवतः प्रदर्शयति । दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि' इति सत्यपि वैदिकाशीर्मन्त्रे कविसार्वभौमोऽयम्—

ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव । सुतं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥

इत्यत्र **'सुतम्'** इत्येकवचनं प्रयुञ्जानः पश्वेकत्वाधिकरणन्यायं स्मारयन् परिवारवर्धनं नाभिप्रैतीति प्रतीयते । 'परिवारनियोजनाय' साम्प्रतं वयं महान्तं यत्नमाचरामः, किन्तु महर्षिभिः प्रवर्तितानां नियमानामनुसरणेन कवितल्लजाशयस्य परिज्ञानेन च मन्येऽस्माकं न भ्रूणहत्यापातकस्य लेपः, नापि भोज्याभावकृतक्लेशः, न चापि प्राचीनसंस्कृतेर्मर्यादायाश्च समुल्लङ्घनं स्यादिति ।

कविसम्राडयं गार्हकर्मसु वैचक्षण्यमाबिभ्राणो यथा तत्रत्यान् विशेषान् स्वीये काव्ये निबध्नाति तथैव दुरूहान् श्रौतान् पदार्थान औपनिषदं तत्त्वञ्च हेलयैव सन्निवेशयति । शाकुन्तलस्य द्वितीयेऽङ्के **'रक्षांसि न इष्टिविघ्नमुत्पादयन्ति'** इत्यत्र **इष्टि** शब्दम्, तृतीयेऽङ्के **'सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते'** इत्यत्र **'सवनकर्म'** शब्दम्, पुनश्चतुर्थेऽङ्के **'अद्यैव न इष्टिं परिसमाप्य'** इत्यत्र **'इष्टि'** शब्दञ्च प्रयुञ्जानः कालिदासः कुलपतेः कण्वस्याश्रमे पञ्चदिनसाध्यस्य सोमयागस्यानुष्ठानमभवदित्यवबोधयति । **'सवनकर्म'** पदं यत्र सोमलताया अभिषवादिकं भवति तत्रैव याज्ञिकैः प्रयुज्यते । तच्च कर्म सोमयाग एव । इष्टिशब्दश्च ओषधिप्रभवद्रव्यके कर्मणि दर्शपूर्णमासादौ व्यवह्रियते । सोमयागे च प्रधानयागात् पूर्वं परश्चाङ्गतया वह्व्य इष्टयोऽनुष्ठीयन्ते । द्वितीयाङ्कगतेष्टिशब्दः सोमयागाङ्गदीक्षणीयेष्टेः, चतुर्थाङ्कगतेष्टिशब्दश्चावभृथेष्टेर्वाचकः । वेदेषु सोमयागाः—एकाहमारभ्य सहस्रदिनसाध्या आम्नताः । तत्र पञ्चदिनसाध्यस्सोमयागो ज्योतिष्टोमाभिध एव, तदानीं कण्वाश्रमेऽनुष्ठीयमान आसीदिति कालिदासोऽभिप्रैति । अत एव द्वितीयाङ्के दुष्यन्तः **'आगामिनि चतुर्थे दिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति'** इति करभकानीतं मातुः पत्रमधीत्य विदूषकं वदति—**'इतस्तपस्विकार्यम्, इतो गुरुजनाज्ञा । द्वयमप्यनतिक्रमणीयम् किमत्र प्रतिविधेयम्'** इति । **विदूषकश्च तमुपहसति 'त्रिशङ्कुरिवान्तराले तिष्ठे'ति ।** कण्वाश्रमे तावद्दिनव्यापि कर्म यदि नाभविष्यत् तर्हि विदूषकं दुष्यन्तः कथमेवमवक्ष्यत् ?

कृत्ययोर्भिन्नदेशत्वाद् द्वैधीभवति मे मनः। पुरः प्रतिहतं शैले स्रोतस्स्रोतोवहो यथा॥ इति।

किञ्च **'यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्'** इति पद्ये विमृश्यमाने पूर्णिमायां सवनकर्म परिसमाप्यावभृथेष्टिस्नानञ्च रात्रौ विधाय प्रातरेव स्वनगरं त्वरितं प्रतस्थ इति 'अद्यैव नः इष्टिं परिसमाप्य-ऋषिभिर्विसर्जितः' इति सखीवचनमानुकूल्यमावहति। एतेन शुक्लपक्षदशम्यां मृगयार्थं वनमागत्य कृष्णपक्षप्रतिपदि दुष्यन्तो नगरं प्रतस्थ इति निर्णयेन कविसार्वभौमस्य श्रौतकर्मभिनिविष्टत्वमनुमातुं शक्यते। एवमनुमानेन नायकस्य दुष्यन्तस्य चारित्रमपि संरक्षितं भवति।

नायकचारित्रपरिरक्षणं नाम कवेः कालिदासस्य मुख्यः प्रणवः। तद्गते चारित्रे संरक्षिते नाट्ये सहृदयेषु तत्प्रतिबिम्बनं फलवद्भवेत्। सांख्यन्यायमीमांसादयो यथा शास्त्रसंज्ञामलभन्त, तथैव नाट्यं साहित्यमपि शास्त्रसंज्ञामलभत। हितेन सह वर्तत इति सहितम्, तस्य भावस्साहित्यं नाम। हितञ्च वस्तु सर्वस्यात्मैव भवति, स हि निरतिशयप्रेमास्पदः। **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति'** इति खलु काण्वास्समामनन्ति। एतादृशं निरतिशयप्रेमास्पदं वस्तु प्रतिपादयितुं यथा शास्त्रान्तराणि प्रवृत्तानि, तथैव साहित्यमपि। इयांस्तु विशेषः—शास्त्रान्तराणि वस्तुनस्तस्य प्राप्तये मार्गमङ्गुल्या निर्दिश्य निवृत्तव्यापाराणि, निर्दिष्टे च पथि गन्तुं यत्नोऽस्माभिरेव विधेयः, साहित्यशास्त्रन्तु तदधिगमाय क्लृप्ते मार्गे सहृदयानां करं परिगृह्य तान् बहुदूरं न केवलं प्रापयति, किन्तु रसाम्भोनिधौ अवमज्जयति!

साध्वी काचन प्रेयसी आ च प्रातः आ च सायं क्लेशसाध्येषूच्चावचं कर्मसु सुभृशं परिश्रम्य गृहान् समागतं क्लान्त्या च समन्वितं प्रेयांसं सरससरसैः सुधाबिन्दुसमन्वितैर्वचोनिचयैः परिसान्त्वयति, विविधैरातिथ्यैश्च सन्तर्पयति, कुमार्गगामिनञ्च तं तस्मान्निवर्तयति, सुशीतलैरपाङ्गैरावर्तनोद्वर्तनकम्पितगात्रयष्ट्या भुजोत्क्षेपणेनाकुञ्चितेन भ्रूविक्षेपणेनान्यैश्च नैकविधैर्हावैर्भावैश्च वशीकरोति, तथैव कालिदासकवितावनितेयमनवरतं दुःखबहुलैर्नश्वरैश्च सांसारिकैः क्लेशैः परीतं सहृदयं समाकृष्य तस्य श्रवसोर्नयनयोश्च कान्तासंमितशब्दार्थद्वारा सुधाबिन्दूनासिच्य सन्मार्गगामिनं विधाय पराञ्च निर्वृतिं प्रापयति। तदस्य महाफलस्य देशसमाजहितङ्करस्य सम्पिपादयिषया यथा आपस्तम्बगौतमादयो महर्षयः प्रवृत्ताः, तथैव कालिदासोऽपि।

किञ्च—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः'।

इति पद्ये विमृश्यमाने कविकुलललामः कालिदासो दुष्यन्तस्य नायकस्य चारित्रसंरक्षणं यथाशास्त्रमर्यादं करोतीति विज्ञायते। अयं हि नायकः **"महासत्त्वोऽतिगम्भीरः कृपावानविकत्थनः"** इति लक्षणलक्षितो धीरोदात्तः। अत्र च पद्ये विकत्थनत्वं प्रतीयत इव प्रतिभाति, किन्तु पूर्वमीमांसायां **विधिमन्त्राधिकरणे** 'यद् यदी' त्यादिशब्दानां विधिप्रतिबन्धकत्वमवस्थापितम्। मन उद्दिश्यार्यत्वं चेद्विधीयेत तर्हि विकत्थनत्वं नायकस्य स्यात्। आर्यत्वस्य विधाने यच्छब्दः प्रतिबन्धकः। यच्छब्दस्तावत् स्वसमभिव्याहृतार्थस्यार्यत्वस्य सिद्धतामवद्योतयति। दुष्यन्तस्यार्यत्वं प्रथममेव सिद्धम्, अतस्तदत्र न विधेयम्। अस्यां शकुन्तलायां **"यदार्यं मे मनोऽभिलाषि तस्मादियं क्षत्रपरिग्रहक्षमा"** इत्यनुवाद्यकोटौ आर्यत्वस्य निवेशे सति न विकत्थनत्वदोषस्यावसर इति कवेराशयः।

किञ्चायं महाभागो जगन्नियन्तारं परमपुरुषं तत्र तत्र काव्येषु वर्णयन् स्वस्यालौकिकाद्वैततत्त्वावलम्बित्वं प्रकटयतीति व्यक्तमेव तद्विरचितकाव्यरसास्वादजुषां सहृदयानाम्।

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते। देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः॥

इति रघुवंशीये पद्ये विमृश्यमाने परस्मिन् ब्रह्मणि प्रयुज्यमानस्य सत्यशब्दस्यार्थं महाकविरनेन निर्वक्तीति विज्ञायते। यथा हि मधुरैकरसमम्भस्तत्तद्देशभेदानुरूपाणि रसान्तराणि भजते, निर्गतेषु च तत्तद्देशभेद-सम्बन्धेषु यथापूर्वमेवावतिष्ठते, तथैव निर्गुणं परं ब्रह्मापि त्रिभिर्गुणैस्सत्त्वप्रभृतिभिरुपरञ्जितं सत्सगुणमिव भासते, निर्गच्छत्सु च तेषु तन्निर्गुणमेवावतिष्ठते। अनया चोपमया नैकप्रकारानुपाधीननुप्रविष्ट ईश्वर उपाधिसमवधान-दशायामपि तदीयैर्धर्मैर्न लिप्यत इति ध्वन्यते। एवम्—

हृदयस्थमनासन्नमकामं त्वां तपस्विनम्। दयालुमनघस्पृष्टं पुराणमजरं विदुः॥

इति पद्ये विमृश्यमाने यथा हि वेदान्तानि विरुद्धवदवभासैरपि वचननिचयैः **"पश्यत्यचक्षुस्स शृणोत्य-कर्णः"** इत्यादिभिः प्रब्रह्मणस्स्वरूपमवबोधयन्ति, तथाऽयमप्यद्वैताभिमततत्त्वप्रतिपादने तामेव सरणिं यथायथ-मनुसरन् स्वस्य निगमान्तवचस्स्वपरिमितां श्रद्धामाविष्करोतीति विज्ञायते। एवमयं कविसम्राट् सरससरलैः पद्यैः काव्यानि विरचयन् तत्र च वेदवेदान्तधर्ममीमांसाद्यभ्यासैकसमधिगम्य-गहनतरविचारसम्प्रधारणीयमलौकिकमौप-निषदं तत्त्वम्, साध्वीं चिरन्तनीं संस्कृतिम्, अनेका नीतीः, भूयसः श्रौतांश्च पदार्थानुपदिशन् स्वस्य ऋषिकल्पत्वं प्रतिपादयतीत्यहो कौशलं कालिदासस्य। अत एव बोधपरेभ्योऽपि ग्रन्थेभ्यः काव्यस्याधिक्यं **'कान्तासंमिततयो-पदेशयुजे'** इत्यादिना वर्णयन्ति मम्मटभट्टाः। कवितल्लजोऽयं स्वतन्त्रोऽपि कदाचिद् रसवशो भूत्वा विचित्रेण प्रकारेण विविच्य विषयान् सुलभमाकर्षति शासनीयान्। यथा हि मालिको मनोहरैरेव सुमनोभिर्बन्धानुबन्ध-सरणिमाहृत्य विचित्रां मालां ग्रथ्नाति, तथैवायं मनोहरैः पदैर्गरीयसीं कवितां सम्पादयति, अलङ्करोति च तया रसिकानां कण्ठतलं मनांसि च। किञ्चायं साकल्येनालङ्कारिकमर्यादां परिपालयन् सतीञ्च कामपि शिक्षापद्धति-मौपनिषदञ्च तत्त्वमुपदिशन् दिगन्तविश्रान्तयशा अधुनाप्यस्माकं हृदयसरोजेषु मधुकर इव गुञ्जारवं कुर्वाणो वर्तत इत्यहो धन्या वयम्। तस्येयं कविता शरदिव सहृदयं विमलं कुर्वाणा सम्प्रति रसिकशिरोमणिभिस्सानन्द-माद्रियते। एनामेव कविताकलां चन्द्रकलामिवास्वाद्यास्वाद्य रसिकानां चेतःकुवलयमुत्फुल्लं सगन्धञ्च भवति। महाकविरयं स्वैरं कवितांविपण्यां व्यवहारमाचरन् ग्राहकाणां शासनीयानाञ्च चञ्चलं मनः स्वकरे कृत्वा क्रय्यमक्षयं बोधरूपं तेभ्यः प्रदाय इदानीमप्यस्माकं मार्गप्रदर्शको वर्तत इत्यहो धन्या वयम्।

वेदाङ्गेषु शिक्षा

पं० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागरः

सम्मानितप्राध्यापकः सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

माननीयाः कुलपतिमहोदयाः, तेषु तेषु शास्त्रेषु तलस्पर्शिवैदुष्यमावहन्तो विद्वच्चक्रचूडामणयः, समवेतास्सुहृदश्छात्राश्च !

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयाधिकारिभिरुपाधिवितरणोत्सवप्रसङ्गे भाषणानि प्रदातुमहमाहूतो जिह्रेमि बिभेमि च । तथापि बहुश्रुतानां भवतां विदुषां कर्णविवरेषु मदीयाश्शब्दाः स्थानं न लभेरन्निति निश्चित्य प्रवृत्तोऽहमस्मिन् कर्मणि । यदि वा मदीयाश्शब्दा भवच्छ्रोत्रपुटेषु कथञ्चित् स्थानमवाप्नुयुः, तर्हि पुनरुक्तिरूपा एव ते भवेयुः, तत्रापि यदि काचन त्रुटिर्भवेत्, कृपालवो भवन्तः क्षन्तुमर्हन्तीति प्रथमं सम्प्रार्थ्य भाषितुमारभे ।

पवित्रतमेऽस्मिन् भारते केनापि सुकृतविशेषेण वयमजनिष्महि । किमु वर्णयामो वयम्, अस्माकं पचेलिमं भागधेयमहिमानं यदत्र चिरन्तना अत्रिभृगुकुत्सवसिष्ठगौतमकाश्यपभरद्वाजादयो महर्षयो भारतस्य महान्तं निधिं वेदाभिधान शब्दराशिं यथानियमं परिरक्षन्त आसन् । तेषां वंशे जनिर्विना सुकृतेन कथं लभ्येत । न केवलं तत्तन्महर्षिवंशजास्स्मो वयम्, किन्तु तैर्निर्मिते सुमहति मनोहरे प्रासादे च वयं निवसामः । प्रासादनिर्माणाय इष्टकाः, स्नुही, सिकताः, सुधा चेत्यादयोऽपेक्ष्यन्ते । चिरन्तनास्तु लौकिकीमिमां साधग्रीमनपेक्ष्य इष्टकास्थानेऽर्थं कामञ्चेति द्वितीयतृतीयपुरुषार्थौ गृह्णन्तः, धर्मस्नुहीं सामान्यतो विशेषतश्च द्वेधा परिकल्प्य विशेषधर्मस्नुह्या इष्टकाः संयोज्याभ्रंलिहाः सुदृढा भित्तीर्निर्माय ताः सामान्यधर्मस्नुह्याऽनुलिप्य दृढतरैः पाषाणैराच्छाद्य मोक्षसुधया प्रासादं सम्भूष्यास्मभ्यं प्रादुः, यत्राद्यापि सुखेन वयं निवसन्तो धर्मस्नुह्या मोक्षसुधायाश्च सौगन्ध्यमाजिघ्रामः : 'सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद् गन्धो वाति' इति श्रुत्यनुसारेण देशान्तरनिवासिनोऽप्याघ्रापयन्नयं भारतदेशो देशान्तराणामपि गुरुरित्याख्यायते । गौरवस्यास्य प्राप्तये किं कारणमन्यत् स्यादृते वेदाभिधानशब्दराशेस्सम्बन्धात् ।

वेदस्तु महान् निधिर्देशस्य । भारतमातुः प्राणाःखलु वेदाः याञ्च धर्मस्नुहीं परिकल्प्य प्रासादं निरमासत चिरन्तनाः । तस्या धर्मस्नुह्यास्तत्त्वं यथावदवबोधयितुं मूलमितरनिरपेक्षञ्च प्रामाणं वेदाः । वेदप्रामाण्यस्वीकार आस्तिकदार्शनिकानां समेषां सिद्धान्त एकरूप एव, न तत्र न्यूनाधिक-भावमुपलभामहे । प्रामाण्यस्वीकारप्रकारस्तु कामं भिन्नो भवेत् । प्रकारभेदमात्रेण वस्तुनस्स्वरूपं न भिद्यते । ईश्वरोक्तत्वेनेश्वरप्रणीतत्वेन, भगवदुच्छ्वासनिश्वासरूपत्वेन, कृतकेतरवचनत्वेन वा वेदानां प्रामाण्यमङ्गीकुर्वन्तो दार्शनिका वेदप्रामाण्यविषये एकरूपा एव । तस्य तस्य दार्शनिकस्य नियतः कश्चन मनोहरः पन्था भवति, येन च गच्छन् स स्खलद्गतिर्न भवति । स्वस्वदर्शनस्य कृते चिरन्तना मसृणं-पन्थानं प्रवर्तयाम्बभूवुः, तत्र स्खलनस्य क्वावसरः ? किन्तु मार्गे परैः प्रक्षिप्यमाणान् कण्टकान् प्रस्तरखण्डांश्च युक्तिभिस्तर्कैश्च दूरीकुर्वन्तोऽग्रे गच्छन्त्येव । केनचन दार्शनिकेन कस्यचन दार्शनिकस्य मतं खण्डितमिति खण्डयितुर्मतं स दार्शनिकः स्वीकृत्य गच्छतीति नाद्यावधि क्वापि दर्शने वयमनुभवामः । खण्डयिता खण्ड्यश्च स्वस्वस्थान एव वर्तेते, स्वस्वमार्गे गच्छन्तावेवाऽनुभूयेते ।

एक आस्तिकदार्शनिकोऽपरमास्तिकदार्शनिकम् 'त्वमवैदिको वेदबाह्यः' इति पर्यनुयुञ्ज्याद् यदि, तर्हि न कदापीमं पर्यनुयोगं स स्वीकुर्यात् । अतो दार्शनिका भिन्नभिन्नमार्गगामिनोऽपि वेदसूत्रेणैकेन प्रबद्धाः स्वानि कार्याणि साधयन्ति ।

एतावांस्तु तत्र विशेषः परिकल्पयितुं शक्यते यत् केचन दार्शनिका वेदैस्सह साक्षात् सम्बद्धाः, अपरे चारात्सम्बद्धाः। विभिन्नमार्गैः स्वच्छन्दरूपेण गम्भीरं प्रवहन्त्यो महानद्यः स्वस्वमार्गपतिता उपनदीरादाय सागरेण पत्या मिलता अन्ते एकीभवन्ति यथा, तथैव तैस्तैर्दार्शनिकधुरन्धरैः प्रकल्पिता विचारधारा अन्ते वेदसागरमवाप्यैकीभवन्ति। सर्वदर्शनानामुद्गमस्थानं यथा वेदः, तथैव स लयस्थानमपि। अथवा समेषां दर्शनानां समन्वयालयो वेद इत्यप्यभिधाने न कश्चन दोषः। एवमनल्पानां पुराणेतिहास-स्मृतिधर्मशास्त्रादीनां मूलं वेदः।

मूलमिदं परिरक्षितुं महर्षयो राजगृहस्य दुर्गाणीव षडङ्गानि व्याकरणादीनि प्राणैषुः। तत्र शिक्षाया अङ्गत्वं कीदृशम्? कथं सा वेदानामुपकारिकेति विमृशामः। 'शिक्ष विद्योपादाने' इति शिक्षतिधातोर्निष्पन्नश्शिक्षाशब्दः। वेदविद्याया उपादानं ग्रहणं प्राप्तिरिति यावत्। प्राप्तिश्चास्या गुरुमुखादेव, नान्येनोपायेनेत्यध्ययनविधिर्ब्रूते। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति विधिः स्वकुलपरम्परागतशाखाया अध्ययनं विधत्ते। अर्थादध्ययनेन गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणेन स्वशाखासमवाप्तव्येति। उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंकृतिरूपेषु चतुर्विधेषु कर्मस्विदमध्ययनमाप्तिसंस्कारकर्मेति शास्त्रविदः। संस्कारकर्मणामेष नियमो यत् संस्कृतस्य पदार्थस्य भूते भाविनि वोपयोगो भवेदिति।

गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणविधया संस्कृतस्यास्य शब्दराशेः क्व वोपयोगो भवेत्? यदीदं वाक्यं किञ्चित् प्रकरणमारभ्य पठितं भवेत्, तर्हि प्रकरणसम्बन्ध्यपूर्वसाधकत्वेनोपयोगो भवेत्। न चैतदस्ति, अस्यानारभ्याधीतत्वात्। अतः कथमाप्तिसंकारकर्मेति भवत्याशङ्का? अस्याश्शङ्काया इदमुत्तरं भवति यदग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिक्रतवो ज्ञानवन्तं पुरुषं त्रैवर्णिकमधिकारिणमपेक्षन्ते, उपनीताधिकारत्वादध्ययनस्य। उपनीताश्च त्रैवर्णिका एव भवन्ति, न चतुर्थ इति शूद्रस्यानधिकारः सिध्यति। तेन त्रैवर्णिकानामधिकारिणां विशेषणत्वेनाध्ययनविधिसिद्धा विद्या स्वीकर्तव्या। एवञ्चाध्ययनविधेरनारभ्याधीतत्वेऽपि नियमविधित्वं सिद्धं भवति—अध्ययनविधिसिद्धज्ञानवानेवोक्तरक्रतुष्वधिकरोति, नान्य इति। एवञ्चाध्ययनेनावाप्तस्य संस्कृतस्य वा स्वाध्यायस्य स्वतोऽपुरुषार्थत्वात् फलाकांक्षायामधीतवेदजन्यधर्मावबोधस्य दृष्टस्य स्वर्गादिसाधनतया फलत्वात्, तमेव प्रयोजनवदर्थावबोधापरनामधेयमधीतस्वाध्यायः फलत्वेन गृह्णाति। तथाचाधीतेन स्वाध्यायेनार्थावबोधं भावयेदिति वाक्यार्थः पर्यवसन्नो भवति।

अस्मिन् प्रसङ्गे किञ्चिद् वक्तुमिच्छामि—बटोरध्ययनारम्भे स्वाध्यायाध्ययनविधिरर्थावबोधायाध्ययनं विधातुं न क्षमते, अर्थावबोधरूपफलेच्छायास्तस्यां दशायां बटोरभावात्। पितृगुरुप्रेरणयैव स कथञ्चित् प्रवर्तनीयो भवति। यदा हि स बटुः कालान्तरे गृहीतपदपदार्थसंगतिको भविष्यति, तस्यार्थावबोधः स्वत एव सिद्धयति। यद्यध्ययनविधिरर्थावबोधान्त एव स्यात् तर्हि कृत्स्नायाः स्वशाखाया अध्ययनं न स्यात्, ब्राह्मणस्य राजसूयप्रकरणाध्ययनेन तदर्थज्ञानम्, राजन्यस्य बृहस्पतिसवप्रकरणाध्ययनेन तदर्थज्ञानम्, वैश्यस्य राजसूयबृहस्पतिसवप्रकरणाध्ययनेन तदर्थज्ञानञ्च व्यर्थं स्यात्। अर्थज्ञानं तु सामर्थ्येन तत्तत्कर्मानुष्ठानाङ्गं स्वीकृतं शास्त्रविद्भिः। तेषां कर्मणामनुष्ठानप्रसङ्ग एव नोदेति यदा, तदा तत्तदध्ययनस्य किं प्रयोजनं स्यात्? अतो **'विधिस्सर्वांशे प्रवर्तते, निषेधस्त्ववयवेऽपि प्रवर्तते'** इति न्यायस्यानुसर्तव्यत्वेनाध्ययनविधेरर्थावबोधान्तत्वं त्यक्तव्यं भवेत्। न चेदमनुचितम्। अत एवाध्ययनविधिरक्षरानुपूर्व्यवधारणरूपग्रहणार्थं इति स्वीकर्तव्यम्।

अयमर्थः—ऋग्भाष्यभूमिकायां सायणाचार्योद्धृतैः पुरुषार्थानुशासनसूत्रैः **'बोधान्तत्वेऽध्ययनात्कात्स्न्यर्म्'** इत्यादिभिस्सिद्धो भवति। तथा—**'ब्राह्मणेन निष्कारणो वेदः षडङ्गोऽध्येयो ज्ञेयश्च'**[1] इति महाभाष्यप्रदर्शितश्रुतिद्वाराप्यध्ययनं वर्णानुपूर्व्यवधारणरूपग्रहणार्थमिति सिध्यति। अध्ययनस्य बोधान्तत्वे 'ज्ञेयश्च' इति विधेरानर्थक्यापत्तेः।

किञ्च, स्मृतिपादस्य कल्पसूत्राधिकरणे कल्पानां सूत्राणां षडङ्गानां मन्वादिस्मृतीनाञ्चापौरुषेयत्वम्, अथवा पौरुषेयत्वमिति सन्दिह्य **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयं षडङ्गमेके', 'यदृचोऽधीते'** इत्युपक्रम्य **'पुराणानि-कल्पान्'** इत्यादिप्रमाणैरमीषामध्ययनविधिदर्शनात्, नित्यत्वमपौरुषेयत्वञ्च पूर्वपक्षितम्। अनेन पूर्वपक्षन्यायेन षडङ्गानामप्यध्ययनेन गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणेन कल्पसूत्राणां षडङ्गानाञ्च वेदवदाप्तिसंस्कारः क्रियते स्मेत्यवगम्यते। तथैवाद्यतनेऽपि वैदिकसमाजे तादृशा वैदिका उपलभ्यन्ते, ये च वाचोविधेयतया षडङ्गानि कल्पसूत्राणि च परिरक्षन्ति। अतश्च यथा हि वेदाध्ययनमाप्तिसंस्कारकर्म, तथैव षडङ्गाद्यध्ययनमपि तादृशं कर्मेति सिध्यति। पूर्वपक्षिणोऽयं न्याय इति न तत्र हेयदृष्टिर्भवितुमर्हति, तथाविधाध्ययनस्याधुनापि दृश्यमानत्वात्। वेदाध्ययनस्यार्थ-ज्ञानफलकत्वमनन्तरकालिकम्, अक्षरानुपूर्वीग्रहणं तु प्राथमिकम्। असञ्जातविरोधित्वन्यायेन तदेव फलं प्रथम-मेष्टव्यम्। वेदानां पदपदार्थावबोधमात्रेणार्थज्ञानं न सम्पादितं भवेत्, किन्तु वाक्यार्थज्ञानसम्पादनेनैव फलं सिद्धमिति परिगण्यते। तच्च गुरुकुलवासपूर्वकं मीमांसाध्ययनजन्यम्। ततः पूर्वमक्षरानुपूर्व्येव धारणमावश्यकम्। केवलं वेदवाक्यार्थज्ञानवान् मीमांसको वा वैयाकरणो वा वेदाध्यायीति न परिगण्यते। अक्षरानुपूर्व्यवधारणसमय एव शिक्षाया भवत्यावश्यकता।

तैत्तिरीयोपनिषदि **'अथ शीक्षां व्याख्यास्यामः** इत्युपक्रम्य **'वर्णः स्वरः मात्रा बलं साम सन्तानः इत्युक्तः शिक्षाध्यायः'** इत्युपसंहृतम्। इमां श्रुतिमवलम्ब्यैव शिक्षाग्रन्थान् चिरन्तनाः प्रवर्तयाम्बभूवुः। 'शिक्ष' विद्योपादाने धातोः शिक्षाशब्दः—शिक्ष्यन्ते वेदनीयत्वेनोपदिश्यन्ते स्वरादयो यत्र सा शिक्षा, तद्वाचकः। शिक्षैव शीक्षा भवति। तत्र निरूपणीयाः पदर्थाः षट्—अकारादयो वर्णाः, उदात्तादयस्स्वराः, ह्रस्वदीर्घप्लुता मात्राः, स्पृष्टेषत्स्पृष्टादयः प्रयत्ना बलम्, अतिद्रुतत्वमतिविलम्बितत्वं परिहृत्य यथोपदेशमुच्चारणं साम, पूर्वस्योत्तरेण सन्धानं संतानः संहिता। एवंप्रकारेण शिक्षारूपोऽध्यायोऽध्येतव्यः, गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणविधया प्राप्तव्य इति श्रुतेरर्थः।

अध्ययनस्य पठनस्य च भूयान् भेदः। वेदं पठति, वेदमधीते इत्यनयोर्व्यवहारयोरर्थेऽस्ति पार्थक्यम्। अध्ययनं तु गुरुमुखोच्चारणरूपम्, पठनं त्वेवं न भवति। एवञ्च वेदवत् षडङ्गानामप्यध्येयत्वे कथं वेदोऽवाप्तव्य इत्याकांक्षायां शिक्षाग्रन्था इतिकर्तव्यताकांक्षां पूरयन्ति।

तत्रानेकहायनेभ्यः पूर्वं काशिकराजकीयविद्यालयाध्यापकेन पण्डितश्रीयुगलकिशोरव्यासेन डॉ० ग्रिफिथमहोदयप्रेरितेन शिक्षासङ्ग्रहः कश्चन प्रकाशितः। यस्मिंश्च माध्यन्दिनशाखासम्बन्धिन्य एकविंशतिशिक्षाः, ऋग्वेदसम्बन्धिन्येका, नारदगोतमलोमशशिक्षास्तिस्रः सामशाखासम्बन्धिन्यः, अथर्वशाखासम्बन्धिन्येका माण्डूक-शिक्षा च विद्यन्ते। इमा याज्ञवल्क्यवसिष्ठ-कात्यायन-पराशर-पाणिनिप्रभृतिभिः प्रवर्तिताः। काश्चन चिरन्तनैर्याज्ञिक-प्रवरैः प्रणीता उपलभ्यन्ते। सर्वलक्षणमञ्जरीकारैर्व्यासशिक्षाव्याख्यातृभिः श्रीराजाघनपाठिभिः स्वव्याख्याया-मुल्लिखिताः शिक्षा बह्वयः—

प्रथमा व्यासशिक्षा च लक्ष्मीशिक्षा द्वितीयिका। भारद्वाजी तृतीया च शिक्षारण्या तुरीयिका॥
पञ्चमी शम्भुशिक्षा च षष्ठी चापिशली तथा। सप्तमी पाणिनेश्शिक्षा चाष्टमी कौशली तथा॥
वासिष्ठी नवमी चैवं नव शिक्षाः प्रकीर्तिताः। यो जानाति भरद्वाजशिक्षामर्थसमन्विताम्॥
स ब्रह्मस्थानमाप्नोति गृहमेधी गृहं यथा॥ इति।

कौण्डिन्यशिक्षापि काचनोपलभ्यते लध्वी। अमीषां शिक्षाग्रन्थानां विलोकनेन ज्ञायते यत्तस्य तस्य वेदस्य बह्वयः शाखा इति। तत्तच्छाखाया अध्ययनावसर एवाचार्याः स्वस्वशिष्येभ्यः शिक्षाग्रन्थविषयान् बोधयन्तो

लक्ष्येषु प्रदर्शयन्तश्च वेदेन सह गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणविधया शिक्षाग्रन्थानपि ग्राहयामासुः। तेऽपि शिष्याः स्वस्वशिष्यान्। एवं गच्छति बहुतिथे काले शिष्याणां स्मरणशक्तेर्न्यूनतामनुभवन्तस्तात्कालिकसाधनसामग्रीरादाय शिक्षाग्रन्थविषयान् लिपिबद्धानकुर्वन्। एकामेव शाखामाश्रित्य यत्र नानाशिक्षा विरचिता विलोक्यन्ते, तत्रान्येनोत्सृष्टं गुरुपारम्पर्येण प्राप्तमेव विषयमपरो लिखतीति मुद्रितशिक्षासङ्ग्रहादवगच्छामः।

अत्रैवमनुशीलनं भवितुमर्हति—रामायणमहाभारताद्यवलम्ब्य संख्यातीतानि काव्यानि नाटकानि च यथा कवयो निबबन्धुः, न तथा शिक्षाकारा ग्रन्थान् प्राणैषुः। यद्येवं तर्हि एकस्याः कस्याश्चन शाखाया अध्ययनेऽध्यापने च वैचित्र्योपलम्भस्य स्यादवसरः। न चैतदस्ति। आ च हिमवतः, आ च कुमारिकायाः समानरूपत्वमेवाध्ययनस्याध्यापनस्य च निर्दिष्टशाखाया अनुभवामः। काव्येषु च तत्तत्कवेः प्रतिभावैचित्र्येण कथावस्तुनो विचित्रतामनुभवामः। अत्र च प्रतिभावैचित्र्यस्य प्रसङ्ग एव नोदेति। परम्पराप्राप्तस्य परिरक्षणं विहाय नान्यत्किमप्युद्देश्यं शिक्षाग्रन्थानाम्।

वेदानां रक्षणं शब्दतोऽर्थतश्च। शब्दतो रक्षणाय व्याकरणं शिक्षा छन्दश्चेति त्रीण्यङ्गानि, निरुक्तं ज्योतिषं कल्पश्चेति त्रीणि वेदार्थसंरक्षणायेति विभागः प्राचीनैराश्रितः। व्याकरणञ्च शिक्षाया मूलं सदपि लौकिकवैदिकसाधारणम्। शिक्षा तु वेदस्य शब्दराशेः परिरक्षणाय प्रवृत्ता। तत्र देशभेदेन तेषु तेष्वाचारेषु व्यवस्थितेष्वपि प्रामाण्यबुद्धिस्तुल्यैवेति यथा होलाकाधिकरणे व्यवस्थापितम्, तथैव शाखाभेदेन शिक्षाग्रन्थेषु भिन्नेष्वपि सर्वत्र प्रामाण्यबुद्धिरविकलैव।

एकां तैत्तिरीयशाखामाश्रित्य शिक्षायास्तत्र कीदृशोपकारजनकतेति दर्शयामः। व्यासशिक्षां तैत्तिरीयशाखिनस्स्वीकुर्वन्ति। यथा शिक्षाग्रन्थस्तथा प्रतिशाखं प्रातिशाख्यमपि पूर्वजैर्विरचितमुपलभ्यते। शिक्षाग्रन्थस्साधारणः, प्रातिशाख्यं त्वसाधारणम्। द्विविधयोरपि ग्रन्थयोर्विषयस्तु समान एव। किन्तु प्रकृतिपाठव्यवस्थायै प्रातिशाख्यम्। संहितापाठः पदपाठः क्रमपाठश्चेति त्रयः प्रकृतिपाठाः, जटाघनादिपाठा विकृतिपाठा इति स्थितिः। संहितान्तर्गतानि पदानि विभज्य यदा पाठः क्रियते, तदा स पदपाठ इति, **'अग्ने यं यं यज्ञं यज्ञमध्वरम् अध्वरं विश्वतः'** इत्यानुलोम्येन प्रथमं द्वितीयेन, द्वितीयं तृतीयेनेत्येवंविधया पाठः क्रमपाठ इति वैदिकानां मार्गः।

प्रातिशाख्यं त्रिविधमपि प्रकृतिपाठं व्यवस्थापयितुं प्रवृत्तम्। शिक्षा तु विकृतिपाठनियामिका। विकृतिपाठे पदानामानुलोम्येन प्रातिलोम्येन च पाठः कर्तव्यो भवति—**'अग्ने यं यमग्न अग्ने यं यं यज्ञम्, यज्ञमध्वरमध्वरं विश्वतो विश्वतोऽध्वरमध्वरं विश्वतः'** इत्येवं पदानामनुलोमविलोमौ भवतः। अत्र विकृतिपाठावसरे पदसन्धिस्वरसन्धिद्वित्वणत्वयत्वादिनियामकतया शिक्षाग्रन्थः प्रवर्तित इत्येकेनापरस्य न गतार्थता भवति। क्रमपाठपर्यन्तं समग्रायाश्शाखाया गुरुमुखोच्चारणानूचारणविधयैवाध्ययनं भवति। विकृतिपाठस्य तु गुरुणा सह शिष्याणां पाठः। तत्र सन्धिणत्वयत्वादिस्थलेषु शिष्याणां स्खलने सति गुरुस्तद्दूरीकरोति। एवं प्रतिपदं प्रतिवर्णं प्रतिस्वरं प्रतिपात्रं च रक्षितुं जागरूका यथा भवेयुरध्यापका अध्येतारश्च, तथा शिक्षा नियमानुपदिशति। अत एवोक्तम्—

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः। स्वरमात्रविभागज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम्॥
ध्वनिः स्थानञ्च करणं प्रयत्नः कालता स्वरः। देवताजातिरेतैश्च वर्णा ज्ञेया विचक्षणैः॥ इति।

तत्र व्यासशिक्षायां षट्षष्टिसंख्याकान् वर्णान् प्रविभज्य तेषु प्लुतवर्णान् विसर्गमोङ्कारं जिह्वामूलीयोपध्मानीयौ शुद्धानुस्वारं गकारसंयुक्तानुस्वारं चतस्रस्स्वरभक्तीः रङ्गौ चतुरो यमांश्च विहायावशिष्टान् अष्टा-

चत्वारिंशद्वर्णान् पञ्चसु राशिषु परिगणय्य तत्रैकैकस्य वर्णस्य देवता विहिताः—**'अनिलाग्निमहीन्द्वर्काः पञ्चानां त्वधिदेवताः'** इति। वायुदेवताकाः—अ आ ए क च ट त प य षाः, अग्निदेवताकाः—इ ई ऐ ख छ ठ थ फ र साः, भूदेवताकाः—उ ऊ ओ ग ज ड द ब ल ह्राः, चन्द्रदेवताकाः—ऋ ॠ औ घ झ ढ ध भ व ळाः, सूर्यदेवताकाः-ऌ ङ ञ ण न म क्ष शाः। तदस्य विधायकं व्याससूत्रम्—**'अदादेत्प्रथमयषाः, ऌनासिक्यक्षशोत्तराः'** इति। अत्र प्रथमपादेन प्रथमो राशिः, द्वितीयपादेन पञ्चमो राशिश्च प्रदर्शितः। ऌनासिक्यक्षशा उत्तरा येभ्यस्त इति यच्छब्देन मध्यमास्त्रयो राशयः सिध्यन्ति।

एवम्—

ब्रह्मजातिर्भवेदुच्चः क्षत्रजातिस्तु नीचकः। वैश्यजातिर्भवेत् स्वारः शूद्रस्तु प्रचयः स्मृतः॥

इति व्यासाचार्यः।

उदात्तानुदात्तस्वरितप्रचयानां जातीः प्रदर्श्य सर्वेषां स्वरवर्णानां वर्गप्रथमद्वितीयवर्णानां ब्रह्मजातित्वम्, वर्गतृतीयचतुर्थवर्णानां क्षत्रजातित्वम्, वर्गोत्तमानामन्तस्थानाञ्च वैश्यजातित्वम्, अनुस्वारविसर्गोष्मणामवरजातित्वञ्च व्यवस्थापयति। तत्तद्वर्णानां या या जातिर्निश्चिता, तस्या उच्चारणावसरे यदि व्यतिक्रमो भवेत्, तर्हि तज्जातिसंहारकत्वदोषः व्यतिक्रमाभावे तत्तज्जातिपरिरक्षणञ्च भवतीति शिक्षाकार उपदिशति—

यदन्यजातिरुच्येत तत्तत्संहारको भवेत्। यज्जात्युच्चारणे तेषां तज्जातिपरिरक्षणम्॥[१] इति।

व्यासशिक्षोक्तनियमानुसारेण 'अग्नि' इति पदस्य संरक्षणं वैदिकाः कथं कुर्वन्तीति प्रदर्शयितुमिच्छामि—

'स्वरपूर्वं इयाद् द्वित्वं व्यञ्जनं व्यञ्जनोत्तरे'[२]

इति विध्यनुसारेण 'अग्निः' अकारोत्तरगकारस्य द्वित्वे जाते 'अग्ग्निः' इति निष्पद्यते। उत्तमपरादनुत्तमात् स्पर्शाद्यमो भवतीति नियमेन तृतीययमो गकारः। तथा च 'अग्ग्ग्निः' इति निष्पन्नम्। अग्निशब्दस्यान्तोदात्तत्वात् प्रथमोऽनुदात्तः। 'अग्ग्ग्निः' इति स्वरयुक्तं पदं सम्पन्नम्। अस्य व्यासशिक्षोक्तक्रमेणेदं स्वरूपं भवति—शुद्धवर्णक्रमः, स्वरवर्णक्रमः, मात्रावर्णक्रमः, अङ्गवर्णक्रमः, वर्णसारक्रमश्चेति पञ्चसु क्रमेषु पञ्चमप्रकारे प्रदर्शितेऽवशिष्टक्रमाणां स्वरूपं स्वयं ज्ञातं भवतीति पञ्चमक्रम एव प्रदर्श्यते।

संवृतकण्ठोत्थित-संवाराख्यबाह्यप्रयत्नसहित-नादध्वनिजनित-नात्युपसंहृत-हनुस्थान-तथाभूतौष्ठकरण-संवृतप्रयत्नैकमात्रिक-अग्निदेवताक-क्षत्रियजातितमोगुणसहित-कनिष्ठिकाङ्गुल्याद्यरेखा-न्यासयोग्य-शरीरह्रासैधित-गलबिलविनिस्सृतमृदुध्वनिक-वृषभरुततुल्य-ऋषभस्वरहेतुभूत-हृदयस्थानोत्पन्नह्रस्वानुदात्तस्वरगुणक-वायुदेवताकब्राह्मणजात्यकार-अर्धमात्रिकविराम-संवृत-कण्ठोत्थितसंवारघोषाल्पप्राणाख्यबाह्यप्रयत्नसहित-नादध्वनिजनित-हनुमूलस्थान-जिह्वामूलकरण-स्पृष्टप्रयत्नद्व्यणुमात्रिक-पूर्वाङ्गभूत-भूमिदेवताक-क्षत्रियजातिकगकारद्वित्व-तादृशध्वनिजनित-संवृतनासिक-हनुमूलस्थान-जिह्वामूलकरण-स्पृष्टप्रयत्नाणुमात्रिक-पराङ्गभूततृतीययम-संवृतकण्ठोत्थित-संवारघोषाल्पप्राणाख्य-बाह्यप्रयत्नसहित-नादध्वनिजनित-विवृतनासिकोत्तरदन्त-मूलाधोभागस्थान-जिह्वाग्रकरण-स्पृष्टप्रयत्नार्धमात्रिक-पराङ्गभूत-सूर्यदेवताक-वैश्यजातिकनकार-संवृतकण्ठोत्थित-संवाराख्यबाह्यप्रयत्नसहित-नादध्वनिजनित-तालुस्थान-अत्युपसंहृतकल्पौष्ठसहित-जिह्वामध्यकरण-विवृतप्रयत्नैकमात्रिकभूमिदेवताक-ब्राह्मणजाति-सत्त्वगुणसहित-तर्जन्यङ्गुलि-मध्यरेखान्यासयोग्य-शरीरायामश्लक्ष्णीकृतगलबिलविनिस्सृत-परुषध्वनिक-अजारुततुल्य-गान्धारस्वरहेतुभूत-मूर्धस्थानोत्पन्नोदात्तस्वरगुणक अग्निदेवताक-ब्राह्मणजातिक-इकाराणुमात्रिकविराम-विवृतकण्ठोत्थित-विवाराघोष-महाप्राणाख्य-बाह्यप्रयत्नविशिष्टश्वासध्वनिजनित-कण्ठोपरिभाग-

१. व्यासशिक्षा—४९९-५००। २. व्यासशिक्षा—३३७।

स्थान–तदधोभागकरण–विवृतप्रयत्नार्धमात्रिक–पूर्वाङ्गभूत–सूर्यदेवताक–शूद्रजातिक–विसर्जनीयद्विमात्रिक-विरामा इति 'अग्निः' ।

प्रतिपदमेवं वैदिकानां रक्षणप्रकारः । सर्वस्यास्य नियमा मत्सम्पादितायां व्यासशिक्षायां स्पष्टं निर्दिष्टाः । अधुनापि जीवन्ति कतिपये वैदिका निर्दिष्टक्रमेण वेदसंरक्षकाः । इमे चात्र शिक्षाश्लोकाः—

व्याघ्री यथा हरेत् पुत्रं दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत् । भीता पतनभेदाभ्यां तद्वद्वर्णान् प्रयोजयेत् ॥
नातिव्यक्तं न चाव्यक्तमेवं वर्णानुदीरयेत् । पयः पूर्णमिवामत्रं हरन् धीरो यथामति ॥
सुव्यक्तस्सुस्वरो धैर्यं तच्चित्तत्वं चतुर्गुणाः । एतद्युक्तः पठेद् वेदं स वेदफलमश्नुते ॥
ध्वनिः स्थानञ्च करणं प्रयत्नः कालता स्वरः । देवता जातिरेतैश्च वर्णा ज्ञेया विचक्षणैः ॥
संहिताञ्च पदञ्चापि क्रमञ्चैव जटां पठन् । लक्षणज्ञस्तदाप्नोति ब्रह्मज्ञानं हि शाश्वतम् ॥ इति ।

अत्रायं निष्कर्षः—प्रदर्शितेऽग्निपदे प्रायो वाय्वादयो देवताः, चतस्रश्च जातयो मिलिता इति निर्दिष्ट-विधयावगतमस्माभिः । विभिन्ना अपीमा जातयो देवताश्च संहत्यैकमर्थमवबोधयन्तीत्यपि नाप्रत्यक्षम् । वेदगत-मेकैकं पदममुमर्थमवबोधयति । सति चैवमस्माकं राष्ट्रस्य मस्तके को वा वज्रपातो जातः ? वज्रपातजनितकष्ट-मसहमाना राष्ट्रनायका हस्तावुद्यम्योच्चैराक्रोशन्ति—'यज्जातयस्समुच्छेत्तव्याः, सङ्करविवाहाः कारयितव्याः' इति । तथा नियोक्तुं शक्यते, किन्तु—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्तिरारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा ।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥

इतीदं विचारणीयम् ।

शिक्षाकाराणां धर्मग्रन्थप्रणेतॄणाञ्च वचनानुसारेण सर्वा अपि जातयो यथाधिकारं मिलित्वा राष्ट्र-समुन्नतये यतेरन्, तर्हि कोऽयमशनेः पातो भविष्यति । निश्चितमहं ब्रवीमि—यदि नाम भारताद्वेदविद्या यस्मि-न्नेव दिने नश्येत् तस्मिन्नेव दिने वज्रपातस्सुनिश्चितः । वेदानोकहस्य मूलमेव छेत्तुं प्रयतितवन्तो लोकायतिकाः, न तेषामुद्यमस्साफल्यमवाप्नोत् । अद्य जाताः केचन यथाजाताः कथयन्ति—यत्तैत्तिरीयशाखा न वेदः, सर्वोऽपि ब्राह्मणभागो न वेदः, मन्त्रान् विरच्य केचन संहितायां योजितवन्तः, योजितानाञ्च तेषां विनियोगाय नूतनानि कर्माणि प्रवर्तितानि, प्रथमं सात्त्विकानि कर्माण्यैष्टिकान्येवासन्, अनन्तरं सौमिकान्याडम्बराणि वैदिकैः कल्पितानीति ।

तैत्तिरीयशाखाध्यायिनो भारते सर्वत्र व्याप्तास्सन्तीति न मया वक्तव्यम् । ये च स्वशाखाविहितानि स्मार्तानि जातकर्मप्रभृत्यौर्ध्वदैहिकान्तानि कर्माणि, श्रौतानि दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यज्योतिष्टोमादीनि च कर्माणि यथावन्निर्वर्तयन्तोऽद्यापि दृश्यन्ते । प्रवरोच्चारणावसरे गोत्रं सूत्रं शाखाश्चाद्युनापि निर्दिशन्ति । तत्र तत्र वङ्गदेशे, असमदेशे चाहमन्वभवं यदात्मनस्तैत्तिरीयशाखावलम्बित्वं व्यवहरतः श्रोत्रियान् । स्वस्वकुलपरम्परागतः खल्वयं व्यवहारः । महाराजदशरथस्य महिष्याः कौशल्यायाः सुमित्रायाश्च पुरोहितस्तैत्तिरीयशाखी आसीदिति महर्षि-वाल्मीकिपद्यादवगच्छामः—

कौसल्याञ्च सुमित्राञ्च भक्तः पर्युपतिष्ठति । आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित्[1] ॥ इति ।

आदिकाव्यमिदं रामायणम् । तस्य—

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे । वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना[2] ॥

१. वाल्मीकीयं रामायणम् । २. तदेव ।

इति वचनेन वेदरूपत्वम् । तत्र तैत्तिरीयशाखाया उल्लेखः, तत्रापि तैत्तिरीयाणामाचार्य इत्यभिधानेन पुरोहितस्य तस्याचार्यत्वम्—

पदक्रमविशेषज्ञो वर्णक्रमविचक्षणः । स्वरमात्राविशेषज्ञो गच्छेदाचार्यसंसदम् ॥

इति शिक्षाशास्त्रोक्तं वाल्मीकिरभिप्रैतीति गम्यते ।

अत्र 'तैत्तिरीयाणाम्' इति बहुवचनान्तं पदं विशेषेण ध्यानमर्हति । अधीततैत्तिरीयशाखानां बहूनामयमाचार्य इत्यवगम्यते । अयमप्याचार्यो गुरुमुखादधीततैत्तिरीयशाख एव स्यात् । एवं रामायणाद् बहोः कालात् पूर्वमेव भारते तैत्तिरीयशाखा प्रचारपथ आसीदिति निस्सङ्कोचं वक्तुं शक्यम् । तैत्तिरीयशाखानुसारेणापस्तम्बाचार्यो बोधायनाचार्यश्चाधानाग्निहोत्रप्रभृतिचयनान्तानां कर्मणां श्रौतसूत्राणि प्रणीतवन्तौ । व्यासाचार्येण च तैत्तिरीयशाखायाः कृते शिक्षाग्रन्थं प्रणीयास्माननुगृहीत् । तदनुसारेण कृताध्ययनाः चयनान्तकर्मानुष्ठातारश्च संख्यातीता भारतेऽवर्तन्त, वर्तन्ते चेदानीमपि ।

अस्यां परिस्थितौ विंशतितमे शतके कश्चन यथाजातः, यश्च प्रथमं पदार्थमाचमनमप्यनुष्ठातुं न जानाति, स्वगोत्रं सूत्रञ्च न परिचिनोति, स कथयति निस्सङ्कोचं लिखति च यत्तैत्तिरीयशाखा न वेदः, आपस्तम्बेन मन्त्रान्निर्माय तद्विनियोगाय कर्माणि च प्रवर्तितानीति । व्यासशिक्षाया यान्युदाहरणानि प्रत्युदाहरणानि च तानि सर्वाणि तैत्तिरीयशाखामवलम्ब्यैव सन्तीति न तिरोहितं व्यासशिक्षाध्येतॄणाम् ।

किञ्च—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् । देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ।
समानो मन्त्रः समितिस्समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्[1] ॥

इत्यादिमन्त्रो यमाशयमुपदिशति तमेव शिक्षाग्रन्थोऽप्यवद्योतयतीव ।

शिक्षासु क्वचिदागमः क्वचिद् द्वित्वं क्वचिल्लोपश्च निरूप्यते । 'त्रपु च मे' 'मिथु च मे' इत्यत्र 'त्रपुश्च मे' 'मिथुश्च मे' इति शकारागमः, 'विभु च मे' 'प्रभु च मे' इत्यत्र तदभावः, 'सुश्चन्द्र दस्म' इत्यत्र शकारागमः, 'प्र चन्द्रमाः' इत्यत्र तदभावः । एवं 'षट् सम्पद्यन्ते' 'विद्वान् सोमेन' 'प्रत्यङ् सोमः' इत्यादौ 'षट्त्ससम्पद्यन्ते' 'विद्वान्त्सोमेन' 'प्रत्यङ्क्सोमः' इत्यागमवर्णा अनेके समुपदिश्यन्ते ।, 'विश्वारासि' 'प्रावणेभिः' इत्यादौ दीर्घः । 'गर्भो अस्य' 'यमो अस्य' इत्यादौ पूर्वरूपाभावः । 'ऋक्क्च मे' 'दधिक्राव्ण्णः' इत्यादौ द्वित्वम् इत्यादीन्यनेकानि वर्णस्वरूपाणि ज्ञेयत्वेन शिक्षासूपदिश्यन्ते । उदात्तोच्चारणे देहदैर्घ्यम्, अनुदात्तोच्चारणे देहस्य सङ्कोचः, उदात्तानुदात्तयोस्समाहारः समावेशः स्वरितस्य, उदात्तश्रुतित्वं स्वरितस्येतीमे स्वरधर्मा अवबोध्यन्ते । उदात्तप्रचययोर्मुखं स्थानम्, अनुदात्तस्य हृदयम्, प्रचयस्य च शिर इति स्वराणां स्थानानि । 'प्रजापतिः' इत्यत्र चत्वारोऽपि स्वरा वर्णाश्च स्वस्वजातिदेवताभिस्सह मिलिता अस्मानुपदिशन्ति-भवन्तोऽप्येवमेव मिलिता राष्ट्रस्य कार्याणि साधयन्त्विति । अनुदात्तस्वरः क्वचन विक्रमसंज्ञां लभते । द्वयोरुदात्तयोर्द्वयोः स्वरितयोः, उदात्तस्वरितयोः, स्वरितोदात्तयोः, प्रचयस्वरितयोर्मध्ये योऽनुदात्तः स विक्रम इत्युच्यते । स्वरितस्वरः—अभिनिहतः क्षैप्रः, प्रश्लिष्टो नित्यश्चेति विभक्तः । एतज्ज्ञानं छात्राध्यापकयोरध्ययनावसर आवश्यकम् । एवम्—

हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम् । ऋग्यजुस्सामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते ॥ इति ।

फलश्रुत्या सामवेदे यथा हस्तस्वरस्तथा ऋग्यजुर्वेदयोरप्यस्तीति ज्ञायते । वर्णानामुच्चारणे कालनिर्णयोऽपि वर्णितः शिक्षासु । वन्यकाकेनोक्तः काल एकमात्रः, वायसोक्तो द्विमात्रः, मयूरोक्तस्त्रिमात्र इति मात्रा-

१. ऋग्वेदः—१०।१९१।२–३ ।

कालास्त्रयः। मात्रायाश्चतुर्थो भागोऽणुः, अर्धमात्रस्तु व्यक्तमात्रः कालः। प्रतिवर्णं कालमवगत्य तदुच्चारणेन फलविशेषोऽपि शिक्षायां प्रतिपादितः। वर्णोच्चारणावसरे च न हि उ वा स्म ह ईम् वै नु इत्येतेषां पूर्वपदेन यदि संहिता तर्हि पूर्वतो विश्रामो न कर्तव्य इति नियमः। एवं पूर्वोक्तवर्णानामङ्गाङ्गिभावोऽपि विशेषेण शिक्षाकारा उपदिशन्ति। अङ्गाङ्गिभावोऽयमस्मभ्यमुपदिशति—यल्लोकेऽपि सम्भूयैकं कार्यं राष्ट्रसमुन्नतिरूपं कर्तुमुद्यता जनाः मिथोऽङ्गाङ्गिभावमापन्नाः कुर्युरिति।

महर्षिर्जैमिनिरौत्पत्तिकसूत्रे **'तस्य ज्ञानमुपदेशः'** इति कथयन् उपदेशपदेन विशिष्टमुच्चारणमभिप्रैति। उच्चारणे वैशिष्ट्यञ्च नियतस्वरवर्णक्रमादिनियमाधीनम्। एतादृशमुच्चारणमनु शिष्याणामुच्चारणं यत्तदेव वेदाध्ययनम्। अत एतादृशोच्चारणव्यापारे शिक्षाग्रन्था महान्तमुपकारं जनयन्तो वेदाङ्गत्वेन परिगण्यन्ते।

एवं भगवतश्शासकस्य वेदपुरुषस्य संरक्षणाय शिक्षादिरूपेषु दुर्गेषु विद्यमानेष्वपि राजानं ग्रहीतुं चेष्टन्ते सम्प्रत्यपि बहवः। एतेषां यत्नेन न कापि हानिर्भविता श्रुतेर्मातुः। अस्माकं यत्नश्चेच्छिथिलस्तर्हि अध्येतॄणामभावेन नष्टाश्शाखा इवावशिष्टा अपि शाखा विलयं गच्छेयुरिति महती भीतिः। भीतेरस्या अपाकरणाय संस्कृतविश्वविद्यालयेन विशेषेण ध्यानं देयम्। यो व्यतिक्रमस्सम्प्रति वेदाध्ययने परिलक्ष्यते स विश्वविद्यालयेन दूरीकर्तव्यः। तदर्थं योग्या आचार्या नियोक्तव्याः, पूर्वोक्तनियतवेदाध्ययनपरिपाटी परिचालनीया। वेदाध्येतारः छात्रा यथा परीक्षापिशाचिकया ग्रस्ता न भवेयुः, तथाविधो मार्गः आविष्कर्त्तव्यः। अत्र विशेषेण कुलपतिमहोदया दृष्टिं निक्षिपेयुरिति विश्वसिमि।

वेदविषये पाश्चात्त्यकृतविमर्शसमीक्षा

पूज्यतमाः कुलपतयः, सभासदः पण्डितपुङ्गवाः, प्रेयांसश्छात्राश्च ! अद्य वेदविषये पाश्चात्त्यैः कृतं विमर्शमवलम्ब्य तत्समीक्षात्मकं किञ्चिदिव प्रस्तोतुमभिलषामि।

वेदस्तु न केवलं भारतवर्षस्य, किन्तु विश्वस्य जगतो महानिधिः, निखिलविद्यास्थानानामुद्गमस्थानम्, अक्षय्यसुकृतावाप्तये परमं साधनम्, दुःखत्रयदलनाय महाहेतिः, सांसारिकरोगापनुत्तये निरुपममौषधम्, सामाजिकव्यवस्थाया मार्गदर्शी, सच्चारित्र्यस्य शिक्षायाश्च गुरुरिव ग्राहकः, कुमार्गगामिनां मानवानामुपदेशक इव सन्मार्गप्रवर्तकः, भूवलयस्यायं कल्पतरुः। पवित्रमिमं शब्दराशिं मूलमाश्रित्य प्रवृत्तस्सर्वोऽपि संस्कृतवाङ्मयनिवहः। अनेन समुपदिष्टैव सरणिस्सकलजनहितसाधिका। अस्मा एव स्पृहयन्ति निखिला अपि शिक्षाशास्त्रिणः। खनेर्विविधानि रत्नानीवास्मादेव तत्त्वान्युद्धृत्य दार्शनिकाः पौराणिका अन्ये च समाजपरिष्कर्त्तार आपस्तम्बादयः प्रकाशयाञ्चक्रुः। अस्यैव साहाय्येन सर्वं भारतवर्षं सकललोकस्पृहणीयमनितरसाधारणञ्च गौरवमद्याप्याबिभर्ति। अस्मिन्नेवास्माकं भारतमातुश्च प्राणा निहिता वर्तन्ते। नैकरूपाणामपि भारतीयानामेकरूपत्वापादने महासूत्रस्थानीयोऽयं शब्दराशिः। यथा हि वायुना सूत्रेण सर्वाणि भूतान्याबद्धानि सन्ति, तथैवानेनापि वेदात्मना सूत्रेण मिथो विरुद्धान्यपि दर्शनानि पुराणानि साम्प्रदायिकतत्त्वानि च सुदृढमाबद्धानि। एक एवात्मा सर्वभूतात्मा, एक एव देवोऽग्निमित्रवरुणेन्द्रादिनानारूपाणि धत्ते, तथैवायं शब्दराशिर्विविधविद्यास्थानानां रूपाण्याधत्ते। यथा रत्नाकरस्य वीचयो रत्नाकरादनन्यत्वं भजन्ते, तथैवास्मात् समुद्भूतानि शास्त्रजालानि। बहुरूपास्स्यन्दमाना नद्यः समुद्रराजेनैकरूपतामापद्यन्ते, तथैव नानारूपाण्यपि दर्शनानि वेदाख्ये शब्दराशौ निलीयैकरूपतां भजन्ते। एकं सद्वस्तु द्रष्टॄणां कल्पनाभेदेन भिन्नं प्रतिभाति, एकैव माता निरूपकभेदेन भिन्नानि नामानि रूपाणि च परिगृह्णाति, तथैव जननी श्रुतिरपि।

वेदविषये भारतीयानां संख्यावतां दृष्टिरन्यादृशी, विदेशीयानां तदनुयायिनाञ्च भारतीयानां दृष्टिरन्यादृशी। मिथो विरुद्धे इमे दृष्टी भवतः। एका चाकृत्रिमत्वदृष्टिरपरा च कृत्रिमत्वदृष्टिः। एकत्रानुपहसनीयत्वम्, अपरत्र चोपहसनीयत्वम्। क्वचिदर्था अपि शब्दाननुधावन्तीति भारतीया मन्यन्ते, शब्दा एव सर्वत्रार्थाननुधावन्तीत्यपरे। अलौकिकार्थविदकत्वं वेदस्येति भारतीयाः, लौकिकार्थविदकत्वमेव वेदस्येत्यन्ये।

शब्दार्थयोर्नियतो नित्यश्च सम्बन्ध इत्येके, सोऽनियतोऽनित्यश्चेत्यपरे। मन्त्रद्रष्टृत्वं महर्षिषु पश्यन्ति भारतीयाः, कर्तृत्वञ्च निर्द्धारयन्ति तदितरे। एवं दृष्टिभेदे मतभेदे च मुख्यं कारणं यद्भारतीयानां स्वीयत्वबुद्धिर्वेदसन्दर्भे, पाश्चात्त्यानां तु परकीयत्वबुद्धिः। यादृशोऽभिनिवेशः, यादृशी च श्रद्धा भारतीयानां वेदसन्दर्भे, न च तादृशी श्रद्धा देशान्तरीयाणां भवति। साम्प्रतिकी परिस्थितिस्त्यज्यतां प्राचीनभारते स्वाध्यायाध्ययनं नियतकर्तव्येष्वनन्यतममासीद् द्विजानाम्। स्वाध्यायाध्ययनव्यापारात् प्रच्युतिर्महते दोषाय प्राक् पर्यगण्यत। सहस्रशः शतकानि वत्सराणां स्वाध्यायाध्ययनतन्तुमविच्छिन्नं परिरक्षन्तः पूर्वजा यापयाम्बभूवुः। नित्यनैमित्तिककर्मणां यथायथमनुष्ठानम्, मीमांसया वेदवाक्यर्थावधारणं तत्परिशीलनमित्यादीन्यनेकानि तेषां परिरक्षणसाधनानि। एतेषु यदा किञ्चिच्छैथिल्यमन्वभूयत पूर्वजैः, तदा परम्परासमागतं क्रममवलम्ब्य सूत्रलक्षणग्रन्थाः प्रणीताः।

कल्पसूत्राणां स्वरवैदिकप्रक्रियाया अन्येषाञ्च लक्षणग्रन्थानां प्रातिशाख्यप्रभृतीनां विरचनात् पूर्वमपि पूर्वोक्तस्तन्तुरविच्छिन्न एवासीदिति दृढतरैः प्रमाणैर्निरूपयितुं शक्यते। परम्परया समागतानेव नियमान्

सङ्गृहीतवन्तः प्राक्तनाः। प्रतिपद्-अष्टमी-पर्वकालः सङ्क्रान्तिरित्यादीनि दिनानि मन्त्राध्ययनेऽनध्यायाः, किन्तु तेषु कालेषु श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माण्यनुतिष्ठन्तो मन्त्रानुच्चारयन्त एवाभवन्। **'स्वाध्याये ऽनध्यायो मन्त्राणां न कर्मण्यर्थान्तिरत्वात्'** इत्यापस्तम्बसूत्रात् पूर्वं ग्रहणधारणयोरेवाध्ययनयोः प्रतिपदादयोऽनध्यायाः, न तु कर्मानुष्ठाने इति नियमं श्रोत्रिया न प्रज्ञातवन्त इति वक्तुं न शक्यम्, किन्तु याज्ञिकानामाचारं यथायथं जानन्नापस्तम्बाचार्यस्सूत्रयतीत्येष्टव्यमेव।

श्रौतकर्मणामनुष्ठाने सोमपूर्वत्वमिष्टिपूर्वत्वञ्चासीद् याज्ञिकानाम्। तदेव सूत्रयति सूत्रकारः— **'मन्त्रान्तैः कर्मादीन् सन्निपातयेत्', 'आधारे धारायाश्चादिसंयोगः, विकल्पो याज्यानुवाक्यासु'** इत्यादयो नियमाः सम्प्रदायतः प्राप्ता एव महर्षिभिर्लिखिताः। ञित्-नित्-प्रत्ययान्तानां पदानामाद्युदात्तत्वं 'ञ्नित्यादिर्नित्यम्' इति सूत्रप्रवृत्तेः पूर्वमेव छात्रानध्यापका ग्राहयन्ति स्म। स्थलविशेषेष्वनुस्वारागमः, तस्य च गकारसंयुक्तत्वम्, यथा— **'अग्नी ँ रफ्सुषदः' 'प्रत्युष्ट ँ रक्षः', 'स ँ समिद्युवसे'** इत्यादौ। व्यासशिक्षायामप्युक्तम्—

रेफभावात्तु नात्पूर्वं लुप्तान्माच्च तदुत्तरात्। नकाराद्याकृतेर्लुप्तादनुस्वारागमो भवेत्॥
अनुस्वारो यजुर्ष्वेवमध्यायेऽपि यदा भवेत्। तदा गकारसंयुक्तो न शान्तिश्शामरूपतः॥[1]

इति व्यासशिक्षातः पूर्वमेवाध्ययनाध्यापनसम्प्रदाय आसीदित्येव स्वीकर्तव्यम्।

स्वरप्रक्रिया वैदिकीप्रक्रिया लक्षणग्रन्था वा सम्प्रदायात् प्राप्तानि लक्ष्याण्यवलम्ब्यैव महर्षिभिः प्रवर्तिताः। अन्यथा **'दक्षिणाचारेण कर्तव्यम्', 'यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्'** इत्यादिस्मृत्युदयात् पूर्वं याज्ञिकाः श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माणि वामहस्तेन निवीतिनः प्राचीनावीतिनो वा समाचरन्तोऽभवन्निति शङ्काया अवसरो भवेत्। अत एवमादीनां ग्रन्थानां प्रादुर्भावात् पूर्वमपि सुदृढः कश्चन सम्प्रदाय आसीदित्यनुमानं नासङ्गतम्। न चास्य सम्प्रदायस्य जन्मपत्रिका केनापि कार्तान्तिकेन निर्मातुं शक्या। न चाद्यावधि केनापि निश्चित्येदं निरूपयितुमपार्यत यद् बीजं प्रथमम् उत वृक्ष इति। अनिदम्प्रथमताकात् कालात् प्रवृत्तानां पदार्थानां निश्चये नान्यत् किञ्चित् साधनं भवितुमर्हति ऋतेऽविच्छेदेन परिप्राप्तायाः परम्परायाः।

किञ्च, वेदाध्ययनकर्तॄणां भारतीयानां वेदग्रन्थपठितॄणामाधुनिकानाञ्च भूयान् प्रभेदः। अध्ययनं पठनञ्च नैकरूपे भवतः। गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणव्यापारेऽध्ययनपदप्रयोगः शास्त्रविदां सम्मतः, पठनपदन्तु वर्णवाचनरूपे साधारणव्यापारे प्रयुज्यते। असाधारणाध्ययनव्यापारवद्भिरेव चिरन्तनी सा परम्परा ज्ञायते, न तु केवलं पठितृभिः, नियतस्वरवर्णक्रमविशिष्टाया आनुपूर्व्या अधिगमनेऽध्ययनव्यापारः, तद्रहिताया आनुपूर्व्याः शब्दतोऽर्थतो वाधिगमने पठनव्यापारः। स्वरवैदिकव्याकरणप्रातिशाख्यलक्षणग्रन्था असाधारणेऽध्ययनव्यापार एवोपयुज्यन्ते। अथवा ते ग्रन्था एवाध्ययनस्यासाधारण्यं प्रतिपादयितुं प्रवृत्ताः।

'ञ्नित्यादिर्नित्यम्'[2] इति सूत्रोक्तो नियमोऽध्ययनव्यापार एव समन्वितो भवति, न केवलं पठनव्यापारे। नियमानां ज्ञानमन्यत्, तेषां प्रयोगात्मना परिपालनमन्यत्। परिपालयितृभिरेव सा परम्परा संरक्ष्यते, न केवलं ज्ञानवद्भिः। विदेशीयास्तदनुयायिनश्च कामं नियमज्ञानवन्तो भवेयुः। सत्यमेव ते सुपरिश्रम्य शाब्दबोधं सम्पादितवन्तः स्युः। स्वीयविमर्शदृष्ट्या वेदविषये यत्किमपि लिखितवन्तो भवेयुः, किन्तु वेदवाक्यानामर्थप्रतिपादनाय निर्णयाय वा या सामग्री निगमनिरुक्तव्याकरणमीमांसादिरावश्यिकी, तामनादृत्येव लेखनीं व्यापारयामासुः। **'अज एकपाद् देवः'** इत्यस्य **'एकपादयुक्तो मृगः'** (One footed goat) इति ग्रिफिथ्-

१. व्यासशिक्षा—२३७।
२. अष्टाध्यायी ६।१।१९७।

महोदयो ब्रूयात्। नूतनस्य पदार्थस्याविष्कारे बोधने वा क्वचित् सत्यमस्ति वैचित्र्यम्। नूनं तत्र प्रतिभायाः कौशलं परिगण्येत, किन्तु तदितराविरोधेनैव प्रतिपाद्यमानं वैचित्र्यमावहेत् कौशलं वा प्रकटयेत्। सत्यपि विरोधे तत्परिहाराय भूयांस उपायाः समुपदिष्टास्सन्ति शास्त्रेषु। तानादाय तत्र तत्र प्राप्तं विरोधं प्रशमयितुं यतन्ते दार्शनिकाः। नवीनाविष्कारे तु न विरोध परिहारोपायाः, नापि तत्प्रशमने कियानपि यत्नः। प्रत्युत विरोधमेवावलम्ब्य वेदानामितस्ततो नयनं कुर्वन्ति, तेषामुपहसनीयत्वञ्चाविष्कुर्वन्ति नवीनाः। वेदानां सन्निकृष्टकालत्वं कृत्रिमत्वञ्चेति नाद्यतनमिदम्, चिरादेवमादयशङ्काः प्रवर्तन्ते स्म, तासां परिहाराय भूयसी सामग्री एकत्रीकृता शास्त्रकारैः। तत्र च सुमहत्साफल्यमप्यवाप्नुवंस्ते।

एतेषां विचारधारासु परिशील्यमानासु स्फुटमेवं निर्णेतुं शक्यते—ऋग्यजुस्सामाथर्वभेदेन विभक्तेषु चतुर्षु वेदेषु संहिताभागानां विवरणपराणि ब्राह्मणानि सन्ति नियतानीति प्रतीयते। मन्त्रेष्वधीयमानेषु निरुक्तव्याकरणपरिष्कृतमतीनां नूनमर्थावबोधो भवेत्। किं तेन जातेनार्थावबोधेन प्रयोजनमिति जिज्ञासायां न किमपि साधूत्तरं लभ्यते। न खलु पदपदार्थावबोधेनकिं प्रयोजनमिति जिज्ञासायां न किमपि साधूत्तरं लभ्यते। न खलु पदपदार्थावबोधमात्रेण मन्त्राणां प्रयोजनं सिध्यति। न हि मन्त्रभागः कथाया आख्यायिकाया वा बोधनाय प्रवृत्तः, येन कथामाख्यायिकां वावगत्य मनः प्रसीदेत्। निरतिशयेन मननव्यापारेण खलु महर्षिभिः प्राप्ता इमे मन्त्राः। एतेषां दर्शनेन किल ते ऋषयस्समभवन्। अतस्तदनुकूलं किमपि विशिष्टं कार्यं मन्त्राणां वक्तव्यम्। तदपि तैरेवावधृतम्। तद्बोधकमेव भवति ब्राह्मणम्। मन्त्राणां यः क्रमस्तमनुधावन्ति ब्राह्मणानि, अथवा ब्राह्मणेन यः क्रमोऽवलम्बितस्तदनुसारेण मन्त्रा एकीकृता इति सन्देहे मन्त्रा एव प्रथमं रचिता अनन्तरञ्च ब्राह्मणानीति द्राक्प्रब्रूयाद्विदेशीयो विमर्शकः। तस्य च मते सृष्टेरादौ लब्धजन्मानो मानवाः पशुतुल्या आसन्, तृणानि पर्णानि च खादन्तस्तान्येव वसानाः संस्कृत्या सभ्यतया च विहीना अभवन्, क्रमेण विकसिता अभूवन्निति हि सिद्धान्तः।

सृष्टिशब्दः प्रलयशब्दो वा सापेक्ष इति न तस्य बुद्धौ समारोहति। प्रलयगतस्यैव सृष्टिः सृष्टस्यैव च प्रलय इति न स समालोचयति। यदि समालोचयेन्न तर्हि संहिताब्राह्मणयोः पौर्वापर्यम्। प्रलयकाले येषां प्रलयस्तेषामेव सृष्टिरिति कुतः पौर्वापर्यम्? नेष्यते यदि न तर्हि साधयितुं शक्यमनयोरादिमत्त्वम्। मन्त्रब्राह्मणपाठ्योः प्राबल्यदौर्बल्यविचारावसरे मीमांसका मन्त्रपाठस्यान्तरङ्गत्वं ब्राह्मणपाठस्य च बहिरङ्गत्वं व्यवस्थापयाम्बभूवुः। इमे चान्तरङ्गबहिरङ्गते पाठ्योरेव न मन्त्रब्राह्मणयोः। मन्त्रैर्विना ब्राह्मणानां ब्राह्मणैश्च विना मन्त्राणां स्वरूपलाभो दुष्करः। भागद्वयमपि बध्नन्त्येकेन सूत्रेण श्रौतस्मार्तकर्माणि। तेषाञ्चानुष्ठानाय मानवाः। मानवानां कर्मणाञ्च यथाधिकारं नियतस्सम्बन्धः। तानि कर्माणि भवन्तु कायिकानि, मानसिकानि वाचिकानि वा। सर्वविधैरपि तैर्मानवानां नियतस्सम्बन्धः।

आत्मचिन्तनं क्रियताम्, देवा वा यागादिभिराराध्यन्ताम्, जप्यन्तां वा मन्त्राः, सर्वत्र तेषां प्रयोगावगमो ब्राह्मणाधीनः। प्रयोगश्च मानवाधीनो मन्त्रसाध्यश्चेत्ययं याज्ञिकमीमांसकानां राजमार्गः। अनादी यथा सृष्टिप्रलयौ, तथैव मन्त्र-ब्राह्मण-कर्म-मानवानां मिथस्सम्बन्धोऽप्यनादिः। क्वचित् केचिन्मानवाः कर्मरहिता अभवन्, कर्माणि मन्त्रविहीनान्यासन्, मन्त्राश्च ब्राह्मणसम्बद्धा नाभूवन्निति साधनं दुष्करम्।

विदेशीयास्तु विमर्शका नेमां परम्परामङ्गीकुर्वन्ति, नाप्यत्र विश्वसन्ति, न चाप्येतादृशेष्वलौकिकफलजनकेषु कर्मसु श्रद्दधते। तेषां मन्त्रेषु पदपदार्थसम्बन्धजनितार्थावगतिमात्र एव मनः प्रसरति। तद्बलेन ते यत्किमपि वदेयुः। भारतीयाश्चिरन्तनाः पुनः कञ्चन मनोहरमविच्छिन्नसम्प्रदायमवलम्बमानाः संहितागतान् मन्त्रान् ब्राह्मणविहितकर्मसु विनियोजयन्तस्तानि कर्माणि यथावदैहिकम् आमुष्मिकम्, ऐहिकसंवलितामुष्मिकञ्च फलमवाप्तुमन्वतिष्ठन्।

सांसारिकावस्थायां मानवैर्यावन्ति फलानि कामयितुं शक्यन्ते, व्यष्ट्या समष्ट्या वा यथा—धनं, तेजः, श्रुताध्ययनसम्पत्तिः, पुत्रपौत्रभृत्यसम्पत्तिः, आयुरारोग्यम्, जनतासङ्ग्रहः, विविधानां दुस्साध्यानाम् असाध्यानाञ्च रोगाणां निवृत्तिः, वृष्टिः, क्षेमसुभिक्षता, ईतिबाधादिनिवृत्तिः, सामूहिकरोगनिवृत्तिः, जनताया एकतेत्यादीनि समेषामेषां साधनाय कर्माण्युपदिष्टानि सन्ति वेदेषु। अधुनाऽमीषां साधनाय यावन्तो लौकिका उपाया विज्ञानेनाविष्कृता अवलम्ब्यन्ते, तथैव चिरन्तने कालेऽलौकिकानि कर्माणीमान्यवलम्बितानि पूर्वजैरित्यत्र सन्ति बहून्युदाहरणानि—

रमयति मरुतः श्येनमायिनं मनोजवसं वृषण ँ् सुवृक्तम्। येन शर्ध उग्रमवसृष्टमेति तदश्विना परिधत्त ँ् स्वस्ति॥

इति कश्चन मन्त्रो मरुतो देवतास्सम्बोध्य प्रवृत्तः हे मरुतः! यूयमतिवेगेन समायान्तं पुरोवातं तथा क्रीडयत, यथा पश्चाद्वातस्य निरोधस्स्यात्, येन मेघेभ्यः तीव्रधारारूपेण पतज्जलं ग्रीष्मेणातिसन्तप्तामिमां पृथिवीं प्राप्नुयात्। तदिदं जलं हे अश्विनौ पृथिव्याः क्षेमकरं यथा स्यात्तथा परितो धारयतमिति तस्यार्थः।

अस्यार्थस्य ज्ञानेन किमस्माकं प्रयोजनं निर्गलति? पश्चाद्वातो ग्रीष्मवर्धको वृष्टिप्रतिबन्धकश्च, पुरोवातश्च ग्रीष्मशामको वृष्टिप्रदश्चेति किं वयं न जानीमः? ग्रामवासिनस्सर्वेऽपि प्रवयसः पुरुषाः वृद्धाश्च स्त्रिय इमं विषयं परिच्छिन्दन्त्येव। तस्यास्य किं प्रयोजनमिति प्रश्ने पाश्चात्यो विमर्शको ब्रूयान्निष्प्रयोजनमेवेति। भारतीयास्तु—'मरुतः' इति पदेन त्वगिन्द्रियवेद्यं वायुमेव केवलं न मन्यन्ते, किन्तु तदधिष्ठात्र्या देवताया बुद्धिस्तेषां मरुच्छब्देन भवति। देवतायाश्च कर्मभिरसम्बन्धो नियत इति प्रागवोचम्। तदिदं द्रढयति ब्राह्मणभागः—**'रमयत मरुतः श्येनमायिनमिति पश्चाद्वातं प्रतिर्मावति पुरोवातमेव जनयति'** इति स्तुवन् कारीरेष्ट्यां मन्त्रं विनियुञ्जानः। तथैव—

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन् प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥[1]

इति मन्त्रश्चन्द्राभेदेनादित्यं प्रतिपादयन् किं रूपकालङ्कारं शिक्षयति? अथवा किं रूपकालङ्कारस्यायं मन्त्रो मूलमिति स्वीकारमात्रेण मन्त्रस्य प्रयोजनवत्ता प्रसिध्यति? अनेन प्रसाधनेन किं विशिष्टं प्रयोजनं साधितं स्यात्? इत्यजानानेभ्योऽस्मभ्यं ब्राह्मणभागः—**'यः पापयक्ष्मगृहीतस्स्यात्तस्मा एतमादित्यं चरुं निर्वपेत्'** इति राजयक्ष्मरोगेण पीडितं तस्मादुन्मोचयितुमिष्टिं विधाय तत्रास्य मन्त्रस्योपयोग इत्युपदिशति। एवमादयस्सहस्रशो मन्त्रा ब्राह्मणेन तत्र तत्र क्रतुषु यथायथं विनियुक्ता दृश्यन्ते।

अत्रेवं निश्चेतुं शक्यम्—संहितागता मन्त्राः प्रयोजनविशेषमलभमानाः कर्मविशेषमाकांक्षन्ते, कर्माणि च ब्राह्मणविहितानि कैर्मन्त्रैः कर्तव्यानीत्यपेक्षन्ते। तत्रैकोऽपरस्य न्यूनतां पूरयन् द्वावपि मिलितौ कृतार्थौ भवत इति। यद्यत्र पौर्वापर्यक्रम आश्रीयेत, तर्हि य एव प्रथममुत्पन्नो विरचितो वा स चिरकालमाकांक्षावानेव तिष्ठेत्। तावत्पर्यन्तमुत्पन्नं भागमवाप्यापि जनाः किं कुर्युः? विना मन्त्रैः कर्मानुष्ठानमसम्भवम्, विना च कर्मभिर्मन्त्राणां नोपयोग इति ते तूष्णीमासन्निति कल्पनीयम्। तदिदं न युक्तियुक्तमिति प्रतिभाति। भारते प्रचलितायाः कर्मानुष्ठानपरम्पराया देशं कालञ्च न वयं निर्णेतुं शक्नुमः। मनसापि चिन्तयितुमशक्यः खलु कालो व्यतीतोऽस्याः परम्परायाः। अनुमानमप्यत्र कुण्ठितमेव भवति। अत एव पाश्चात्यविमर्शकेषु 'मैक्समूलरः' महोदयो वैदिकमतविकासावरोधार्थमेव प्रवृत्ताद् बौद्धमतात् पूर्वमेव ख्रिस्तोः पूर्वं पञ्चमशतके सर्वं वैदिकसाहित्यं संहिताब्राह्मणोपनिषदारण्यकादिकमासीत्। तत्रापि ख्रिस्तोः द्विशताधिकसहास्राद् वत्सरेभ्यः सहस्रवत्सरपर्यन्तं वैदिकमन्त्राणामृचां प्रारम्भिकः कालोऽभ्युपगन्तुं शक्यत इत्यभिप्रैति।

१. ऋग्वेदः—१०।८५।१९

एवमेव पाश्चात्यपण्डितः 'विन्टर्नित्ज' महोदयः, 'मैक्समूलर'महोदयसम्भावनास्पदेषु वत्सरेषु सङ्कोचं विकासञ्च कुर्वन् वैदिकसाहित्यस्य यदि काचिन्निश्चिता तिथिरुन्नीयेत, तर्हि ख्रिस्तोः पञ्चशतवत्सरेभ्यः पूर्वमित्येव वक्तुं शक्यत इति निरूपयति।

एवमेव 'मूर'महोदयः (Oriental Sanskrit Text) इति स्वीये ग्रन्थे कांश्चन मन्त्रान् परिगणय्य तत्र 'कृत्' 'तक्ष' प्रभृतीनां धातूनां प्रयोगबलात् मन्त्रेषु चर्षीणां विश्वामित्रजमदग्निप्रभृतीनां नामोपलम्भाच्च वेदानां नित्यत्वं कथमित्याक्षिपति।

तथैव 'मेक्डोनल्' महाशयो वैदिकलौकिकसंस्कृतभाषाभेदमवधारयन् ऋग्वेदस्य दशमं मण्डलमत्यर्वाचीनमित्यादिकं स्वीये संस्कृतेतिहासग्रन्थे लिखति।

एवं लिखतामेषामिदं कारणं भवितुमर्हति यद्वेदं पुस्तकाकारमिमे मन्यन्ते, न श्रुतिरूपम्, नापि ग्रन्थाकारम्। अत एव ते प्रथमं पुस्तकं द्वितीयं पुस्तकमिति ऋग्वेदगतमण्डलानि निर्दिशन्ति, मण्डलमष्टकं वर्गश्चेति न पुस्तकं भवति। प्रथमं श्रुत्येकगोचरा ये शब्दराशयोऽभवन् श्रुतिशब्दवाच्याः कालान्तरे ग्रथितास्सन्तो ग्रन्थशब्देनाभ्यधीयन्त। ततो लिपिनिबद्धाः सम्प्रति च ते मुद्रिताः पुस्तकशब्दवाच्या अभूवन्। अस्माकं चिरन्तनीयं परम्परा यच्छ्रुत्यैव बहुकालं गृहीताः श्रुतीः कालान्तरे विभज्य यथायथं प्रवर्तितवान् भगवान् व्यासः। अत एव स लोकैर्वेदव्यास इति प्रसिद्धिमलभत। अनन्तरं केचन काण्डादिना विभज्याध्यापयाम्बभूवुः। अत एव ते काण्डर्षय इत्युच्यन्ते सम्प्रत्यपि।

यथा सूक्तानां मन्त्राणाञ्च द्रष्टारो नियमेन स्मर्यन्ते, तथैव काण्डर्षयोऽपि। इयमस्मत्परम्परा। विदेशीयास्त्वस्यां परम्परायां नान्तर्भूताः; तथापि ते निस्सङ्कोचं ब्रुवते—भारते देशान्तरेभ्यस्समागता आर्या इति। तद्वयं सर्वात्मना न केवलं विश्वसिमः, तथैव चास्मदपत्यानि ग्राहयामः। महतो दुःखस्यायं विषयो यदा वयं पारतन्त्र्यनिगडनिबद्धा आस्म, तदा केनापि कारणेन विदेशीयैः प्रवर्तितां शिक्षापद्धतिमस्मदपत्यानि ग्राहयितुं निर्बन्धमन्वभवाम। इदानीं स्वातन्त्र्यमवाप्य बहुषु हायनेषु व्यतीतेष्वपि वास्तविकशिक्षापद्धतिं प्रवर्तयितुमक्षमाः स्मः।

किञ्चिदिवास्माभिः प्राक्कालेऽवस्थितं वृत्तं सिंहावलोकनन्यायेन संवीक्षणीयम्—मीमांसासूत्रकारस्य जैमिनेः काले कल्पानां सूत्राणां षडङ्गानां मन्वादिस्मृतीनामपि मन्त्रब्राह्मणयोरिव वेदत्वं लोकैस्साध्यते स्म। एवं साधने तेषामियं युक्तिरासीद् यदिमे पूर्वोक्ताः सन्दर्भा अपि तदानीन्तने समये श्रुतिग्राह्या वाचोविधेयाश्चाभवन्। यथा वेदा नियमेन श्रवणेन्द्रियग्राह्यास्सन्तः श्रुतिशब्दवाच्यास्तथैवैतेषामपि तद्ग्राह्यत्वेन कथं तच्छब्दव्यवहारो न भवत्विति। तत्र परीक्षको महर्षिर्जैमिनिः सयुक्तिनिर्देशं व्यवस्थापयामास यत्कल्पसूत्रादीनां प्रामाण्ये न काचन विप्रतिपत्तिः, किन्तु वेदमूलत्वेनैव तदङ्गीकर्तव्यम्, न वेदत्वेन, तत्तत्पुरुषकर्तृकत्वेन स्मर्यमाणत्वादिति। एवमेव शिष्टाकोपाधिकरणसम्बन्धिषु वर्णकेष्वेकस्मिन् शाक्यादिग्रन्थानामुच्छिन्नशाखामूलकत्वमाशङ्क्य परिहृतम्। एतेनेदं विज्ञायते यत् प्राचीनभारते वेदत्वेन वेदमूलकत्वेन तस्य तस्य प्रामाण्यसाधने प्रवृत्तिमतां लोकानां हृदयेषु वेदविषये कीदृशः श्रद्धातिशयोऽवर्तत इति।

इदानीन्तनभारतीयेषु समाजिनः स्वाभिलषितशब्दसन्दर्भेष्वेव वेदत्वं चिरन्तनात् कालादविच्छिन्नपारम्पर्येण परिप्राप्तेष्वपि वेदत्वं खण्डयितुं प्रवृत्ता विलोक्यन्ते।

इदन्तु स्वीकर्तव्यमेव भवति यद् बह्व्यो वेदशाखा अध्ययनाध्यापनपरम्परालोपेन जैमिनेः काल एवोच्छिन्ना इति। अत एव शाक्यादिग्रन्थानामुच्छिन्नशाखामूलकत्वशङ्काया उदयस्सङ्गतो भवति। एवं

मीमांसकैरुन्नीते पथि सत्यपि पुस्तकयुगान्तर्गता विमर्शका मण्डलेषु काण्डेषु च पुस्तकत्वभ्रान्त्या वदन्ति यद् ऋग्वेदस्य प्रथमं दशमञ्च पुस्तकमर्वाचीनम्, इतराणि च पुस्तकानि प्राचीनानीति। अत्र च ते भाषाभेदमाकलयन्ति। अस्माकं तु संस्कृतमेकैव भाषा। लौकिकं वैदिकञ्च संस्कृतमनन्यमेव। लोकवेदाधिकरणन्यायेन जैमिनिः—य एव लौकिकाश्शब्दास्तदर्थाश्च, त एव वेदेऽपीत्यभ्युपगच्छति। कतिपये शब्दाः पुनर्नूनं वेदेषु लौकिकशब्देभ्यो भिन्ना इवावभान्ति, तावता नानयोर्भेद आपादयितुं शक्यते।

लोके गृहीतपदपदार्थसङ्गतिक एव वेदे पदानां सङ्गतिं गृह्णाति। वैदिकपदानां सङ्गतिग्रहणाय नान्यः कश्चनोपायो दृश्यते। यत्र च शब्दभेद उपलक्ष्यते तत्र पृथगनुशासनानि विद्यन्ते। लोकेऽग्निशब्दस्य दहनमेकमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्, तदादाय वेदे तस्यार्थावबोधकत्वे सत्यपि मन्त्रार्थानुसन्धानबलेनान्यान्यपि प्रवृत्तिनिमित्तानि स्युः। यथा—एत्य दग्ध्वा नयति, अग्रे पुरस्तान्नीयते प्रणीयते, अ... नयति, अग्निर्देवः अग्निः पुरोहितः, अग्निर्देवानामाह्वाता इति। नैतावता वैदिकाग्निशब्दो लौकिकाग्निशब्दाद् भेदमावहेत्। क्वचिदिन्द्रशब्दस्याग्निरर्थः, पावकोऽग्निः, पवमानोऽग्निः, शुचिरग्निरित्येवं विभिन्नार्थबोधकोऽग्निशब्दो दृश्यते। एवं प्रयुज्यमानस्यास्य नियामकं शास्त्रं प्रमाणीक्रियते पूर्वजैः। विना प्रमाणेन क्वाप्यर्थभेदो नेष्यते। प्रस्तरशब्दो वेदे दर्भमुष्टिविशेषे वर्तते, लोके तु शिलायाम्, पीलुशब्दवाच्यो वृक्षो वेदे, लोके तु गजः, यूपशब्दो दृष्टादृष्टसंस्कारवाची वेदे, लोके तु केवलं काष्ठविशेषे, आचार्यशब्दोऽलौकिकार्थविदको वेदे, लोके तु भृतकाध्यापकवाची।

एवं भेदे सन्ति मीमांसान्यायाः प्रमाणम्। अनेन भाषाभेद उन्नेतुं न शक्यते। भाषा तूभयत्र संस्कृतमेव। प्रयोगभेदमात्रेण भाषाभेदो न सिध्यति। प्रान्तभेदेन हिन्दीशब्दा भिन्नाः सन्तीति न हिन्दीभाषा भिन्ना परिगण्यते। अतो वैदिकलौकिकशब्दा अनन्या एवेति लोकवेदाधिकरणन्यायः।

किञ्च, भाषागतं सारल्यं कठिन्यं वा न भाषाभेदप्रयोजकं भवितुमर्हति। आभ्यां कामं शैलीभेदस्स्यात्, न भाषाभेदः। एक एव लेखकः क्वचित् कठिनान् शब्दान् प्रयुङ्क्ते, क्वचिच्च सरलान्। दीर्घसमासयङ्लुङन्तशब्दघटितानि वाक्यानि ग्रन्थस्य काठिन्यमावहेयुः; तदघटितानि च सारल्यम्। एकस्मिन्नेव ग्रन्थे रसानुसारेण प्रकरणानुरोधेन वा सरलकठिनशब्दाः प्रयुक्ता भवेयुः। तावता न तत्र पौर्वापर्यं प्राचीनार्वाचीनत्वरूपं साधयितुं शक्यम्। पाश्चात्यविमर्शकैरतिप्राचीनत्वेन स्वीकृत एव वेदभागे शैलीद्वयमनुभवामः—**'अग्निर्होता नो अध्वरे'**, **'ह सद्युचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्'** इति। एवमर्वाचीनत्वेन परिगण्यमाने वेदभागे **'यो वश्शिवतमो रसः'**, **'सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू'** इत्यत्रोभयमप्यनुभवामः।

एवञ्च भाषागतसारल्यकाठिन्ये समादाय भाषाभेदप्रतिपादनं युक्तिसङ्गतं न प्रतिभाति। किञ्च, विमर्शकानां कथनानुसारेण ऋग्वेदीयं दशमं मण्डलमर्वाचीनमिति स्वीकारे एकस्मिन्नेव क्रतौ द्वितीयतृतीयादिमण्डलसूक्तानां दशममण्डलसूक्तानामपि ब्राह्मणभागेन विनियोगः कृतो दृश्यते। तत्र वक्तव्यं भवेत्—यद् दशममण्डलविरचनानन्तरमेव ब्राह्मणाविर्भाव इति। तदत्र ब्राह्मणसंहितयोः पौर्वापर्यं न भवितुमर्हतीति पूर्वमवोचाम।

निरर्थकाश्शब्दा वेदेषु वर्तन्त इति कश्चिद्विमर्शकः परिगणयति। **'नायं स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति'** इति न्यायेन न वेदगतस्य शब्दस्यायं दोषः। एतादृशेषु स्थलेषु शब्दानामर्थनिर्णयाय तत्सिद्धिपेटिका मीमांसकैस्समुद्घाटिता वर्तते। निगमनिरुक्तव्याकरणादयस्तु सन्त्येव। एतेषु साधनेषु सत्सु कथं निरर्थकत्वं शब्दानाम्? शब्दानां क्वचिन्मुख्योऽर्थो भवति, क्वचिच्च गौणः। अयञ्च शब्दानां धर्मः। स च लोके यथा, तथा वेदेऽपि। केचन शब्दास्तथा वर्तन्ते यांश्चार्था एवानुधावन्ति। लौकिकोऽर्थो न प्रसिध्यतीति न वैदिकाश्शब्दा

निरर्थका इति साधनमनुचितम्। क्वचिच्च शब्दानुपूर्व्येव शब्दार्थ इति स्वीकर्तव्यं भवति। पङ्कजाक्षीति लोके तिन्त्रिणीदलाक्षीमपि नारीं बोधयत्येव। गङ्गाधर इति तस्यापि नाम यश्च पिपासवे जनाय जलस्य बिन्दुमपि न ददाति। अत्रानुपूर्व्येव खलु शब्दार्थः। अत एव 'हुँ फट्' अस्त्राय फट्' इत्यादिषु मन्त्रेष्वानुपूर्व्येवार्थः।

किं बहुना, प्रसिद्धार्थकेष्वपि स्थलेषु क्वचिदानुपूर्व्येवार्थस्स्वीक्रियते वेदेषु। यस्मिन् कर्मण्यग्निर्देवता तत्र त्यागावसरे 'अग्नये' इत्यानुपूर्व्येव स्वीक्रियते, न तु जातवेदसे, वह्नये इत्यादि। अग्निवह्निजातवेदश्शब्दाः पर्यायवाचिनः, तथापि आनुपूर्वीनियम आद्रियते मीमांसकैर्याज्ञिकैश्च।

वेदशब्देषु केषाञ्चनाश्लीलार्थकत्वं वर्णयन् विमर्शको वेदेऽनादरतामाविष्करोति। अश्लीलत्वं हि न शब्दस्य नियतो धर्मः। वक्तृबोद्धव्यभेदेनैव शब्दस्याश्लीलार्थकत्वं परिगणनीयम्। 'इयं कनकलता पुष्पिता शोभते' इति परिणतवयोभिरुच्चरिते वाक्ये नाश्लीलता, तस्मिन्नेव स्त्रीलोलुपेन यूना समुच्चारितेऽश्लीलता। वल्मीकजन्ममुनिः स्वीये रामायणे 'वरारोहे' पदमसकृत्प्रयुङ्क्ते। तदपि सीतां सम्बोध्य। प्रतिपत्तृषु केचन रूढमर्थं प्रतिपद्यन्ते, अपरे च व्युत्पत्तिलभ्यमर्थम्। व्युत्पत्तिलभ्येऽर्थे केचन तुष्यन्ति, अपरे च तटस्था भवन्ति। तावता किं रामायणस्य वाल्मीकेर्वा हेयत्वमनादरता वा सिध्यति? रामायणं वाचयन्तो वयं सीतां सम्बोध्य रावणमुखान्निस्सृतमिमं शब्दं शृणुमो हनुमन्मुखादपि। उभयत्र किं भावभेदं न गृह्णीमः?

वामदेव्यपदनिर्वचनावसरे **'आपो वा ऋत्वियमार्च्छन् तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्तत, ततो वामं वसु समभवत् तन्मित्रावरुणावपश्यताम् तावब्रूतां वामं वा देवेभ्योऽजनि'** इति वेदवाक्यं प्रवृत्तम्। रजोधर्मं प्राप्ताभिरद्भिर्वायोस्सङ्गमे सति श्रेष्ठं वसु सञ्जातम्। तच्च देवसम्बन्धि, तेनेदं वामदेव्यं साम इति तदर्थः। अत्र रजोधर्माद्यर्थप्रतिपादनेनाश्लीलत्वं वर्णयति विमर्शकः। अश्लीलस्य दोषत्वं व्रीडाजुगुप्सामङ्गलव्यञ्जकत्वेनालङ्कारिका आस्थिषत। तदत्र ब्राह्मणवाक्ये पूर्वोक्तान्यतमव्यञ्जकत्वं दुरुपपादम्। अपां रजोधर्मप्राप्तिः; वायोश्च तत्सङ्गमः, वामस्य धनस्य समुत्पत्तिः, तस्य च देवसम्बन्धित्वमित्यस्मिन्नर्थे न तात्पर्यम्, किन्तु 'वामदेव्यम्' इति शब्दनिर्वचनायैवेदं ब्राह्मणं प्रवृत्तम्। निर्वचनसिद्धस्य शब्दस्य सामविशेषोऽर्थः। साम्नोऽस्य गानावसरे श्रोतार उद्गातारो वा किं जिह्रियति? किं वा जुगुप्सन्ते? अथवा अमङ्गलमवबुध्यन्ते? एवं सत्यत्राश्लीलस्य क्वावसरः?

कश्चन विमर्शकाग्रणीः पाश्चात्यस्तदनुयायी भारतीयश्च **'एको ममैका तस्य, द्वौ मम द्वे तस्य, त्रयो मम तिस्रस्तस्य, चत्वारो मम चतस्रस्तस्य, पञ्च मम न तस्य किञ्चन, योऽस्मान् द्वेष्टि यञ्च वयं द्विष्मः'** इति प्रयाजानुमन्त्रणमन्त्रमुदाहृत्य स्वप्रतिभाप्रकर्षमवद्योतयति यत् प्राञ्चो भारतीयाः स्त्रीणां विषये कियदपकृष्टबुद्धय आसन्, ऋत्वनुष्ठाता कामयते यन्ममैकः पुत्रो भवतु, तस्य चैका कन्या, मम द्वौ पुत्रौ भवेताम्, तस्य च द्वे कन्ये, एवं त्रयो मम भवन्तु, तस्य तिस्रः, चत्वारो मम चतस्रस्तस्य, पञ्च मम, न तस्य किञ्चन इति वदन् कियदन्याय्यमाचरति स्त्रीणां विषय इति। सत्यमेवायं सम्भ्रान्तो यथाजातो विमर्शकः। पूर्वापरसन्दर्भानवलोकनजनितोऽयं सम्भ्रमस्तपस्विनः। असुरैस्सह शस्त्रैरस्त्रैश्च योद्धुं नेच्छन्तो देवा वाग्युद्धाय प्रवृत्ताः प्रथमम् 'एको मम' इत्यब्रुवन्, असुराश्चैकेति। एवं चतुस्सङ्ख्यापर्यन्तमवसितम्। **'पञ्च मम'** इति देवा अब्रुवन्, असुराश्च तदूर्ध्वं वक्तुमसमर्थाः क्षमपश्यन्। देवाश्च **'न तस्य किञ्चन'** इति वदन्तोऽसुरान् निगृहीतवन्त इति सन्दर्भः। पञ्चादिशब्दानां लिङ्गद्वयेऽपि रूपं समानमिति प्रसिद्धम्। एवं वाग्युद्धेनासुराणां निग्रहः। किं शब्दागतलिङ्गमनवगत्य भारतीयानां प्राचां स्त्रीष्वपकृष्टत्वबुद्धिरित्यारोप्यते विमर्शकमहोदयेन? उत प्रकारान्तरमाश्रित्य? खेदस्यायं विषयो यदेकेन पाश्चात्येनेदमुक्तमिति तत्पुच्छावलम्बिनो भारतीया अपि सभासु विषयमेनं विशदीकृत्य सभासदो ह्रासयन्ति, पुस्तकेषु च लिखन्ति। शृङ्गे ग्रहीतव्ये पुच्छग्रहणं कुर्वन्त इमेऽतिशोचनीयां दशामापन्नाः।

किञ्च संवादरूपेषु मन्त्रेषु वैषयिकानर्थानुपलभ्य तत्रानादरतां प्रकटयन् कश्चन विमर्शकः ऋक्संहितायाः प्रथममण्डलस्यैकोनाशीत्युत्तरशततमं सूक्तं षडृचमुदाहरति। संहितागतानां मन्त्राणाञ्चानुक्रमणिकाकार ऋषिं छन्दो देवतां विनियोगञ्च यथायथं निर्दिशति। एवं प्रमाणमवलम्ब्य मन्त्रार्थविवरणं क्रियते। मन्त्रार्थे प्रतीते तस्य तात्पर्यनिश्चयाय मीमांसान्याया आश्रीयन्ते। निगमनिरुक्तव्याकरणानि पदपदार्थनिर्णये साहाय्यमाचरन्ति। इमास्सामग्रीरादायैव भाष्यकारस्सायणो भाष्यं विरचयामास। तत्र प्रधानसामग्री अनुक्रमणिका। निगमनिरुक्तव्याकरणैः पदार्थे ज्ञातेऽपि प्रकृतसङ्गतिर्विनियोगश्चानुक्रमणिकयैव बोद्धव्यौ भवतः। विनियोगश्च मन्त्राणां तृचानां सूक्तानां वा श्रौतकर्मसु क्रियते। येषाञ्च मन्त्रतृचसूक्तानां श्रौतकर्मसु न विनियोगस्तेषां लैङ्गिको विनियोग इति सम्प्रदायः। तत्तन्मन्त्रगतसामर्थ्यमवबुध्य तस्मिन्नर्थे तद्विनियोगो लैङ्गिकविनियोगः कथ्यत इति स्थितिः।

तत्र **'पूर्वीः षट् जायापत्योः लोपामुद्राया अगस्त्यस्य च द्वयृचाभ्यां रत्यर्थं संवादं श्रुत्वाऽन्तेवासी ब्रह्मचारी अन्त्ये बृहत्यादी अपश्यत्'** इत्यनुक्रमणिका वर्तते। 'पूर्वीः' इति सूक्ते षडृचस्सन्ति। तत्र प्रथमद्वयृचस्य लोपामुद्रा ऋषिः, द्वितोयद्वयृचस्यागस्त्य ऋषिः, तृतीयद्वयृचस्यागस्त्यशिष्य ऋषिः। तृतीयद्वयृचस्य प्रथमा बृहतीच्छन्दस्का, शिष्टा ऋचः त्रिष्टुभः। दम्पत्योः संवादश्रवणजनितमागः क्षपयितुं शिष्योऽपश्यदन्तिमं द्वयृचम् इत्यनुक्रमणिकाया अर्थः। (अत्र प्रथममन्त्रचतुष्टयेन योऽर्थो बुध्यते तत्राश्लीलं दोषमुद्भावयति विमर्शकः।)

अत्रायं विवेकः—अस्य सूक्तस्य श्रौते कर्मणि विनियोगोऽनुक्रमणिकायां न दृश्यते। तेन लैङ्गिकविनियोग आश्रयणीयः। यदि कदाचिल्लोके दम्पत्योः रहस्सम्भाषणं श्रुतिपथमागच्छेत्, तर्हि तद्दोषनिर्हरणाय मन्त्रोऽयं जप्तव्य इति तात्पर्यं कल्पनीयम्। अगस्त्यलोपामुद्रे एवं प्रकारेण भाषणमकुरुतामित्यत्र न तात्पर्यम्। शिष्यश्रुतसंवादानुपूर्वीद्रष्टृत्वमेवानयोः। नात्र लोपामुद्रा मन्त्रोक्तप्रकारेण चकमे, न चाप्यगस्त्यस्तस्याः प्रार्थनां समर्थयामास। गणिताध्यापकस्य शब्दा अर्थाननुसृत्य न गच्छन्ति, किन्तु गणितस्योत्तरसम्पादनाय शिष्यस्तेषां शब्दानामर्थं कल्पयति। तत्र यथा शब्दानेवार्था अनुधावन्ति, तादृगेवेदम्।

किञ्चाष्टममण्डलस्य प्रथमसूक्तगतं चतुस्त्रिंशं मन्त्रमुदाहृत्य तस्याश्लीलार्थकत्वमाकलयन्ति विमर्शकाः। इन्द्रदेवताकस्यास्य सूक्तस्यैकोनत्रिंशत्संख्याकानामृचां गवामयनान्तर्गतमहाव्रते कर्मणि निष्कैवल्यशस्त्रे विनियोगमनुक्रमणिकाकारः प्रदर्श्याविशिष्टानां दानस्तुतिपरत्वं निर्दिशति। तत्रान्तिममन्त्रस्य लैङ्गिकंविनियोगं सूत्रकारोऽभिप्रैति। यदि कस्यचन पुंस्त्वावरोधकं प्रतिबन्धकं स्याद् यूनः, न तु प्रवयसः, तर्हि मन्त्रेणानेन तन्निवर्तयितुं शक्यमित्यर्थं तात्पर्यं परिकल्प्य तत्र विनियोग एष्टव्यः। भूयसां रोगाणां निवृत्तिर्मन्त्रैस्तद्युक्तकर्मभिश्च भवतीति प्रागवोचाम। एवं वक्तारः कामं भवेयुः, न तु प्रयोगात्मना प्रदर्शयितार इत्याक्षेप्तारो नूनं भवेयुः, किन्तु सन्तीदानीमपि तादृशाश्चमत्कारकारिणः श्रोत्रिया नियतवेदाध्यायिनो भारते। अतो नेयमावश्यकता यन्मन्त्रा अर्थानुसारिण एव भवेयुरिति। यदि चार्थानुसारिण एव मन्त्राः स्वीक्रियेरन्, तर्हि नित्यानां नैमित्तिकानाञ्च कर्मणामुच्छेद एव स्यात्। सति पापे तन्निवृत्तिर्मन्त्रैरिष्यते, असति च तस्मिन् मन्त्रानुपूर्वीसमुच्चारणमभ्युदयकारीत्येव नित्यनैमित्तिककर्मसु मन्त्राणां नात्यर्थं स्वीक्रियते।

प्रातः सायं सन्ध्यानुष्ठानावसरे **'सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च'**, **'अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च'** इत्यादिमन्त्रैर्जलप्राशनं क्रियते। सर्वविधपापरक्षणरूपोऽर्थो मन्त्रेण प्रकाश्यते। मन्त्रस्यास्योच्चारणेन सर्वविधपापानां ध्वंसो भवतीति पापाचरणेन सह जलप्राशने सन्ध्यानुष्ठातारः प्रवर्तेरन्। अथवा पापरहिता वयमित्यनुष्ठातारः सन्ध्याकर्मणो विरता भवेयुः। अतो नित्यनैमित्तिककर्मसु मन्त्रानुपूर्वीसमुच्चारण एव तात्पर्यमेष्टव्यम्। अत एव याज्ञिका नित्यनैमित्तिककर्मणामनुष्ठाने फलं नास्ति, अननुष्ठाने च प्रत्यवाय इति व्यवस्थां स्वीकुर्वन्ति।

एतेन मन्त्राणां विवक्षितार्थत्वं नास्तीति साधयितुं न शक्यते। सत्यपि विवक्षितार्थत्वे मन्त्रगता ये शब्दा असमवेतार्थाभिधायिनः, तेषामानुपूर्वीसमुच्चारण एव तात्पर्यमिति मन्त्राधिकरणन्यायानुकूल्यं सम्पादितं भवति। एवञ्च विमर्शकप्रदर्शितमन्त्रो नाश्लीलपरो भवितुमर्हति।

भारतीयेषु केचन विमर्शकम्मन्या ब्राह्मणभागस्य **'तद्धैके, तदु तथा न कुर्यात्' 'तन्नादृत्यम्'** इत्यादिवाक्यान्युदाहृत्य पृच्छन्ति यच्छास्त्रग्रन्थेष्विव ब्राह्मणभागेष्वपि खण्डनमण्डनरीतेर्दृश्यमानत्वात् कथं ब्राह्मणभागोऽपौरुषेयो वेदो भवितुमर्हतीति। सत्यमेवायं प्रश्नो जटिलोः दुरुत्तरश्च। उपलब्धब्राह्मणग्रन्थेभ्य एतादृशानि स्थलान्येकीकृत्यानुसन्दधानोऽहमस्मि। तत्र द्वित्राणि स्थलानि प्रदर्शयितुमिच्छामि। शतपथब्राह्मणे— **'तद्धैके स्रुक्संमार्जनान्यग्नावभ्यादधति·······तदु तथा न कुर्यात्·······तस्मादु परास्येदेवैतानि'** (श० ब्रा० १.२.४.११) इति दृश्यते।

दर्शपूर्णमासयोः स्रुचां जुहूपभृद्ध्रुवाणां वेदाग्रैः संमार्जनं विहितम्— **'स्रुचः सम्मार्ष्टि'** इति। वेदस्य शयानवत्सजान्वाकृतिरूपस्य दर्भमुष्टिविशेषस्याग्रभागा एव सम्मार्जनानि। एतैः स्रुचः पात्राणि सम्मृज्य तानि केचन शाखिनोऽग्नौ प्रक्षिपन्ति, तत्तथा न कर्तव्यम्, किन्तु तानि चात्वाले निरस्येदेवेति ब्राह्मणस्यार्थः। निरसनं वा भवतु अग्नौ प्रहरणं वा वेदाग्राणाम् उभयमप्युपयुक्तानां तेषामाकीर्णकरतानिवर्तकं कर्मैव भवति। एवं शतपथब्राह्मणस्य स्थितिः। अस्मिन्नेव विषये तैत्तिरीयब्राह्मणं पश्यामः। शतपथब्राह्मणवाक्यं तैत्तिरीयशाखां विषयीकरोतीति प्रतीयते। तैत्तिरीयाः संमार्जनानि अग्नौ प्रहरन्ति। नैतावता शतपथब्राह्मणस्य तैत्तिरीयशाखापरवर्तित्वं निर्णेतुं शक्यम्। तैत्तिरीयशाखायामपि शतपथब्राह्मणविषयाणां खण्डनमुपलभ्यते। अत्र कथमस्माभिरेवं निर्णेतुं शक्यं यच्छतपथब्राह्मणं परिवर्ति, तैत्तिरीयब्राह्मणं वेति।

तैत्तिरीयशाखायाम् **'स्रुक्संमार्जनान्यग्नौ प्रहरति····'**इत्युपक्रम्य **'तान्येके वृथैवापास्यन्ति तत्तथा न कार्यं·······तस्मादेतान्यग्नावेव प्रहरेत्** (तै० ब्रा० ३.३.२) इत्युपसंहारवाक्यं श्रूयते। अस्यां परिस्थितौ किं पूर्वं किमुत्तरमिति कथं निश्चीयताम्। एवं पुरोडाशपरिमाणविषये तैत्तिरीयशतपथब्राह्मणयोः परस्परखण्डनमण्डने उपलभ्येते। अत एवमादयो विषयाः सत्यमेव विमर्शयोग्याः, झटिति निर्णेतुमशक्याः। बलवत्तरप्रमाणोपलम्भपर्यन्तं मीमांसकैरवलम्बितः पन्था एव निष्कण्टकः। एतादृशानां पदार्थानामनुसन्धानाय संस्कृतविश्वविद्यालयश्छात्रान् प्रोत्साहयेदिति सम्भावयामि।

● ● ●

महर्षिजैमिनेः पदार्थपरीक्षणसरणिः

समेषां दर्शनानां शास्त्राणाञ्च यावन्तः प्रवर्तकाः सर्वे एव ते विचारकाः, चिन्तकाः परीक्षकाश्च। स्वस्वदर्शनौपयिकानि प्रमेयजातानि सुविचार्य सुचिरं परिचिन्त्य परीक्ष्य च स्वस्वग्रन्थेषु प्रतिपादयन्ति। मीमांसाशास्त्रप्रवर्तको महर्षिजैमिनिरपि विचारकश्चिन्तकः परीक्षकश्च। दर्शनेषु मीमांसायाः पृथगेकं विशिष्टं स्थानमस्ति। अत एव सांख्यमीमांसकाः, ब्रह्ममीमांसकाः, प्रमाणमीमांसकाः अलङ्कारमीमांसकाः, वाक्यमीमांसका इति मीमांसापदसंयोजनेन सर्वे एव विचारका आत्मनो गौरवमवद्योतयन्ति। पूज्यविचारवाचकः खलु मीमांसाशब्दः। विचारे पूज्यत्वञ्च निष्पक्षपातेन विषयपरीक्षणम्। तच्च सर्वैरेव दार्शनिकैः क्रियत इति भवन्ति सर्वे एव मीमांसकाः। एवं सत्यपि साधारण्ये निरुपपदं मीमांसापदं पूर्वतन्त्रमेव विषयीकरोतीति दर्शनसमाजे प्रसिद्धिः। तत्र भगवान् जैमिनिर्वाक्यमीमांसकः, मीमांसाशास्त्रञ्च वाक्यशास्त्रमिति च प्रसिद्धम्। वेदवाक्यावबोधितं धर्मस्वरूपं याथातथ्येन परीक्षते जैमिनिः। अत एव **'तस्य निमित्तपरीष्टिः'** इति प्रतिजानीते। तदर्थमेव विपुलं शास्त्रं तेन प्राणायि। सर्वेभ्योऽपि वेदवाक्येभ्यस्साक्षात्परम्परया वा धर्म एव निर्गलतीति प्रतिपादनायेयान् प्रयासो महर्षेः।

तत्र वाक्यार्थज्ञानं पदार्थावबोधपूर्वकमिति प्रायः समेषां तीर्थकाराणां सम्मतिः। पदार्थानामन्यथाभावे वाक्यमपि विपरीतार्थप्रकाशकं भवेत्, तेन च धर्मस्य वेदवाक्यार्थरूपस्य तथ्यं स्वरूपं विघटितं स्यादिति निश्चिन्वन् जैमिनिर्लोकवेदाधिकरणे—लोके ये शब्दाः, ये च तेषामर्थास्त एव वेदेऽपीति व्यवस्थाप्य सर्वेष्वधिकरणेषु वेदवाक्यमेकैकमुदाहृत्य तदर्थान् परीक्षते। आवश्यकतानुसारेण वाक्यार्थाधिगमौपयिकान् शब्दतदर्थानपि विशेषेण स्वयं युक्तिभिः प्रमाणैश्च निश्चिनोति। एवं निश्चये का परिपाटीति कानिचनाधिकरणानि दिदर्शयिषामि।

वेदानां प्रामाण्यमपौरुषेयत्वञ्च सिषाधयिषुर्महर्षिः शब्दतदर्थतत्सम्बन्धानां स्वरूपमादौ विवेचयति। वेदानां परतः प्रामाण्यं पौरुषेयत्वं वा पुरुषसम्बन्धादेष्टव्यम्। स च पुरुषानुप्रवेशः त्रिविधस्सम्भाव्यते—शब्दार्थयोस्सम्बन्धं कुर्वन्तः शब्दमेव वा समुत्पादयन्तः, वाक्यवाक्यार्थसम्बन्धं विदधाना वा पुरुषा वेदेषु प्रवेशमर्हन्ति। तत्र जैमिनिरौत्पत्तिकसूत्रेण तयोस्सम्बन्धं नित्यं व्यवस्थापयति। अत्र भाष्यकारः श्रीशबरस्वामी सौत्रम् **'अव्यतिरेकश्च'** इत्यंशं विवृण्वन् लिखति—'न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चन कालोऽस्ति, यस्मिंश्च कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेनासम्बद्ध आसीत्। कथम्? सम्बन्धक्रियैव हि नोपपद्यते। अवश्यमेव सम्बन्धं कुर्वतः केनचिच्छब्देन कर्तव्यः। येन क्रियेत तस्य केन कृतः? अथान्येन केनचित् कृतः, तस्य केनेति तस्य केनेति तस्य केनेति नैवावतिष्ठते। तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वताऽकृतसम्बन्धाः केचन शब्दा वृद्धव्यवहारसिद्धा अभ्युपगन्तव्याः' इति।

अनेन सन्दर्भेणेदं निर्गलति यज्जगति शब्दार्थव्यवहार ऋतुलिङ्गन्यायेन बीजाङ्कुरन्यायेन वाऽविच्छिन्नः प्रवहति। कस्मिंश्चिदपि काले जगतीतले मानवा व्यवहारमन्तरा मूका नाभवन्, विविधाभिश्चेष्टाभिर्नैकविधैरव्यक्तैर्ध्वनिभिर्वा वानरा इव नरा व्यवहरन्तो नासन्, सम्प्रति यथा वयं वर्तामहे, तथैव प्राक्कालेऽपि मानवा अवर्तन्त, नरा नरेभ्य एवाजायन्त, न वानरेभ्यः, शिशवः स्वस्वमातृभ्यः एव प्रथमं शब्दोच्चारणमशिक्षन्त, तदर्थांश्चावागच्छन्। शब्दतदर्थावगमाय व्यवहार एव प्रधानं कारणम्। किं बहुना, सर्वमेव लौकिकं

कार्यजातं शब्दमूलकमेव प्रववृते। शब्दार्थव्यवहारस्य कालनिर्णये प्रवृत्तः पुरुषो गजस्य कौपीनधारणव्यापारे प्रवृत्त इव स्यात्। सुचिरं विमृश्य चिरन्तना आत्मन इव पूर्वजान् निर्द्धारयन्तः **'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते'**[1] इति सिद्धान्ते विश्वासमाबबन्धुः, न ह्याधुनिका इव विज्ञानशब्दघटितभाषापदप्रयोगमायया किमपि किमपि लिखितुं तत्प्रचारयितुञ्च प्राक्तनाः प्रावर्तन्त! शब्दतदर्थनिर्णये तद्व्यवहारे च तेषां स्वस्वपूर्वतनानां व्यवहार एव मूलम्, न तु कृमिकीटसरीसृपपतङ्गशाखामृगाणामव्यक्तशब्दव्यवहारः। आत्मन इव परे द्रष्टव्या इति हि नीतिरुचिता। यथा वयं मानवाः, तथा तेऽपीत्यत्रैवौचित्यं भाति, न तु यथा ते कृमिकीटादयः, तथा वयं मानवा इत्यत्र। भाषाशास्त्रिणां 'ते' इति तच्छब्दवाच्याः कृमिकीटादयः, 'वयम्' इत्यस्मच्छब्दवाच्या मानवाः। कथमत्रौपम्यं सङ्गच्छताम्? अव्यक्ता ध्वनयस्तेषाम्, व्यक्ताश्च वाचोऽस्माकम्। ध्वनिमात्रसादृश्यञ्चेदुभयेषां न तर्हि काचिद्विप्रतिपत्तिः। अन्ये च ध्वन्यात्मकाश्शब्दाः, अन्ये च वर्णात्मकाः। ध्वनिभिर्वर्णा अभिव्यज्यन्ते। अभिव्यञ्जकाभिव्यक्तयोर्भेदमाकलयामो न त्वैक्यम्।

वर्णानुकूलैरेव ध्वनिभिर्वर्तितव्यम्, न तु ध्वन्यनुकूलैर्वर्णैः। करणापाटवादिना क्वचद् ध्वनिभिर्वर्णाः कामं निस्सरेयुः **'महाशयः'** इति स्थाने **'मोशै'** इति, कामं तत्रार्थप्रत्ययोऽपि जायेत, किन्तु साधुत्वं तत्र न प्रतियन्ति तीर्थंकराः। गौरिति वक्तव्ये गावीत्युच्चारयतीति हि व्यवहरन्ति शास्त्रज्ञाः। न तत्र गावीशब्दस्य साधुत्वग्रहस्तेषाम्। अर्थप्रतीतिमात्रेण न शब्दस्य साधुत्वग्रहः। न हि शुक्तौ रजतप्रतीतिमात्रेण तत् सत् प्रत्यक्षं मन्यत इति यथा। अर्थप्रत्यायने यावानादरश्शब्देषु ततोऽप्यधिक आदरस्तत्साधुत्वे। शुद्धाशुद्धत्वे वस्त्रभाण्डादिष्वेवार्थेषु न परिगण्येते, किन्तु शब्देष्वपि। शुद्धशुद्धत्वे साध्वसाधुत्वे च शास्त्रैकसमधिगम्ये अलौकिके स्तो यूपाहवनीयाविव। मार्तिके पात्रे चुस्चूषाकारेण कश्चन पानीयं पिबति, तदेव पात्रं गङ्गाजलेन प्रक्षाल्याप्यपरः पानीयं तेन न व्यवहरति, तथा प्रक्षालितेन पात्रान्तरेण राजतादिना पानीयं व्यवहरति साधारणो जनः। शिष्टास्तु स्वव्यवहाराय नैजं पात्रं संरक्षन्ति। एवमस्ति शुद्धाशुद्धत्वे दृष्टिः। यागीयेषु व्रीह्यादिषु द्रव्येषु यथा प्रोक्षणादयस्संस्काराः, तथा शब्देष्वपि निगमनिरुक्तव्याकरणादिभिरनेके संस्कारास्सन्ति विहिताः। एवं संस्काराहिताश्शब्दास्साधवः, तद्विहीनास्त्वसाधवः।

यास्कपाणिन्यादिभिः प्रवर्तिताश्शब्दसंस्काराः केवलं साधुत्वप्रयोजनकाः, न तु साधुशब्दनिष्पादकाः। लक्ष्यैकचक्षुषः खलु भवन्ति महर्षयः। **'इको यणचि'**[2] इति सूत्रप्रवृत्तेः पूर्वं इ उ ऋ ऌणां य व र लाः सन्धिवर्णा नाभवन्, सूत्रप्रवृत्तेरनन्तरमेवेमे वर्णा इति साधनं दुष्करम्। 'मित्रे चर्षौ' इति सूत्रात् प्राङ् महर्षेर्विश्वमित्र इति नामासीत् सूत्रानन्तरञ्च तन्नाम विश्वामित्रोऽभवदिति प्रतिपादनं न विमर्शकानां रञ्जकं स्यात्; प्रत्युत लाघवैकदृष्टिः पाणिनिः विश्वामित्रस्य कृते चतुर्वर्णात्मकं सूत्रमेव रचयन् विश्वामित्रं न विसस्मारेति कथनं मनोरञ्जकं स्यात्। एवञ्च लक्ष्याविरोधेन महर्षयश्शास्त्रेषु प्रावर्तन्तेति स्वीकर्तव्यम्।

अत एव भगवान् जैमिनिः पिकनेमाधिकरणे परम्पराप्राप्तं शब्दार्थव्यवहारमनुसृत्य **'पिकमालभेत'**, **'पैलवो दण्डः'** इत्यादिवाक्येषु पिकादिशब्दानां लोकव्यवहारसिद्धमेवार्थं व्यवस्थापयति।

अयमत्र विशेषः—पिक-नेम-सत-तामरसादयः शब्दा आर्याणां व्यवहारे न सन्निपतन्ति, अनार्याश्च तान् व्यवहरन्ति कोकिलार्धाद्यर्थेषु। अनार्यव्यवहारपतितत्वात्तानर्थानपरिगृह्य निगमनिरुक्तव्याकरणादिसंस्कारेण योऽर्थ आपतति तत्परिग्रहं जैमिनिर्न वाञ्छति, किन्तु तानेवार्थान् स्वीकरोति ये चानार्यव्यवहारपतिताः। यद्यपि गोक्षीरन्यायेन जैमिनेस्तेऽर्था अग्राह्मा एव, तथापि शब्दार्थव्यवहारे गोक्षीरन्यायस्य प्रसक्त्यभावाद् न दोषः। पीलुशब्दस्य तु द्वेधा व्यवहारः—वृक्षे गजे च। उत्तरप्रदेशेषु **'पीलवान'** इति हस्तिपे प्रयोगो दृश्यते। पीलुशब्दो हस्तिवाची। वैदिकास्तु वृक्षे पीलुशब्दं प्रयुञ्जते। वैदिकाः शास्त्रस्थाः, ते यथा शब्दार्थव्यवहार-

१. वाक्यपदीयम्—१।१२३।

२. अष्टाध्यायी—६।१।७७।

मविप्लुतपारम्पर्येण परिपालयन्ति न तथा लौकिकाः। लौकिकास्तु यथाकथञ्चिदर्थावबोधाय शब्दान् व्यवहरन्ति।

'चोर' शब्दोऽकारान्तः स्तेनवाची प्रसिद्धः। शब्दमिममुकारान्तम् 'चोरु' इति परिकल्प्य द्रविडदेशेष्वन्ने व्यवहरन्ति। एवं 'वैरी' इति पदं रेफान्तं विधाय 'वैरु' इत्युदरे व्यवहरन्ति। एवमादिषु शब्देषु शास्त्रस्थानां यत्र प्रयोगस्तत्रैव तस्य पदस्य प्रयोग इति जैमिनेर्मतम्।

अयमत्र जैमिनेर्निष्कर्षः—येषां शब्दानां म्लेच्छेष्वार्येषु च विभिन्नार्थेषु प्रयोगः, यथा—यववराहादीनाम्, तत्रार्यप्रसिद्धिरेव बलीयसी, वाक्यशेषानुगुणत्वात्तस्याः। ये च शब्दाः कस्मिंश्चिदर्थे म्लेच्छप्रयोगेष्वेव वर्तन्ते, आर्यैश्च क्वाप्यर्थे न प्रयुज्यन्ते, तेषां शब्दानां त एवार्था गृह्यन्ते ये म्लेच्छप्रयोगविषयाः। येषां शब्दानामुभयेषामपि विभिन्नेष्वर्थेषु प्रयोगः, यथा पील्वादिशब्दानां तत्र वैदिकप्रसिद्धविषया एवार्था ग्राह्याः, अविप्लुतव्यवहारपरिपालकत्वाद्वैदिकानाम्। देशभाषापभ्रंशपदानि चोरु, वैरु इत्यादीनि विप्लुतिभूयिष्ठानि न ग्राह्याणि इति। एवञ्च शब्दार्थयोस्सम्बन्धोऽविप्लुतव्यवहारसिद्धो नित्य इति तत्र न पुरुषानुप्रवेशः।

सोऽयं सम्बन्धः किमात्मको मीमांसकानामित्यस्य प्रश्नस्योत्तरं श्रीशबरस्वामी भाष्यकारो वदति **'यो व्यपदेश्यस्सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान् प्रत्याय्यस्य प्रत्यायकस्य च यस्संज्ञासंज्ञिलक्षण इति'** इत्यादिना।

अस्यार्थः—संयोगादीनां सम्बन्धान्तराणामभिमतानामसम्भवेऽपि **'शब्देनाऽर्थमभिधत्ते'** इत्यादिव्यवहारानुरोधेनार्थप्रतीत्युद्देश्यिकायां शब्दकरणिकायामभिधानक्रियायां शब्दज्ञानरूपायां तज्जन्यप्रतिपत्तिरूपफलशालित्वेन यत्कर्मत्वं वाच्यत्वरूपमर्थस्य तस्यामेव च यत्कारणत्वं वाचकत्वरूपं शब्दस्य तादृशो वाच्यवाचकभाव एव सम्बन्धश्शक्तिरूपः शब्दार्थयोरनिवार्य इति।

शक्तिरियमपौरुषेया शब्दगताऽर्थगता च भवति—**'सामर्थ्यं सर्वभावानां शक्तिरित्यभिधीयते'** इति वार्त्तिकात्। शक्तेरतिरिक्तपदार्थत्वमभ्युपयन्ति मीमांसका इति प्रसिद्धमेव। सोऽयं वाच्यवाचकभावरूपोऽपौरुषेयस्संबन्धो नित्य इति मीमांसकसरणिः।

शब्दकर्तृत्वेन वेदेषु पुरुषानुप्रवेश इत्यस्मत्सपक्षीया अपि मन्वते दार्शनिकाः। सोऽयमपि पक्षः परीक्षितो जैमिनिना शब्दनित्यत्वाधिकरणे। एकैकस्य दर्शनस्य प्राधान्येन निरूपणीयो विषयः कश्चन निश्चितः। तस्यैव निर्वाहाय तत्सम्बद्धाः पदार्थास्तदनुकूलतया व्यवस्थाप्यन्ते दार्शनिकैरिति स्थितिः। तत्र यत् प्रमाणानां प्रमेयानाञ्चैव प्राधान्येन विवेचनाय प्रवृत्तं तत् प्रमाणशास्त्रमिति प्रथते काणादं गौतमीयं वा, तत्र प्रमाणानां प्रामाण्यं परत इति पन्था अवलम्बितः। तन्निर्वाहाय शब्दस्य कृतकत्वमवस्थापितम्। शब्दस्याप्तनिर्मितत्वे प्रामाण्यम्, अनाप्तनिर्मितत्वे चाप्रामाण्यम्। अतो वेदस्यापीश्वरनिर्मितत्वेन ईश्वरस्य चाप्तत्वेन वेदप्रामाण्यं सिद्धं भवतीति प्रमाणशास्त्रस्य तात्पर्यम्। चतुर्विंशतिगुणेषु शब्दस्यापि परिगणनात्, तत्स्वरूपविवेचनावसरे तस्यानित्यत्वं प्रसाध्य, तत्प्रामाण्यस्य कृते परतस्त्वसरणौ समाश्रितायां वेदस्यापि तथाविधं प्रामाण्यमव्याहतमिति कणादगौतमयोराशयः। प्रमाणप्रमेयैकनिरूपणाय प्रवृत्ताविमौ कणादगौतमौ वेदेन सह दूरतस्सम्बन्धमावहत इत्यत्र न कश्चन संशयः। कथञ्चिद्वेदप्रामाण्यं संसाध्यात्मनो वैदिकसूत्रेण संयोजने तेन च वेदबहिर्भूतानां निष्कासने तन्मतखण्डने चास्येश्वरस्य साधनमावश्यकमिति मन्वानौ कणादगौतमौ पद्धतिमिमां शिश्रियात इत्यभ्यूहितुं शक्यते।

जैमिनीयं दर्शनं तु साक्षाद्वेदसम्बद्धम्। वेदार्थधर्मस्यैव विवेचनाय सम्प्रवृत्तं वाक्यशास्त्रमिति कथ्यते। प्रमाणप्रमेयानां विवेचनन्तु गौणं समाश्रित्य, अथवा ईषद्भेदेनान्यतस्सिद्धं वा तेषां स्वरूपमङ्गीकृत्य मुख्यतया वेदवाक्यार्थविचाराय प्रवृत्तस्य जैमिनेर्वाक्यार्थौपयिकशब्दतदर्थतत्सम्बन्धविषये यद्विवेचनम्, तस्य च या पद्धतिस्तस्या अतिशयत्वे समादरे च न कियानपि सङ्कोचो भवेदिति विभावयामः। अतः शब्दस्य नित्यत्वेन तद्द्वारा वेदेषु पुरुषानुप्रवेशो दुर्लभः। शब्दस्वरूपं प्रतिपादयितुं भाष्यकारश्शबरस्वामी **'अथ गौरित्यत्र कः शब्दः? गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः'** इत्युपक्रम्य **'तस्मादक्षराण्येव पदम्'** इत्युपसंहरति।

सन्दर्भस्यास्येदं तात्पर्यम् **'गौः घटः'** इत्यादौ क्रमिकाः श्रूयमाणा ये वर्णास्तेषामनित्यतयाऽर्थावबोधकत्वानुपपत्तेः श्रूयमाणगकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽर्थप्रत्यायकत्वेनेष्टव्य इति स्फोटवादिनोऽभिप्रयन्ति। मतमिदमौचित्यमावहति न वेत्यत्र विचारो न सङ्गत इति पश्यामि। साधकबाधकयुक्तयो भूयस्यः स्युः। केनचित् खण्डनमात्रेण स्फोटवादो निरस्त इत्यवधारणं नोचितम्। साधकैश्च प्रमाणैः स्फोटवादोऽवस्थापित इति सोऽन्यैरपि स्वीकर्तव्य इति न निर्बन्धः। सर्वोऽपि शास्त्रकारः स्वशास्त्रमर्यादायां तिष्ठन् परिशीलयति--इदमुचितम् उतानुचितमिति।

तत्र मीमांसकमर्यादेयम्—**'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इति विधिः। स्वकुलपरम्परागतायाः शाखाया अध्ययनकर्तव्यतां बोधयति। अध्ययनञ्च गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणम्। उच्चारणमनूच्चारणञ्च वर्णानां भवति। वर्णा एव श्रोत्रेण गृह्यन्ते। श्रोत्रगृहीतेऽर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः। लौकिकवैदिकशब्दानामनन्यत्वं लोकवेदाधिकरणन्यायसिद्धम्। गकारादिव्यतिरिक्तोऽर्थावबोधकश्च शब्दो न श्रोत्रग्राह्यः। कामं तस्य बौद्धिकत्वमुपपन्नं स्यात्। न तेन मीमांसकानां कोऽपि लाभः। यदि वर्णा नित्या भवितुमर्हन्ति, तर्हि न कोऽप्यर्थावबोधने प्रत्यूहः। यदि वा तेऽनित्याः, तर्हि पूर्वपूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितान्तिमवर्णः प्रत्यायक इति विधयाऽर्थावबोधेन न कोऽप्यन्तरायः। अतः स्वाध्यायाध्ययनविधिनाऽक्षराणि गृह्यन्ते, तान्येवाक्षराणि नित्यानि सन्ति अर्थावबोधने निमित्ततां भजन्त इति। एवं वाक्यवाक्यार्थसम्बन्धे कर्तृद्वारा वेदस्यैव वा प्रबन्धस्य निर्माणद्वारा पुरुषानुप्रवेशो दुर्घट इति वाक्याधिकरणे वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे च व्यवस्थापितं जैमिनिना।

इदमिदानीं विवेचनीयम्—यज्जैमिनिः तदनुयायिनो मीमांसकाश्च वेदवाक्यार्थनिर्णयाय वाक्यगतानां पदानामर्थावधारणे कानुपायानवलम्बन्त इति। अश्वप्रतिगृहेष्टिविधायकं वाक्यमस्ति—**'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्'** इति। अत्र **'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णाति स तावत्संख्याकान् वरुणदेवताकचतुष्कपालद्रव्यकयागान् कुर्यात्'** इत्यापाततोऽर्थः प्रतीयते। अत्र सिद्धान्ते 'प्रतिगृह्णीयात्' इत्यस्य 'प्रतिग्राहयेत्' इत्यर्थं स्वीकृत्य अश्वानां दातैव क्रतूनिमान् समाचरेत्, न तु प्रतिग्रहीता इति व्यवस्थापितं जैमिनिना।

अयमत्रत्यसन्दर्भविवेकः—**'प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्, स स्वां देवतामाच्छंत्, स पर्यदीर्यत, स एतं वारुणं चतुष्कपालमपश्यत्, तन्निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत, वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति'** इत्यन्तं परकृतिरर्थवादः। अन्ते च **'यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्'** इति विधिवाक्यम्। प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्—अदात्। 'सः' प्रजापतिः स्वां स्वकीयां देवतां सम्प्रदानभूतं वरुणम् आर्च्छंत् प्राप्तवान्। प्रजापतिरश्वं दत्वा वरुणग्रहं प्राप्तवानित्यर्थः। 'सः' प्रजापतिः पर्यदीर्यत—जलोदरेण व्याधिना उदरे विदीर्णोऽभवत्। 'सः' प्रजापतिः एतं वारुणं चतुष्कपालं यागमपश्यत्; तन्निरवपत् तमन्वतिष्ठत् ततः—तेन सः प्रजापतिः वरुणग्रहादमुच्यत इत्यर्थवादभागस्यार्थः। तत ऊर्ध्वं विधिः—'यावतोऽश्वान्' इति। अत्र प्रतिपूर्वकगृह्णतेर्यदि प्रतिग्रहोऽर्थस्तर्हि उपक्रमगतार्थवादस्य सङ्गतिर्न स्यात्, अर्थवादगतैः 'सः' इति तच्छब्दैः

प्रजापतेरेव दातुरभिधानात्। तात्पर्यनिर्णायकप्रमाणेषु उपक्रमोपसंहाराविति प्रथमं प्रमाणम्। तेन उपक्रमानुसारेणोपसंहारः कर्तव्यो भवति। विध्य पेक्षयार्थवादस्य दुर्बलत्वेऽपि उपक्रमगतस्य तस्य प्राबल्यमङ्गीकर्तव्यं भवति। अतस्तदनुरोधेनोपसंहारस्य विधिगतस्य प्रतिपूर्वकगृह्णातेर्दानमेवार्थ एष्टव्यः—योऽश्वान् प्रतिगृह्णीयाद् दद्यात् प्रतिग्राहयेद्वा स वारुण्येष्ट्या यजेत इति। सर्वमिदमालोच्य जैमिनिस्सूत्रयति—**'सा लिङ्गादार्त्विज्ये स्यात्'** (३.४.३७) इति। सा—वारुणीष्टिः आर्त्विज्ये—ऋत्विक्सम्प्रदानके याजमानेऽश्वदाने स्यात्, लिङ्गात्—उपक्रमसामर्थ्याद् इति सूत्रस्यार्थः।

देशभाषासु **'सम्भ्रान्तपण्डितः'** इति सम्भ्रान्तपदमुत्कर्षे, **'भीषणसुन्दरः'** इति भीषणपदमाधिक्ये च प्रयुज्यमानमनुभवामः। तत्र कारणे पृष्टे भाषाविज्ञानिनो ब्रुवन्ति यदस्मिन्नर्थेऽयं शब्दः प्रचलित इति। संस्कृते च सम्भ्रान्तपदं भीषणपदञ्च भ्रान्तियुक्तस्य भयङ्करस्य च वाचक इति प्रसिद्धम्। सत्यामप्येवं प्रसिद्धौ, जानन्तोऽपीमां प्रसिद्धिं विरुद्धार्थे तयोश्शब्दयोः प्रयोगे न सङ्कोचमाचरन्ति। तत्र च हेतुः प्रचलितत्वमेव। प्रचलितत्वञ्चाधारशून्यमेव। शब्दानुपूर्व्यामपभ्रंशस्सहजः, किन्तु कस्मिंश्चनार्थे प्रसिद्धस्यार्थान्तरे प्रयोगो विना कारणेन क्रियमाणश्शास्त्रस्थानुद्वेजयेदेव।

मीमांसका एकत्र प्रसिद्धशब्दं तद्विपरीतेऽर्थे कल्पयन्ति, किन्तु तत्रोचितं कारणं परिदर्शयन्ति। किन्तु विपरीतार्थावलम्बने यद् यत्र कारणम्, तदेव कारणं स्थलान्तरेऽप्यर्थान्तरावलम्बायेति नातिदिशन्ति। यथा—**'कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे'** इति मन्त्रे प्रयुक्त इन्द्रशब्दो वज्रहस्ते प्रसिद्धः, अतोऽयं मन्त्र इन्द्रदेवताककर्मणि विनियोक्तव्यो लिङ्गात्। अयमेव मन्त्रः क्वचिद् गार्हपत्योपस्थाने **'ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते'** इति विधिना विनियुक्तो गार्हपत्यमग्निं प्रकाशयितुं प्रवर्तते। तत्र 'इन्द्र' पदस्य गार्हपत्यार्थबोधकत्वं स्वीक्रियते। अत्रार्थान्तरे इन्द्रशब्दस्य प्रयोगे विनियोजकं ब्राह्मणवाक्यं कारणम्। विधिमन्त्राधिकरणन्यायेन विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यं संरक्षणीयमिति हेतोर्ब्राह्मणवाक्यानुसारेण मन्त्रगतेन्द्रशब्दस्य इदिधातो रन्प्रत्ययान्तस्य परमैश्वर्यसम्पन्नो गार्हपत्य एवार्थः स्वीक्रियते। अयमेवैन्द्रीन्याय इति कथ्यते। एवं **'हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्'** इति कश्चन मन्त्रः। **'प्रजापतिर्वै हिरण्यगर्भः'** इति वाक्यशेषेण हिरण्यगर्भः प्रजापतिः। **'समवर्तताग्रे जातः'** इति प्रपञ्चसृष्टेः प्रागाविर्भावकथनम्। **'भूतस्य पतिः'** इति स्वसृष्टजगदुत्पत्तित्वम्, **'एक आसीत्'** इति सृष्टेः प्रागेकत्वञ्च।

इदं सर्वं सृष्टिकर्तरि प्रजापतावुपपद्यते। अस्यां स्थितावयं मन्त्रः 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्र इत्याधारमाधारयति' इति वाक्येन वायव्ययागे आधाराङ्गत्वेन विनियुक्तः। आधारशब्दस्य घृतेन क्षारणमर्थः। चतुरस्राकारे आहवनीये वायव्यादाग्नेयान्तम्। एवं निर्ऋत्या ईशानान्तञ्च घृतं क्षार्यते। तदिदं पूर्वाधार उत्तराधारश्चेति कर्मद्वयम्। प्रकृतौ दर्शपूर्णमासयोः पूर्वाधारोऽमन्त्रकः प्रजापतिदेवताकः, उत्तराधारश्च समन्त्रक इन्द्रदेवताकश्च भवतः। अतिदेशेन कर्मद्वयमिदं वायव्यविकृतियागे प्राप्तम्। तत्र हिरण्यगर्भमन्त्रस्य प्राकृतमिन्द्रदेवताकं मन्त्रं बाधित्वा उत्तराधार एव निवेश इति दशमतृतीये सिद्धान्तितं जैमिनिना। उत्तराधारस्येन्द्रदेवताकत्वेऽपि **'यो ह वै खलु वाव प्रजापतिः स उ वै इन्द्रः'** इति वाक्यशेषेण प्रजापतिशब्दस्येन्द्रोऽर्थ इत्यवलम्ब्य विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यं संरक्ष्यते। अयमेव हिरण्यगर्भन्याय इति व्यवह्रियते। एवञ्चोचितं कारणं प्रदर्श्यार्थान्तरे प्रसिद्धानां पदानामर्थान्तरे निवेशो मीमांसकमर्यादासिद्धः।

दार्शनिकपदार्थविवेचनावसरे तस्य तस्य दार्शनिकस्य पृथक् पृथक् पन्थाः कामं भवेत्। स च पन्थाः स्वस्वदर्शनपरम्परां मर्यादाञ्चानुसृत्य प्रवर्तते। मतान्तरस्य समालोचनावसरे खण्डनप्रसङ्गे च मतान्तरसम्बन्धिनीं परम्परां मर्यादाञ्चानुसृत्यैव समालोचनेन खण्डनेन वा भवितव्यमित्यस्ति दार्शनिकानां समयः। स्वस्वदर्शनेऽपि पूर्वजानां मतमवरजैस्समालोच्यते खण्ड्यते च, किन्तु तावता नेदमभ्युपगन्तुं शक्यते यदेकस्मिन्नेव

दर्शने परम्परा मर्यादा च भिन्नेति। स्वस्वपरम्परायां मर्यादायाञ्च स्थित्वैवावरजः समालोचयति खण्डयति च। सोऽप्यवरजः कालान्तरे पूर्वजो व्यवह्रियेतैव।

एवं खण्डनमण्डनपरम्परायां समर्यादायां सत्यामप्येकरूपतां दार्शनिका न जहति। शब्दार्थस्वरूपविषये तु समेषां दार्शनिकानां विमर्शकानाञ्चैकरूप्यमेव स्वीकर्तव्यं भवेत्। शब्दस्यानित्यत्वं साधयितुमैदम्पर्यमावहन्तोऽपि 'घटः' इत्येवानुपूर्वीमुत्पादयेयुः कम्बुग्रीवादिमति, न तु 'टघः' इति। शब्दः कृत्रिम इत्येतावता यथा तथा वा पुरुषः शब्दान् रचयितुं प्रभुर्न भवेत्। एवमर्थस्वरूपविषयेऽपि। प्रान्तभेदेन देशभेदेन वा घटस्याकार भवन्ति भिन्नाः, तथापि तत्तदाकारवति घटशब्दप्रयोगस्तु नियतः। पिकशब्दः परिवर्तनेन कपिर्भवति। अतः कपिशब्दस्य निर्माणं पिकशब्दाज्जातमिति कथनं किं युक्तियुक्तम्? एवं कटपयादिसंख्याशास्त्रानुसारेण पिककपिशब्दयोरेकैव 'एकादश' रूपा संख्या निष्पद्यत इत्यनयोरेक एवार्थ इति किं निश्चेतुं शक्यम्? यद्येवं तर्हि घट इत्यस्य एकचत्वारिंशत् सङ्ख्या समायातीति टघशब्दोऽपि घटार्थकस्स्यात्। अतश्शब्दतदर्थस्वरूपतत्सम्बन्धविषये किञ्चन प्रबलं नियामकं प्रमाणं सर्वैरेष्टव्यम्।

तदत्र मीमांसकैरवधृतं प्रमाणं निराबाधमित्युत्पश्यामः। तत्र मीमांसा वेदवाक्यार्थनिर्णयाय प्रवृत्ता शब्दशब्दार्थं आवश्यकतानुसारेण सप्रमाणं विवेचयतीति पूर्वमवोचाम। वेदानर्थतश्शब्दतश्च संरक्षितुं षडङ्गानि महर्षिभिः प्रवर्तितानि सन्ति प्रसिद्धानि। तत्र शिक्षाव्याकरणच्छन्दोविचितयो वर्णम्, तत्समुदायं पदम्, तत्समुदायं वृत्तमपि यथायथमवबोध्य वैदिकीमक्षरानुपूर्वीमनपायं परिरक्षितुं प्रावर्तन्त। तथार्थव्यवस्थोपयोगिनस्त्रयो निरुक्तं ज्यौतिषं कल्पश्चेति। यावद्वेदे शब्दस्य प्राधान्यम्, तावदेवार्थस्यापि। यदि शब्दप्रधान एव वेदोऽभविष्यत्, न तर्हि जैमिनिः शब्दवत्तदर्थतत्सम्बन्धान् नित्यानवक्ष्यत्। पाणिनेर्वैदिकप्रकरणं स्वरप्रकरणञ्चेममेव विषयमवद्योतयतः—यद्वेदेषु शब्दानां स्वराणाञ्चाध्ययनपरम्परासमागतं नियतं स्वरूपं कीदृशमिति। प्रातिशाख्यापरपर्यायाः शिक्षाया अध्ययनेन स्पष्टं प्रतीयेत यच्छब्दस्वरूपपरिपालने तस्याः कीदृशी जागरूकतेति।

एवं वैदिकच्छन्दसां परिरक्षणे छन्दोविचितेः। एवमर्थव्यवस्थोपयोगिनां निरुक्तज्योतिषकल्पानां कियदुपकारकत्वमिति तत्तद्ग्रन्थपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवानां न तिरोहितं किञ्चित्। इमान्यङ्गानि पुराणन्यायधर्मशास्त्राख्यानि त्रीण्युपाङ्गानि च प्रमाणतयाऽवलम्ब्य जैमिनिः शब्दतदर्थस्वरूपविवेचनं करोति। दशमाध्यायस्य पञ्चमपादे **'अनभ्यासे पराक् शब्दस्तादर्थ्यात्'** (१०.५.३९) **'आग्रयणाद्वा पराक्शब्दस्य देशवाचित्वात् पुनराधेयवत्'** (१०.५.४१) इति सूत्रद्वयम्। प्रथमं सूत्रं पूर्वपक्षिणः, सिद्धान्तिनश्चोत्तरं सूत्रम्। **'पराञ्चमुक्थ्यान्निगृह्णाति'** इति वेदवाक्यार्थनिर्णयाय 'पराञ्चम्' इति शब्दस्यार्थे विचारः। अनभ्यासार्थकः पराक्छब्दः पूर्वपक्षिणः **'पराचोस्सामिधेनीरन्वाह'** इति वेदवाक्ये पराक्छब्दस्यानभ्यासवाचित्वादिति पूर्वपक्षिणो युक्तिः। सिद्धान्तिनस्तु स शब्दः कालवाची **'पराचीनमग्न्याधेयादग्निं पुनरादधाति'** इति वेदवाक्ये कालवाचितया तस्य शब्दस्य प्रयोगादिति युक्तिः।

अत्रायं विषयविवेकः—ज्योतिष्टोमे सोमयागे षोडशीति कश्चन ग्रहः। ग्रहशब्दस्य दारव उलूखलाकारः पात्रविशेषोऽर्थः। अस्मिन् ग्रहे सोमरसः कस्मात् पात्राद् ग्रहीतव्य इति विवादः। **'आग्रयणात् षोडशिनं गृह्णाति' 'उक्थ्याद् गृह्णाति'** इति वाक्यद्वयेन पात्रद्वयाद् ग्रहीतव्यमित्युभयोरपादानत्वं स्पष्टमवगम्यते। किन्तु **'उक्थ्याद् गृह्णाति'** इति वाक्यस्य **'पराञ्चमुक्थ्यान्निगृह्णाति'** इति वाक्येनैकवाक्यतां कृत्वा **'उक्थ्यात्'** इति पञ्चम्या अपादानत्वं सम्भवति न वेति विचारस्समापन्नः।

तत्र पूर्वपक्षी **'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी'** इति वैयाकरणमर्यादामवलम्ब्य पराक्छब्दस्यानभ्यासार्थकत्वं वेदबोधितं स्वीकृत्यानभ्यासो यथा स्यात् तथा षोडशिनि उक्थ्यापादानकस्सोमरसो ग्राह्य इति

स्वपक्षमुपस्थापयति। सिद्धान्ती तु पराक्छब्दस्य सप्रमाणं कालवाचित्वमङ्गीकृत्योक्थ्यग्रहग्रहणोत्तरकालमाग्रयणान् षोडशिग्रहे सोमो ग्राह्य इत्यभिप्रैति। तत्राग्रयणस्यैवापादानत्वम्, न तूक्थ्यस्येति सिध्यति। पूर्वपक्षे सिद्धान्ते च पराक्शब्दार्थस्य प्रमाणं तुल्यं वेदरूपम्, तर्हि कतरः पक्षो ग्राह्यः? विनिगमनाविरहात् पक्षद्वयं तुल्यमेव स्यादिति चेत्, पूर्वपक्षे तस्यानभ्यासवचनत्वे उक्थ्याद् अनभ्यासमित्यन्वयस्स्यात्। तत्र प्राप्ते षोडशिग्रहणे उक्थ्यापादानकत्वस्यानभ्यासस्य च विधाने वाक्यभेदः। उक्थ्यात् पराचीनमूर्ध्वकालीनमित्यन्वये उक्थ्यापादानत्वाभावात् प्राप्तं षोडशिग्रहणमुद्दिश्योर्ध्वकालत्वमात्रविधाने वाक्यभेदाभावः। उक्थ्यस्यापादानत्वाभावे पञ्चमी तु **'अन्यारादितरर्ते दिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते'** इति सूत्रेण भवति। चैत्रात् पूर्वः फाल्गुन इत्यादिप्रयोगनिर्वाहाय दिशि दृष्टश्शब्दो दिक्शब्द इति वैयाकरणैर्व्याख्यातत्वात्। यद्यपि पूर्वपक्षिमते 'उक्थ्यात्' इत्यत्र कारकविभक्तिस्सिद्ध्यति, सिद्धान्तिनस्तु मत उपपदविभक्तिः, तथापि पूर्वपक्षिमतं वाक्यभेदादिबहुदोषवदिति **'उक्थ्यात् पराञ्चम्'** इत्युपपदविभक्त्याश्रयणस्यैवोचितत्वात्। तस्मादाग्रयणादेव षोडशिग्रहणम्।

अनेन सन्दर्भेणेदं निश्चितं भवति यत् कस्यचन शब्दस्यार्थनिर्द्धारणाय पूर्वापरसन्दर्भं वाक्यशेषं वृद्धव्यवहारं निगमनिरुक्तव्याकरणादिकञ्च पर्यवेक्षणीयम्, तदनुसारेणैव निश्चितोऽर्थः प्रत्येतव्य इति।

षष्ठाध्यायस्यान्तिमेऽधिकरणे पशुशब्दार्थो विचारितः। पशुशब्दो जीवमात्रे वर्तते 'पशुपतिः' इत्यादौ, चतुष्पात्स्वेव व्यवह्रियते पशवश्चरन्ति इत्यादौ। कृमिकीटपतङ्गादिष्वण्डजेषु पशुशब्दव्यवहारो न दृश्यते। अस्यां स्थितौ **'पशुना यजेत' 'अग्नीषोमीयं पशुम्'** इत्यादिवेदवाक्येषु पशुशब्दार्थः क इति विचाराय प्रवृत्तो जैमिनिस्सूत्रयति—**'छागो वा मन्त्रवर्णात्'** इति। अत्रत्यः पूर्वपक्षी आकृत्यधिकरणन्यायसिद्धं शब्दानां जातिवाचकत्वमङ्गीकृत्य पशुत्वमेव पशुशब्दार्थः, तस्य साक्षाद्यागसाधनत्वेऽनुपपन्ने सति परिच्छेदकतया व्यक्तेरुपस्थितौ या कापि पशुव्यक्तिर्यागसाधनमिति मन्यते।

सिद्धान्ती च जातिवाचकत्वं शब्दानामपरित्यज्य वाक्याशेषाधिकरणन्यायेन छागविशेषव्यक्तौ जातेः पर्यवसानमिति व्यवस्थापयन् छागव्यक्तिर्यागसाधनमिति मन्यते। तत्र सिद्धान्तिनः **'छागस्य वपाया मेदसः'** इति मन्त्रोऽवलम्बः। अर्थवादो यथा विधिगतसामान्यस्य विशेषार्थव्यवस्थापकः, तथा मन्त्रोऽपि तादृशकार्यसम्पादने क्षमः।

यद्यपि विध्यर्थवादयोरेकवाक्यत्वादर्थवादस्य विधिगतसामान्यव्यवस्थापकत्वं यथा, न तथा मन्त्रस्य; मन्त्रस्तु स्थलान्तराधीनो विध्येकवाक्यतामवाप्तुं न क्षमः, तथापि मन्त्राणां प्रयोगविध्येकवाक्यतायास्सत्त्वात् प्रयोगविधिना तस्योपसंहारः कर्तुं शक्यत इति न दोषः। विशेष्यविशेषणभावस्सर्वत्र नैकरूपः, क्वचिदेकपदोपात्तयोरपि भवति, यथा—पशुना इत्यत्र लिङ्गसंख्यादेः प्रकृत्यर्थे, प्रकृत्यर्थस्य च कारके प्रत्ययार्थे। क्वचित् पदद्वयोपात्तयोः। यथा—शुक्लः पट इत्यत्र। क्वचिच्च वाक्यद्वयस्थयोरपि। यथा प्रयोगवचनमन्त्रवाक्ययोः। तदिदमुपसंहृतं जैमिनिना—**'न वा प्रयोगसमवायित्वात्'** इति सूत्रेण। अतः पशुशब्दः छागपर एव। एवञ्च शब्दार्थावधारणाय क्वचिन्मन्त्रस्यापि व्यापृतिरस्तीति सिध्यति।

'पृष्ठ्यषडहो बृहद्रथन्तरसामा कार्यः' इत्येकं वाक्यम्। अत्र **'बृहद्रथन्तरसामा'** इति शब्दस्यार्थो विचारितो दशमस्य पञ्चमे। बृहदिति रथन्तरमिति च साम्नोर्नामनी। षडह इति षड्भिर्दिनैस्साध्यस्सोमयागः। स च द्विविधः—पृष्ठ्यः, अभिप्लवश्च। पृष्ठस्तोत्रयुक्तः पृष्ठ्यः, अभितः प्लवते यः सोऽभिप्लवष्षडहः। द्वादशाहे क्रतौ पृष्ठ्यषडहो यस्तस्य विकृतिः गावामयनिकषडहः। प्रकृतौ द्वादशाहिकषडहे क्रमेण षट्सु दिनेषु रथन्तरं बृहद् वैरूपं वैराजं शाक्वरं रैवतमिति षट् सामानि विहितानि। तद्विकृतावस्मिन् गावामयनिकषडहे बृहद्रथन्तर-

योरेव साम्नोर्गानम्, न तु वैरूपादेरिति वाक्यमिदमवबोधयति। तत्र प्रत्यहं बृहद् रथन्तरमित्युभे सामनी गेये, उत बृहद्रथन्तरमिति षट्सु दिनेष्वावृत्त्या एकैकस्मिन्दिन एकैकं गेयमिति विप्रतिपत्तिः।

बृहद्रथन्तरसामन्शब्दस्य द्वेधा समासः—बृहच्च रथन्तरञ्चेति बृहद्रथन्तरे, ते सामनी यस्य स इति, बृहद्रथन्तरं सामेति त्रिपदबहुव्रीहिरिति। अन्यपदार्थस्तूभयत्र समानः, किन्तु द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहौ इतरेतरसाहित्यस्य प्रतीतेर्यस्मिन्नहनि बृहत् तस्मिन् रथन्तरसाहित्यमप्यावश्यकमित्यन्यपदार्थ एकैकस्मिन्नहनि सामद्वययोगः प्रतीयते। त्रिपदबहुव्रीहौ तु न, तथाप्येकैकस्मिन्नहन्येकैकस्य साम्नो योगः प्रतीयते। अतोऽन्यपदार्थस्य समानत्वेऽप्यनुष्ठाने वैलक्षण्यमापततीति समासेनार्थावधारणमावश्यकम्। तत्र **'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यं समासवचनम्'** इति भगवतः कात्यायनस्य वचनेन त्रिपदबहुव्रीहौ द्वन्द्वसमासावश्यम्भावाद् नित्यग्रहणेन पाणिनीयविभाषाधिकारस्य **'यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** इति नीत्या सङ्कोचावश्यम्भावाद् द्वन्द्वगर्भबहुव्रीह्याश्रयणेनेतरेतरसाहित्येनैव साम्नोर्विधानमिति प्रत्यहं सामद्वयं गेयमिति पूर्वपक्षिण आशयः।

अत्र सिद्धान्तसूत्रं जैमिनेः—**विभक्ते वाऽसमस्तविधानात्तद्विभागेऽविप्रतिषिद्धम्'** इति। बृहद्रथन्तरे सामनी विभक्ते प्रत्यहमन्यतरत्स्यादित्यर्थः। अत्र हेतुः—असमस्तविधानादिति। त्रिपदबहुव्रीहिमाश्रित्यासमस्तयोः—इतरेतरनिरपेक्षयोः साम्नोर्विधानादित्यर्थः। कात्यायनवचनन्तु बृहद्रथन्तरसामा इत्यत्र न प्रवर्तते। त्रिपदबहुव्रीहौ अवान्तरद्वन्द्वतत्पुरुषयोर्महाविभाषया विकल्पे प्राप्ते, द्वन्द्वतत्पुरुषाभावपक्षे **'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे'**, **'गोरतद्धितलुकि'** इति समासान्तप्रत्ययाभावे सति **'वाक्त्वक्प्रियः पञ्चगोधनः'** इत्यपि प्रयोगः प्रसज्येत। वाक्त्वचप्रियः, पञ्चगवधन इत्येव प्रयोग इष्यते। अतोऽवान्तरद्वन्द्वतत्पुरुषयोर्नित्यत्ववचनम्। एवञ्च यत्रावान्तरद्वन्द्वतत्पुरुषयोः प्रवृत्तावप्रवृत्तौ च शब्दरूपान्यत्वं तत्रैवेदं कात्यायनवचनं प्रवर्तते। बृहद्रथन्तरसामा इत्यत्र त्रिपदबहुव्रीहौ द्वन्द्वप्रवृत्तौ तदप्रवृत्तौ च न रूपान्यत्वमवलोक्यते। अतो नात्र द्वन्द्वस्य नित्यता। तर्ह्यत्र द्वन्द्वगर्भद्विपदबहुव्रीहिर्वेति कथं निश्चीयतामित्यत्राह तद्विभागेऽविप्रतिषिद्धमिति। परस्परनिरपेक्षतया साम्नोर्विधाने सति अतिदेशवाक्यमविरुद्धमित्यर्थः। यथा प्रकृतौ द्वादशाहिकषडहे प्रतिदिनमेकैकं साम गीयते चेन्न विरोध इति तात्पर्यम्। पूर्वपक्षिणो मते प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्येत्यतिदेशवाक्यं नानुसृतं स्यात्, सिद्धान्तिनस्तु मते तदनुसृतं स्यादिति भावः।

स्वरभेदेनार्थभेदः, अर्थभेदेन च पदभेद इति रीत्या द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहौ बृहद्रथन्तरसामा इत्यत्र पूर्वपदं बृहद्रथन्तरपदम्; तच्च समासस्वरेणान्तोदात्तम्, तत्प्रकृतिकस्वर एव बृहद्रथन्तरसामशब्दः। त्रिपदबहुव्रीहौ च पूर्वपदं बृहत्पदम्, तत्र प्रातिपदिकस्वरेणान्तोदात्तम्, तत्प्रकृतिकस्वरो बृहद्रथन्तरसामशब्द इति रूपान्यत्वमत्रापि विद्यत इवाभाति; तथापि शिक्षाग्रन्थेषु ब्राह्मणभागे भाषिकस्वरस्य स्वीकृतत्वान्नात्र स्वरभेदप्रयुक्तरूपान्यत्वप्रसक्तिरिति मीमांसकसम्प्रदायः। एवञ्च वाक्यार्थावधारणाय मीमांसकाः क्वचिद् व्याकरणम् क्वचित् शिक्षाग्रन्थम्, क्वचिदर्थवादम्, क्वचिन्मन्त्रवर्णम्, क्वचिच्चोपक्रमोपसंहारसन्दर्भं प्रमाणीकृत्य शब्दतदर्थनिश्चये प्रवर्तन्ते।

तत्रायं विशेषः पूर्वपक्ष्यपि यन्मतं प्रस्तौति तदपि पूर्वोक्तप्रमाणेष्वन्यतममादायैव। पूर्वपक्ष इत्येतावता न स प्रमाणविहीनो भवति। सिद्धान्त्यभिमतप्रमाणेषु प्रदर्श्यमानेष्वपि तत्र वर्तमानं दौर्बल्यं न्यूनतां वा समुद्घाट्य सिद्धान्ती स्वमतं व्यवस्थापयति शब्दार्थस्वरूपचिन्तनधारेयं मीमांसायामनितरसाधारणी। जैमिनिसूत्रेषु परिशील्यमानेषु तत्रेदं वैचित्र्यं स्पष्टमेव भाति यज्जैमिनेः प्राक्कालवर्तिनां शब्दतदर्थविषये यन्मतं तदुल्लिख्य तैरुच्यमानं हेतुञ्च निर्दिश्य तदौचित्यानौचित्यपरीक्षणं महर्षिः करोतीति। एवं नैकविधया दृष्ट्या निष्कृष्टवेदवाक्यार्थशब्दतदर्थविचारः प्रवर्तितो मीमांसकैः।

तत्र जातिशक्तिवादिनो मीमांसका इति प्रसिद्धम्। 'आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्' इति सूत्रयन्नाकृत्यधिकरणे जैमिनिः शब्दस्यार्थं आकृतिरिति प्रतिजानीते, किन्त्वेतदधिकरणपूर्वपक्षिणोऽपि व्यक्तिशक्तिवादिनस्स एव हेतुः, यश्च सिद्धान्तिनो जातिशक्तिवादिनः। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यत्र व्रीहिशब्दार्थो यदि व्रीहित्वं जातिः, र्तांह तत्र प्रोक्षणक्रिया न सम्पद्येतेति व्यक्तिरर्थं इति पूर्वपक्षिणो मतम्। 'श्येनचितं चिन्वीत' इत्यत्र श्येनशब्दार्थो यदि व्यक्तिः, र्ताह चयनक्रिया नोपपद्यत इति जातिरर्थं इति सिद्धान्तिनोऽभिमतम्। कथमत्र निर्णयो भवतु ? नात्र निर्णयाय कस्यचन वैदिकस्य प्रमाणस्यावलम्बः पूर्वोत्तरपक्षिणो भवितुमर्हति। न चात्र कस्यचन महर्षेरनुशासनं विलोकयामः—यज्जातिरेव शब्दस्यार्थो न व्यक्तिः, व्यक्तिरेव तादृशी न जातिरिति। शब्दार्थचिन्तनधारैव परिशीलनीया पूर्वोत्तरपक्षिभ्याम्। तत्र यः पक्ष औचित्यमावहति प्राप्तान् विरोधान् परिहरेत्, शास्त्रमर्यादाञ्च नोल्लङ्घते, स पक्षो ज्यायान् ग्राह्यश्चेति निर्णयः कर्तव्यः। एषा च चिन्तनधारा मीमांसकानाम्। 'श्येनचितं चिन्वीत' इत्यत्र श्येनशब्दस्य पक्षिविशेषव्यक्तिवाचित्वे चयनप्रयोग एवानुपपन्नस्स्यात्। 'व्रीहीन् प्रोक्षति' इत्यत्र व्रीहिशब्दस्य जातिवाचित्वे प्रोक्षणक्रियाया अनुपपत्तिरिति समानायामप्यनुपपत्तौ पूर्वपक्ष्यनुपपत्त्यपेक्षया सिद्धान्तिनोऽनुपपत्तिर्गरीयसी दुर्वारा च।

पूर्वपक्षी दर्शपूर्णमासाङ्गव्रीह्यङ्गप्रोक्षणस्यानुपपत्तिं दर्शयति 'अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यात्' इति द्वादशिकाङ्गगुणविरोधन्यायेनाङ्गाङ्गप्रोक्षणानुपपत्त्यपेक्षया प्रधानाङ्गचयनानुपपत्तिर्गरीयसी। इत्थञ्चानुपपत्तिर्दुर्वारा। प्रोक्षणानुपपत्तिश्च द्रव्यपरिच्छेदकतया समाधातुं शक्या। 'श्येनचितं चिन्वीत' इत्यत्र तु श्येनपक्षिणो द्रव्यस्य प्रकृते नोपयोगः। न हि श्येनपक्षिभिर्यागः क्रियते व्रीहिवत्, किन्तु इष्टकाभिश्चयनक्रिया सम्पादनीया। तच्च चयनं श्येनाकारवत् सम्पादनीयम्। तत्र श्येनशब्दस्य पक्षिवाचित्वेऽनुपपन्नं चयनं स्यात्। अत आकृतिः शब्दस्य शक्येति सिद्धान्तः। शब्दार्थनिश्चये एतादृशी विचारधारा मीमांसकानाम्।

सोमस्वरूप-विमर्शः

पवित्रतमोऽयं भारतदेशः कर्मभूमिरिति चिरात्परिगण्यते। कस्यापि देशस्य समाजस्य वा पवित्रतायां देशसमाजान्तर्गतैरनुष्ठीयमानं कर्मैव कारणम्। कायेन मनसा वाचा चोच्चावचानि कर्माणि मानवैः क्रियन्ते। तानि दुष्कृतान्यपि भवेयुस्सुकृतान्यपि। सुकृतदुष्कृतत्वयोर्निर्णयो बुद्धिमता मानवेन कर्तव्यः। कर्माचरणेनैव वृत्तं (चारित्रं) सिध्यति। किं सुकृतं किं वा दुष्कृतम्? किं सुवृत्तं किंवा दुर्वृत्तमिति सर्वो मानवो विचिकित्सते। तत्रैतन्निर्णयाय **श्रुतिः स्मृतिस्सदाचार आत्मनस्तुष्टिरेव च'**[1] इति सन्ति साधनानि। बलाबलाधिकरणन्यायेन पूर्वं पूर्वं प्रबलमुत्तरमुत्तरञ्च दुर्बलमिति शास्त्रविदां मर्यादा। अपच्छेदन्यायेनोत्तरस्यैव प्राबल्यमस्तु किं बलाबलाधिकरणन्यायाश्रयणेन? तेनात्मनस्तुष्टेरेव निर्णयकारणत्वमस्तु इत्याधुनिको द्राक्प्रश्नमुपस्थापयेत्। तथा च यत्रैवात्मनस्तुष्टिस्सैव निर्णायिकेति स प्रब्रूयात्। किन्त्वत्रेदं विचिन्तनीयम्—'आत्मतुष्टिं' नियतां न वयमवलोकयामः। उत्तरभारते जनाः रामकृष्णयोर्लीलोत्सवदर्शने करणे चात्मनस्तुष्टिमनुभवन्ति, दक्षिणभारते च रावणलीलोत्सवप्रवर्तने आत्मतुष्टिं पश्यन्ति। रामकृष्णादयोऽयोध्यामथुराभिजनाः। रावणश्च लङ्काभिजनः। दक्षिणस्यां दिशि लङ्काया निवेशः अयोध्यामथुरयोश्चोत्तरस्याम्। दिग्देशसमाजसम्प्रदायभेदेनात्मतुष्टेः प्रामाण्ये महान् विप्लवस्स्याद्देशसमाजयोः। मलविसर्जने मृदा शुद्धावात्मनस्तुष्टिं मनुते कश्चन, अपरस्तु प्रोञ्छनेनैव शुद्धमात्मानमवैति रावणलीलाप्रवर्तकः। येन यत् सदाचारतयाऽवलम्बितं तद्वैपरीत्यावलम्बनमेव स्वस्य प्रियमिति ब्रूयाद् रावणलीलाप्रवर्तकः, तर्हि गोमयेन गृहद्वारदेशाः अग्निहोत्र-शालाश्चावलिप्यन्ते, तेन च तद्विपरीतद्रव्येण स्वगृहद्वारदेशा अनुलिम्पनीयाः स्युः। अतः **'स्वस्य च प्रियमात्मनः' 'आत्मनस्तुष्टिरेव च'** इत्यनयोर्नायमर्थो यः पूर्वमुपवर्णितः। श्रुति-स्मृति-सदाचारेषु यन्नानारूपत्वमुपलभ्यते तत्र यदात्मनः प्रियं यत्र चात्मनस्तुष्टिस्तदाचरणीयमित्यर्थः। तत्रापि सदाचाराणां स्मृतिभिः, स्मृतीनाञ्च श्रुतिभिर्विरोधे प्रसक्ते जैमिनीयन्यायैर्यन्निर्णीयते तत्रैवात्मतुष्टिरवलम्बनीयेति। अत एव श्रुतीनां निरपवादं प्रामाण्यमवस्थापितं शास्त्रविद्भिः। एवञ्च सदाचारविरुद्धानामात्मतुष्टीनाम्, स्मृतिविरुद्धानां सदाचाराणाम्, श्रुतिविरुद्धानां स्मृतीनाञ्चाग्रहणमिति शास्त्रकाराणां मर्यादा। मर्यादामुल्लङ्घ्य गच्छन्तो रावणलीलामपि प्रवर्तयेयुः कंसकीचकलीलामपि। अस्यैव परिपाकमिदानीं प्रत्यक्षमीक्षामहे। त्यागी नेता चेति लोकैः प्रशस्तोऽद्य शासनसूत्रं विच्छेदयितुं द्विजानाम् उपवीतं सूत्रं विच्छिन्धि शिखां कर्तयेति लोकान् यथेच्छं प्रेरयति। इदानीमासीदेतादृशी स्थितिर्देशस्य। अस्तु यथा तथा वा। इदन्तु निश्चप्रचं वक्तुं शक्यते—यद् इदानीं तदानीमिति विश्लिष्य संस्कृतिपरिवर्तनमामूलचूडं जातमिति। इदानीं गमनागमनसाधनीभूतेष्वध्वसु जनपदनगरसम्बन्धिषु दृढस्य कन्दुकस्य उत्पततः कन्दुकस्य वायुपूरितकन्दुकस्य च क्रीडनं बाला युवानश्च कुर्वन्ति। तदानीन्तु गृहाद् बहिर्वेदिकासु समवेता बालाः कल्पितं पुरोडाशं चरुं वादाय दर्शपूर्णमासचातुर्मास्यादिक्रीडनमकुर्वन्त। कश्चन **'आश्रावय'** इति वदति, अपरश्च **'अस्तु श्रौषट्'** इति, तृतीयः **'ये यजामहे'** इति, चतुर्थः **'वौषट्'** इति, पत्नीत्वेन कल्पितं बालं योक्त्रेण सन्नह्यति, अन्ते च तत्तद्गृहादानीतं पुरोडाशं सर्वे भक्षयन्ति। एतादृशं क्रीडनम्। तदानीं दण्डाल्लोका बिभ्यति स्म, इदानीन्तु लोकेभ्यो दण्डस्साध्वसो दृश्यते। तदानीमाचार्यवशंवदश्छात्रः, इदानीं छात्रवशंवद आचार्यः। तदानीमेकश्शासकः, इदानीं सर्वे शासकाः। सत्यमिदानीं वैज्ञानिकी समुन्नतिर्देशस्य जायमाना वर्तते, तदानीमाध्यात्मिकशक्तिसमुन्नतिरासीत्। **'न हि भूते भाविनि वा तादृशी प्रीतिर्यादृशी वर्तमाने'** इति मीमांसान्यायेन 'आसीत्' 'भविष्यति' इत्यत्र लोकानां कथं प्रीतिरुत्पद्येत, वर्तमान एव द्रढीयसी सा स्यात्, तथापि भूत-भविष्यत्कालिकवस्तु-परिज्ञानन्त्वावश्यकमेव भवति। भूतोपयुक्तानां भाव्युपयोक्ष्यमाणानाञ्च संस्कारेषु वयं श्रद्दधामहे। भूतोपयुक्तयोः पित्रोः केनापि रूपेण

१—'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इत्यपि पाठः।

संस्कारः क्रियत एवास्माभिः। वर्तमाने तयोः कोऽप्युपयोगो नास्तीति तावनाथालयेषु न प्रेषयामः। इयं भारतीया संस्कृतिः। भाव्युपयोक्ष्यमाणः पुत्रादिरुच्चावचैस्संस्कारैः संस्क्रियते, सम्प्रति तस्योपयोगो नास्तीति धात्रीणां कुलेषु न प्रेषयामः। यावन्मातुः स्तन्यं न पिबति तावत्स हृदयवान् कथं भवेदिति गृह एव तं पालयामः। एवञ्च वर्तमाने प्रीत्यनिशये सत्यपि भूते भाविनि च दृष्टेः प्रसारणं भारतीया संस्कृतिः।

तत्रास्माकं मातेव श्रुतिः बाल्यकौमार-यौवन-वार्द्धकास्ववस्थासु विभिन्नमधिकारिभेदेन ज्ञानस्तन्यं पाययन्ती विलसति। ईदृशस्य स्तन्यस्य पातारो मातुर्हृदयवन्तो भवन्ति। आसीन्मङ्गलमयः कश्चन कालः, यत्र च स्वस्वाधिकारानुसारेण ऐहिकानि ऐहिकसंवलितामुष्मिकाण्यामुष्मिकाणि च फलान्युपभोक्तुं तदनुकूलानि मात्रा श्रुत्योपदिष्टानि श्रौतानि स्मार्तानि च कर्माण्याचरन्तो जनास्सुखेन जीवनमनयन्। यथा महाकविभिः प्रवर्तितानि विविधानि नाटकानि दर्शनेन रसास्वादनाय भवन्ति, तथैव श्रुतिबोधितान्युच्चावचानि कर्माणि यथायथमनुष्ठानेन तत्तज्जन्यफलानुभवाय भवन्ति स्म। तत्रैष्टिकानि पाशुकानि सौमिकानि चेति त्रिधा विभागः कर्मणाम्। चरुपुरोडाशपयोदधिप्रभृतिभिर्विहितैर्द्रव्यैः क्रियमाणान्यैष्टिकानि, पशुना (छागेन) क्रियमाणानि पाशुकानि, सोमलतया क्रियमाणानि सौमिकानीति व्यपदिश्यन्ते। तत्रैष्टिकद्रव्याणां व्रीहियवनीवारादीनां पाशुकद्रव्यस्य पशोश्च पाको विहितः, सोमस्य तु न पाकः। पाकेन संस्कृतं द्रव्यं तत्तद्देवताभ्यो द्व्यवदानक्रमेण दत्त्वा प्रतिपत्तिकर्माणि च समाप्यावशिष्टं द्रव्यं तैस्तैर्यजमानैरुपयुज्यते। पशोस्त्ववशिष्टं द्रव्यं भूमौ निखन्यते। अनेनाचारेणेदमभ्यूहितव्यं भवति—आहिताग्नीनां गृहेषु पाको यज्ञार्थः, तदवशिष्टस्यैव बह्वल्पं भोजनम्। स्वात्मार्थं पाकः स्वेनैव च भोजनं सर्वथा निन्दितमिति। अत एव **'मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। सत्यं ब्रवीमि वध इत् तस्य। नार्यमणं पुष्यति न सखायम्। केवलाघो भवति केवलादी। (तै० ब्रा० २।८।८।३) 'नात्मार्थं पाचयेदन्नम्' मनु०··· 'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्'** इति श्रुतिस्मृतिगीतादिषु स्वात्मार्थपाकस्य केवलादिनश्च निन्दा दृश्यते। तत्र देवताभ्यो दत्तावशिष्टस्य भोजनं वा, भोज्यस्य वस्तुनो देवताभ्यः पूर्वं दानं वेति यद्यपि सहसा न निर्णेतुं पार्यते, तथापि गूढतरे विचारे क्रियमाणे पूर्वं स्वोपभोगाय यजमानः पुरुषः तदनुगुणं वस्तु यतः कुतश्चिद् अर्जयति, तच्च भोजनयोग्यं करोति, भोजनकाले चोपस्थिते तदन्नं स्वस्मादर्हत्तमेभ्यो देवेभ्यः किञ्चिद्दत्त्वा स्वोदरमवशिष्टेन पूरयति। अस्मिन् पक्षे स्वोदरकुहरपूरणं मुख्यं देवेभ्यः प्रदानञ्चानुषङ्गिकम्। अथवा पक्षान्तरमिदम्—यत्, तेषु तेषु कालेषु पर्वसु विहितानां कर्मणां तैस्तैर्द्रव्यैरवश्यानुष्ठानम्, तदवशिष्टस्य च द्रव्यस्य भक्षणमिति। अस्मिन् पक्षे कर्मानुष्ठानं मुख्यम्, तदवशिष्टद्रव्य-भक्षणञ्च गौणम्। प्रथमपक्षे भोजनार्थं जीवनमिति सिध्यति, द्वितीयपक्षे च जीवनार्थं भोजनमिति। अस्मिन् प्रसङ्गे जैमिनेर्न्यायद्वयं ध्यानमर्हति। प्रथमो न्यायो **'लिप्साधिकरणसिद्धः'** (४. १. १)। तत्र हि पुरुषेण सनियममर्जितं द्रव्यं किं क्रत्वर्थम्? उत पुरुषार्थम्? इति सन्दिह्य पुरुषार्थमिति सिद्धान्तितम्। स्वोपभोगाय द्रव्यमर्जयेत् तस्यैकदेशं क्रतुष्वपि विनियोजयेत्, क्रतूनामपि दर्शपूर्णमासादीनां पुरुषार्थत्वात्। द्रव्यार्जने ये नियमाः प्रतिग्रहादयः तेऽपि पुरुषार्थाः। तदतिरिक्तोपायैरर्जितस्य द्रव्यस्यैकदेशः क्रतुषु विनियोगेऽपि न क्रतूनां वैगुण्यम्, किन्तु पुरुषः प्रत्यवायभाग्भवति। तेन क्रतौ तदितरस्मिंश्च पुरुषकार्ये सर्वत्रानिषिद्धोपायार्जितद्रव्यस्य विनियोगः, नियमलोपे च पुरुष एव प्रत्यवेति न क्रतोर्वैगुण्यमिति सिद्धान्ते फलं सम्पद्यते। द्वितीयस्तु न्यायः षाष्ठः **'अपि वा शेषभाजां स्यात्'** इत्यधिकरणसिद्धः। अत्र हि शेषकार्याणां स्विष्टकृदिडाभक्षणादीनां कर्मणां तदीयहविर्नाशे 'किं द्रव्यान्तरमुत्पाद्य तानि कर्माण्यनुष्ठेयानि? उत तेषां लोप इति सन्दिह्य द्रव्यान्तरं नोत्पादनीयम्, स्विष्टकृदादि-प्रतिपत्तिकर्माणि आज्येन **'आज्येन ता देवताः प्रतिसंख्याय यजेत्'** इति वाक्यानुसारेण कर्तव्यानि, इडाभक्षणस्य लोप' एवेति सिद्धान्तितम्। अनेन न्यायेन न भोजनाय जीवनमिति सिध्यति। एवञ्च न्यायद्वयेन जैमिनिर्भारतीयां संस्कृतिं जीवनाय भोजनं न तु भोजनाय जीवनमिति समुपदिशति। अतश्च पुरुषेण सताऽवश्यं कानिचन विहितानि कर्माणि तत्तद्देवताभ्यो हविर्दानरूपाणि कर्तव्यानि,

तदेव स पुरुषो देवर्णेन मुच्यते। तत्र देवर्णाद् आत्मानं मोचयितुम् इष्टि-पशुयज्ञापेक्षया सोमयज्ञानुष्ठाने विभिन्नः प्रकार आदृतो वैदिकेषु वचस्सु। तत्र प्रागल्भ्यं प्राधान्यं बहुकालव्यापिता बह्वायाससाध्यता व्ययबाहुल्यञ्च सोमयागमधितिष्ठन्ति। अपि च तदीयद्रव्यावाप्तौ महान् परिश्रमोऽपि कर्तव्यो भवति। अत एव तमधिकृत्य वेदेषु स्मृतिपुराणादिषु चातिमहतीः स्तुतीः तत्र तत्रोपलभामहे। तत्रैकदिनसमाप्यं सोमयागमारभ्य सहस्रसंवत्सर-साध्ययागपर्यन्तास्सोमयागा यजुर्वेदे सामवेदे च विहिताः तदनुरोधेन बौधायनकात्यायनापस्तम्बादिभिः श्रौतसूत्र-कारैश्च यथा बहुरूपेण वर्णिताः, तथा पुराणेषु च तैस्तैर्महर्षिप्रवरैश्चानुष्ठिततया निरूपिताः। तेष्वेवोच्चावचेषु सोमयागेषु स्तोत्रशस्त्रतया याज्यादिरूपेण च विनियुक्ता ऋग्वेदीयास्सर्वेऽपि मन्त्राः। केचन विपश्चितः प्रथमं मन्त्रा आसन् तदनन्तरं तेषां कर्मभिस्साकं स्तोत्रशस्त्रयाज्यारूपेण सम्बन्ध आपादित इत्याशेरते। वयन्तु ब्रूमः—सहैव संहितया कर्मणां विवेचनं तत्र च मन्त्राणां विनियोग आसीद् शिष्टाचारेष्विति। इममाचारं पर्यवेक्ष्यापस्तम्ब-कात्यायनादयः सूत्ररूपेण ग्रन्थानकार्षुः। सूत्राणां मूलं ब्राह्मणभाग आचारश्च। आचारश्च ब्राह्मणभागमूलकः। ब्राह्मणभागश्च सहैव संहितया सम्बद्ध आसीत्। अत्र च कारणं पश्यामः—ऋग्वेदे तत्र तत्राध्वर्युप्रभृतीनामृत्विजां नामान्युपलभ्यन्ते।[1] अध्वर्य्वादयो यज्ञकर्मकराः। तेषां कार्याणि ब्राह्मणभाग उपदिष्टानि। तत्र ब्राह्मणभागप्रवृत्तेः पूर्वं केवलेन संहिताभागेन किमप्याचरितुमशक्नुवाना लोका अतिष्ठन् इति वक्तव्यम्, नेदं समीचीनम्। **'न कदा-चिदनीदृशं जगत्'** इति न्याये वर्तमाने। अत उभावपि भागौ सहैवास्ताम्, प्रकरणाधिकरणन्यायेन च सम्बद्धाव-भवताम्। न हि कार्यं विना किमपि तेषां तन्नामप्रवृत्तिः। किञ्च अथर्वा नाम कश्चिदृषिः यज्ञानुष्ठानेनैव स्वीयं यशः प्रथयामास[2]। देवा यज्ञानुष्ठानेनैव[3] वाग्वैभवमवाप्नुवन्। यज्ञ एवेन्द्रस्य सर्वप्रकारां वृद्धिमजनयद् इत्यादीनि यज्ञप्रशंसापराणि यज्ञानुष्ठानबोधकानि च वचनानि बहूनि ऋग्वेद एव सन्ति तदात्वेऽपि यज्ञानुष्ठान-प्रचारं बहुधाऽऽवेदयन्ति। तादृशाश्च मन्त्रा यज्ञानुष्ठानावेदका न केवलमेकत्र, द्वित्रेषु वा स्थलेषु, किन्तु सर्वाण्यभिव्याप्य मण्डलानि दाशतयीसम्ब[4]द्धानि विद्यन्ते। कृष्णयजुर्वेदस्तु यज्ञानुष्ठानमधिकृत्यैव प्रवृत्तः प्राधान्येनेति न तिरो-हितम्। पाश्चात्यविद्वत्समाजोऽथर्ववेदस्यार्वाचीनकालिकत्वमभिप्रैति, किन्तु अथर्वनामाङ्किताः केचन मन्त्रा ऋग्वेद एव परिदृश्यमानाः कथमपलपितुं शक्यन्ते। ऋग्वेदकालिकः कश्चिदथर्वा, एक एव वा कालद्वयमभिव्याप्य जीवन्नासीदित्यभ्युपगमे न कामप्यनुपपत्तिं पश्यामः। एवञ्च वैदिकैरेव मन्त्रजातैरिदं सुस्पष्टमवगम्यते यद् भारते कदाचिद्यज्ञियं युगं सर्वां भारतभूमिमभिव्याप्य विराजमानमासीत्। सर्वे देवा यज्ञैरेव तर्प्यन्ते स्म। सर्वाणि च फलानि यज्ञानुष्ठानादेव प्राप्यन्ते स्म। सर्वाणि च दुरितानि अरिष्टानि च यज्ञैरेवापाक्रियन्ते स्म। यज्ञपरितुष्टा दिवौकसो यजमानाभिलषितं सर्वमपि फलं प्रदातुमुद्यता आसन्। किं बहुना ? मानुष्यं जीवनं सर्वमपि यज्ञा-नुष्ठानमेवोपजीवदासीदित्यपि कथनं नातीवोत्पथं गच्छतीति विभावयामः।

इतरद्रव्यापेक्षया सोमरसस्यैव प्राधान्यं यागेषु

एवं बहुविधं प्रसरमुपयातेषु यागेषु साधनभूतानां व्रीहियवादिद्रव्याणां मध्ये सोमलतैव प्रामुख्यं प्राप्नोत्। तयैव च क्रियमाणो यज्ञः श्रेष्ठतमः पर्यगण्यत। अनेकवर्षसाध्यत्वमप्यस्यैव सोमयागस्य। तादृशाश्च

---

१. अध्वर्युः, नेष्टा, होता, प्रशास्ता, ग्रावस्तुत्—ऋ० सं० १. १६२. ५; १०. ९१, १०, ब्रह्मा—अग्नीत्, पोता, १०.९१.१०; ब्राह्मणाच्छंसी २. ४२. २, उद्गाता —२. ४३. २; प्रस्तोता ८. १३. १९।

२. ऋ० सं० १. ८३.५।

३. १०. ७१. ३.

४. ऋ० सं० १.१५.७., २.२६.१., ३.२८.१., ४. ५०.६, ५.४.५, ६. १५.१६, ७.४२.५, ८. ३८. ४. ९. १०७. ६, १०.१५७.१।

सोमयागाः पारेसहस्रमिति पूर्वमुक्तम्। एतेषां क्रमस्वरूपविवरणादिकं ताण्ड्यमहाब्राह्मणभूमिकायां वाराणसी-मुद्रितायां पूज्यपादैरुपवर्णितं तत एवावगन्तव्यम्।

सोमयागमननुतिष्ठंस्त्रैवर्णिकः न दैवाद्[1] ऋणान्मुच्येतेति भगवती श्रुतिरवबोधयति। अननुष्ठानातु प्रत्यवायमपि प्रायश्चित्तापनोद्यं स्मृतयो विदधति। भगवदाराधनादिकमद्यत्वे आस्तिकैः पृथक् क्रियमाणं सर्वमपि तत्रैवान्तर्भावयन्ति स्म तत्तद्युगीनाः परमर्षयः पूर्वे। एवं सर्वोत्कृष्टस्सोमः, तन्निर्वर्त्यश्च यागस्तथाविध आसीत् पुरा वैदिके युगे।

कस्सोमो यज्ञाङ्गभूतः ?

इदमिदानीं विचार्यते—कोऽसौ सोमः सर्वोत्कृष्टः सर्वैः श्लाघनीयः, सर्वगुणगणगुम्फितश्चासीदिति। तत्र **'क्षीरिण्यां लतायां सोमशब्दः प्रसिद्ध'** इति मीमांसासूत्र[2] भाष्ये आचार्यशबरस्वामी।

श्यामलाऽम्ला च निष्पत्रा क्षीरिणी त्वचि मांसला।
श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमाख्या छागभोजनम्॥ इति भावप्रकाशो[3] वैद्यकग्रन्थः।
सोमवल्ली कटुश्शीता मधुरा पित्तदाहकृत्।
कृष्णा विषोपशमनी पावनी यज्ञ-साधनी"॥ इति—राजनिघण्टुः

प्रमाणैरेभिरन्यैश्चैतादृशैः सोमो नाम कश्चिल्लताविशेषः, यस्य रसोऽम्लकटुमधुरैः शबलितः, त्वग्भागे मांसलः, छागप्रियः, वमनसाधनं चेत्यवगम्यते। नैतावानेवास्य महिमा। अतोऽपि च ज्यायानुपवर्ण्यते ग्रन्थेषु श्रुतिपुराणेतिहासादिषु। औषधरूपेण चास्य पानमपि महते फलाय कल्पते। पीतमात्रोऽयं सोमरसः शारीरानल्पानपि रोगान् सद्योऽपनुद्य दिव्यरूपं दिव्यचक्षुषं च करोति पातारं पुरुषमनल्पायुषञ्च।

सोम-महिमा

स कोऽप्यवर्णनीयस्सोमस्य राज्ञो महिमा। वेदेष्वयं राजा कथ्यते। प्रायेण[4] राजपदविशेषितमेव सोमं कथयन्ति वैदिकानि वचांसि। यथाकथञ्चित् प्राप्येमं पुरुषः पीत्वाऽमृतत्वं भजते। मुमूर्षुरपि दैवात् प्राप्येमं मृत्योरात्मानं मोचयति। पातुरस्य दिव्या दृष्टिरुदेति। बलमप्रतिममभिवर्द्धते। अवाप्तकामा अमरा अपि चिराय कांक्षन्ति रसमस्य पानाय। पीत्वा चानितरसाधारणं प्रमोदमप्रतिमं च बलमवाप्नुवन्ति। कृतकृत्यमात्मानं मन्वते। युद्धे जयमश्नुवते। एवमन्ये च बहवो गुणा उपवर्णिता वेदेषु सोमस्य। ऋग्वेदे[5] पावमानं मण्डलं समग्रमपि महिमानमेतस्यैव वर्णयति। सामवेदे तु कैव कथा ? सौम्यं गुणगणं गौरवं च वर्णयितुमेव स प्रवृत्त इत्यपि वक्तुं शक्यते। अत एव सामवेदः सोमवेद इति शब्देऽपि नातिभेदमुपलभामहे। अतो वेदेषु सोममहिमा नितरां परां कोटिमाटीकत इति कथनं तथ्यमेव, नासत्योक्तिः।

---

१. एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा। (तै० स० ६. ३.१०.५)

२. द्रष्टव्यम्—मी० सू० शाबरभा० २. २.१७।

३. ,, ११४ सोमलता पृ० ३६४, मिश्र प्रकरण, पूर्वखण्ड, भावप्रकाश, वाराणसी संस्करण (हिन्दी), सोमलता दिव्यौषधि इत्यादि।

४. सोम राजन् मृळयानः (ऋ. ८. ४८. ८.) सोम राजन्नेहि तै० सं० १.३.१३.१
सोमो राजा प्रथमः (,, १०.१०९.२ अथर्व ५. १७. २)
सोमेन सह राज्ञा (,, १०.९७.२२ तै० सं० ४. २. ६. ५)
सोमं राजानमवसे (,, १०.१४१.३., तै० सं० १.७.१०.३ अथर्व० ३.२०.४)

५. ऋग्वेदसंहितायां नवमं मण्डलं समग्रमपि पवमानसोमस्तावकत्वात् 'पावमान'मुच्यते।

सोमे चन्द्रोपमा

एवं ज्योतीरूपस्य चन्द्रमसो गुणास्सोमे बहवो विद्यन्त इति तेन सहोपमिमते बुधाः सोममिमम्। एतस्य हि क्षयवृद्धी दृश्येते चन्द्रमस इव। यथा हिमांशोः शुक्ले पक्षे वृद्धिः, मेचके च पक्षे क्षयो दृश्यते, तथैव सोमस्याऽपि शुक्लपक्षे पत्राण्युद्भवन्ति कृष्णे च पक्षे जायते पत्रशातनम्। अतो योऽयं चन्द्रमा नभसि स एव सोमो भूतल इति तयोरभेदमेव वाऽत्यन्तसादृश्यमेव वा ते ब्रुवते।

वेदेऽपि च क्वचिद् भेदकथनं, क्वचिच्चाभेदकथनमिव च प्रतिभाति। प्रायो यजुर्वेदसंहितासु सोमापेक्षया चन्द्रमसः पृथग् ग्रहणं दृश्यते।[1] तत्र नक्षत्राणामधिपतिश्चन्द्रमाः, औषधीनामधिपतिस्सोम इत्युक्तम्। एवं सोमयागीयदीक्षाप्रकरणेऽपि सोमचन्द्रमसोः पृथक् पाठेन भेदः प्रदर्शितः[2]। तत्रैव च स्थलान्तरे द्रव्यरूपस्य सोमस्य देवतारूपस्य च तस्याऽभेदः[3] प्रदर्शित इव। एतेनेदमनुमातुं शक्यते—वैदिके समये ज्योतीरूपस्य सोमस्य लतारूपेण तेन अत्यन्तसादृश्यमभेद एव वा मन्यते स्म। एवं सोमस्य चन्द्रमसश्च कश्चन भेद आसीत्। सोऽपि कालान्तरे विलीन ऐक्ये पर्यवसायित इति। परमिदमभ्यूहमात्रमन्तरा बलवत्प्रमाणोपलम्भं न सहसा किञ्चिदध्यवसातुं शक्यते। परमिदन्तु निश्शङ्कमध्यवसायपथमारोढुं प्रभवति पवित्रतमः गुणगणमण्डितः दैवैरपि प्रार्थनीयः दोषलेशासंस्पृष्टः, क्षीरी, कश्चन लताविशेषो यो देवभूमिष्वेव प्ररोहतीति।

सोमः कुत्र लभ्यते ?

एवं विविधविशिष्टगुणगणालङ्कृतो देवानामपि प्रियतमस्सोमोऽयं न पुरा सुलभसम्पादनीय आसीत्। क्वचिदेव तु स्थलविशेषेषु पुण्यभूभागेषु तस्य प्ररोहः प्रसृत आसीत्। तत एव स्थानविशेषादतिमहता प्रयासेन स आनेतव्य आसीत्। तत्राऽपि व्रीहियवादिवत् स्वयमानीय संस्कृत्य यष्टुं न शक्नोति यजमानः। किन्तु अन्येन केनचिदानाय्य, ततस्तं तदुदितैर्द्रव्यैः क्रीत्वा, संस्कृत्य ततो यजेत तेन। अतोऽन्यथाकरणे यागादृष्टमेव नोत्पद्येत। अन्यथाकृतस्य प्रायश्चित्तमपि आप्नुयात्। अतस्सोमयागमनुतिष्ठता पुरुषेण यागारम्भद्वितीयदिने यज्ञप्रयोगमध्य एव सोऽवश्यं क्रयणीयः। क्रयार्थद्रव्याण्यपि श्रुतावेवोक्तानि गोवासःप्रभृतीनि। तैरेव च क्रेतव्यः। न तु स्वेच्छागृहीतेन येन केनचित्। आनयनमप्यस्य दूराद् देशात्। न ह्ययमितरवल्लीवद् भूमौ समदेशे प्ररोहति। किन्तु क्वचिदेव पर्वतविशेषेषु स्थलविशेषेषु च। अस्ति हि मूजवान् नाम कश्चित् पर्वतो हिमवतः प्रान्ते। तत्रैव चास्योत्पत्तिविशेषेण श्रूयते[4] श्रुतिपुराणादौ। मूजवान्[5] पर्वतस्तु यजुर्वेदे[6] श्रूयते। स च कैलासनिकटवर्ती। ते च

१. चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः (तै० सं० ३. ४. ५. १) सोम ओषधीना (मधिपतिः) तै० सं० ३. ४. ५. १)
या ओषधयस्सोमराज्ञीः (तै० सं० ४. २. ६. ५.) या ओषधीस्सोमराज्ञीः (ऋ० सं० १०. ९७. १९) सोमो वा ओषधीनां राजा (तै० सं० ६. १. ९. १)

२. तथा चन्द्रमा दीक्षया दीक्षितः। तया सोमो राजा दीक्षया दीक्षितः (तै० ब्रा० ३. ७. ७. ५. ६)

३. एष ह वै हविषा हविर्यजति योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय जुहोति (तै० सं० ३.३.४.२) अत्र लतायास्सोमस्य चाऽभेदेन हवीरूपत्वमुक्तम्।

४. भवस्य दयितः श्रीमान् पर्वतो मेघसन्निभः। मूजवान् स महादिव्यो दुर्गशैलो हिमाञ्चितः॥ तस्मिन् गिरौ निवसति गिरिशो धूम्रलोचनः॥ (ब्रह्माण्डपु० १९) इत्यादि। तथा—तस्योद्देशेषु चाप्यस्ति मूजवानंशुमानपि। अत्र सन्त्यपरे चाऽपि सोमास्सोमांशुसम्भवाः॥

५. कैलाश एव वा पूर्वं मूजवत्पदेनाऽभिधीयते स्म इत्यस्ति विचारस्याऽवसरोऽत्र।

६. परो मूजवतोऽतीह्यवततधन्वा पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः, तै० सं० १.८.६. १. तथा द्रष्टव्यमन्यत्रापि मै० सं० १. १०. २७ कठ. सं० ९. ७. ३३. माध्य० सं० ३. ६१, काण्व सं० ३. ७० तथा श० ब्रा० २. ५. ३. १७।

प्रदेशा देवावासभूमय इति कृत्वा स्वर्गसाम्यं तेषां स्वर्गत्वमेव वा स्मृतिपुराणादिषूपवर्ण्यते[1]। अतः कारणात् स्वर्गलोकादेव सोमस्यानयनं श्रुतयो विब्रुवते ऐकमत्येन। प्रायस्सर्वेष्वपि ब्राह्मणग्रन्थेषु द्युलोकादेव सोमलताया आनयनमुपवर्ण्यते। तदनुसारिणी चेयं कथा किञ्चिदिव न्यूनाधिकतयाऽनुबद्धा सर्ववेदीयानि सर्वाण्यपि ब्राह्मणान्यनुप्रविश्यास्ते-सा च[2] सङ्क्षिप्तरूपेत्थम्—

श्रुतिषु सोमाहरणकथा—

कद्रूः सुपर्णी चेति कश्यपस्य प्रजापतेर्द्वे भार्ये आस्ताम्। तयोर्द्वयोः स्वस्वसौन्दर्यविषये कदाचिद्विवादो महानजनिष्ट। पणबन्धपूर्वकं विवदमानयोरनयोः कद्रूः जेत्री संवृत्ता। जिता च सुपर्णी जैत्र्या दासीभावमवाप। आत्मनो दासीभावान्मोक्षमीहमानया तया सुपर्ण्या प्रार्थिता कद्रूः त्रिदिवस्थस्य सोमस्याहरणेन दानेन च तस्या दास्यान्मोक्षमभिदधे। सर्पाणां माता कद्रूः। ताक्ष्यमाता सुपर्णी (विनता) सा स्वयं सोममानेतुमशक्नुवाना वृत्तमिदं स्वसुतेभ्यश्छन्दोभ्यः कथयामास। गायत्र्यादीनि[3] सप्त छन्दांस्येव तत्सुताः। ते च श्रुत्वैवैतत् सोमस्याहरण उद्यता अभूवन्। तत्र जगती[4]त्रिष्टुभ (छन्दसी) क्रमशः सोमानयनाय दिवं गच्छन्त्यौ तत्र तमन्विष्य बहुधा श्रान्ते, अन्ततस्तमलब्ध्वैव प्रत्यावृत्ते। एकैकस्याः द्वे द्वे अप्यक्षरे क्वचित् पतिते। ततो गायत्री चतुरक्षरा सती अजामेकां स्वसाह्यायेतो गृहीत्वा, सोमस्थानं गत्वा, तत्रत्यमन्धं तमः स्वानीतयाऽजयाऽपवार्य, तत्रैव सोमसमीपे परिपतितानि जगतीबृहत्योश्चत्वार्यक्षराणि गृहीत्वा स्वेन संयोज्य, अष्टाक्षरा भूत्वा द्युलोकात् सोममाहृतवती। आहरणकाले सा खगरूपं धृत्वा सोमं त्रिधा विभज्य, एकैकेन पादेनैकैकं भागं, मुखेन चैकं गृहीत्वाऽऽनयन्ती मुखगतभागस्य रसं चूषति स्म। ततस्स भागो नीरसो जातः। एवमानीयमानस्स सोमः मध्येपथं विश्वावसुनाम्ना गन्धर्वेण केनचित् प्रबलेन बलान्मुषितः स्वगृहेऽवस्थाप्यते स्म। दिनत्रयं यावत् स तत्रैवाऽन्तर्हित आसीत्। ततो देवा वृत्तमिदमवगत्य, चिरात् सोमं पिपासवः वाग्देवीमेकहायनीं गां विधाय तया तं गन्धर्वेभ्यो निरक्रीणन्। पुनस्सा गायत्री ताक्ष्यरूपधरा सोमं तं देवेभ्यो गृहीत्वा भुवमानीय कद्र्वै दत्त्वा तेन स्वमातुर्दास्यममूमुचत्" इति। एवं सोमलता प्राप्ता देवैः ततो मनुष्यैरिति"।

सोमागमनप्रकारेऽल्पीयान् भेदः श्रुतिषु

सोमागमनप्रकारे श्रुतिष्वेवाल्पीयान् भेदो दरीदृश्यते। ऐतरेये[5] सोमस्य गन्धर्वसमीपावस्थितिमारभ्यैव प्रवृत्ता कथा।[6] तैत्तिरीयमाध्यन्दिनशाखयोः कद्रूसुपर्णीविवादमारभ्य। तथैव[7] काठकसंहितायामपि। तैत्तिरीय-

१. द्रष्टव्यं—कुमारसम्भवे—
दिवं यदि प्रार्थयसे वृथा श्रमः पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः। (कु० ५.४५.)

२. कद्रूश्च वै सुपर्णी चाऽऽत्मरूपयोरस्पर्द्धेताम्। सा कद्रूस्सुपर्णीमजयत्' इत्यादि, तै० सं० ६. १. ६. १.।

३. गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्तिः, त्रिष्टुप्, जगती, इति सप्तछन्दांसि। तत्र गायत्री षडक्षरा लोके एकस्मिन् पादे, चतुष्पादा च; वेदेऽष्टाक्षरा त्रिपदा च। उष्णिहि सप्त, अनुष्टुभि अष्टौ, बृहत्यां नव, पंक्तौ दश, त्रिष्टुभि एकादश, जगत्यां द्वादश चाक्षराण्येकस्मिन् पादे।

४. जगत्युदपतत्, त्रिष्टुगुदपतत्, गायत्र्युदपतत् इत्यादि द्रष्टव्यम्।

५. सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वासीत्। (ऐ० ब्रा० ५. २. १३. ३.)

६. कद्रूश्च वै सुपर्णी चात्मरूपयोरस्पर्द्धेताम्। (तै० सं० ६.१.६.१)

७. स एव पाठः (कठ सं० २३.१०)। दिवि वै सोम आसीत्। ते देवा एते माये असृज्यन्त सुपर्णी च कद्रूं च (मा० श० ३. २. ४. १) सोमो वा अमुनासीत्। ते देवा गायत्रीं प्राहिण्वन्। इत्यादि (मैत्रायणीयसंहितायाम् ३. ७. ७.)

संहितागता सैवानुपूर्वी प्रायेण काठकेऽप्युपलभ्यते । तैत्तिरीयेऽन्यत्रापि[1] कथेयं प्रासङ्गिकतया सूचिता । सत्यप्येवमल्पीयसि क्वचित् सन्दर्भभेदे सामान्यस्वरूपं न भिद्यते । एतेनास्माकं भारतदेशे निकटप्रदेशेषु सोमलता नासीत् । परं जातायामावश्यकतायां प्रदेशान्तरादेव हिमवतः प्रान्तादेः सोढ्वाऽपि महत् कृच्छ्रं, यागाद्यर्थमानीता सेति प्रतीयते । अनन्तरस्मिन् कालेऽपि साऽत्र समभूमौ न प्ररोहतीति दौर्लभ्यमितो नापगतं तस्याः । यतोऽर्वाचीनकालिका वैद्यकग्रन्था अपि चरकसुश्रुतादयः पुराणानि च सोमस्य समभूमावनुत्पत्तिं क्वचिदेव तु पर्वतविशेषेषु तस्य प्ररोहं[2] कथयन्ति । एवं सत्यपि तस्य तादृशे दौर्लभ्ये तेन यागानुष्ठानं परमेकैकस्यापि त्रैवर्णिकस्य नितरामावश्यकमासीत् । यस्य गृहे पूर्वे त्रयः पुरुषाः सोमयागं नान्वतिष्ठन् स दुर्ब्राह्मणो मन्यते स्म । स सामाजिकेभ्यो धार्मिकेभ्यश्च व्यापारेभ्यो बहिष्कारं प्राप्नुवान आसीत् । यदि च स सोमयागमनुतिष्ठासति मध्ये काले सोमपानविच्छेदजनितमघं प्रायश्चित्तेन[3] वेदोदितेन पूर्वमपाकृत्यैव यागमनुष्ठातुमधिकुर्यात् नाऽन्यथा ।

सोमयाग-विलोपः

कृच्छ्रेणाऽपि सम्पाद्य सोमं समग्रे भारतदेशे यागा अनुष्ठिता इति जानीमो वयमार्षग्रन्थेभ्यः, प्राचीनतमकाव्यादिभ्य ऐतिहासिकग्रन्थेभ्यश्च । परं वैदिकयज्ञानामनुष्ठानपरिपाटीयमल्पानां महतां वा विन्ध्यस्योत्तरदेशेषु सर्वथा विलोपमुपगता । विन्ध्यस्य दक्षिणतोऽपि क्वचित् गोदावर्यास्तटेषु वैरल्येन, कावेरीतीरे चाऽप्यल्पश्च द्वित्रतुरानुष्ठानरूपेण कथं कथञ्चिदात्मानं धारयन्त्यास्ते । न जाने कालस्य कुटिला गतिः किमितः परं कीदृशं च फलं प्रसोष्यत इति ।

पूतीकेन सोमयागानुष्ठानम्

एवमेतादृशानुष्ठानैकपरा विबुधा अपीदानीन्तनाः न मुख्यस्य सोमस्य स्वरूपं जानन्ति । पूतीकाख्यं लताविशेषमेव सादृश्यात् तत्स्थाने कुर्वाणास्तेनैव सोमयागमनुतिष्ठन्ति सर्वमपि सौमिकं व्यवहारं तत्रैव कुर्वन्तः । तत्र च 'सोमाभावे[4] पूतीकानभिषुणुयात्' इति वचनं प्रमाणयन्तः सौमिका गुणाः केचनांशतोऽपि तत्र सन्तीत्यवगच्छन्तः सोमसदृशेऽपि सोमबुद्धिं कृत्वाऽनुतिष्ठन्ति । स तु लताविशेषः पूतीकाख्यो नातिकठिनतया दक्षिणदेशे सर्वत्रोपलभ्यते । उत्तरदेशे तु नान्विष्टमवसराप्राप्तेः । तत्र सोमयागमनुतिष्ठासुस्त्रैवर्णिकः सोमयागसङ्कल्पात् पूर्वमेव पूतीकोत्पत्तिस्थानमवगत्य, ततस्तमानीय, अन्येन वाऽऽनाय्य ततो यागं सङ्कल्पेत । सोमयागसङ्कल्पात् द्वितीयस्मिन् दिवसे यागमध्ये एकहायन्या गवा, अन्यैश्च वस्त्रादिभिर्नवभिः द्रव्यैः तं कस्माच्चित् पुरुषात् क्रीणीयात् । क्रीत्वा च क्रयणादारभ्य दिनत्रयं यावत् राजाहर्यामवस्थाप्य तमासन्द्यां, प्रतिदिनं सायं प्रातर्ज-

---

१. तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्, तं गाय्याहरत् (तै० सं० ३.५.७.२, तै० ब्रा०) ३. २. १. १.) कठसंहितायां विस्तृततरमिदमितिवृत्तम् (कठ० २४.१०) एते वा एतं गन्धर्वा अगोपायन्नमुष्मिन् लोके । तं गायत्र्याहरत् । इत्यादि (कठ० २४. ६.)

२. हिमवत्यर्बुदे सह्ये महेन्द्रे मलये तथा । श्रीपर्वते देवगिरौ गिरौ देवसहे तथा ॥ पारियात्रे च विन्ध्ये च देवसुन्दे ह्रदे तथा उत्तरेण वितस्तायाः प्रवृद्धा ये महीधराः । पञ्च तेषामधो मध्ये सिन्धुनामा महानदः । हठवत् प्लवते तत्र चन्द्रमास्सोमसत्तमः ॥ (सुश्रुतनि० चिकि०. अ. २९)

३. ऐन्द्राग्नं पुनरुत्सृष्टमालभेत य आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबेत्, विच्छिन्नो वा एतस्य सोमपीथो यो ब्राह्मणस्सन् आतृतीयात् पुरुषात् सोमं न पिबति । (तै० सं० २.१.५-४)

४. 'सोमाभावे पूतीकानभिषुणुयात्' इति वचनं वैदिकमेव मन्वते सर्वेऽपि प्रामाणिकाः । परं वचनमिदमिदानीमुपलभ्यमानसंहिताब्राह्मणग्रन्थेषु कुत्रापि नोपलभामहे । पूतीको नाम लताविशेषः यत्र पत्राणि न सन्ति ।

लेनाऽऽसिच्य[1] यथा स शुष्को न भवेत् तथा संरक्षेत्। चतुर्थदिनस्यापररात्रे सोमस्य तस्याऽभिषवौपायिकानि पूर्वाङ्गाण्यनुष्ठाय, ततः प्रातःकाले यथोक्तमभिषुत्य सोमं[2] ग्रहेषु चमसेषु तमापूर्य तत्सम्बद्धा देवताः स्तोत्रशस्त्रादिभिः स्तुत्वा, अनन्तरं तस्यै तस्यै देवतायै तमाहवनीये हुत्वा, होमावशिष्टं रसैकदेशं ऋत्विजो यजमानश्च भक्षयेयुः। एवं[3] सवनत्रयेऽपि क्रियत इति साधारणो विधिः। अयमेकदिननिर्वर्त्यव्यापारसमूहयुतो याग एकाह इत्युच्यते। एवमनेकदिनसाध्या न केवलम्, अनेकवर्षसाध्या अपि सोमयागाः श्रुतिषु चोदिता इति पूर्वमुक्तम्।

सोमरसो मादको वा ?

(अत्र पाश्चात्यानां केषाञ्चन विदुषामाशयः)

सोऽयं सोमरसः पीतमात्रस्सन् मदमुत्पादयति पातुः। यजमानेन दत्तं सोमरसं पीत्वा मत्तास्सन्तो देवाः तदा तदा युद्धे स्वशत्रूनसुरानजयन्। यष्टारमन्वगृह्णंश्च बहुभिर्दानैरिति बहुशः श्रृणुमो वैदिकवचोभ्यः[4]। सोमरसं पीत्वैव मदेनाऽऽविष्टः शक्रः स्वशत्रूनायोधने पराजेतुमुत्सहते स्म। रीतिरियमेवाऽऽद्रियते स्म मनुजैरपि तदा तदा। अत आर्यावर्तनिवासिनामार्याणां प्राचीनानां किमप्यपूर्वमिदं मादकं मोदकं वा पानमासीत्, येन मत्तास्सन्त आत्मानमपि विस्मृत्य दुःसाध्यमसाध्यं वा कार्यं सुखेनासाधयन्। अतो मदजनिका पानपरिपाटिरियं पूर्वमार्येषु सर्वसाधारणी सुप्रसृता चाऽऽसीदिति पाश्चात्याः पण्डितवराः साटोपमात्मीयमाशयमाविश्चक्रुर्ग्रन्थरूपेण लेखरूपेण च। तेषु केषाञ्चिद्वचनान्युद्ध्रियन्तेऽधो विषयविवेचनाय[5]। तस्याऽयं सारभूतोंऽशः। सोमयागानुष्ठानस्य मुख्य-

---

१. इदं च जलासेचनं सोमाप्यायनमित्युच्यते याज्ञिकसम्प्रदाये।

२. उपरि बिलः मध्ये तनूकृतः अल्पोलूखलाकारः ऊर्ध्वपात्रविशेषो ग्रहः। चतुरस्रो गर्तवान् ग्रहणार्हमुष्टियुतः पात्रविशेषश्चमसः। उभयमपि दारवमेव।

३. प्रातः, मध्यन्दिनम्, सायमिति भागत्रयमह्नः। तत्र यस्मिन् समये सोमलतां पाषाणेन कुट्टयित्वा रसं निष्पीड्य; तस्य होमभक्षणादिकं क्रियते स सर्वोऽपि व्यापारस्तत्तत्सवनपदेन व्यवह्रियते। यथा—प्रातःकाले क्रियमाणो व्यापारः प्रातस्सवनमिति। सायंकालिकस्य तु तस्य तृतीयसवनमित्येव व्यवहारः न तु सायंसवनमिति। सोमः सूयते अभिषूयते रसरूपेण निष्कास्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तिरत्र बोध्या। षुञ् अभिषवे इति धातुः।

४. ते त्वा मदा अमदन् तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते। (ऋ० सं० १.५३.६.)
अर्वाह्वे हि सोमकामं त्वाहुः अयं सुतस्तस्य पिबा मदाय। (ऋ० सं० १.१०४.५.)
इन्द्रो मदाय वा वृधे शवसे वृत्रहा नृभिः। (१.८१.१) मदे मदे हि नोददिः (१.८१.७.)
अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्यौजसा। विश्वाभिभुवना भुवत्। (ऋ० ८.९२.६.)

५. (a) The essence of Soma sacrifice is the gift to Indra and the gods of the strong intoxicating liquor which impels them to be mighty and richly to reward their votaries and this is the conclusion reached by Victor Henry in his careful study. Taittiriya Sanhita. Vol II, Introduction, P. 121) (A. B. Keith,

(b) It is an accepted fact with each people that Soma was an intoxicating drink, and that it was regarded as the tipple of the gods, inspiring them to those valorous deeds which men craved of them. (—Bloomfield, Religion of the Veda, P. 143)

(c) The intoxicating power of Soma is chiefly and very frequently, dwelt on in connection with Indra whom it stimulates in his conflict with the hostile demons of the air. (—A.A. Macdonell, History of Sanskrit Literature, P. 98)

मिदमुद्देश्यम्—यदिन्द्रादयो देवा यजमानं किञ्चिन्निमित्तीकृत्य सोमरसं पाययन्ति। पीतमात्रश्च स तानिन्द्रादीन् मादयति। मत्ताश्च ते देवा यजमानाभिलाषमापूरयन्ति। अतश्च सोमपानमिदं सुरापानवन्मदोत्पादकमित्येव परिनिष्ठित आशयो हेन्रीमहाशयस्य, अन्येषामपि केषाञ्चन।

(d) The Indians of the Rigveda were acquainted with at least two kinds of spirituous liquor. Soma was the principal one. Its use was, however, restricted to occasions of a religious character such as sacrifices and festivals.

(—A. A. Macdonell, History of Sanskrit Literature, p. 165)

(e) That intoxicating drinks were in common use in vedic times cannot be questioned. In Hymn No. 1.191.10 we read the words : 'I deposit the poison in the solar orb like a leather bottle in the house of a vendor of spirits' which clearly proves that wine was, kept in leathern bottles and sold in the bazaar. Dr. Rajendra Lal Mitra is very decided upon the fact that the earliest Brahman settlers were a spirit-drinking race and indulged largely in Soma beer and strong spirits, in the sense of intoxicating drinks.

(Vedic Religion by K. S. Macdonald, p. 62)

(f) The drink so often spoken of in the Vedic times as Soma or Soma juice is now admitted; we believe, by the best sanskrit scholars to have been intoxicating. The numerous references to it in the Rigveda Sanhita are consistent only with such as interpretation······the Some juice the part of hops in beer. Its effects on gods and men were those of alcohol (K. S. Macdonald, Vedic Religion, p. 66)

(g) Canon Rawlinson writes in the Sunday at Home thus : No doubt the origin of the Soma ceremony must be referred to the exhilarating properties of the fermented juice and to the delight and astonishment which the discovery of them existed in simple minds. But exhilaration is a very different thing from drunkenness; and though orientals do not often draw distinction, we are scarcely justified in concluding without evidence than any which has been advanced as yet, that the Soma ceremony of the Hindus was in the early ages a mere Bacehenalian orgy, in which the worshippers themselves in honour of approving deities. Exhilaration will sufficiently explain all intoxicated that is said of the Soma in the Rigveda and it is charitable to suppose that nothing more was aimed in the Soma ceremony (K. S. Macdonald, Vedic Religion, pp. 70-71)

[अत्र एकेन महाशयेन योऽभिप्रायः प्रकाश्यते तमेव सर्वेऽन्येऽपि पण्डिता अनुमोदन्तेऽनुवदन्ति च। तत्र वेदेषु सर्वत्राऽपि मदशब्दः प्रयुज्यमानो हर्षपरक एव। न तु मदप्रतिपादकः। सोमरसस्य मदोत्पादकता नैवास्ति इति सप्रमाणोदाहरणं निरूपितमस्माभिर्मूले। तेनैवेदं समाहितं भवति, नाऽधिकं वक्तव्यमपेक्षत इत्युत्पश्यामः। उदाहरणविशेषे परं किञ्चिद्वक्तव्यम्। तदुच्यते—ऋग्वेदे विषहरणमन्त्रोऽयं श्रूयते—**सूर्ये विषमासजामि दृतिं सुरावतो गृहे** (ऋ० सं० १.१९१.१०) इति। अत्र भाष्यं सायणीयम्—अहं विषावृतोऽगस्त्यः सूर्ये सूर्यमण्डले विषमावृत्य आसजामि आसक्तं करोमि। तत्र दृष्टान्तः—सुरावतो गृहे सुरानिर्मातृसदने दृतिमिव चर्ममयं सुरापात्रमिव। यथा तत्कर्तुर्न दोषाय भवति तद्वदादित्यस्य विषं न बाधकमित्यर्थः इति। अनेन सुरानिर्मातुर्गृहे दृतेरवस्थितिमात्रमनूद्यते। स च स्वजीवनार्थं निन्दितं कर्म करोति। एतावता सर्वे भारतीयास्तदेव कर्म कुर्वन्त आसन्। सुरानिर्माणमेषां प्रतिगृहं प्रचलतिस्मेत्यादिकथनं कथं नोपहासाय भवतीति सुधिय एव विभावयन्तु।]

परमिदं वस्तुतत्वापलापे प्रयतनमेव। यतो हि सोमरसस्य मदजननस्वभाव एव नास्ति। स पीतस्सन्नुत्साहं पातुस्तत्तत्कार्येषूपजनयति। कवयितुः कल्पनाशक्तिमुपचिनोति। शारीरं बलपुष्टि-सौष्ठवादिकमभिवर्द्धयतीत्येतावन्मात्रम्, न तु बुद्धिविकाररूपमदोत्पादकता तस्य। परमन्ये बहवो गुणाः श्रूयन्ते सोमे। अनेकशतवर्षजीवित्वम् जरतोऽपि तारुण्योत्पत्तिः, बुद्धिपाटवोत्पादनम्, कृच्छ्रसहनशीलता इत्यादिभिर्गुणगणैस्सह परमपवित्रतासम्पादनमपि तस्य मन्त्रेषु शतशः श्रूयते। तेषु च द्वित्रा मन्त्रा भाष्येण सहाऽधोनिर्दिष्टाः[1]।

यदि तु पीतस्य सोमस्य मदजनकता स्यात् तर्हि तस्य पापापनोदकता न कदापि अश्रोष्यत। नहि श्रुतिषु स्मृतिषु वा सुरायाः पापनिवर्तकता श्रुता कुत्राऽपि। यतस्सा पीतमात्रैव सती पातुर्विकलयति बुद्धिम्। न केवलं बुद्धेर्वैकल्यमुत्पादयति प्रायस्सर्वेषामिन्द्रियाणां विवशतामापादयति। सुरापः पुरुषः कृत्याकृत्यविवेकशून्यो भवति। सुरापानं तु सर्वथा निषिद्धं निन्दितं च त्रैवर्णिकस्य श्रुतिषु स्मृतिषु च। कदाचित्कस्यचिदेवं शङ्कोदियात्—रागप्राप्तस्य स्वतन्त्रस्य सुरापानस्य श्रुतिस्मृत्यादिषु सत्यपि निषेधे यज्ञसम्बन्धिनस्तस्य (यज्ञे देवताभ्यो हुत्वाऽवशिष्टस्य) पानं[2] श्रुत्यैव चोदितमिति, तदपि विविच्यमानं क्षणमात्रमपि नावस्थातुं शक्नोति। यतो हि यज्ञेऽपि हुतावशिष्टायास्सुराया अन्यस्मा एव कस्मैचिदृत्विग्यजमानव्यतिरिक्ताय परिक्रीताय निन्दिताय दानं विधीयते। तथाहि—

सन्ति वेदेषु विहिता लक्षाधिकाः पवित्रतमा यागाः। तेषु वाजपेयाख्यमेकं सोमयागम् एकं च सौत्रामणीसंज्ञकं पशुयागं मुक्त्वा, यागान्तरे क्वचिदपि न सुरासम्बन्धः श्रुतः। तत्रापि सौत्रामण्यां तावत् तेन यागमात्रम् अग्नौ हविःप्रक्षेपयुक्तं विहितम्। न तु तस्य भक्षणं यागान्तरवदृत्विजां यजमानस्य वा। किन्तु

---

१. (a) त्रिभिष्ट्वं देव सवितः+अग्ने दक्षैः पुनीहि नः॥ (ऋ० सं० ९.६७.२६) अत्र सायणभाष्यम्—हे देव स्तुत्य सोम! पवमानगुणविशिष्ट त्रिभिर्धर्मभिः अग्निवायुसूर्यात्मकैः त्रिभिः शरीरैः नः अस्मान् पुनीहि परिशुद्धान् कुरु।

(b) उभाभ्यां देवसवितः पवित्रेण सवेन च। मां पुनीहि विश्वतः॥ (ऋ० मं० ९.६७.२५) हे देव द्योतमान सोम! त्वं पवित्रेण पापशोधकेन त्वदीयेन तेजसा सवेन सोमाभिषवेण च एताभ्यामुभाभ्यां विश्वतः सर्वतः मां पुनीहि पूतं कुरु (सायणभाष्यम्)।

(c) पवमानरुचा रुचा (ऋ० ९. ६५. २) हे पवनमान शुद्ध सोम!

(d) अर्कः पवित्रं रजसो विमानः पुनाति देवानां भुवनानि विश्वा। पवित्रं वै सोमः, इत्यादयो मन्त्रा अत्यत्रानुकूलाः।

२. (a) अर्द्धं वै प्रजापतेरात्मनो धैर्यमासीत्, अर्द्धं माल्व्यम्, यद्धैर्यमासीत् तत् पुरस्तादकुरुत, यन्माल्व्यं तत् पश्चात् पर्यौहत, यद्धैर्यं सोमो वै सः ततो ब्राह्मणमसृजत तस्मात् ब्राह्मणस्सर्व एव ब्रह्माभिघोरो यन्माल्व्यं सुरा वै सा·······पाप्मा वै माल्व्यं तस्मात् ब्राह्मणस्सुरां न पिबेत् पाप्मनाऽऽत्मानं नेत्संसृजा इति (मै० सं० २.४.२)।

(b) अर्द्धं वै प्रजापतेर्माल्व्यमासीत्···सुरा वाव सा पाप्मा वैमाल्व्यं तस्मात् ब्राह्मणस्सुरां न पिबति पाप्मना नेत्संसृज्या इति (काठसं० १२.१२)

(c) अस्या एव श्रुतेरर्थं श्लोकेनानुवदति मनुः—
सुरा वै मलमन्नानां पाप्मात्र मलमुच्यते। तस्माद् ब्राह्मणराजन्यौ वैश्यश्च न सुरां पिबेत्॥
इति (म० स्मृ० ११.९३.)

(d) अन्नस्य वा एतच्छमलं यत्सुरा पाप्मैव खलु वै शमलम्। (तै० ब्रा० १.३.३.६)

(e) अशिव इव वा एष भक्षो यत् सुरा ब्राह्मणस्य। (श० ब्रा० १२. ८. १.६) माल्व्यं=मलरूपम्=शमलम्=मलमेव।

भक्षणाय कश्चित् ब्राह्मणं धनेन परिक्रीणीयादिति तत्र विधिः।[1] तत्र भक्षणजन्यं पातकमङ्गीकृत्यापि धनलोभाद्यः प्रवर्तते ब्राह्मणब्रुवः तं परिक्रीणीयात्। तादृशस्याऽपि तस्याऽलाभे यागावशिष्टायास्सर्वस्या अपि सुरायाः वल्मीकच्छिद्रेषु शतच्छिद्रयुतायां[2] कुम्भ्यां च क्षारणस्य विहितत्वेन तत्र शेषस्यैवाभावात् पानस्याप्रसक्तेः।

एवं वाजपेयेऽपि सोमग्रहैस्साकं सुराग्रहान् यागार्थं विधाय, यागानुष्ठानानन्तरं अवशिष्टस्य ऋत्विग्भिर्यजमानेन च भक्षणं, सुरायास्तु वैश्येभ्य[3] एव निन्दितेभ्यो दानं विहितम्। तत्रैवैतस्या निन्दा[4]ऽपि कृता बहुधा सोमप्रशंसया सह। अतश्च महत्यपारे वेदार्णवे उच्चावचयज्ञजातानां लक्षाधिकानां विधायके द्वित्रेष्वेव यागेषु सुराया विधानम्, तदपि च देवतोद्देश्यकत्यागमात्रे, न तु भक्षणे, भक्षणार्थं तु कश्चित् ब्राह्मणाधमो वैश्याधमो वा अनाय्य पाय्यते, तस्याऽप्यलाभे वल्मीकच्छिद्रे प्रासनम् अग्नौ होमो वा, तत्राऽपि सौत्रामण्यां विकल्पः इत्येवमादिकं निर्बन्धं पश्यन्तो वयं—कथं वेदे सुरापानं यागेषु निराबाधं प्रसृतमासीत्—इत्यभ्युपगन्तुं प्रभवामः। अतः पाश्चात्यानां कथनमिदं विदुषां कियदवधि सत्यतां भजत इति सुधिय एव विभावयन्तु वैदिकवाङ्मयपरिशीलिनः पौरस्त्याः पाश्चात्या वा। किमधिकलेखनेन ?

वेदस्थो मदशब्दो हर्षवाचकः

एवमेव सोमरसस्य मदोत्पादकता कदाऽपि नास्तीति निरूपितं पूर्वमस्माभिः। सति चैवं तेषु तेषु मन्त्रेषु यो मदशब्दः प्रयुक्तः स सर्वोऽपि[5] हर्षपरकः स्तुतिपरो वा। न तु बुद्धिविकाररूपावस्थाविशेषपरक इत्येव निश्चेतव्यं भवति। अत एव यत्र यत्र वेदेषु सोमरसपानेन मदोत्पत्तिः श्रूयते स सर्वोऽपि हर्षविशेष एव। निरतिशयतृप्तिर्वा इत्येव सुवचम्। एवमेव वेदभाष्यकारः आचार्यः सायणोऽपि वेदभाष्येषु व्याचष्टे। 'सोमपानेनातितरां हृष्टा इन्द्रादयोऽमराः यजमानाभिलषितं पूरयन्ति' इत्येव तन्मन्त्राणां हृदयम्। मदशब्दस्तु वैदिकसाहित्ये हर्ष एव प्रयुज्यते। 'मदी हर्षग्लेपनयोः' भ्वादिः, 'मदिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु', भ्वादिः, 'मदी हर्षे' दिवादिः' 'मद तृप्तियोगे' चुरादिः। एते चत्वारो मदधातवः। अत्र सर्वत्रापि हर्षरूपोऽर्थोऽनुगतो वर्वर्ति। क्वचित् सत्यपि प्रयोगे मनोविकाररूपार्थे स्थलविशेषमनुसृत्य अन्यत्र सर्वत्र हर्षरूपार्थे एव प्रयोगं पश्यामो वयम्।

---

१. (a) **ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारम्। यदि ब्राह्मणं न विन्देत्। वल्मीकवपायामवनयेत्** (तै० ब्रा० १.८.६.२)। उच्छेषणं होमशेषः।
(b) ब्राह्मणं+पातारम् (आप० श्रौ० १९.९.३) अत्र **कपर्दिभाष्यम्**—ब्राह्मणं ग्रहशेषस्य पातारं परिक्रीणीत। तस्याऽपि सुरां पिबतः पातकम्। न तु यजमानस्य तमत्र कार्ये नियुञ्जतः। ब्राह्मणं परिक्रीणीयादुच्छेषणस्य पातारमिति श्रुतेः॥

२. **शतातृण्णायां समवनयति** (तै० ब्रा० १.८.६.२) शतातृण्णा च्छिद्रशतयुता कुम्भी।

३. **वाजसृद्भ्यस्सुराग्रहान् हरन्ति, अनृतेनैव विशं सं सृजति** (तै० ब्रा० १.३.३.७) वाजसृतः अन्नस्यार्जयितारो वैश्याः, तेभ्यः सुराग्रहान् सोमरहितान् दद्युः (सा० भा०)।

४. **पाप्मा वै सुरा**। (काठ० १२.१०.) अनृतं सीसम्। अनृतं सुरा। (का० ११.१०) **अन्नस्य वा एतच्छमलम्, यत्सुरा। पाप्मैव खलु वै शमलम्**॥ (तै० ब्रा० १.३.३.६, **प्राणभक्षमेके** (कात्या० श्रौ० १९.३.१८) आघ्राणं प्राणभक्ष इत्युच्यते। परिक्रीतो वा वैश्यराजन्ययोरन्यतरः। अङ्गारेषु वा बहिष्परिधि दक्षिणतो जुहुयात्॥ प्रथमसूत्रे पानकर्ता राजन्यो वैश्यो वा विधीयते। द्वितीयसूत्रेऽङ्गारेषु होम एव।

५. **प्रमन्दिने पितुमदर्चतावचः** (ऋ० १.१०१.१) अत्र **सायणभाष्यम्**-मन्दिने मदिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु। तदुक्तं यास्केन-मन्दी मदयतेः स्तुतिकर्मण इति। मन्दिने स्तुतिमते स्तोतव्यायेन्द्राय।

अतश्च भाष्यानुसारेण तत्तत्प्रकरणानुसारेण च सोमपानस्थले सर्वत्र हर्षरूप एवार्थो मदपदस्य स्वीकर्तव्यो भवति। सायणाचार्यस्यैवान्येषामपि भाष्यकाराणां मदधातोस्तृप्तिरेवार्थोऽभिमतः। एतादृशानि परश्शतानि स्थलानि वेदभाष्ये प्रदर्शयितुं शक्यन्ते। दिङ्मात्रमिहाधष्टिप्पण्यामुद्ध्रियते[1]।

किञ्च यत्र सोमरससम्बन्धमन्तरा चरुपुरोडाशादीनामेव औषधहविषां दानं देवताभ्यः तत्राऽपि तल्लक्षणेन देवानामुपवर्णितो[2] मदः प्रायेण। तत्र चरुपुरोडाशादिभिः मनोविकाररूपो मदः कदाऽपि नोत्पद्यते। तत्र केवलं हर्ष एवार्थः स्वीकर्तव्यो भवति, नाऽन्या गतिः। सति चैवं **'मदी हर्षे'** इति दिवादिर्वा **'मद तृप्तियोग'** इति चुरादिर्वा विकरणान्तरयुतो वाऽविशेषेणोपात्तो मदधातुर्हर्षप्रतिपादनायैवेति युक्तमुत्पश्यामः। अतो हर्षमात्रं मदधातोस्सोमप्रकरणेऽर्थः। स च सोमरसपानेनोत्पद्यत इति तत्पातार इन्द्रादयो देवा मदान्विता वर्ण्यन्ते। सोमरसपानेनाऽऽलस्यमपगच्छति। उत्साहः प्रवर्द्धते कार्येषु। बुद्धेर्विकासः कश्चनाऽन्यादृशो भवति। अत एवेन्द्रादीनां सोमपानेन प्रवृद्धबलपुष्टिधैर्यवीर्याणां युद्धेषु तत्र तत्र जयः श्रूयत इति कथनमेव युक्ततरं सङ्गच्छते। न तु निषिद्धस्य, सभ्यसमूहानर्हस्य, पातित्यावहस्य, चित्तविकृतिं विसंज्ञतारूपामुत्पादयितुं सुराद्रव्यस्य पूततमानां देवानां तेषु तेषु पवित्रतमेषु यज्ञेषु प्रियतमपानार्हताकल्पनमिति।

सोमामृतयोरभेदः

तत्र श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु देवानामन्नतया पेयतया वा (देवानां भोजनं) यदुपवर्णितममृतं तदिदं सोमरसान्नातिरिक्तमिति प्रतीयते। सोऽयमाशयः महाभारतेन पुराणान्तरैश्च पोपुष्यते। तथाहि—महाभारते आदिपर्वणि अमृताहरणकथोपवर्णिता। संक्षिप्ता सा कथेत्थम्—देवा[3]सुरयुद्धे पराजिता देवा स्वस्वस्थानात्

---

१. **इन्द्रधेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिश्शच्या गृणानः।** ऋ० सं० १०.१०४.३)

(a) **अत्र सायणः**—विश्वाभिर्धीभिः सर्वैः कर्मभिश्च इह अस्मिन् यागे मादयस्व हृष्टो भव। मद तृप्तियोगे आत्मने—पदम्। देखिये अथर्ववेद भाष्य २०.२६.७

(b) **ता वाघ्रणं मन्दिनं स्तोम्यं मदे** (ऋ० सं० १०.९६.६) सा० भा० मन्दिनं मोदमानम्। (अथ० २०. ३६. ६.) मन्दिनं मोदमानम् हृष्यमाणम्।

(c) **इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन् यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।** (ऋ० ४.५०.१०) (अ० २०.१३.१) ऋ० भा० मन्दसाना हृष्यन्तौ। अथ० भा० मन्दसाना हृष्यन्तौ। अथ० भा० मन्दसाना हृष्यन्तौ युवां सोमं पिबतम्।

(d) **विष्णुपुराणेऽपि**—अमाद्यदिन्द्रस्सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः। वि० पु० ४. १. १८.) व्याख्या—अमाद्यत् सोमपानेनाऽतितृप्त्या हृष्टो बभूवेत्यर्थः।

(e) **तं ते मदं गृणीमसि** (ऋ० ८.१५.४) हे इन्द्र ते त्वदीयं मदं सोमपानजनितं हर्षं गृणीमसि प्रशंसामः। देखिये अथर्ववेद २०. ६१. १

२. (a) **एना राजन् हविषा मादयस्व।** सा. भा. हे राजन् एना अनेन हविषा तुष्टो मादयस्व यजमानं हर्षयस्व। महा-पितृयज्ञे विनियुक्तोऽयं मन्त्रः। अत्र सोमपानस्य प्रसक्तिरेव नास्ति।

(b) **आसद्याऽस्मिन् बर्हिषि मादयध्वम्।** (तै० सं० २.४.१४.५। **मदेम शतहिमाः सुवीराः।** (ऋ० ६. ५. ८) **यस्ते मदः पृतनाषाट्** (ऋ० सं० ६. १७. ७)। **मदो हर्षः।**
उपविश्य मादयध्वं हृष्टा भवत यजमानं हर्षयध्वं वा। (सा० भा० तै० सं० २.४.१४.५) **साङ्ग्रहणीष्टौ याज्येयम्। अत्रापि सोमरससम्बन्धो नास्ति। मदेम हृष्येम।**

३. देखिए महाभारत आदि पर्व १६-२९. Calcutta Edition by M. M. Sidhanta Bagish and Bombay edn. of Krishnacharya 20-35.

प्रच्याविताः पुनः स्वस्थानलाभाय, असुरैस्सह सन्धाय क्षीरोदधिं मथित्वा, ततोऽमृतमुद्धृत्य, पानकालेऽसुरानतिसन्धाय, यथेष्टं तत् पीत्वा, अवशिष्टमिन्द्रसमीपेऽस्थापयन्निति, तच्च तत्रैव सुरक्षितं वर्तत इति च पूर्वकथा।

ततः कदाचित् कद्रूर्नागमाता, विनता च गरुडमाता सायं समुद्रस्य तीरं गते, तत्र दूरे चरन्तमुच्चैःश्रवसं तुरगमवलोक्य तत्पुच्छवर्णविषये (पुच्छः श्वेतः कृष्णो वा) विवदमाने अभूताम्। विवादावसाने अन्यतरपराजये पराजितया स्वाण्त्यैस्साकं जेत्र्या दासीभूयाऽवस्थेयमिति पणबन्धं कृत्वा द्वे अपि तदा स्वगृहं प्रत्यैताम्। रात्रौ च कद्रूः स्वसुतानवोचत्—विनतया सह मया पणबन्ध एवं कृतः। यदुच्चैःश्रवसो वालधिः श्वेतः स्यात् तर्हि श्वःप्रभृति मया युष्माभिस्साकं विनताया दास्या भाव्यम्। अतो रात्रावेव गत्वा, वाजिनस्तस्य पुच्छस्सम्ग्रोऽपि यथा कृष्णीभवेत् तथा कर्तव्यमिति। तैश्च तथा कृते सति प्रातः कद्रूरसितमश्ववालं विनतायै प्रदर्श्य ससुतां तां दासीं चकार। तां तत्सुतं च साऽतिमात्रमक्लेशयत्। तदसहमानो वैनतेयः अमृतप्रदानेनात्मनो मातुश्च दास्यान्मोचनं सम्प्रार्थ्य, इतः स्वर्गं गत्वा, तत्रत्यैः सोमरक्षिभिस्सह महद्युद्धं कृत्वा तान् पराजित्य, ततोऽमृतमानीय नागमात्रे दत्त्वा, आत्मानं मातरं च दास्यान्मोचयामासेति[1]।

सोमाहरणकथया सह बहुष्वंशेषु संवदतीयं कथा। तथाहि—

सोमानुबद्धायां कथायां कद्रुसुपर्ण्यौ कर्त्र्यौ। जयपराजयावपि तावेव। पणबन्धोऽपि तादृशः। (विनता सुपर्णी इति पर्यायपदे) ये सोमरक्षिणस्त एवामृतरक्षकाः। गायत्र्या सोमाहरणकाले सोमस्य पत्रमेकं मार्गे पतितमित्युक्तं श्रुतौ।[2] गरुडेनामृताहरणकाले स्वेच्छयैव पत्रमेकमात्मन उत्सृष्टमित्युक्तं[3] भारते। गायत्र्यपि पक्षी भूत्वैव (सुपर्णी=गरुडो भूत्वा) सोममाहरदिति श्रुतौ प्रसिद्धम्। अमृतार्थं गतो गरुडः सोमहरणार्थमागत इति देवैः[4] व्यवहृतम्। किञ्च कथायामत्र सोमशब्दः अमृतशब्दश्च पर्यायेणैव पौनःपुन्येन परस्परं प्रयुक्तौ। तादृशाश्च केचन श्लोका अधष्टिप्पण्यामुद्धृताः।

---

१. शतपथीं सोमाहरणरीतिमनुसरतीयम्, (देखिए श० ब्रा० ३. ६. १)

२. गायत्रिया ह्रियमाणस्य यत्ते। पर्णमपतत् तृतीयस्यै दिवोऽधि। सोऽयं पर्णस्सोमपर्णाद्धि जातः। (तै० ब्रा० २.१.५.)।
तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत्। तं गायत्र्याहरत्। तस्य पर्णमच्छिद्यत तत् पर्णोऽभवत्॥ (तै० सं० ३. ५. ७. १)

३. वज्रस्य च करिष्यामि तवैव च शतक्रतो। एतं पत्रं त्यजाम्येकं यस्यान्तं नोपलक्ष्यसे॥ (म० भा० आदि०. २८.२१.)

४. a. कश्यपस्य मुनेः पुत्रो विनतायाश्च खेचरः। हर्तुं सोममभिप्राप्तो बलवान् कामरूपधृक्॥
समर्थो बलिनां श्रेष्ठो हर्तुं सोमं विहङ्गमः। सर्वं सम्भावयत्यस्मिन् असाध्यमपि साधयेत्।
[महाभा० आ० २५.४१.४२. कलकत्ता सं०]

b. श्रुत्वैतद्वचनं शक्रः प्रोवाचामृतरक्षिणः। महावीर्यबलः पक्षी हर्तुं सोममिहोद्यतः॥ ४३॥
तच्छ्रुत्वा विबुधा वाक्यं विस्मिता यत्नमास्थिताः। परिवार्यामृतं तस्थुः वज्री चेन्द्रः प्रतापवान्॥ ४५॥

c. इन्द्रवचनम् गरुडं प्रति अमृतमधिकृत्य—
न कार्यं यदि सोमेन मम सोमः प्रदीयताम्। अस्मांस्ते हि प्रबाधेरन् येभ्यो दद्याद् भवानिमाम्॥
गरुडः—किञ्चित् कारणमुद्दिश्य सोमोऽयं नीयते मया। न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम्॥
अथ सर्पानुवाचेदं सर्वान् परमहृष्टवत्। इदमानीतममृतं निक्षेप्स्यामि कुशेषु वः॥
स्नात्वा मङ्गलसंयुक्ताः ततः प्राश्नीत पन्नगाः। ततस्स्नातुं गतास्सर्पाः प्रत्युक्त्वा तं तथेत्युत॥
शक्रोऽप्यमृतमाक्षिप्य जगाम त्रिदिवं पुनः। अथागतास्तमुद्देशं सर्पास्सोमार्थिनस्तदा॥
परस्परकृतद्वेषाः सोमप्राशनकर्मणि। यत्र तदमृतं चापि स्थापितं कुशसंस्तरे॥ इत्यादि।
सोमस्थानमिदं चापि दर्भास्ते लिलिहुस्तदा॥ इति च।
महाभा० आ० २९.९-२६॥ (Cal. Edition in Bangali Script)

एवं श्रीमद्भागवते देवासुराणाममृतोत्पादनानन्तरं तत्पानकाले विष्णुना स्त्रीवेषधारिणा छलेन देवेष्वेवामृतं पाययत्सु ज्ञात्वैतत् स्वर्भानुः देवैस्सह मिलित्वा विष्णुना दीयमानममृतं पपावित्यस्ति कथा प्रसिद्धा। तत्रामृतपदस्थाने सोमशब्दः प्रयुक्तः[1]।

सोमस्यामृतरूपत्वं वेदेऽपि बहुधा श्रुतम्[2]। अमृतनिष्ठा गुणा एव सोमेऽपि श्रूयन्त इत्युक्तमेव पुरस्तात्। एकमेव देवीभागवतविष्णुपुराणपद्मपुराणादिषु अमृतानयनकथायामानुपूर्वीं समानां पश्यामो वयम्। अतो वैदिकपौराणिककालयोरमृतस्य सोमस्य चाभेद एव मन्यते स्मेत्यवगम्यते।

उपसंहारः

तदयमत्र निर्गलितस्सारांशः—सृष्टितः कियतश्चन कालादारभ्य भारते देशे याज्ञिकी प्रथा प्रचलिता प्रथिता चासीत्। स्वापेक्षयोत्कृष्टतमान् देवान् स्वाभिलषितफलदातॄन् निश्चित्य विशिष्टकालदेशादिषु तानाराधयन्ति स्म भारतीयाः। यत्किञ्चित् स्वभोजनार्हं यज्ञार्हं संस्कृत्य प्रथमं देवताभ्यो दत्त्वैवावशिष्टं भुञ्जते स्म। सत्यां प्रसक्तौ तान् स्तुवन्ति च। स्वाभिलषितफलदानाय तान् प्रार्थयामासुः। तैर्दत्तं फलं परिप्राप्य नितरां मोदन्ते स्म। तेषां तत्तद्देशकालादौ अग्नौ तत्तद्धविःप्रक्षेपणमेव यागो देवपूजारूपो मुख्यकर्तव्यतया परिगणित आसीत्। तेषु सोमयागः प्रधानतमं स्थानमलभत। सोमयागस्याननुष्ठाता त्रैवर्णिको व्रात्यस्सामाजिककार्यानर्हो मन्यते स्म। तादृशयागाङ्गभूतस्सोमो लताविशेषः। नैकविधा अतिशयिततमा अनेके गुणास्सन्ति सोमे। स देवानामतितरां प्रीतिजनक आसीत्। विशेषतश्चेन्द्रस्य। यत्र सोमयागः प्रचलति तत्रेन्द्र अनाहूतोऽपि गत्वा बलाच्चौर्येण वा सोमं पिबतीत्यत्र सन्ति वेद एव बहून्याख्यानानि।

स च सोमो भारतदेशे समभूमौ न प्ररोहति स्म। पर्वतप्रदेशेभ्य एव स आनेतव्य आसीत्। पूर्वं स त्रिदिवे देवेष्वेवासीत्। गायत्री (च्छन्दः) सुपर्णरूपं धृत्वा तं भुवमानयत्। तेन च सोमेन इन्द्रादीन् देवानुद्दिश्यानुष्ठेयतया लक्षाधिका यागा वेदेषु निरूपिता विहिताश्च। तेषु जीवता पुरुषेणाधिकारिणा केचित् फलार्थमनुष्ठेयाः केचिद् अवश्यकर्तव्या अननुष्ठानजन्यदोषाप्राप्तये। सेदानीं यज्ञानुष्ठानपरिपाटी भारतदेशे विलुप्तप्रायैव। दक्षिणापथे क्वचित् कोणे कदाचिदत्यन्तविरलतया प्रचलति। तत्रापि न सोमलतया यागोऽनुष्ठीयते, तस्या अप्राप्यतयैव तत्स्थाने पूतीकाख्यं लताविशेषं सोमस्य मन्दसदृशं गृहीत्वा तेनैव यागमनुतिष्ठन्ति याज्ञिकाः।

सोऽयं लताविशेषस्सोमो न केवलं यागौपयिकं द्रव्यम्। किन्तु दिव्यौषधिरपि। स सुनरां पवित्रतमः न तस्य मदजनकता कदापि यथा वैदेशिकाः कथयन्ति। परं बलपुष्टिहर्षादिसम्पादकः। अनेकशतवर्षाणि जीवयति पातारम्, अरोगिणं दीर्घदृष्टिं च करोति। वेदेषु सर्वत्राऽस्योत्साहजनकता हर्षवर्द्धकतेत्येव श्रूयते। अतः श्रुतिषु सोमसम्बन्धेन श्रूयमाणा मदशब्दास्साकल्येन हर्षवाचका एव। विषयेऽत्र पाश्चात्यानां पण्डितानामुक्तिः—सोमो मदजनकः। स सुरावद् यज्ञेषु निरर्गलं पीत आसीत्—इत्यादिका सर्वथा निर्मूलैव।

किञ्च वेदेषु गायत्र्या यत् द्युलोकात् सोमाहरणमुक्तं तदेव (गरुडेन) सुपर्णेन कृतं स्वर्गादमृताहरणं प्रकारान्तरेणोक्तं महाभारते पुराणेषु च। अतोऽमृतमेव सोमः। अत एवेन्द्रादयो देवास्तं सादरं सानुरागं च

१. देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि। प्रविष्टस्सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः॥ (श्रीमद्भाग०-८.९.२४)

२. सोमो राजाऽमृतं सुतः+इदं पयोऽमृतं मधु। तै० ब्रा० २.६.२.१. तथा द्रष्टव्यं—काठ० सं० ३८.१; मै० सं० ६८.१; मै० सं० ३.११.३९; काण्व० सं० २१.७२; माध्यं० सं० १९.७२. तथा तै० सं० ३. ३. ३. ३.

प्रतीक्षन्ते यज्ञेषु स्वेभ्यो दीयमानम् । अतश्च यज्ञेष्वधिकृता जनाः पवित्रतमेन सोमेनेन्द्रादीन् स्वकर्तव्यपरिपालनात् प्रच्युताः, स्वाभिलषितं यज्ञियं फलं प्राप्नुवन्तो वा, सुदीर्घकालजीविनः, अन्ते च निरतिशयं स्वर्गसुखमप्यनुभवन्तः, कृतकृत्याः सर्वथाऽऽत्मानं परिरक्षेयुरिति भगवत्याः श्रुतिमातुर्मातृसहस्रेभ्योऽपि गरीयस्या आशयः ।

विवादविषयस्सोमो यथामति विवेचितः । अनेन प्रीयतां देवस्सोमः सोमार्द्धभूषणः ॥

॥ इति शम् ॥

शून्य-निरालम्बनवादयोर्भट्टपादीया दृष्टिः

[द्वितीयं भाषणम्]

दार्शनिकानां मल्लयुद्धक्षेत्रमिदम्—यत्ख्यातिस्वरूपपरिशीलनं नाम। एकस्य पन्थानमपरो नानुसरति। स्वस्वसिद्धान्तव्यवस्थायै सर्वोऽपि दार्शनिकः प्रथमत एव कञ्चन पन्थानं निश्चित्य गच्छति। गच्छंश्च मध्येमार्गमन्यैः प्रक्षिप्यमाणं मार्गविरोधकं प्रस्तरखण्डादिकं दूरीकुर्वन्नग्रे यातीति दार्शनिकानां स्वभावः। तत्रैक एव यदि सर्वेषां मार्गान् अवरुरुत्सुः शिलाखण्डान् प्रक्षिपति तर्हि सर्वे तमपाकुर्वन्तोऽपि निराकरणप्रक्रियायां न सर्वे एकीभावमवाप्नुवन्ति। न ह्येमे यौधिष्ठिरं न्यायम्—'अन्यैस्सह विरोधे तु वयं पञ्चोत्तरं शतम्' इत्यवलम्बन्ते। एतेषामीदृशमनैक्यं प्रेक्ष्यैव मार्गविरोधका अपि पृथक्पृथगेव मार्गमवरुन्धन्त्येव। नेयं रीतिर्दोषाय भवेद्दार्शनिकानाम्। ओदनस्य सूपस्य च भक्षणे समानेऽपि चुल्लिभेदेनौदनिका विप्राः पृथगेव भवन्ति। सत्यपि प्रकारभेदे तृप्तिस्तु सर्वत्र समाना। सूपयुतमोदनमुपभुज्य सर्वस्योद्गारस्तुल्य एव। तत्र मीमांसक आत्मानं भिन्नं-मन्यमानोऽपि वैदिकत्वेन सर्वानेकीकर्तुं चेष्टते। भिन्नमार्गविलम्बिनोऽपि दार्शनिकाः त्रिषु वादेषु समावेशयितुं शक्यन्ते—सर्वं शून्यमिति वाद एकेषाम्, एक एवास्ति नान्य इत्यपरेषाम्'. भेदे नानैव वर्तन्त इत्यन्येषाम्। यदि किमप्येकमस्ति अथवा नाना सन्ति तर्हि भीतेरवसरः स्यादिति एवं शून्यमित्यङ्गीकारे न भीतेरवसर इति प्रथमे वक्कारः। एकस्यैव वस्तुनोऽस्तित्वे द्वितीयस्याभावान्न साध्वसस्यावसरः 'द्वितीयाद्धि भयं भवति' इति द्वितीये वक्कारः। नानात्वे विद्यमानेऽपि न भयस्यावसरः, करचरणाद्यवयवेषु विभिन्नेषु सत्सु न तेभ्या भीतिरुत्पद्यते। 'अतो भेदेन नानावर्तन्ता'मिति तृतीये वक्कारो भवन्ति। दार्शनिकेषु न चतुर्थः कश्चन प्रकारो मौलिकः परिदृश्यते। तत्रास्तिनास्त्योः कलहः भेदे नानैव वर्तन्त इति पक्षप्रसाधनेन स्वयमुपशमितो भवतीति तमेव मीमांसकसम्मतं पक्षं गृह्णीमः।

तत्र सर्वं निरालम्बनं शून्यं वेति वादः प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति प्रमाणद्वयमूलकः। प्रमेयसिद्धिं प्रति प्रमाणस्यावश्यकत्वेन द्वे प्रमाणे स्वीकृत्य स्वीयं वादं स्थापयन्तीति तस्य प्रकारः। तत्र द्वाभ्यां प्रमाणाभ्यामतिरिक्तेन प्रमाणेन यद्यस्तित्वम् इतरस्साधयति तर्ही प्रथमो न स्वीकुर्यात् प्रमाणान्तरम्। कलहस्तु स्वस्थान एव तिष्ठेत्। अतः कलहोपशमनाय किञ्चिद्दूरं प्रत्यक्षमनुमानञ्चेति प्रमाणद्वयमेव स्वीकृत्य गन्तव्यं भवति। तमिममध्वानं जैमिनिः—'तस्य निमित्त-परीष्टिः' 'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो ऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्' इति त्रीणि सूत्राणि रचयन्नुद्धारयति। भाष्यकारश्च श्रीशबरस्वामी स्वमतेन त्रीणि सूत्राणि प्रथमं व्याख्याय तत्रापरितुष्टो वृत्तिकारोपवर्षमतेन सूत्रत्रयव्याख्यानं प्रदर्शयामास। अपरितोषस्येदमस्ति कारणंयन्निमित्तसूत्रेण सूत्रकारः प्रतिज्ञातधर्मस्य निमित्तपरीक्षां प्रतिज्ञाय धर्मे प्रत्यक्षं प्रमाणं भवितुमर्हति न वेति परीक्षायै प्रत्यक्षस्वरूपं चतुर्थसूत्रेण प्रदर्शयति। तच्च प्रत्यक्षं लौकिकं विद्यमानोपलम्भकम्, धर्मस्त्वलौकिकः तत्र प्रत्यक्षस्य नावसर इति धर्मे प्रत्यक्षं न प्रमाणमिति बोधयन्ननन्तरम्प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानादीनामपि धर्मे नावसर इति व्यञ्जयद् अनुपलब्धिप्रमाणगम्यत्वे धर्मस्य प्राप्ते तन्निरासाय 'औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः' इत्यादि सूत्रं प्रवर्तयामासेति भाष्यकारो व्याख्याय मनस्तृप्तिं नावापत्। शब्दगम्यत्वे धर्मस्य साध्यमाने यो नाम शब्दं प्रमाणं न स्वीकुरुते तन्मते धर्मत्वरूपावगमकं प्रमाणं किं स्यादिति प्रश्नस्तथैव स्यात्। अतो वृत्तिकाराभिमतां सूत्रत्रयीव्याख्यां प्रदर्श्य पूर्वोत्थं प्रश्नं समाधत्ते—'वृत्तिकारस्तु' इत्यादिना। एतन्मते निमित्तसूत्रं नञ्पदमध्याहृत्य व्याख्येयं भवति—प्रतिज्ञातस्य धर्मस्य निमित्तपरीक्षा न

कर्तव्या प्रसिद्धत्वात् प्रत्यक्षादीनाम् इति। प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धप्रामाण्यविशिष्टानि, अतस्तेषां परीक्षणं कुतः? एवञ्च निमित्तसूत्रेण पूर्वंप्रतिज्ञातमस्य चोदनाप्रामाण्यस्य हेतुभूतं प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं स्फोरितं भवति। यदि प्रसिद्धप्रामाण्यविशिष्टान्यपि परीक्ष्यन्ते—प्रत्यक्षं प्रमाणं न वा? अनुमानं प्रमाणं न वा? शब्दः प्रमाणं न वेति, तर्हि कारणान्तरेण तत्परीक्षितव्यम्। एवं सति कारणान्तरं प्रमाणं न वेति परीक्षणमावश्यकं स्यात्, तेनानवस्थापातः। अतः प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वमभ्युपेत्य प्रत्यक्षादिवत् शब्दस्यापि प्रामाण्यं प्रसिद्धमिति तदपि न परीक्षितव्यमिति सिद्धे शङ्का समुदेति कथं न प्रत्यक्षं परीक्षितव्यम्? शुक्तिरजतादौ प्रत्यक्षस्य व्यभिचारो दृश्यत इति। अस्याः शङ्काया निराकरणपरं प्रत्यक्षसूत्रं 'सत्' 'तत्'—पदव्यत्यासेन वृत्तिकारो व्याख्याति—यद्विषयकं ज्ञानं तेन विषयेण पुरुषस्येन्द्रियाणां सम्प्रयोगे जाते यद्विज्ञानं तत् सत्प्रत्यक्षमिति। शुक्तिकारजतस्थले विज्ञानं रजतविषयकम्, तेनेन्द्रियाणां न सम्प्रयोगः किन्त्वन्येन, अतो नात्र प्रत्यक्षस्य व्यभिचारः। अत्रैव ख्यातिवादस्योदयः—इन्द्रियन्त्वन्यसंयुक्तम्, ख्यानन्तु रजतस्येति कथं सङ्गच्छताम्? इति प्रश्ने समुत्पन्ने इन्द्रियदौर्बल्येन वा बाधकप्रत्ययेन वा अन्यथा विद्यमानमन्यथा ख्यायत इति पुरो विद्यमानं विपरीतेन वा ख्यायतं इति वक्तव्यं भवति। एवञ्च यस्य च दुष्टं करणं यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्यय इति सिध्यति।

एवं ख्यातेर्भ्रमस्य स्वरूपे स्थिते निरालम्बनवादो भाष्यकारेणोत्थापितः—यत्र कारणदोषज्ञानम् उत्तरकाले बाधकज्ञानं तत्रैव मिथ्यात्वं कुतः? सर्वेषामेव ज्ञानानां मिथ्यात्वे का हानिः? ज्ञानसामान्यमेव निरालम्बनं भवतु। बाह्यमर्थं कञ्चन स्वीकृत्य करणदोषेण वा बाधकज्ञानेन वा सोऽन्यथा वा विपरीतेन वा ख्यायत इति सरणिः कुत इति। यदा क्वचित् स्वप्नादौ ज्ञानानां निरालम्बनत्वमनुभवामस्तदा सर्वजाग्रज्ज्ञानानां तथात्वे का हानिः? नात्र दृष्टान्तासिद्धिः नाप्यंशतस्सिद्धसाधनं वा। एवञ्च सर्वोऽपि प्रत्ययः, निरालम्बनः प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययवदित्यनुमानं प्रमाणमुपन्यस्तं भवति। ज्ञानानां निरालम्बनत्वञ्च बाह्यार्थभावप्रयुक्तम्। स्वप्ने ज्ञानानां निरालम्बनत्वस्वभावोऽनुभूयते, तत्र बाह्यार्थासद्भावेऽपि प्रत्ययो दृश्यते, तथैव जाग्रत्प्रत्ययेऽपि भवितव्यम्। एवं पक्षसाध्यहेतूदाहरणानि निर्दिश्य भाष्यकारः **'स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिस्सुपरिनिश्चिता कथं विपर्यसिष्यतीति'** इत्यादिना सिद्धान्तपक्षम् उपक्षिप्तवान्।

अयमत्र पूर्वोत्तरपक्षयोस्सङ्ग्रहः—स्वप्नप्रत्ययेषु यथावगम्यमानबाह्यार्थभावेन कालान्तरदेशान्तरवर्तिनां सन्निहितकालदेशतया प्रतिभासासम्भवात् कदाचिदप्यसम्भवतां स्वशिरश्छेदादीनां स्वप्ने प्रतिभासाच्च स्वात्मांशा एव बहिर्वद् गृह्यन्त इत्यवश्यं वक्तव्यम्। अतश्च तत्सामान्याज्जाग्रज्ज्ञानानामपि स्वांशमात्रपर्यवसायित्वान्मिथ्यात्वमेव स्वीकर्तव्यमिति पूर्वपक्षिण आशयः। सिद्धान्तिनस्तु—प्रत्यक्षोपजीव्यं तावदनुमानमिति पक्षद्वयेऽपि सिद्धम्। जाग्रदवस्थायां 'अयं घटः, इदं नीलम्' इति जायमानानां प्रत्ययानां कालान्तरे बाधज्ञानं नोदेति, स्वाप्नप्रत्येषु तु प्रवुद्धस्य तदुपजायते। तेन जाग्रज्ज्ञानानां सुपरिनिश्चितत्वं स्वाप्नज्ञानानाञ्च तदभाव इति कथमनुमानेन प्रत्यक्षबाध इति।

अत्र वार्तिककाराः पक्षसाध्यहेतूदाहरणानि प्रत्येकं परिशोध्य विवेचितवन्तः। वार्तिककारविवेचनसरणेः प्रदर्शनात्पूर्वं किञ्चिदहं विवक्षामि—नास्तिको वा भवत्वास्तिको वा दार्शनिकः सर्वोऽपि स्वस्वदर्शनानुगुण्याय कांश्चन पदार्थान् निश्चित्य तदुपपादनाय कञ्चन मार्गं परिकल्प्य गच्छति। गमनावसरे यदि किञ्चिदवरोधकं पश्येत् तदपसार्याग्रे गच्छतीति पूर्वमवोचम्। तत्र तत्तद्दर्शनस्य मूलप्रवर्तकस्सूत्रकारः स्वीयेषु सूत्रेषु यान् विषयान् यथोपन्यभान्त्सीत् तथा तान् तदुत्तरवर्तिन उपबृंहयितुं यतन्त इति दार्शनिकानां स्वभावः। सूत्रकारात् परवर्तिनां समये खण्डनाय मण्डनाय वा विषयबाहुल्यं कालक्रमेण समापतेदेव, सूत्रासंस्पृष्टा अपि

कदाचिद्विषया आपतेयुः, येषां पर्यालोचनं परवर्तिभिः स्वस्वदर्शनसिद्धान्तानुगुणमक्रियत। एवमपि सम्भाव्यते-यन्मूलसूत्रकाराभिमतमविज्ञायान्यथैव स्वदर्शनतत्त्वं विस्तारयितुं परवर्तिनां प्रवृत्तिरजायत इति। ईदृशं तद्दर्शनसाहित्यं पश्यन्तोऽन्ये दार्शनिकाः तत्खण्डनाय लेखनीं व्यापारयामासुरिति। अस्तु यथा तथा वा। मीमांसासूत्राणि वयं पश्यामः—किं जैमिनिमहर्षेस्समये प्रत्ययानां निरालम्बनवाद उत्थितो वा न वा? उत्थितश्चेत्तदुत्थापकः कः? नोत्थितश्चेत्तत्परवर्तिभिस्तत्खण्डनाय कथं प्रवृत्तम्? तैः क्रियमाणं खण्डनं सौत्रं वा स्वबुद्धिप्रभवं वा? यदि सौत्रम्, तर्हि सूत्रेणाभिधीयमानं वा तत् उताभिव्यज्यमानं वा? यदि वा स्वबुद्धिप्रभवं तर्हि मूलसूत्रकारानभिमतखण्डनप्रकारः कथं प्रामाण्यमर्हति? इतीदं सर्वं परिशीलनीयम्। मम तु प्रतिभाति यत्, सर्वञ्चेदं मीमांसाशास्त्रं बाह्यार्थसद्भावप्रतिपादनाय प्रवृत्तमिति। यद्यपि धर्मतत्त्वप्रतिपिपादयिषया धर्मतत्त्वावबोधकवेदवाक्यस्यार्थनिर्णयाय केवलं प्रवृत्तमिदं शास्त्रम्, न प्रत्यक्षादिप्रमाणानां द्रव्यादिप्रमेयाणाञ्च तत्त्वनिरूपणाय, तथापि प्रमाणप्रमेयनिरूपणस्य शास्त्रान्तरविषयत्वेऽपि निरूप्यमाणस्वविषयस्य धर्मस्य प्रतिपादनाय लौकिकप्रमाणानां प्रमेयाणाञ्चावश्यकतायां सत्यां तत्रापि प्रवृत्तिरेष्टव्या सूत्रकारस्य। वैदिकोऽपि जैमिनिर्नालौकिकः। लौकिकं पन्थानमनुसरन्नेव गच्छतीति तदीयसूत्राध्ययनेन विस्पष्टं भवेत्। प्रथमसूत्रेण जिज्ञासितस्य धर्मस्य **'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः'** इति द्वितीयसूत्रेण लक्षणमभिधाय न तावता शास्त्ररचनात उपरमं जैमिनेः पश्यामः। प्रतिज्ञातस्य लक्षितस्य च धर्मस्यालौकिकत्वेन लौकिकप्रमाणाविषयत्वात्परीक्षणस्य नावसरः, तथापि परीक्षते, अपरीक्ष्यैव निर्णीयमाने धर्मे श्रद्धामात्रविजृम्भितत्वं स्यादिति। अथवा वृत्तिकारमतेन प्रसिद्धत्वाल्लौकिकप्रमाणानां परीक्षाऽपि न कर्तव्येति स्वीकारे औत्पत्तिकसूत्रप्रणयने जैमिनेरन्तर्निहितः कश्चनाशय उन्नेतव्यो भवति—यज्जैमिनेः काले केनापि रूपेण निरालम्बनवादः प्रचलन्नासीत् यस्य निराकरणमनेन सूत्रेण क्रियते। कथमन्यथा शब्दतदर्थयोस्सम्बन्धं नित्यं प्रतिपादयेत्? पुनश्च कथं वा शब्दनित्यत्वाधिकरणे **'कर्मैके तत्र दर्शनात्'** इत्यादिना पूर्वोक्तसम्बन्धासम्बन्धिनश्शब्दस्य नित्यत्वप्रतिपादने प्रवृत्तिः? अतो वृत्तिकारभाष्यकार-प्रतिपादितदिशा निरालम्बनवादस्सूत्रारूढ इति। जैमिनेः जैमिनिसूत्रेष्विदमेकं वैचित्र्यं—यत्क्वचित्क्वचित् पूर्वपक्षमनुल्लिख्यैव सिद्धान्तमात्रं निर्दिश्यत इति। तत्रोत्सूत्रं पूर्वपक्ष इति भाष्यकारः कथयति। तथा चौत्पत्तिकसूत्रे यावन्तो विषयाश्चर्चिता भाष्यकारेण, ते सर्वेऽपि सूत्रारूढा एवेति स्वीकारे न काचिद्धानिः। किञ्च जैमिनिः प्रायस्स्वसूत्रेषु 'अपि वा' 'तु' 'वा' इति प्रयुङ्क्ते। तत्रेमे प्रायः पक्षव्यावर्तकत्वेन नीयन्ते भाष्यकारेण।

औत्पत्तिकसूत्रगतोऽपि 'तु' शब्दश्शङ्कानिवर्तकत्वेन नेतुं शक्यते। भाष्यकारमतानुसारेण प्रत्यक्षादीनां धर्मेऽकारणत्वे निश्चिते पारिशेष्यन्यायेनानुपलब्धिगम्यमेव धर्मस्येत्यायाति तन्निरासाय 'तु' शब्दः। वृत्तिकारमतानुसारेण प्रसिद्धत्वात्प्रत्यक्षादीनामपरीक्ष्यत्वे सिद्धे व्यभिचारात्परीक्षितव्यानि प्रत्याक्षादीनीति शङ्कायां तन्निराकरणाय प्रत्यक्षसूत्रे तत्सत्पदयोर्व्यत्यासः स्वीकृतः। तत्रैव निरालम्बनवादशून्यवादादीनां समुत्थितिः। तत्समाधायानुमानाद्यनुपलब्ध्यन्तानां प्रमाणानां प्रसिद्धत्वादपरीक्ष्यत्वं प्रतिपाद्य चित्राक्षेपपूर्वकं चोदनालक्षणत्वं धर्मस्याक्षिप्तम्। तस्यास्याक्षेपस्य निवर्तकस्तुशब्दः। धर्मस्य चोदनालक्षणत्वमाक्षेप्तुं त एव प्रभवन्ति ये वेदबाह्याः। निरालम्बनवादप्रभृतिशब्दस्याप्रामाण्यसाधनान्तो यो भागो भाष्यस्य स सर्वोऽपि वेदबाह्यैः कृतानां शङ्कानामवद्योतकः। देवासुरसङ्ग्राम इव अस्तिनास्त्योर्विवादः पुरातनः। जैमिनिर्वादकथासु श्रुत्वैवेमानाक्षेपान् निराकर्तुं महदिदं शास्त्रं प्रणिनाय। तत्र समग्रस्य शास्त्रस्य बाह्यार्थसद्भावप्रतिपादनतात्पर्ये परिकल्प्यमाने न कश्चन दोषस्स्यात्। सर्वेऽप्यमी वादा बाह्यार्थासद्भावमाश्रित्यैव प्रवृत्ताः। निरालम्बनवादः, शून्यवादः, सम्बन्धाक्षेपवादः, चित्राक्षेपवाद इत्यादयः तदा समुत्पन्नाः प्रतिभान्ति यदा विश्वस्मिन् जगति वैदिकानामेकच्छत्राधिपत्यमासीत्। तदसहमाना वेदवादविरुद्धान् पक्षानुपस्थापयाम्बभूवुः। तन्निरसनाय महान् प्रयासो महर्षिभिरवलम्बितः। तत्र जैमिनिः विरुद्धानिमान् पक्षानपाकर्तुं बाह्यार्थसद्भावव्यवस्थापनं मुख्यं मन्वानः शब्दतदर्थं

सम्बन्धानां नित्यत्वं प्रथमं पञ्चमसूत्रेण निर्दिदेश। इदमवलम्ब्यैव साक्षात्परम्परया सर्वोऽपि प्रपञ्चः शबरस्वामिना कुमारिलभट्टेन च व्यधायि।

तत्र भाष्यकारेण प्रत्ययानां निरालम्बत्वे प्रतिज्ञा-हेतूदाहरणोपनयनिगमाः प्रतिपादिताः **'सर्व एव निरालम्बनः प्रत्ययः'** इत्यादिना। अनुमानमिदं परीक्षितुमारभमाणो वार्तिककारः प्रथमं बौद्धैः प्रयुज्यमानं संवृतिशब्दं परिगृहीतवान्। ते हि संवृतिसत्यं पारमार्थिकं सत्यम् इति सत्यद्वयं समाश्रित्य प्रमाणप्रमेयादिव्यवहारः संवृतिसत्येन सिध्यति, परमार्थसत्येन च प्रत्ययानां निरालम्बनत्वसिद्धिरिति वदन्ति। तैरपि सर्वोऽपि लौकिकव्यवहार उपपादनीयः। स च व्यवहारस्संवृतिसत्यत्वप्रयुक्तः, परमार्थतस्तु निरालम्बन एव प्रत्यय इति। इयञ्च सरणिरद्वैतिनामप्यस्ति—ते हि त्रिविधं सत्यं मन्यन्ते व्यावहारिकसत्यम्, प्रातिभासिकसत्यम्, पारमार्थिकसत्यञ्चेति। इमामेव सरणिमनुकर्तुं बौद्धचेष्टितमिति भाति। किन्तु शब्दमात्रस्यानुकरणं न त्वर्थतः। व्यावहारिकावस्थायां वा प्रातिभासिकावस्थायां वा ज्ञानानां पदार्थालम्बनत्वमद्वैतिभिर्न निषिध्यते, बाह्यपदार्था ब्रह्मविवर्तरूपेण तिष्ठन्त्येव। बौद्धप्रक्रियायान्तु संवृतिसत्यस्थले ऽर्था न सन्त्येव। दर्शनान्तरे सत्यपदविशेषणतया व्यावहारिकपदं प्रयुञ्जते, इदञ्च विशेषणं युक्तम्। संवृतिसत्यस्थले तु सत्यस्य विशेषणं संवृतिर्भवति। संवृतिर्नाम मिथ्या। सत्यस्य मिथ्यात्वं कीदृशं भवेत्? विरुद्धाविमौ सत्यं मिथ्येति, कथं विशेष्यविशेषणभावं प्राप्तुं शक्नुतः। संवृतिसत्यमित्यस्य किं संवृतिरूपं सत्यमित्यर्थो वा? उत संवृतेस्सत्यमित्यर्थो वा? नाद्यः; सत्यस्य मिथ्यारूपत्वं न सङ्गतम्। न द्वितीयः, द्वैतसिद्ध्यापत्तेः। अतः प्रतारणपरोऽयं संवृतिशब्दः।

इदानीमनुमानं पश्यामः—सर्व एव प्रत्ययो निरालम्बनः, प्रत्ययत्वात्, स्वाप्नप्रत्ययवदिति। अत्र पक्षः—सर्वः प्रत्ययः। अनेनानुमानेन यज्ज्ञानं जायते तदपि पक्षान्तर्गतं भवति। सर्वे प्रत्यया निरालम्बनत्वेन विशिष्टास्साध्यन्ते। अत्र यो विशेष्यविशेषणभावग्रहः सोऽपि निरालम्बनः। अर्थात्—विशेष्यविशेषणभावग्रहस्य मिथ्यात्वे सिद्धेऽनुमानेन जायमानग्रहस्यापि मिथ्यात्वं सिद्धं भवेत्। तदा विशेष्यविषणयोर्विवेको न सिध्येत् इति अप्रसिद्ध-विशेषणविशेष्यः पक्षो भवेत्। प्रत्ययस्य निरालम्बनत्वं वदतः श्रोतुश्च यज्ज्ञानं तदपि प्रत्ययत्वान्निरालम्बनमिति पक्षस्य सिद्धिः कथम्, यदीदं सालम्बनं तर्ह्यनुमानमनैकान्तिकं भवेत्। इदं विशेषणम् इदं विशेष्यमिति विकल्पो वस्तुनि भवति नावस्तुनि। निरालम्बो नाम न किञ्चिद् वस्त्वस्माकम्, अतः कथममी विकल्पा इति कथनेनापि न निस्तारः, यतो ह्यवस्तुनः क्वापि बुद्धिविषयत्वादर्शनेन न त्वया बोधयितुं शक्यते, नाप्यस्माभिश्शक्यते, बोद्धुम्। असतः कल्पनापि न प्रसिध्यति, यदि कल्पयित्वा सत्त्वमनुमानव्यवहारः क्रियत इत्युच्यते। सत्त्वस्य कल्पना ज्ञानोत्पत्तये भवता स्वीकर्त्तव्या, तथा सति तस्या वस्तुत्वमेव स्याद् नावस्तुत्वम्। कामं मीमांसकैर्मेघाभावेन वृष्ट्यभावस्साध्येत, किन्तु तेषां भावातिरेकिणा रूपेणाभावः प्रख्यायते, न ह्यभावोऽवस्तुरूपः। भवन्मते तु तस्यावस्तुत्वमेव। अतः कल्पनाप्यनुपपन्ना। किञ्च योऽयं प्रत्ययशब्दो धर्मिणं पक्षं निर्देष्टुं प्रयुज्यते स किं भावे कर्तरि करणे वा कर्मणि वा प्रयुज्यते? प्रतीयत इति प्रत्ययो वा? प्रत्याय्यत इति प्रत्ययो वा? न हि प्रतीतिरस्ति प्रत्येतव्यं नास्तीति भवितुमर्हति, अकर्मकप्रत्ययासम्भवात्। यदि ज्ञानमेवार्थप्रकाशो तज्जन्मनि वा कर्तृत्वेनोपचर्यते करणत्वेन वेति वः पक्षः, तथापि विना कर्मकारकेण तदनुपपत्तिस्तदवस्थैव प्रत्यय इत्युक्तमात्रेणैव प्रत्येतव्याभावः प्रतिषिद्ध इति लौकिकी सरणिः। मम मातेत्युक्ते तस्या वन्ध्यात्वं प्रतिषिध्यत इति यथा। अतः प्रत्ययं पक्षीकृत्य न निरालम्बनत्वं साधयितुं शक्यते। ज्ञानमात्रं निरालम्बनमिति प्रतीत्य भवता **'प्रत्यया निरालम्बनाः'** इति वक्तव्यम्। तथा सति धर्मधर्मिवचनाविमौ शब्दावित्यायाति। यद्यत्र किमप्यभिधेयं नास्ति तर्हि पक्षः कथं प्रसिध्येत्? न खलु प्रत्ययशब्दोऽविभक्तावयवे रूढ इति साम्प्रतम्, एवमपि तस्य ग्राहकत्वं तावत्प्रसिद्धमेव। रूढ इति वदतो भवतो वर्णानुपूर्व्येव खलु विवक्षिता। तस्या ग्राहकत्वञ्चेत् स्वयं स्वस्य ग्राहकमित्यायातम्। तथाप्यप्रसिद्धविशेष्यः पक्षो भवेत्। अतः कथमपि न पक्षः प्रसिद्धः।

एवं निरालम्बनत्वं साध्यमप्यनुपपन्नम्। 'प्रत्यया निरालम्बनाः' इत्यत्र निरालम्बनत्वं धर्मः प्रत्ययानाम्, प्रत्ययाश्च तद्विशिष्टा धर्मिण इति सम्पद्यते। धर्मधर्मिभावेऽवगते कथं प्रत्ययानां निरालम्बनत्वं सिध्येत्? निरालम्बता इत्यत्र बहुव्रीहिः—निर्गतमालम्बनं येभ्यो येषां वेति। पूर्वमासीदालम्बनं यच्चेदानीं तेभ्यो निर्गतम् इति वा, यच्चालम्बनं भवद्भिरुच्यते तदिदानीं तेषां निर्गतमिति वार्थस्सम्पन्नः। पूर्वमासीत् कथम्? इदानीं निर्गत इति च कथमित्युपपादनीयम्? न वयमागतं निर्गतमिति ब्रूमः, किन्तु 'प्रत्ययान् सर्वथालम्बनशून्यान् वदाम' इति चेत् तर्ह्यालम्बनशून्यत्वं प्रत्ययानां धर्म इत्युक्तं भवति। एवं सति निरालम्बनत्वं प्रत्ययानां कथं साधितं स्यात्, आलम्बनशून्यत्वस्यैव तेषामालम्बत्वात्। आलंम्बनशून्यत्वं प्रत्ययानां स्वभावो न तु धर्म इत्युच्यमानेऽप्रसिद्ध-विशेषणः पक्षस्स्यात्। न हि सर्वथा निरालम्बनत्वं नाम जगति किञ्चिदस्ति।

यदाकारा बुद्धिस्सा निरालम्बनेति ब्रूमः। सर्वत्र विज्ञानाकारैव बुद्धिरुदेति, न बाह्यार्थालम्बनः, न हि बाह्योऽर्थः कश्चन विज्ञानादतिरिक्तः प्रसिध्यति। इदमेवास्माकं निरालम्बनत्वमिति चेदत्र वदामः, विज्ञानाकारां बुद्धिरिति वदद्भिर्भवद्भिः विज्ञानस्याकारः कश्चन स्वीकृतः। कथं बुद्धेर्निरालम्बनता? स्ववाग्विरोधः खलु भवेत्। बुद्धिरिति वदन्तो भवन्तः किं बाह्यमित्यनेन रूपेण बुद्धिर्नालम्बते इति साधयन्ति? उत वस्तुतो वा बाह्यं नालम्बत इति? नाद्यः पक्षस्समुचितः, सिद्धसाधनत्वात्। घटोऽयम् नीलमिदम् इत्यादयो बुद्धयो बाह्यतया घटादिकं नालम्बन्ते, किन्तु घटाद्याकारतयैव, आसु बुद्धिषु तत्तद्रूपसंवेदनस्य दृश्यमानत्वाद् घटाद्यना-लम्बनत्वं कथं साधयितुमुचितम्? द्विचन्द्रादिज्ञान इदमनालम्बनत्वं तुल्यमिव प्रतिभाति, किन्तु यदेव विज्ञान-मिन्द्रियाप्राप्तमर्थं प्रकाशयति तदनालम्बनमिति स्वीक्रियते, न पुनर्द्विचन्द्रादिप्रतिभासोऽपह्नूयते, यद्ययं प्रतिभासो नापह्नूयते तर्हि सदसद्विवेकः कीदृशो मीमांसकानामिति प्रश्नस्येदमुत्तरम्—'इदं सत् इदमसदिति विभाग इन्द्रियार्थसंयोगसदसद्भावप्रयुक्तः, यदिन्द्रियसम्प्रयुक्तमर्थं प्रकाशयति तत्सत्, विपरीतञ्चान्यत्। यथावभासमर्थस्य सत्त्वं न ब्रूमः, बाधकदर्शनात्। अतो देशान्तरस्थमिन्द्रियाप्राप्तमर्थं यद् गृह्णाति तदसद् ग्राह्यम्। तादृशविज्ञा-नस्यार्थो नास्तीति व्यवहारः। तथा च नेदं रजतमित्यस्य नायमर्थः यद्रजतं नास्तीति, किन्तु—इह नास्तीति यत्रेन्द्रियेण न प्राप्यते। यदेव यत्रेन्द्रियेण प्राप्यते तदुच्यते—इदमस्तीति विभागोऽयं निरालम्बनवादिनो न भवति, तेषामिन्द्रियादीनामभावात्।

निरालम्बनमित्यस्य ग्राहकाद् ग्राह्यमभिन्नमित्यर्थः। स एव साध्यत इति कथं साध्याप्रसिद्धिरिति चेत्—तर्हि विज्ञानस्य यच्छक्तिद्वयं स्वीकृतं भवद्भिः—ग्राह्यशक्तिः ग्राहकशक्तिश्चेति तदपलपितं स्याद्, यदि ग्राहकाद् ग्राह्यमभिन्नमित्युच्येत। बौद्धैराश्रयातिरेकिणी न शक्तिरिष्यते तथापि शक्तिभेदद्वारेण द्व्यात्मकत्वस्य तैः स्वीकृतत्वान्न दोषः। 'प्रत्ययो निरालम्बनः' इत्युक्ते या बुद्धिर्निरालम्बनत्वविषयिण्युत्पद्यते, तस्या बाह्यग्राह्यविर्जितत्वं सिद्धमेव, न तत्साध्यकोटिप्रवेशार्हम् अनर्थकत्वात्। किञ्च—अयं चैत्रः, अयं स्तम्भ इत्यादयः प्रत्ययाः बाह्यं स्वस्वविषयमवस्थापयन्ति, स निराकर्तव्यो निरालम्बनप्रत्ययेन। निरालम्बनप्रत्ययश्चा-र्थशून्य आत्मांशपर्यवसायी। प्रत्यययोरनयोर्विचिन्त्यमाने विरोध एव नास्ति। समाने विषये समुपनिपातिनो-र्विरुद्धप्रत्यययोरेव बाध्यबाधकभाव इष्यते। यथा—इदं रजतम् नेदं रजतमिति। चैत्रादिप्रत्ययानां बाह्यो विषयः, निरालम्बनप्रत्ययानां च स्वात्मांशो विषयः। समानविषयत्वञ्चोभयोर्न दृश्यते। अतोऽत्र कि केन बाध्यत इति वक्तुं न शक्यम्। अतो निरालम्बनत्वं साध्यं न आत्मनस्स्वरूपं लभते।

किञ्च बुद्धेन स्वशिष्या उपदिष्टाः—'अयं धर्मः अयमधर्म' इति। अत्रोपदेशकः कश्चन, उपदेश्याश्च बहवः, उपदेशश्च चैत्यवन्दनादयो धर्माः तद्भिन्नाश्चाधर्माः, इमे भेदाः परमार्थतो यावन्न सिध्यन्ति, ताव-दुपदेश एव न घटेत। सर्वमिदं बुद्धानां बुद्धानुष्ठानचेष्टादर्शनेनानुमतम्। चैत्रादिप्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वा-

दिति सम्प्रति तद्विपरीतवचने सति किं बुद्धाभिप्रायविरोधो न भवति ? उपदेश्योपदेशकयोर्भेदः धर्माधर्मत्वेनोपदेशयोर्भेदः, सर्वमिदं बुद्धैरनुमन्यते, अपि च निरालम्बनाः प्रत्यया इति साध्यत इति चित्रमेतत्। स्वयूथ्यैरसौत्रान्तिकैश्च बाह्यार्थसद्भाव उल्लिखितः, तदागमबाधनं च स्यात् यदि प्रत्ययानां निरालम्बनत्वं साध्यते।

एवं सहस्रं दोषा उद्भाव्यन्ताम्। अत्र बौद्धा एवं कथयन्तः प्रत्यवतिष्ठन्ते यत्, सर्वोऽपि धर्मधर्मिभेदव्यवहारः—अयं पक्षः, इदं साध्यम्, अयं हेतुरित्यादिः बुद्धिभेदप्रयुक्त इति तावत्सर्वैरभ्युपगन्तव्यम्। अनादिवासनोपप्लाविता हि पक्षसाध्यहेत्वादिविकल्पा भवन्ति। अतो वासनाभेदाद् बुद्धिभेदः, तद्भेदाच्च पक्षादिभेदः। बुद्धयारूढेनैवानुमानानुमेयव्यवहारस्सेत्स्यति। 'नित्यश्शब्दः' अनित्यः शब्दः' इति भिन्नयोर्धर्मिणोः हेतुसाध्ययोर्वावगतिः बुद्धिभेदेन विना न हि भवितुमर्हति। अतो ज्ञानभेदनिबन्धनएवात्र भिन्नत्व-व्यवहारः। ज्ञानमेव सर्वत्र भेदनिबन्धनम्। सुदूरमपि गत्वा युक्तिभिरनुसंहितो भेदो ज्ञान एव पर्यवस्यति। देशतः कालतश्च भेदं ब्रुवाणा ज्ञानभेदमेवावलम्बन्ते। जात्यादिभेदेन वह्निधूमादिभेदसाधनमपि शब्दप्रयुक्तमेव। शब्दभेदेऽर्थविकल्पविलसिता एवाग्नित्वधूमत्वादयः। शब्दभेदोऽपि विज्ञानभेदाद्विना न सम्भवति। एवं च सर्वोऽप्यनुमानानुमेयव्यवहारो बुद्धयारूढेन धर्मधर्मिन्यायेन बहिः सदसत्त्वमपेक्षत इति यावन्ति दूषणानि तावन्ति विकल्पविलसितान्येवेति।

तदत्र विचारणीयम्—बुद्धिभेदनिबन्धनत्वं शब्दभेदनिबन्धनत्वं वाऽस्तु हेत्वादिभेदानाम्, बुद्धिभेदं प्रति शब्दभेदं प्रति किञ्चिन्निबन्धनं वक्तव्यम्। न ह्यकस्माद् बुद्धिभेदो वा शब्दभेदो वा जायेत, अकारणिका कार्योत्पत्तिर्न खलु सम्भवति। शून्ये च जगति न तयोः कारणमप्युत्प्रेक्षितुं शक्यते। शब्दाभानेन भवतां शब्दभेदः कथं सिध्येत् ? भवदुक्ते प्रयोगे परोक्तानि दूषणान्यवगत्यैव तेषां दूषणानां विकल्पविलसितत्वं भवतोच्यते। अविद्यमान एव बुद्धिमात्राकल्पितस्साध्यादिभेदोऽनुमानव्यवहारायेति यदि कल्प्यते, तर्हि दूषणव्यवहारोऽपि तादृश एव स्यात्। किन्तु दूषणबुद्धिः हेत्वादिन्यूनतोक्त्यैव खलु भवतां जायते। तथैव भवदुक्तप्रयोगस्त्वस्माकं न सिद्ध इत्यावयोर्नाविशेषता। बाह्यार्थव्यवहारिणो वयं भवन्तश्च ज्ञानैकशरणाः। असति बाह्येऽर्थे वयं कथं बुध्यामहे ? अर्थावबोधाय निमित्तमुक्तमस्माभिः वासनाभेद इति चेत् न, वासनाभेदः किं निमित्तः, ज्ञानभेदनिमित्त इति वक्तव्यम्। तथा सत्यन्योन्याश्रयः। बीजाङ्कुरन्यायेन नान्योन्याश्रयः परिहर्तुं शक्यते—बीजाङ्कुरयोः प्रसिद्धिरस्ति, तत्र दोषपरिहारस्सुगमः। किन्तु वासनास्ति सा च भिन्ना इत्यत्र न किञ्चिदस्ति प्रमाणं भवताम्। वासना हि नाम सा भवति—पूर्वानुभवप्रभावितस्मरणहेतुः संस्कारः। सा च विद्यमाना विविधं ग्राहकं ज्ञानमेवोपकल्पयेत्, ग्राह्यभेदस्तु किं कृतः ? नायं वासनानिबन्धनो भवितुमर्हति। स्मृतिहेतुः खलु वासना। बहिश्च पदार्था अत्यन्तमसन्तः। न ते कदापि गृहीतपूर्वाः। तान् वासना कथं स्मारयेत् ? किञ्च भवतां ज्ञानानि क्षणिकानि परस्परमन्वयेन विना नश्वराणि। अतो वास्यवासकभावस्तेषामनुपपन्नः। व्यापारनिबन्धनः खलु वास्यवासकभावः। क्षणिकानाञ्च स न भवति। जन्मनैव व्यापारेण वासनायाः कारकत्वं न वक्तुं शक्यम्, बुद्धिस्तु जायमाना ज्ञानान्तरं वासयन्ती न दृश्यत इति जन्मना वासनायां कारणत्वं कथं भवेत् ? जन्मापि च बौद्धैर्नाङ्गीक्रियते। यद्धि स्वलक्षण एव निरुद्धं न केनचिद्रूपेणान्वेति न तत् तदीयं वास्यतीति सम्भवति। तथा वासकमपि यत् निरन्वयविनष्टं तत् केनात्मना परं वासयेत् ?

इयमत्र बौद्धानां प्रक्रिया—भङ्गुरमुत्तरञ्च ज्ञानम्, नावस्थितः कश्चिन्नित्यो ज्ञाता, पूर्वसादृश्याद् सारूप्याद्वा ततो भिन्नस्योत्तरस्य वासना युज्यते। वासना नाम पूर्वसारूप्यमुत्तरस्य। पूर्वभावादेव ज्ञानस्य कारकत्वम्, नात्र व्यापारस्यावश्यकता। पूर्वभावातिरेकिणो व्यापारस्यानुपपत्तिः। पूर्वस्योत्तरकारणत्वमिदमेव वासकत्वं यत्पूर्वेणोत्तरं वास्यत इति। भङ्गुरवादिनामेव वासनोपपत्तिमती न स्थिरवादिनामिति।

अत्रेयं मीमांसकानां दृष्टिः—यदि पूर्वमुत्तरस्य जनकमभविष्यत् तर्हि पूर्वं, स्वानुरूपं विरूपं वा अजनयिष्यत्। असतोऽनुत्पन्नस्य वा न खलु जनकत्वा क्वचिदनुभूयते, एवं विनष्टस्यापि। निष्पन्नं ज्ञानं क्षणमपि नावतिष्ठते, कदा तज्जनयिष्यति? यदा जनकत्वमेव नोपपन्नं तदानुरूपजननमिति कथमुपपद्यताम्। यस्य चान्वयो नास्ति, यश्च विनष्टः तस्यानुरूपमपरं कथं सम्भवेत्? आनुरूप्यं नाम धर्मान्वयः। पूर्वधर्मान्वय उत्तरज्ञाने यद्यभ्युपगम्यते तर्हि तस्य निरन्वयो विनाशो वा कथं सम्पत्स्येत? समानधर्ममादायैव सारूप्यघटना लोके प्रसिद्धा। पूर्वभावितैव कारणत्वं यदुक्तम्, तद् घटपटयोरपि पूर्वापरभावित्वे कार्यकारणभावस्स्यात्। अतः पूर्वभावितामात्रेण कारकत्वं वा कारणत्वं व्यापारमन्तरेण न सिध्येत्। अत आनुरूप्यवासनापक्षो न युक्त इति। बाह्यार्थवादिनां हि पूर्वज्ञानजनिता आत्मस्था वासनाः सदृशदर्शनाद्यपेक्ष्य लब्धोद्योगाः क्रमेण कार्यं जनयन्ति। ज्ञानमात्रवादिनस्तु वासनानां न किञ्चत् कार्यजननेऽनुग्राहकमस्ति। विलम्बे कारणाभावात् युगपदेव सर्वाः सर्वं कार्यमारभेरन्। एकदैव विश्वज्ञानमुत्पन्नमिति क्षणान्तरे किमपि न स्यात्। अतः संवृतिसत्यमिति यत्कल्प्यते तद्वत् वासनापि कल्पिता न परमार्थतः काचिदस्तीत्येष्टव्यम्। नैतादृशं वस्तु कस्मैचित् कार्याय घटत इति।

एवमसत्या युक्त्यनुपेताया युक्तिशून्यायाश्च वासनाया विकल्पनं तत्त्वदर्शिनां बौद्धानामिममाशयमवद्योतयति—यत् विषयेष्वास्थानिराकरणपुरस्सरमर्थनिराकरणे लोकाः प्रवर्तन्तामिति। किन्तु परवर्तिनो ग्रन्थकारास्तत्रैव सिद्धान्तप्रवाहं मन्यमाना भ्रान्ता इवेत्याभाति।

एवं परैः प्रयुक्ते साधने प्रत्यक्षविरोधप्रदर्शनेन दूषणे समुद्भाविते स एव निरालम्बनवादी बहिः प्रत्यक्षमेव न प्रसरतीत्युपपाद्य पूर्वोक्तदूषणानि निराकर्तुं प्रत्यवतिष्ठते। एवमेव भाष्यकारः श्रीशबरस्वामी 'शून्यस्तु कथम्? अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे। प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः। अतस्तद्भिन्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः' इत्यादिना पक्षमुत्थाप्य परीक्षते। भाष्यस्यायमर्थः—बाह्यार्थग्राहिणो ज्ञानस्याश्रयणेन प्रत्यक्षादिविरोध उक्तः। बाह्यार्थ एव नास्ति, स च शून्यः इति प्रत्यक्षमेवापलपामः, कथमयं पक्षो निराक्रियते? ज्ञानस्य बहिरर्थे प्रवर्तितुं शक्तिरेव नास्ति। भवन्मतेन ज्ञानमात्मनि तिष्ठति, अर्थस्तु बहिः। कथमनयोस्सम्बन्ध उपपद्यते? असम्बद्ध-प्रकाशने चातिप्रसक्तिः। ज्ञानप्रवृत्तिं प्रति विषय एव नास्तीति वदामः, एकस्यैव रूपस्योपलब्धेः। घटोऽयं नीलमिदं पटोऽयमिति यज्ज्ञानं प्रकाशते तदेकमेव। अर्थस्य ज्ञानस्य च विभागानवगमे विभायाभ्युपगमो न युक्तः। तदिदमुक्तम् 'अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे' इति। ज्ञानमेव प्रत्यक्षम्, न तद्भिन्नमर्थरूपं किञ्चिदस्ति। अत एवानिदम्प्रथमताकात् कालाद्वासनोपप्लावितनिखिलघटाद्याकारप्रकाशः। नात्र केनचिद्बाह्यमवस्थाप्येत, येन तदपलापे प्रत्यक्षविरोधः प्रसज्येत। एतादृशमेव प्रत्यक्षमिति साध्यमाने विरोधस्य कुतो वाऽवसर इति। इदं तावदत्र परीक्षणीयम्—किं प्रत्यक्षं बाह्यं प्रवर्तितुं शक्नोति? अथवा स्वांशपर्यवसायी यदिह्यप्रत्यक्षं बाह्यार्थग्राहि ततो दूषणसिध्या प्रत्यक्षस्य बाह्यार्थपरत्वम्। यदि वा सर्वसंविदामात्मांश एव ग्राह्यः ततो दूषणबाधनात् साधनसिद्धौ नास्तिकस्य बाह्यापलापस्सेत्स्यति।

तत्र ज्ञानमेवैकमाकारवत्, तदेव च ग्राह्यमिति युक्तमुत्पश्यामः। ज्ञानन्तु प्रकाशस्वभावम् अनपेक्षितप्रकाशान्तरमेव साक्षात्कारि प्रकाशते। बाह्यस्य वस्तुन आकारवत्त्वं स्वीकृत्य तस्य जडस्य प्रकाशायोगाद्ग्राहकान्तरं प्रकल्पनीयम्। कल्प्यमानञ्च तन्निराकारमेष्टव्यम्। तदिदं निष्प्रमाणकम्। ज्ञानाभिधानं निराकारं वस्तु बाह्यादाकारवतः कल्पनमनुमानरूपं न भवितुमर्हति। बाह्य-वस्तुकल्प्यमानेन ज्ञानेन अविदितप्रतिसम्बन्धं सत् ज्ञानं कथमनुमापयेत्? नित्यपरोक्षज्ञानवादिनो मीमांसकस्य क्वचिदपि न व्याप्तिसिद्धिः। किञ्च ज्ञानानुमाने किमर्थो लिङ्गम्? उतार्थधर्मः, नाद्यः व्यभिचारित्वाद् हेतोः। असत्यपि ज्ञानेऽर्थस्य भावात्। न द्वितीयः, स चाज्ञातुरपि साधारणः अविशेषात्परबुद्धिमप्यनुमापयेत्। अतो नाप्रत्यक्षा बुद्धिस्सिध्यति। तस्मादर्थाकाराभ्युपगमे निष्प्रमाणकं

वस्त्वन्तरकल्पनम् । ज्ञानवैचित्र्यानुपपत्त्या तद्धेतुत्वेनार्थः कल्प्यते, स चार्थः निराकारस्य ज्ञानस्याकारं समर्पयतीति यद्युच्यते तदिदमनुपपन्नम्—वैचित्र्यमर्थाधीनमिति न वक्तुं शक्यम्, अत्यन्तापरिदृष्टपूर्वेण त्वर्थेन क्वचिद्वैचित्र्याधानस्याऽदृष्टत्वात् । समनन्तरप्रत्ययविशेषाद्वैचित्र्यं घटत एव । कार्यदर्शनबलेन कुतश्चिदेव समनन्तरप्रत्ययविशेषात् किञ्चिदाकारं ज्ञानं जायत इति किमनुपपन्नम् ? विलक्षणा ह्युपादानविशेषा विलक्षणशक्तय इति न किञ्चिद् दुष्यति । अतश्च कार्यदर्शनबलानुसारिण्येव च कारणव्यवस्था स्वीकार्या । अत एवासत्यपि बाह्यस्वप्नादौ ज्ञानमात्रान्वयादेवाकारान्वयो दृश्यमानो ज्ञानप्रभावित एवावसीयते । न त्वेवमर्थवादिनो ज्ञानापेतमर्थस्याकारान्वयं दर्शयितुं शक्नुवन्ति—असति ज्ञाने आकारप्रतिभासायोगादिति । अतस्सिद्धं वासनानिमित्त एवायं ज्ञानाकारो नार्थसंसर्गधर्म इति । किञ्चार्थनिबन्धनत्वे ज्ञानाकारस्य द्विचन्द्रादिविभ्रमेऽन्यथाऽर्थे व्यवस्थितेऽन्याकारा बुद्धिरुपजायते । कथं ह्यन्याकारोऽर्थः धियमन्याकारां जनयेत् ? तदवश्यमसत्यप्यर्थे भासमान आकारो ज्ञानस्यैवेति वक्तव्यः । तत्सामान्यादितरेषु तथात्वमिति न्यायेन सर्वत्रैव तथावधारणमुचितम् । अतस्सिद्धं भासमान आकारो ज्ञानस्यैव नार्थापेक्षः । व्यवहारसंवादापेक्षया हि प्रमाणं तद्विसंवादाच्चाप्रमाणम् इति सांव्यावहारिकी प्रमाणस्थितिः । परमार्थतया तु प्रमाणं चिन्तामयीमेव प्रज्ञामनुशीलयन्तः केचिदेव योगिनः निर्धूतनिखिलनीलाद्युपरागमभिमुखीकुर्वन्तीति तदेव तुरीयं प्रत्यक्षमिति सर्वमनवद्यम् ।

मीमांसकानां प्रक्रिया त्वत्र भिन्नैव । ते ह्यर्थं प्रत्यक्षं ज्ञानञ्चानुमेयं मन्यन्ते । संवित्प्रकाशते, घटः प्रकाशत इति प्रयोगद्वयमुपलभामहे । तदत्र प्रकाशते-पदस्यार्थो विचारणीयः । परैरत्रोच्यते संवित् स्वयमेव प्रकाशते न तु प्रकाशान्तरमपेक्षत इति । तत्र धात्वर्थप्रकाशात् संवित् किमर्थान्तरम् ? उत प्रकाश एवेति जिज्ञासायां, पदार्थान्तरमित्युक्ते संविदोऽप्यपरः प्रकाश एष्टव्यः । यदि च धात्वर्थादनर्थान्तरं संवित् तर्हि 'प्रकाशते' पदेनैवालम् किं संवित्पदेन प्रयुक्तेनाधिकं फलमवाप्यते ? अतः प्रतीतिकर्मतैव सविदः प्रकाशते पदार्थःस्वीकर्तव्यः घटः प्रकाशत इति यथा । संवित् प्रकाशत इति कर्तृप्रत्यये विद्यमाने संविदः कर्मण्यनुपपन्नता, तथापि कर्तृभावस्तु वर्तते । तेनापि धात्वर्थभेदस्सिध्यत्येव । यद्युभयमभिन्नं कथं तर्हि कर्तृभावः । न हि धात्वर्थः प्रकाश एव संवित्पदार्थ इति वक्तुं साम्प्रतम् । अतो नाप्राप्तस्य सिद्धिरस्ति, नापि कर्मणः प्राप्तिरस्तीति सत्यास्संविदोऽवश्यं प्राप्यकर्मता भावान्तरवद्वक्तव्यैव नान्या गतिरस्ति । त्रिधाऽत्र पदार्था गम्यन्ते—अर्थः कर्म, आत्मा कर्ता, संवित्तु फलमिति, तत्र कथं संविदः कर्मत्वमिति कामं शङ्का स्यात्, किन्तु यथाऽर्थः कर्म तथा फलमपि कर्मैव स्वीकर्तव्यम् । यदि तत् स्वयं प्रकाशं तर्हि मातृमेययोरपि स्वप्रकाशापातस्स्यात् । तत्रैतावान् विशेषः प्रतीतितः संविदं कर्माभ्युपगच्छामः । प्रतीमो हि वयं मातृमेयगोचरां फलभूतां संविदम् । घटादयोऽप्रकाशात्मानः, ते प्रकाशान्तरमपेक्षन्त्वाम्, संवित्तु प्रकाशरूपा किमिति प्रकाशान्तरमपेक्षेत ? न हि दीपे प्रकाशमाने दीपान्तराद्दीपो जायत इति कथनं नोचितम्, सत्यं दीपे प्रकाशमाने दीपान्तराद्दीपो न ज्ञायते, किन्तु प्रकाशेन दीपो ज्ञायत एव भिन्नः । वस्तुतस्त्वत्रैवं वक्तव्यम्—दीपेन प्रकाश उत्पद्यते, उत्पन्नस्सः दीपेन ज्ञायत इति । तथैवेन्द्रियादिसंनिकृष्टाद् घटादेरर्थात् ज्ञानमुत्पद्यते, तदनु ज्ञातादर्थात् संवित् प्रतीयत इति । ज्ञातो घट इति खलु भवन्ति व्यवहर्तारः । एवं व्यवहर्तारस्संविदं प्रतिपद्यन्ते । अतस्संविदो न स्वात्मप्रकाशात्मत्वम् अर्थप्रकाशः खल्वसौ, दीपप्रकाश इति यथा । न चात्र ज्ञानार्थयोस्सम्बन्धाभावः, संयोगं समवायञ्च सम्बन्धमभिप्रेत्य सम्बन्धाभावे सत्यपि विषयविषयिभावसम्बन्धस्यात्र सत्त्वात् । येयं प्रतीतिकर्मता सोऽयं विषयपदार्थः । प्रतीतिः क्रिया, आत्मा कर्ता, इन्द्रियाणि करणम्, अर्थः कर्म, तद् येयमर्थस्य प्रतीतौ कर्मता तदेव तस्य विषयत्वम्, तद्वान् विषयी । एवं विषयविषयिभावेन सम्बन्धेन ज्ञानमर्थश्च सम्बद्धावेव भवतः । ईदृशं यद्रूपं तत् प्रतीतेः प्राङ् न भूतम्, किन्तु परस्तान्निष्पद्यते । अन्यथा ज्ञाताज्ञातयोरविशेषता स्यात् । इदमेव ज्ञाततप्रकारतादिपदेन मीमांसकैर्व्यवह्रियते, इदमेव च ज्ञानज्ञाने लिङ्गम् । ये हि ज्ञानं प्रत्यक्षमास्थिषत तेऽपि प्रथम तत्र प्रामाण्यं

नावधारयन्ति, किन्तु समनन्तरं जायमानेन घटमहमपश्यम्, घटेनाहं जलमपिबम् इत्याद्यनुव्यवसायेन निश्चिन्वन्ति। ज्ञानानुमानवादी च प्रकटतादितानुमिते ज्ञाने प्रामाण्यं स्वत इति वदति। अत्र सूक्ष्मेक्षिकया विचारः कर्तव्यः—ज्ञाततापदेन ज्ञानजन्यः पदार्थगतोऽतिशयविशेषः कथ्यते। तेन ज्ञानविशिष्टता ज्ञाततेति पराभिमतं निरस्तम्। तथात्वे ज्ञानज्ञाततयोरितरेतराश्रयस्स्यात्। ज्ञानोत्पत्तिदशायां सोऽतिशयविशेषः प्रतीत इत्युच्यते। अतस्स्वयं सिद्धो ज्ञानं साधयति। ज्ञानस्य द्वे अवस्थे भवतः—उत्पत्तिः प्रतीतिश्चेति। तत्रोत्पत्तिरिन्द्रियसन्निकर्षादिजन्या, प्रतीतिश्च ज्ञाततया। अर्थस्य कर्मभाव उत्पत्तौ। तस्मादुत्पत्त्यैव ज्ञानस्य विषयोऽज्ञातपूर्वः सम्प्रति ज्ञातस्सन् ज्ञानमुपकल्पयति। ज्ञातपूर्वत्वेऽस्तीन्द्रियाणामसाधारणो व्यापारः। किञ्चिदेव तु कदाचिज्ज्ञातं भवति, न सर्वं सर्वदा। इन्द्रियेषु व्याप्रियमाणेषु जागरायामर्थतया त्वग्रहणम्, सुस्वापादाविन्द्रियाणां व्यापाराभावाददर्शनम्। आत्ममनसोरपि स्वरूपेण सतोरर्थतथात्वदर्शने न हेतुत्वम्, किन्तु यदेव किञ्चिद्बहिरिन्द्रियं चक्षुरादिकार्यदर्शनवशान्मनसा संयुक्तमित्यवगतं किञ्चिज्ज्ञापयति। अत एव चक्षुस्सन्निकृष्टमपि हि किञ्चिदेव कदाचिज्ज्ञातं भवति नापरम्, तदिदमसति विशेषे नावकल्पते। एवञ्च यस्यैव ज्ञानमुत्पन्नं तस्यासौ ज्ञातस्सन्नर्थोऽनुपपद्यमानो ज्ञानकल्पनायां हेतुर्भवतीति सिद्धम्।

अयं हि लोकसिद्धः पन्थाः—येऽग्न्यादयः प्रकाशतया प्रसिद्धाः ते घटादीनां प्रकाशकाः न तु स्वात्मन इति। स्वप्रकाशाय स्वात्मानं नापेक्षन्ते, स्वस्य स्वस्मिन् प्रकाशायोगात्। यद्येवं तर्हि ज्ञानमप्रकाशितमेव प्रकाशत इत्यायाति इति चेदत्र ब्रूमः चाक्षुषेण हि तेजसा प्रकाशितास्ते गृह्यन्ते, तेषां तद् ग्राहयितृ, न गृहीतृ, गृहीतत्वञ्चेदिन्द्रियाणां चैतन्यप्रसङ्गात्। यद्यपि नायनं तेज आलोकसहकृतं सद् घटादीनां प्रकाशकमिति प्रकाशान्तरसापेक्षा वर्तते, तथापि भिन्नजातीयाविमौ प्रकाशौ नयनस्यालोकस्य च। अत एवान्धस्य प्रदीपादयो न बुद्धिविषयाः। स्वप्रकाशत्वे चान्धस्यापि धीगोचरा भवेयुः। एतेन ग्राह्य-गृहीतृ-ग्राहयितृणां भेदस्साधितः।

अहं सुखी इत्यादि प्रयोगेभ्यो जायमाने ज्ञाने आत्मनो द्विरूपत्वमुपलभामहे ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वञ्चेति, किन्तु, इदं नीलम् इत्यादिज्ञाने नीलमात्रं प्रकाशते, न त्विन्द्रियाणां करणानां ग्राहकस्यात्मनो ज्ञानस्य वाकार उपलभ्यते, नीलमेव गृह्यते। तच्च नीलं ज्ञातं सत्प्रतीयत इत्युपपादितम्। अत्र यथा करणमिन्द्रियम् ग्राहक आत्मा न ज्ञायते, तथा ज्ञानमपि। कर्ममात्रस्यात्रावगतिः, न कर्तुः न च करणस्य नापि क्रियायाः। अतो ग्राह्यग्राहकयोर्भेदेनैव प्रतीतिरिति सिध्यति।

एवं तैरुच्यते—यत् पूर्वं ज्ञानमुत्तरस्मिन् वासनापरनाम्नी शक्तिमर्पयति। ततस्तद्रूपं तज्जायमानं तदालम्बनमित्याख्यायते। एवञ्च ग्राह्यग्राहकैकत्वं सिध्यतीति। तदिदं न युक्तियुक्तं प्रतिभाति—पूर्वज्ञानाहितवासनावशेन जायमानमुत्तरं स्मृतिरूपमेव भवेत्। पूर्वन्त्वतीतं तत्कथं वर्तमानतया गृह्येत। स्मृत्या च स इष्यतीतित्वनुविद्ध एव गोचरीभवति। इह तु इदमित्येव जायते। अतो न पूर्वापरयोस्ताद्रूप्यम्। यदि तु वासनारूपमेव ज्ञानं न तदतिरिक्ता वासना नाम काचिदिति मतम्, तर्हि तदिदमनुपपन्नम्, निराधारायास्तस्या अनुपपन्नत्वात्। अतीता च सा नास्ति, अनागता सा अस्तीति कथं द्वयोरेकत्वम्? अतः कथमपि ग्राह्यग्राहकयोरैक्यं न सिध्यति।

किञ्च ग्राह्यग्राहकयोर्ज्ञानत्वेन रूपेणैक्यं मन्यते, तदपि न साधीयः। ज्ञानशब्दस्तु द्वेधा व्युत्पाद्यते—ज्ञायत इति ज्ञानं कर्मणि ल्युडन्तश्शब्दः, ज्ञप्तिर्ज्ञानं इति वा ज्ञायतेऽनेनेति वा भावकरणयोर्व्युत्पाद्यते। तत्र प्रथमव्युत्पत्तौ ज्ञानमर्थो भवति, द्वितीयव्युत्पत्तौ च ज्ञानं धीर्भवति। एवं ज्ञानशब्द एक एवार्थज्ञानयोरुभयोर्वर्तते, अक्षादिशब्दवत्। शब्दमात्रन्त्वेकम्, अर्थस्तु भिन्न एव। सर्वथा ज्ञानाद्वस्तुभेदस्सिध्यत्येव। वस्तुभेदोऽयं काल्प-

निको न पारमार्थिक इति कथनमपि न युक्तिसङ्गतमिव। सवृतिसत्यं परमार्थिकसत्यमिति सत्यभेदकल्पनं निष्प्रमाणमेव न, किन्त्वनुचितमपि। न हि सत्यं क्वापि मिथ्या भवतीति पूर्वमुपपादितम्।

अयमत्र निष्कर्षः—किमिदं जगत्? कस्मादिदं प्रावर्तिष्ट? इति विचार्य निर्णेतुमेव सर्वे दार्शनिकाः प्रवृत्ताः साधकबाधकयुक्तीरुपन्यस्य स्वस्वमतमवस्थापयन्ति परमतानि च दूषयन्तीति नैसर्गिकः पन्थाः। अद्यापरं मतं युक्त्या साधु खण्डितमित्येव तन्मतं लुप्तं न भवति, परेद्युस्तन्मतावलम्बी नूतनं किञ्चत्प्रतिपादयेत्, अथवा पूर्वं स्वमतावलम्बिभिरुक्ता एव युक्तीस्सङ्गृह्य किञ्चित्स्वमतं पोषयितुं प्रवर्तत एव। आचन्द्रतारकमियं खण्डनमण्डनधारा स्थास्यत्येव। परस्परं विरुद्धेष्वापणे प्रसारितेष्वपि वस्तुषु ग्राहकः प्रेक्षावान् स्वापेक्षितमेव वस्तु गृह्णाति। वस्तूनां हानोपादेयता च प्रेक्षावदधीना। लशुनं दुर्गन्धयुतमनुपादेयञ्च, तदपि गृह्णन् तत्र न दुर्गन्धमनुभवति, न चापि तस्यानुपादेयत्वं मन्यते, तादृशोऽपि लोकोऽस्त्येव। लशुनस्य ग्राह्यत्वमग्राह्यत्वं चाभिन्ननिष्ठमिति लोकेऽवगच्छामः। यश्च लोकातीतो जीवन्मुक्तो वा आत्मयाजी वा ब्रह्मिष्ठतमो वा प्रारब्धवशादिह लोके वर्तमानोऽप्यवर्तमानः तत्र ग्राह्यत्वाग्राह्यत्वबुद्धिविहीन एव तिष्ठेत्। स खलु लोकानुपदेष्टुं वा बोधयितुं वा न समर्थः। लशुनं भक्षयन्तं तमवलोक्य नास्माभिः तद्ग्राह्यत्वबुद्धिमद्भिर्भवितुं शक्यते। तत्रास्माकं न खलु ग्राह्यत्वबुद्धिर्भवति ग्राह्यत्वाग्राह्यत्वयोरननुसन्धानेन तेषां प्रवृत्तिर्हाने वोपादाने वा जायत इत्यङ्गीकर्तव्यम्। ते हि देहमिमं नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा न जानन्ति। तेषामाचरणं न व्यवहारोपयोगि, सर्वमतीत्य वर्तमानत्वात्तेषाम्। तेषां ज्ञानमस्मद्ज्ञानाद् अत्यन्तं भिन्नम्। तत्सादृश्येन न लौकिकव्यवहारः कर्तुं शक्यः। लौकिकव्यवहारेण लोकानुसारिणा भवितव्यम्, न त्वलौकिकेन। जैमिनेरनुशासनमिदं लौकिकं पन्थानं निर्दिशति। स्त्रीशरीरे महात्मनां लोकातीतानां कुणपत्वबुद्धिर्भवेत्, अस्मभ्यन्तु तच्छरीरं रोचते। मातरि मातृत्वम्, सुतायां सुतात्वम्, स्नुषायां स्नुषात्वमस्तीति तत्र तत्र सा बुद्धिरावश्यिकी। सर्वत्र कुणपत्वबुद्धौ सत्यां व्यवहार एव परिलुप्तस्स्यात्। प्रपञ्चस्तु नानाकारेण दृश्यते। तत्र वर्तमानैरस्माभिस्तदनुवर्तनं कर्तव्यमेव। अलौकिक्यालौकिक्याश्च स्थितेर्मेलनं न सम्भवि, मिश्रणं तदनुचितमपि। सर्वमिदं समालोच्य जैमिनिप्रदर्शितमार्गं गच्छन्तः श्रीशबरस्वामिनः भट्टपादाश्च निरालम्बनवादं शून्यवादं च परीक्षितवन्तः। इमे च सिद्धमात्मानं न कथयन्ति। यथायथं लोकस्थितिमवबोधयन्ति। आत्मानं सिद्धं मन्यमानः परो ब्रूयादलौकिकम्। किन्तु स न सिद्धः। तथा चेत्स कथं ब्रूयात्? किं ब्रूयात्? केन ब्रूयात्? इति शतशः प्रश्नाः प्रादुर्भवेयुः। दुस्समाधेया इमे प्रश्नाः। अतो वयं व्यावहारिकं पन्थानमेवानुसरामः।

जैमिनिः तत्कृतन्यायानां लोकोपयोगिता च

[तृतीयं भाषणम्]

मीमांसा-संप्रदायः

मीमांसाशब्दोऽयं श्रौतः सम्प्रदायतश्चिरात्प्रवृत्तः। सम्प्रदायश्चाविच्छिन्नगुरुशिष्यपारम्पर्यम्। आ च भगवतः प्रथमायास्सृष्टेः आ चैतन्निमेषात् सर्वैरेव दार्शनिकैस्समादृतेयम्। आसीत् परमशोभनः कश्चन कालः यत्र लोका गुरूपदेशपरम्परयैव सर्वान् वेदान् दर्शनानि चाध्यगच्छन्। अधुनेव तदा तेषामध्ययनाय पुस्तकादि-साधनानि नाभवन्। श्रोत्रेन्द्रियव्यापार एवैकं साधनम्। श्रुतिरिति यथा वेदानां संज्ञा, तथैव श्रुतम् इति शास्त्राणां नाम यथार्थं सम्प्रवृत्तम्। सहजमिदं यत्साधनान्तराभावे समुपलब्धमेव साधनमादाय कार्याणि क्रियन्त इति। अल्पेन साधनेन यथा कार्याणि द्रढीयांसि समपद्यन्त, न तथा बहुभिस्साधनैरिति सम्प्रति वयमनुभवामः। शिक्षायाः प्रथमं साधनं श्रवणम्। श्रवणस्य बोधः फलम्। स च बोधः श्रवणेन पूर्वजैर्यथाऽवाप्यते स्म, न तथा वयमिदानीं तेनावाप्नुमः।

महर्षेर्जैमिनेरतिविस्तृतमिदं सह सङ्कर्षकाण्डेन षोडशाध्यायसूत्रात्मकं शास्त्रं स्वकृतश्रवणव्यापारस्यैव फलीभूतम्। आश्रमेषु महर्षयः श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठानपराः सम्भूय तदा तदा सन्दिग्धान् विषयान् सुविमृश्य परिषत्सु निर्णीतवन्तस्स्युः, तेषामेव परम्परातः प्राप्तानां सूत्रात्मको ग्रन्थो जैमिनिग्रथितो मीमांसापदाभिधः। त्रिकालदर्शिनो महर्षयः आयतौ दृष्टिं निक्षिपन्तः क्रमेणाध्येतृवृन्देष्वनुभूयमानं तात्कालिकं शास्त्राध्ययनवैमुख्यं किञ्चिदनुभवन्तः सम्प्रदायविच्छेदतो बिभ्यतः तेषु तेषु शास्त्रेषु सूत्रग्रन्थान् विरचयाम्बभूवुः। लक्ष्यैकचक्षुषः खलु महर्षयः। यथालक्ष्यं लक्षणानि सम्प्रवर्तन्त इति न्याय्यः पन्थाः। लक्षणप्रवृत्त्यनन्तरं लक्ष्याणि सिध्यन्तीति कल्पनं न केवलं दुश्शकम्, किन्त्वनुचितमपि। विना लक्ष्येण न लोकानां क्वापि प्रवृत्तिस्सम्भवति। तच्च लक्ष्यं लोकेषु कामं विप्रतिपन्नं सन्दिग्धं वा भवेत्। तदेवाश्रमपदेषु सम्भूय पुरा महर्षिभिश्चर्चितमासीत् परिषत्सु। चर्चितानामेव सूत्रात्मना ग्रथनं जैमिनेरिति प्रतीमः।

युक्तश्चैतत्—जैमिनेरेकैकमपि सूत्रं प्रायोऽन्तर्हितवेदवाक्यमिति तावदसन्दिग्धम्। क्वचिद्वेदवाक्यं सूत्रात्स्पष्टमवगम्यते, क्वचित्सूत्रसमभिव्याहृतपदैरुन्नेयं भवति, क्वचिच्चातिक्लेशेन पूर्वापरसङ्गतिपरिशीलनेन निर्णेयं भवति, क्वचिच्च जैमिनेर्मनसि विद्यमानेऽपि वेदवाक्ये तन्निगूढमेवास्ति। आचार्यः श्रीशबरस्वामी भाष्यकारः सर्वेष्वधिकरणेषु जैमिन्यनुमतानि वेदवाक्यानि प्रदर्श्याधिकरणशरीरं रचयन् 'विशये प्रायदर्शनात्' (२. २. १६) इत्यत्र सूत्रकारानुमतमुदाहरणं संशयञ्चाजानानः 'किमिहोदाहरणम् ? न तावत्सूत्रेणैव परिगृहीतम्। यथा—अवेष्टौ यज्ञसंयोगात् क्रतुप्रधानमुच्यते' इति। नापि च साध्यं प्रतिज्ञातम्, यथा—अयनेषु चोदनान्तरम् इति। केवलं विशये संशये प्रायदर्शनं हेतुरिति निर्दिश्यते। कस्यायं हेतुरिति न विजानीमः। यजिमदेतत्कर्मेति। तदपि न सम्बध्यमानमिव पश्यामः। तदेतदवगमकं सूत्रमेव तावदनर्थकम्। अथ कात्र प्रतिज्ञा ? कश्च सन्देहः ? इति वक्तव्यम्। वृत्तिकारवचनात् प्रतिज्ञां संशयञ्चावगच्छामः। अत्र भगवानाचार्य इदमुदाहृत्य 'वत्समालभेत' 'वत्सनिकान्ता हि पशवः' इतीमं संशयमुपन्यस्यति स्म—किं यजिमदभिधान एष आलभतिः ? उतालम्भमात्र-वचन इति। उपपद्यते चैतदुदाहरणम् संशयश्च' इति। अनेन सन्दर्भेणेदमवगन्तव्यं भवति—यत्सूत्राणामाविर्भावतः पूर्वं मीमांसाध्ययनसम्प्रदायः तैस्तैर्महर्षिभिः श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिरतैर्वाचो विधेयतया संरक्षितान् मन्त्रब्राह्मणा-

त्मकवेदसन्दर्भानवलम्ब्य प्रवृत्त आसीदिति । अत एव जैमिनिः 'बादरायणः' 'कामुकायनः' 'आश्मरथ्यः' 'बादरिः' इत्यादीनि नामानि स्वसूत्रेषु निर्दिशति । इमे न मीमांसासूत्रप्रणेतारः । न ह्येकस्मिन् दर्शने द्वौ त्रयो वा सूत्रकाराः क्वचन दृश्यन्ते । विचारगोष्ठीष्विमे समवेता आसन्नित्येव युक्तं प्रतिभाति । तदानीन्तनाः साङ्गां स्वीयां शाखां यथानियममधीत्य समुचिते वयसि गार्हस्थ्यं प्रविश्य गृह्योक्तानि कर्माणि अनुतिष्ठन्तः प्रवयोभिस्समाजपरिष्कर्तृभिः श्रौतकर्मानुष्ठाने सम्प्रेरितास्तदनुष्ठाने प्रावर्तन्त । तत्र समुत्पद्यमानानां सन्देहानामपाकरणं प्रवर्तकैश्शिष्टैरक्रियत । एवं कर्मानुष्ठानसम्प्रदायः पुरा प्राचलत् । एवमेव विचारा अपि समपद्यन्त ।

किञ्च **'अथातो धर्मजिज्ञासा'** इति प्रतिज्ञाताया धर्मजिज्ञासाया विचारात्मिकायाः **'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः'** इति विधिप्रयुक्तत्वसाधनं ग्रन्थकाराणामिदमवद्योतयति यन्मीमांसाध्ययनसम्प्रदायोऽनिदम्प्रथमताकात्कालात्प्रावर्तत इति । प्रतिज्ञाविषयो धर्मः, स च वेदार्थः, तस्य विचारः कर्तव्य इत्युक्ते विचारात्मकस्य मीमांसाशास्त्रस्य वैधत्वं सुतरामवाप्यते । धर्मं विहाय नान्यो वेदार्थः, वेदार्थमपहाय नान्यो विचारविषयः, धर्मः प्रमेयः, प्रमाणञ्च वेदः । तत्र धर्मस्तु न यागदानहोमरूप एव, द्रव्यं गुणः जातिरपि धर्मा अभीप्सिता मीमांसकानाम् । इमे अपि वेदार्थाः, न तर्हि तेषां धर्मत्वे विप्रतिपत्तिः । अमीषां प्रमेयाणां बोधको वेदश्शब्दराशिः । शब्दस्य यदि द्रव्यत्वम्, यदि वा गुणत्वम् तर्हि तस्यापि वेदविहितत्वाद् धर्मत्वं बलादापतति । एवञ्च वेदो धर्मः, वेदार्थो धर्मः, वेदार्थविचारोऽपि धर्मः । विचारस्य धर्मत्वे तदात्मिकाया मीमांसाया अपि धर्मत्वमायाति । अत एव मीमांसासूत्राणां 'धर्ममीमांसा' 'अध्वरमीमांसा' इत्येवं व्यवहारो दृश्यते शास्त्रकारेषु । युक्तञ्चेदम्—**'धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजमम्'** इति वदन्तो भट्टपादा धर्मप्रयोजनोद्देशेन मीमांसाया विधानं स्वीकुर्वन्ति । प्रयोजनोद्देशेन वेदविहितत्वमेव धर्मलक्षणमभिप्रैति भगवान् जैमिनिः । अतो विचारस्य वैधत्वे सिद्धे तदात्मिकाया मीमांसाया अपि धर्मत्वमेष्टव्यम् ।

मीमांसापदार्थः

किञ्च मीमांसाशब्दः पूजितविचारार्थे प्रसिद्धः । **'मान पूजायाम्'** **'माङ् माने'** इति पूजार्थे मानार्थे च धातुद्वयम् । तत्र **'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य'** इति सूत्रे माङ् इत्यस्य ङकारानुबन्धस्य धातोर्नान्तत्वं निपात्य अनिच्छार्थे सन् प्रत्ययेऽभ्यासस्य च दीर्घे मीमांसाशब्दो निष्पद्यते । **'धातोः कर्मणः'** **'समानकर्तृकादिच्छायां वा'** इत्युत्तरसूत्रे इच्छार्थे सन् विधानादयमनिच्छार्थे सन् इत्युभ्युपगन्तव्यं भवति । **'मान विचारे'** इत्यपि चुरादिपठितो धातुः । तस्मादपि मीमांसाशब्दो निष्पद्यते । तत्र पूजार्थे कश्चन धातुः विचारार्थे चापरः । पूजितविचारार्थे च न कोऽपि धातुः । अतः पूजितविचारार्थे मीमांसाशब्दः कथमिति प्रश्ने **'प्रसिद्धिबलात् पूजितविचारार्थत्वम्'** इति 'कल्पतरु' कारा वदन्ति । प्रसिद्धिश्च व्यवहारः, तस्यापि शक्तिग्राहकत्वमिष्यते । पूजितविचारवचनत्वं व्याकरणस्मृत्यसिद्धमपि प्रसिद्धेस्तत्साधकत्वं नानुपपन्नम् । अथवा तयोर्धात्वोरेकस्य ग्रहणे सति धात्वर्थतयान्यस्यापि धात्वर्थस्य लाभे विशेष्यविशेणभावेन तादृशार्थवचनत्वं व्याकरणस्मृत्यविरुद्धम् । सर्वथा पूजितविचारवचनो मीमांसाशब्दः । जैमिनिकर्तृकविचारस्य पूजितत्वञ्च सूत्राविर्भावतः पूर्वं विदुषां विचारगोष्ठीषु निर्णीतत्वमेव । अतो यथा वेदोऽनादिः तथा मीमांसा-पूजितविचारोऽप्यनादिरिति कथनं नासङ्गतम् ।

जमिनेर्व्यक्तित्वम्

मीमांसाया अनादित्वं भगवान् जैमिनिः स्मृत्यधिकरणे (१.३.१.) **'अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात्'** इति सूत्रे **'कर्तृ सामान्यात्'** इति हेतुं प्रयुञ्जानोऽवद्योतयति । याः स्मृतयः प्रत्यक्षश्रुतिमूलास्तासां प्रमाण्ये न काचिद्विप्रतिपत्तिः । याश्च प्रत्यक्षश्रुतिरहितास्तासां का गतिरिति प्रश्ने हेतं 'कर्तृसामान्यात्' इत्युपन्य-

स्यति। य एव वेदोदितकर्मणां कर्तारस्त एव स्मृतीनामिति कर्तृसामान्यम्। कर्मानुष्ठानं च तदर्थज्ञानाधीनम्, तदर्थज्ञानञ्च विचाराधीनम्। विचारश्च वेदवाक्यानाम्। वेदवाक्यानि चेतस्ततो विप्रकीर्णानि। तानि स्मृत्वा स्मृतिग्रन्थप्रणयनं मनुयाज्ञवल्क्यादीनामिति 'कर्तृसामान्यात्' इत्यस्य तात्पर्यम्। अनेन हेतुना श्रुतिमनुमाय तासां प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम्। अत्र 'कर्तृ' पदेन जैमिन्यभिमताः परिचिताः कतिपय एव कर्तारः कर्मानुष्ठातारश्च नोच्यन्ते, व्याप्तिसिद्धये तत्समकालिकाः कतिपय एव भवेयुः। तेनानुमितिः जैमिनेश्चिरतरवर्तिभिः स्मर्तृभिर्विरचितानां स्मृतीनां मूलश्रुतिविषयिणी सिध्यतीत्यङ्गीकर्तव्यम्। ते च चिरतराः स्मृतिनिबन्धारः प्रत्यक्षश्रुतीरनुभूयैव सर्वाः स्मृतीर्न्यबध्नन् इति न निर्बन्धः, शिष्टाचारेषु परिप्राप्तान् विषयान् स्मृत्वा प्रेक्ष्य वायतौ लोकानां तत्तत्संस्कृतिपरिरक्षणोपयोगाय ग्रन्थरूपेण न्यभान्त्सुः। इमेऽपि ग्रन्थास्तदानीं लिपिनिबद्धा आसन्निति न स्वीकर्तुं शक्यते, वेदवदध्ययनपरम्परायामेवेमा आसन्निति वक्तव्यम्। अध्ययनमत्र लिपिनिबद्धपुस्तकाक्षरवाचनरूपं न पठनमभिप्रेयते, किन्तु गुरुमुखोच्चारणानूच्चारणव्यापारेण वाचो विधेयतासम्पादनम्। वेदानामिव गृह्यश्रौतसूत्रस्मृतीतिहासादीनामप्यासीदिति प्रतीयते। अत एव कल्पसूत्राधिकरणे कल्पसूत्राणां स्मृत्यधिकरणन्यायेन प्रामाण्ये सिद्धेऽपि तेषामपौरुषेयत्वेन प्रामाण्यमाशङ्क्य **'प्रयोगशास्त्रमिति चेन्नासन्नियमात्'** इति जैमिनिः परिहरति। कल्पसूत्राणामपौरुषेयत्वमाशङ्कितुः पूर्वपक्षिणो भूयसीषु युक्तिष्वियमप्येका युक्तिरभिधातुं योग्या यदमीषामपि वेदवदध्ययनं ब्रह्मयज्ञविधितः सम्प्रदायतो वा स्वीकृतमिति। स्मर्तृणां कर्तृस्मरणं दृढतरमस्तीति पौरुषेयत्वेनैव प्रामाण्यं नापौरुषेयत्वेनेति तत्रत्यस्सिद्धान्तः। एवञ्च 'कर्तृसामान्यात्' इति हेतुं निर्दिशता महर्षिणेदमवबोध्यते— यत् चिरतरः कश्चन सम्प्रदायः गुरुशिष्यभावरूप आसीद् यस्मिन् वेदाध्ययनम्, तदर्थविचारः, तदर्थ गोष्ठ्यः, ऐहिकामुष्मिकफलदानां श्रौतस्मार्तकर्मणामाचरणञ्चाविच्छिन्नरूपेण प्रचलितमासीदिति। अत्रैव कर्तृणाञ्च सामान्यमिति।

किञ्च क्वचित्कर्तृसामान्ये सत्यत्यापस्तम्बकात्यायनादौ तद्विरचितसूत्रविशेषाणामप्रामाण्यसाधने न जैमिनिस्सङ्कोचमुदञ्चति। न खल्विमानि सूत्राण्यपौरुषेयाणि दृढतरकर्तृस्मरणस्य सत्त्वात्। अतो विरुद्धायां प्रत्यक्षश्रुतौ लभ्यमानायां तेषामप्रामाण्यस्य निवारयितुमशक्यत्वात्। तदिदं कल्पसूत्राधिकरणप्रयोजनकथनव्याजेन जैमिनिः **'सर्वत्र च प्रयुक्त्वात्सन्निधानशास्त्राच्च'** इति सूत्रेण व्यक्तीकरोति। आपस्तम्बकात्यायनादिसूत्रेषु किञ्चिदेकं 'कर्तृसामान्यात्' इति हेतुना प्रमाणम्, अपरञ्च किञ्चित् 'सन्निधानशास्त्राच्च' इति हेतुना अप्रमाणम् इतीदं सङ्गतमिव न प्रतिभाति, तथापि जैमिनेः दृष्ट्या सुसङ्गतमेवेदम्। जैमिनिर्हि **'तस्य निमित्तपरीष्टिः'** इति प्रतिज्ञातस्य धर्मस्य स्वरूपं परीक्ष्य निर्णेतुं न्यायनिबन्धनात्मकमिदं शासनं प्रवर्तयामास। परीक्षा च निष्पक्षपातिनी दृष्टिः। तया पर्यालोच्यमाने कात्यायनादीनां वचस्सु यदेव श्रुतिविरुद्धम् अपि च न्यायविरुद्धं तस्याप्रामाण्याङ्गीकारे न कोऽपि दोषः। कर्तृसामान्यहेतुना समग्रस्य प्रामाण्येऽपि कस्याप्येकस्य सूत्रस्य श्रुतिविरोधदर्शनेऽप्रामाण्यस्वीकारो न दोषाय, न्यायानां समक्षमात्मीयपरकीयविभागाभावात्। न्याया ह्यपरिवर्तनीया भवन्ति, परीक्ष्य निर्णीतत्वात्तेषाम्। महर्षित्वेन जैमिनिकात्यायनापस्तम्बादीनां सत्यामपि समानतायां परीक्षकत्वं जैमिनेर्विशिष्यते। तदर्थमेव जैमिनिः न्यायनिबन्धनात्मकं शासनं प्रवर्तयामास। कात्यायनादयस्तु यत्र तत्र विप्रकीर्णशाखाः पर्यालोच्य तद्गतांश्च विषयानवबुध्य इतस्ततश्शिष्टाचारपरिप्राप्तांश्च विज्ञाय तान् सिद्धवत्कृत्य स्मृतिसूत्रात्मना सन्निवेशितवन्तः। यथाश्रुतम् यथा च दृष्टं तान्निबबन्धुः। नात्र तेषां परीक्षायामवसरः। सम्प्रत्युदाहरणानि पर्यालोचयामः—दर्शपूर्णमासयोः पौर्णमास्यां दर्शे च द्वौ द्वौ पुरोडाशौ—आग्नेयाग्नीषोमीयौ, आग्नेयैन्द्राग्नौ चेति। द्वयवदानादिक्रमेण प्रधानहोमे निर्वृत्तेऽवशिष्टपुरोडाशस्य प्रतिपत्तिकर्मसु स्विष्टकृदादिषु भवति विनियोगः। तत्र चतुर्धाकरणमिति किञ्चित्कर्म। पुरोडाशस्य कञ्चन भागं चतुर्धा विभज्य होत्रादिभ्यश्चतुर्भ्यं ऋत्विग्भ्यो भक्षणाय प्रदीयते। तत्र द्वयोः पुरोडाशयोश्चतुर्धाकरणमुतैकस्येत्यत्र

कात्यायनो वदति—**'अविशेषादुभौ वा'** इति। द्वयोः पुरोडाशयोश्चतुर्धाकरणमिति तदर्थः। जैमिनिस्तु मन्यते—आग्नेयपुरोडाशस्यैव चतुर्धाकरणं नान्यस्येति। जैमिनेरत्र **'आग्नेयं चतुर्धा करोति'** इति वेदवाक्यमवलम्बः। किमिदं वेदवाक्यं कात्यायनेन न दृष्टम्? दृष्ट्वा वा शाखान्तरवाक्यदर्शनेनोभयोः पुरोडाशयोश्चतुर्धाकरणमिति ब्रवीति? एवं जैमिनिविषयेऽपि विकल्पो भवति—किं द्वयोः पुरोडाशयोश्चतुर्धाकरणबोधकं शाखान्तरीयं वाक्यं जैमिनिना न दृष्टम्? दृष्ट्वा वा 'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इति वाक्यावलम्बनेनाग्नेयस्यैव पुरोडाशस्य चतुर्धाकरणं ब्रवीति? इति। भवतु यथा तथा वा। अतिचिरन्तनोऽयं विषयः। न वयमिदानीं सहसा निश्चेतुं शक्नुमः, किन्तु कल्पसूत्राधिकरणन्यायमनुसर्तुं प्रभावामः। न्यायस्त्वस्मान् विषयमिमं ग्राहयति-यत् 'अविशेषादुभौ वा' इति कात्यायनवचनं शाखान्तरवचनमूलकमपि मूलस्य यावदुपलम्भम् उभयोः पुरोडाशयोश्चतुर्धाकरणं नानुष्ठेयमिति।

अनेन सन्दर्भेण जैमिनेर्व्यक्तित्वमनितरसाधारणमिति निश्चेतुं शक्यते—कर्तृसामान्यहेतुना ये जैमिनिना सङ्गृहीताः त एव कात्यायनादयः क्वचिद् असन्नियमहेतुनोपेक्ष्यन्ते। कात्यायनादिविरचितेषु ग्रन्थेषु 'प्रयोगशास्त्रमिति चेत्' इति ब्रुवाणस्य जैमिनेश्शास्त्रबुद्धिरस्ति, किन्तु सन्निबन्धनत्वं जैमिनिना नानुभूयते। यत्रैव शास्त्रे सन्निबन्धनता नास्ति, तस्योपेक्षा नानुचिता। सन्निबन्धनत्वाभावे च विरुद्धश्रुत्युपलम्भः कारणम्। एवञ्च कात्यायनादिनिबद्धे शास्त्र एव जैमिनिर्दोषं पश्यति, न तु कात्यायनादौ, तत्र कर्तृसामान्यहेतोर्व्यवस्थित्वादिति सिध्यति। तेन स्वयूथ्येष्वनुग्रहबुद्धिं परयूथ्येषु च निग्रहबुद्धिं पक्षपातयुतां जैमिनिर्निर्वहतीति स्पष्टमवगम्यते। अत एव 'चोदितन्तु प्रतीयेताविरोधात्प्रमाणेन' इति सूत्रयन् स्वीयां निष्पक्षपातविचारदृष्टिमवद्योतयति। कथमन्यथा पिकनेमादिपदानामनार्यसमाजव्यवहारप्रसिद्धानेवार्थान् ग्रहीतुं जैमिनिरनुमन्येत। शब्दव्युत्पादनाय सन्ति स्वयूथ्यैः प्रवर्तितानि निगमनिरुक्तव्याकरणादीनि शास्त्राणि। तैः पिकादयश्शब्दा व्युत्पादयितुं शक्यन्ते। निगमनिरुक्तादिप्रवर्तकाश्शिष्टाः धर्मलिप्सवोऽधर्मभीरवः श्रुत्यर्थतत्वं विविच्य पालयन्तस्तत्राभिनिविष्टाः, अनार्या म्लेच्छास्तु यथाकथञ्चिद् व्यवहाराय शब्दप्रयोक्तारः, तथापि तत्प्रसिद्धिविषयमर्थमेव ग्रहीतुं जैमिनिरनुशास्ति—**'चोदितन्तु प्रतीयेत'** इति। अत्र च कारणं निर्दिशति—**'अविरोधात्प्रमाणेन'** इति। पिकादिशब्दानां म्लेच्छप्रसिद्धार्थग्रहणेन **'पिकमालभेत'** इत्यादिवेदवाक्यार्थनिर्णये न कोऽपि विरोधः। निरुक्तादिप्रवर्तकाः स्वयूथ्याः, तद्द्वारा निर्णीतार्थग्रहणे प्रकृतिप्रत्ययभेदेनार्था अनेके भवेयुः, तेषु को ग्राह्यः कश्चाग्राह्य इति भवेद्विचिकित्सा। तदपेक्षया प्रमाणाविरोधात् म्लेच्छप्रसिद्धार्थग्रहणमुचितम्। यद्यप्यार्यम्लेच्छाधिकरणे आर्यप्रसिद्धेर्बलीयस्त्वं तदितरस्य दुर्बलत्वं व्यवस्थापितम्, तथापि व्यवहारस्योभयत्र तुल्यत्वेऽपि वाक्यशेषानुगुण्यमार्यप्रसिद्धौ वर्तत इति तस्यैव ग्रहणमिति निर्द्धारितत्वान्न दोषः। प्रकृते तु पिकादिशब्दा म्लेच्छेष्वेव प्रसिद्धा नार्येषु। तत्र तदर्थग्रहणे जैमिनिर्न दोषं पश्यति।

किञ्च होलाकाधिकरणन्याये परिशील्यमाने जैमिनिः समग्रं भारतमखण्डं व्यवस्थापयतीति स्पष्टमवगम्यते। तत्तद्देशप्रान्तभेदेन भिन्नानामप्याचाराणां सर्वधर्मत्वं सर्वसाधारणत्वमुपपादयन् **'विधानस्य तन्न्यायत्वात्'** इति हेतुं निर्दिशति। होलिकोत्सवोद्वृषभयज्ञादिभ्य आचारेभ्यः कल्प्यमानानां स्मृतीनां ताभ्यश्चानुमीयमानानां श्रुतीनां सर्वधर्मप्रापकत्वादिति हेतोरर्थः। प्राच्योदीच्यत्वादयः कर्तृपरिच्छेदका न भवितुमर्हन्ति। कर्तृपरिच्छेदकतया जातिगुणक्रियाव्यक्त्यवयवसंस्थानान्येव सम्बद्धुमर्हाणि। न हि प्राच्यादयश्शब्दाः पूर्वोक्तेष्वन्यतमप्रवृत्तिनिमित्तकाः। **'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत'** **'शुक्लो होता'** **'सोमयाजी सन्नयेत्'** **'भार्गवो होता'** **'अन्यूनानतिरिक्ताङ्ग ऋत्विजः'** इत्यादौ ब्राह्मणशुक्लादयश्शब्दाः कर्तृपरिच्छेदकतया सम्बध्नन्ति। **'प्राच्यैर्होलाकाः कर्तव्याः'** **'उदीच्यैरुद्वृषभादयः'** **'दाक्षिणात्यैरान्हीनैबुकादयः'** इत्युक्ते के ते प्राच्यादयः? इति प्रश्ने कीदृशमत्र

निर्वचनं भवेत् ? न हि प्राचीं गतः प्राच्यो भवति, नापि प्राच्या आगतः, न चापि प्राच्यां समुत्पन्नस्तथा सर्वत्र व्यभिचारात् । तत्र तत्र भिन्नास्वपि भाषासु तत्तद्भाषित्वेन न लोकाः परिच्छेत्तुं शक्यन्ते, एकस्यैव विभिन्नभाषा-भाषित्वोपलम्भात् । एवमाचाराणां सर्वधर्मत्वं व्यवस्थापयता जैमिनिना देशस्याखण्डत्वं संरक्ष्यते ।

जैमिनिन्यायाः प्रजातन्त्रञ्च

जैमिनिरयं प्राधान्येन निष्कृष्टं वेदवाक्यार्थं विविधैर्न्यायैः प्रदर्शयितुं शास्त्रमिदमारभमाणो वेदस्य वैदिकसंस्कृतेश्च लोकेन सह विद्यमानसम्बन्धनैकट्यं क्वचिद्वैदिकैः क्वचिच्च लौकिकैरुदाहरणैरवद्योत्य लोकान् शिक्षयति । सर्वस्यापि शिक्षकस्यायं स्वभावः—यदतिगभीराणां विषयाणामवबोधनाय नैकविधानां लौकिकोदा-हरणानामवलम्बनं नाम । अत एव सूत्रकारः **'लोकवत्' 'यथालोके' 'लोकभूतेषु' 'लोके कर्माणि वेदवत्'** इत्येवं शतशः पदानि प्रयुञ्जानो वेदस्य न केवलं लोकसाधारण्यं प्रदर्शयति, अपि तु सम्प्रति भारतीयैः स्वीकृतं 'प्रजातन्त्रविधानं' परिपुष्णाति । तत्र कतिपयान्युदाहरणानि ससमन्वयं निरूपयामः ।

अर्थवादाधिकरणे (१. २. १) **'अन्यानर्थक्यात्'** इति सूत्रेण **'पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानवाप्नोति, तरति मृत्युं तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद'** इत्यादिवाक्यानामप्रामाण्यमाशङ्कितम् । अग्निसिध्यर्थं क्रियमाण आधाने विहिता पूर्णाहुतिः । अनयैव सर्वेषां कामानामवाप्तौ सत्यां बह्वायाससाध्यानि दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य-ज्योतिष्टोमादीनि कर्माण्याचरितुं कथं लोकानां प्रवृत्तिस्स्यात् ? इमानि कर्माण्यनर्थकानि भवेयुः, बहूनां कर्मणामानर्थक्यापेक्षया एकस्यैवार्थवादवाक्यस्याप्रामाण्यं समुचितम् । एवमश्वमेधयागस्यानुष्ठानेन यत्फलं मृत्युतरणब्रह्महत्यातरणरूपं तच्चेदश्वमेधप्रकरणवेदनेनैव सम्पद्येत तर्हि तदनुष्ठाने पुरुषः कथं प्रवर्तेत ? अत एतादृशं वाक्यमनर्थकम् इति पूर्वपक्षिण आशयः । अस्याश्शङ्काया निराकरणसूत्रम्—**'फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषस्स्यात्'** इति । अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनां स्वर्ग एव फलमुपदिष्टम् । स्वर्गस्त्वा-मुष्मिकं फलम्, तद्गततरतमभावोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादितरतमभावापन्नकर्मभिः सम्पद्यमानोऽपि न दृष्टिगोचरस्सः । तमिमं दृष्टिगोचरेण लौकिकदृष्टान्तेन घटयति—**'लोकवत्परिमाणतः'** इति । सेवातारतम्येन लोके भृत्याः फलतारतम्यमनुभवन्तीति वयमनुभवामः । गृहनिर्माणाय परिक्रीतेषु भृत्येषु स्नुहीसंयोजनेष्टकावहन-कर्तारः, इष्टकासंयोजनकर्तारः, इष्टकासु भित्तिषु च चित्रकलाविधातारश्च तरतमभावेन भृतिमवाप्नुवन्त एकैकोऽपि ब्रवीति यदहमवासव्यं सर्वमवाप्नुयामिति । अत्र यथा सर्वशब्दः स्वस्वावाप्तव्यपरिमाणवाची तथैव **'सर्वान् कामानवाप्नोति'** इत्यत्रापि सर्वशब्दोऽवगन्तव्यः । एवं ब्रुवतो जैमिनेर्न किमपि वैशिष्ट्यं प्रतीयत इव प्रतिभायात्, किन्तु जैमिनेर्हृदयं प्रविश्य पर्यालोच्यमानेऽत्र निगूढं तत्त्वं किञ्चित्प्रतीयेत । सम्प्रति स्वीकृतप्रजातन्त्र-विधाने स्वतन्त्रभारते सर्वोऽपि स्वातन्त्र्यमात्मनो मन्यमानस्सहसैवान्यसमतामवाप्तुं चेष्टते । तदर्थं कलहमाचरति, सङ्घं संघट्टयति, धर्मघटञ्च विदधाति, शासनसूत्रं विच्छेदयितुं प्रयतत इति प्रत्यक्षमीक्षामहे । तदत्र जैमिनिरनु-शास्ति— **'फलस्य कर्मनिष्पत्तेः'** इति । सनियममनुष्ठीयमानैरेव कर्मभिः फलस्य निष्पत्तिरिति नेदमप्रत्यक्षम् । फलकामनां जैमिनिर्न निरुणद्धि । सर्वः सर्वाणि फलानि कामयितुं प्रभुः, किन्तु तत्राधिकारी सन् फलानि कामयेत । अधिकारिविशेषणेषु विद्यायास्सामर्थ्यस्य चोपदेशष्षष्ठे कृतः । सतोरपि विद्यासामर्थ्ययोः नियामकैः प्रवर्तितः क्रमोऽपि नियतः कश्चनापेक्ष्यते । एवमधिकारिविशेषणसम्पन्नस्सनियमं कर्माणि कुर्वीत । तादृशेषु कर्मस्वनुष्ठीयमानेषु कर्मानुसारि फलमवाप्तुं सोऽधिकारी । सोमयाजिनो यादृशं स्वर्गः फलं तादृशमग्निहोत्रमात्रा-नुष्ठात्रा मया लब्धव्यमितीच्छामात्रेण न तेन लब्धुं शक्यम्, न चेयमिच्छापि साधीयसी । स्वतन्त्र-भारते मानव-मात्रस्य राष्ट्रपतिपदं राज्यपालपदं प्रधानमन्त्रिपदं वा लब्धुमस्त्यधिकार इत्येतावता न सर्वैस्तल्लब्धुं शक्यम् । तत्तदौपयिकसामग्रीसम्पादनं खलु प्रथममावश्यकम् । फलकामनातः पूर्वं तत्साधनेषु कर्मसु स्वस्याधिकारोऽस्ति न

वेति विचिन्तनीयम्, विचिन्तनमिदं ज्ञानम्, तत इच्छा, ततो यत्नः, ततः कर्मसम्पादनम्। फलन्तु स्वत एव निष्पद्यत इति। एवञ्च प्रजातन्त्रे जनतया स्वीयं कर्म कार्यालयीयं वा स्वतन्त्रं वा यथावदाचरणीयम्, तदनुसारेण तत्र तत्र नियतं फलमवाप्तव्यमिति न्यायोऽयं शिक्षयति।

विषयमिमं विशदयन् जैमिनिः तृतीयाध्यायस्याष्टमपादे सूत्रयति—'**तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत्**' (३. ८. ९.) इति। ज्योतिष्टोमे दीक्षितव्रतं श्रुतम्—'**पयोव्रतं ब्राह्मणस्य, यवागू राजन्यस्य, आमिक्षा वैश्यस्य**' इति। दीक्षासमये ब्राह्मणेन यजमानेन पयोव्रतं कर्तव्यम्, यवागूव्रतं राजन्येन, आमिक्षाव्रतं वैश्येन। तेन तेन तस्य तस्य भक्षणं कर्तव्यमित्यर्थः। पय आदिव्रतेन यजमानो यद्यात्मनश्शरीरस्य शोषणं निश्चिनुयात् तर्ह्यनुव्रतमाम्नातम्—'**यदि मन्येतोपदस्यामिति ओदनं धानाः सक्तून् घृतमित्यनुव्रतयदात्मनोऽनुपदासाय**' इति। ओदनधानादिव्रतमनुव्रतम्। उपदासश्शोषणम्, अनुपदासोऽशोषणम्। तदिदमनुव्रतं प्रकृत्याम्नातम्—'**द्व्यहं नाश्नाति अथाश्नाति त्र्यहं नाश्नाति**' इत्यादि। अनेकदिनव्यापिन्यां दीक्षायां व्रतमपि तावद्दिनव्याप्तं भवति। तत्रानुव्रतेऽयं नियमः—दिनद्वयमनशनं तदूर्ध्वमेकस्मिन्दिनेऽशनम्, ततो दिनत्रयमनशनम्। एवमुत्तरत्र। तदिदमनशनं किमाध्वर्यवम्? उत याजमानम्? इति सन्दिह्य याजमानमिति सिद्धान्तयन् सूत्रयामास—**तपश्च फलसिद्धित्वाल्लोकवत्**' इति। सूत्रगतं तपःपदं कायशोषणानशनपरम्। कायशोषणमिदं तपः याजमानम्, कुतः? फलसिद्धित्वात्—फलस्य सिद्धिः—उत्पत्तिर्यस्मात्तत् तपः—फलसिद्धिः, तद्भावस्तस्मात्। यथा लोके स्वल्पक्लेशेनापि महतः फलस्यावाप्तिस्तद्वदिति सूत्रार्थः। यथा दीक्षितस्यान्ये संस्कारास्तथेदमनशनमपि तत्संस्काररूपम्। फलिसंस्कारपदेनेमे व्यवह्रियन्ते। फली यजमानः तस्य संस्कारा इत्यर्थः। एवं यजमानेनानुष्ठीयमानस्संस्कारो यजमानसमारब्धकार्ययोग्यताधायकत्वेन परिगण्यते। योग्यताधानञ्च दृष्टादृष्टविषया द्विविधम्। प्रकृते चादृष्टविषया प्रतिबन्धकनिरासपूर्वकं योग्यताधानम्। प्रतिबन्धकमदृश्यम्, तदस्तीति निश्चित्य तन्निरासाय यत्नः क्रियते। यत्र प्रतिबन्धकं दृश्यं तन्निराकरणं दृष्टविधयैव सम्पाद्यते। यथा लोके दर्पणे विद्यमानं मालिन्यं बिम्बग्राहकप्रतिबन्धकमनुभूय तन्निरासाय भस्मघर्षणं वस्त्रप्रोञ्छनादिकं क्रियते, तेन च दर्पणे बिम्बग्राहकयोग्यताधानञ्च सम्पद्यते। अनेन लोकदृष्टान्तेन जैमिनिरस्मान् शिक्षयति—यत्सम्प्रति भारतीयैः कृत्रिमेण स्वाभाविकेन वा अशनवसनाद्यभावजनितक्लेशेन यद्दुःखं सुखोपभोगप्रतिबन्धकमनुभूयते तन्निराकरणं तपसा-अनशनेन साधनेन कर्तव्यमिति। ज्योतिष्टोमेऽनशनमिदं याजमानम्। यजमान एव स्वगतस्वर्गादिसुखोपभोगप्रतिबन्धकजनितदुःखनिरासं यजमानस्थानापन्ना राष्ट्रपति-राज्यपालप्रधान-मुख्यमन्त्रिणो मन्त्रिणश्च कुर्वन्तु इति प्रश्नस्योत्तरं जैमिनिस्स्वयं ददाति—**वचनादितरेषां स्यात्**' (३. ८. ११) इति सूत्रेण। न ह्रीदमनशनं याजमानमेव, किन्त्वन्येषामपि। शासका अनशनं कुर्वन्तु वयं सकोलाहलं 'धर्मघटं' कुर्मोऽस्माकमशनं वसनञ्चावश्यकमिति। नायं न्याय्यः पन्थाः। उत्तुङ्गशिखरस्याभ्रंलिहस्य धराधरस्य समीकरणं न खलु क्षुद्रकायेन मूषिकेण भवितुमर्हति। तदर्थमसुरयन्त्रस्याणविकस्य साधनस्यापेक्षा भवति। अशनादिन्यूनतापिशाचिकायास्समुत्सारणं सर्वैस्सम्भूय कर्तव्यम्। षट्पञ्चाशत्कोटिसंख्याकाः भारतीयाः प्रतिपक्षमेकमहर्यद्यनशनं तपः कुर्युः, न तर्ह्यशनन्यूनताया अवसरस्स्यादिति जैमिनिरुपदिशति।

किन्त्वस्माकं भारतस्य यत्प्रजातन्त्रविधानं तत्सत्रात्मकम्। सत्रे च सर्वे भवन्ति यजमानाः। त एव सम्भूयाध्वर्यवौद्गात्र-हौत्र-ब्राह्मादिकर्माणि कर्तुं योग्यानां चयनं कुर्वन्ति। गृहपतिञ्च कञ्चन नियुञ्जते। अध्वर्योः कार्यमाध्वर्यवम्, होतुः कार्यं हौत्रम्, उद्गातुः कर्म औद्गात्रम्, ब्रह्मणः कार्यं ब्राह्मम्। अध्वर्युहोत्रादीनां प्रत्येकं सहायकास्त्रयस्त्रयो भवन्ति। तस्य तस्य योग्यतां निर्धार्य तत्तत्कार्ये योग्यान् चिन्वन्ति। एतेषां कर्मसु न्यूनाधिकभावेन तरतमभावोऽस्त्येव, तथापि कर्मजन्यफलोपभोगे न न्यूनाधिकभावः। यावदेव फलं गृहपतिपदे

नियुक्तः प्राप्नोति, तावदेवाध्वर्य्वादयः सत्सहायकाश्च प्राप्नुवन्ति। किन्तु चयने सर्वेऽपि जागरूका भवन्ति, यथायथं तत्तत्कार्यसम्पादनक्षमतां सुपरीक्ष्य सच्छीलं तत्तत्कर्मणि नियुञ्जते। अत्र नियोक्तारोऽपि त एव, त एव च नियोज्याः। नियोक्तृत्वेन महत्त्वबुद्धिः, नियोज्यत्वेन च लघीयस्त्वबुद्धिर्न भवति। सर्वे समाः, सर्वे च तुल्यफलभाजः, सर्वे च याजमानसंस्कारसंस्कृताः। मुख्यत्वामुख्यत्वकृतस्तु भेदो व्यावहारिको विद्यत एव। गृहपतिपदे नियुक्तो मुख्यस्स्वीयं कर्म साधयति, अच्छावकपदे नियुक्तोऽमुख्यस्स्वीयानि कर्माण्याचरति। अमुख्यस्य कर्मबाहुल्यम्, मुख्यस्य च तदल्पत्वं सिद्धमेव, तथापि कर्मजन्यं स्वर्गादिकं फलं तुल्यमेव। विषयोऽयं पूर्वोत्तरपक्षैर्जैमिनिना द्वादशाध्यायस्य चतुर्थपादे चतुर्दशाधिकरणे (१२. ४. १४) सुनिरूपितः।

स्वतन्त्र-भारते वयमेव नियोक्तारो नियोज्याश्च। तदेव खलु प्रजातन्त्रस्य प्रजातन्त्रत्वं सिध्यति। गृहपतिपदे नियुक्तो राष्ट्रपतिः प्रधानमन्त्री वा। अन्ये च मन्त्रिण उपमन्त्रिणस्सहायमन्त्रिणश्च नियुक्ताः। यथा केन्द्रे तथा प्रतिप्रान्तं राज्यपालः मुख्यमन्त्री एवमन्ये च नियुज्यन्ते **'सर्वे च तदर्थत्वात्'** (१२. ४. ३५) इति सूत्रयन् सर्वे यजमाना याजमान-फलिसंस्कारकर्माणि कुर्युरित्यनुशास्ति। सत्यवसरे न केवलमनशनं तपोमात्रं कुर्युः, किन्तु केदारेषु कर्षणमपि कुर्युः। तथाविधानामेव चयनावसरे योग्यानां चयनं कर्तव्यम्। अयोग्यान्नियुज्य पश्चात्तापकरणं जैमिनिर्न मन्यते। प्रथमत एव जागरूकैर्भवितव्यम्। यदि तथाविधा योग्या न लभ्यन्ते तर्हि सोढवापि क्लेशं समयः प्रतीक्षणीयः। भारतीय एकैकोऽप्यधिकरणार्थमिमनुसन्दध्यात्।

तार्तीय-प्रकरणाधिकरणेन नष्टाश्वदग्धरथन्यायम्, चातुर्थिक-प्रजापतिव्रताधिकरणेन फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम् इति न्यायञ्च निरूपयन् जैमिनिः प्रजातन्त्रविधेस्स्वरूपं यथायथमवबोधयति। तथाहि—**'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत'** इति वाक्येन दर्शपूर्णमासयागयोः स्वर्गजननशक्तित्वमवबोध्यते। तत्र तौ स्वनिष्ठशक्तेरुपयोगायानुग्राहकानपेक्षेते। तयोस्सन्निधौ **'समिधो यजति' 'तनूनपातं यजति'** इत्यादिवाक्यैः समिदादीनां कर्तव्यत्वमात्रं बोध्यते। तेषामनुष्ठानेन किं प्रयोजनमिति अपेक्षा जायते। अनुग्राहकत्वं समिदादीनाम् अनुग्राह्यत्वञ्च दर्शपूर्णमासयोरित्युभयोस्सम्बन्धः। तन्त्रीष्वनुगताया विद्युतः प्रकाशनशक्तौ सत्यामपि सा प्रकाशनानुग्राहकसामग्रीसापेक्षा यथा भवति, तथैव प्रधानस्य यागस्यानुग्रहापेक्षा, अङ्गानाञ्च कार्यपेक्षा। अयमेव नष्टाश्वदग्धरथन्यायः। कुतश्चित्प्रस्थितयोर्द्वयो रथिनोः मध्येमार्गम् एकस्य रथो दावाग्निना दग्धः, अपरस्य चाश्वो नष्टः। उभावपि प्रत्येकमाकांक्षतः रथमश्वञ्च उभयोस्सम्बन्धेन यथायथं स्वस्वोद्दिष्टदेशप्राप्तिरूपं फलमुभावप्यनुभवतः। अयमेव न्यायश्चतुर्थे प्रजापतिव्रताधिकरणे **'तथा च लोकभूतेषु'** इति सूत्रयित्वा महर्षिणा **'फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम्'** इत्येवं विशदीकृतः।

प्रकृते राष्ट्रपतित्वेन वृतः प्रधानन्यायाधीशस्य सन्निधौ शपथं गृह्णाति राष्ट्रपतिपदमारूढः न्याय्येन पथा जनताकल्याणं सम्पादयामीति तत्सन्निधौ च प्रधानमन्त्री तत्सहायका अन्ये मन्त्रिणश्च तथैव शपथं गृह्णन्ति। एवं राज्येषु राज्यपालः मुख्यमन्त्री तदनुयायिनो मन्त्रिणश्च स्वस्वकर्माणि जनता-सुख-समृद्धये कर्तुं शपथं गृह्णन्ति। स्वं स्वं पदमधिरुह्य नियतं कर्माणि चालयितुं शक्तिमन्तोऽपि विना जनतासाहाय्यं फलं जनयितुं न प्रभवो भवन्ति। न ह्यधिकारमात्रेण कृषिमन्त्री केदारेषु सस्यान्युत्पादयितुं शक्नोति, शिक्षामन्त्री च शिक्षां प्रसारयितुं प्रभवति। रावणराज्ये सर्वमिदं स्वत एवाधिकाराज्जायमानमासीदिति भोजराजो वर्णयति। रामराज्यकल्पना खल्वस्माकम्। जनतायाः शक्त्यनुग्राहकत्वमस्ति शक्त्यनुग्रहापेक्षा चाधिकारवतां मन्त्रिणाम् कार्यपेक्षा च जनतायाः। अनुग्राहकत्वमङ्गानाम् अनुग्राह्यत्वञ्च मुख्यस्य, एवमुभयोस्सापेक्षत्वान्मिथस्सम्बन्धः। तेनैव च सुखसम्पत्समृद्धिरिति नष्टाश्वदग्धरथन्यायस्य फलवत्सन्निधावित्यस्य न्यायस्य चोपयोगं विज्ञाय प्रज्ञाय प्रजातन्त्रविधिं परिरक्षेयुरिति जैमिनेश्शासनम्। अत्रेदमाकूतं जैमिनेः—दर्शपूर्णमाससन्निधौ श्रुतानि

प्रयाजादीन्यङ्गानि फलजननौपयिकान्येव, किन्तु फलजननाय दर्शपूर्णमासयागौ तैरनुमतौ। अतस्तत्रत्यशक्तिसमेधकत्वेनैव फलजनने तैर्वर्तितव्यम्, न तु स्वातन्त्र्येण। तथैव प्रजातन्त्रविधाने देशसमाजोत्थानानुकूलकार्यसम्पादनाय प्रधानमन्त्रि-प्रभृतयो जनतया नियुक्ता अधिकारवन्तोऽपि स्वातन्त्र्येण कार्याणि सम्पादयितुं जनतासाहाय्यं विना न शक्नुवन्ति। जनतापि अधिकारेण विहीना न किमपि स्वातन्त्र्येण सम्पादयितुं क्षमा। अस्माकञ्च स्वातन्त्र्यं केवलं पारतन्त्र्यनिगड-विनिर्मुक्तिरूपमेवास्ति। यदा हि वयं देशान्तरेभ्यस्सर्वविधपदार्थ-निरपेक्षा भवेम, तदैव पूर्णं स्वात्न्त्र्यमनुभवेम। एतादृशं स्वातन्त्र्यमनुभवितुं मिथस्सापेक्षत्वं भविष्यत्येव। प्रजातन्त्रविधानस्येदमेव वैचित्र्यम्—यल्लब्धेऽपि स्वातन्त्र्ये परस्परसापेक्षत्वमिति। पूर्वोक्तयोर्न्याययोरत्रैव तात्पर्यं जैमिनेरिति।

किञ्च स्वतन्त्रभारते लिखितुं भाषितुञ्च जनतायास्स्वातन्त्र्यमस्ति, न तु स्वाच्छन्द्यम्। प्रायः पृच्छन्ति लोकाः लिखन्ति च—यत् प्रधानमन्त्रिणा मन्त्रिभिश्च प्रवर्तितासु बह्वीषु पञ्चवर्षीययोजनासु काश्चन विफला अजायन्त, प्रभूतस्य द्रव्यस्यापव्ययो जातः, तैरेव द्रव्यमपहृतम्, विषयमिमं शोधयितुं न्यायाधीशा नियोक्तव्याः, मन्त्रिणश्च दण्डनीयाः पदाच्च ते प्रच्यावयितव्या इति। सत्यमत्रास्त्यधिकारो जनतायाः। अस्मिन् विषये जैमिनिः किमभिप्रैति किमनुशास्तीति च पश्यामः। षष्ठाध्यायस्य चतुर्थपादे पञ्चमाधिकरणे कश्चन न्यायः। तत्र **'यस्य पुरोडाशः क्षायति तं यज्ञं निर्ऋतिर्गृह्णाति, यदा तद्धविस्सन्तिष्ठते, अथ तदेव हविर्निर्वपेत्'** इति श्रुतम्। क्षायति-अतिदग्धो भवतीत्यर्थः। अतिदाहेन कृष्णीभावोऽत्र विवक्षितः। हविषोऽतिदाहे निमित्ते हविरन्तरनिर्वापरूपं प्रायश्चित्तं विदधातीदं वाक्यम्। प्रायः नष्टस्य चित्तं सन्धानमिति प्रायश्चित्त-पदार्थः। अत्र सन्देहः किमिदं प्रायश्चित्तमेकदेश-दाहेऽपि कर्तव्यम्? उत कृत्स्नदाह एव? इति। तत्रेदं सिद्धान्तसूत्रम्—**'क्षामे तु कृत्स्नदाहे स्यादेकदेशस्यावर्जनीयत्वात्'** इति। कृत्स्नदाहे क्षामे निमित्तं प्रायश्चित्तं हविरन्तरोत्पादनम्, एकदेशदाहस्तु सर्वत्रावर्जनीयः तप्तेषु कपालेषु पच्यमाने पुरोडाशे तदुपरि चाङ्गारा अध्यूह्यन्ते, तदा सूक्ष्मास्तदवयवा अवश्यं क्षायन्तीत्यवर्जनीयमेकदेशस्य क्षाणमिति तन्नित्यमेव, न निमित्तं भवितुमर्हति। अतस्सर्वक्षाणे निमित्ते प्रायश्चित्तमिति सिद्धान्तः।

प्रकृते पञ्चवर्षीययोजनानामारम्भावसरेऽनया योजनया एतावन्ति आयसानि वैद्युतानि ताम्रमयानि धस्त्वन्तरमयानि वा वस्तूनि समुत्पादनीयानि इति संकल्प्य योजनाः प्रारभ्यन्ते। तत्रोद्दिष्टपरिमाणानि वस्तूनि यदि नोत्पादितानि, ततोऽल्पान्येव तानि समुत्पादितानि तावता न योजनानां वैफल्यमारोपयितुं शक्यम्। तत्र धनस्यापव्ययत्वं न परिकल्पयितुं युक्तम्, धनव्ययस्यावर्जनीयत्वात्। अपव्यये निमित्तं कीदृशमिति पर्यवेक्षणीयम्—किं सङ्कल्पितस्य वस्तूत्पादनपरिमाणस्य सर्वथा वैफल्यम्? उतेषदिति। सर्वदाह इव सर्वथा वैफल्यमेवापव्यये निमित्तमङ्गीकार्यम्, नेषद्वैफल्यम्, तस्यावर्जनीयत्वात्। अतो नात्र दोषारोपस्यावसरो मन्त्रिषु। यदि सर्वथा वैफल्यं तदा निश्चयेन प्रायश्चित्तस्य प्रसक्तिः। अत एव क्रतुषु ब्रह्मा पर्यवेक्ष्य प्रायश्चित्तं विदध्यादिति जैमिनिन्यायेन विमृशामः। स्वीकृतयोजनायाः प्रकल्पको न केवलमेकस्तत्सम्बन्धी मन्त्री भवति। तस्य परामर्शदात्री परिषदस्ति। सर्वैर्निपुणैस्सम्भूय सुविमृश्य योजना प्रकल्प्यते। योजनायाः कार्यरूपेण परिणमनाय कश्चन कार्यालयः, तत्र च कार्यकर्तार उच्चनीचभावेनाधिकृता नैकविधा लोका भवन्ति। कार्यकर्तृषु गुणभावं प्राप्नुवन्तः केचन, अपरे चापेक्षिकं प्रधानभावम्, सर्वप्रधानश्च कश्चन, एतदुपरितत्सम्बन्धी मन्त्री इत्येवं सत्सु उच्चावचेषु कार्यकर्तृषु तत्रानियमितकार्याणि वा चौर्यं वा योजनावैफल्यं वा यद्यनुभूयन्ते, तत्र दोषभाक्कः? झटिति ब्रवीति जनता तत्सम्बन्धी मन्त्रालयः मन्त्री चेति। स दण्डनीयो निष्कासनीयश्चेति च। जैमिनिरत्रानुशास्ति—**'गुणे त्वन्याय्यकल्पना'** इति। गुणे—उपसर्जने, अन्याय्यकल्पना—दोषकल्पनेति सूत्रार्थः। अयं न्यायो नवमे

पाशाधिकरणसिद्धः। अग्नीषोमीयपशौ **'अदितिः पाशं प्रमुमोक्तु'** **'अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु'** इति मन्त्रद्वयमाम्नातम्। आभ्यां मन्त्राभ्यां यूपे प्रबद्धस्य पशोः पाशविमोचनं क्रियते।। अत्र पशोरेकत्वादेकवचनान्तस्य मन्त्रस्याङ्गत्वे न काचिद्विप्रतिपत्तिः। बहुवचनान्तो मन्त्रः किं क्रियताम्? इति प्रश्ने सति किं बहुपशुकयागेषु मन्त्रस्योत्कर्षः? उतास्मिन्नेव यागे वचनस्यैकत्वे लक्षणामन्याय्यकल्पनारूपां स्वीकृत्य निवेशः क्रियताम्। उत्कर्षपक्षे गुणभूतवचनानुरोधेन प्रधानस्य पाशप्रातिपदिकस्य निष्कासनं भवति। प्रकरणनिवेशपक्षे च गुणस्य वचनस्यैकत्वे लक्षणां स्वीकृत्य प्रधानस्य प्रकृतयाग एव निवेशो भवति। अत्र न्यायः—**'गुणे त्वन्याय्यकल्पना'** इति।

प्रकृते कार्यालये उच्चनीचभावेनाधिकृताः पुरुषास्सन्तीति प्रागवोचाम। किमपि कार्यं कार्यालयेषूपरितनाधिकारिण आदेशेनाधस्तादागत्य पुनः स्वस्वप्रधानद्वारा उपरितनाधिकारिपर्यन्तं तत्कार्यं सविवरणमागच्छति। तदनन्तरं तत्सम्बन्धिमन्त्रिणोऽन्तिकमागच्छति, स च स्वीकरोति। ततः पश्चाद्यथापूर्वमधस्तनपर्यन्तमागत्य कार्याणि प्रचलन्ति इति क्रमो विलोक्यते। अयमेव प्रयोगविधिरित्युच्यते। प्रयोगावसरे क्वचिद् व्युत्क्रमो जायते। प्रयोगस्तु कार्यालये नियुक्तैः क्रियते, न मन्त्रिणा प्रधानमन्त्रिणा वा। मन्त्रालयः कामं मन्त्रिणो नाम्ना व्यवह्रियेत, किन्तु कार्याणि नियुक्तैः पुरुषैरेव क्रियन्ते। ते च गुणभूताः, तैरेव सावधानैर्भवितव्यम्, तत एव च व्युत्क्रमस्समुद्भूतः। अतस्तत्रैवान्याय्यकल्पना समुचिता, न तु सर्वप्रधाने। न खलु मत्कुणानां कृते गृहा दह्यन्ते। औषधादिना मत्कुणा एवापसार्यन्ते। तत्र प्रजातन्त्रविधिना किमपराध्यते? नात्र कोलाहलस्यावसरः। गुणप्रधानभाव आपेक्षिकः। एक एव निरूपकभेदेन गुणोऽपि भवति प्राधान्यमपि भजते। अत एव **'सोमेन यजेत'** इत्यत्र सोमप्रातिपदिकस्य सोमवति लक्षणा किं स्वीकार्या? उत तृतीयाया इतिकर्तव्यतायां लक्षणा स्वीकार्या? इति विचारे प्रसक्ते 'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति न्यायमतिदिशन्ति मीमांसकाः। पाशाधिकरणे वचनप्रातिपदिकयोर्मध्ये प्रातिपदिकस्य प्राधान्ये निर्णीतेऽपि प्रातिपदिकस्य कारकापेक्षया गुणत्वमिति तत्रैव भवति लक्षणा—अन्याय्यकल्पना स्वीकृता सोमवता इति, न तु कारकस्येतिकर्तव्यतायाम्। प्रातिपदिकं वचनापेक्षया मुख्यमपि कारकापेक्षयोपसर्जनमेव। **'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन'** इति व्याकरणस्मृतेः। यद्यपि **'सत्त्वप्रधानानि नामानि'** इति स्मृतः प्रातिपदिकस्य प्राधान्यमाचष्टे, तथापि लिङ्गवचनापेक्षया प्रातिपदिकस्य, प्रातिपदिकापेक्षया च कारकस्य प्राधान्याङ्गीकारादुभयोर्न विरोधः। एवञ्च प्रकृते प्रजातन्त्रविधाने दण्डनीतेरावश्यकत्वात् स च दण्डः कस्मै प्रदीयतामिति प्रश्ने जैमिनिरुपदिशति—'गुणे त्वन्याय्यकल्पना' इति। पञ्चवार्षिकयोजनानां परिचालनाय निर्मितेषु कार्यालयेषु गुणप्रधानभावेन विद्यमानानां कार्यकर्तॄणां मध्ये को वा दोषभाक् इति पर्यालोच्य तस्मै दण्डो विधेयः, न तु मन्त्रिणे, नापि प्रधानमन्त्रिणे। प्रजातन्त्रविधौ सत्यमस्ति जनताया अधिकारो बलीयान् निग्रहेऽनुग्रहे च, किन्तु निग्रहे कालः प्रतीक्षणीयः। पञ्चानां वर्षाणां कृते जनतयानुग्रहः कृतः, सङ्कल्पिपञ्चवर्षाभ्यन्तरे न जनतया निग्रहः कर्तुं शक्यते। सत्रात्मकमिदं प्रजातन्त्रमिति प्रागवोचम्। तत्र यजमानेष्वन्यतमस्य मृतावपि अस्थियागेन प्रारब्धक्रतोः पूरणं विहितम्। एवं सति प्रजातन्त्रसत्रे सत्रमध्ये जीवतो यजमानस्य मन्त्रिरूपस्यापसारणं कथमुचितं स्यात्?

किञ्च सत्रञ्च ऋद्धिकामैः क्रियते। ऋद्धिश्च समृद्धिरैहिकं फलमामुष्मिकमपि। तच्च फलं षष्ठाध्यायस्य द्वितीयपादाद्याधिकरणन्यायेन सत्रानुष्ठातृभिस्सर्वैस्समवाप्यते। कर्मजन्यफलस्वाम्यं सर्वेषामस्तीति सर्वे कर्तारः। सत्यप्युच्चनीचभावेन कार्यकलापे कर्तृत्वन्तु तुल्यमेव। इयांस्तु विशेषः—सत्रे सर्वे यजमाना भवन्ति। प्रजातन्त्रसत्रे च जनतायाः प्रतिनिधयो यजमानाः। मुख्याभावे कार्यनिर्वाहाय यदुपादीयते तत्प्रतिनिधिशब्देनोच्यते। प्रतिनिधिश्च न विधिविधेयः, किन्तु सादृश्यमुन्नीय सुसदृशः पदार्थः कार्यनिर्वाहाय गृह्यते। क्वचिद्वाक्येनैव

प्रतिनिधिर्निर्दिश्यते । यथा—**'सोमभावे पूतीकानभिषुणुयात्'** इति । अत्र पूतीका न विधीयन्ते, अपि तु सादृश्येन यस्मिन् कस्मिंश्चन द्रव्ये प्राप्तेऽनेन नियम्यते । सोऽयं विषयः षष्ठतृतीये चतुर्थाधिकरणे **'नियमार्थः क्वचिद्विधिः' 'तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि'** इति सूत्राभ्यां विशदीकृतः । अनेन न्यायेन प्रजातन्त्रसत्रेऽपि जनतायाः प्रतिनिधि-नियमः क्रियते—अयमस्माकं नेता, इमे संसत्सदस्याः इमे लोकसभायाः, इमे च राज्यसभाया इति । प्रतिनिहिताः पूतीका मुख्यसोमाभिन्ना एव भवन्ति । यावन्तस्सोमे संस्कारास्तवन्तोऽन्यूनानतिरिक्ता अत्रापि सम्पाद्यन्ते । प्रतिनिधिरित्येतावता तत्र मुख्याद्दवीयसी बुद्धिर्न भवति । तथैव प्रजायाः प्रतिनिधिः प्रजैव भवति । अतएव प्रजाभिः कल्पितं तन्त्रं प्रजातन्त्रम्, न तु तत्प्रतिनिधितन्त्रम् । तदिदं **तन्नित्यं तच्चिकीर्षा हि'** इति सूत्रेण जैमिनिरवबोधयति ।

प्रजासु क्रामं भिन्नरुचयो भवेयुः । स्वस्वरुच्यनुसारेण प्रतिनिधिचयनं कुर्युः । केचन 'कामनिष्ठाः' अपरे 'सोषलिस्टाः' अन्ये 'जनतन्त्र' नाम्ना प्रसिद्धाः । केचिच्च 'काङ्ग्रेसेयाः' इत्येवमादयो बहवस्सङ्घास्स्युः । तत्र भूयोऽनुग्रहन्यायेनैक एव सङ्घः प्रजातन्त्रविधाने प्रतिनिधिरिष्यते । सर्वदलीयसङ्घस्तु न जनतोपकाराय कल्पते । अत्राप्यस्ति जैमिनेरनुशासनम् । सत्रेषु समानकल्पानामेवाधिकारो न भिन्नकल्पानामिति सिद्धान्तितम् । षष्ठाध्यायस्य षष्ठपादे प्रथमाधिकरणे—**सन्निपाते वैगुण्यात्प्रकृतिवत्तुल्यकल्पा यजेरन्'** इति सूत्रेण । भिन्नकल्पेष्वङ्गानां विभेदो दृश्यते । तेषां समाहार एकस्मिन् क्रतौ न शक्यः । अतस्समानकल्पा एव यजेरन् । तद्वत्प्रजातन्त्रेऽपि नानादलीयास्सम्भूय प्रजातन्त्रं चालयेयुस्तर्हि तत्तद्दलविरोधिकार्यकारणे वैमनस्यरूपं वैगुण्यं तेन चासन्तोषः शासनसूत्रभङ्गे परिणतस्स्यात् । अतस्समानकल्पानामेव भूयसां प्रजातन्त्रसत्रे कर्तृत्वं न्यायतस्सिद्धम् ।

एवं प्रजातन्त्रसत्रे भूयस्सु सत्रन्यायेषु प्रवृत्तेषु दीक्षितनियमपरिपालनन्यायोऽपि प्रवर्तते । सोऽप्यनुसरणीयः प्रजातन्त्रदीक्षितैः । दीक्षितस्य नियमेषु **'दीक्षितो न ददाति, न जुहोति, न पचति'** इत्यादयस्सन्ति नियमाः । दानहोमपाकादयः पुरुषार्थतया विहिताः केचन, अपरे च क्रत्वर्थतया, अन्ये चातिदेशतया विकृतौ समायान्ति । किमत्र सर्वेषां निषेधः ? उतातिदिष्टनां पुरुषार्थानाञ्च निषेधः ? अथवा क्रत्वर्थानामेव ? इति त्रेधा सन्दिह्याविशेषेण सर्वेषां निषेधः, अथवा अतिदिष्टानां पुरुषार्थानामेव निषेधः, न प्रत्यक्षोपदिष्टक्रत्वर्थानामिति च पूर्वपक्षयित्वा सिद्धान्तितम्-पुरुषार्थानामेव दानहोमपाकादीनामिति दशमाष्टमेऽष्टमाधिकरणे । अत्र मतभेदेन पर्युदासप्रतिषेधविचारोऽप्यस्ति । पर्युदासे वा प्रतिषेधे वा पुरुषार्थतया प्राप्तानां दानहोमपाकानामननुष्ठानन्तु तुल्यमेव । अनेन न्यायेन प्रजातन्त्रसत्रे दीक्षितैरपि पुरुषार्थंदानहोमपाकादयो न कर्तव्याः । आत्मकल्याणार्थं क्रियमाणा दानहोमादयः पुरुषार्था. देशकल्याणार्थं क्रियमाणा इमे क्रत्वर्थरूपाः । प्रजातन्त्रे प्रधानमन्त्रिपदे मन्त्रिपदे राष्ट्रपतिपदे राज्यपालपदे वा दीक्षित आत्मार्थं स्वकुटुम्बार्थं वा दानहोमपाकादीन् न कुर्यात् । अत्र दानहोमपाकपदान्युपलक्षकाणि गृहारामादिनिर्माणविविधोद्योगेन वित्तसञ्चय-सामूहिक-भोज्यप्रदान-परिवारान्तर्गत-पुरुषोन्नयनादीनाम् । क्रत्वर्थंदानहोमपाकादीनि दीक्षितस्य यथानुमतानि तथैव देशकल्याणाय विहितान्येव गृहारामनिर्माणदीन्यनुमतानि प्रजातन्त्रदीक्षितस्य । विधिप्रतिषेधयोरनुवर्तनं नाम दीक्षितस्य मुख्यः प्रणवः । अधिकारिभेदेन विधिनिषेधा भवन्ति भिन्नाः । पुरुषार्थतया गृहाराम-पशुपुत्रधनधान्यादिसम्पादनं न दोषाय, किन्तु यान्येव विहितानि तानि क्रतुमध्ये प्रतिषिध्यन्त इति तत्र सुमहत्तात्पर्यं कल्पनीयं भवति । सत्रेषु सर्व एव यजमानाः स्वस्वाग्निषु गार्हपत्यादिषु मिथस्संसृष्टेषु संसृष्टैर्व्रीहियवधनादिद्रव्यैर्यजेरन्निति न्यायः षष्ठद्वितीयप्रथमाधिकरणे सिद्धः । देशं समाजञ्च समृद्धया समेधयितुमयमुद्यमः प्रजातन्त्रसत्रं नाम । तत्र दीक्षितैरप्येवमनुष्ठेयं यत्स्वस्वद्रव्यस्यैकदेशमेकीकृत्य देशार्थं समर्पणीयम् । तादृशस्त्यागो दीक्षितानामावश्यकः । 'सोषलिजम्' इति यदद्यतनेषु पदं शृणुमः तद्यथार्थं सिध्येत् । स्वस्वपुरुषार्थं सम्पादयितुं यथाधिजारं जनताया यत्स्वातन्त्र्यमस्ति तन्नापहरणीयम् ।

न च तत्र विघ्नबाधादिकमुपस्थापनीयं दीक्षितैः स्वस्वपुरुषार्थसम्पादनाय न यतितव्यम्, तैः क्रत्वर्थं कर्माणि न परित्यक्तव्यानि । अत्राप्यस्ति जैमिनेर्लिप्साधिकरणन्यायश्चातुर्थिकः । तत्र हि जयप्रतिग्रहादिभिर्नियतैरुपायै-रर्जितस्य धनस्य पुरुषार्थत्वं व्यवस्थापितं जैमिनिना । पुरुषार्थेषु कर्मसु क्रतवोऽपि परिगणिताः । नियमपुरस्सर-मर्जितानां धनानां स्वस्वोपभोगाय यथा विनियोगस्तथा क्रतुष्वपि विनियोगो जनताया अनिवार्यः । ये ये यथा यथा धनमर्जयन्ति तेभ्यस्तेभ्यस्तथा तथा प्रजातन्त्रदीक्षिताः कररूपेण क्रत्वर्थतया धनं गृह्णीयुः । किन्तु नियतोपायैरर्जितानामेव धनानां क्रत्वर्थतया ग्रहणम्, अनियमेन चौर्योत्कोचग्रहणादिना प्राप्तधनस्य क्रतुसंस्पर्शो यथा न भवेत्तथा दीक्षितैः पन्था अवलम्बनीयः । अर्थात् यथा जनता दुष्टोपायानिमान् नावलम्बेरन् तथा मार्गः कल्पनीयो दीक्षितैः । लिप्साधिकरणन्यायो जनतायाप्यनुसर्तव्यः । अनेन न्यायेन जैमिनिः **"जीवनाय आहारं शिक्षयति, न त्वाहाराय जीवनमिति ।"**

एतावता न्यायसन्दर्भेणेदमत्र निर्गलितं भवति—यत् तादृशं प्रजातन्त्रविधानमवलम्बनीयं यत्र चार्थका-मयोरेवोन्नयनं न स्यात्, किन्तु संस्कृतेरपि भूयांस्तत्र सम्बन्ध आवश्यकः । यावदर्थकामौ संस्कृतिस्नुह्या न संयुज्येते तावदर्थकामौ सुदृढौ न स्याताम् । संस्कृतिपदेन न बाह्यवेषभूषादिकमभिप्रेयते, किन्तु चारित्रसंरक्षणम्, चिरन्तनैः प्रवर्तितानामनुशासनानां यथायथं परिपालनम्, विधिनिषेधयोरनुसरणम्, यथाधिकारं स्वस्वकर्माचरणेऽभिरतिः, पक्षपातपरित्यागः, सत्युपादेयत्वे प्रतिवक्षिणामपि पक्षग्रहणम्, देशभक्त्या कर्माचरणम्, दैवचिन्तनम्, सच्छीलता, पापभीरुता, शरीराभिमानराहित्यम् इत्यादयोऽभिप्रेयन्ते । एतेषामवलम्बनेनैवार्थकामयोस्समुन्नयने यतितव्यम् । सर्वेष्वेषु जैमिनिन्याया वर्तन्ते । न्यायानां पुरस्सर्वैर्नतमस्तकैर्भवितव्यम् । यथेच्छं तत्परिवर्तने समुदायबलमस्तीति न प्रवर्तितव्यम् । इदमस्माकं प्रजातन्तविधानं जैमिनेरनुमतम् । इति शिवम् ।

अतिललितं गद्य-काव्यम्

मदीयः स्वप्नः

एकदा रात्रौ किञ्चिदधीयान एव निद्रापरवशतामगमम् । वशिष्ठो मन्मित्रं मामवादीत् स्वप्ने-सखे ! किं नाम ते सर्वमपि भारतं वर्षं परिभ्रमितुमीहा वर्तते । ममाप्यभूल्लिप्सा परिभ्रमितुम्, तथापि दारिद्रयपिशाच-ग्रस्तमात्मानं निन्दन्, परिभ्रमणञ्चातिद्रव्यव्ययसाध्यमालोचयन्नेवाहं तूष्णीमवर्त्तिषि । तदिदमवगत्य सुहृन्मणिना वशिष्ठेन बुद्धिमता सहासमभ्यधायि-मास्म भूः खिन्नमनास्त्वम् । भारतीयानां समेषामप्यस्माकमधुना दारिद्रयमेव परमं भूषणमापन्नम् । तत्रापि परमपावन्या गीर्वाणवाण्याः परिचर्यया समेधमानेषु विबुधवरेषु विशेषतो दारिद्र्यं विलसतीति । एह्येहि ? विमानमेकं समपादि मया, तदारुह्य भारतवर्षस्य सुषमां तत्रापि सुरभारत्या आदरञ्चावलोकयावः । अहमप्यन्तरमान्तमानन्दसन्दोहमनुभवन् विस्मृत्यापि विशिष्टवस्त्रपरिधानादिकं मित्रेण सह सर्वमपि भारतमवलुलोकयिषुर्विमानमध्यरोहम् । अधिरोहणमात्रेण विमानमस्माकं नभसो मध्यमासद्येतस्ततः परिभ्रमितुमुपचक्रमे । तत्र तत्र विविधास्सरितः, नैकप्रकाराणि रम्याणि शमधनज्जनसन्निधानशमितशात्रवसकल-सत्वचरित्रविचित्राणि तपोवनानि, नानानोकहनिवहेन पिहिताभोगान् जनपदान्, समुचितसन्निवेशचारूणि पत्तनानि च सादरं विलोकयन् वशिष्ठमिदमवादिषम्—

अहो ! किं ब्रवीमि संख्याविहीनमहिमैकनिकेतनस्य भारतस्यास्य पचेलिमं महिमानमधिकृत्य ? वित्रिष्टपावासनिवृत्तस्वान्ता अपि सुमनसः काङ्क्षन्ति जनुषा भारतमलङ्कर्त्तुम्, इममेव खलु भारतं देशं भगवान-वाप्तकामोऽरविन्दलोचनः पदे पदे तत्तदवतारव्याजेनापविष्ट । स्वलोकस्थितोऽयं श्रुतिस्मृत्युदितानि कर्माण्यनुष्ठातुं धर्मान्वोपदेष्टुं न प्रभविष्णुरिति मन्वान आदिपुरुषः क्लेशसुलभसाध्यानां वैदिकानां स्मार्त्तानां वा जगतः कल्याणाय प्रवृत्तानां कर्मणामनुष्ठापनेन वा लोकाननुजिघृक्षुरिव सुचिरमिदं भारतं प्रशशास रामकृष्णराघवावतारेषु । रामे राज्यं प्रशासति कीदृशं भारतस्य वैभवं चतसृष्वपि दिक्षु प्रासरत्, कीदृशी वा सौभाग्यलक्ष्मीर्ननर्त्त, कीदृशं स्वातन्त्र्यं लोकस्य, प्रजाश्च सर्वाः कथं वा निरामया विशोकाश्च सत्यः परां निर्वृत्तिमभजन्त, कीदृशी वा फल-प्रदात्री शक्तिस्तरूणां लतानाञ्चासीत् । कथं वा स्वस्ववर्णाश्रमानुगुण्येन धर्माननवतिष्ठन् जना इत्यादिनिरूपणे वल्मीकजन्ममुनिरेव समर्थः ।

स एवायं खलु भारतदेशः पुरतो मे चकास्ति, यस्मिंश्च वीराः क्षत्रिया दिनकरकुलतिलका निशाकर-कुलमतल्लिकाश्च भूभृतः पुरा धर्मेण राज्यं परिपालयाम्बभूवुः, विप्राश्च विविधैः क्रतुभिः क्रतुभुजोऽपिप्रीणन्, प्रजाश्चानामृष्टदुःखं सुखमन्वभवन्, अधीतिनो वटवस्स्वगुरुकुलेषु निवसन्तः शुश्रूषादिना गुरून् प्रीणयन्तो वेदान् तदङ्गानि दर्शनानि चाध्यजीगपन्, गावो मृगाश्चतुष्पादश्च निराबाधमरण्येषु तपोवनेषु च सुखं चरन्तः कालमनैषुः, नरा नार्यः विप्रा विप्रेतरे च सौजन्येन न्यवसन् ।

आर्य सुहृन्मणे ! पश्य करालकलिकालहतकस्य दौरात्म्यम् अथवा अनुकलमतिवेलं परिभ्रमतः काल-चक्रस्य माहात्म्यम्, आहोस्विद् भगवतः परमेश्वरस्य कृपाविलासवैधुर्यम् । अहो ! सम्प्रत्यनवस्थितो भूत-सन्निवेशः । क्व तद्वसुमतीत्वं वसुन्धरायाः ? क्व ते वीराः क्षत्रियकुलावतंसा राजानः ? क्व तेषां प्रजासु वात्सल्यम् ? क्व सा तेषां धर्मपरिपालनतत्परता ? क्व सा तेषां कर्मण्यता ? क्व तद् धौर्यं विलीनं भूभृताम् ? कोऽयं तेषां नवीनो दरादरावतारः ? क्व ते वेदवादरता द्विजकुलललामभूता भूसुराः ? क्वायं तेषांमनवरताम्नाय-परिशीलनपरिपक्वमतिविभवः ? क्व च सान्तर्हिता क्रत्वनुष्ठानपरिपाटी ? क्व ते विबुधवैखरीप्रणयिनो विबुधा वटवश्च ? क्व सा शुश्रूषा वटूनाम् ? क्व ता गावः ? क्व तत्सौजन्यं प्रजासु ? अहह ! महच्चित्रमिव प्रतिभाति

मे। क्व तद्दैवभाषाध्ययनं भारतीयानां यच्च पुरैकैकस्य भारतीयस्य स्वस्वाभिलषितफलसाधने नान्तरीयकमासीत्। यया च दिवौकसः परस्परं व्यवाहार्षुः। भूसुरशेखरास्सुरानयजन्त, शमधना महर्षयो विविधानि सूत्राणि, नैकप्रकारास्स्मृतीः, पुराणानि निबन्धांश्च न्यभान्त्सुः, सेयं भगवती सुराणां भारती क्व पलायिता ? अहो कृतघ्नतायाः प्रकर्षः सर्वलोकस्य ! न केऽपि सम्प्रत्येनां सम्भावयितारो विलोक्यन्ते। अस्या आदरे दरो दरीदृश्यत इव। न कश्चिश्छृणोत्येनां तपस्विनीम्। जिह्रेति चानयालपने। केचित्परिहसन्त्येनाम्, अपरे ईर्ष्यन्ति, अन्ये च हेडन्ते।

अथवा नायमेषां दोषः पारतन्त्र्यनिगडनिबद्धा इमे किं कुर्युः ? पारतन्त्र्यं हि नाम नितान्तं प्रतिष्टम्भकम् कार्यकर्तॄणाम्। यस्य चेन्द्रियाणि न स्वायत्तानि, गात्रञ्च परायत्तम्, शिखा च परहस्तगता, गृहाः पराधीनाः, वित्तेषु स्वत्वहीनता, अभ्यवहारव्यवहारेष्वपरिपूर्णत्वम्, स किं करोतु वराको मानवः। अहो ! सर्वत्र भारते पारतन्त्र्यस्य विसृत्वरः प्रचारः, येन च भगवान् धर्मः प्रव्रजितः, क्वापि प्रचलितं तपः, सत्यं दविष्ठे गतम्, नराश्च सर्वतः कपटिनो विलोक्यन्ते, राजानोऽर्थपराः परितो वीक्ष्यन्ते न रक्षणपराः, समन्ततस्सीदन्ति साधुजनाः, विश्वतः प्रभवन्ति दुर्जनाः, विप्रोऽपि भूत्वा नैजं वपुर्वेतने विक्रीणीते, विवाससः परिभ्रमन्त्यसंख्येया मानवाः, निस्तरशायिनश्च बहवः, मूलतृणाम्बुभक्षा भ्रातरो भारतीयाः, अर्भकाश्च क्षुत्क्षामाः, जीवन्तोऽपि शवा इव मन्दाशया भृशं बन्धुजनाः, जीर्णपलाशसंहतिकृतां कन्थां वसाना नार्यः, कार्श्यैकलक्षणीया गावः।

हा हन्त ! दुरात्मा पारतन्त्र्यहतकः स्वीयमुच्चावचमनुदिवसमेधमानं माहात्म्यं समन्ततो भारते वर्षे प्रसारयन्नेव वरीवर्त्ति। अनुदिनमसंख्येया गोमातरो मार्यन्ते। कचेषु गृहीत्वेतस्ततः आकृष्यते भारतसाम्राज्यलक्ष्मीः। दुर्दुरूढंश्च वज्राघातं हन्यन्ते भारतीया भ्रातरः। समूलकाषं सम्पिष्यते विदेशीयैरस्माकमार्यजनता। प्रसभं विलुठ्यन्ते सुवर्णानि रजतानि। प्रतिदिनं कारागारं सम्प्रेष्यन्तेऽन्दूबद्धकरचरणा आर्यजातीयाः। न दृश्यत एषां रक्षणोपायः। अहो निर्घृणता पारतन्त्र्यस्य। किं बहुना ! सर्वतो भारतलक्ष्मीर्दृढनिगडनिबद्धा सोत्कण्ठं रोदितीव, सकरुणं वीक्षत इव, सगद्गदमुच्छ्वसतीव, अन्तरमान्तं स्वीयमामनस्यं विवक्षतीव, इतः प्रस्थाय सुरलोकं जिगमिषतीव मे प्रतिभाति। दीनदीनां परिम्लानवदनारविन्दां सकरुणां विमुक्तचिकुरां परिधूसरवसनां भारतीं मातरं मिषतो मे नितान्तं चेखिद्यते चेतः, स्रंसते सन्धिबन्धः, दृष्टिर्नश्यति, मस्तकं त्रुट्यति, गात्रं वेपते, किं करोमि ? क्व यामि ? कं शरणमन्विच्छामीत्येवं बहु विलपन् विमानैकदेश एव मूर्च्छामाप्नवम्।

वयस्यश्च वशिष्ठो मामीदृशीं विकटावस्थामापन्नं विलोक्य भृशं सम्भ्रान्तचेता विमानं भागीरथीकच्छेष्ववतार्य वीजनसेचनादिभिश्शीतोपचारैर्विविधैः पर्यचरत्। एवमेव बहूनि हायनानि वव्ययिरे, मयापि शनैश्शनैः स्मृतिरुपलब्धा।

'ध्रुवं जन्म मृतस्य' चेत्यवितथमाह भगवान् पार्थसारथिः। न हि कदाचिदिदं जगदेकमेव रूपं धारयति। प्रतिकलं भ्राम्यति लोकचक्रम्। यदेव जातं तदेव जायते जनिष्यते चेति महान् प्रवादो भूतार्थं न त्यजति। **'सदेवेदं सोम्य अग्र आसीत्'** इत्याद्याम्नायवचनमपीममनुभवं हन्त द्रढयति। किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने। काले खलु समारब्धा फलं बध्नन्ति शक्तयः। भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः। असाध्यं खलु साधयति हेलयैव वाऽभिमुखो विधिः। अहमपि समीचीनां स्मृतिमुपलभ्य यावदवलोकयामि तावन्मत्पार्श्वे भारतीया नेतारः प्रसन्नवदनाः साध्वीं भारतीं मातरं भगवतीं गीर्वाणसरस्वतीञ्च दिव्यसुन्दरविग्रहां समाश्वासयन्त इव विविधैस्स्तवैरीडिरे। आनन्दामृतरसनिषिक्ता भारतीया मातरो भगिन्यश्च। पीताम्बरधारिण्यः कुटजप्रसूनानि लाजांश्चावाकिरन्। बालिकाश्चाव्यक्तमधुरैः कर्णसुभगैश्शब्दैर्गीतानि जगुः, वाराङ्गनास्सोत्साहं ननृतुः, युवानः स्थविराश्च महान्तमानन्दमाबिभ्रतः परस्पराश्लेषणेन जयशब्दमुदैरयन्, सर्वतो दिक्षु ढक्कापटह-

भेरीर्वादयाम्बभूवुः, ग्रामान् नगराणि पत्तनानि रथ्याश्च तोरणैः विविधैरलञ्चक्रुः उपवनेषु मयूरगलकाहलीकलकलस्समुदजृम्भत, चूताङ्कुरास्वादकषायकण्ठा मधुरं चकुजुः पुंस्कोकिलाः मञ्जरीरेणुपुञ्जरूषितधवलदेहाः पुष्पन्धया मन्दस्यन्दिमरन्दपूरभरिते सहकारवने खेलन्तो मधोर्गुणगणान् ललितमगायन्, सरसीरुहेषु सारसास्स्वैरमक्रीडन्, कोकाश्च प्रियतमाभी रन्तुमुपचक्रमिरे, शकुन्तनिचयास्तरुनिवहेषु सकौतुकं कलकलयन्त उडिड्यिरे, अरविन्दवृन्दमरन्दतुन्दिलस्समीरो मन्दं ववौ। बालतृणास्वादनेन निर्वृतस्वान्ताः कुरङ्गा उत्प्लुत्य विहरन्तश्शुशुभिरे। वत्सानपि विस्मृत्य प्रधावन्त्यो गावो निस्साध्वसं विचेरुः।

इत्थंभूते भरतभूसाम्राज्यलक्ष्म्याः प्रवृत्ते स्वातन्त्र्याभिव्यञ्जकप्राज्यमहोत्सवव्यतिकरे मन्दस्मितवदनारविन्दा सा भगवती सर्वानपि भारतीयान् प्रशंसनीयचरितकमनीयानेवमजिज्ञपत्—प्रेष्ठा वत्साः। अद्यैवाहमतुलां मुदमवापम्, मनसः परां शान्तिमभजम् यूयमपीतःपरं मुक्तबन्धास्सुखं विचरत, स्वस्ववर्णाश्रमानुगुणं धर्माननुतिष्ठत परधर्मेषु न मतिं कुरुत सुरभारतीसमुन्नतये स्पृहयत।

यथा चेयमप्रतिहतप्रसरा सर्वत्र निर्विशेषं कृतपदा भवेत् तथा सत्वरं यतत। तदर्थमायुष्मद्भिर्भवद्भिः पत्तने, पक्वणे, ग्रामे, ग्रामटिकायां विद्यामन्दिराण्युद्घाट्यन्ताम्। तेषु च प्राचीनैर्निबद्धानि दर्शनानि स्मृतीः पुराणानि च साध्वध्याप्यन्ताम्। एकैकस्य जनिमतो देशभक्तिर्दृढा यथा स्यात्तथा आधीयतामुच्चावचः प्रयत्नः। सुखेन जीवनयात्रां निर्वर्तयितुं शिक्ष्यन्तां विविधा कलाः। सर्वत्र भारते देशे सनातनस्य भगवतो धर्मस्य सदाचारस्य शीलस्य प्रचाराय प्रेष्यन्तां तदभिज्ञाः। प्रजासु मिथः सौजन्यं वात्सल्यमैकमत्यञ्च सम्पादयितुं देशे देशे क्रियन्तां भाषणानि। स्वस्वसमाजाभ्युन्नतये रात्रिन्दिवं यतमानैरेव स्थीयताम्। शिष्टास्सादरं संरक्ष्यन्ताम्, दुष्टा निगृह्यन्ताम्। विविधैः प्रकारैर्गावः पाल्यन्ताम्, मांसापणा दूरीक्रियन्ताम्। स्थाने स्थाने प्रपाः प्रवर्त्यन्ताम्, मदिरागृहाणि प्रतिषिध्यन्ताम्। कूपास्तटाकाश्च खन्यन्ताम्, ग्रामे ग्रामे नगरे नगरे देवालया निर्मीयन्ताम्। समररसभृतां वाहिनीनामतुलोत्साहसन्नाहिनीनाम् निनादास्सम्भ्रियन्ताम्, स्वातन्त्र्यश्रिया प्रतिदिनमेधमाना भरतभूः राजतां मुक्तबन्धा।

जाग्रज्ज्योतिष्मतीयं खलबलनिकरे मुञ्चती चन्द्रहासम्
श्रीशक्तिर्भारतेऽस्मिन्नरि नरि विजया वस्तुतस्साविरस्तु॥

इत्येवं भारतसाम्राज्यलक्ष्म्या वदनारविन्दान्निस्सृतामाज्ञापरम्परामुपदेशामृतनिष्यन्दिनीं निशमयतां भारतनेतृप्रमुखाणामभूतपूर्वा काचन जागर्त्तिरुन्मिमेष, उदभूच्च जनतायां महानुत्साहभरितः कलकलध्वानः, येनाहं सपदि प्राबोधिषि मन्दभाग्यः!!

द्वितीयरसस्याद्वितीयाख्यायिका

श्वश्रूः स्नुषा च

मुणिपूरेति संज्ञिते कस्मिंश्चन ग्रामे सपत्नीकः कश्चनाग्रजन्मा राममंगलनामा न्यवसत् । तस्य चाष्टादश-वार्षिकः कश्चन पुत्रः अष्टहायनी मोती नाम्नी स्नुषा, कन्या चैकासन् । अप्राप्तयौवनामेव स्नुषां श्वश्रूः प्रत्यह-मुपद्रवशतैराकुलयति स्म । आ च प्रातः आ च रात्रेः शयनपर्यन्तं गृहकृत्यानि सर्वाण्यपि जलाहरण-पात्र-सम्मार्जन-व्रीह्यवहनन-वस्त्रक्षालन-तत्प्रसारण-भोजनपरिवेषणादीनि स्नुषयैव कारयति स्म सा । भोजनं परमेक-वारं तथा कर्त्तव्यम्, तदप्यत्यल्पम् । एवमेव बहूनि दिनानि व्यतीतानि, स्नुषा च मलिनवसनाऽत्यन्तं परिक्षीणा नितान्तं सोचनीयां दशामाससाद । पुत्रोऽपि किं करोतु तपस्वी ! 'मातृदेवो भव' इति वैदिकमेव पन्थानमव-लम्बमानः सर्वमिदमुपद्रवजातं मातुर्जानन्नपि जोषमास । प्रेमभावः परं भार्यायामनल्प एवासीत् । पतिरपि (श्वशुरः) तां (स्वभार्यां) परदेवतामिव मन्यमानः ससाध्वसः किमपि नावदत् ।

सति चैवमेकदा स्नुषा श्वश्र्वा क्रियमाणं दुःखमसहमाना तूष्णीं स्थितं पतिं श्वशुरञ्च निरीक्षमाणा कामपि प्रतीकारपद्धतिं मनसि निश्चित्य श्वश्रूं प्रत्यवदत्—अम्ब ! क्षुद्बाधते नितान्तम्, देह्यन्नम्, उदितः कियद्-दूरमागतो भगवान् भास्वान् पश्य इति ।

श्वश्रूः—सम्यगस्ति नैव पूर्णं प्रभाता रजनिरद्यापि, इयती क्षुत् ? कीदृशं ते उदरम् ? दग्धं तत् ! हतं तत् ! किं तत्र मूषिका वर्त्तते ! किमनवरतमापूर्यमाणेनैव भाव्यम् ! एवञ्च सत्यचिरादेव मे गृहं ध्वस्तं भविष्यति । दिने दिने प्रत्यग्रं वस्त्रम्, (सवेगं) मासि मासि कियता तैलेनाभ्यञ्जनम्, कियान् पिण्याकः, कियदन्नम् हतायै प्रत्यर्प्यते । (चिबुके करजान्निक्षिप्य) हंहो कथं निर्वोढुं शक्यम् ? इत्येवं वाक्छल्यैस्तां विव्याध ।

स्नुषा—अम्ब ! इदानीं खलु त्वदीया कन्या भुक्तवती, ततो ममापि भोक्तुं वेलेति प्रार्थनामकार्षमिति सानुनयं व्याजहार ।

श्वश्रूः—(सोरस्ताडम्) आः पापिष्ठे ध्वंसस्व । अणुमात्रा मे उत्तानशया कन्यैका, तामप्यसूयसि ! हुम् ! एतदर्थमेव नु त्वां प्रतिवेलं पिण्डं प्रदाय परिपालयामि । मधुरेण पयसा पोषितः पृदाकुर्विषमेव वमति । कुतो वा कालसर्पस्त्वां न दशति ? विषूचिका कथं त्वां न हरति ? हा हन्त ! अल्पायुरियं नितान्तं मदुदरं प्रज्वालयति इत्युच्चैराक्रोशत् ।

स्नुषा—(स्वगतं) भवतु सम्यञ्चं दण्डमस्यां पातयामि । एतस्मिन् व्यतिकरे सर्वमिमं कोलाहलं शृण्वन् वहिर्वेदिकायामुपविष्टः पतिरन्तः प्रविश्यावोचत्—अये गृहाणेदं, नयान्तः । कुतः स्तम्भमाश्लिष्य तूष्णीं तिष्ठसि ! किं न भुक्तवत्यसि ? इति ।

स्नुषा—द्वौ मम श्वशुरौ इत्यकथयत् ।

पतिः—अये उष्णोदकं कुरु, उष्मलो देहः न नद्यां स्नातुमना अस्मि । स्नात्वा क्षिप्रमेव बहिर्गन्तव्यम् इत्यवादीत् ।

स्नुषा—उम् ! द्वौ मम श्वशुरौ इति वदन्ती सर्वं तदादेशमकार्षीत् ।

पतिः—स्नानादिकृत्यं परिसमाप्य बहिर्जिगमिषुः स्वभार्यामादिदेश बहिर्मया गम्यते, सायं परावर्त्तिष्ये, कवाटं पिधस्त्व इति ।

स्नुषा—उम् ! द्वौ मम श्वशुरौ इत्यभिदधाना कवाटं पिधायान्तः प्रविवेश ।

श्वश्रूः—आः कथमियं वराकी मदीयं वृत्तान्तमज्ञासीत् ? अत्याहितं खलु संवृत्तम् । भवतु तथाप्यस्यै नावसरं दास्यामि इति स्वात्मन्यभिधायान्तरमान्तं महान्तं कोपमाबिभ्रती "अयि रण्डे ! पूर्वेद्युरागतायास्ते इयान् गर्वप्रकर्षः, मदीयं वाक्यं न शृणोषि, न वा किमपि गृहकृत्यं साधु करोषि, तूलायापि मां नैव गणयसि । सायं प्रातः आकण्ठमभ्यवहारेणैव कालं यापयसि । किमिदं गृहं तव पित्रा पितामहेन वा निर्मितमन्नक्षेत्रम् ? साक्षाद् दरिद्रदेवतेव मद्गृहमवतीर्णासि । गच्छ यथेच्छं ते पितृकुलम्, इति विविधैर्वाग्जालैर्भर्त्सयन्ती सम्मार्जनीमादाय यथेच्छमताडयत् ।

स्नुषापि प्रतिप्रहारं द्वौ मम श्वशुरौ,
द्वौ मम श्वशुरौ इत्युच्चैराक्रन्दत् !!

एतस्मिन्नन्तरे बहिर्गतः श्वशुरोऽप्याजगाम । रथ्यायामागच्छन्नेव द्वौ मम श्वशुरौ इति स्नुषाया मन्त्रजापं शुश्राव । लज्जयावनतमुखस्सन् अये का अन्तः ? कवाटमुद्घाटय, सर्वदा कवाटं पिधाय किं करोषि इति पत्नीमाजुहाव । तदा स्नुषैव द्वारदेशं गत्वा द्वौ मम श्वशुरौ इति वारं वारमुच्चारयन्ती कवाटमुद्घाटयामास । श्वशुरोऽपीदं श्रुत्वा मनसि सञ्जातशङ्कः किमर्थमेवमियं वक्ति कदाचिदियं भ्रष्टचरित्रा जाया स्यात्; अत एवैवं वक्ति इति चिन्तयन्नेव गृहं प्रविष्टोऽङ्गणस्थायां डोलायामुपाविशत् ।

भार्या हि नाम तस्य महत्या भीतेः स्थानम् । इतः स्नुषाया रोदनशब्दोऽसह्य एवासीत् । किं करोतु स तपस्वी ! स्वभार्यां सम्बोध्य धैर्यञ्चावलम्ब्याभाणीत् अये ! किमेवं प्रतिनिमेषं स्नुषां पीडयसि ? तवाप्युदरादपत्यद्वयमुत्पन्नम् । परकीयमपत्यमिति किं उद्वेजयसि ! ग्रामस्थास्सर्वेऽपि मां विषयमेनमधिकृत्य पृच्छन्ति लज्जया बहिर्गन्तुमेव मेऽवकाशो नास्ति । प्रतिदिनं रोदनम्, आक्रन्दनम्, निष्ठुरैर्वचनैर्गालीप्रदानम्, किमिदं सर्वम् सम्यगस्ति ? इति ।

स्नुषा परं सम्मार्जनीप्रहारं ,भृशमसहमाना स्वीयं मन्त्रजापं न तत्याज । सूर्यश्चास्तमगच्छत् । अये कवाटमुद्घाटय इति व्याहरन् पतिरपि समाजगाम । स्नुषा सत्वरं द्वारदेशं गत्वा जपित्वा च स्वीयं मन्त्रं कवाटमुदघाटयत् ।

अन्तः प्रविष्टः पतिरचिन्तयत् । नूनमियं मन्माता भ्रष्टचरित्रा स्यात् नो चेत् कथमियमप्राप्तयौवना मे कान्ता ब्रवीत्येवम् । अवश्यमत्र किञ्चिद्रहस्यमस्ति । नेतः परमम्बयानया संल्लपिष्यामि । न चाप्यस्या मुखमीक्षिष्ये इति । एवं दिनद्वयं व्यतीतम् । स्वश्र्वा सह न पुत्रस्संल्लपति, नापि पतिः, न चापि कन्या । महद्दुःखं तस्यास्समापतितम् । मुखं तस्याः परिम्लानम्, शुष्का च रसना, हस्तपादं न प्रसृतम्, वेपथुना तस्या हृदयं न परित्यक्तम्, इत्येवं बहुभिस्सङ्कटैरभिभूता स्नुषामनुनयेन सान्त्वयितुमियेष । एकदा रहसि स्नुषामाहूय प्रेम्णा भावेन 'अयि वत्से किमिदं न्याय्यं' यन्मयि त्वं श्वशुरस्य पत्युश्च महान्तं कोपमुत्पादितवत्यसि मातृकल्पा खलु तवाहम् । बुद्धिमती खल्वसि । किं न जानासि त्वं श्वश्र्वां स्नुषया कथं वर्त्तितव्यमिति ।

स्नुषा—हुम् ! कस्मात्त्वं मुहुर्मुहुर्मां विविधैरुपद्रवैः पीडयसि । सम्यञ्चमाहारमपि न ददासि, परिधातुं वस्त्रमपि, आभरणस्य का कथा ? अकाण्डे अल्पनिमित्ते वाविच्छेदमुष्णं वाग्वर्षं वर्षसि सम्मार्जन्या च ताडयसि । तेन मे कोपस्समजनिष्ट । अत एवमकार्षमित्युवाच ।

श्वश्रूः—वत्से ! नेतः परं त्वयि तथा वर्तिष्ये। कथञ्चिच्छ्वशुरस्य पत्युश्च कोपं शमय इति सानुनयम् अब्रवीत्।

स्नुषा—तथ्यं ब्रूहि, सशपथं ब्रूहि। अद्यैव श्वशुरस्य पत्युश्चापनयामि कोपम्।

श्वश्रूः—सत्यं ब्रवीमि, सशपथं ब्रवीमि इतः परं त्वां किमपि न वच्मि। यद्यदीप्सितं ते तत्तदचिरेणैव साधयिष्यामि। शीघ्रं तयोस्सन्देहं कोपञ्चापनय। अपरेद्युरपराह्णे भोजनान्तरं पतिः स्वकान्तां बभाषे अये अपि भुक्तवत्यसि ?

स्नुषा—हुँ द्वौ मम श्वशुरौ इति प्रत्यवादीत्।

पतिः—(सलज्जम्) जोषमास्व, नैवमितः परं ब्रूहि, लज्जाऽतीव मां बाधते।

स्नुषा—उम् ! उक्तं ज्ञातुं न शक्नोषि, नियन्त्रयसि परं माम्।

पतिः—कः पुनरये तवाऽन्यः श्वशुरः ?

स्नुषा—प्रदर्शयामि, पश्य। इत्यभिधाय पुरःस्थिते महति दर्पणे निपतितं डोलायामुपविष्टस्य श्वशुरस्य प्रतिविम्बं प्रदर्श्याऽयं मे द्वितीयः श्वशुर इति व्याहृत्य जहास।

पतिः श्वशुरः श्वश्रूश्च ही ही ही····इति जहसुः !!

बुभुक्षितः शिशुः

एकदास्सीघट्टे समुदभून्महान् कोलाहलः। असंख्येया जना एकत्र सम्मिलिताः। अभिधावन्ति स्म केचित्। अपरे च स्वस्थान एव वर्तमानाः कर्णं दत्वा शिशोः प्रभूतं रोदनशब्दमशृण्वन्। अन्ये तु किंमूलकोऽयं कोलाहल इत्यपृच्छन् पार्श्वस्थान्। किमर्थमिदं प्रबलं रुदितमर्भकस्येति न कोऽप्यलंभूष्णुर्निर्णेतुम्।

पण्डितकुलललामभूतस्य वसिष्ठस्योदवसिते डोलायां शायितोऽर्भकस्सुप्तप्रबुद्धः 'क्वा क्वा बीच् बीच्' इति नितान्तं क्रन्दितुमारेभे। सर्वोऽपि तन्निकेतनाध्युषितो जनस्तत्रैकीभूयातिष्ठत्। अर्भकस्य माता तमादाय स्तन्यं पाययितुमियेष। परं शिशुः पाणी पादौ च धुन्वन् मुखं परावृत्य नितान्तमरोदीत्। विविधैर्वाग्जालैर्माता तं सान्त्वयितुमुपचक्रमे। विमलं दर्पणमानीय पश्य वत्स! अत्र त्वत्समश्शिशुर्वर्तत इत्यदर्शयत्। तत्रायं स्वचक्षुषी निमील्य चक्रन्द। नैकविधानि क्रीडनकान्यादाय तात इमानि क्रीडनकानि प्रेक्षस्व एभिः क्रीड इत्यदात्। कराभ्यां तान्याकृष्य दूरे निपात्य तानि चूर्णीचकार। नानाविधानि वस्त्राणि प्रदर्श्य तं प्रलोभयितुमैच्छत् परं सर्वमिदं विफलमेवाभूत् तत्कृते। केनापि यत्नेन धृतोऽपि नातिष्ठत्। भृशं भर्त्सनेन नितान्तं ताडनेनापि स रोदनान्न विरतः। किन्त्वत्यन्तं चक्रन्द। माता च तदवस्थं शिशुमवलोकयन्ती अधिकं व्याकुला बभूव। स्त्रैणे समाजे प्रवेष्टुमशक्नुवन्तः पुरुषा आरादेवावातिष्ठन्त। अध्यापनाय विद्यालयं गतो वसिष्ठोऽपि न प्रतिनिवृत्तः। तत्र सङ्गतासु स्त्रीषु एकैका एकैकं क्रन्दनहेतुमवर्णयत्।

स्वर्णमुखी नामैका जगाद-सावशेषं शिशोर्निद्रा, पुनरपि तं डोलायां शाययित्वा प्रेङ्खयेति। तथेति माता तं डोलायाममुञ्चत्। सद्य एव बलवत्तरमभूद्बालकस्य क्रन्दनम्।

अपरा गङ्गा नाम्न्यब्रवीद्-गृहेऽत्र महान् घर्मो वर्तते, वातसंचारवति देशे शिशुं नय इति। तथेति माता स्वकनीयसे समर्पयितुमियेष। हा हन्त कियद्बलमर्भकस्य। येन सद्यः क्रन्दितं तथा यथा तत्रत्यानां कर्ण-विवराणां श्रवणशक्तिरलुप्यत्तेव। इतरा इन्दिराख्या अवदत्-नूनमुदरबाधा शिशुं पीडयति, सत्वरं भिषजमाह्वय इति अतिशीघ्रं कश्चन भिषगानीयताम्। तद्दत्तमौषधं किञ्चित्स्तन्ये सङ्घृष्य तस्मा अदात्। परं शिशुस्तस्यैव वदने तत् न्यष्ठीवत् पुनश्चक्रन्द।

अन्या विजया नाम्न्यवादीत्-वृश्चिकेन मत्कुणेन पिपीलिकया वा बालस्सन्दष्टो भवेत् इतरथा कथमेवं रोदिति इति तदाकर्ण्य माता शिशोरङ्गं सर्वमप्यस्पृशत्। न कुत्रापि दंशचिह्नमैक्ष्यत। क्रन्दनं पुनरधिकतरं संवृत्तम्।

पुनरपरा बभाषे-गृहपिशाचेनायं ग्रस्तस्स्यात् इति। सद्यस्तान्त्रिकः कश्चन आहूतः। भस्मोद्धूलितस्य स्थूलरुद्राक्षभारच्छन्नविशालभुजान्तरालभीषणस्य जटाधारिणो विकृतवेषस्य तस्यावलोकनमात्रेण नितान्तं त्रस्तो बालः स्वीयं मुखं परावृत्य चक्रन्दतराम्। मान्त्रिकोऽपि दूर एव स्थित्वा पञ्चषैर्निमेषैः निम्बशाखां चालयित्वा अचिरादेव पिशाचान्मुक्तो भवेदिति व्याहृत्यान्तरधात्।

किं कुर्यात्—तपस्विनी शिशोर्माता। बालकस्य कण्ठो विकृतः मुखं शुष्कम्, शिरः प्रभृत्यापादं शरीरं स्वेदजलैर्निषिक्तम्, अक्षिणी आरक्ते बाष्पं निरन्तरं मुञ्चन् आक्रन्दनान्न विरतो बालः माताप्यत्यन्तं विह्वला किमपि कर्तुमप्रभवन्ती भगवन्तमुमारमणं विविधैः प्रार्थनावचोभिरस्तौत्।

एतस्मिन् व्यतिकरे शिशोर्मातामही अत्यन्तं स्थविरा दण्डं भूमौ शनैश्शनैर्निक्षिप्य निक्षिप्य गङ्गातो न्यवर्तत। आगच्छन्तीं तां प्रेक्ष्य मध्येमार्गं केचित् दौहित्रं शिशुमस्वस्थमकथयन्। श्रुत्वैतत् भृशमुद्विग्नमानसा जवेन गन्तुमसमर्थापि, दौहित्रप्रेमसूत्राकृष्टेव कथंचित्सत्वरं गृहमागत्य शिशोः क्रन्दनमाकर्ण्य तञ्चावालोक्य किमप्यभाषमाणा महानसमेत्य आमलकभरितमन्नमादाय किञ्चित्सर्पिरासिच्य शर्कराञ्च निक्षिप्य सम्पिष्य दुहितुः करात् शिशुमवरोप्य कवलद्वयमाशयित्वा उदकञ्चापाययत्। शिशुरपि 'गडक् गडक्' इति तन्निगीर्य 'ही ही' इति जहास मातापि स्वचिबुके हस्तं निक्षिप्य दन्तांश्च प्रदर्श्य अयि अम्ब ! नेत्रयोरस्य तथैव सन्त्यश्रूणि। मुखे हासः। क्षुधा नु ? इयान् प्रमादः। किमाश्चर्यम् किं दौष्ट्यमस्य ? इति व्याजह्रौ। पार्श्वस्थास्सर्वा अप्यसंख्याः स्त्रियः, पश्यत भोःअस्य दौष्ट्यम् ! स्थविरायाः सामर्थ्यञ्च' इत्यवदन्। एतदन्तरे वसिष्ठोऽपि उष्णीषेण महताऽऽविष्टितोत्तमाङ्गः करधृतदण्डः सतमाखुपत्रताम्बूलेन पूरितमुखविवरः 'सम्यक् पश्यत सम्यक् पश्यत भवत्योऽपि स्त्रियः, इयं वृद्धापि स्त्री' इति व्याहरन्नन्तः प्रविवेश।

'भारतश्रीः' इति पत्रेऽग्रलेखः

विचारणीया समस्या

प्रसरति यदा तदैव हि
भवदीयापाङ्गवीक्षणोल्लासः।
भारति ? जडो पि कवयति
वाचालति चित्रमेडमूकोऽपि ॥

न तिरोभूतमिदं नस्समेषां यदध्ययनाध्यापनेषु कीदृशमनितरसाधारणं निस्सीममानन्दं लभन्ते सज्जना इति। तत्र कविकुलललामभूतस्य श्रीहर्षस्य 'अधीतिबोधाचरणप्रचारणै' रिति सूक्तिर्बोधयत्येवास्मान् 'बोधनाशक्तिर्नाम प्राक्तनसुकृतैकलभ्यः ईशापाङ्गमात्रसुलभः कश्चन संस्कारविशेष' इति। न केऽपि संशेरते बोधनावश्यकतायाम्। यदि प्राक्तना अस्मद्गुरवः वेदान्, तदङ्गानि, दर्शनानि च न बोधयेयुः, को नाम तेषामवसाने तज्जानीयात्। यद्यपि पत्रादिषु लेखनेन परिरक्ष्येरन्, तथापि 'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्यमन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावदि' ति न्यायेन सर्वैरप्यज्ञातं शास्त्रं कथमनुवर्तेत ? यदि बोधनं न स्यात्, श्रुतिसरण्या आचार्यान्तेवासिक्रमेण चागच्छन्ती श्रुतिरपि कथमेतावन्तं कालं व्यवहारपदे तिष्ठेत् ? अहो ! महदिदं दुःखस्थानमस्माकम्, यद्बोधनलोपेनैव महीयसा कालेन रहसि रक्षिता अपि बह्व्यः कला विद्याश्चाद्य लुप्ताः यासां नामान्यपि न ज्ञायन्त इति। अतश्च गुरोस्सकाशाद्यथाविषयावगमे सर्वैरपि बद्धपरिकरैर्भूयते तथैव यदि इतरानपि बोधयेयुः तदैव अखिला अपि भाषास्सम्यग्वर्धेरन्।

तादृशे बोधने सन्ति त्रयः प्रकाराः। बाल्ये अक्षराभ्यासात्प्रभृति सभ्यक्पठितुम्, किञ्चिदिव लेखितुम्, किञ्चित्किञ्चिदिव चार्थमवगन्तुं यावच्छक्नोति बालः तावद्बोधनं प्रथमः प्रकारः। अस्यैव आद्यं विद्यापर्व (एलिमेण्टरी स्टडी) इति नाम। ततः परं बहूनां कवीनां गूढाशयान् ग्रन्थान् पठितुं तेषां यथावदाशयानवगन्तुं

व्यवहारेऽसकृदनुपयुक्तानि पदानि तदर्थांश्चावगन्तुं यावच्छक्नोति तावद्बोधनं द्वितीयः प्रकारः। अस्यैव मध्यमं विद्यापर्व (सेकण्डरी एजुकेशन्) इति व्यवहारः। एताभ्यां द्वाभ्यामपि प्रकाराभ्यां सामान्यं ज्ञानमेव सम्पद्यते। ततः परं लघूनि शास्त्राण्यध्येतुम्, महाकवीनां निगूढाशयान् ग्रन्थान्पठितुम्, तेषां रसान् सम्यगास्वादयितुम्, ग्रन्थग्रन्थिभेदिनो विषयांश्चावगन्तुं स्वयं बहून् ग्रन्थान् रचयितुं च यावदलम्भूष्णुः तावद्बोधनं तृतीयः प्रकारः। एष एव उत्तमं विद्यापर्व (यूनिवर्सिटी एजुकेशन्) इति व्यवह्रियते।

तत्र साम्प्रतमुत्तमकक्षायां ये प्रविविक्षवो माणवकास्तानधिकृत्य किञ्चिदिव विचारयामः। एते खलु प्रायशो भवन्ति दर्शनग्रन्थाध्येतारः। दार्शनिकग्रन्थाश्च तैरेवाध्येतुं पार्यन्ते ये च लघुबृहद्रूपेण विभक्तेषु काव्येषु नाटकेष्वलङ्कारेषु च कृतपरिश्रमाः। काव्यादिपठनेनैव हि तत्तत्पदपदार्थेषु गृहीतसङ्गतिका जायन्ते विद्यार्थिनः। न हि दार्शनिकग्रन्थान् पदपदार्थबोधनाय न्यबध्नन् तीर्थकाराः। सति चैवं बहवो विद्यार्थिन उपलभ्यन्ते ये तत्तादृशग्रन्थाध्ययनावसरे 'आलस्येन, दवीयसी, प्रभातः, उत्सृष्टः; सन्तिष्ठते, ईषत्करमि' त्यादीनां बहूनां शब्दानां असकृत्प्रयुक्तानामपि अर्थं मीमांसन्ते। शब्देष्वेव नेयं गतिः, अपितु तत्तद्विषयावगमेऽपि मीमांसका न्यायविषयं नैय्यायिकाश्च व्याकरणविषयं वैयाकरणश्च मीमांसाविषयं, आलङ्कारिकाश्च न्यायविषयं, न सम्यग्बुध्यन्ते। खिद्यन्ते च भृशं सरला अपि पंक्तीस्समन्वेतुम्। बिभ्यति च गैर्वाण्या व्यवहर्तुम्। तदत्र किंकृतो दोष इति प्रश्ने वैपरीत्येन बोधानानुक्रम एवेत्युत्तरमुररीकुर्मः। अतश्च मध्यमकक्षायामेव यथैते तत्तत्पदपदार्थेषु सम्यक् गृहीतसङ्गतिका भवेयुः तथा काव्यनाटकतत्तद्दार्शनिकप्रकरणग्रन्थाध्यापनेन बोधनीयाः। तदर्थञ्च विद्यालयनियमादिपरिवर्तनकार्यकारिभिः दत्तदृष्टिभिर्भाव्यम्। किञ्च उत्तमकक्षाविद्यार्थिनो गैर्वाणीमेवावलम्ब्य बोधनीयाः। यतश्च विद्यार्थिनस्सभासु संव्यवहर्तुं बहुविधाश्च लेखान्लेखितुं दुरूहानपि शास्त्रविषयान् लीलयैव यथावदुपपादयितुं मृतप्रायेति वाग्विलासपूरे निपतितां वाणीमेनां समुद्धर्तुमलं भूष्णवो भवेयुः। अपि च शास्त्रेषु समीचीनं वैदुष्यम् अथवा समीचीनां व्युत्पत्तिं लिप्समानाः तर्कव्याकरणमीमांसालङ्काराणां चतुर्णामपि प्रकरण ग्रन्थेषु तुल्यः परिश्रमो यथा भवति तथा बोधनीया विद्यार्थिन इति सर्वानभ्यर्थयामहे। पद्धतेरस्या उपेक्षायां अपरिहार्यैव न्यूनतेति प्राप्तेऽवसरे विवेचयिष्यामः।

व्यष्टिस्समष्टिस्तयोस्सम्बन्धो विकासश्च

'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति वाक्यं स्वर्गफलसाधनाय दर्शशब्दवाच्यान् पूर्णमासशब्दवाच्यांश्च त्रींस्त्रीन् यागान् विधत्ते। ते च यागाः पृथक्पृथक् षड्भिर्वाक्यैर्विधीयन्ते। अतः पृथक्पृथग्यागविधायकान्युत्पत्तिवाक्यानीति दर्शपूर्णमासवाक्यञ्चाधिकारवाक्यमिति च व्यवह्रियते। प्रकृतफलसाधनाय षड् यागव्यक्तयो निष्पद्यन्ते। दर्शपदं पूर्णमासपदञ्च कालवाचकं सदपि कर्मवाचकमपीति मीमांसकास्साधयन्ति नामधेयत्वसाधकं प्रमाणमुपन्यस्यन्तः। एवञ्च व्यक्तिशो विहिता यागाः षट्। फलाबोधकञ्च वाक्यं यागानां समष्टेः फलसम्बन्धं विदधातीति स्थितिः। तत्र 'दर्शपूर्णमासैः' इति स्थातव्ये 'दर्शपूर्णमासाभ्याम्' इति द्विवचनस्योपपत्तिः कथमिति शङ्कामुत्थाप्य परिहरन्ति—यत्, दर्शस्य प्रतिपदश्च सन्धौ दर्शयागांस्त्रीननुष्ठाय पुनः पञ्चदशदिनानन्तरं पूर्णिमा प्रतिपत्सन्धौ त्रीन् यागान् अनुतिष्ठेदिति क्रमः। पञ्चदशदिनपर्यन्तं किमपि कर्म स्यात्तु न तिष्ठतीति एकैकेन

यागेन पृथक्पृथगपूर्वं समुत्पाद्यते। तादृशापूर्वत्रयस्य कश्चन समुदायः, समष्टिरूपः। पूर्णिमायामपि समष्टिरूपः कश्चनापरः समुदाय इति समुदायद्वयस्य बोधनाय 'दर्शपूर्णमासाभ्यामि'ति उपपन्नं द्विवचनमिति। समुदायद्वयस्य फलसाधकत्वे फलद्वयं समुत्पादनीयं स्यादिति प्रश्ने सति समुदायद्वयेन किञ्चिदेकं परमापूर्वं सर्वसमष्टिरूपमङ्गी-क्रियते। इदञ्च परमापूर्वं तदैवोत्पत्तुमर्हम् यदा हि कालद्वयेऽपि प्रधानयागेभ्यः पूर्वं ततः परञ्च क्रियमाणैरङ्गैः प्रधानयागानां साहित्यं सिध्येत्। तत्र पूर्वोत्तराङ्गानि तत्तद्वाक्यैः अन्वाधाना-घारा-ज्यभाग-प्रयाजादीनि, अनूयाज-पत्नीसंयाज-स्विष्टकृदादीनि भूयांसि पृथक्पृथग्विहितानि सन्ति। इमा अङ्गव्यक्तयः प्रधानव्यक्तयश्च यदा सहिता भवेयुः तदैव फलसम्पत्तिः परमापूर्वरूपा प्राप्यते। तच्च परमापूर्वं कालान्तरे स्वर्गादिफलं पुरुषेण संयुनक्ति। तत्रापि पूर्वाङ्गजन्यान्यपूर्वाणि तत्तदुत्पत्त्यपूर्वे उपयुज्यन्ते, उत्ताराङ्गजन्यानि तु तत्तस्थितावुपयुज्यन्ते। एवञ्च पूर्वोत्तराङ्गापूर्वाणि उत्पत्त्यपूर्वाणि समुदायापूर्वे च साहित्यसम्पादकानि। तत्तदपूर्वं स्वीयं कार्यं सम्पाद्य नष्टं भवति। अन्ते तु परमापूर्वं समष्टिरूपं तिष्ठति। अयमेव व्यष्टेः समष्टेश्च सम्बन्धः, अस्यैव विकासरूपं परमापूर्वम्। समष्टिसम्पत्त्यनन्तरं व्यक्तेः पृथगस्तित्वं नास्ति, नापि तस्याः तदा स्वातन्त्र्यम्। किन्तु तस्या वैकल्ये समष्टिरपि विकलैव स्यात्। बह्वीभिदृढाभिरिष्टकाभिः प्रासादो निर्मीयते। निर्माणात्पूर्वं तास्स्वतन्त्रा आसन् निर्माणानन्तरं न तासां पृथक्त्वं स्वातन्त्र्यं वा। किन्तु प्रासादादेकस्यां तस्यां निष्कासितायां प्रासादस्य विकलता निष्कासिताया इष्टकाया अपि विकलता। समष्टिसम्पत्यनन्तरं व्यष्टीनां व्यष्टित्वमपगच्छति। न खलु कोऽपि प्रासादमिष्टकासमूहं व्यवहरति, नापि दर्शपूर्णमासौ प्रयाजाद्यङ्गसमूहत्वेन निर्दिशति। अनुष्ठानावसरे तु-अयं प्रयाजः अयमनूयाज इति व्यवहारः, समष्टित्वसम्पत्यनन्तरं दर्शपूर्णमासावित्येव व्यवहारः। एतेन व्यष्टेरतिरिक्ता समष्टिरिति सिध्यति।

किञ्चाङ्गानां व्यक्तिरूपेणावस्थितानां प्रधानार्थत्वं व्यवस्थितम्, प्रधानस्य च नाङ्गार्थत्वम्, इष्टकाव-स्थायां तासामन्यार्थत्वमेव, अन्यानि च कुड्यगृहादीनि न हीष्टकार्थानि कथ्यन्ते, तद्वत् व्यक्तयः समाजार्था एव, न तु समाजो व्यक्त्यर्थः। समाजनिर्माणं कामं व्यक्तिभिः क्रियते तावता व्यक्तीनां स्वातन्त्र्यं न परिगण्येत। एवं स्थितावापि विना व्यक्तिभिस्समाजस्य न स्वरूपलाभः। अयमस्ति व्यष्टिसमष्ट्योस्सम्बन्धः। अयमेव व्यक्त्याकृति-न्यायः अवयवावयविन्यायः अङ्गाङ्गिन्याय इत्यादिशब्दैः कथ्यते।

विशेषरूपेण दृष्टौ निपात्यमानायामवस्थाभेदेनैव व्यष्टिसमष्टिशब्दौ व्यवहर्तव्यौ भवतः। कदाचित् व्यष्टिरपि समष्टिर्भवितुमर्हति, कदाचिच्च समष्टिरपि व्यष्टिर्भवितुमर्हति। प्रसादरूपेणावस्थिताः समष्टयो यत्रानेका भवेयुः तत्र ग्रामः जनपदः नगरमिति व्यवहारे सति समष्टय एव व्यष्टयो जायन्ते। अनेकेषां मण्डलमिति वा नैकविधानां प्रदेशानां राष्ट्रमिति, तेषाञ्चानेकेषां भुवनमिति भुवनानां भूयसां जगदिति अण्डमिति नैकविधा व्यवहारा भवन्ति। एवमेव व्यष्टिसमष्ट्योः विकासः संसारे जायमानोऽस्ति यमेव वयमवयविनं सङ्गिरा-महे। स एवावस्थान्तरेऽवयवभावमापद्यत इत्यनुभवामः। इयमेव रीतिरङ्गाङ्गिभावस्थलेऽपि मीमांसकैरङ्गी क्रियते।

कथम्भावाकाङ्क्षापूरकत्वेन ये पदार्था अन्वियन्ति तेऽङ्गशब्दवाच्यतां भजन्त इति सामान्यतः स्थितिः। इयञ्च कथमाकङ्क्षा विधिसामान्ये तिष्ठति। स काममङ्गविधिर्वा भवतु प्रधानविधिर्वा। सर्वत्र विधावियमा-काङ्क्षाऽनुगतैव। एवमाकाङ्क्षायां सत्यामपि अङ्गप्रधानयोर्न तुल्यता। दर्शपूर्णमासावुपकार्यौ प्रयाजाश्चोपकार-काः। एवमुपकार्योपकारकसम्बन्धे व्यष्टिसमष्ट्योस्सत्यपि ये प्रयाजा उपकारकत्वेन वर्तन्ते तेऽप्युपकारकपदार्था नपेक्षन्त एव। उपकारकापेक्षी भवत्युपकार्यः। दर्शपूर्णमासयोर्यथोपकार्यत्वं तथैव प्रयाजानामप्युपकार्यत्वमाग-तम्। तथा सति कथमुभयोर्न तुल्यतेति प्रश्नस्यास्त्यवसरः। तथापोत्थमत्र दृष्टिर्विधेया—य उपकार्यस्सन् अन्य-स्योपकारकः कदापि न भवति स प्रधानमिति, यश्चोपकार्योऽपि सन् कदाचिदुपकारकस्सम्पद्यते सोऽङ्गमिति।

अतएव महाप्रकरणम् अवान्तरप्रकरणमिति च विभागश्शास्त्रकारैस्स्वीकृतः। अत एव च यत्रावान्तरप्रकरणमुपकार्योपकारकपदार्थनिर्णायकं स्वीक्रियते न तत्र महाप्रकरणं प्रसरति। एतेनेदं निर्गलितं भवति—यद् यथाङ्गानां समूह एव न यागः, अङ्गोपकृत उपकार्यो यागः तथैव व्यष्टीनां समूह एव न समष्टिः, किन्तु व्यक्तिभिरुपकृतः समाजो नामातिरिक्तः कश्चन पदार्थः। व्यक्तीनां केवलमुपकारकत्वमेव न, किन्त्वभिव्यञ्जकत्वमपि। अभिव्यञ्जकत्वादेव ताः व्यक्तयो भवन्ति। अभिव्यक्तिश्च विलक्षणस्य कस्यचन सर्वानुगतस्य धर्मस्येष्यते। यागोपकारकत्वे सत्यपि प्रयाजेषु न सर्वेषु यागेषु प्रयाजा भवन्त्युपकारकाः, किन्त्वैष्टिकानामेव यागानां त उपकारकाः न सौमिकानाम्, उपाकरणनियोजनादिषु यागोपकारकत्वे विद्यमानेऽपि प्राणिद्रव्यकानामेव यागानां त उपकारकाः, न सौमिकानामैष्टिकानां वा यागानां त उपकारकाः। एवं सौमिकानामप्यङ्गानां वेदितव्यम्। एवञ्चैष्टिकत्वं पाशुकत्वं सौमिकत्वञ्चेति धर्मा ये विलक्षणाः तेषामभिव्यञ्जिका व्यक्तयो भवन्तीति सिध्यति। तदिदं राजसूयेऽनुभवितुं शक्यते। राजसूये बह्व्य इष्टयः अनेके पशवः नैकविधास्सोमयागाश्च सङ्कुश आम्नाताः। इष्टयश्च दर्शपूर्णमासविकाराः, पशवश्चाग्नीषोमीयपशोर्विकाराः, सोमाश्च ज्योतिष्टोमस्य। सर्वेषामेषां त्रिविधानां यागानां प्राधान्यम्। साहित्यमेषां स्वस्वोत्पत्त्यपूर्वद्वारा। अङ्गसाहित्यमपि तत्तदङ्गापूर्वद्वारा। साङ्गैस्तैरुत्पत्त्यपूर्वैः परमापूर्वमेकम्, तेन च स्वाराज्यं फलम्। फलोत्पत्त्यवसरे राजसूयशब्दवाच्यमेकं कर्मेति निगद्यते। अत्र यस्यैवाङ्गस्यैकस्य प्रधानस्य वा न्यूनता वैकृत्यं वोपजायेत तर्हि समष्टिरूपस्यापि राजसूयस्य फलोत्पादकता न स्यादिति शास्त्रमर्यादा। अतो व्यष्ट्यपेक्षया समष्टेरतिरिक्तत्वेऽपि तस्य व्यक्त्यविनाभावकृतमस्वातन्त्र्यं फलजननावसरे स्थास्यत्येव। इमे त्रिविधा अपि यागा भिन्नप्रवृत्तिनिमित्ताः। भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानामपि साहित्यं सम्भवतीत्येतेन सिध्यतीति ज्ञायते। एवञ्चौषधिप्रभवद्रव्यका इष्टयः, प्राणिद्रव्यकाः पशुयागाः, लताद्रव्यकास्सोमयागा इति वैजात्ये सत्यपि तेषां समष्टिः कार्यस्यैकस्य साधनाय समर्थेति सिध्यति।

अत्रायं विषयविवेकः—व्यष्टिरूपेण समारब्धं कार्यं समष्ट्युपकाराय सिद्धं भवति। येन कार्यं समारब्धं तज्जन्यं फलं तस्यैवोपभोगाय कल्पत इति न, किन्त्वन्येषामप्युपभोगाय भवति। किन्तु व्यक्तिविशेषस्य तत्र प्रवृत्तिः अधिकारविशेषप्रयुक्ता समाश्रयणीया भवति। अधिकारेण विना व्यक्तिविशेषस्य कार्यविशेषे प्रवृत्तावङ्गीकृतायां कार्यस्य परिसाधनं साधु न स्यात्। यो नामौषधप्रयोगे किमपि न जानाति स च तत्र नियुज्येत परिणामः कीदृशो भवेदिति न किञ्चिदत्र वक्तव्यमवशिष्यते। यः खलु दण्डं प्रयोक्तुं न वेत्ति तद्धस्तगतं दण्डं परः परिगृह्य दण्डस्वामिनमेव तेन निगृह्णीयात्। अतस्तत्राधिकारोऽप्यपेक्षितः। 'कारीर्या वृष्टिकामो यजेत' इति विधिः वृष्टिकामं पुरुषं तदनुष्ठातुमुपदिशन् तदधिकारिणमुद्दिश्यैव प्रवर्तते। अववर्षणावसरे कामं सर्व एव वृष्टिकामा भवेयुः किन्तु सर्वैस्तत्कर्म नानुष्ठातुं शक्यते। यश्च साग्निको विद्वान् समर्थश्च स एवाधिकरोति नान्यः। एकेन तेन तस्मिन्ननुष्ठितो तदीयकेदारेषु तटाकेष्वेव वृष्टिर्न भवेत्, यदि वृष्टिर्भवति तर्हि सर्वोपकाराय भवेत्। न तत्र व्यक्तेरेवोपयोगः किन्तु समाजस्यापि। एतेनेदं सम्पन्नम्, यदेकैकशः कर्मसु क्रियमाणेष्वपि तत्तत्कर्मजन्यं फलं समष्टेरुपकाराय भवतीति। कर्मणः कर्ता चैकः किन्तु कर्मजन्यफलभोक्तारस्त्वनेके। यदा ह्यनेके सम्भूय यथाधिकारं कर्मानुतिष्ठेयुः 'सप्तदशावराः चतुर्विंशति परमा ऋद्धिकामास्सत्रमासीरन्' इति तर्ह्यनुष्ठातॄणामेव ऋद्धिः फलमिति न, किन्तु तदितरेऽपि ऋद्धिमन्तो भवेयुः। किं बहुना? समग्रो देश एव ऋद्धिमान् स्यात्। एवञ्च समग्रस्य देशस्य राष्ट्रस्य वा ऋद्धिमत्त्वादेव राष्ट्रान्तर्गतानां विभिन्नसमाजानां तदन्तर्गतानाञ्चाभिव्यञ्जकानां व्यक्तीनाञ्च ऋद्धिमत्त्वं सिध्यति। तत्रेदं विशेषरूपेणानुसन्धातव्यं भवति—सम्भूयानेकैः क्रियमाणेषु कर्मसु सत्रात्मकेषु नाम्ना कश्चन गृहपतिरिति सर्वैरैकमत्येन स्वीक्रियते यथाधुना नेतेति। गृहपतिचयनं योग्यतातिशयप्रयुक्तम्। स यादृशस्य फलस्य भोक्ता तादृशस्यैव फलस्य भोक्तारोऽपरेऽपि भवन्ति। किन्तु तैरा-

र्त्विज्यमपि कर्तव्यम् । आर्त्विज्ये क्रियमाणेऽपि तस्मिन् यजमानसंज्ञितस्स भवति । यजमानोऽपि सन् स आर्त्विज्यं कुर्यात् । आर्त्विज्ये च भूयानस्ति भेदः आध्वर्यवम् हौत्रम् औद्गात्रमित्यादिः । इदमपि सर्वसम्मत्या चयनेनैव भवति । चयनावसरे तदीयाधिकारोऽपि समीक्ष्यते । हौत्रे तस्याधिकाराभावे न स होता भवितुमर्हति । योग्यतानुसारेणैव चयनं भवेत् । तत्रापि सम्भूय कर्माणि कुर्वतां समानकल्पत्वमपि पर्यवेक्षणीयं भवति । केचन पश्चावर्तिनो भवेयुः, अपरे च व्यवर्त्तिनः । उभयेषामेषां समवायो नाभीष्टः सत्रयागानुष्ठाने । यथाधुना भिन्नभिन्नसिद्धान्तावलम्बिभिः सम्भूय प्रजातन्त्रचालने क्लेशोऽनुभूयते तथैव विभिन्नकल्पानां समवाये तादृशः क्लेशोऽनिवार्यरस्यात् ।

सामाजिकसमत्वदृष्टौ भारतीयदर्शनेषु मीमांसादर्शनम्

शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः ।
स एव सर्वशास्त्रज्ञो यस्य शान्तं मनस्सदा ॥

इति वैमासिके वचनेऽध्येतॄणां मनांसि प्रथमं समाक्रष्टुमभिलषामि । प्राञ्चस्सुमतयो भवन्त्वास्तिका वा नास्तिकाः, शास्त्रकारा दार्शनिका वा, समेषामेषां तत्तद्दर्शनानां शास्त्राणां वा प्रवर्त्तने प्रवचने च मुख्यमुद्देश्यमिदमेवासीत्—यत् तदध्ययनेन तदर्थावगमेन च सामाजिकानां मनसश्शान्तिः मिथश्च समत्वदृष्टिस्समुदियादिति । भुवि जनिमातस्थुषा मानवेन सर्वेण प्रधानतस्त्रय एव पदार्था भवन्त्यवाप्तव्याः—वैराग्यम्, धर्मज्ञानम्, मनश्शान्तिश्चेति । अतएवोक्तं व्यासाचार्यैः—

यच्छ्रुतं न विरागाय न धर्माय न शान्तये ।
सुबद्धमपि शब्देन काकवाशितमेव तत् ॥ इति ।

तत्र दर्शनेषु पठ्यमानेषु शास्त्रेषु च विचार्यमाणेषु तत्र तत्र क्रियमाणैः खण्डनमण्डनव्यापारैर्नूनं वैराग्यस्य धर्मबुद्धेश्शान्तेर्वाऽवसरो नास्तीति प्रतियेत, मिथः कलहार्थमेव मनः प्रसरेत् तस्यापि, यश्च निखिलशास्त्रतत्त्वाभिज्ञः । तत्र च किं कारणमिति पर्यवेक्षणीयं प्रेक्षावता । विरुद्धगुणकारिषु भोज्यवस्तुषु भुक्तेषु उदरपूरणं नाम भवेदेव, किन्तु तेषां जरणशक्तिरपि समवाप्तव्या । अन्यथा शरीरस्य विकृतिरवश्यम्भाविनी । अस्मिन्नर्थे वैदिकं किञ्चिद्विवक्षामि—

सोमयागे सोमरसभक्षणावसरे कश्चन मन्त्रो विनियुक्तः, यस्य च भक्षानुवाक इति संज्ञा । अयमनुवाकः—**'भक्षे हि मा विश'** इत्यारभ्य **'उपहूतस्योपहूतोऽहं भक्षयामि'** इत्यन्तो वर्त्तते । तत्र मन्त्राणां विनियोगः क्वचिच्छ्रुत्या, क्वचिद्वाक्येन, कुहचित् सामर्थ्येन, क्वचिच्च समाख्ययेति मीमांसकमर्यादा । तदत्र समग्रस्य भक्षानुवाकस्य वाक्येन समाख्यया वा विनियोगे क्रियमाणे भक्षाङ्गत्वमेव सिध्यति, किन्तु वाक्यसमाख्याभ्यां लिङ्गस्य—सामर्थ्यस्य बलवत्त्वेन तत्तदर्थे सामर्थ्यानुसारेण मन्त्रं विभज्य विनियोगः स्वीकृतस्सिद्धान्ते सूक्तवाकन्यायेन ।

अत्र च मन्त्रे सोमपात्रस्य ग्रहणम्, तदवेक्षणम्, तद्भक्षणम्, सम्यग्जरणमित्यादयोऽनेकेऽर्थाः प्रतिपादिताः। तस्मिंस्तस्मिन्नर्थे मन्त्रं विभज्य तमुच्चार्य तत्तत् कार्यं कर्त्तव्यमिति स्थितिः। तत्र 'हिन्व मे गात्रा हरिवो गणान्मे मा वितीतृषः। शिवो मे सप्तर्षीनुपतिष्ठस्व मा मेऽवाङ् नाभिमतिगाः' इति भागस्सम्यग्जरणप्रकाशकः। अतस्सः सम्यग्जरणे विनियुज्यते। सम्यग्जीर्णो हि सोमरसो गात्राणि प्रीणयन् नाभेरधस्तान्न गच्छेत्। अत्यधिकं सोमरसं प्रपीय मन्त्रास्यास्य पठनेन सम्यग्जरणं भवेदिति यः कश्चन निश्चिनुयात् तर्हि सोऽतिसारेण विरेचनेन वमनेन च म्रियेत। सन्दर्भस्यास्येदं तात्पर्यम्—यत्तावदेव भोक्तव्यं यच्च रसरूपेण परिणतं सत् शरीरं पोषयितुं समर्थं स्यात्। शरीरधारणाय खल्वाहारो भवति, न किलाहाराय शरीरम्। यथा सम्यग्जरणपर्यन्तमाहारोपयोगः शरीरधारणाय कल्पते, तथा मनसो बुद्धितत्त्वस्य च परिपोषणाय दार्शनिकैः कल्पित आहारो नैकविधः। तदस्याप्याहारस्य सम्यग्जरणपर्यन्तं सेवनमुचितम्। दार्शनिकतत्त्वरूपस्याहारस्य सम्यग्जरणं नाम स्वजीवदवस्थायां व्यवहारेण सह समायोजनम्। यद्यत् शास्त्रेभ्योऽधिगच्छामः तत्तदनुष्ठातुमेव शास्त्राण्युपदिशन्ति, न तु परोपदेशायैव। **'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि, 'न स्तेयात्, 'न परदारान् गच्छेत्, 'न सुरां पिबेत्'** इत्यादीनि शास्त्राणि नोपदेशायैव प्रवृत्तानि, अपित्वाचरणाय। तनीमानि नाचरामः, केवलमुपदिशामो यदि, को लाभस्तेन जीवनस्य ? बोधस्त्वाचारावसानः खलु भवति, यथाभक्षणं सम्यग्जरणावसानम्।

'शुनि चैव श्वपाके च पण्डितास्समदर्शिनः' इति साधूक्तं पार्थसारथिना। अस्या गीतेर्गानमात्रेण समदर्शित्वं न नाम सिध्येत्। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्येतदुपपादनमात्रेण जगतो मिथ्यात्वं ब्रह्मणश्च सत्यत्वं न खलु सिध्येत्। पदार्थसिद्धिरन्या तदुपपादनं चान्यत्। शून्यं शून्यम्, दुःखं दुःखमिति जपमात्रेण न किल संसारस्य शून्यत्वं दुःखरूपत्वं च अनुभवितुं शक्यते। वावदूकेन केनचन सोपपत्ति वाचा साधितमपि तच्च श्रोतृभिरवगतमपि सर्वमिदं कस्मै प्रयोजनाय कल्पेत ? स्वस्ववाग्विलासप्रदर्शनाय न हि सन्दृब्धानि शास्त्राणि मनीषिभिः। तांस्तान् पदार्थान् सम्यगनुभूय मनीषिणस्ते निरमासत दर्शनानि। सर्वश्च दार्शनिकः स्वस्वप्रतिपाद्यविषयावबोधनाय कण्टकानाकीर्णं शोभनं मसृणं च पन्थानं निर्माय विचरति। मसृणे पथि विचरन् परैरवकीर्यमाणान् गमनोपरोधकान् उपलान् कण्टकांश्च दूरीकुर्वन् गच्छति। एवं क्षुण्णे पथि परांश्च सामाजिकान् गमयितुमिच्छति। सर्वेषां दार्शनिकानामियमेव सरणिः।

तत्र सर्वेषां दार्शनिकानां मार्गे भिन्नेऽपि कूटत्रय इमे समावेशयितुं शक्यन्ते, कामं ते भवन्तु विरुद्धसिद्धान्तावलम्बिनः—नैरात्म्यदर्शनम्, ऐकात्म्यदर्शनम्, नानात्मदर्शनं चेति। समाजे समत्वबुद्धिप्रसाराय नैरात्म्यदर्शनमेव परमं साधनमिति केचन जगृहुः। अहङ्कारममकारयोः प्रहाणं नैरात्म्यदर्शनस्य मूलम्।

'यतस्ततो वाऽस्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन।
अहमेव न किञ्चिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति'॥

आत्मग्रहो नाम बलीयान् मोहः तन्निवृत्तावात्मीयग्रहोऽपि विनङ्क्ष्यति। यदा अहमेव नास्मि तदा किं मम ? इत्युपदिशन्तो नैरात्म्यवाद एव निर्वाणाय श्रेयानिति प्रसाधयन्ति। साधुरेवायमुपदेशः, महाफलश्चायमुपदेशप्रकारः। अहङ्कारेण ममकारेण च ग्रस्तो मानवः शरीरमेव अहङ्कारममकारयोराश्रय इति मन्यमानः कथमिव निर्वाणमवाप्नुयात् ? किन्त्विदमत्र पर्यालोचनीयम्—यद् 'नास्मि', 'नास्ति' इति प्रसाधयतां तेषां प्रतियोग्यनुयोगिनोः, अभावस्य चावस्तुत्वमभिप्रेतम्। संसाराख्ये महति प्रासादेऽनुयोगिनि स्वस्य परेषां च प्रतियोगिनामभावस्य चावस्तुत्वे सर्वं शून्यमिति पर्यवस्यति। एतादृशीमवस्थां प्रतिपन्नस्य महात्मनः सामाजिकेषु समत्वदृष्टेः क्वावसरः ? तादृशो महात्मा सामाजिकाश्च शून्याः। समत्वदृष्टिः कस्य ? कुत्र च प्रसरेत् ? व्यवहारदशायां सा समानेया, तदैव तद्दर्शनस्योपयोगः।

व्यवहारेऽसन्त एव पदार्थाः ख्यायन्त इत्युपदिशन् उपदेष्टा जगत् सर्वं शून्यमिति स्वयमपि शून्यमिति च ज्ञानवान् भवेत्। आत्मग्रहरूपमोहनिवृत्तौ सत्यामात्मीयग्रहनिवृत्तिरिति तेषां पन्थाः। इम आत्मग्रहरूप-मोहकलुषिताः, तस्मान्मोहादिम उन्मोचनीया इति प्रवृत्तिमत उपदेष्टुः—'अहमुपदिशामि' इत्यात्मग्रहः, इमानुपदिशामि' इति चात्मीयग्रहोऽनुवर्त्तमान एव स्यात्। अतः सतोरेव तयोरात्मात्मीयग्रहयोर्निवृत्तिरेष्टव्या। विद्यमानस्यैव खलु पदार्थस्य निवृत्तिरुचिता। ततश्च व्यवहारे पदार्थानां विद्यमानता सिध्येत्। सा च विद्य-मानता संवृतिरूपाऽभिप्रेयते। संवृतिश्च मिथ्यापरपर्याया। तेन स्वस्य परेषां च मिथ्यासत्यत्वं सिध्यति। उपदेश्यानामुपदेष्टुश्च मिथ्यात्वे सामाजिकेषु समत्वभावना कथमुदेतु? वचने परं मधुरिमा—'अहमेव नास्मि किं मम?' 'अहमेव न किञ्चिच्चेत् भयं कस्य भविष्यति?' इत्यादौ। मधुरिम्न आस्वाद आवश्यकः, तस्य च परिपाकोऽपि। तदेदं दर्शनं सामाजिकसमत्वदृष्टौ महदुपकारकं स्यात्।

रागद्वेषादीनां भञ्जनाय भवभयत्राणाय सामाजिकेषु समत्वदृष्टिनिक्षेपणाय च नैरात्म्यवादः किमिति समाश्रयणीयः? तदर्थं ब्रह्मात्म्यैक्यवाद एव वरीयान् इति द्वितीयं मतम्। मत्तो यद्यन्यः कश्चन अभविष्यत् तर्हि तेन सह रागद्वेषादिः, तस्माच्च भयमभविष्यताम्। 'यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमि, तत एवास्य भयं वीयाय, कस्माद्धि अभैष्यत् द्वितीयाद्वै भयं भवति' इत्यादि प्रमाणैः ब्रह्मात्मैकत्वभावनायां परिपाकमापन्नायां रागद्वेषा-देर्भयाच्च मोचनं पारमार्थिकदशायाम्। पूर्वस्मिन् मते शून्यं शून्यमिति दुःखं दुःखमित्याद्युपदेशः पौरुषेयः, अस्मिंश्च मते ब्रह्मात्म्यैक्योपदेशोऽपौरुषेयः। पूर्वस्मिन् मते सर्वं शून्यम्, अस्मिंश्च मते परतत्त्वमेकं सत्, अन्यत् सर्वं मिथ्या। व्यवहारदशायां संवृतिसत्यत्वं जगतः पूर्वमते, अस्मिंश्च मते जगतो ब्रह्मविवर्त्तरूपत्वमिति भूयान् प्रभेद उभयोः। तत्र ब्रह्मामैकत्वभावनायाः परिपाकोऽतिकृच्छ्रेण सम्पादनीयो भवति। तदर्थं व्यावहारिकदशायां जगतो मिथ्यात्वं 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इत्याद्युपनिषद्वाक्यानामावृत्तिमात्रेण न किञ्चित् प्रयोजनम्। शाब्द-बोधे ब्रह्मणः सत्यत्वं जगतश्च मिथ्यात्वमिति ज्ञानमवश्यं जायेत, किन्तु न तदवगतम्। अनवगतमेव तद् वयं छात्रान् सामाजिकांश्च ग्राहयामः, अवगते च तस्मिन् न छात्रा भवेयुः, नाऽपि सामाजिकाः। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** इति दशायां प्रपञ्चः क्व आस्ताम्। अतश्च व्यवहारदशायां भट्टमतावलम्बनेन जगतो बीजाङ्कुरन्यायेन सत्यत्वं स्वीकृत्य गन्तव्यं भवति। तदा समाजे समत्वदृष्टिं प्रसारयितुमस्त्यवसरोऽस्मिन् मते। साधूक्तं दीक्षितैः—

'त्यक्तव्यो ममकारस्त्यक्तुं यदि शक्यते नासौ।
कर्त्तव्यो ममकारः किन्तु स सर्वत्र कर्त्तव्यः' ॥ इति।

अस्मिन् मते वर्णाश्रमधर्मपरिपालनं नियतम्, तथाऽपि न समाजे मिथो वैषम्यबुद्धेः प्रसरः। यथाधिकारं यथामर्यादं च स्वं स्वं कर्म समाचरन् मानवस्सर्वोऽपि सम एव भवति, न विषमः। अधिकारस्य मर्यादायाश्च अतिक्रमण एव वैषम्यबुद्धेस्समुद्भवः। **'लोकवत् परिमाणतः फलविशेषः स्यात्'** इति जैमिनीय-न्यायेन विना मर्यादाभङ्गं, विना चाधिकारातिक्रमणम्, स्वे स्वे कर्मणि वर्त्तमानः सर्वोऽपि सम एव। समत्व-बुद्धिप्रसाराय मृगपतिपदेऽलर्कोऽपि वेषभूषादिना सुसज्जितः समारोपयितुं शक्यते, किन्त्विदं पर्यवेक्षणीयम्—कस्तस्य परिणाम इति। साधूक्तम्—

आबद्धकृत्रिमसटाजटिलांसभित्ति—
रारोपितो मृगपतेः पदवीं यदि श्वा।
मत्तेभकुम्भतटपाटनलम्पटस्य
नादं करिष्यति कथं हरिणाधिपस्य ॥ इति।

भिन्नेषु सत्सु तेषामेकत्वसम्पादनेनैव समाजे समत्वबुद्धिः प्रसरेत्। भिन्नानामिष्टकानां दृढ़तरया स्नुह्या संयोजनेनैव एका भित्तिः सम्पाद्यते, भिन्नानामेव सूत्राणामोतप्रोततया संवयनेन एकं सुन्दरं वासो निर्मीयत इति यथा। शून्यतादर्शनं वैकात्म्यावगमकं दर्शनं वा नैतदुपदिशेत्—यत् प्रतिलोमविवाहेन, असुर-राक्षसोद्वाहेन, मन्दिरेष्वनधिकारिणां पूजकत्वनियोजनेन, शिखायाः सूत्रस्य च कर्त्तनेन लोकेषु समत्वबुद्धिर्भवे-दिति। सम्प्रति कति नाम न सन्ति विशाखा विविधशिखा वा? किं तेषु समत्वं परिलक्ष्यते? विजातीय विवाह एव समाजे समत्वाधानप्रयोजक इति काममाधुनिकानां दर्शनम्, किन्तु चिरन्तनानां यादृशं दर्शनं न तथा खल्वमीषां दर्शनम्।

समाजे मिथो लोकानां समत्वबुद्ध्युत्पत्तये चतुष्पदां व्यवहारो मानवैः शिक्षणीयः। मर्यादामुल्लङ्घ्य न कोऽपि चतुष्पात् योनिसम्बन्धमाचरेत्। पशवस्तु योनिमाघ्राय तस्या विजातीयत्वे सजातीयत्वेऽप्यनुपयुक्तत्वे विहाय तं पशुमुपसरन्तीति प्रत्यक्षं विलोकयामः। प्रकृतिसिद्धं नियममनुसरन्ति यथायथं मृगाः। नियमोल्लङ्घने ते बिभ्यतीव प्रतिभान्ति। पशुभ्योऽपि किं वयं निकृष्टाः स्मः? समत्वबुद्ध्याधानाय विजातीययोनिसम्बन्धं बलात्कारयामः, पुरस्कारप्रदानेन च तान् प्रोत्साहयामः। एवं करणेन कः परिणाम इति न विभावयामः। किमेवं सञ्जातानामपत्यानां मिथो व्यवहारे वैषम्यं नानुभवामः? तत्रापि किं रागद्वेषादयो न परिलक्ष्यन्ते? कामं भवन्तु सजातीयाः, किं तेषु समत्वदृष्टिरनुभूयते? समत्वदृष्टिस्तु भावनाबलजा भवति। तत्र नेमे वर्णाश्रम-धर्माः प्रतिबन्धमाचरेयुः। एतादृशीं भावनामुपदिशन्ति भारतीयदर्शनानि। नैरात्म्यदर्शनमपि रागद्वेषाद्युत्सादना-यैव प्राधान्येन प्रवृत्तम्, न तु जात्यादीनामप्युत्सादनायेत्येष्टव्यम्। ब्रह्मात्म्यैक्यदर्शनकार्यमपि तदेव, वर्णाश्रमधर्म-परिपालनपुरस्सरं रागद्वेषाद्युत्सादनद्वारा सर्वत्र समत्वदृष्टिमाधातुं प्रवृत्तम्।

अपराणि च दर्शनानि नानात्मप्रतिपादकानि सन्ति तृतीयकोटौ निविशन्ते। द्वितीयसत्त्वेऽपि नियन्तुः परमेश्वरस्य तृतीयस्य सत्त्वात्, तत्पारतन्त्र्यस्यैव निरुपाधिकस्य सोपाधिकस्य वा समुपदिष्टत्वात्, सर्वात्मनां समानाकारत्वेन वैषम्याभावात्, वैषम्यहेतूनां सत्त्वेऽपि तेषामौपाधिकत्वात्, रागद्वेषादीनामनवकाश इत्युपदिशन्ति तानि। अत एव नियन्त्रतेक्षया द्वितीयस्य स्वतन्त्रस्याभावात्, नैव भयस्य विषमतायाश्च अवकाशः।

अस्मिन्नपि मते वर्णाश्रमधर्मपरिपालनं नाम मुख्यः प्रणवः। यावान् यावान् वर्णाश्रमधर्माणामुच्छेदः, तावनेव रागद्वेषादिः प्रधूमितो वैषम्यप्रयोजकः स्यादिति प्रत्यक्षमीक्षामहे। वेदानां रामायणस्य रामचरित-मानसस्य मनुस्मृतेरन्येषां च पुराणानां ग्रन्थजातानि छिद्यन्ताम्, भिद्यन्ताम्, मृत्तिकातैलसंयोगेन दह्यन्ताम्, वैषम्यपिशाचिका तु मुक्तकेशा नृत्येदेव देशे। समाजकल्याणायैव चिरन्तनैर्नैकविधानि दर्शनानि प्रणीतानि, देशगौरवसंरक्षकाणीमानि, बुद्धिशक्तेः प्रवर्द्धकानि, चिन्तनाशक्तिसमेधकानि, देशभक्तिप्ररोचकानि, स्वस्वमर्यादा-नुल्लङ्घनेन नित्यनैमित्तिकस्मार्त्तश्रौतकर्मणामुच्चावचानां नियमेनानुष्ठातृभ्यः श्रेयः प्रेयः फलप्रदानि।

भारतीयदर्शनानि पुरुषाभिलषितावाप्तये यं यं पन्थानं परिकल्प्य तत्र गन्तुं प्रचोदयन्ति, तत्रेति-कर्त्तव्यतापूरकाणि पूर्वोक्तदहनच्छेदनभेदनकर्मभूतान्यनल्पानि ग्रन्थजातानि। हैयङ्गवीनं सर्वस्मा एव रोचेत, किन्तु तदवाप्तये उच्चावचानि कर्माणि भवन्ति कर्त्तव्यानि। तदिदं मानवेन ज्ञातव्यम्। गां दुग्ध्वा, पयः सन्तप्य, तदनुष्णाशीतं विधाय, दध्नातच्य पिधाय, परेद्युस्सम्पन्नं दधि मन्थानेन निर्मथ्य, सम्भूतं नवनीतं निष्कास्य, तत् सेवनीयमिति भवतीतिकर्त्तव्यता। विनेतिकर्त्तव्यतया न खलु प्रधानमात्रेण फलसिद्धिर्विलोक्यते। इति-कर्त्तव्यताः परित्यज्य केवलं दर्शनैरुपदिष्टं साधनं कथं फलमुत्पादयेत्? येषां मते फलं साध्यं भवति तैस्साधनेन सहेतिकर्त्तव्यताप्यपेक्ष्यते। येषां वा मते फलं स्वतस्सिद्धं न साध्यम्, ते तत्प्रतिबन्धकनिवृत्तये साधनेतिकर्त्तव्यता

अपेक्षन्त एव। शून्यं शून्यमिति भावनां बोधयत् शून्यतादर्शनं नूनं महाफलम्, एकमात्मानं परतत्त्वं विभाव्य समताबोधकं दर्शनं कामं महते फलाय कल्पते, सत्स्वपि नानात्मसु स्वतन्त्रेश्वरपारतन्त्र्योपदेशकं तत्तद्दर्शनमवश्यं फलविशेषसम्पादकम्, किन्तु सर्वत्रेतिकर्त्तव्यताया नान्तरीयकतेत्यत्र न कश्चन संशयलेशः। इतिकर्त्तव्यतैव भारतीया संस्कृतिः। स्वयं शौचाचारविहीनः, पललाशी, मद्यपः, अपि च शून्यं शून्यमिति विभावनं श्रेयस्करम्—

सदा जपपटे हस्तो मध्ये-मध्येऽक्षिमीलनम्।
सर्वं ब्रह्मेति वादश्च सद्यः प्रत्ययहेतवः॥

इति रीत्या छलेन, **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** इत्यात्मैक्यानुसन्धानं शान्तिप्रदमिति चोपदिशेत्, तदा वक्तारः किं न वदेयुः? कथं वास्य वचसि श्रद्धीरन्? श्रद्दधाना अपि अशुच्यानाचारेभ्यः कथं निवर्तेरन्? उपदेष्टा नूनमेवं नोपदिशेत्—यदशुच्यानाचारेण वर्तितव्यम् इत्यादि, किन्तु उपदेष्टुर्वर्त्तनं निशाम्य स्वयमेवोपदेश्यस्तथा यदि वर्त्तेत, तदा नाधिकार उपदेष्टुः—यदात्मानमनुवर्त्तमानं तं दुष्कर्मभ्यो निवर्त्तयितुम्। अतः स्वस्वाभिलषितावाप्तये शास्त्रकृद्भिर्या या इतिकर्त्तव्यता उपदिष्टास्तास्सर्वैरेवाचरणीयाः। तदैव शून्यस्य वा ऐकात्म्यस्य वा ईश्वरपारतन्त्र्यस्य वा विभावनं समाजे समत्वदृष्ट्याधायकं स्यात्।

अत्र च मीमांसकानां सरणिरत्युत्तमेति मे प्रतिभाति। मीमांसा हि विना पक्षपातेन परीक्षणव्यापारवती। सत्यामपि कारणस्य फलजनकत्वशक्तौ तदितिकर्त्तव्यतामपेक्षेतैव। न ह्येतेनेतिकर्त्तव्यता करणगतशक्त्यपघातिनी परिगण्यते, नाऽपि करणगतसाधकतमत्वापकर्षाधायिका। साधूक्तं भट्टपादैः—

यत् साधकतमत्वेन कस्यचित् किञ्चिदुच्यते।
तस्य ह्यनुग्रहापेक्षा न स्वशक्तिविघातिनी॥
न हि तत् कारणं लोके वेदे वा किञ्चिदीरितम्।
इतिकर्त्तव्यतासाध्ये यस्य नानुग्रहेऽर्थिता॥ इति।

मीमांसाशास्त्रं च न्यायनिबन्धनरूपम्, बहुविद्यान्तराश्रितं च

मीमांसाख्या तु विद्येयं बहुविद्यान्तराश्रिता।

इति भट्टपादाः।

मीमांसासंज्ञकस्तर्कस्सर्वो वेदसमुद्भवः।
सोऽतो वेदो रुमाप्राप्तकाष्ठादिलवणात्मवत्॥

पूजितविचारवचनो हि मीमांसाशब्दः। अयुक्तप्रतिषेधेन युक्ताभ्यनुज्ञानं तर्कः। प्रमाणेतिकर्त्तव्यतात्वेन च प्रमाणाद्वेदादभेद उक्तः, सोऽतो वेद इति तात्पर्यटीकावचनेभ्यः कियानभिनिवेशोऽस्मिन् शास्त्रे तात्पर्यटीकाकाराणामिति नाप्रत्यक्षमिदं समेषाम्।

इतिकर्त्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति।

इति च वचनम् सर्वदर्शनेतिकर्त्तव्यतापूरकत्वमस्य शास्त्रस्यावगम्यते। यदा हि समग्रस्य संस्कृतवाङ्मयस्य वेदमूलकत्वमभिमतं भट्टपादानां तदा तैस्तैः शास्त्रैः प्रतिपिपादयिषितानामितिकर्त्तव्यतापूरकत्वे मीमांसाशास्त्रस्य कस्सन्देहः? सकलस्य संस्कृतवाङ्मयस्य वेदमूलकत्वप्रसाधनप्रसङ्गे भट्टपादा लिखन्ति—

"याश्चैताः प्रधानपुरुषेश्वर परमाणुकारणादिप्रक्रियाः सृष्टिप्रलयादिरूपेण प्रतीतास्ताः सर्वा मन्त्रार्थवादज्ञानादेव दृश्यमानसूक्ष्मस्थूलद्रव्यप्रकृतिविकारभावदर्शनेन च द्रष्टव्याः। प्रयोजनं च स्वर्गयागाद्युत्पाद्योत्पादकविभागज्ञानम्। सर्गप्रलयोपवर्णनमपि दैवपुरुषकारप्रभावप्रविभागदर्शनार्थम्—सर्वत्र हि तद्बलेन प्रवर्त्तते तदुपरमे चोपरमतीति। विज्ञानमात्रक्षणभङ्ग नैरात्म्यादिवादानामप्युपनिषदर्थवादप्रभवत्वं विषयेष्वात्यन्तिकं रागं निवर्त्तयितुमित्युपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम्। सर्वत्र च यत्र कालान्तरफलत्वादिदानीमनुभवासम्भवस्तत्र श्रुतिमूलता। सान्दृष्टिकफले तु वृश्चिकविद्यादौ पुरुषान्तरे व्यवहारदर्शनादेव प्रामाण्यमिति विवेकसिद्धिः" इति तन्त्रवार्त्तिके।

सन्दर्भेणानेनेदं निर्गलति—यद् भट्टपादास्तैस्तैर्दार्शनिकैस्साधु विविच्य प्रतिपादितान् पदार्थान् परिशीलयन्तोऽयुक्तप्रतिषेधयुक्ताभ्यनुज्ञानरूपतर्केण खण्डयन्तो मण्डयन्तश्च सर्वेषु दर्शनेषु समत्वबुद्धिमावहन्तः प्रशंसाधिकरणसिद्धन्यायेन जगत्तत्त्वपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवान् विरुद्धसिद्धान्तावलम्बिनस्सर्वानेव दार्शनिकधुरन्धरान् एकेन सूत्रेण प्रबध्य निनीषन्तीति।

प्रकृतमनुसरामः—नैकविधास्वितिकर्त्तव्यतासु विचारोऽप्यन्तर्भूतः। स च प्राचीनग्रन्थपरामर्शमुखेनैव सिंहावलोकनन्यायेन कर्त्तव्यः। केवलमुपदेशेन तद्व्याख्यानेन वा नार्थो निश्चेतव्यः। तदिदमुक्तं वाक्यपदीये द्वितीयखण्डे—

प्रज्ञा विवेकं लभते विभिन्नागमदर्शनैः।
कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वयत्नमनुधावता॥
तत्तदुत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना।
अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति॥ इति।

एवं विचारस्येतिकर्त्तव्यतात्वे स्वीकृते, तत्र विचारात्मकं मीमांसाशास्त्रं कनिष्ठिकामूलपातमनुभवति। विचारस्तु न खण्डनमण्डनरूपोऽभिप्रेयते, अपि तु समन्वयदृष्ट्या परिशीलनम्। तदिदं मीमांसकैरवलम्बितम्।

स्मृतिप्रामाण्यव्यवस्थाप्रसङ्गे दृष्टार्थानां कर्मणां दृष्टार्थत्वादेव प्रामाण्यम्, अदृष्टार्थानां च वेदमूलकत्वेन इत्यभ्युपगच्छतां भाष्यकाराणां श्रीशबरस्वामिनां मतपरिशीलनावसरे भट्टपादा अभिप्रयन्ति—यद् दृष्टार्थकर्मसु नियमविध्यङ्गीकारेण तेषामप्यदृष्टार्थत्वं वेदमूलकत्वं चेति। यथा—'गुरुरनुगन्तव्यः' 'अभिवादयितव्यश्च' 'वृद्धवयाः प्रत्युत्थेयः सम्मन्तव्यश्च' इत्यादयः सन्ति स्मृतयः। गुरोरनुगमनम्, गुरावागते प्रत्युत्थानम्, अभिवादनम्, गुरावुपविष्टे तदनुज्ञयोपवेशनमन्तेवासिनाम्, उत्थिते गुरावुत्थानम् इत्यादीनर्थानुपदिशन्तीमाः स्मृतयः। एतान् नियमान् यथायथं परिपालयतोऽन्तेवासिनो गुरुः प्रीतमनास्सम्यगध्यापयिष्यति ग्रन्थग्रन्थिभेदिनो न्यायांश्च तेभ्यः परिवक्ष्यति इत्यस्ति दृष्टं प्रयोजनम्। तेनैवासां स्मृतीनां प्रामाण्यमिति भाष्यकाराणामाशये स्थितेऽदृष्टार्थत्वमप्यासां स्वीकर्त्तव्यम्।

धर्मं प्रति यतोऽत्रेदं प्रामाण्यं प्रस्तुतं स्मृतेः।
तस्मात् कृष्यादिवत्तेषामुपन्यासो न युज्यते॥

सूत्रकारोऽपि जैमिनिः षष्ठद्वितीयदशमाधिकरणे, 'आचाराद् गृह्यमाणेषु तथा स्यात् पुरुषार्थत्वात्' इति सूत्रयन्, यावन्ति निमित्तानि तावन्ति नैमित्तिकान्यावर्त्तनीयानि, अर्थादागत आगते निमित्ते तान्यनुगमनप्रत्युत्थानादीन्यनुष्ठेयानीत्युपदिशति। अनेनेदं सिध्यति—यन्नैमित्तिकानामकरणे प्रत्यवायः, करणे च फलाभावः, तस्य चादृष्टे पर्यवसानमिति। दृष्टार्थानामपि कर्मणां धर्मबुद्ध्यानुष्ठानमिति तात्पर्यं भट्टपादानाम्।

तत्र समाजे मिथो लोकानां समत्वदर्शनमपि कर्म दृष्टार्थम्। इममर्थं काचन स्मृतिरुपदिशति— **'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'** इति। 'आत्मदर्शनम्' इत्यस्य 'आत्मनो दर्शनम्', 'आत्मवद्दर्शनम्' इति द्वेधार्थः। **'आत्मवत् सर्वभूतानि यः पश्यति स पश्यति'** इति स्मृत्या, स्वतुल्यतया परेषां दर्शनं कर्म धर्माय भवतीत्यागतम्। आत्मनो दर्शने योगोऽन्यः, आत्मवद्दर्शने च स भिन्नः। एवं दर्शनं समत्वदृष्टौ पर्यवस्यति।

सर्वत्र समत्वदृष्टिनिक्षेपो धर्मः स चानुष्ठेयः। अनुष्ठानं च यथाधिकारं यथामर्यादं च भवेदिति शास्त्रसम्मतः पन्थाः। तमिमं पन्थानं प्रदर्शयन्ती मीमांसा तत्र सामाजिकान् विविधवर्णाश्रमधर्मैः प्रविभक्तान् यथायथमेकीकृत्य विरुद्धसिद्धान्तावलम्बिनो दार्शनिकान् भट्टपादा इव निनीषतीत्यलमतिविस्तरेण।

भट्टप्रभाकरयोर्मतभेदः

उपोद्घातः

पवित्रतमेऽस्माकं भारते देशे जायमानो वै जनुष्मान् किमिदं जगत्तत्वम्? कस्मादिदं प्रावर्तिष्ट? किञ्चाऽत्र पारमार्थिकम्? इति जिज्ञासमानस्तत्त्वमिदं यथावदवबोद्धुं प्रमाणानि गवेषयते। तत्र सत्स्वपि बहुषु प्रमाणेषु पुरुषदोषलेशासंस्पृष्टा, सर्वज्ञकल्पा, विविधविधिकलापविलसिता, अर्थवादाद्युपबृंहिता च भगवती श्रुतिरेव त्रयीवेदाम्नायाद्यपरनामधेया, अनितरसाधारणं स्वोत्कर्षं प्रकटयन्ती प्रमाणान्वेषणप्रवृत्तानां कनिष्ठिकामूलपातमनुभवतीति निर्विचिकित्समभ्युपगन्तव्यमस्माभिः। इयं किल भगवती श्रुतिरन्तर्वत्नीवाऽन्तर्निहितविज्ञाननिचया जेगीयतेऽस्मिन् भूमण्डले। भारतीयस्य सकलकलाकलापस्याऽपि भगवतीमिमामेव किल मूलं मन्यन्ते विमर्शकाः प्राज्ञाः।

अत एवाऽज्ञातेदम्प्रथमताकात्कस्माच्चिदपि कालादारभ्याऽद्यावधि गुरुमुखादेव वेदाध्ययनसम्प्रदायोऽविच्छिन्नस्सम्प्रवर्तत इति डिण्डिमवादो मीमांसकानां सङ्गच्छते। अद्यत्वेऽपि वयमवलोकयामः—यत् गुरुमुखादेवाऽधीत्य वेदमधिगच्छन्तीति। अयमेव च पन्था अस्मत्प्राक्तनैरप्यनुसृत इति नैव दुश्शकमनुमातुम्। वेदमनुत्सृज्य प्रवृत्ते पुराणप्रभृतिकेऽनल्पे प्रबन्धजाते न कुत्रापि पश्यामः—अमुं वेदममुकः पुरुषश्चकारेति वचनम्। पौरुषेयत्वमस्य प्रसाधयितुं प्रवृत्ता अपि कतिचन तीर्थकारा अन्ततोगत्वा ईश्वरकर्तृकत्वमेव प्रतिपद्यन्ते। अयमेव ह्यंशः प्रमाणीभवति सुबहोः कालात्पूर्वमपि न कश्चित्कर्तृत्वेन मनसाऽपि स्मृत इत्यस्मिन्विषये। विमृश्य विलोड्याऽन्ततो निर्णीय वेदे सञ्जातसमाधकगौरवाः लौकानुग्रहैकधिषणा अस्मत्प्राञ्चस्सुमतयः, मा भूत् यथाश्रुतग्राहिणां कुपथे प्रवृत्तिरिति मन्यमानाः—

> **सत्यं सत्यं पुनस्सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते।**
> **वेदशास्त्रात्परं नाऽस्ति न दैवं शङ्करात्परम्॥**

इति भुजमुद्धृत्य भेदप्रामाण्ये प्रतिज्ञामपि कुर्वते। इत्थमस्य वेदस्याऽपौरुषेयत्वेऽपवादानर्हे च प्रमाण्ये स्वीकृते स यस्मिन्विषये यमेव मार्गमादिशति स एवाऽऽर्याणां नियमेनाऽनुसर्तव्य आसीत्। इहाऽमुष्मिन्वा लोके तद्यथा कर्तव्यमिति ब्रवीति, तत्तथा ते सुसाधं दुस्साधं वा सर्वमन्वतिष्ठन्।

तत्र नियतकर्तव्येषु वेदविहितेषु कर्मसु सर्वादिभूतमिदम्—स्वाध्यायाध्ययनं नाम। तेनैकैकेन द्विजन्मना वैदिकं पन्थानमातस्थुषा यथाविधि नियमेन वेदोऽध्येतव्य आसीत्। यो नाम नाऽध्यैष्ट, स 'अनधीयाना व्रात्या भवन्ती'ति व्रात्योऽमन्यत। अत एव सर्वज्ञकल्पो मनुरपि ब्रवीति—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ इति।

यो नाम नाऽधीते त्रयीम्, तस्य वाचोऽपि दुर्जातताममवबोधयितुं काचिदृगेव प्रवृत्ता—

यस्तित्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागोऽस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्॥ इति।

न केवलमक्षरग्रहणरूपमध्ययनं फलाय कल्पते, अपि त्वर्थोऽपि तस्य सम्यक् ज्ञातव्य इति विध्यन्तरमाह—

स्थाणुरयं भारहारः किलाऽभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते स नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥ इति।

अत एव द्विजन्मनां सर्वेषामपि वेदतदर्थज्ञाने प्रवृत्तिरुदेति स्म। न केवलं विधिरस्मान् प्रवर्तयतीति, किन्तु कामपि विद्यां विना निखिलमेव जगच्छून्यं भवेदिति मन्वानाः प्राचीना आर्याः भृशं श्रद्धानाः किञ्चिदप्यन्यथाभावो मा प्रसाङ्क्षीदिति जागरूका यथावद्वेदमधिगत्य तदर्थं सम्यक् परिज्ञाय यथोक्तं सर्वमन्वतिष्ठन्।

अथ परिवर्तनशीले संसारचक्रे क्रमेण मनुष्या अपि बलेन श्रद्धया मत्या आयुषा भक्त्यादिभिश्च दुर्विदधत इत्यवलोक्य सुमेधसस्तदानीन्तनाः प्राज्ञा वेदाधिगमसम्प्रदायस्य विच्छित्तिमाशङ्कमानास्तल्लक्षणग्रन्थान् प्रवर्तयामासुः। अनन्तरं शिक्षा, व्याकरणं छन्दोविचितिश्चेति शब्दव्यवस्थोपयोगिनस्त्रयस्सन्दर्भाः वर्णं तत्समुदायं पदं तत्समुदायं वृत्तमपि विस्पष्टमवबोध्य वैदिकीमानुपूर्वीमनपायं परिरक्षितुं प्रावर्तन्त। तथाऽर्थव्यवस्थोपयोगिनो निरुक्तं ज्योतिषं कल्प इति त्रयस्सन्दर्भाः प्रवृत्ताः। तदिमानि वेदस्य षडङ्गानि इत्यभिधीयन्ते। एतावताऽप्यपरितुष्टमानसाः प्राक्तना अन्यान्यपि विद्यास्थानानि प्रवर्तयामासुः पुराणन्यायविस्तरधर्मशास्त्रमीमांसाख्यानि।

तत्रेतरविद्यास्थानैस्सम्भवत्यपि कार्यनिर्वाहे तानि वाक्यार्थनिर्णये व्यापर्तुं नैव क्षमन्ते, यतश्च कतिचन वेदवाक्यानि मिथो विरुद्धार्थानीव, कतिचन बाधितार्थानीव, कानिचनार्थशून्यानीव प्रतिभान्ति। अजस्रं शास्त्रान्तरपरिशीलनपरिपक्वमतिवैभवोऽपि स्थलेष्वेतादृशेषु बलात्सन्देहं नीयते। कथमेष सन्देहोऽपनीयताम्? नाऽत्र शब्दार्थव्यवस्थोपयोगिनां व्याकरणकल्पादीनां प्रसरो भवितुमर्हति। तानि हि वर्णपदपदार्थेष्वेव लब्धप्रसराणि, न तु वाक्यार्थप्रतिपत्तौ। अतो हेतोः प्रवृत्तं न्यायनिबन्धनात्मकं तत्तादृशं मीमांसाशास्त्रं यस्मिंश्च शास्त्रे चोदनालक्षणस्य तत्तदर्थवादप्रकाशितप्राशस्त्यविलसस्य श्रुत्यादिसम्पादितसकलाङ्गपुङ्खितस्य स्वप्रमाणानुगुणस्मृतीतिहासपुराणाभियुक्तसूक्तिसन्दर्भकृतोपबृंहणस्य विधिनिषेधविकल्पसमुच्चयोत्सर्गापवादबाधाभ्युच्चयादिमतो निखिलपुरुषार्थरत्नाकरस्य परमप्रबोधसाधनस्य भगवतो धर्मस्य तत्वतो निर्णयः प्रतिपादितः। अत एवैतत्सर्वत्र वाक्यशास्त्रमिति प्रथते। अस्य चाध्ययनेन निर्विचिकित्सो वेदवाक्यार्थश्शक्यस्सम्प्रतिपत्तुमिति न वक्तव्यं मीमांसावासनावासितान्तःकरणानामन्येषाञ्च।

शास्त्रावतारः—अस्य च मूलप्रवर्तको महर्षिर्जैमिनिः। महर्षिरयं त्रयस्त्रिंशदलौकिकानि[1] प्रमाणान्युपादाय द्वादशभिरध्यायैर्धर्मविचारात्मकं मीमांसाशास्त्रं सूत्रात्मना जग्रन्थ। केचन जैमिनिप्रणीतमध्यायचतुष्टयात्मकं सङ्कर्षकाण्डमपि सङ्कलय्य शास्त्रमिदं षोडशलक्षणीत्यभिदधति। पूर्वोत्तरमीमांसयोरैक्यं मन्वाना अपरे विंशतिलक्षणीत्यभिप्रयन्ति। तत्र धर्मविचारात्मकशास्त्रस्य द्वादशलक्षणीत्येव प्रसिद्धिः। शास्त्रेऽस्मिन् उपसहस्रमधिकरणानि वर्तन्ते। प्रत्यधिकरणमेकैकस्य वेदवाक्यस्यार्थनिर्णयाय प्रवृत्तम्।

कोऽयं जैमिनिः—अथ कोऽयं जैमिनिरिति विचारः प्राप्तावसरः। वायुविष्ण्वादिपुराणानि पाराशर्यस्य व्यासस्य जैमिनिश्शिष्य इत्यवबोधयन्ति। श्रीमद्भागवते च द्वादशस्कन्धे षष्ठेऽध्याये पाराशर्यो व्यासः वेदं चतुर्धा विभज्य एकैकमेकैकस्मै स्वशिष्याय प्रदाय छन्दोगसंहिताप्रदानेन जैमिनिमन्वग्रहीदिति प्रतिपाद्यते। तत्रैव प्रदेशान्तरे **'ततो हिरण्यनाभोऽभूत् योगाचार्यस्य जैमिने'** रित्यनेन जैमिनिर्योगाचार्य इति वर्णितमस्ति।

कविकुलतिलकः कालिदासोऽपि रघुवंशेऽष्टादशसर्गे त्रयस्त्रिंशत्तमे श्लोके पुत्राख्यस्सूर्यवंशजो राजा कश्चन मुमुक्षुः ब्रह्मविद्याविदुषो जैमिनेश्शिष्यो भूत्वा मुक्तिं सम्प्राप्त इति ब्रवीति।

प्रपञ्चहृदये च तलवकारशाखाप्रयुक्तं सामवेदीयं कल्पसूत्रं चतुरशीतिपटलैः जैमिनिना प्रवर्तित'मिति सामवेदीयकल्पसूत्रप्रवर्तकत्वेन जैमिनिरभिहितः।

पार्थसारथिमिश्रा अपि **"क्रियानन्तर्यरूपो वा गुरुपर्वक्रमोऽपि वे"**ति वार्तिकव्याख्यानावसरे **'ब्रह्मा प्रजापतये मीमांसां प्रोवाच, सोऽपीन्द्राय, सोऽप्यादित्याय, स च वशिष्ठाय, सोऽपि पराशराय, पराशरः कृष्णद्वैपायनाय, सोऽपि जैमिनये, सोऽपि स्वोपदेशान्तरमिमं न्यायं ग्रन्थे निबद्धवानि'**ति गुरुपर्वक्रमोपन्यासद्वारा कृष्णद्वैपायनशिष्यत्वेन जैमिनिं प्रत्यपादयन्। कृष्णद्वैपायनो व्यासश्चैक एवेति सम्प्रदायः।

किञ्च 'सोऽयं प्राजापत्यो विधिः तमिमं प्रजापतिर्बृहस्पतये प्रोवाच, बृहस्पतिर्नारदाय, नारदो विष्वक्सेनाय, विश्वक्सेनो व्यासाय पाराशर्याय, व्यासः पाराशर्यो जैमिनये, जैमिनिः पौष्पिकाण्ड्याय पाराशर्यायणाय, पाराशर्यायणो बादरायणाये'ति सामविधानब्राह्मणे च पर्यालोच्यमाने पराशरसुतो व्यासः जैमिनेर्गुरुः, जैमिनिर्बादरायणस्येति चाऽवगम्यते। अत एव केचनेतिहासमर्मज्ञाः द्वौ बादरायणौ त्रयो जैमिनय इत्यभिप्रयन्ति। तत्राऽपि वेदान्तसूत्रकर्तुर्बादरायणस्य पूर्वतन एव भवितुमर्हति पूर्वमीमांसासूत्रकर्ता जैमिनिरिति प्रतिपादयन्ति। भवतु यथा तथा वा व्यासशिष्यो जैमिनिरेव मीमांसासूत्रप्रणेतेति सम्प्रदायगतः पन्थाः।

मीमांसासूत्रवृत्तयः—अमीषां जैमिनीयानां मीमांसासूत्राणां कृतकोटिनामधेयं भाष्यं भगवता बौधयनाचार्येण प्रथमं विरचितमिति प्रपञ्चहृदयादवगम्यते। परन्तु तदद्ययावदनुपलम्भदोषदूषितम्। तदेतदतिविस्तृतमिति पाणिनिगुरोर्वर्षस्याऽनुजेनोपवर्षेणाऽपि संक्षिप्ता वृत्तिः काचन विरचितेति तत्र तत्रोपलभ्यते। इयमपि नामावशेषितेव। एनमेवोपवर्षं वृत्तिकारं मन्यन्ते बहवः। पण्डितसमाजेऽप्येवमेव प्रवादः। परन्तु शाबरभाष्यपर्या-

---

१. धर्मप्रमाणानि—विध्यर्थवादमन्त्र नामधेयस्मृतिशिष्टाचारसामर्थ्यंवाल्यशेषरूपाणि अष्टौ।
शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञागुणप्रकरणान्तराणि षट्।
अङ्गताबोधकानि प्रमाणानि—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यारूपाणि षट्।
क्रमबोधकानि प्रमाणानि—श्रुत्यर्थपाठस्थानमुख्यप्रवृत्याख्यानि षट्।
अतिदेशप्रमाणानि—वचननामलिङ्गानि त्रीणि, ऊहप्राणं स्थानापत्तिरेकम्।
बाधप्रमाणानि—प्रत्याम्नानप्रतिषेधार्थलोपरूपाणि त्रीणि, आहत्य त्रयस्त्रिंशदलौकिकानि प्रमाणानि सिध्यन्ति।

लोचनेनोपवर्षादन्य एव वृत्तिकार इति केचनाऽऽशेरते—शाबरभाष्ये हि भाष्यकाराः एकत्र 'इति तु भगवानुपवर्षः' इति भगवच्छन्दप्रयोगेणोपवर्षे निरतिशयं बहुमानं प्रकटयन्ति। अपरत्र 'वृत्तिकारस्तु—**अन्यथेमं वर्णयाञ्चकारे**'ति निरुपपदवृत्तिकारशब्दप्रयोगेण वृत्तिकारे तादृशं बहुमानं न प्रदर्शयन्ति। उपवर्षे भगवद्बुद्धिमातन्वानानां श्रीशाबरस्वामिनां उपवर्ष एव वृत्तिकार इत्यभिमतोऽभविष्यत्, तर्हि **'वृत्तिकारस्तु'** इति नैवाऽवक्ष्यत्। अत उपवर्षो वृत्तिकाराद्भिन्न एव भवितुमर्हति। अत एव कुमारिलपादैः श्लोकवार्तिके प्रथमाधिकरणे त्रयस्त्रिंशत्तमे श्लोके कीर्त्यमानो भवदास एव वृत्तिकार इति।

मम तु प्रतिभाति—वृत्तिकार एवोपवर्ष इति। तर्कपादे श्रीशबरस्वामिनः तृतीयचतुर्थपञ्चमसूत्राणि स्वमतेन व्याख्याय 'वृत्तिकारस्तु अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार 'तस्य निमित्तपरिष्टिरि' त्येवमादिम् इत्यादिना **'तस्माच्चोदना लक्षण एव धर्मः, नाऽन्य लक्षणः। बादरायणग्रहणमुक्तम्'** इत्यन्तेन ग्रन्थजातेन वृत्तिकारमतरीत्याऽपि तानि सूत्राणि व्याचचक्षिरे। तत्र तन्मतरीत्या औत्पत्तिकसूत्रव्याख्यानावसरे परस्परं पृथग्भूतयोस्स्वतोऽसम्बद्धयोश्शब्दार्थयोस्संज्ञासंज्ञिलक्षणस्सम्बन्धः रज्जुपटयोस्संयोग इव पुरुषकृत एवैष्टव्य इति तद्द्वारा वेदे पुरुषानुप्रवेशसम्भवाच्चोदना न धर्मे प्रमाणमित्याशङ्क्य, तन्निराकरणाय प्रथमं सम्बन्धाधारभूतं शब्दस्वरूपमेव कीदृशमिति निरूपयितुकामा भाष्यकाराः 'अथ गौरित्यत्र कश्शब्दः' इत्यादिना प्रश्नमुपक्रम्य 'गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः' इत्यादिना वृद्धसम्मतिप्रदर्शनपूर्वकं गकारादिवर्णा एव शब्दस्वरूपमित्युपसमाहार्षुः। यदत्र वृत्तिकारमतप्रदर्शनावसरे भगवानुपवर्ष इति कथनं वृत्तिकार एवोपवर्ष इत्यवद्योतयति। एवं **'विशये प्रायदर्शनात्'** (जै० सू० २.३.१६) इत्यत्राधिकरणविषयवाक्य एव सन्दिहाना भाष्यकाराः 'वृत्तिकारवचनात्प्रतिज्ञां संशयञ्चाऽवगच्छामः। अत्र भगवानाचार्य इदमुदाहृत्य—**'वत्समालभेत वत्सनिकान्ता हि पशवः'** इतीमं संशयमुपन्यस्यति स्म, इत्यादिना ग्रन्थेन वृत्तिकारमेव भगवच्छब्दप्रयोगेण निर्दिशन्ति। अतश्च भाष्यपर्यालोचनेनापि वृत्तिकारादभिन्न एवोपवर्ष इति प्रतीयते। एवञ्च बौधायनविरचितं भाष्यमेकम्, उपवर्षविरचिता वृत्तिरपरा, भवदासकृता च वृत्तिरन्येति ग्रन्थत्रयं शाबरभाष्यत्पूर्वं आसीदित्यवगम्यते।

शाबरं भाष्यम्—अमीषामनुपलभ्यमानग्रन्थकर्तॄणामनन्तरं तत्रभवतां श्रीशबरस्वामिनां स्थानम्। य इमेऽद्यत्वे जगति विद्यमानस्य मीमांसासूत्रव्याख्यानप्रबन्धराशेस्समग्रस्य शिरसि वर्तमानं भाष्यं प्राणैषुः। तदिदं भाष्यं सुप्रसन्नमप्यतिगभीरं अनितरसाधारण्या शय्यया उपपादनसरण्या चाऽनन्यसुलभयाऽतिशेत एव भाष्यान्तराणीत्यत्र नाऽस्ति विशयलेशः। भाष्यस्यास्य सरणिं सर्वात्मनाऽनुकुर्वन्तः श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाः 'धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वे' ति शबरस्वामिभिर्भाषितमेव भाष्यं धर्मपदपरित्यागेन ब्रह्मपदं संयोज्य 'ब्रह्म प्रसिद्धं वा स्यादप्रसिद्धं वे' ति स्वीये भाष्ये भगवत्पादा बहुत्र शाबरीमेव वचोभङ्गिममुसस्रुरिति विदितचरमेव भाष्यद्वयमनुशीलयताम्। 'शास्त्रतात्पर्यविदामनुक्रमणमि' त्येवमुपक्षिपन्त इमे श्रीशबरस्वामिनामुपरि विद्यमानं स्वीयं निरतिशयं बहुमानमाविष्कुर्वन्तीति मन्यामहे।

भाष्यानन्तरं मतत्रैधम्—एवन्तावद्भाष्यकारपर्यन्तं विना मतवैषम्यमेकरूपैव प्रवृत्तेयं भगवती मीमांसा, ततस्त्रिपथगेव मार्गत्रयसञ्चारिणी बभूव। तत्र प्रथमो मार्गो मीमांसा निकेतनस्य प्रधानस्तम्भभूतैः श्रीकुमारिलभट्टैः प्रवर्तितः, द्वितीयः प्राभाकरमिश्रैः, तृतीयश्च मुरारिमिश्रैः। मतत्रयमपीदं शाबरं भाष्यमेवाऽवलम्ब्य प्रवृत्तम्।

कुमारिलभट्टैः शाबरभाष्यव्याख्यानरूपैव ग्रन्थत्रयी व्यरचि। तर्कपादाख्यप्रथमपादस्य श्लोकवार्तिकम्, द्वितीयपादप्रभृति आ तृतीयाध्यायं तन्त्रवार्तिकम्, तत आसमाप्ति टुप्टीकेति च प्रथितं ग्रन्थत्रयमपि।

इमामेव च ग्रन्थत्रयीमवलम्ब्य भाट्टमतनिरूपकाः परश्शता ग्रन्थाश्शास्त्रदीपिकातौताततिमततिलकादयः प्रावर्तिषत। भाट्टमतस्यैव 'तौतातितमतं' मित्यपि नाम। प्रभाकरोऽपि शाबरभाष्यमेवावलम्ब्य तट्टीकात्वेन बृहतीमररचत्। तच्छिष्यो मिश्रशालिकनाथो बृहतीव्याख्यां ऋजुविमलाम्, तद्व्याख्यां भवनाथो नयविवेकम्, तद्व्याख्यां च वरदराजो नयविवेकदीपिकाञ्च व्यातेनुः। विवरणकारः निबन्धनकारश्चेति नामद्वयं तत्र तत्र ग्रन्थेषूपलभ्यते। काविमाविति पर्यालोच्यमाने केचनैवमभिप्रयन्ति—'क्रमश्च तदतिरिक्तः। न ह्येष प्रयोगो विधेर्विधेयः अननुष्ठेयत्वात्। अशब्दार्थत्वात् क्रमवद्व्यतिरेकेणेदन्तयाऽनिरूपणात्' (विधि, पृ० ४१३, पं० १) इति विधिविवेकव्याख्यानावसरे सर्वतन्त्रस्वतन्त्रा वाचस्पतिमिश्राः न्यायकणिकायां 'तत्र विवरणकृतो हेतुमाह—अननुष्ठेयत्वात्' 'निबन्धनकृतो हेतुमाह—अशब्दार्थत्वात्' इति भेदेन विवरणनिबन्धनकृतौ व्यपदिशन्ति।

एवमेव 'तस्मात्सर्व एव तार्तीयः पाञ्चमिकश्च क्रमो न विधेयः—इति विवरणकारः। निबन्धकारस्त्वाह—भवतु तार्तीयक्रमस्य संख्यायाश्चैकादशादिकाया अभिधानसम्भवात् ग्रहणेन विध्यैदमर्थ्ये सति विध्याक्षिप्तानुष्ठानतया विधेयत्वम्, न त्वेवं पाञ्चमिकस्य क्रमस्य सम्भवति। न हि तस्य किञ्चिदभिधानमस्ती'ति (न्यायरत्नमाला, पृ० १४८) पार्थसारथिमिश्रा अपि भेदेनैव तौ निर्दिशन्ति।

एवं शालिकनाथोऽपि प्रकरणपञ्चिकायां 'विवरणकारा ह्याधानविषयमपि नियोगान्तरमिच्छन्ति' (प्र० पं० पृ० १८८) 'यस्तु वषट्कर्तुः प्रथमभक्ष इति प्रथमशब्दाभिधेयः क्रमः, स हि विनियोज्यो विधेयश्चेति निबन्धकारः' (प्र० पं० पृ० २२०, पं० ११) इति भेदेन तावुल्लिखति। एतावता प्रबन्धजातेन विवरणकारः निबन्धनकारश्च भिन्नाविति सुस्पष्टं प्रतीयते। यदि चेमौ भिन्नौ न स्तः, तर्हि 'एकस्यैव तार्तीयः पाञ्चमिकश्च क्रमो न विधेयः, तार्तीयो विधेयः पाञ्चमिकश्च न विधेयः' इति कथनं विरुद्धं स्यात्।

किञ्च शालिकनाथस्य साक्षाद्गुरुः प्रभाकर इति सम्प्रदायः। प्रभाकरेण बृहती विरचितेति नाऽस्ति संशीतिः। बृहत्या एव विवरणमित्यपि नाम। अत्र च प्रमाणमुत्तरत्र निरूपयिष्यते अतश्च शालिकनाथः स्वाचार्यनाम 'विवरणकारा····इच्छन्ती'ति बहुवचनान्तेन निर्दिशति। निबन्धकारन्तु 'स हि विनियोज्यो विधेयश्चेति निबन्धनकारः' इत्येकवचनान्तेन निर्दिशतीति सङ्गच्छते। अन्यथा क्वचिच्छालिकनाथः स्वगुरावादरतां, क्वचिच्च निदारतां प्रकटयतीति विप्रतिषिद्धं स्यात्। अतो विवरणकारान्निबन्धनकारो भिन्न एवेति।

अत्रेदं वक्तुमभिलषामि—अस्मत्परमाचार्याः म० म० पं० कुप्पुस्वामिशास्त्रिपादाः निबन्धनं बृहत्यास्संज्ञेति वदतां म० म० पं० गङ्गानाथ झा महोदयानां मतं निराकुर्वाणाः 'Further light on the Prabhakara-Problem' इति शीर्षके लेखे (४७७ पृष्ठे) एवं प्रतिपादयन्ति—'यत् प्रभाकरविरचितबृहत्याः द्वितीयाध्यायद्वितीयपादान्ते इति प्रभाकरमिश्रकृतौ मीमांसाभाष्यविवरणे' इति लिखितमुपलभ्यते। अतो विवरणमित्येव बृहत्या नाम। अस्या एव व्याख्या मिश्रशालिकनाथेन विरचिता ऋजुविमलेति। निबन्धनं तु ग्रन्थान्तरं शाबरभाष्यव्याख्यारूपं प्रभाकरेणैव विरचितम्। अस्याऽपि व्याख्या दीपशिखेति शालिकनाथेनैव विरचिता। अत्र च प्रमाणम् 'प्रभाकरप्रस्थानं तु—भाष्यस्य प्रभाकरकृतं व्याख्यानद्वयम्। एकं विवरणं षट्सहस्ररूपं, अपरं निबन्धनसंज्ञकं द्वादशसहस्रं, विवरणस्य ऋजुविमला, निबन्धनस्य दीपशिखा, टीकाद्वयं शालिकनाथकृतं प्रकरणं शालिकनाम' (Sarvadars'anakaumudi, manuskribt, Page 22) इति सर्वदर्शनकौमुदीस्थं वाक्यमेव। अतश्च निबन्धनं बृहतीति वदतां मतं न युक्तियुक्तमिति। अत्र सर्वदर्शनकौमुदीस्थ—पङ्क्तिभिः स्पष्टमवगम्यते—विवरणकारः निबन्धनकारश्चैक एवेति। किञ्च न्यायरत्नमालाव्याख्याने नायकरत्ने 'विवरणं नाम प्रथमं गुरुणा

प्रणीता लघ्वीति तत्सम्प्रदायः। निबन्धनं नाम पश्चाद्गुरुणैव प्रणीता बृहट्टीके'ति (नायकर, पृ० २५३) वाक्यमुपलभ्यते। एवं मीमांसकमूर्धन्यैरप्पय्यदीक्षितेन्द्रैर्विरचिते कल्पतरुपरिमले 'इत्थं गुरुणा निबन्धने व्याख्यातम्' (पृ० ११६) इति वाक्यं दृश्यते। इदं च प्रमाणद्वयमस्मदाचार्यचरणैःप्रदत्तम्। आभ्यामपि प्रमाणाभ्यां निबन्धनकारः विवरणकारश्चैक एव, ग्रन्थस्तु भिन्न इत्यवगन्तुं शक्यत इत्यलं विमर्शनेन। प्रकृतमनुसरामः—मिश्रशालिकनाथेनैव कृता प्रकरणपञ्चिका गुरुमतावलम्बिनी तदीयानां पदार्थानां करबदरवत्सुनिपुणमुपपादिका अतिगभीरया पण्डितमनोरञ्जिन्या शैल्या समलङ्कृता विभूषयति विदुषां मनांसि श्रवांसि च। एवं शाबरभाष्यव्याख्यानमप्येकमतिसंक्षेपेणाऽनेनैव कृतमित्यपि श्रूयते। प्रभाकरविजय इति ग्रन्थो नन्दीश्वरेण विरचितस्समुपलभ्यते। अनेनाऽपि ग्रन्थेन काश्चन प्रभाकरसिद्धान्तोक्तयस्सम्यगवन्तुं शक्यन्ते।

यथा च भाट्टसम्प्रदायस्सर्वत्र देशे प्रसृतः पठनपाठनसोपानमत्युन्नतमारूढः न तथा प्रभाकरसम्प्रदायः। यद्यपीदं मतं न तथा प्रसृतम्, तथाऽपि प्रमाणकोटिमतितरामारूढं सर्वैस्तीर्थकारैरादृतमित्यवगम्यते, यतो नैयायिकादयस्स्वपदार्थनिरूपणावसरे प्रायेण मतमेतदेव खण्डनार्थं मण्डनार्थमेव वा मीमांसकमतत्वेन परिगृह्णते। अभिमन्वते च लेशतः खण्डनेन खण्डनाभासेन वा कृतार्थमात्मानम्, मण्डनेन वा मण्डितम्।

तृतीयं तु मतं मुरारिमिश्रोपज्ञम्। तच्च कुत्र कदा वाऽऽसीत्, कं ग्रन्थमवलम्ब्य प्रवृत्तम्, के के ग्रन्थास्तन्मते प्रणीताः, के के उपलभ्यन्त इत्यादिषु विषयेषु मूकीभवनमेवाऽस्माकं शरणम्। परन्तु नितरां प्रमोदस्थानमस्माकं यदिदानीं मुरारिमिश्रविरचितः 'त्रिपादनीतिनयनम्' इति ग्रन्थो मद्रप्रान्ते मुद्रितो विलसतीति। कर्णपरम्परायामेवाऽवतिष्ठते स्म तन्मतम्। क्वचिक्वचिद्ग्रन्थेषु 'मिश्रास्तु' इति खण्डनार्थमुपाददते ग्रन्थकाराः। पण्डितकुलतिलकैः गागाभट्टापरनामधेयैः श्रीविश्वेश्वरसूरिभिः स्वीये भाट्टचिन्तामणौ 'गुरोरथ कुमारिलस्य मुरविद्विषोऽपि श्रमक्रमः' इत्यादिना सूचना परं कृता तन्मतास्तित्वे, न तदुपरि किञ्चिदप्यभिहितम्। यदा च भट्टप्रभाकरयोरुभयोरपि मतं नितान्तं प्रासरज्जगति, तदा तत्र सौहित्यमलभमानो मिश्रमुरारिः वैयात्यात् तृतीयं मतं किञ्चिदुपजानाति स्म। तच्च मतद्वयापेक्षया नितरां विलक्षणमासीत्। अत एव 'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः' इत्यपि तदानीन्तना जनाः कथयाम्बभूवुः। काव्यमात्रज्ञास्तदिदमनर्घराघवकर्तुर्मुरारेर्विषये प्रवृत्तं मन्यमानाः किमपेक्षया तस्य तृतीयः पन्था इति तदुपलम्भाय सुबहु परिश्राम्यन्ति। किञ्च मीमांसकसम्मते स्वतःप्रामाण्यविषये गुरुकुमारिलाभ्यामन्यादृशं प्रकारमाह मुरारिमिश्र इति कुसुमाञ्जलिव्याख्याने प्रकाशे गङ्गेशोपाध्यायपुत्रो वर्धमानो वक्ति। एतद्विहाय नाऽन्यत्किञ्चिन्मुरारिमिश्रमतं तद्ग्रन्थं वा प्रति विज्ञायते।

भाट्टमतस्य प्रचाराधिक्यम्—एवं मतत्रये प्रवृत्तेऽपि भाट्टस्यैव मतस्य महान् प्रचारः ततोऽल्पीयान् प्रभाकरस्य, आत्यन्तिकोऽभावो मुरारिमिश्रमतस्येत्येतत्सर्वविदितमेव। किमत्र निदानं भवितुमर्हतीति परमिदानीं विचारणीयम्। तत्र यद्यपि प्रभाकरो मतिमान् विषयोपपादनचातुरीपरिपूर्णः, प्रतिवादिवाङ्मुद्रणालङ्कर्मीणः, स्वमतोद्घाटनपटुः, तथाऽपि अप्रतिहतवैभवां अकुतोभयाम्, अतिनिपुणं विषयोपपादनवैखरीभरितां हेलयैव परपक्षनिरसनपाटवसमुल्लसिताम्, अतिकठिनानपि विषयान् हृदयङ्गमयैव वाचा विवरणेऽतिपटीयसीं सर्वङ्कषां नाऽतिशेते स्म कौमारिलीं शक्तिमिति जानन्त्येव तद्ग्रन्थपरिश्रमिणः। प्रायेण वयमवलोकयामः—लोके सर्वेष्वपि शास्त्रेषु यद्येको ग्रन्थः तच्छास्त्रीयान् ग्रन्थान् सर्वानपि अतिशयीत तेनाऽन्ये ग्रन्थास्तत्पूर्वकालिकाः पाश्चात्या वाऽवश्यमभिभूयन्त इति। अनेनैव न्यायेन पूर्वकालिक्याऽपि कौमारिलशक्त्या अपरकालिक्यपि प्राभाकरी शक्तिः प्रतिहतेत्यनुमातुं शक्यते।

अपरमपि कारणमिदमभ्यूहितुं शक्यते—यत् कुमारिलानन्तरकालिकाः श्रीमन्तो भगवच्छङ्कराचार्यपादाः स्वीयेषु भाष्येषु सर्वत्र स्वशास्त्रमात्रसाधारणान्विषयान् मुक्त्वा व्यावहारिकेषु विषयेषु भाट्टमेव मतमवलम्बन्ते स्म। अत एवाऽद्वैतिनां व्यवहारः—'व्यवहारे भट्टनयः' इति। एवञ्चाऽद्वैताचार्येण स्वीये शास्त्रव्यवहारे भट्टमतस्याऽऽदृतत्वात् तदानीन्तना जना आचार्यपादमत एवाऽतितरामाविर्भूतश्रद्धास्तत्परिचयार्थं यदा समारभन्त तद्ग्रन्थानध्येतुं, तदा तत्रत्याः पदार्थाः प्रायशः पूर्वतन्त्रसिद्धा इति तज्ज्ञानार्थं पूर्वतन्त्राधिजिगांसा समजनि तेषां एवं ये परतन्त्रापेक्षिणः, ते प्रायेण पूर्वतन्त्रे सुनिपुणमधीतिनोऽप्यभूवन् इत्यनयैव दिशा प्रासरत् भाट्टसम्प्रदायो जगति।

भट्टप्रभाकरयोर्मतभेदोपक्रमः—अथेदानीं मतयोरनयोः शास्त्रप्रतिपाद्यविषये प्रमाणप्रमेयेषु च परस्परं मतवैलक्षण्यं प्रतिपादयितुं लेखनीं व्यापारयामः—तत्र प्राभाकरं मतं यथावत्सङ्ग्रहीतुं साधनसम्पत्तिर्मे लघीयसी, यतश्च तन्मतानुसारिणो ग्रन्था जगति लुप्तप्रायाः। सन्तोऽपि पञ्चषास्ते मुद्रणपथाद्दवीयांसः। एकस्तावद्बृहतीसंज्ञको निबन्धः प्रभाकरविरचितस्तर्कपादान्तं ऋजुविमलया साकमस्मत्पूज्यपादैः प्रकाशितश्चकास्ति। अपरश्च प्रकरणपञ्चिकाभिधो निबन्धः काश्यां चौखम्बामुद्रणालय एव मुद्रितो वर्वर्ति। मुद्रितेऽप्यस्मिन् प्रमेयपारायणं लुप्तमेव दरीदृश्यते। अन्यश्च प्रभाकरविजयाख्यो नन्दीश्वरप्रणीतस्समुपलभ्यते ग्रन्थः। निबन्धत्रमपीदमवलम्ब्य यथामति प्रभाकरमतं सङ्ग्रहेण प्रदर्शयितुं यतिष्ये। तत्र प्रथमतो भाट्टमते तत्तदध्यायप्रतिपाद्यो विषयः कः? कानि प्रमाणानि? तेषां प्रमेयस्वरूपञ्च कीदृशम्? इति सर्वमिदं निरूप्याऽनन्तरं प्रभाकरमतेऽन्यथाङ्गीकृतं पदार्थजातं प्रदर्शयिष्ये। अन्ते च मतयोरनयोः द्वित्रस्थलेषु अधिकरणभेदप्रदर्शकपट्टिकाञ्च निवेशयिष्ये।

भट्टमतानुरोधेन प्रथमाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—सर्वज्ञकल्पो महर्षिजैमिनिस्त्रयस्त्रिंशदलौकिकानि धर्मप्रमाणान्युपादाय द्वादशभिरध्यायैर्धर्मविचारात्मकं मीमांसाशास्त्रं सूत्रात्मना जग्रन्थेति प्रागवदम्। तत्र **'अथातो धर्मजिज्ञासे'**ति प्रथमसूत्रेण प्रमाणस्वरूपसाधनफलैर्धर्मस्य विचारं प्रतिज्ञाय प्रथमाध्याये तस्मिन् प्रमाणं निरूपितम्। तत्र प्रथमपादे साक्षाद् धर्मे प्रमाणभूतायाश्चोदनायाः पौरुषेयत्वाद्यप्रामाण्यहेतुशङ्कानिराकरणपूर्वकं प्रामाण्यमुपपादितम्। द्वितीयेऽर्थवादानां विध्यपेक्षितप्राशस्त्यसमर्थकतया, मन्त्राणां कर्मणामनुष्ठेयार्थस्मृतिसमर्पकतया च, तृतीयपादे मन्वाद्याप्तप्रणीतवेदाविरुद्धस्मृत्यादीनां मूलवेदानुमापकतया, चतुर्थपादे तु **'अग्निहोत्रं जुहोति' 'चित्रया यजेत पशुकामः'** इत्यादिविधिवाक्यगतानामग्निहोत्रादिपदानां नाम्ना कर्मभेदः नाम्ना फलोपबन्धः, नाम्ना गुणोपबन्धः नाम्ना धर्मातिदेशः इत्यादि प्रयोजनवत्या कर्मनामतया च प्रामाण्यं प्रतिपादितम्। एवं सामर्थ्यस्य वाक्यशेषस्य च धर्मे प्रामाण्यं साधितम्।

द्वितीयाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवं प्रमाणसिद्धस्य धर्मस्य परस्परभिन्नं स्वरूपं द्वितीयाध्याये निरूपितम्। तत्र यजति ददाति जुहोतिचोदनासु यज्यादिधातुभेदरूपेण शब्दान्तरेण यागदानहोमानां भेदः, **'समिधो यजति, तनूनपातं यजति'** इत्येवमादिविधिषु यजतीति पञ्चकृत्वोऽभ्यासेनाऽविशेषपुनः श्रुतिरूपेण प्रयाजानां भेदः, **'सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभत'** इत्यत्र द्रव्यदेवता सम्बन्धभेदिन्या सप्तदशसंख्यया तदनुमेययागानां भेदः, **'अथैष ज्योतिरथैष विश्वज्योतिः अथैष सर्वज्योति'** रित्यादिवाक्येषु ज्योतिरादिनामधेयैस्तन्नामकयागानां प्रकृतज्योतिष्टोमाद्भेदः, **'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनमि'** त्यत्राऽऽमिक्षारूपगुणावरुद्धे यागे निवेशमलभमानेन वाजिनगुणेन वाजिनयागस्याऽऽमिक्षायागाद्भेदः, प्रकरणान्तरेण नित्याग्निहोत्रान्मासाग्निहोत्रस्य भेद इत्येवं द्वितीयाध्याये कर्मभेदस्सापवादः प्रपञ्चितः।

तृतीयाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—भिन्नानां कर्मणां श्रुतिलिङ्गादिभिः प्रमाणैः शेषशेषिभावस्तृतीये निरूपितः। भिन्नानां ह्यङ्गाङ्गिभावस्सम्भवति, नाऽभिन्नानामिति भेदाध्यायानन्तरमस्य प्रवृत्तिः। अत्र च

कश्शेषः ? इति तत्स्वरूपम्, केन हेतुना शेष इति शेषशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थान-समाख्यारूपाणि विनियोगे प्रमाणानि, तेषाञ्च विरोधे बलाबलम्, विरोधश्च क्वाऽस्ति क्व च नास्तीत्यादि बहुधा चिन्तनं प्रवर्तते। अत्र सन्त्यष्टौ पादाः। तत्र शेषस्वरूपम्, शेषपदप्रवृत्तिनिमित्तम्, प्रमाणेषु श्रुतिश्चेत्येते प्रथमपादविषयाः। लिङ्गरूपं प्रमाणं द्वितीयस्य। अनन्तरपादे त्वन्यानि चत्वारि प्रमाणानि, एषां विरोधे बलाबलञ्च निरूप्य विरोधसदसद्भावविचारोऽपि प्रक्रान्तः। अयमेव च विचारोऽध्यायसमाप्तिं यावदनुवर्तते। तत्रापि तुरीयं पञ्चमञ्चातिक्रम्य षष्ठस्य पादस्य षष्ठाधिकरणपर्यन्तं प्रकरणस्य तत्पूर्वप्रमाणैस्सह विरोधाविरोध-चिन्तनम्। तदनन्तरन्तु प्रकरणानन्तरप्रमाणस्य स्थानस्य तत्पूर्वप्रमाणैस्साकं विरोधाविरोधचिन्तनं चतुर्भिरे-धिकरणैः। ततः परं प्रासङ्गिकी प्रकरणवाक्यविरोधाविरोधचिन्ता यावत्सप्तमपादसप्तमाधिकरणम्। अष्टमप्रभृति तु समाख्यायाः पूर्वप्रमाणैर्विरोधचिन्तनमिति शेषशेषिभावस्सापवादस्तृतीयाध्याये प्रपञ्चितः।

चतुर्थाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवं सिद्धशेषशेषिभावनां कर्मणामनुष्ठापनशक्तिरूपा प्रयुक्तिश्चतुर्थे चिन्तिता। शेष्येव शेषं प्रयुङ्क्ते स्वविध्यर्थमनुष्ठापयति, न त्वनुनिष्पाद्यपि। नाऽपि शेषः शेषिणं प्रयुङ्क्ते। यथा 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षे' त्यादिवाक्ये विधीयमानस्य दध्यानयनस्य द्विकर्मकस्य कर्मान्तरा-काङ्क्षायां समभिव्याहृतं पयः कर्मान्तिरत्वेनाऽभिधीयमानं सप्तम्या अधिकरणत्वेन निर्देशात्प्रधानकर्मतया पर्यवस्यतीति प्रकृतप्रधानभूतपयःपरामर्शिना तत्पदेन सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टतया पयोरूपत्वेनाऽवगतामिक्षैव शेषित्वात्स्वशेषभूतं दध्यानयनमनुष्ठापयति, न तु तदनुनिष्पाद्यपि। 'पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपती' त्यत्र पुरोडाशप्रयुक्तस्यैव कपालस्य तुषोपवापं प्रत्यपि शेषत्वेन विनियोगात् यत्र पुरोडाशो नास्ति न तत्र तुषोपवापार्थं कपालप्रयुक्तिरित्येवं सापवादा प्रयुक्तिश्चतुर्थाध्याये प्रपञ्चिता।

पञ्चमाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—सिद्धे प्रयोज्यप्रयोजकभावे एकप्रयोगान्तर्गतानामङ्गप्रधाना नामनुष्ठानक्रमः श्रुत्यादिभिः पञ्चमाध्याये निरूपितः। तत्र 'अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्राह्मणं दीक्षयति' इत्यादिश्रुत्या गृहपत्यादीनामुन्नेत्रन्तानां सप्तदशानां सत्रयजमानानां दीक्षाक्रमः, 'अग्निहोत्रं जुहोति यवागूं पचती' त्यत्र होमद्रव्यनिष्पत्त्यर्थयवागूपाकस्य प्रयोजनरूपेण अर्थेन पाकहोमयोः क्रमः, 'समिधो यजति, तनूनपातं यजती' त्यादिविधिविहितानां प्रयाजानां विधिवाक्यपाठक्रमेण क्रमः, वाजपेये प्राजापत्यानां पशूनां प्रतिपश्वावर्तनी-योपाकरणादिषु उपाकरणे यतः कुतश्चित्पशोरारभ्य यत्र क्वचित्समापिते तेनैव प्रवृत्तिक्रमेण नियोजनादिक्रमः, साद्यस्क्रे क्रतौ 'सह पशूनालभेते' ति श्रुत्या सवनीयस्थान एवाग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्यपशुत्रयस्यापि सह कर्तव्यतया प्राप्तौ सवनीयस्थानेन प्रथमं सवनीयपशोरुपाकरणं अनन्तरमग्नीषोमानुबन्ध्ययोरिति क्रमः, दर्शे पुरोडाशसान्नाय्ययोर्मुख्यक्रमेण प्रयाजशेषाभिघारणक्रमः इत्येवं श्रुत्यादिभिः क्रमस्सापवादः प्रपञ्चितः।

षष्ठाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवं द्वितीयेऽध्याये उत्पत्तिविधिप्रमेयस्य कर्मभेदस्य' तृतीये विनियोग-विधिप्रमेयस्य शेषशेषिभावस्य, चतुर्थपञ्चमयोः प्रयोगविधिप्रमेययोः प्रयुक्तिक्रमयोश्च निरूपणानन्तरं षष्ठेऽधि-कारविधिप्रमेयः फलसम्बन्धो निरूपितः। तत्र स्वर्गकामादिपदं विधिप्रयोजनीभूतपुरुषप्रवृत्त्यपेक्षितफलविशेषा-न्वयपरम्। न तु चन्दनादिरूपयागादिद्रव्यपरम्। तच्च फलं स्वर्गकाम इत्याद्युद्देश्यगतलिङ्गविशेषस्याविवक्षित-त्वात् स्त्रीणामप्यविशिष्टम्। 'वृद्धिकामास्सत्रमासीरन्नि' त्यादावेकैकस्य कृत्स्नं फलं न तु फलावयव इत्येवमा-दिरूपेणाधिकारस्सापवादष्षष्ठे प्रतिपादितः।

सप्तमाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवं विधिचतुष्टयात्मकोपदेशविचारे पूर्वषट्केन कृते ततः परमध्याय चतुष्टयेनातिदेशविचारः प्रस्तूयते। इत्थं कर्तव्यमित्युपदेशः तद्वत् कर्तव्यमित्यतिदेशः। तत्र सप्तमाष्टमयोर्वचन नामधेयचोदकैरतिदेशो निरूपितः। इषुनामके क्रतौ कांश्चिद्वैशेषिकान् धर्मान्विधायाऽऽम्नातेन 'समानमित-

रच्छ्येनेने'ति प्रत्यक्षवचनेन श्येनवैशेषिकाङ्गानामिषावतिदेशः। **'अग्निहोत्रं जुहोती'** त्यत्र नित्याग्निहोत्रेऽग्निदेवतासद्भावात् क्लृप्तशक्तिकेन तत्सादृश्यविधित्सया कौण्डपायिनामयने कर्मणि प्रयुक्तेनाग्निहोत्रनामधेयेन नित्याग्निहोत्रधर्माणामतिदेशश्च सापवादः पादत्रयेण सप्तमे निरूपितः। चतुर्थपादेन **'सौर्यं चरुं निर्वपेदि'** त्यादिष्वनुपदिष्टधर्मेषु प्रत्यक्षवचनस्य नाम्नश्चाऽऽतिदेशिकस्याभावेऽपि कुतश्चिद्वैदिकात्कर्मणो धर्मप्रापकं वचनमनुमायातिदेश इति सामान्यतो निरूपितः।

अष्टमाध्यायविषयः—विशेषातिदेशः। शब्दार्थगतसादृश्यविशेषलिङ्गादिदिष्टिषु दर्शपूर्णमासतः, पशूनां सवनीयादीनामग्नीषोमीयपशुतः, सोमानां ज्योतिष्टोमतः, अहर्गणानां द्वादशाहतः, संवत्सरसत्राणां गवामयनत इत्येवंरूपेण विशिष्यातिदेशस्सापवादः प्रपञ्चितः।

नवमाध्यायविषय ऊहः—अतिदिष्टानां मन्त्रसामसंस्काराणां प्राकृतपदार्थकार्यापन्नवैकृतपदार्थान्तरसम्बन्धेनाऽन्यथाभावरूप ऊहो नवमे चिन्तितः। अत्र प्रत्यक्षमनुमानं प्रत्यक्षवचनं प्रत्यक्षवचनावगत निवृत्यनुमितशब्दोऽभावविधिश्चेति पञ्च स्थानापत्तौ प्रमाणानि। एषामुदाहरणानि नवमद्वितीयद्वादशे भाष्यादौ प्रतिपादितानि। एवं कार्यापत्त्या व्रीहिधर्माणामवघातादीनां नीवारेषु, उलूखलमुसलधर्माणां प्रोक्षणादीनां नखे, यूपधर्माणां परिव्याणादीनां परिधौ चोहस्संस्कारोहः। गिरापदगतगीतिक्रियायाः इरापदे तूहस्सामोहः। मन्त्रोहश्चानेकविधः—क्वचित्प्रकृतिमात्रस्योहः। यथा—**'अग्नये जुष्टं निर्वपामी'** त्यत्राग्निपदस्थाने **सौर्यचरौ 'सूर्याये'**ति। क्वचिल्लिङ्गमूह्यते। यथा—**'वस्वसि रुद्रासी'** त्येकहायनीमन्त्रे विकृतिविशेषविहितं सोमक्रयणं वत्सतरं प्राप्ते **'वसुरसि रुद्रोऽसी'**ति। क्वचिद् वचनमूह्यते। यथा—**'छागस्य वपाया मेदसः'** इति मन्त्रे प्रजापत्यपशून् प्राप्ते **'छागाना'**मिति। क्वचित्प्रकृतिर्लिङ्गञ्चोह्यते। यथा—**'अग्नये जुष्टमि'**त्यादित्यचरुं प्राप्ते मन्त्रे **'अदित्यै जुष्ट'**मिति। क्वचिल्लिङ्गं वचनञ्चोह्यते। यथा—'प्रास्मा अग्निं भरते'ति मन्त्रे **'मल्ला आलभेते'**ति विहितान् पशून् प्राप्ते **'प्राभ्योऽग्निमि'**ति। एवं प्रकारेणोहस्सापवादो नवमे प्रपञ्चितः।

दशमप्रतिपाद्यविषयो बाधः—बाधोनाम निवृत्तिः। निवृत्तिश्च द्वारलोपात् प्रत्याम्नानात् प्रतिषेधाच्च भवति।

यथा—कृष्णलचरावघातः। सोऽयमर्थलोपात्प्रयोजनलोपाद्बाध एकः। तथा विकृतौ प्रकृतिदृष्टप्रयोजनवत्यां तादृशप्रयोजनसम्पादकमङ्गान्तरं यदि तत्र विहितं तदा तेनैवौपदेशिकेनाऽङ्गेन तस्मिन् प्रयोजने निष्पन्ने न सा विकृतिः प्रकृतितस्तज्जनकमङ्गमपेक्षत इत्यतिदेशोऽपि तत्प्रापणे औदासीन्यं भजते। यथा—'औदुम्बरो यूपो भवती'ति वैकृतपशावतिदेशप्राप्तयूपोद्देशेनौदुम्बररूपप्रकृतिद्रव्यविधानादुदुम्बरप्रकृतिके यूपे प्राकृतस्य बिल्वपालाशादेर्विरोधेन प्रकृतित्वासम्भवाद्बाधः। सोऽयं प्रत्याम्नानाद्बाध इति व्यवह्रियते। क्वचित्तु प्राकृतानां पदार्थानां विकृतिषु प्रत्यक्षं प्रतिषेधः परिदृश्यते। एवं प्रतिषिद्धाः पदार्था अप्यतिदेशेन न प्राप्नुवन्ति। अयमेव प्रतिषेधाद्बाध इति कथ्यते। प्रतिषेधशब्देनात्र यः कश्चित्प्राकृतपदार्थनिवृत्तिफलको विधिः स सर्वोऽपि विवक्षितः। तेन **'नाऽऽर्षेयं वृणीते' 'न तौ पशौ करोती'** त्येवमादीनां दशमाध्याये विचारस्सङ्गच्छते। एवं प्रकारेण सापवादो बाधो दशमे निरूपितः।

एकादशाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवमुपदेशविषयेऽतिदेशविषये च पृथङ्निरूपणीयेषु निरूपितेषु तदुभयसाधारणयोस्तन्त्रप्रसङ्गयोर्निरूपणीययोरेकादेशे तन्त्रं निरूपितम्। यत्सकृत्कृतं बहूनामुपकरोति तत् तन्त्रम्। तच्च त्रिविधम्—फलतन्त्रं पदार्थतन्त्रं अनुष्ठानतन्त्रमिति। तत्र 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेते' त्यत्र फलमुद्दिश्योपादीयमानानामाग्नेयादीनां षण्णां यागानां द्वन्द्वावगतम्, **'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेते'** त्यत्र बहूनामिष्टिपशुसोमानामेकेन नाम्ना तन्त्राभिधानावगतञ्च साहित्यं विवक्षितमिति सहितानां

फलान्वयादाग्नेयादीनां षण्णां फलम्, राजसूयनामगृहीतयागानाञ्च फलं साधारणम्, तदेतत्फलतन्त्रमित्यधीयते। **समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत' 'दर्शपूर्णमासयोश्चत्वार ऋत्विजः'** इति विहिता देशकालकर्तारः, एकफलसाधनानां कर्मणां यथायोगं साधारणा इत्येतत्पदार्थतन्त्रम्। एकफलानामेकदेशकालकर्तृकाणां यदङ्गभूतप्रयाजाद्यनुष्ठानं साधारणं तदनुष्ठानतन्त्रमित्येवं रूपेण सापवादं तन्त्रमेकादशे निरूपितम्।

द्वादशाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—द्वादशे प्रसङ्गो निरूपितः। अन्यत उपकारलाभप्रयुक्ताङ्गाननुष्ठानं प्रसङ्गो नाम। यथा—भोजनार्थं प्रथममागतस्याऽऽचार्यस्य कृते कृतेन सूपापूपादिना जामातुरुपकारः। स च प्रसङ्गस्त्रिविधः—अनुष्ठानप्रसङ्गः, पदार्थप्रसङ्गः शास्त्रप्रसङ्गश्चेति। तत्र पश्वर्थप्रयाजाद्यनुष्ठानेन पशुपुरोडाशाद्युपकारोऽनुष्ठानप्रसङ्गः। सौमिक्या वेद्या सोमान्तर्गतेष्टिपशूनामुपकारः पदार्थप्रसङ्गः। 'याजनादिभिर्ब्राह्मणो धनमर्जयेदि'ति द्रव्यार्जनशास्त्रेण ज्योतिष्टोमादिशास्त्रस्य ऋत्विगपेक्षस्याऽविशेषेण त्रैवर्णिकानामार्त्विज्यमाक्षेप्तुं प्रवृत्तस्योपकारश्शास्त्रप्रसङ्ग इत्येवमादिरूपेण द्वादशे सापवादः प्रसङ्गो निरूपितः। इति भाट्टमतेन द्वादशाध्यायसंग्रहः।

प्रभाकरमतानुरोधेन प्रथमाध्यायविषयः—एवन्तावद्भट्टमतेन तत्तदध्यायप्रतिपाद्यविषयेषु यथावत्सङ्गृहीतेषु मतान्तरेऽन्यथाङ्गीकृतान् विषयान् सङ्ग्रहेण निरूपयितुं लेखनीं सञ्चारयामः। प्रभाकरा हि 'अथातो धर्मजिज्ञासे' त्यनेन सूत्रेण वेदार्थविचारं प्रतिज्ञाय 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्यादिना विधिवाक्यमेव केवलं धर्मे प्रमाणम्, इतरच्चार्थवादमन्त्रादिकं चोदनावाक्यस्य प्रामाण्यं द्रढयितुमिति ब्रुवते। अत एवार्थवादाधिकरणं भूतभाव्यसमुच्चारणन्यायेन 'मलिनस्स्नायादि'त्यादौ स्नानादिकार्ये मालिन्यादेरिवाऽर्थवादानां चोदनाकार्ये हेतुत्वेनान्वयाद्धेतुसापेक्षत्वलक्षणमप्रामाण्यं चोदनानां निराकर्तुं प्रवर्तत इति वदन्ति। एवमेव मन्त्रनामधेयस्मृत्याचारानपि योजयन्ति। अतश्च विधिवाक्यप्रामाण्यनिरूपणमेव प्रथमाध्यायस्य विषयः।

द्वितीयाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एवं गुरुमते न पूर्ववत् कर्मभेदपुरस्सरं भावनाभेदो द्वितीयाध्यायार्थः। किन्तु तत्तत्पदार्थविधायकवाक्यात्मकशास्त्रभेदः। शब्दान्तराभ्याससंख्यासंज्ञादिप्रमाणान्यपि शास्त्रभेदकतयैवोपन्यस्यन्ते। संख्या परं भावार्थमात्रस्य भेदिका न शास्त्रस्येति।

तृतीयाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—एतेषामपि मते पूर्ववच्छेषशेषिभावनिरूपणमेव तृतीयाध्यायस्य विषयः। परन्तु भाट्टानां महाप्रकरणमवान्तरप्रकरणञ्चेति द्विविधं प्रकरणमभिमतम्। अमी त्ववान्तरप्रकरणं नाऽनुमन्यन्त इति विशेषः। अयमेषामाशयः—अवान्तरप्रकरणं नाम प्रमाणं न सम्भवति, प्रमेयाभावात्। प्रतिलब्धभाव्यसम्बन्धा हि भावना इतिकर्तव्यतामाकाङ्क्षति। तत्र यावदेका प्रयोजनापेक्षा अङ्गभावना प्रकरणेन फलभावनाङ्गं भवति, तावदितराऽपि प्रधानभावनयैव सम्बध्यत इति न्यायबलादङ्गीकर्तव्यम्। तथा च सर्वेषां प्रधानभावनान्वितानां च परस्परमङ्गाङ्गिभावस्सम्भवतीति नाऽवान्तरप्रकरणविनियोज्याङ्गसम्भवः। प्रयाजसन्निधावाम्नातानामभिक्रमणदीनां तु वाक्येनैव तदङ्गत्वं नावान्तरप्रकारणादिति। एतच्च निरूपितं शालिकनाथेन प्रकारणपञ्चिकायामङ्गपारायणे—'तत्र योऽसावधिकारविधिः स एव प्रयोजनभूतो निरधिकारैस्समिदादिभिस्स्वयमप्रयोजनभूतैरन्वितश्शब्देनाऽभिधीयते। समिदादिवाक्यानि च द्रव्यदेवताविशिष्टानि यागस्वरूपाण्येव सन्निधापयन्ति, सन्निधापनमात्रेण तैस्सहाऽधिकारनियोगस्याऽन्वयः, इत्यादिना ग्रन्थेन।

चतुर्थाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—भाष्ये चतुर्थाध्यायारम्भे 'तृतीये श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानैरशेषशेषिविनियोगलक्षणमुक्तम्' इति श्रुत्यादीनामङ्गत्वबोधकप्रमाणानां भाष्यकारेण कण्ठतः कीर्तनादुपदानाख्यं श्रुत्यादिव्यतिरिक्तं शेषत्वे प्रमाणान्तरमस्तीत्यवगमादुपादानाख्यप्रमाणगम्यं शेषत्वप्रयुक्त्यधिकारोत्पत्त्याख्यं चतुष्टयं चतुर्थाध्यायस्य विषयः। प्रपञ्चितञ्चैतत्प्रकरणपञ्चिकायां शालिकनाथेन—उपादानलक्षणो विधि-

व्यापारः आक्षेपापरपर्यायो मीमांसकैः प्रतिपन्नः उत्पत्यधिकारविनियोगप्रयोगविषयः प्रतिज्ञायत' (प्र० पं० पृ० २१९, पं० १३) इत्यादि ग्रन्थेन।

पञ्चमाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—पञ्चमाध्याये श्रुत्यर्थादिप्रमाणप्रमेयस्य क्रमस्य विधेयत्वं भट्टमत इवात्र न सम्मतम्। अयमेषामभिसन्धिः-विधिः कार्यात्मा स्वस्य कार्यतासिध्यर्थं यस्यानुष्ठानमाक्षिपति, तद्विधेयम्। विधिश्च यस्य ग्राहकग्रहणेन विध्यैदमर्थ्यमवगतं तस्यानुष्ठानमाक्षिपति। ग्राहकग्रहणं नाम साधिकारस्य विधेः प्रयोजनरूपस्य सन्निधिसमाम्नातैः स्वयमप्रयोजनभूतैः प्रयोजनप्रयोजनीभावेनान्विताभिधानम्। न चैवंभूतं ग्राहकग्रहणं शब्दानभिहितस्य क्रमस्य सम्भवति। तस्मान्न क्रमो विधेय इति। अत एवोक्तं शालिकेन—'विधिना स्वसिध्यर्थं अनाक्षिप्यमाणत्वान्न क्रमो विधेय इति मीमांसकानामुद्धारः। क्रमस्य पाञ्चमिकस्य न किञ्चिदभिधानमस्ति। न चानभिहितस्य तस्य वैयनियोगिकमौपादानिकं वा शेषत्वं घटत' (प्र० पं० पृ० २२०, पं० ८) इति।

षष्ठसप्तमाष्टमनवमेष्वध्यायेषु नातीवाऽनयोर्मतयोर्भेदमाकलयामः।

दशमाध्यायप्रतिपाद्यविषयः—बाधार्थे दशमे बाध्यं पदार्थमतिदेशो विकृतिषु नैवाऽऽनयतीति भाट्टं मतम्। तत्र तृतीयाध्याये स्थितस्य प्रवलप्रमाणेन दुर्बलप्रमाणबाधस्याऽप्राप्तबाधत्वम्, दाशमिकबाधस्य प्राप्तबाधत्वमिति प्राचीनो भेदप्रकारः। एवं सति भाट्टमतानुसरणे दाशमिकबाधस्याऽप्यप्राप्तबाधत्वप्रसङ्गः। प्राप्तबाधवाचोयुक्तिरसङ्गता स्यात्। तस्माच्चोदकेन सर्वमेव प्राकृतमङ्गजातं प्राप्यते। सत्यामेव तु प्राप्तौ कृष्णलचराववहन्त्यादेः प्रयोजनाभावादननुष्ठानलक्षणो बाधो भवतीति प्राभाकरा निरूपयन्ति। अत एव मतमिदमनूद्य पार्थसारथिमिश्रैः खण्डितं न्यायरत्नमालायाम्—

लुप्तार्थयाऽपि हन्त्यादेः कृष्णलादिषु शेषता।
अस्ति, नाऽस्ति त्वनुष्ठानमिति केचित्प्रक्षते॥
प्राप्तबाधत्वसिध्यर्थमन्यथा तन्न सिध्यति।
प्राप्तौ निवार्यमाणायां श्रुलिङ्गादिवद्भवेदिति॥

एकादशे द्वादशे च पूर्ववदेव विषयः। एवं मतद्वयेन तत्तदध्यायप्रतिपाद्यविषयाः प्रतिपादिताः।

इति प्राभाकरमतेन द्वादशाध्यायसंग्रहः॥

प्रमाणेषु भाट्टं मतम्—अथेदानीं प्रमाणविषये भाट्टैस्स्वीकृतानां प्रमाणानां स्वरूपं निरूप्यते। एतैश्च षट् प्रमाणानि स्वीकृतानि प्रत्यक्षमनुमानं, शब्दः, उपमानमर्थापत्तिरनुपलब्धिरिति। अत्रायं सङ्ग्रहश्लोकः—

'चार्वाकास्तावदेकं द्वितीयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ
भासर्वज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति।
प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे सम्भवैतिह्ययोगादि'ति॥

तत्र प्रत्यक्षं नाम पदार्थैस्साक्षादिन्द्रियाणां सन्निकर्षे सति जायमानं ज्ञानमुच्यते। प्रत्यक्षो घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि मनश्चेति षडिन्द्रियाणि। यत्संप्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं विज्ञानं जनयति तदिन्द्रियमित्युच्यते। तत्र चक्षुर्नाम कनीनिकान्तर्गतं तेजः। जिह्वाग्रगस्तोयांशो रसनम्। गन्धग्राहकमिन्द्रियं पार्थिवं घ्राणमित्युच्यते। स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगिन्द्रियस्य वायवीयत्वम्। 'दिशः श्रोत्रमि' त्यध्रिगुप्रैषगताल्लिङ्गाद्दिग्भाग एव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नः श्रोत्रमुच्यते। सुखाद्यापरोक्ष्यसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यमान्तरिन्द्रियं मनः। एतेषाञ्च चक्षुरादीना मनुद्भूतरूपस्पर्शत्वात्प्रत्यक्षेण न ग्रहणमिति सिद्धमिन्द्रियत्वम्।

त्रिविधस्सन्निकर्षः—सन्निकर्षविषये नैयायिकाभिप्रेतेषु संयोगस्संयुक्तसमवायस्संयुक्तसमवेतसमवायस्समवायस्समवेतसमवायो विशेषणविशेष्यभाव इति षट्सु सन्निकर्षेषु प्राथमिकांस्त्रीनेव समवायस्थाने तादात्म्यमिति व्यवहरन्तो भाट्टा अङ्गीकुर्वन्ति। एतन्मते श्रोत्रस्य दिगात्मकत्वात् शब्दस्य च द्रव्यत्वेन संयोगरूपसन्निकर्षस्यैव सम्भवात् न समवायसम्बन्धाङ्गीकारस्याऽवश्यकता। एवं शब्दवृत्तिसामान्यस्य संयुक्ततादात्म्येनैव ग्रहणसंभवेन न समवेतसमवायोऽप्यावश्यकः। तथाऽभावपदार्थस्याऽनुपलब्धिरूपप्रमाणान्तरविषयस्य प्रत्यक्षज्ञानाभावेन तदर्थं सन्निकर्षो नाऽपेक्ष्यत इति विशेषणविशेष्यभावरूपस्सन्निकर्षोऽप्येतन्मते नाऽभ्युपगम्यते। अतस्संयोगः, संयुक्ततादात्म्यं तादात्म्यं चेति त्रयस्सन्निकर्षाः। एवञ्च षडिन्द्रियात्मकं त्रिसन्निकर्षमेतन्मते प्रत्यक्षप्रमाणमिति सिद्धम्।

प्रत्यक्षविभागः—तच्च प्रत्यक्षं नैयायिकवन्निर्विकल्पकं सविकल्पकञ्चेति द्विविधम्। तत्र प्रकारताविशेष्यतादिविषयतारहितं ज्ञानं निर्विकल्पम्। सविकल्पन्तु सविशेष्यकं सप्रकारकं ससंसर्गकं वा ज्ञानमुच्यते। तच्च 'गौरयम्, दण्ड्ययम्, शुक्लोऽयम् गच्छत्ययम्, डित्थोऽयमि'ति जातिद्रव्यगुणक्रियानामविषयकतया पञ्चधा भवति। चाक्षुषादिभेदेन च षोढा। प्रत्यक्षमात्रं प्रति महत्वस्य कारणत्वं स्वीक्रियते चाक्षुषप्रत्यक्ष एवोद्भूतरूपं कारणम्, स्पर्शने चोद्भूतस्पर्शः, न तु रूपमप्यत्र कारणम्। तेन वायुरमीषां मते त्वाचप्रत्यक्षविषय इति सिध्यति।

अनुमानलक्षणं तद्विभागश्च—व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थविज्ञानमनुमानम्। यथा—पर्वते धूमवत्वदर्शनादग्निमत्वज्ञानम्। तदिदमनुमानं त्रिविधम्—अन्वयव्यतिरेकि केवलान्वयि केवलव्यतिरेकीति नैयायिकाः प्रतिपन्नाः। तत्र केवलव्यतिरेक्यनुमानमिमे नाऽभ्युपगच्छन्ति। अयमेषामाशयः—अत्र हि प्रकृतपक्षादन्यत्राऽप्रसिद्धस्यैव पदार्थस्य साध्यत्वं वक्तव्यम्। एतस्मिंश्चाऽनुज्ञायमानेऽदृष्टाचलौकिकार्थानामप्यनुमानविषयत्वं प्रसज्येतेति। तदुक्तं नारायणभट्टेन मानमेयोदये—

> **'क्वचित्प्रसिद्धमन्यत्र साध्यते ह्यनुमानतः।**
> **स्वप्रकाशत्वधर्मो हि सिद्धो नाऽन्यत्र कुत्रचित्॥**
> **तेन तत्साधने पक्षो ह्यप्रसिद्धविशेषणः।**
> **एवञ्च दुष्टपक्षोऽयं व्यतिरेकी निवार्यतामि'ति॥**

तत्र पदार्थानुमानवाक्यं पञ्चावयवमिति तर्करसिकाः। प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवा इति। एषु त्रयाणामेवाऽवश्यकतेति भाट्टाः प्रतियन्ति—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणानां वा उदाहरणोपनयनिगमनानां वा। तदुक्तं पार्थसारथिमिश्रैः—**'तच्च पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्। उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकमि'**ति। (शा० दी० पृ० ६४) तत्राऽद्यपक्षे प्रतिज्ञाहेतूदाहरणैरेव धूमज्ञानज्ञाप्यवह्निमदभिन्नः पर्वतो वह्निव्याप्यधूमवन्महानसदृश इति वाक्यार्थज्ञानादनुमितिजननादुपनयनिगमने व्यर्थे। द्वितीयपक्षे चोदाहरणप्रभृतिरेव साध्यसिद्धौ प्रतिज्ञाहेतू व्यर्थावित्येषां तात्पर्यम्।

अनुमानदोषाः—तथा हेत्वाभासा अपि त्रय एवाऽत्राऽभिमताः—असिद्धोऽनैकान्तिको बाधकश्च विरुद्धापरपर्याय इति। अनुमितिकारणीभूताभावप्रतियोगियथार्थज्ञानप्रकारो हेतुनिष्ठदोषो हेत्वाभास इत्युच्यते। तत्राऽसिद्धिः—स्वरूपासिद्धिः, सम्बन्धासिद्धिः, व्यतिरेकासिद्धिः, आश्रयासिद्धिः, व्याप्यत्वासिद्धिश्चेति पञ्चधा भवति। अनैकान्तिकस्य साध्यसंशयजनकतया दूषकत्वम्। स च द्विधा—सव्यभिचारस्सप्रतिसाधनश्च। यत्तु नैयायिकास्साधारणाऽसाधारणाऽनुपसंहारिभेदेनानैकान्तिकं त्रेधा भिन्नमभिदधति, तत्र साधारण एव केवलं सव्यभिचारपदाभिधानार्हः अनैकान्तिकान्तर्भूतः, असाधारणस्त्वसिद्धविशेष एव। तदिदं सर्वं पार्थसारथि-

मिश्रैस्तर्कपादे सम्यगुपपादितम् । एवमेते त्रयः यथासम्भवमवान्तरविभागवन्तो हेतुदोषाः । बाधश्च प्रतिज्ञादोषः । सोऽयं साध्यस्य प्रमाणान्तरेण परिच्छेदे, तदभावस्य तथाभावे, साध्यस्यैवाऽप्रसिद्धावपि वा भवतीति त्रेधा । एवम् उदाहरणदोषा अपि साध्यवैकल्य-साधनवैकल्योभयवैकल्याश्रयहीनत्वादयो भवन्ति । एते च प्रतिज्ञादि-दोषाः—'अग्राह्यता तु शब्दादेः प्रत्यक्षेण विरुध्यत' इत्यादिना वार्तिके विशेषेण प्रतिपादिताः ।

शब्दपरिच्छेदः—अनुमानप्रमाणनिरूपणानन्तरमुपमानं निरूपयन्ति नैयायिकाः । भाट्टास्तु वादि-परिग्रहभूम्ना शाब्दं पुरस्कुर्वन्ति । तत्र ज्ञातैः पदैः पदार्थस्मरणे कृते असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं यत् तच्छाब्द-मितीर्यते । तदिदं शाब्दज्ञानं व्युत्पत्तिमूलकमिति प्रथमतस्तत्प्रकारं विवेचयामः—

व्युत्पत्तिप्रकारः अभिहितान्वयवादश्च—बालो हि 'गामानय, पुत्रस्ते जातः' इत्युत्तमवृद्धवाक्य-श्रवणानन्तरं प्रवृत्तिं हर्षादिकं वा कस्यचिन्मध्यमवृद्धस्योपलभ्य तयोर्बुद्धिपूर्वकत्वाद्गवानयनपुत्रजननाद्यर्थंबुध्य-नन्तरमेवाऽस्य प्रवृत्तिहर्षादिकं जातमिति बुध्यमानः, तादृशार्थबुद्धेश्च शब्दानन्तरमेव जातत्वाद्गामानयेत्यादि-शब्दस्य गवानयनाद्यर्थबोधकत्वमवबुध्यते । तस्मिन्नवसरे पिण्डितस्यैवार्थस्य बोधकतया ज्ञातश्शब्दः । ततश्च 'गां बधान' 'अश्वमानये'त्यादिद्वितीयप्रयोगे पदान्तरयोगत्यागरूपावापोद्वापाववलोक्य गोशब्दस्सास्नादिमतो वाचकः, आनयनशब्दः आनयनक्रियावाचक इत्यादिपदार्थविवेकमवधारयति । एवं पदार्थज्ञाने स्थिते यत्पुनस्त-दनन्तरमेकविशिष्टार्थज्ञानरूपं वाक्यार्थज्ञानं जायते । तत्र तार्किकादय एवमाशेरते—पदानां पदार्थबोधोपक्षीणत्वात् पदार्था एव स्वसंसर्गरूपं वाक्यार्थमवबोधयन्तीति । भाट्टाः पुनः पदार्था लक्षणयैव वाक्यार्थं बोधयन्तीति ब्रुवते । वाच्यार्थानुपपत्त्या खलु लक्षणा भवति । अत्र च पदैः स्मर्यमाणा गवादिपदार्थाः यद्यन्योन्यान्वयं विना सामान्य-रूपा एवाऽवतिष्ठेरन्, तर्हि पदानां व्युत्पत्तिसमयावधृतमेकविशिष्टार्थबोधतात्पर्यं विरुध्येतेति सामान्यरूपस्य वाच्यस्याऽनुपपत्तेरन्योन्यान्वयरूपे विशेष एव पदार्थाः पर्यवस्यन्ति । ततश्च गौरानीयमानैव आनयनञ्च गोसम्बद्धमेवेति परस्परान्वयलाभात् गवानयनरूपवाक्यार्थसिद्धिः । तेन पदाभिहिताः पदार्था एव मिथोऽन्वयं यान्तीति 'अभिहितान्वयवादिनो भाट्टाः' इति व्यवह्रियन्ते ।

शब्दार्थविचारः—शब्दन्त्वधिकृत्य मीमांसका नित्य इति ब्रुवते । वृत्तिस्तु शक्तिर्लक्षणा गौणीति । त्रिविधा । तत्राऽव्यवधानेन शब्दजन्यप्रतीत्यनुकूला वृत्तिश्शक्तिः । सा च न नैयायिकानामिव 'अस्माच्छब्दा-दयमर्थो बोद्धव्य' इतीश्वरेच्छारूपा, किन्तु पदार्थान्तरमिति मीमांसकाः । अस्या एव सङ्केत इति व्यवहारः । तद्ग्रहश्च व्यकरणादिभिः । शक्यसम्बन्धो लक्षणा । सा च जहत्स्वार्था, अजहत्स्वार्था चेति द्विविधा । तत्र स्वशक्यार्थाविशेष्यकान्वयबोधप्रयोजिका जहत्स्वार्था । यथा गङ्गायां घोष इत्यादौ । स्वशक्यार्थविशेष्यकान्वय-बोधप्रयोजिका अजहत्स्वार्था । यथा—यष्टीः प्रवेशयेत्यादौ । इयमेवोपादानलक्षणेत्यालङ्कारिकाः । तद्बीजन्तु शक्यार्थान्वियानुपपत्तिः, न तु तात्पर्यानुपपत्तिरपि । वेदे तदसम्भवादिति केचन मीमांसका आशेरते । अन्ये च वेदे पुरुषाभावेऽपि शब्दस्यैव तात्पर्यादिकं स्वीकृत्य तदनुपपत्तिरेव लक्षणाया बीजमित्यभिप्रयन्ति । स्वशक्य-संबन्धिगुणसजातीयगुणवदुपस्थिति-हेतुवृत्तिर्गौणी । गौणीवृत्तिबोधकानि प्रमाणानि 'तत्सिद्धिः जातिः, सारूप्यं, प्रशंसा, भूमा, लिङ्गसमवायः' इति षट् । शब्दार्थः पुनः जातिरखण्डोपाधिर्वा, न तु व्यक्तिः, नाऽपि जातिविशिष्टा व्यक्तिः । यौगिकपदानां द्रव्यमर्थः । धातूनां यत्नातिरिक्तो व्यापारोऽर्थः । आख्यातस्य दशलकारसाधारणस्य यत्नरूपा आर्थीभावनेति विवेकः ।

शाब्दविभागः—तदिदं शाब्दं द्विविधम्—पौरुषेयमपौरुषेयमिति । तत्राऽद्यः प्रकारः—लोके आप्त-वाक्यम्, द्वियीयस्तु अपौरुषेयं वेदवचः । तदेवं लौकिकं वैदिकमपि शाब्दं प्रमाणं सिद्धम् । वैदिकञ्च विधिमन्त्रा-र्थवादभेदेनोपदेशातिदेशभेदेन च बहुविधम् ।

लिङर्थे मण्डनमिश्रमतम्—अत्र लोके वेदे वा लिङादिप्रत्ययानां विधिरर्थः। तत्र मण्डनमिश्रास्तावल्लोकवेदसाधारण्येनेष्टसाधनत्वमेव लिङर्थं इत्यभ्युपगच्छन्ति, यतश्च पुरुषाणां तत्र तत्रेष्टसाधनताज्ञानमेव प्रवृत्तिहेतुः परिदृश्यते। अत एवोक्तं तैर्विधिविवेके—'प्रवृत्तिसमर्थो हि कश्चित् भावातिशयो व्यापाराभिधानः प्रवर्तना। सा च क्रियाणामपेक्षितोपायतयैवे' ति (विधिवि. पृ. २४३)

पार्थसारथिमिश्रमतम्—पार्थसारथिमिश्राः नियोगो विध्यर्थः, इष्टसाधनत्वमेव तत्वेन रूपेण विध्यर्थः, तत्तद्धात्वर्थगतं कार्यत्वं लिङर्थः, अभिधाख्यो व्यापारः शब्दगतो लिङर्थं इति मतचतुष्टयमुपपाद्य, नियोगविध्यर्थत्वं प्राभाकराभिमतं खण्डयित्वा, तृतीयचतुर्थयोर्मतयोर्वार्तिकाननुसारितां प्रदर्श्य 'न्यायविदां त्विष्टसाधनत्वमेवाभिमतम्। न च संविद्विरोधः, तेन रूपेणाभिधानाभावात्। प्रवर्तनारूपेण तु शब्दोऽभिधत्ते प्रवृत्तिहेतुश्च धर्मः प्रवर्तना। सा चाऽपौरुषेये वेदे प्रैषादीनामभावात्पारिशेष्यादिष्टाभ्युपायतैव निश्चीयत' इत्यादिना इष्टसाधनत्वस्यैव लिङर्थत्वं प्रत्यपादयन्न्यायरत्नमालायाम्॥

भट्टसोमेश्वरखण्डदेवादीनां मतम्—भट्टसोमेश्वर खण्डदेवप्रभृतयस्तु लोके सर्वोऽपि प्रवर्तकः 'अहमेनमस्मिन् कर्मणि प्रवर्तयामी' त्याशयं हृदि निधाय लिङादिघटितं वाक्यमुच्चारयति। प्रवर्तमानोऽपि पुरुषः 'अनेनाऽहमस्मिन् कर्मणि प्रवर्तितः' इत्यवगच्छतीति सर्वस्वसंवेद्यम्। अवगम्य च प्रवर्तयितृपुरुषेच्छारूपां प्रवर्तनां इच्छाविषये कर्मणि इष्टसाधनत्वादिकमनुमिनोतीत्यपि सर्वस्वसंवेद्यम्। यदि चेष्टसाधनत्वमेव विध्यर्थः तर्हि किमिति तदनुमाने पुरुषः प्रवर्तताम्। अत इष्टसाधनत्वाद्यतिरिक्तः प्रवर्तनाख्योऽलौकिकः कश्चिद् धर्मविशेषो लिङादिवाच्य इत्यभिप्रयन्ति।

उपमान निरूपणम्—पूर्वदृष्टेऽर्थे स्मर्यमाणे दृश्यमानार्थसादृश्यज्ञानमुपमानम्। यथा गवये गोसादृश्यदर्शनान्तरं स्मर्यमाणे गवि गवयसादृश्यज्ञानम्। अत्र नैयायिकाः उपमानं प्रमाणमङ्गीकुर्वन्तः तस्य शब्दार्थव्युत्पत्तिफलकतामध्यवस्यन्ति। भाट्टास्तु तदिदं प्रमाणमभ्युपयन्तोऽपि तत्र पराभिमतशब्दार्थव्युत्पत्तिमन्यथा निर्वहन्तोऽननुभूतपूर्वपदार्थसदृशस्य वस्त्वन्तरस्य प्रत्यक्षे सति यदनुभूतपूर्वस्य वस्तुनः प्रत्यक्षीक्रियमाणवस्तुसादृश्यतया ज्ञानं जायते तदुपमानफलं वर्णयन्ति। एवं वर्णयतां फलमिदमेषां सिध्यति—यत्र विकृतावङ्गानि न विशिष्य समाम्नातानि, तत्राऽङ्गप्राप्तये प्रकृत्युपदिष्टाङ्गानां नियमेनोपस्थितिः प्रतिपादयितव्या। यदि तत्समानधर्मदर्शनजनितं स्मृतिमात्रं भवेत्, तर्हि यथा कथञ्चित्स्मृतस्य कर्मणोऽङ्गानि विकृतौ कर्तव्यानीत्यत्र निश्चितप्रमाणाभावेनाऽनाश्वासो भवेत्। अतश्च विकृतिपर्यालोचनसमये प्रकृत्यवगमः परिनिश्चितप्रमाणविशेषाधीनोऽनुभवरूपस्स्थाप्यत इति।

अर्थापत्तिः तद्विभागश्च—मीमांसकानामर्थापत्तिर्नाम पञ्चमं प्रमाणमभिमतम्। प्रत्यक्षेण शब्देन वा प्रमितस्यार्थस्योपपादकार्थान्तरकल्पनमर्थापत्तिरित्युच्यते। इयञ्च दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिरिति द्विधा। तत्राऽद्या यथा—देवदत्तनिष्ठं दिने भोजनराहित्यं पीनत्वञ्च प्रत्यक्षदृष्टं स्वोपपादकं रात्रिभोजनं कल्पयतीति। द्वितीया तु—विश्वजिद्यागकरणकभावनाविषयकप्रवर्तना विधिप्रमिता इष्टोद्देश्यकत्वं विनाऽनुपपद्यमाना स्वर्गोद्देश्यकत्वं कल्पयतीति। अत्र दिने भोजनाभावविशिष्टपीनत्वज्ञानं न दृष्टार्थापत्तौ कारणम्, येनाऽनुमान्तर्भावः शङ्क्येत। किन्तु भोजनाभावपीनत्वयोस्सामानाधिकरण्यरूपसम्बन्धानुपपत्तिज्ञानम्। तेन नाऽनुमानान्तर्भावः।

अनुपलब्धि-विचारः—अर्थापत्तिपर्यन्तानि पञ्च प्रमाणानि भावमात्रगोचराणि नाऽभावग्रहणे व्याप्रियन्ते। तस्मादभावग्राहकं अभाव इति अनुपलब्धिरिति च कथ्यमानं स्वतन्त्रमेव षष्ठं प्रमाणमित्यातिष्ठन्ते भाट्टाः। एवं प्रमाणषट्त्वे वाल्मीकिवचनप्युपष्टम्भकं भाट्टानाम्—

'राम षड्युक्तयो लोके याभिस्सर्वोऽनुदृश्यत' इति (वाल्मी. अर० ७२.२)

इति भाट्टमतेन प्रमाणनिरूपणम्।

प्रमाणेषु प्राभाकरं मतम्—

प्रत्यक्षविचारः—प्राभाकराणामनुपलब्धिं विहाय पञ्चैव प्रमाणान्यभिमतानि। तत्र 'साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणम्। तच्च प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमास्विति त्रिपुटं भवति। मेयेषु द्रव्यजातिगुणेषु सा प्रत्यक्षा प्रतीतिरिन्द्रियसंयोगेनोत्पद्यते। तदुक्तं शालिकनाथेन प्रकरणपञ्चिकायां—

साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं, मेयमातृप्रमासु सा।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा॥
सर्वविज्ञानहेतूत्था मितौ मातरि च प्रमा।
साक्षात्कर्तृत्वसामान्यात्प्रत्यक्षत्वेन सम्मता॥ इति॥ (प्र० पं० १२७)

सन्निकर्षः अनुमानं च—इन्द्रियाणि पूर्वोक्तान्येव। सन्निकर्षविषये संयोगः, संयुक्तसमवायः, समवायः इति त्रेधा सन्निकर्षमाहुः। एतन्मते रूपत्वादीनां निराकरणात् संयुक्तसमवेतसमवयो नाऽऽश्रयणीयः। शब्दत्वस्याप्यभावात्समवेतसमवायोऽपि नाऽङ्गीकर्तव्यः। अभावस्याऽप्यभावात् समवायस्य च प्रत्यक्षाभावाद्विशेषण-विशेष्यभावोऽपि नाऽभ्युपगन्तव्य इति विशेषः। तदुक्तं प्रमाणपारायणे शालिकनाथेन—'तस्मात्त्रिविध एव सन्निकर्षः प्रत्यक्षत्वे हेतुः संयोगः, संयुक्तसमवायः, समवायश्चे'ति (प्र० पं० पृ० ४६) अन्यच्च प्रत्यक्षविभागविषये पूर्ववदेव। महानसादौ वह्निधूमयोर्नियमग्रहणावसरे ये ये पदार्था गृहीताः, त एवाऽनुमानेनाऽपि गृह्यन्त इति स्वीकुर्वाणा अपि प्राभाकराः, तस्य संस्कारमात्रजन्यत्वाभावादनुभूतित्वाच्च पृथक्प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तीति पूर्वमतापेक्षया विशेषः। अन्यत्सर्वं पूर्ववत्।

शब्दपरिच्छेदः अन्विताभिधानवादश्च—शब्दविज्ञानापेक्षादात्ममनस्सन्निकर्षात् यददृष्टार्थविषयं ज्ञानं तच्छास्त्रं नाम प्रमाणम्। अत्र शब्दव्युत्पत्तिमधिकृत्य पदार्थेषु तत्तत्पदैरभिहितेषु तेषां परस्परान्वयरूपे वाक्यार्थे पुनर्लक्षणा भाट्टमत इति तदनुसारिणोऽभिहितान्वयवादिनो भवन्तीति पूर्वं प्रतिपादितम्। प्राभाकराः पुनस्तादृशान्वयस्याऽपि तादृशपदार्थविशेषणतया शक्यत्वं पदवाच्यत्वं चेत्यङ्गीकुर्वन्तोऽन्विताभिधानवादिनो भवन्ति। तथाहि—गामानयेति प्रथमश्रवणे हि गवानयनरूपस्यान्वितस्यैवार्थस्य शब्दो बोधकतया ज्ञातः। अतस्तदनुसारेण पुनरपि पदानामेवान्वितार्थबोधकत्वं वाच्यम्, न तु पदार्थानाम्। आवापोद्वपाभ्यां हि पदार्थेषु विविच्यमानेष्वपि तत्र तत्र तैस्तैरन्विता एव पदार्था दृष्टाः, न त्वेकाकिन इत्यन्विते स्वार्थे पदानां शक्तिर्न परित्यज्यते। अतः पदाभिधेय एवान्वितरूपो वाक्यार्थः, न तु पदार्थगम्यः। तदिदमुक्तं वाक्यार्थमातृकायां शालिकनाथेन—'पदानि तावदभिधायकानीत्यविवादम्। तेन तेषामभिधानशक्तिः सम्प्रतिपन्नैवेति तस्या एवान्वयपर्यन्तता कल्पयितुं सुकरा। पदार्थानान्तु बोधनशक्तिरेव कल्प्या। तेन धर्मिकल्पनातो वरं धर्मकल्पनेत्यन्विताभिधानशक्तिः पदानामेव कल्पयितुमुचिते'ति।

पौरुषेयवाक्यानामनुमेयत्वम्—तदिदं शास्त्रं पौरुषेयमपौरुषेयमिति द्वेधा विभज्य तत्र पौरुषेयं लोके आप्तवाक्यमिति कौमारिलानां मतम्। तत्र प्राभाकरा अन्यथा मन्यन्ते—लौकिकवाक्यानां नैव प्रामाण्यम्। प्रमाणशब्दस्तु वेदात्मकोऽपौरुषेय एव। पुरुषवचनानि तु वक्त्रभिप्रायानुमापकान्येव न स्वयमेव वाक्यार्थं बोधयन्ति, यतश्च पुरुषाधीनरचनं लौकिकं वाक्यमयथार्थशङ्काकुण्ठितशक्तिकं परिदृश्यते। व्युत्पत्तिसमयसिद्धाऽपि शब्दानां बोधकत्वशक्तिर्व्यभिचारभूयिष्ठेषु पौरुषवचनेषु तदाशङ्काशङ्कया कुण्ठिता भवति। केचित्तावद्भ्रमेणैवानन्वितवादिनः, अपरे चाऽऽशयदोषतः, अन्ये प्रमादात्, केऽप्यशक्तेश्च परिदृश्यन्ते। एतादृशदोषदूषितपुरुषोक्तानां पदार्थानां कथमन्वययोग्यता प्रतीयताम्? सति चैवं यावदनेन वक्त्रा अमुमर्थमवबुध्यैव वाक्यं प्रयुक्तमिति नाऽनु-

मीयते, तावदन्यथात्वशङ्का न निवर्तत इति वाक्यमुदास्त एव। तस्माद्वक्तृधीस्तावदनुमातव्या। तत्र 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ती'ति वाक्ये श्रुते पदार्थेषु च पृथक्पृथक् स्मृतेष्वनुमानमेवमुदेति—'एतानि पदानि एतेषां पदार्थानां संसर्गमवबुध्यैव प्रयुक्तानि, आप्तप्रणीतपदत्वात्, गामानयेति पदवदि'ति। एवञ्च वक्तुः पदार्थसंसर्गज्ञानमवगन्तुं परिश्रान्तः श्रोता पदार्थसंसर्गरूपं वाक्यार्थमपि बलाल्लभत इत्यनुमेय एव नरवचस्सु वाक्यार्थं इति। तदुक्तं, शालिकनाथेन—

श्रूयतामवधानेन गतिर्नरगिरामपि।
अनुमानात्पृथग्भावं तासां नेच्छन्ति सूरयः॥
वाक्यं हि पुरुषाधीनरचनं लौकिकं सदा।
शङ्क्यमानायथार्थत्वं नार्थनिश्चायकं स्वतः॥ इति। (प्र० पं० पृ० १४)

एतावता प्रबन्धजातेनेदमत्र निर्गलितम्—यद्वेदशब्दो लौकिकशब्दश्चेत्युभयं प्रमाणं भाट्टानां, प्राभाकराणान्तु एकस्य पृथक्प्रामाण्यम्, अपरस्यानुमानत्वञ्चेति।

प्राभाकरमतेन लिङर्थनिरूपणम्—पूर्वन्तावद्दशलकारसाधारण्यस्याऽऽख्यातस्य यत्नरूपाऽऽर्थीभावना लिङादीनाञ्च विधिप्रत्ययानामिष्टसाधनत्वाद्यतिरिक्तः प्रवर्तनाख्योऽलौकिकः कश्चन धर्मविशेषोऽर्थ इति कौमारिलमतमभिहितम्। अत्र प्राभाकरा लिङ्स्थले केवलमाख्यातस्य कृतिरर्थः, न तु सर्वलकारस्थल इत्यभिप्रयन्ति। तथा लिङादिविधिप्रत्ययानां अपूर्वापरपर्यायः कार्यात्मा नियोगोऽर्थः। तत्रापि लोके कार्यत्वेन क्रियायाः वेदे च नियोगस्य लिङर्थत्वमिति विवेकः। विशेषेण चैतन्मतं अस्मत्पूज्यपादैः श्रीगुरुचरणैर्विधितत्वसङ्ग्रहे निरूपितम्।

अर्थापत्तिनिरूपणम्—उपमानप्रमाणे नाऽनयोर्मतयोर्भेदः परिदृश्यते। अर्थापत्तौ तु येयं श्रुतार्थापत्तिर्भाट्टानामभिता,ताममी नाऽनुमन्यन्ते। अपरिपूर्णस्य वाक्यस्याऽन्वयसिद्धये यत्र शब्दोऽध्याह्रियते तत्र श्रुतार्थापत्तिरिति स्थितिः। यथा 'द्वारं द्वारं' इत्यस्मिन्वाक्येऽन्वयसिध्यर्थं 'पिधेही'ति पदमध्याह्रियते। सेयं शब्दकल्पनरूपा श्रुतार्थापत्तिर्भाट्टानामभिमता। अत्र प्राभाकरास्तु—आवरणाद्यर्थस्यैवात्र कल्पनीयतया शब्दकल्पनाभावात् श्रुतार्थापत्तिर्न सिध्यतीत्यभिप्रयन्ति। एतच्च साधूपपादितं शालिकनाथेन प्रकरणपञ्चिकायामर्थापत्तिप्रकरणे।

इति प्राभाकरमतेन प्रमाणनिरूपणम्।

प्रमेयेषु कौमारिलं मतं द्रव्यनिरूपणञ्च—एवं तावन्मतभेदेन प्रमाणानि प्रदर्शितानि। अथेदानीं प्रमेयविषये कियान्भेद इति समालोचयामः—द्रव्यगुणकर्मसामान्याभावभेदेन पदार्थः पञ्चविधः। तत्र परिमाणगुणाधारत्वं द्रव्यस्य लक्षणम्। तच्च पृथिवी, सलिलं, तेजः, पवनः, तमः, व्योम, कालः, दिक्, आत्मा, मनः, शब्द इत्येकादशविधम्। तत्र पृथिव्यप्तेजसां प्रत्यक्षत्वे न विवादः। परन्त्वत्र तार्किकैः एतदारम्भकतयाऽनुमेयाः परमाणवोऽङ्गीक्रियन्ते, भाट्टास्तु जालसूर्यमरीचिषु दृश्यमानानणून् विहाय परमाणून् नाऽभ्युपगच्छन्तीति विशेषः। तदुक्तं नारायणपण्डितेन मानमेयोदये—

जालरन्ध्रविसरद्रवितेजो जालभासुरपदार्थविशेषान्।
अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति न कुमारिलशिष्याः॥ (मानमे० पृ० ६७)

वायुरनुमेय इति परैरङ्गीक्रियते। एतन्मते स्पार्शनप्रत्यक्षस्सः। अयमेषाममभिसन्धिः—कृष्णो घटः, पीतो घटः, श्वेतो घटः, इतिवत्, 'शीतो वायुरुष्णो वायुरनुष्णाशीतो वायु' रिति वायुद्रव्यस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञाय-

मानत्वात् त्वगिन्द्रियप्रत्यक्षो वायुरिति। आलोकाभावस्तम इति न्यायमतम्। अत्र प्रतीयमानस्य गुणकर्मत्वस्य विना बाधकं प्रतिक्षेपायोगात् तदपि स्वयं द्रव्यमित्यमी मन्वते।

आकाशकालदिशः—आकाशकालदिशोऽप्यत्र प्रत्यक्षाः। यदि दिक्कालाकाशा न प्रत्यक्षाः, तर्हि तेषां स्वरूपमेव हीयेत, प्रत्यक्षव्यतिरेकेण तेषु प्रमाणाभावात्! एषामनुमानगम्यत्वं 'व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते। अनिष्टं भट्टपादोक्तिमाधुर्यानभिलाषिणामि'त्यादिना नारायणपण्डितेन सम्यङ्निराकृतम्। त्रीण्यपीमानि द्रव्याणि नित्यानि विभूनि च। तत्राकाशो विभुरपि घटाद्युपाधिवशात् घटाकाशादिव्यपदेशं लभते। कालो विभुरपि 'पञ्चदशनिमेषाः काष्ठा' इत्याद्युपाधिवशादौपाधिकं भेदव्यवहारं भजते। एवं दिशोऽपि पूर्वापराद्युपाधिवशाद्भेदव्यवहारः।

आत्मवादः ईश्वरविषये मीमांसकाभिप्रायश्च—चैतन्याश्रय आत्मा। 'स मानसीन आत्मा जनाना' मित्यादिश्रुत्या स मानसप्रत्यक्षविषयः। अत्र जीवात्मा परमात्मेत्यात्मानं विभज्य तत्र परमात्मा ईश्वर इति नैयायिकादयो मन्यन्ते। तादृशेश्वरे प्रमाणं प्रत्यनुयुक्ता अनुमानमुपन्यस्यन्ति—क्षित्यङ्कुरादिकं सकर्तृकं, कार्यत्वाद्घटवदिति। एवमनुमिमानाश्च तन्तुवाय इव पटं परमेश्वरो निखिलमपि जगत् सृष्टिसमये द्व्यणुकादिक्रमेण विरचयति, कविरिव काव्यमखिलमपि वेदराशिमारचयति, संहारकाले पुनः बालक इव घटं जगद्विनाशयतीति प्रतिपादयन्ति। भाट्टाः पुनः—सर्वमिदं सृष्टिप्रलयादिकं पौरुषेयत्वञ्च वेदस्य निवर्तयितुम्, अपौरुषेयत्वञ्च तस्य स्थापयितुं तादृशस्य सर्वज्ञपुरुषस्येश्वराभिधानस्य सद्भावाय द्रुह्यन्त इव तार्किकाणामनुमानं तीव्रेणाग्रहेण शतधा खण्डयन्ति। अत एव जगति मीमांसकानां निरीश्वरवादप्रथा। तत्त्वतस्तु विचार्यमाणे नास्ति कश्चिन्मीमांसकः, यस्तार्किकान् खण्डयन् सकलजगन्नेतारं परमपुरुषमसन्तमभिप्रैति। वार्तिकप्रभृत्यद्यपर्यन्तं ये ग्रन्थास्समुपलभ्यन्ते तेषु सर्वेष्वपि ईश्वरनमस्कारात्मकं मङ्गलं तैस्तैः कृतमुपलभामहे। वार्तिककारैरपि 'विद्धशुज्ञानदेहाये' त्यादिना ग्रन्थादौ महादेवो नमस्कृतः। पद्यमिदं कर्मपरत्वेन व्याचक्षाणानां मतं 'तेषामीश्वरद्रोहिणां प्रतीयमानार्थपरित्यागेनार्थान्तरं कल्पयतामनुपादेयमेव तद्व्याख्यानम्' इत्यादिना युक्तिस्नेहप्रपूरणीकारैः शास्त्रदीपिकाव्याख्यातृभिर्निराकृतम्। नारायणपण्डितोऽपि ब्रवीति—'सिद्धस्तार्किकेश्वरनिरासः, वैदिकेश्वरः परमकारुणिकः पुनरस्माकमनुगुण एवे'ति। अतएव नावमिकदेवताधिकरणस्य कर्माङ्गभूतदेवताया एव वि हादिकं नास्ति, उपासनादौ तु तदस्तीत्येव तात्पर्यं वर्णयन्ति केचन।

मनोनिरूपणम्—मनश्चैतन्मते अणुपरिमाणम्, न परममहत्परिमाणम्। नारायणपण्डितस्तु मनसो विभुत्वं स्वीकृत्य तत्रानुमानमेवं प्रदर्शयति—मनो विभु स्पर्शानर्हद्रव्यत्वात् ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वाद्वा, आत्मवदिति। एवमनुमानेनाऽस्य विभुत्वे सिद्धेऽपि कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नस्यैव गगनस्य यथेन्द्रियभावमातिष्ठन्ते नैयायिकाः, तथा देहावच्छिन्नस्यैव मनस इन्द्रियत्वं स्वीकार्यम्। न चैवं सति चाक्षुषादिप्रत्यक्षावसरे घ्राणादिप्रत्यक्षं स्यादिति शङ्कनीयम्, तत्र चाक्षुषसामग्री प्रतिबन्धकत्वकल्पनेन दोषाभावात्। अतो विभुत्वेऽपि मनसो न काचिदनुपपत्तिरित्याशयः।

शब्दः—शब्दश्च गगनगुण इति परमतम्। कुमारिलमते तु श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यश्शब्दत्वजातिमान् नित्यस्सर्वगतश्शब्दो द्रव्यं मतः। स पुनरयं शब्दो वाचकावाचकभेदेन द्विविधः। तत्राऽवाचको भेरिप्रहरणजन्यध्वनिव्यङ्ग्यः। वाचकस्तु ताल्वादिव्यापारजन्यध्वनिव्यङ्ग्यो वर्णात्मकः। वर्णात्मकानां शब्दानां सम्भूयैकत्ववाचिनां समाहारं पदमिति वदन्ति कौमारिलाः। एतादृशपदस्य पदार्थेन सह प्रत्याय्यप्रत्यायकभावलक्षणस्सम्बन्धोऽपि नित्य एव। तत्सिद्धमेकादशं द्रव्यम्।

गुणनिरूपणम्—रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वगुरुत्वस्नेहबुद्धि-सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारध्वनिप्राकट्यशक्तिभेदाच्चतुर्विंशतिविधो गुणः। नैयायिकाभिमतानां शब्दधर्माधर्म-रूपगुणानां स्थाने ध्वनिप्राकट्यशक्तिरूपान् गुणानेते निवेशयन्तीति विशेषः। तत्र नीलादिरूपव्यक्तिरेकैव। 'चतुर्विंशतिर्गुणाः' इत्यबाधितव्यवहारानुरोधेन 'गुणे गुणानङ्गीकारः' इति नियममनाद्रियमाणा इमे संख्याया अद्रव्यवृत्तितामप्यनुमन्यन्ते। नित्योऽपि संयोग एषां सम्मतः।

ज्ञानस्वरूपम्—बुद्धिर्ज्ञानम्। तदिदमेतन्मतेऽनुमेयम्। अवैदिका निरालम्बनवादिनो योगाचारादय-स्सर्वस्य ज्ञानाकारतां वदन्तो बाह्यार्थानपलपितुं प्रवृत्ताः। तत्प्रतिसमाधातुं ज्ञानस्याऽप्रत्यक्षताममी साधयन्ति। ज्ञानमिदं क्वचिदुत्पद्यमानं समयान्तरे बाधितं सद् भ्रान्तिरूपं भवति। क्वचित्तु यथावद्ग्राह्यं वस्तु गृहीत्वा कालत्रयेऽप्यबाधितं भवति। तत्रादिममप्रमाणम्, अन्तिमञ्च प्रमाणमिति व्यवह्रियते। किन्तत्प्रामाण्यमिति चेत्—अगृहीतग्राहित्वे सति अबाधितविषयत्वमेव। गृहीतविषयत्वान्न स्मृतिः प्रमाणम्, बाधितविषयत्वाच्च न भ्रान्तिः प्रमाणम्।

स्वतःप्रामाण्यम्—एतत्प्रामाण्यं प्रत्युच्चावचो विवादः—प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चेत्युभयं स्वत इति सांख्याः। अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परत इति बौद्धाः। उभयमपि परत इति नैयायिकाः। स्वतः प्रामाण्य-मुत्पद्यते परतस्त्वप्रामाण्यमिति मीमांसकाः। एवञ्च सति नित्यवेदवाक्यजनितज्ञानस्य चिरमन्वेषणेऽपि पुरुषसम्बन्धिभ्रमप्रमादाशक्तिविप्रलिप्सा दोषसंस्पर्शाभावादनपवादं स्वतस्सिद्धं प्रामाण्यं स्थिरीकृतं भवति।

ध्वनिः प्राकट्यञ्च—ध्वनिस्तु वायुगुणश्शब्दाभिव्यञ्जकः। प्राकट्यं नाम विषयव्यवस्थापकस्सर्व-द्रव्यवर्ती सामान्यगुणः।

शक्तिः—द्रव्यगुणकर्मगतत्वेन शक्तिस्त्रिधा भवति। तत्र दाहाद्यनुकूला वह्न्यादिद्रव्यगता प्रथमा, यागाद्युपकारानुकूला तत्साधनभूतपश्वादिपरिच्छेदकश्वेतादिगुणगता द्वितीया। स्वर्गादिफलानुकूला यागादि-क्रियागता तृतीयेति विवेकः।

कर्म—अविभुद्रव्यमात्रवृत्ति चलनात्मकं संयोगविभागयोर्मूलं कर्म प्रत्यक्षम्। तच्चोत्क्षेपणावक्षेपणा-कुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्पञ्चविधमेव।

सामान्यम्—जातिषु सत्ताया द्रव्यगुणकर्मत्रितयमात्रवृत्तित्वं नैयायिका आचक्षते। मीमांसकाः पुनर्जातिगतामपि तां मन्यन्त इति विशेषः।

अभावपरिच्छेदः—अनुपलब्धिप्रमाणगम्योऽभावो द्विविधः—संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च। तत्र संसर्गा-भावः प्रागभावप्रध्वंसाभावात्यन्ताभावभेदेन त्रिविधः। अत्रायं सङ्ग्रहश्लोकः—

> **क्षीरे यो दध्यभावः स इह निगदितः प्रागभावः प्रवीणैः**
> **प्रध्वंसाभावमाहुर्दधनि तु पयसोऽभावमाचार्यपादाः।**
> **अत्यन्ताभावसंज्ञो भवति हि पवनाद्येषु रूपाद्यभाव—**
> **श्चाऽन्योन्याभावमाशु स्फुटयति तु घटादौ(हि) पटा(वस्त्रा)द्यभावः॥**

इति भाट्टमतेन प्रमेयनिरूपणम्।

प्रभाकराभिमतपदार्थाः द्रव्यनिरूपणञ्च—प्राभाकरमते-द्रव्यं, गुणः, कर्म, सामान्यम्, शक्तिः, सादृश्यं, संख्या, समवाय इत्यष्टौ पदार्थाः। द्रव्येष्वमी वायोरनुमेयत्वमभ्युपगच्छन्ति। तमो न द्रव्यम्। आलोकदर्शने सति

ग्राहकभूतात्मस्वरूपोपलम्भात्सामान्यतो नीलद्रव्यस्मरणे सति स्मृतित्वमगृह्णतस्तयोर्भेदाग्रहनिबन्धनस्तमोनैल्य-व्यवहार इत्यमी वदन्ति । तदुक्तं शालिकनाथेन 'तमसो निष्पत्त्यनवक्लृप्तेः । रूपवत्त्वेन हि तमो द्रव्यं स्यात् । तच्चानेकद्रव्यारब्धं सच्चाक्षुषं स्यात् । न च तानि द्रव्याणि सन्ति । सन्ति चेद्दिवाऽप्यारभेरन्' इति ।
(प्र० पं० पृ० १४४)

आकाशादि पूर्ववन्न प्रत्यक्षविषयम्, किन्त्वनुमेयमेव । एतन्मते चैतन्याश्रय आत्मा अहं प्रत्ययवेद्यः, न पूर्ववन्मानसप्रत्यक्षविषयः । तत्र अहं जानामीति सर्वार्थवित्तिषु व्यवहारदर्शनादात्मज्ञानयोरप्यप्रकाशमानत्वे तदनुपपत्तेस्तयोः कर्तृतया वित्तितया च प्रतीयमानत्वमभ्युपगच्छन्ति । मनसः पूर्ववदणुत्वम्, 'तस्मात्परमाणुपरिमाणं मनः' (प्र० पं० पृ० १५१) इति शालिकनाथेनोक्तत्वात् । शब्दश्चाऽऽकाशगुणः न द्रव्यमिति नैयायिकानामिव नव द्रव्याण्येव प्राभाकराणामभिमतानि ।

गुणनिरूपणम्—गुणाश्च पूर्ववदेव । परन्तु पूर्ववच्छक्तिसंख्ययोरमी गुणत्वं नाऽभ्युपगच्छन्ति, अपि तर्हि पदार्थान्तरत्वम् । तदुक्तं शालिकनाथेन सादृश्यस्य पदार्थान्तरत्वोपपादनावसरे—'अतः पदार्थान्तरमेवेदं शक्तिवत्संख्यावच्चेति प्रमेयपारायण एवोक्तमि'ति । ज्ञानविषये महान् भेदः परिदृश्यते । ज्ञानमेतन्मते स्वयं प्रकाशमद्वैतिनामिव । तच्च यथार्थायथार्थभेदेन द्विविधमिति पूर्वं निरूपितम् । अयथार्थज्ञानं भ्रमात्मकमिमे नेच्छन्ति ।

न कदाचित्काचित् ज्ञानव्यक्तिरयथार्थभूता भवति । भ्रान्तिव्यवहारस्तु भेदाग्रहनिबन्धनः । अस्यायमर्थः—कश्चिच्छुक्तिं प्रत्यक्षमीक्षते । तत्र स्फुरितं रजतसादृश्यं फाळपळयरूपशुक्तेराकारान्तरं तिरोदधाति । स्मारयति च रजतम् । तदा च शुक्तिरजतयोर्भेदो न गृह्यत इति तदानीन्तनं ज्ञानं भ्रान्तिरित्युच्यते । वस्तुतस्तु न तदानीमेकमेव ज्ञानम्, अपितु द्वे ज्ञाने । एकं 'इदमि'ति प्रत्यक्षात्मकम्, अपरं 'रजत' मिति स्मरणात्मकम् । तत्र प्रत्यक्षं शुक्तिविषयकं नाऽयथार्थम्, स्मरणमपि रजतविषयकं नायथार्थमिति कस्येदानीमयथार्थत्वमिति गुरुमतावलम्बिनामभिप्रायः । एतावान्प्रयासः वेदवाक्यजन्यबोधस्य प्रामाण्यस्वतस्त्वस्याप्रामाण्यशङ्कालेशविनिर्मोकेन निर्वाहायेति प्रतिभाति । संयोगश्च त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगश्चेति । नित्यसंयोगश्च पूर्ववदेभिर्नाभिर्नाऽङ्गीक्रियते ।

कर्मणोऽनुमेयत्वम्, न पूर्ववत्प्रयक्षविषयत्वमिति भेदः ।

जातिष्वमी द्रव्यगुणकर्मवृत्तिसत्ताख्यां जातिं नाऽनुमन्यते । ब्राह्मणत्वादिजातिर्भाट्टानामभिमता, नैते तामङ्गीकुर्वन्तीति विशेषः । तदुक्तं शालिकनाथेन–'अत्र केचिद्गवादितुल्यतया द्रव्यगुणकर्मस्वपि सत्ताजातिमङ्गीकुर्वन्ति । तदिदमपरामृष्टजातितत्वानामुपर्युपरि कल्पित' मिति । (प्र० पं० पृ० २) 'अनयैव च दिशा ब्राह्मणत्वादिजातिरपि निवारिते'ति च ।

एवं शक्तिः, सादृश्यं, संख्या, समवाय इति चतुर्णां पृथक्पदार्थत्वमनुमन्यन्ते प्राभाकराः । एतावदेवैतन्मते प्रमेयमधिकृत्य वक्तुं पारितम् । यतश्च लब्धेऽपि प्रकरणपञ्चिकाख्ये ग्रन्थे प्रमेयनिरूपणपरं प्रकरणं तत्र विलुप्तमेव दरीदृश्यते ।

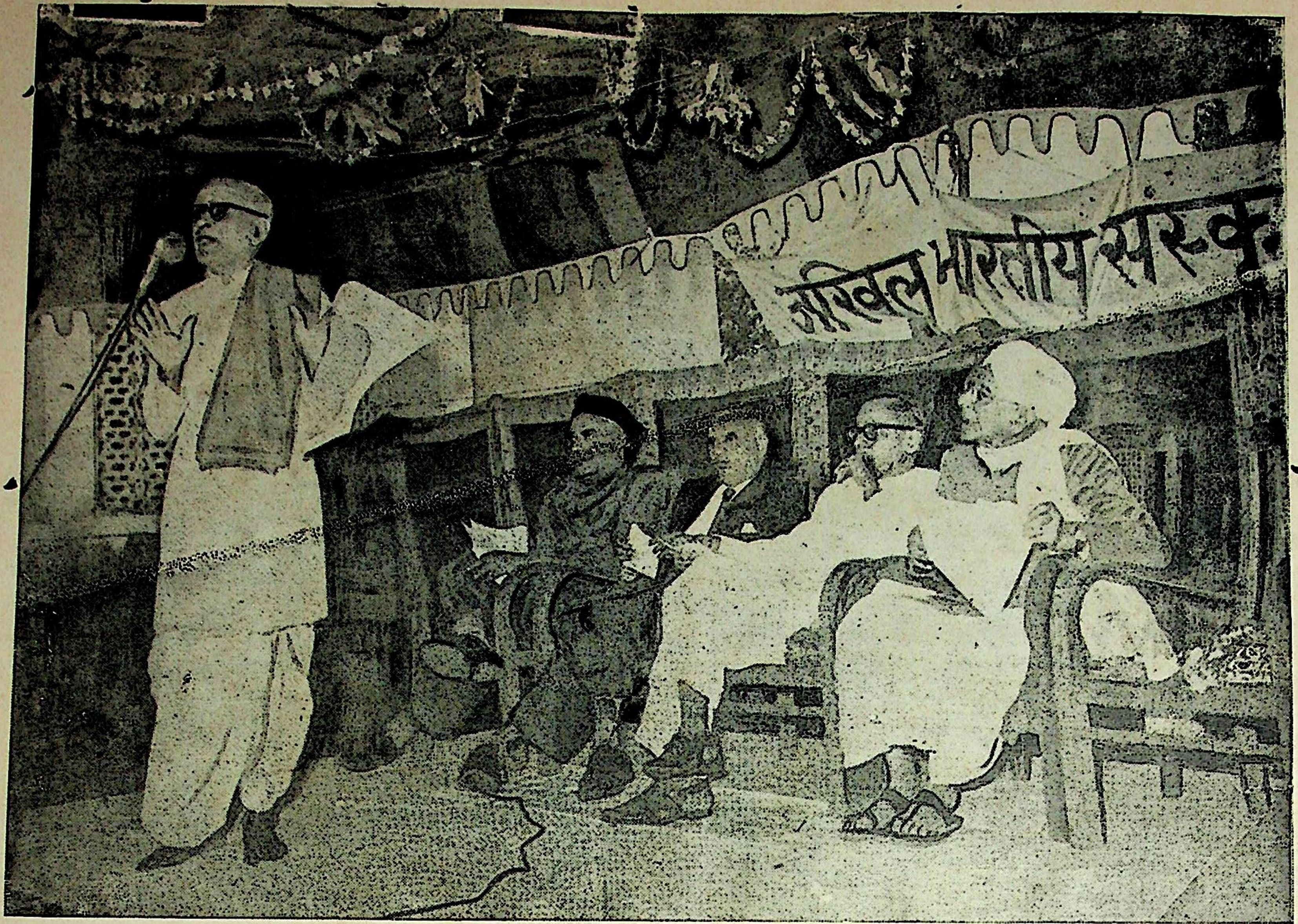
इति प्रभाकरमतेन प्रमेयनिरूपणम् ।



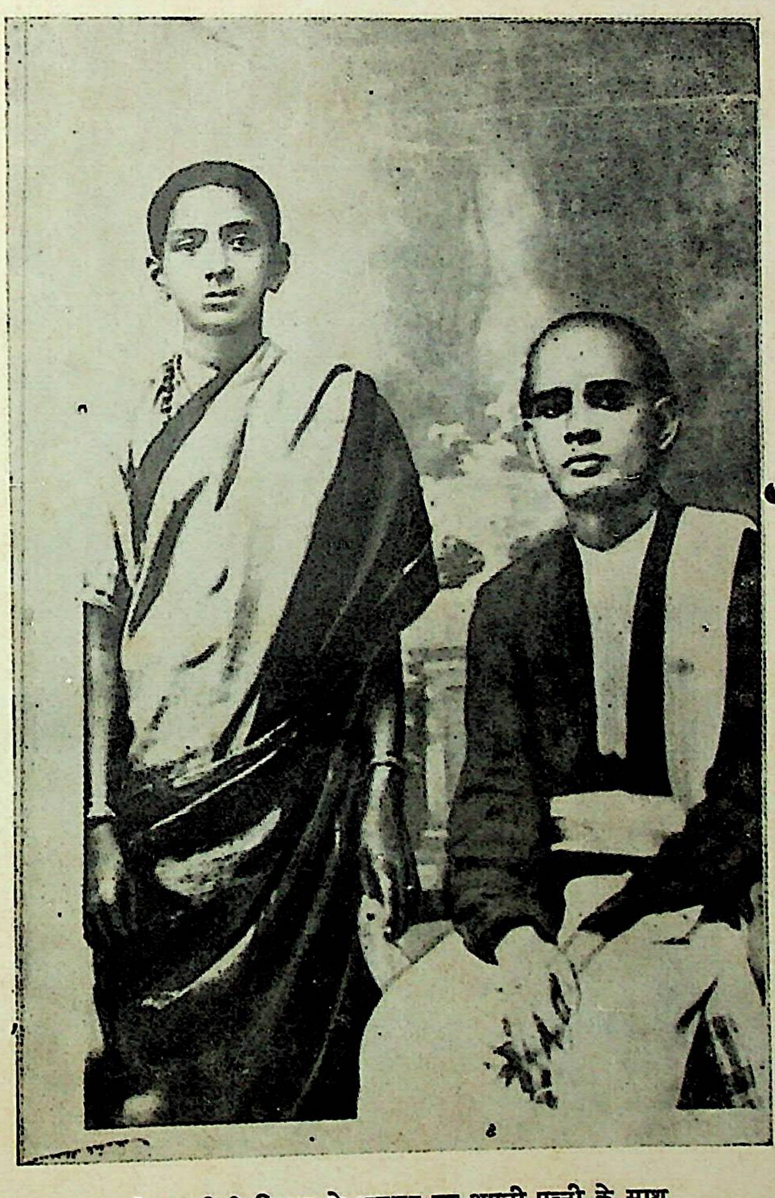
श्री शास्त्रीजी अपनी आराध्य देवता का ध्यान करते हुए



श्री शास्त्रीजी अपनी षष्ठ्यब्दपूर्ति के अवसर पर अपने परिवार के साथ



दिल्ली में अ० भा० सं० संमेलन द्वारा आयोजित श्रीमान् सी० पी० रामस्वामीअय्यर के अभिनन्दन समारोह में भाषण करते हुए श्री शास्त्री जी



श्री शास्त्रीजी विवाह के अवसर पर अपनी पत्नी के साथ



श्री शास्त्रीजी अपनी अन्तिम कन्या सौभाग्यवती शान्ति के विवाह के अवसर पर पूरे परिवार के साथ

परिशिष्टम्

"अभिरामचिदारामरामकल्पतरुश्रितम् ।
श्रुतिप्रियपिकं पट्टाभिरामं सुधियं नुमः ।।"

अभिरामचम्पूः

शिवजी उपाध्यायः

प्रथमो निश्वासः

वन्दे कविं कमपि विश्वसृजं स्वयम्भू-
भूमोल्लसन्नवरसात्मसुखस्वरूपम् ।
वन्दे च कामपि कटाक्षकलाविलासैः,
स्निग्धं जगद् विदधतीं त्रिजगद्विधात्रीम् ।। १ ।।

सत्यानृते मिथुनभावमिते यथैते
केचिन्नवीकृतसदातनवर्ष्मशोभे ।
संश्रित्य संसृतिसुखं सुखमाप्तकामे
वन्देऽधिकाशि सितसद्मसमे शिवोमे ।। २ ।।

जयति विबुधवाचामुच्चकैस्तत्त्वमेतत्,
परहितसदृगन्यन्नो हितं सद्धितं स्यात् ।
परमिह परमात्मश्रीकसारं समीक्ष्य,
प्रतिपलमुदयन्तः सन्ति सन्तो महान्तः ।। ३ ।।

अतिसुरमहिमोद्यद्रम्यभावेषु तेषु,
प्रथित-चरित-चारुष्वेव कश्चिद् विशेषः ।
अपकृतिमुपकृत्या सारयन्तस्सदाऽऽसी
गरमधिगलमुच्चैर्धारयन्तो जयन्ति ।। ४ ।।

अद्यत्वेऽपि क्षणलयवपुः क्लेशलेशं विधूय,
प्राणोत्सर्गादपि परहितप्रेप्सवस्साधवस्ते ।
द्वित्रानेतान् भुवि कलयतो मानसं मेऽधिरूढः,
स्वात्मारामः श्रयदभिधया कोऽपि पट्टाभिरामः ।। ५ ।।

नौमीड्यं तच्चरणयुगलं सारदा शारदाम्बा,
यस्य प्रीत्याऽजनि बुधविधेश्शारदाम्बेव पत्नी ।
प्रत्नीभूय प्रतिपलमियं यत्नतोऽप्याचरन्ती,
छायेवान्ते यमिह सुधियं प्राज्ञरत्नीचकार ।। ६ ।।

तं वन्द्यमाद्यगुरुशम्भुसखं सदारं,
संस्मृत्य सादरमुदा सुहृदामुदारम्।
हृद्याकलय्य महिमानमपार-
यन्त्यप्युज्जृम्भते कवयितुं किल वागियं मे ॥ ७ ॥

वाराणसी बुधवरं हृदयाधिराज्ये,
प्राज्ये प्रशाय्य मुदमञ्चति किञ्च यं पूः।
तस्याभिनन्दननिदर्शनमर्चनञ्च,
श्रद्धानिबद्धवचनैस्तनुतेऽत्र चम्पूः ॥ ८ ॥

तम्पूरयन्ति कविताकमितारमाराद्,
हारायितस्वनसुमावलिभिः कवीन्द्राः।
यम्पूजयन्ति नररत्नमुदात्तभावा-
ल्लोकेऽखिले नृजंनुषो गुणगौरवेण ॥ ९ ॥

श्रीमत्पट्टाभिरामः प्रथमगणनयाऽऽटीकते कोटिमेनां
तेनात्मानं कृतार्थीकृतमिव महितं मन्यमानोऽहमीहे।
वैदुष्यं यत्तदीयं गुरुतरमतुलं शिष्यसाहित्यपुष्यत्-
स्निग्धौदार्यञ्च यन्मे स्मृतिपथमगमत्तन्मया कीर्त्यतेऽत्र ॥ १० ॥

विष्वग् वाचोऽनुधावन्त्यतनु दिशि दिशिप्रायशो द्राग् यशोभि-
श्शुभ्राम भ्रान्तकक्षामतिशयविशदीकर्तुमुत्काः कवीनाम्।
साधूक्तीनाममीषां सुकृतितनुजुषामङ्घ्रिपद्मैकसद्यो-
द्यानान्तश्चारुचारी कविमधुलिडहं स्वं गुरुं संस्मरामि ॥ ११ ॥

❀

अस्ति समस्तव्यस्तविश्वाभिव्यक्तमहिममण्डिताखण्डभूमण्डलैकदीक्षादानव्रतमुपाचरत्, अमितज्ञान-ज्योतिःप्रदीप्तप्रदीपोज्ज्वलदनारतम्, सत्याहिंसाशान्तिक्षान्तिप्रभृतिप्रभूततत्त्वसञ्चितानन्तभावभास्वरप्रकाम-शुचितारतम्, श्रुतिस्मृतिपृथूकृतानुत्तमपथोपात्तचातुर्वर्ण्याश्रमधर्मशर्मोद्भूतगरिमोद्यद्विभारतम्, भारतं नाम निखिलजगन्नीवृदेकनीडमिव राष्ट्ररत्नम्।

यत्राद्यापि सततसन्ततायोज्यमानाध्वरोत्थभूमायितधूमावल्याकुलीक्रियमाणाहिमरश्मितुरङ्गमा नूनमनूरुशासनमतिक्रम्यातिवेगादतितरां श्राम्यन्तो वारुणीमाप्तुकामा मध्याह्नेऽपि वियन्मध्यवर्तिनस्ते प्लुतिमधि-कृत्योद्भ्रमन्तो नितान्तमाभान्ति।

यत्राद्यापि श्रुतिरश्रुतिः, स्मृतिर्विस्मृतिः, पुराणमपुराणम्, ज्ञानमज्ञानम्, ध्यानमध्यानम्, सुकृतम-सुकृतम्, क्षमाऽक्षमा, तपोऽतपः, शान्तिरशान्तिः, सत्यमसत्यम्, धर्मोऽधर्मः, शर्माशर्म, कर्माकर्म, अर्चाऽनर्चाऽऽ-गमचर्चाऽचर्चा, शौर्यमशौर्यम्, दर्शनमदर्शनम्, दयादाक्षिण्याद्यशेषगुणगणोऽवगुणो न प्रकल्पते।

किं बहुना, यत्राद्यापि कर्षकाः कृष्णमनुध्यायन्ति, रामानुगा राममर्चन्ति, वैष्णवा विष्णुमञ्चन्ति, शैवाश्शिवमनुस्मरन्ति, श्रौताः श्रुतिमुच्चरन्ति, स्मार्तास्स्मृतिमुद्गिरन्ति, पौराणिकाः पुराणपारायणमनुसरन्ति, शाक्ताश्शक्तिमनुगच्छन्ति, बौद्धा बुद्धमनुचरन्ति, जैना जिनमुनिमनुचिन्तयन्ति, तथेतरे यवना यावनीयमल्लेश-

मुच्चै रटन्ति, यीशुशीशूकृतास्तमीश्वरमामनन्ति—इत्थं यथायथं स्वस्वाध्वना धर्मसम्प्रदायाध्वनीनाः सम्यगनुतिष्ठन्तस्सर्वेऽपि स्वातन्त्र्यसुखमनुभवन्ति। राष्ट्रमेतत्त्वनेकधर्मोद्गतसम्प्रदायसमुदायसमुदयोन्नतं सदेकान्ततो नीत्या प्रजातान्त्रिकं धर्मनिरपेक्षमुद्योतमानं स्वजन्यजनतार्पितजनतन्त्रसूत्रमुद्दधानं सकलसौख्यमाधातुमत्यर्थमुत्कलिकाकुलमुच्चकास्ति।

किञ्च यदिदं भारतं नाम राष्ट्रम्—

आप्रालेयनगादथा च मलयादासागरान्तात्तटात्,
आचास्तोदयभूभृदम्बरतलात्काश्मीरसीमाङ्कितात्।
आवंगाङ्गकलिङ्गरिङ्गदखिलप्रान्तोच्चयादुन्नतं
विश्वाराधितराष्ट्ररत्नमतुलश्रीभारतं भारतम्॥ १२॥

तत्रैवंविधविविधविधिविधानानुसन्धानसन्तानसारोदञ्चद्गरिम्णि, विष्वगुदयदनन्तानन्तविश्वाश्चर्यकृन्महिम्नि, चतुरुदधिवेलोल्लासियशोलास्यलीलाद्रिश्रेणिदिव्यदुच्चतरशीर्षाभिषिक्तप्रतापतपनोद्भवदनवधिकधवलिम्नि, वनराजिभूरुहसस्यसम्पत्समुच्चयसमुद्गीर्णसम्पूर्णश्यामलिम्नि, नगराजनगराजिराजितासीमसुषमाच्छुरितान्तर्निस्सीमसीम्नि भारताख्ये राष्ट्रेऽस्मिन् नैकप्रान्तेष्वेको दक्षिणाशावधूटीनिटिलतटतिलकायमानः, प्रचुरप्रसरदैश्वर्यप्रभाऽङ्गराजरञ्जिताङ्गवसुमतीयुवतीकलकम्बुकण्ठालङ्कारभूतो विपुलभवविभवविलासविलसद्रासरम्यान्तरङ्गको मद्रास-संज्ञको नाम प्रान्तोत्तमो राजतेतराम्।

यश्च—

'तमिलनाडु'पराभिधयोन्नतो नतनुपत्तनवृद्धिसमृद्धिमान्।
विमलसागरकूलमधिष्ठितो वरुणपालितनव्यपुरोपमः॥ १३॥

किञ्च—

यत्रैकत्रविचित्रवैभवभरोद्भासिन्यमोघायुषः,
पुष्टाङ्गप्रभया सितेतरतया श्यामायमाना जनाः।
सस्त्रीका विहरन्ति हट्टपटले श्वेताम्बरोल्लासिनो,
भस्मश्रीच्छुरितोच्चभाललसिताकाराश्शिवाराधकाः॥

संघीभूय क्वचित्पथि प्रविहरन्त्येकेऽप्येनेके क्वचित्-
पाथोधेस्तटसैकतेऽम्बुनिचये केचित्प्रतोल्यन्तरे।
क्वाप्यन्येऽकटुवाचि पाटवभृतो वार्तासु बद्धादरा-
स्तुङ्गोत्तुङ्गतरेद्धसौधशिखरैरभ्रंलिहेऽस्मिन् पुरे॥

❀

अथात्र चटुलबहुलटान्ततमिलवाचामाचार्यताञ्चितानाम्, श्यामलिमानमाविभ्रताम्, कूर्परोर्ध्वसिताङ्गवासांसि स्वकीयसंस्कृतियशांसीव संवसानानां जनानां सम्मर्दभरभरे, समीकृतसुरेन्द्रपुरे, समुपात्तसम्पदुन्नतामितसमृद्धिवृद्धिविकस्वरे, भरतभूभूषायमाणमद्रासपत्तनप्रान्तरे, कामनीयकोदञ्चदच्छाच्छनारिकेलमधुरफलगुच्छकोच्छलच्छविविपुलवृक्षावलिच्छायसुलभपथपथिकजनाश्रयस्थलम्, परमपावनसुकृतपुञ्जोदञ्चदन्तरवनितलमञ्चप्रतिष्ठितोर्ध्वाम्नायपारम्परीप्रतिष्ठापकानेकपरमाचार्यवर्यपवित्रीकृतामलोत्तमाद्यशाङ्करपीठमहिमोद्गारिगरिमो—

ल्लसदमन्दज्ञाग्रदद्वैततत्त्वप्रकाशस्फुटप्रकाशिताशेषदिङ्मण्डलम्, भारतभारतीमातुरुन्नतकमनीयकटिकाञ्चनकाञ्चीव काञ्ची नाम किञ्चनास्ते भुवनमण्डनायमानयशोमण्डनमण्डिताखण्डमण्डलम् ।

यत्रोच्चच्छ्रुतिसस्वरारवमृचामोङ्कारनादोच्छलद्ब्रह्मानन्दरसामृतं मुहुरहो पातुं नरास्सत्वराः ।
श्रीमच्छङ्करवन्दनीयचरणाब्जीयाङ्करेखाङ्कितं, काञ्चीपीठमनुत्तमं विजयते काशीसकाशीकृतम् ॥ १४ ॥

यत्र किल काञ्चनकमनीयकाञ्चीपीठेऽधुना—

श्रीचन्द्रशेखरजयेन्द्रसरस्वतीतिख्याताभिधौ गुरुवरौ गुरुशिष्यकौ द्वौ ।
पद्भ्यां प्रमापितभुवौ तपसा यशस्कौ, कौचित्प्रतिष्ठितपदौ ननु शङ्करौ स्तः ॥ १५ ॥

अनयोरुभयोस्तुल्यश्रियोराचार्यवर्ययोः ।
सकाशे काशते काचित्प्रथाऽऽद्या सा हि शाङ्करी ॥ १६ ॥
श्रौताचारप्रचारेण धर्मतत्त्वोपदेशतः ।
निघ्नन्तौ राजतस्सन्तौ देशक्लेशमशेषतः ॥ १७ ॥

❀

तत्रैतादृशानुदिवसोपचीयमानसारस्वतज्योतिरुज्ज्वलेऽस्मिन् किञ्चनकाञ्चनीयकान्तिकलिताङ्गवर्णविमले काञ्चीनाम्नि मण्डले कश्चिदग्रहारोऽस्ति केषाञ्चिदग्रजन्मनाम्, स्वधर्मकर्माभिरतानाम्, साधुजनसमाचरितसाधुचरितानाम्, दाक्षिणात्यतमिलभाषिविप्रवंशावतंसानाम्, विश्वग्विश्वविशिष्टराष्ट्रियबृहद्दैलभागैकलघुतमांश इवैकत्र कोणे निर्वृतिमाप्तुकामो नूनं किञ्चिदाकुञ्चिताङ्गच्छटो, भूयसोदीयमानोदयशैलसूरोद्गतप्रथमकिरणभासोद्भासमानप्रभापूरोल्लासिपेलाशूरो नाम तत्रत्यभूसुरशूरोत्तमानामावासभूमिः ।

तत्र भूयस्तेषु सानन्दमन्योन्यमधिवसत्सु बन्धुत्वमापन्नेषु द्रविणविपन्नेष्वपि द्राविणसौहार्दसम्पन्नेषु लोकश्रुतिविरतेष्वपि श्रुतिसुखरतेषु साक्षादविबुधेष्वपि विबुधोपासकेषु द्रविणद्विजेषु कोऽप्यद्वितीयप्रचुरतरप्राक्तनपुण्यशाली, शालीनशीलौदार्यसोदर्यदयादाक्षिण्यादिब्राह्मणोचिताचारविचारसंस्कारसंवलितसमुदारसुमतीरितो राजकीयारक्षिगणाधिकारिपदप्रतिष्ठितो नित्यनियमनैष्ठिको द्रविणद्विजोत्तमो ज्ञातिजनप्रख्यातनामाऽऽसीत् ।

तत्र तद्गृहञ्चात्रलघुग्रामे लघीयोऽपि सुधाधौतदृढबद्धमूलप्रकृष्टविस्तीर्णतरभित्तिवितानमतिगौरवास्पदमुच्चैः किलोन्नतसौधोपहासमिव प्रकुर्वत्पवित्रतरमतितरामास्त ।

एकदाऽस्मिन् सुरसदनस्पर्धिसुकृतसमृद्धिसंशोभमानविपुलात्मस्नेहसौख्यसारसम्पन्महे मोदावहे गृहे सन्ततिसुखमनुभवितुकामस्य तस्य द्रविणद्विजोत्तमस्य पतिव्रतायां साधुसौजन्यशीलायां गार्हस्थ्यधर्मकर्मनिपुणायां निसर्गसरलायामनवद्यहृद्याभिनन्द्यसुषमायां जायायां शुचिशुभोत्तमे मुहूर्ते दक्षिणकुक्षितोऽनन्तच्छविच्छुरितातनुगौरसुन्दरोत्तमतनुशिशुर्जनुरधत्त ।

ततश्च—

पित्रोस्तेन सुतेन जातु जनितेनानन्दसीमातिगो-
ल्लासोऽभूदभितोऽप्यराजततरां तज्जन्मरम्योत्सवः ।
संस्कारोपचितिप्रणीतवयसा माराभिरामोऽर्भकः,
काले वृद्धिमितो बभूव तरुणः पट्टाभिरामाख्यया ॥ १८ ॥

भूयश्च—

दैवं दुर्दमनीयमेव नियतं लोकेऽवलोकामहे,
तद्धस्तप्रमितं फलाफलयुगं सौभाग्यदौर्भाग्ययोः।
तारुण्यं स्पृशतोऽस्य येन कुटिलं लीलायितं वेधसाऽ-
काले तस्य हि बालकस्य पितरौ क्रूरेण हा! संहृतौ ॥ १९ ॥

हन्तानाथतया स्वमातुलगृहं प्राप्तः पुनश्शिक्षया,
किञ्चिद्बोधमवाप्य पूर्वजननप्रोद्भूतपुण्यार्जनात्।
दूराद्देवगिरोऽद्वितीयनगरी वाराणसीतिश्रुते-
राकृष्टोऽयमथाययौ हरपुरीमध्येतुकामो युवा ॥ २० ॥

विदूरमार्गश्रमजन्यखेदतोऽप्याखिन्नचित्तेन मुहुर्विचिन्तयन्।
स॰काशिकामेष समेत्य सादरं, सुभाग्यतस्सद्गुरुमेकमन्वगात् ॥ २१ ॥

जैमिनीयागमज्ञानप्रज्ञापारपयोनिधेः ।
श्रीचिन्नस्वामिनःपार्श्वेसमुवाससुतो यथा ॥ २२ ॥

इत्यभिरामचम्प्वां प्रथमो निश्वासः।

अथ द्वितीयो निश्वासः

अथास्मिन् त्रिभुवनमण्डले शम्भुत्रिशूलमूलोदग्रशिरोऽधिष्ठानमासाद्य न्यक्कृतनिश्शेषलोकालोक्यमानसम्मानितान्यनगरीगरीयसी, पुण्यपयःप्रवाहपरिपूतोर्मिमालोच्छलदमलच्छायोच्छ्रायितानुकूलवृहत्कूलच्छटोल्लासप्रसारितात्ममहामहिमामरधुनीरमणीयतटान्तवासमहीयसी, अनवरतविश्वदृश्वदृगब्जत्रितयधृक्त्र्यम्बकदीव्यदुन्नतनिटिलतटस्यन्दमानसुरसरिदम्बुकणनिचयार्द्रपादपद्मावनम्यमानसामान्यमानवोपमसामरेन्द्रोपेन्द्रसमग्रविबुधवृन्दस्तूयमानयशोराशिप्रकाशप्रकटप्रभूततमप्रभावभास्वरभास्वद्भूरिविभोद्भूतमाहात्म्यसंवृतामन्दमन्दस्मितिलसदास्यमञ्जुसितच्छुरितभूतिभासुरसाम्बशम्भुगुरुगौरगरिमगौरवोद्गारविकसदमितविस्तीर्णतरद्वारदेशद्राघीयसी स्वात्मन्येकत्रप्रकाशीकृतनिखिलभारतीयसंस्कृतसंस्कृतिसंस्कारसंवलनसमूहितसकलसुकृतशालिमहिमसम्पृक्तदृढभूमिद्रढिमद्रढीयसी, भुक्तिमुक्तिसूक्तिसम्भृतभक्तिगिरिशानुरक्तिजगदनासक्तिपूर्णशिवसायुज्यप्रसक्तिप्रदानप्रथीयसी, कापि शुचितरचतुर्वर्गसुखसारसौरभसुरभीकृतावनिर्भूतेश्वरदेवाधिदेवस्य भगवतो विश्वनाथस्य राजमानानुपमराजधानी प्रविकाशीशवैभवप्रकाशिनी काशीति त्र्यैलोक्यातिशायिनो परितोऽतिपावनी क्षालिताखिलपङ्के सुरसरिदङ्के सङ्काशतेतमाम्।

त्रिलोक्यामेकान्तप्रथमगणनीया गुणिजनै-
र्जगत्यामागत्याऽप्यजनि नगरी काऽप्यनुपमा।
अमुक्तानां मुक्त्याश्रय इह समाराधितशिवा,
शिवा श्रीकाशीयं जयति परमात्मैकनिलया ॥ १ ॥

कलामर्मज्ञानां विविधविदुषामाकरधरा,
हराकाराणां सद्द्विजगुरुवराणां सुवसतिः ।
समग्रज्ञानोद्यच्चिररुचिरदीपोज्ज्वलशिखाऽ-
वभासश्रीकाशीकृतसुतनुकाशी विलसति ॥ २ ॥

यदङ्के खेलन्ती सुरसरिदमन्दाम्बुलहरी,
निहन्त्यंहोव्रातं तटमुपगतानामविरतम् ।
यदुत्सङ्गे रङ्गे नटति नटराजः सह गणै-
र्महेशानो ध्वानोन्मुखडमरुभृत्सा शिवपुरी ॥ ३ ॥

क्वचिद् वेदान् वेदोत्तरनिगमवेदान्तधिषणैः,
क्वचिद् वाक्यं वाक्यश्रुतिपटुनयन्यायनिपुणैः ।
पदं क्वापि प्रख्यापितसुपदसाहित्यरसिकैः,
पठद्भिश्शंसद्भिश्शिवपुरि मिथस्सद्भिरुषितम् ॥ ४ ॥

किञ्च—

विशिष्यविश्वातिशयैर्विशेषैर्विशिष्टशिष्टैर्गुरुभिः श्रुतिज्ञैः ।
विशेषितायां किल काशिकायां विकासिकायां किमु वैभवं नो ? ॥ ५ ॥

मनस्याकलयँश्चैतत्काशिकैश्वर्यमद्भुतम् ।
युवा पट्टाभिरामोऽयं विस्मयं परमं ययौ ॥ ६ ॥

महर्षिप्रख्यमाश्रित्य श्रीचिन्नस्वामिनं गुरुम् ।
मीमांसामुख्यतर्कादिशास्त्रान्तरमधीतवान् ॥ ७ ॥

महादेवोपमश्रीमन्महादेवगुरोः कवेः ।
अध्यगीष्टाखिलं सोऽयं साहित्यं शास्त्रभूषणम् ॥ ८ ॥

वैदुषीमागमेष्वाप्य नैपुणीमाप्य पाठने ।
औचितीमुचिताचारे सम्यगाप्य सुधीर्बभौ ॥ ९ ॥

❀

तदनु श्रीमत्पट्टाभिरामशास्त्रीतिप्रथिताभिधानवतोऽमुष्य महतो विद्वदग्रेसरस्य समधीतवाक्यतर्काद्यनेकशास्त्रविद्यस्य विद्यावदातद्युतिद्योतमानप्रातिभज्ञानकीर्तिः काश्यामत्रान्यत्र च प्रदेशान्तरेषु सुधियां समाजे प्रससार ।

वाराणसीमधिवसतोऽस्याभिरामनामवपुषो निजातिप्रियान्तेवासिनस्सौम्यशीलसम्पदाकृष्टचेतसश्चिन्मयश्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिचरणास्सुधीश्वरा गुरुवरा नूनमेनं गार्हस्थ्यमाग्राहयितुकामास्ते सर्वथाऽप्यर्हतममवेक्ष्य तदर्थमनुमत्यात्रैव काश्यां स्ववंशीयसजातीयसुहृद्बान्धवस्य कस्यचनात्मजया निजात्मजकन्यकयेव सम्मानितया सुलक्षणया सुभगश्यामलया मानवीकृतयेव शारदाम्बया समुचितसंज्ञया शारदाम्बया समं सविधि पाणिग्रहणमाकारयाञ्चक्रुः ।

ततोऽस्य श्रीमतोऽभिरामस्य प्रकामकामाभिरामस्य यथास्वं यौवनसुखसारमपारमनुभवतः कालक्रमेण चतस्रः कन्यकास्समभूवन्। दैवात्सुतमुखावलोकनसुखाद् विरहितमात्मानमालोक्यापि सुतनिर्विशेषं कन्यारत्नचतुष्टयं शिष्यनिवहञ्चावेक्षमाणो मन्यमानश्च सजायोऽयं शास्त्रिवर्यो न कदाचित्क्लेशलेशमप्यन्वभवत्। प्रत्युत सपत्नीकस्ताः कन्यकास्सस्नेहमापालयँल्लालयन् सम्पोषयन् सविधि शिक्षयँश्च परमानन्दामन्दवृन्दमविन्दत।

तथैताश्चतस्रोऽपि रत्नभूतास्सुतास्सुशिक्षिताः पित्रोस्सकाशात्सौशील्यमुपेताः सम्प्राप्तवयसो युवत्यस्सत्यस्समये समनुरूपसुरूपसमन्वितान् सुकुलजान् नयविनयसदाचारोपेतान् सुयोग्यतयाऽधिकृतोच्चपदान् सुमतीन् पतीन् जननीजनकानुयोगादासाद्य सम्प्रति सम्प्रतिपन्नसौख्यसम्भारसम्भृतस्वस्वभर्तृवेश्मश्रियमभिवर्धयन्ति।

किञ्चेत्थं साधुस्वरूपश्रीशास्त्रिचेतोविषयिणी श्रुतिसम्मता मतिरजायत—

पुत्रीयन्ति परे हि ते कृतधियो विद्यावदातश्रियो,
विद्यार्थिप्रणयार्पितप्रणतयो नो सन्ति हन्तात्र ये।
येषां पादसरोजसङ्गविलसत्पुत्रालिशिष्यावलि-
स्तेषामत्र परत्र पुत्रकृतकैः किंवाऽस्तु'लभ्यं सताम् ॥ १० ॥

न तनयस्तनयाऽप्यथवाऽतनोस्सुयशसस्तनुते ततिमुन्नताम्।
शुचितया कृतकर्मतया तथा गुणितया गुरुकीर्तिरवाप्यते ॥ ११ ॥

विमनुते भुवि विश्वकुटुम्बितां सुमनसां निवहो मुदितात्मनाम्।
जगति यो ममकारमशेषतस्त्यजति साधुजनो हि जयत्यसौ ॥ १२ ॥

इति धिया सुधिया ननु शास्त्रिणा श्रुतिपरायणतां समुपेयुषा।
गुरुपदाब्जजुषा विदुषां दृशा न किल किञ्चिदचिन्ति हृदाऽन्यथा ॥ १३ ॥

अप्यत्र काश्यामेव श्रीशास्त्रिवर्यः—

सकलपण्डितमण्डलविश्रुतो विनयवागभिरामवपुःश्रिया।
शिवशिरोगतचन्द्र इवोदयन् हरपुरे स हि शास्त्रिवरो बभौ ॥ १४ ॥

❀

अथैकदा कर्णाकर्णिकया संलब्धमीमांसासाहित्यन्यायाचार्यपदवीकस्य, गुरुसुश्रूषया विधिवदधीतहृद्यानवद्यविद्याविद्योतमानमुखप्रभस्य, संलेखसम्भाषणशास्त्रीयचर्चाकाव्यकलाभिज्ञानग्रन्थग्रन्थिमर्मोद्घाटनसम्पादनादिकार्यपटुशेमुषीकस्य, साधुसभ्यसहृदयसुधीजनसमाजोचितचातुरीकस्य, तस्यास्य श्रीशास्त्रिवर्यस्यापश्चिमचरमोच्चवैपश्चिती—"दिगन्तव्यापियशसां कोमलकान्तचेतसां धवलोदात्तपेशलवेशलसिताङ्गवाससां सोष्णीषशीर्षोदञ्चदभिवन्दनीयस्वच्छस्वच्छविच्छायोल्लसद्वपुषां नैकनरराजमहाराजकाशिराजजनताजननेतृवृन्दाभिनन्द्यमानप्रतिभासमानासमानप्रतिभाप्रकाशजुषां विमलमतिजुषां सकलसचेतसां स्थविरसुवयसां सफलसुमनसां महामनसां श्रीमन्मदनमोहनमालवीयमहाशयानां विश्वविश्रुतहैन्दवीययशोमहनीयविश्वविद्यालयसंस्थापकानां श्रवणपथातिथीबभूव।

ततश्चैनमाहूय नव्यदिव्यविबुधवागुपासकं दाक्षिणात्यविप्रवंशावतंसायमानसुचारुतारुण्यतरुणायितात्मविद्यारुणमुखश्रीकं सर्वत्र विद्वत्सभागतसम्भाषणशास्त्रार्थप्रवचननिर्भीकं बुधवरं श्रीशास्त्रिणं स्वीयविश्वविद्यानिलयाभ्यन्तरे प्रथितयशसस्साधुमहामनसस्ते मालवीयमहात्मानो मीमांसाप्राध्यापकपदे प्रतिष्ठापयामासुः।

अत्रावनिमण्डलमण्डनायमानेऽस्मिन् विश्वविद्यायतने प्रतिष्ठितप्राध्यापकपदमध्यलङ्कृत्य स्वाध्यायाभ्यसनशिष्याध्यापनकर्माभिरते श्रीशास्त्रिवर्ये कतिपयवत्सरास्सप्ताहदिवसा इव झटिति व्यत्यगच्छन्। विद्याप्राशस्त्यञ्चास्य परिपुष्टिमासाद्य प्रसृतिमवाप।

स एष शास्त्रिप्रवरोऽत्र विशदविशालविविधविभागीयहैन्दवीयगरिमाञ्चितविश्वभारतीविलासभूमिभूषायमाणविस्तीर्णतरप्राङ्गणप्रमाणरमणीयपरिसरप्रशस्तशाश्वतसारस्वतमन्दिरे स्वाध्यायाध्यापनसमये नैकधुरन्धरधीधनानां विद्वज्जनानामन्तिकमुपस्थाय, कदाचिज्जैमिनीयन्यायसूत्राख्यातक्रियाविधिविशेषितश्रौतवाक्यार्थतत्त्वविचारसमर्थितभावनोद्भूतज्ञाततासंविदालोचनया, कदाचिदक्षपादीयतर्कप्रकर्षप्रणीतप्रमाणमपि निर्णयैकनिकषायमाणपटुकठिनवागवच्छेदकावच्छिन्नकार्यकारणभावव्यापकव्याप्तिजन्यानुव्यवसायात्मकज्ञानपरामर्शपरिचर्चया, कदाचिद् भरतीयसूत्रोचितललितोचितशब्दार्थसहभावसमञ्चितसरससाहित्यरसनिष्पत्तिवादोन्नीतव्यङ्ग्यव्यञ्जकान्वयसमन्वितालङ्कारशास्त्रसमीक्षया चेत्थमहर्निशं सम्पूर्णशास्त्रान्तरेतिहासपुराणस्मृतिनीतिधर्मागमोपनिषद्योगतन्त्राद्यखिलदर्शनसारसमाकलनया कालमनैषीत्।

किञ्च—

शिष्याधिपाठनपटुत्वभृतोऽस्य पार्श्वे दूरादुपाययुरधीतिन उद्गताशाः।
नक्तन्दिवं पिपठिषूनखिलानथैष प्राध्याप्य गौरवगुरुत्वपदं बभाज॥ १५॥

विभ्राजमानगुरुकीर्तिरयं मनीषी काशीशितुः प्रियतया निखिलप्रियोऽभूत्।
श्रीमालवीयकृपयोच्चपदप्रतिष्ठं वीक्ष्यैनमन्यसुधियस्स्पृहयाम्बभूवुः॥ १६॥

नम्रीकृतस्वशिरसाऽऽप्तशुभाशिषा च शर्माधिगत्य सकलत्रमिह व्यराजीत्।
सोऽयं सुधीस्समनुरूपतया गुरोश्च वैदुष्यभूषिततदीयतुलामधत्त॥ १७॥

वर्णाश्रमोचितसदाचरणप्रवीणः श्रौतार्थसार्थपरिशीलनसौम्यशीलः।
रामानुरक्तिशिवभक्तिसमृद्धिपीनः कश्चित्स एष सुकृतांश इवावतीर्णः॥ १८॥

अनन्तरञ्च—

एतदीयमहनीयतरोद्यद्बुद्धिसिद्धविभवेन समन्तात्।
कृष्टकृष्टहृदयस्सदयः श्रीमालवीयविबुधो मुदमाप॥ १९॥

लब्धुमेकमसमं बुधमच्चैरेकदा जयपुरादधिकारी।
राज्यमुख्यसचिवो ननु मिर्जास्माइलाख्य इह भूमिमुपेतः॥ २०॥

मालवीयविबुधान्तिकमेत्य प्रार्थयत्स बुधमाप्तुमनिन्द्यम्।
राजकीयसुरवाङ्निलयस्याचार्यवर्यपदवीमधिकर्तुम्॥ २१॥

तत्कृतार्थमतयार्थिजनस्य प्रार्थ्यपूर्तिपटुकीर्तितकीर्तिः।
चेतसा स हि महात्मवरिष्ठश्शास्त्रिणं बुधवरं स्मरति स्म॥ २२॥

अनीहमानोऽपि महामना इमं सुतोपमं प्रेषितवान् जयत्पुरम्।
तदाज्ञया शास्त्रिवरोऽप्यनिच्छया विहाय काशीं नगरान्तरं ययौ॥ २३॥

इत्यभिरामचम्प्वां द्वितीयो निश्वासः।

अथ तृतीयो निश्वासः,

राजस्थानाञ्चलीयाढ्यं राजधान्यास्पदीकृतम् ।
जीयाज्जयपुरं राज्यं वीरराजसुतोन्नतम् ॥ १ ॥

तत्किल पाटलपटलपाटलीकृतश्रि, श्रीमदभितोऽधुनातनाभिनवशिल्पिशिल्पकलावभासितसितोच्चतर हर्म्यसरणिरमणीयपरिवेशविशेषपेशलोद्देशश्रेणिबन्धमनोहरम्, प्राक्तनपत्तनश्रव्यभव्यसभ्यसभ्यतोर्जस्वियशस्विस्वीकृतगरिमगौरवान्विताद्यतनप्रकाशभरोद्धुरम्, शूरवीरक्षत्रियराजपुत्रोपार्जितैश्वर्यशौर्यवीर्योदयदमितादमितप्रतापोज्ज्वलदतुलप्रभावोद्भवदसमावभासोल्लसदनितरसाधारणप्रभूतयशोराशिभूषितान्तर्धरम्, कविकोविदकालकलाविदितकार्मणकर्मदक्षगुणिजनग्रामनगरनागरनागरिकसमूहितसमूहव्यूहराजितान्तराजिरम्, भारतभारतीचरणकमलकलकम्रनूपुरं जयपुरं नाम नगररत्नमुद्योतते ।

अपि च—

शतसहस्रसतीव्रतदीक्षया, समुदितं परितोऽपि यशोऽन्वितम् ।
प्रचुरराजकुलोद्भवभास्वरं, जयपुरं नगरं भुवि राजते ॥ २ ॥

तत्रोपेत्य मनोरमोत्तमजयपुरप्रख्यातसंज्ञे पुरे,
श्रीशास्त्री ननु राजकीय सुरवाग् विद्यालयप्राङ्गणे ।
तत्रत्याखिलविज्ञनम्रसकलच्छात्रैश्च सम्मानितः,
प्राचार्यत्वमुरीचकार विपुलप्रज्ञाप्रदानक्षमः ॥ ३ ॥

श्रीशास्त्रिप्रवरोऽत्र शास्तृपदभागाचार्यतालङ्कृतः,
तत्त्वत्रैतमवाप्य कामपि परां दृक्कोटिसृष्टिं दधौ ।
शास्त्रित्वेऽपि च शास्तृता किल धृताचार्यत्वसत्त्वेऽपि सा,
यच्चैकत्र बुधेऽत्र राजितवती प्राचार्यताऽङ्गीकृता ॥ ४ ॥

तत्राध्यापनकर्म शासनविधेर्मर्म प्रविज्ञैस्समं,
धर्मार्थोद्भवशर्म मित्रनिवहे नर्मादधानस्सुधीः ।
शास्त्रीयप्रथितात्मसद्गुरुतया छात्रीयसम्पत्तया,
श्रीशास्त्री यतिवर्यवत्पुरजनैर्वन्द्योऽभिनन्द्योऽभवत् ॥ ५ ॥

भूयो भूरिगुणैरमुष्य सुधियः पाण्डित्यपूर्णैरसा-
वाकृष्टो जयपत्तनाधिप इमं सत्कृत्य सम्माननात् ।
'विद्यासागर' इत्युपाधिमुचितं विद्याब्धये शास्त्रिणे,
दत्वाऽस्मै मुदमीयिवान्नरपतिः श्रीमानसिंहः कृती ॥ ६ ॥

एकदा खल्वेकस्मिन्नहनि जयपुरेऽत्र निजावासगृहमधिवसन्तमतिवसन्तश्रीकं, सस्त्रीककन्यकमनन्यसामान्योदात्तावदातकान्तिकान्तमनन्तशान्तिशान्तमपारशेमुषीकमिमं गुरुवरं श्रीशास्त्रिवर्यं विदूरादुपश्रुत्य तद्गौरवाकर्षणोपजातसमुत्कण्ठाकुलो, भृशातुरश्चैको जिज्ञासुरल्पवया, निसर्गग्रामार्भकोचितानर्घगुणमण्डनो मण्डनो नाम बालः कृशतरकायकान्तिस्स्वभवननिर्गमनाध्वजन्यक्लान्तिकवलीकृतात्मशान्तिश्शान्तिमूर्तिरध्येतुकामो वरतनुवरतन्तुमुनिमन्यतरकौत्स इवाभ्युपेत्य पादयोः प्रणनाम ।

ततश्चैतन्मुखोदीरितक्षीणतरस्थितिश्रवणविज्ञाततदुदन्तोपसञ्जातस्नेहस्निग्धान्तरङ्गः, कृततदन्तनिष्ठगृहमोहभङ्गः, सप्रेमपृष्टकुशलक्षेमप्रसङ्गः, सजायः श्रीशास्त्रिवर्यः सुतनिर्विशेषमिमं शरणमुपागतं सम्यक्साधुस्वभावसद्भावभूषितं सुश्रूषुमश्मश्रुकास्यसुषमोल्लसितकलेवरं सकलान्तेवासिमण्डलमण्डनं मण्डनं नाम बालमङ्गीकृत्य सम्यगापोष्य सम्पाल्य सम्प्रसाद्य विनेयमापाद्य विद्वद्विधेयमुन्नीय साहित्यमीमांसादिशास्त्रशिक्षयोच्चतरयोग्यतापात्रीकृतमकृतकमिवात्मीयपुत्रीकृतमुच्चकैः पदमध्यारोप्य प्रतिष्ठास्पदमधिष्ठाप्य च तमद्यापि तद्वदेवाभिमन्यमानोऽयं नितरां मुदमवाप्नोति ।

स एव सम्प्रति सम्प्राप्तविद्योदयोद्द्योतमानोत्तमनिर्मलप्रज्ञो गगनाङ्गणोडुगणमण्डनोद्यन्नवेन्दुसुन्दरवदनो मदनोपनामा श्रीमण्डनो मूर्तो मदन इवान्यतमो विधिव्यवहृतिप्रकृतिप्रकारेङ्गिताभिज्ञानविज्ञानविज्ञस्सहृदयादृतसाहित्यरसरसज्ञस्सुष्ठुनव्यप्रसृतसाम्प्रतिकस्वतन्त्रतन्त्रनयज्ञः, संलब्धसमपेक्षितसमग्रसांसृतिकसौभाग्यसम्पदधिकारसम्भारसुमनोमनोज्ञस्सन् भव्यभारतराष्ट्रराजधानीदिल्लीस्थसंस्कृतविद्यापीठमधिकृत्याधिकारितया तत्र प्राचार्यतां विभ्रद् विभाति ।

ततश्च—

जयपुरमधितिष्ठन् शास्त्रिवर्यो मनीषी,
विमलमतिविनेयान् शिक्षयन् मण्डनादीन् ।
कतिचन ननु रम्यान् वत्सरान् यापयित्वाऽ-
गमदथ कलिकाताविश्वविद्यालयेऽयम् ॥ ७ ॥

पुनरयमिह दीव्यत्कालिकाख्यातपुर्यां,
निखिलनगरधुर्यां शास्त्रिवर्योऽध्युवास ।
अधिगतपदभारो नूनमाचार्यताया-
श्चरममहिमभासोद्भासमानो मनस्वी ॥ ८ ॥

नवतमपरिवेशप्राञ्जले चाँगलशिक्षा-
प्रथितविततकीर्तिप्रोज्ज्वले भारतीये ।
अयमिह पुरि राजद्विश्वविद्यालयेऽस्मिन्,
ध्रुवमपि धुरि विद्वान् कीर्तितोऽभूद् गरिम्णा ॥ ९ ॥

गुरुरयमखिलानामुग्रपाश्चात्यसंस्कृ-
त्युपहितमतिकानां शिक्षकानां किलात्र ।
अपि च तदनुगानां छात्रयूनां सकाशे,
श्रुतिविहितविधीनां तत्त्वमाविश्चकार ॥ १० ॥

❀

किञ्चामुष्मिन् विश्वविश्रुतवृहत्तरपत्तनीयप्रभूतजनवृद्धिसमृद्धिसम्पन्नविकटविविधवाहनसंकटसंबाधनिकटपूर्यमाणतूर्यवदुपचीयमानतारस्वरमुखरमानवसम्मर्दसंकुलसंक्लिष्टपरिसरे, उच्चतरसंश्लिष्टसमुत्कृष्टाट्टालिकावलिविलसदुन्नतप्रसरदसंख्यशिखरकोटिचुम्बदम्बरतलान्तरे, निखिलप्रान्तीयदेशीयदेशान्तरीयक्षेत्रीयद्विजक्षत्रियवणिगितरनैकजातीयमनुजसमुदायसमुदयदनन्तभवविभवभरे, वंगीयभासुरभूसुरवैदुष्यभूष्यमाणबहुतरसुरभारतीसदनोदञ्चदकुण्ठकण्ठविवरोद्गीर्णश्रुतिमधुरश्रुतिस्वरसहितप्राच्यार्वाच्यप्रवाच्यमानकविकाव्यश्लोको -

परलोक्यमानयशःप्रकरे, वंगभाषोद्भासितास्यबहुलवंगीयालिबद्धपरिकरोल्लसितसिताम्बरश्रीमेदुरे, रामकृष्ण-विवेकानन्दकवीन्द्ररवीन्द्रसुभाषाद्यनेकमहात्मवरनेतृप्रवरस्वातन्त्र्यसंग्रामशूरवीरमहीयमानमहीगीयमानगरिममण्डितान्तर्वसुन्धरे, सुरसिन्धुसिन्धुपुण्यसलिलक्षालितपादान्तपूतकलेवरे, विगलिताखिलगरे कलिकाताख्यातनगरे श्रीशास्त्रिवर्यो विश्वविद्यालयीयाचार्यपदवीं विभ्रदनेकान् पार्श्वमुपेतान् जिज्ञासुविद्यार्थिजनानधिकानधिकृत्याधिकारितयाऽध्यापयाञ्चकार।

वंगीयवागधिकृतप्रतिभाविकासान्, आँग्लीयगीरधिकृताधुनिकप्रकाशान्।
वाचस्पतिप्रभृतिशिष्यवरान् बुधोऽत्र संस्कृत्य संस्कृतगिरा विदुषो व्यधत्त ॥ ११ ॥

छात्राश्च काश्चन सुरूपसुशीलवत्यः, श्रद्धादरार्जितसमेधितबुद्धिमत्यः।
वंगालवाललतिताङ्गलता इवैताः प्राध्यापिता गुरुवरेण विरेजिरे ताः ॥ १२ ॥

वंगाञ्चलीयधरणीरमणीललाटेऽलङ्कारबिन्दुनगरं ननु कालिकायाः।
अत्रोपगत्य गुरुशास्त्रिवरो विरेजेऽलङ्कारवाक्यगततत्त्वविदग्रगण्यः ॥ १३ ॥

❀

किञ्चादसीयशिष्याणां मनसीदमुत्तमभावभरितमक्लिष्टसंश्लिष्टकोमलकान्तपदावलीकमष्टकं गुरुवरं श्रीशास्त्रिवर्यमुद्दिश्य प्रादुरासीत्—

लङ्कादिनाथनगरीमहनीयलङ्काऽलङ्कारकुम्भकरणाद्यसुरैकहन्ता।
लङ्काधिपारिविभुराम इवाभिरामोऽलङ्कार एष सुधियां सुपटाभिरामः ॥ १४ ॥

आहोस्विदेष शुचिसारदशारदाम्बासंसेव्यमानचरणाम्बुजशम्भुरीशः।
किं वाऽम्बया सपदि शारदयाऽऽश्रितोऽयं, ब्रह्मश्रियोल्लसति कोऽपि विधिस्सुधीशः ॥ १५ ॥

सोऽयं सुरेन्द्रसुरवन्दितपादपद्मोतथ्यानुजो विधिरिवात्र गुरुर्गरीयान्।
श्रुत्युम्भितस्वरविकस्वरचारुकण्ठप्रोच्चारितागमगभीरनयप्रविज्ञः ॥ १६ ॥

शब्दापशब्दगतभेदविचारचर्चाशब्दायमानमुखनिर्गतशाब्दबोधः।
सौशब्द्यसौष्ठवसमर्चितशब्दमूर्तिर्नारायणोऽयमजनिष्ट नरावतारः ॥ १७ ॥

नाकेऽधिराज्यमधिराजितदेवराजोऽनुष्ठानकर्मकृतयज्ञशताभिषिक्तः।
लोकेऽत्र सारितशतक्रतुधर्मदीक्षाशिक्षाप्रदानपटुरेष महेन्द्रकल्पः ॥ १८ ॥

क्षीणे च पुण्यनिचये दिवि मर्त्यलोकं शोकान्वितास्सुरगणा ननु संविशन्ति।
अक्षीणमक्षययशोऽर्जितपुण्यराशिं, काशीकृतं समधिगम्य सुरोत्तमोऽयम् ॥ १९ ॥

प्रज्ञानवैभवविभोद्गतविप्रकाशो, विप्रोन्मिषन्नवनवप्रतिभाप्रदीप्तः।
विप्रो नु किं विसरदुज्ज्वलविप्रभासाविभ्राजमानवपुरेष रविर्नवीनः ॥ २० ॥

विशेषः—यथोक्तं विष्णुपुराणे—

काव्यालापाश्च ये केचिद् गीताकान्यखिलान्यपि।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः ॥

संकाशमानशरदभ्रशशाङ्कलेखासंकाशसुस्मितिलसद्द्युतिभूषितास्यः ।
शङ्के कलङ्ककलुषीकृतकायमारादुज्झित्य संस्कृततनुर्विधुरेष कश्चित् ॥ २१ ॥

❀

पट्टाभिरामाष्टकमुद्गिरन्तस्सन्तस्समे मोदमवाप्नुवन्तः ।
अन्ते वसन्तस्सुखमुल्लसन्तश्शान्ति परां कीर्तिकलां लभन्ते ॥ २२ ॥

श्रीमत्पट्टाभिरामोद्यद्गौरवोत्कृष्टमष्टकम् ।
अक्लिष्टाश्लिष्टवाचोच्चैश्शिष्यवृन्दोपकल्पितम् ॥ २३ ॥

सस्वरं सुस्वरं सम्यक् सच्छिष्योदीरितं परम् ।
सादरं पठतामेतद् भूयाद्भूरितरं सुखम् ॥ २४ ॥

❀

अपि चात्र—

वंगीये किल कालिकोत्तमपुरे संयोज्यमाने शुभे, राष्ट्रीयाखिलसंस्कृतप्रणयिनां सम्मेलने सादरम् ।
श्रीराजेन्द्रसुधीन्द्रराष्ट्रपतिना सोऽयं बुधेन्द्रो महान्, 'विद्यावारिधि' रित्युपाधिविपुलाङ्कारपात्रीकृतः ॥ २५ ॥

ततश्च—

तदनु सोऽयमुपार्जितधीधनः, सुमनसां सदसि श्रुतिविश्रुतः ।
समनुरोधवशाद् विदुषां पुनः, शिवपुरीं सुकृती समुपापयौ ॥ २६ ॥

इत्यभिरामचम्प्वां तृतीयो निश्वासः ।

अथ चतुर्थो निश्वासः

उपेत्य काशीं पुनरेष विद्वान् विद्वत्सभाभूषणभूषिताङ्गः ।
वाराणसीसंस्कृतविश्वविद्याहृद्यालयेऽध्यक्षपदं बभार ॥ १ ॥

समस्तसाहित्य विभागधुर्योऽयं शास्त्रिवर्योऽत्र विशेषितोऽभूत् ।
सम्मानितश्चापि कुलाधिपेन च्छात्रप्रियोऽध्यापनकौशलेन ॥ २ ॥

प्राध्यापकास्सादरमत्युदारं योग्यं तमध्यक्षमवाप्य चैनम् ।
सस्नेहं सद्भावनया समन्तात् सम्मेनिरे शास्त्रिवरं गुणाढ्यम् ॥ ३ ॥

विद्यार्थिनस्सद्गुरुमभ्युपेत्य विद्यावतां संसदि शंसनीयम् ।
विद्यामनिन्द्यामधिगन्तुकामा विद्वांसमेनं बहुमानमैच्छन् ॥ ४ ॥

एषोऽप्यशेषात्मकृपाप्रदानात् सस्नेहमत्यर्थमनुग्रहाच्च ।
समग्रमन्तेवसतां समूहमन्वग्रहीदग्रधियामुदग्रः ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवतो भूतभावनविश्वपावनविश्वाधिनायकविश्वाराध्यविश्वनाथस्य परमपावित्र्यप्रोज्ज्वलदुन्नतसितनिशिततरभूतिभास्वदप्रतिममङ्गलमूलमूलास्यशूलोदग्रशीर्षाधिष्ठितभूमिकायाम्, मुमुक्षुमोक्षकामिकामार्थिसदर्थधर्मिधर्मेत्यपूर्वपुरुषार्थचतुष्टयप्रदायिकायाम्, पुण्यज्ञानविज्ञानविकासिकायाम्, श्रुतिस्मृतिपुराणाद्यखिलशास्त्र-

तत्त्वप्रकाशिकायाम्, वाराणसीत्यपरसंज्ञाऽवकाशिकायाम्, पदास्पदीकृताकाशिकायाम्, काशिकायां वाराणसेयसंस्कृतविश्वविद्यालयो नाम सम्प्रति सम्पूर्णानन्देति नाम्नोल्लसन् सकलसुरभारतीसमुपासकानामादर्शभूमिरुद्भासते ।

स एष पूर्वं राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयेति नाम्नोच्चैस्तरं श्रीकाशिधराधाम्नो गरिमाणमाबिभ्राणो देवगिरामनुपमनिवासनिलयो बहोः कालादाँग्लीयप्रशासकैर्भारतीयसंस्कृतसंस्कृतिगुणग्रहिलैः परवतो भारतराष्ट्रस्याधिनायकैः प्रतिष्ठापितपदः प्रतिष्ठापितसम्मदस्संस्कृतप्रतिष्ठानपरमस्समपद्यत ।

तदानन्तर्येण कतिचित्कालेन स्वातन्त्र्यसंगरशूरशौर्येण समुदितस्वतन्त्रतोद्भासिप्रविकासिसूर्येण सम्प्रसरदन्तरैश्वर्येण विश्ववन्द्यविभारतभारतराष्ट्रेण स्वाधीनतन्त्रनियन्त्रितात्मवैभवभास्वरेण मुखरश्रुतिसंस्कृतिस्वरेण विकासशीलपथप्रवृत्तेन सर्वत्र सम्प्राप्तस्वशासनसूत्रेण सता स्वात्मना प्राभूयत ।

तदनन्तरञ्चैष स्वातन्त्र्योत्तरसमयसमेधमानमहिमालयोत्तरदिगन्तप्रहरिहारिहारिहरद्युतिद्योतमानहिमालयोपमगुरुगौरवप्राशस्त्यसम्भृदनर्थप्रज्ञानघनसंविदनघविबुधप्रातिभप्रकाशप्रकाशितास्यप्रस्यन्दमानसुरसरस्वत्येकलास्यनिलयो, विश्वदृश्वदृशां विश्वविश्रुतविदुषां केवलाश्रयविश्रमालयो विश्वविद्यालयो नामात्र किलोत्तरप्रान्ते प्रान्तीयप्रशासनेन प्रकाशमासादितोऽधुनाऽयमधिकाशीश्वरकाशीकृतकाशीनगरपरिसरमधिभुवमधिकतरमधिराजते ।

सम्पूर्णानन्दनाम्ना नयनिपुणधिया संस्कृतिं भारतीया-
मुन्नेतुं संस्कृतञ्च प्रसृततरगिरं कर्तुकामेन नेत्रा ।
काश्यामत्राधिचक्रे शिवनिलय इव प्रोन्नतो विश्वमान्यो,
विश्वप्रख्यातविद्वन्निचयपरिचितो विश्वविद्यालयोऽयम् ॥ ६ ॥

सम्पूर्णानन्दकृत्सोऽयं सम्पूर्णानन्दसंज्ञकः ।
सम्पूर्णानन्दसंस्कारात् सम्पुष्णाति श्रियं वराम् ॥ ७ ॥

❋

अथ चात्र—

समुदिते जगति प्रथितेऽतुले सुरगिरां सदने ननु शास्त्रिणा ।
पदमनुत्तममुद्वधता सता पठनपाठनमाचरितं मुदा ॥ ८ ॥

स्वसदृशेषु सुहृत्सु सुधीष्वयं विनयवाङ्मधुरं समुपाचरत् ।
अपि च शिष्यगणेषु विशेषतो मयि 'शिवे' सुतवत्सलतां दधौ ॥ ९ ॥

किन्त्वात्र काश्यां कविकृतश्रीशास्त्रिस्तुतिरुज्जृम्भते—

समिद्धबुद्धिभासुरेषु भूसुरेषु सत्स्वपि प्रकृष्टशिष्टपण्डिताग्रमण्डलेष्वथाग्रणीः ।
सुधीरहो सुधीरवाग्गभीरशास्त्रतत्त्ववित् परं बभौ परेशसत्पुरे स एष संवसन् ॥ १० ॥

अनुष्णरश्मिवन्नदीष्णसत्कलाविदां वरः विभूषितोल्लसद्वपुः प्रभाप्रभासिताम्बरः ।
सरत्सरस्वतीपवित्रवक्त्रको व्यराजत प्रधीश्वरस्स कोऽप्ययं महेश्वरप्रिये पुरे ॥ ११ ॥

अहर्निशं सहर्षमन्तिकं गताः पिपासवो विशिष्य शिष्यका अमुष्य सद्गुरोस्सुधाम्बुधेः ।
निपीय बोधवारिधारयाऽमृतोपमं पयः सुतृप्तिमत्र भेजिरे मनोज्ञकाशिकाऽजिरे ॥ १२ ॥

विशेषवेशपेशलश्रियाऽमितप्रकाशितप्रशस्तवैदुषीसमस्तशेमुषीसमञ्चितः ।
अशेषदेशविश्रुतः श्रुतार्थबोधपण्डितः सुशिष्यवृन्दवन्दितस्सुधीरयं समन्ततः ॥ १३ ॥

अकिञ्चिदञ्चितप्रपञ्चपञ्चचामरच्छविप्रवृत्तवृत्तसञ्चितोच्चभावरञ्जितः ।
पदान्तवर्णमञ्जुलच्छटान्तकान्तयत्यलङ्कृतिप्रणीतसाञ्जलिप्रणाम एष शास्त्रिणे ॥ १४ ॥

❀

ततश्चैष श्रीशास्त्रिवर्यस्ततः काशीस्थसंस्कृतविश्वविद्यालयात् काशमानकाशिकेयसकलसुषमासार-सौरभसुरसितसुरवागमितज्ञानसम्पद्द्वितीयनिलयात्कालावधिप्राप्तसेवानिवृत्तिनिर्वृतिमाससाद ।

अथापि ततोऽध्यक्षपदाद् विनिवृत्तिमापन्नोऽपि सम्पन्नप्रसन्नसरस्वतीकोऽयमत्र विश्वसुरसरस्वत्यालये सम्यक्सम्मानसम्मानितस्सन् सम्मानितप्राध्यापकपदमद्यतनमधिकृत्याधितिष्ठति ।

अपि च—दर्शनेषु प्रथिमानम्, सरससाहित्यरसालङ्कारगुणवृत्तिरीतिच्छन्दोवितानेषु पटिमानम्, श्रेष्ठलेखनकलासु महिमानम्, कुशलवक्तृतया व्यक्तित्वप्रकाशनेषु गरिमाणम्, शास्त्रसिद्धान्तवचनेषु च द्रढिमान-मुद्दधानोऽयमन्यूननिखिलगुणगणमूर्तमूर्तिरिवात्र परमप्रकाश्यां काश्यामद्य वश्यवागवश्यमवद्योतते ।

उत्तरप्रान्ते मीमांसानयप्रचारणेन, सुदूरं राजमानराजस्थानविस्तीर्णतरप्रदेशे जैमिनीयशास्त्रस्रोत-स्सञ्चारणेन, तत्प्रदेशीयशासनद्वारेण संस्कृतनिदेशालयप्रतिष्ठापनसमीरणेन, चेत्थमनेकविधमवदानदानेन सोऽय-मतुलामतनुकलाधरोल्लासिनीमतनुसुतनुभासिनीं कामपि नूत्नामेव कीर्तिकौमुदीमत्र भरतभुवि दिग्दिगन्त-व्यापिनीं व्यतानीत् ।

श्रीमद्भारतराष्ट्रराष्ट्रपतिना चैतन्महत्त्वप्रभावाकृष्टोत्तमभावपूर्णमतिना सम्मान्यगोग्यस्सुधीः ।
संस्कृत्यन्वितसंस्कृतप्रणयने सेवाव्रतैकव्रती देवार्हो भुवि मानपत्रविधिना सम्मानितोऽयं कृती ॥ १५ ॥

किञ्च—

काञ्चीपुरेऽधिष्ठितकामकोटिपीठासनासीनजगद्गुरुस्सः ।
श्रीशङ्कराचार्य इमं हि 'शास्त्ररत्नाकरो' पाधिवृतं व्यधत्त ॥ १६ ॥

संज्ञातोऽयं भगवता शङ्करेण पुरस्कृतः ।
शास्त्रकान्तारसञ्चार-'मीमांसान्यायकेसरी' ॥ १७ ॥

स एषोऽत्र काश्यामन्यत्र वान्तः प्रान्तेषु पण्डितराजिराजः श्रीशास्त्रिवर्यः प्रतिवसन् शतशो गभीरातल-स्पर्शिवैदुष्यभूष्यमाणवपुषो निष्कलुषचेतसस्सचेतसश्शिष्यप्रशिष्यप्रकरान् सुशिक्षया संस्कृत्य तत्र तत्राविरकार्षीत् ।

तथा हि—

श्रीशास्त्री सतताभ्यस्तस्वाध्यायपरिशीलनात् ।
पञ्चाशदधिकग्रन्थोल्लेखसम्पादनं व्यधात् ॥ १८ ॥

अहिन्दीभाषिणाऽप्यत्र शास्त्रिणा गुरुणा भृशम् ।
हिन्दीवागुन्नतेर्भूयान् प्रयत्नस्समनुष्ठितः ॥ १९ ॥

भारतप्रवणप्राणश्रौतप्रणवसम्भृतम् ।
संस्कृतं संस्कृतं यास्च भाषितं समुपासते ॥ २० ॥

याश्च तत्प्राङ्गणे स्फीतप्रीतभावाश्चकासते।
तासामासामनेकासां संस्थानामेष रक्षकः॥ २१॥

❀

दाक्षिणात्यस्सन्नप्येष शास्त्रिप्रवरो जनुषैव केवलं दक्षिणावनिं सम्भूष्य सम्पुष्यदुन्नतश्रीजुषा सुमनोज्ञवपुषा सकलत्रदुहितृपरिजनमत्रोत्तरप्रान्ते संवसन् सकलत्राणमपेक्षमाणस्सकलकालमनाविलमनुपलमविकलमधिकाशीश्वरगृहकाशीपुरीवासमुरीकृत्य सम्प्रति समुल्लसति।

❀

अन्ते च—

सशारदाम्बं शरदम्बुदश्रियं विशारदाङ्गं प्रथमानवैभवम्।
गुरूत्तमं साम्बशिवोपमच्छविं कविप्रियं नौमि कवित्वभागहम्॥ २२॥

यम्पूर्णमुद्दिश्य चिकीर्षिताऽभूत् सम्पूरिताऽसावभिरामचम्पूः।
सम्पूर्णतां तूर्णमगादियं, तं सम्पूज्य सम्पूज्यवरं समन्तात्॥ २३॥

इत्यभिरामचम्प्वां चतुर्थो निश्वासः।

पर्याप्तसमाप्तिः

रचयिता—
शिवजी उपाध्यायः

काशी—वि० सं० २०३८
श्रावण शु० नागपञ्चमी

मीमांसा केसरिणां संस्मरणानि

देवर्षि कलानाथ शास्त्री

कियान् प्रमोदावसरो यद् गुरुवर्याणां मीमांसाकेसरिणां पण्डितराजश्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणां संस्कृत-सेवासंमानार्थमभिनन्दनग्रन्थप्रकाशनोपक्रमः प्रारब्धस्तेषां श्रद्धालुभिर्विद्वद्भिः। विद्वद्वर्याणामेषां मीमांसाकेसरिणां प्रायोऽष्ट वर्षावधि निवासोऽभूज्जयपुरे। जयपुरीये देशप्रथिते महाराजसंस्कृतकालेजेऽध्यक्षपदमलङ्कुर्वाणैरेभिरत्र भूयांसः शिष्याः सस्नेहं पाठिता, वैदुष्यं चोपलम्भिताः, अत्रत्या विद्वांसः सौहार्दसुधया सिक्ताः, अत्रत्ये नागरजीवने स्वकीय-व्यक्तित्वस्य प्रभावः पातितः, येन येन च जनेन सहैषां संपर्कोऽभूत्तस्य तस्य मनसि च काचन सुमधुरा स्मृतिरङ्किता। अस्मिन्नवसरे श्रीमतामेषामनेका मधुराः स्मृतयो मन्मानसपटले जाग्रति, यतो ह्यहं तथाविधेषु जयपुर-महाराज-संस्कृतकालेजस्नातकेष्वेकतमोऽस्मि यैरस्मिन्महाविद्यालये मीमांसा-केसरिणामाध्यक्ष्यकाले एव प्रायः समग्रोऽपि छात्रत्वावधिर्व्यतियापितः। वस्तुतो मदीयो विद्यार्जनकालोऽस्मिन् संस्कृतकालेजे पं० पट्टाभि-रामशास्त्रिणां वैयक्तिकप्रेरणया, रुच्या चैव समनुवृत्त इत्यधुना स्फुटं स्मरामि।

मत्पितृचरणाः स्व० कविशिरोमणिभट्टश्रीमथुरानाथशास्त्रिणो मामाशैशवं गृहे कोषं, कौमुदीं, काव्यानि, संस्कृतेऽनुवादिकलां, हिन्दीसाहित्यं च सश्रममपाठयन्, तदनु परीक्षासरिदुत्तरणदृष्ट्याऽहं प्रथमां परीक्षामभ्युदतरम्। एतदनन्तरं पितृचरणानां सेयं योजनाऽभूद् यदहं भाषान्तरानपि (अधिकाधिक संख्यायां विविधा भारतीया वैदेशिकीश्च भाषाः) पठेयम्, निरन्तरमेधमानमाधुनिकज्ञानराशिमप्यवगच्छेयम्। तथापि पूर्वं संस्कृते प्रौढि-संपादनमुद्दिश्याहं दशवर्षदेशीयैस्तैः संस्कृतकालेजेऽस्मिन् व्याकरणोपाध्यायश्रेण्यां प्रवेशितः ख्रिस्तीये १९४५ वत्सरे। तदानीं मीमांसाकेसरिणः संस्कृतकालेजाध्यक्षपदे नियोजिता आसन्, आसन्ने एव भूतकाले, (२–४–४५ दिनानि) स्व० श्रीघूटरझामहोदयानां स्थाने, तेषामासामयिकनिधनेन रिक्तस्यास्य पदस्यो-परि, मत्पितृचरणा अप्यस्य कालेजस्य स्नातका, अत्रैव च प्राध्यापका स्तदनु साहित्यविभागाध्यक्षास्तदानीं तु सेवानिवृत्ता अभूवन् किन्तु कालेजेऽस्मिन्नपूर्वं स्नेहं रक्षन्ति स्मेति स्मरामि। ते मामसकृत् पृच्छन्ति स्म कालेजीय-प्रवृत्तीनां विषये। इदं च ज्ञात्वा सर्वदैव प्रासीदन् यन्मीमांसाकेसरिणः सुभृशं परिश्रम्य, स्नेहपूर्वकमस्य कालेज-स्योन्नतये बद्धपरिकरा अभूवन्। विद्यार्थिनां संख्या, विशेषतस्तु सुयोग्यछात्राणां संख्या कथं वृद्धिमियात्, तेन च सह प्राध्यापकाः श्रमपूर्वकं पाठयित्वा छात्रान् योग्यान् संपादयेयुः, साकमेव पाठ्येतरप्रवृत्तयः (सहशैक्षणिक गतिविधयः) क्रीडा-वादविवाद-नाट्याभिनयप्रभृतयोऽपि सुचारु परिचाल्येरन् येनायं कालेजः 'स्तरीय' इति प्रथितः सार्थकः स्यात् इत्येषां सुविचारितः प्रयत्नोऽभूत्। इदमेव कारणमासीद् यत्तदानीं वयं छात्राः कालेजस्य समीपे एव एकस्मिन् विशाले क्षेत्रे हस्तकन्दुक (वालीबॉल)-पादकन्दुक (फुटबॉल) प्रभृति क्रीडासु संगन्तुं प्रेरिता अभूम। स्व० श्रीदुर्गादत्तमैथिलो व्याकरणप्राध्यापकः क्रीडाप्रवृत्तीनां पर्यवेक्षकोऽभूत्। तदानीं संस्कृतकालेजीय परीक्षाणां (या हि देशे संमानार्हा अभूवन्) स्वकीयो दीक्षान्तसमारोहोऽप्यभूत्, तस्मिन्नवसरे च वाक्प्रति-योगिता, काचित्सुरुचिरो नाट्यप्रयोगः, संस्कृतकविसंमेलनाद्यायोजनानि चावश्यं समघटन्त। एवंविधेष्ववसरेषु कालेजीयच्छात्रा अभिनयं, संगीतकं, वाग्प्रतियोगिताश्च कुर्वन्ति स्म। अहं स्मरामि यदहं श्रीमद्भिरेभिः प्रति-वर्षमेव नाट्यप्रयोगाय मनोनीतः क्रियते स्म, यदा यदा च अन्येभ्यो विश्वविद्यालयेभ्यो महाविद्यालयेभ्यो वा तदायोजितवाक्प्रतियोगितासु संगन्तुं संस्कृतकालेजायाऽऽमन्त्रणमधिगम्यते स्म, तदा मीमांसाकेसरिणः कालेजीय-

वाग्-दलं (टीम) प्रेषयन्ति स्म, अहं च सर्वदैव तेष्वेको भवामि स्म। एतत्कृते सर्वदैवैते मां श्रेणीतः स्वकार्यालय-कर्मचारिद्वारा आकार्य, सस्नेहं प्रतियोगिरूपेण सज्जन्तुं, तदर्थं विषयस्याभ्यासं सम्यग् विधातुं च प्रेरयन्ति स्म, पर्यन्ते च मत्पित्रे स्वकीयमभिवादनमपि मद्द्वारा प्रेषयन्ति स्म। सोऽयं स्नेहसान्द्रस्तेषां व्यवहारो न कदापि विस्मर्तुं शक्यः।

तदानीं हि स्व० श्रीहरिशास्त्रिण आशुकवयो महाविद्यालयेऽध्यापका अभूवन्। सुस्पष्टं स्मरामि यदेकस्य सत्रान्त (दीक्षा) समारोहस्यावसरे श्रीहरिशास्त्रिणा सन्दृब्धः 'शंकराचार्यो' ख्यो नाट्यप्रयोगः संस्कृत-कालेजेन प्रस्तुतोऽभूत् (मन्ये १९४७ वत्सरे), यत्र चाल्पवयस्कं किशोरावस्थामप्यप्राप्तं मां संस्कृतोच्चारणे स्फीतवाचं विलोक्य साग्रहमेते शकराचार्यस्याभिनयं कर्तुमाज्ञापयन्, सुभृशमभ्यस्य, सोऽयं प्रयोगश्चास्माभिः 'टाउन हाल' वाच्ये (वर्तमान-राजस्थान विधानसभाभवने) प्रेक्षागारे दीक्षासमारोहेण सहाऽवतारितो, दर्शकानां प्रशंसा चाऽधिगता। सुचिराय मत्परिचिता मां तेषु दिवसेषु 'शंकराचार्य' इत्येव समबोधयन् इत्यधुना स्पष्टं स्मरामि। अस्मिन्नवसरे रूपसज्जायै स्फटिकमालिका मीमांसाकेसरिणां गृहादस्माभिरानीताभूदित्यपि स्मरामि। अन्यस्मिन्नवसरे उत्तररामचरितनाटकगतस्य लवचन्द्रकेतुसंवादस्यावतारणमकारि, यस्य निर्देशनं मीमांसा-केसरिभिः स्वयमक्रियत। उत्तररामचरित नाटकमेषां समधिकं प्रियं भवेदित्यधुना तर्कयामि यतो ह्येकस्मिन् वर्षे श्रीमद्भिरेभिरस्माकं साहित्यशास्त्रिश्रेणिः नाटकमिदं पाठिता। तत्प्रसङ्गेन गभीरदर्शनविषयाणामपि व्याख्यानं तस्यामेव श्रेण्यां यथा खल्वेभिः कृतं तेन तदानीं सर्वे वयं प्राचीनानां दिग्गज-विदुषां सर्वाङ्गीणविद्या-प्रदानसरणिमनुमाय चकितीकृता एव।

ईशवीये १९४८ वत्सरे प्रथमश्रेण्यां व्याकरणोपाध्यायपरीक्षामहमुदतरम्। तदनन्तरं चाऽऽधुनिकयुग-गतिं वीक्ष्य पितृचरणा बहुभिः सुहृद्भिरनुरुद्धा यदस्य बालकस्य भविष्यद्-हितानुरोधेनायं विश्वविद्यालयीये कस्मिंश्चनाङ्गलमहाविद्यालये प्रवेशयितव्यः, संस्कृतं तु परम्परानुगतं गेहे एव पठिष्यतीति। कतिपयैर्दिवसै-रस्मिन् प्रस्तावे विचारपतिते स्थिते, मम शास्त्रिश्रेण्यां प्रवेशस्य सूचनामनुपलभ्य श्रीमद्भिरेतैर्येन पत्रेण, स्नेहार्द्र-भाषया, सचातुर्यं पितृपादा मां संस्कृतकालेजे एव व्याकरणे वा शास्त्रान्तरे वा प्रवेशयितुमनुरुद्धाः, ५।७।४८ दिनाङ्कितं तत्पत्रमधुनापि मत्सविधे सुरक्षितम्। पितृचरणा अपि नापारयन्ननुरोधमिममुपेक्षितुम्। अहमपि स्नेहगद्गदः संजातो यन्मदीयमहाविद्यालयाध्यक्षो मामेतावत् प्रशंसति। तदनु साहित्यशास्त्रिश्रेण्यामहं प्रवेशितः, पुनर्वर्षद्वयावधि तत्राऽस्थाम्। साहित्यशास्त्रिश्रेण्यामपि प्राथम्यमधिगत्य यदाहं निर्गतः, आचार्यश्रेण्यां मदीये प्रवेशे च विलम्बो दृष्टस्तदापि श्रीमद्भिरेभिरपरमेकं पत्रं पितृचरणेभ्यः प्रेषितम्, १२।७।५० दिनाङ्कितं तदपि मत्समीपेऽद्य वर्तते। अस्मिन्नपि पत्रे "चि० कलानाथशर्माणमाचार्यश्रेण्यामध्येतुं विद्यालयं संप्रेष्य विद्यालयीय-गौरव-समेधन" स्यानुरोधोऽस्ति। एतत्फलस्वरूपं पुनरप्यहमाचार्यश्रेण्यां प्रवेशितः। एवं खलु मदीयं संस्कृता-ध्ययनमस्मिन्कालेजे श्रीमत्प्रेरणाप्रसूतमेवेति स्मरिष्याम्याजीवनम्।

कः खल्विदानीं छात्रेष्वेवंविधां दृशं रक्षति, को वा स्वविद्यालयस्य कृते तावत् परिश्राम्यति, कः खलु तादृशो महाविद्वान् भूत्वापि सर्वविधप्रवृत्तिषु छात्राणां साफल्यसम्पादनायाऽऽयासान् करोति ? इदमेव कारणं यत्संस्कृतकालेजीयाः सर्वेऽपि छात्रा एतेषां कृते यावतीं श्रद्धां, स्नेहादरं च रक्षन्ति स्म, तत्सर्वं शब्दैर्वर्णनीयं नास्ति। संस्कृतकालेजादस्माद् यदा श्रीमन्तः कलिकाताविश्वविद्यालयीयसेवायै वृता, गन्तुकामा अभूवन् तदा सर्वे वयं सुभृशमश्रुपातमकुर्मेति स्फीतं स्मरामि। अहं तदाऽऽचार्यश्रेण्यां पठामि स्म। एतेषां गमनस्यापरस्मिन्नेव वर्षे मया कालेजः परित्यक्तोऽभूत्। एतेषां सौप्रस्थानिकसमारोहोऽपि छात्रैरस्माभिः स्वप्रेरणया, स्वप्रयासैश्च यावच्छक्य-साधनानुरूपमायोजितः, स्नेहशिथिलमेकमभिनन्दनपत्रमपि श्रीमद्भ्य उपायनीकृतं यदकिञ्चनानाम-

स्माकं संस्कृतच्छात्राणां साधनसम्पत्त्यनुरोधान्मुद्रितं तु नाऽऽसीत्, किन्तु सश्रमं ममैव हस्ताक्षरैः सुलेख-प्रयत्न-द्वारा लिखितं काचाऽऽवृतं कृत्वा समर्पितमासीत्। एतदनन्तरं मया बहवोऽध्यक्षा दृष्टा, बहुविधाश्च महाविद्यालयाः बहुविधाश्च विश्वविद्यालयाः। स्वयमपि विपुलवर्षपूगं महाविद्यालयेषु पाठितवानस्मि किन्तु तथाविधं सहजं, स्वयम्भुवं च श्रद्धास्नेहं स्वगुरवे, स्वमहाविद्यालयाध्यक्षाय चाधुनापि सगद्गदभावं स्मरामि।

श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणां जयपुरसंस्कृतकालेजाध्यक्ष्यकालस्य विशेषता सेयमासीद् यद् यदा इमेऽत्राऽऽगतास्तदा (११४४५) जयपुरराज्यस्य शासनमभूत्। यदा इमे नगरादस्माद् (४।२।५२) गतास्तन्मध्ये देशस्येतिहासो महत्परिवर्तनं व्यलोकयत्। स्वातंत्र्यलाभानन्तरं नवीनशासनतन्त्रमागमत्। किन्तु एते सर्वदैव सर्वेषामपि विदुषामिव, शासकानां नागरिकाणां च श्रद्धायाः पात्रमेवातिष्ठन्, संमानं च सदाऽलभन्त। जयपुर-महाराजस्य श्रीमानसिंहदेवस्य राज्यशासन-रजतजयन्तीसमारोहावसरे १९४७ वत्सरे भवन्तो भूसम्पत्ति-समर्पणपूर्वकं 'विद्यासागर' इत्युपाधिना जयपुरराज्येन समलंकृताः। तदनन्तरं 'लोकप्रिय' शासनेनापि एतेभ्यस्तथाविध एव संमानः समदायि। नेयं साधारणी समुपलब्धिः।

एते खलु दाक्षिणात्याः, कृष्णयजुर्वेदीयतैत्तिरीयशाखाध्यायिकाश्च सन्ति। वयमपि शाखाया अस्या एवाधीतिन इति मत्पितृचरणा एतैः सहाभूतपूर्वं कंचन स्नेहातिशयमन्वभवन्। एतेऽपि निर्माय स्नेहनिर्बन्धमनुरक्षन्तोऽस्मद्गृहे उत्सवाद्यवसरेषु कृपापूर्वकं संमिल्य सग्धिषु, भोजनपङ्क्त्यादिषु च स्वकृतपीयूषवर्षैरस्मान् सर्वानप्यानन्दयन्ति स्मेति सौत्सुक्यमद्यत्वे स्मरामि।

अहं तु संस्कृतकालेजस्य श्रीमतामध्यक्षत्वं सर्वेषामस्माकं सौभाग्यमेव मन्ये यतो हि आयुर्वेदकालेजे १।८।४६ दिवसे पृथग्भूतेऽपि, तस्या अर्थकर्याः शाखाया अभावेऽपि, तत्प्राध्यापकानां संख्याया न्यूनत्वेऽपि, तूर्णमेव तत्क्षतिपूर्त्यै अन्यान् विदुषो नियोज्य, पदानां संख्यावृद्धिं कारयित्वा छात्राणां, प्राध्यापकानां च तावतीमेव संख्यामिमे समकल्पयन् यावती म० म० पं० गिरिधरशर्मणामाध्यक्ष्ये आसीदिति कीर्तिमानत्वेनैव स्थास्यति। नव्यविषयाणामध्यापनस्य, शिक्षणेतरप्रवृत्तिसंचालनस्य च कार्यं कालेजे एतैः सुचारु व्यवस्थापितम्। अर्थशास्त्र-प्राध्यापको नूतनत्वेन नियोजितः, हिन्दीप्राध्यापकपदं, इतिहासप्राध्यापकपदं, वेधशालाधीक्षकपदं चेत्यादि सर्वं नूतनत्वेन शासनात् स्वीकारितम्—किं न सर्वमिदं श्रीमतां व्यापकप्रशासनकौशल-बुद्धिवैभवप्रमापकम्?

एतेषां वैदुष्यस्य, सुललित-प्राञ्जल-संस्कृतवाक्प्रवाहस्य च विषये किमपि लिखितं पौनरुक्त्यभागेव भविष्यति। सर्वमेतदधुनापि मदीयस्मृतौ कृपणस्य धनमिव सयत्नं सुरक्षितमस्ति यत्कथमेते कालेजे प्रति-पाक्षिक-सभावसरं चिरकालायास्माभिः सर्वैरपि प्रतीक्षितं भाषणमकार्षुः, कथमेषां होमभस्मालङ्कृतादलिकात्सर्वे वयं प्रेरणामगृह्णीम, कथमेषामेव प्रेरणयाऽस्माभिः शास्त्राभ्यासादौ निरन्तरं श्रमपरैरेतेषां प्रशंसार्जने गौरवमनुभूयते स्म। तदानीन्तनास्छात्रास्तथाविधेभ्यो विद्वद्भ्योऽध्यक्षेभ्यः कीदृशीं प्रेरणामगृह्णन् इति वर्णनातीतं, केवलमनुभवगम्यमेव।

कुत्र कुत्रेदानीं तथाविधा विद्वांसः? कुत्रेदृशाः शिष्यवत्सला गुरवः? अनुदिनं क्षीयते भगवत्याः सुरसरस्वत्याः स्नेहवर्धितः परिवारः। अस्मिन्नवसरे भूतभावनं भगवन्तं साञ्जलिबन्धमभ्यर्थयामो यन्मीमांसा-केसरिणं शतायुषं, स्वस्थं, सानन्दं च विधाय भारते सुरभारतीसेवकानां तदिदं प्रेरणास्रोतः सुस्थिरं क्रियात्, एतेषां वैदुष्यात् प्रेरणामादाय भाविनः संस्कृतसेवकास्तथाविधं प्रौढपाण्डित्यमधिगत्य सनातनीमिमां परम्परां चाक्षुण्णां रक्षेयुरित्यस्माकमाशंसां च सफलयेदिति।

आचार्याः श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिमहाभागाः

पं० रामनारायण चतुर्वेदी
संस्कृत शिक्षा निदेशकः, राजस्थान शासन

आचार्यप्रवरान् वद्यान् पट्टाभिरामशास्त्रिणः ।
सादरं श्रद्धया भक्त्या वन्देऽहं शिरसाऽनुना ॥ १ ॥

श्रीमान् ! शास्त्रिमहाराज ! प्राज्ञमण्डलभूषण ! ।
सम्मानं श्रीमतां कुर्वे दीनोऽहं केवलं गिरा ॥ २ ॥

सुविदितमेवेदं समेषामपि विदुषां संस्कृतसेवापरायणानां पण्डितप्रवराणां यदेते पण्डितराज-विद्यासागरादिविविधोपाधिमण्डिताः संस्कृतसाहित्यस्य मीमांसादर्शनस्य योगतन्त्रस्य तथा वैदिकसाहित्यस्य च प्रकाण्डपण्डिता विशिष्टवैदुष्यादिविविधगुणगणाभिरामाः श्रीमन्तोऽतिमतिमन्तः श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिणो भारतीय-विभिन्ननगरस्थितेषु नैकेषु च महाविद्यालयेषु विश्वविद्यालयेषु च प्रधानपदेषु समासीनाः सन्तो याः सेवाः कृतवन्तस्ताः सन्ति नूनं संस्कृतसंसारस्य कृतेऽतिलाभप्रदाः इति ।

वस्तुतस्तु परमादरणीयाः श्रीशास्त्रिवर्य्या एते प्रौढदार्शनिकाः सहृदयाः साहित्यकाराः श्रेष्ठा अध्यापकाः सरसाः सुलेखकाः प्रभावशालिनो वक्तारश्च वर्तन्ते—इति तु सर्वेऽपि सुपरिचिताः विपश्चितः सम्यग् जानन्त्येव ।

यतो हि १९४५ तमे खिष्टाब्दे यदा जयपुरस्थित-महाराजसंस्कृतकालेजे प्राचार्यपदमलङ्कुर्वाणाः श्रीमन्तश्चैते समासन्, तदात्र जयपुरे स्थिताः विपश्चितः समये समये चैभिरेव समायोजितेषु सम्मेलनेषु समवेताः सन्तः सुविधां शास्त्रिवर्य्याणामेतेषां संस्कृतभाषणे यद् वैशिष्ट्यं समनुभवन्ति स्म, तादृशं वैशिष्ट्यं संस्कृतभाषण-परायणे कस्मिंश्चिदप्यन्यस्मिन् विदुषि नानुभूयते ।

किञ्च तदानीं महाविद्यालयस्य वार्षिकोत्सवस्यावसरेऽपि कविसम्मेलनस्याऽऽयोजनमपि जायते स्म ।
तत्र च समुपस्थितैः सहृदयैः काव्यरसः समास्वाद्यते स्म । इदानीं तु कविसम्मेलनादेर्नामापि न श्रूयतेऽभिनव-
काव्यरसानुभूतेस्तु कथैव का ? सम्प्रति हि संस्कृतस्य ह्रास एव प्रचलन् वर्तते—इति नापरोक्षं प्रेक्षावताम् ।
तथा च शास्त्रिवर्यैरेभिः १९५२ तमे खिष्टाब्दे कलकत्तास्थ-विश्वविद्यालये मीमांसाचार्यरूपेण कार्य-
मनुष्ठितम् । ततश्च वाराणसेये-संकृतविश्वविद्यालये च साहित्य-मीमांसा-योगतन्त्राध्यक्षाः समभवन् । ततश्च १९७५
तमे खिष्टाब्दे जनवरीमासस्य १ प्रथमतारिकायां श्रीशास्त्रिमहाभागाः विश्राममगृह्णन् । वर्तमाने च काले विश्व-
विद्यालयस्य प्राध्यापकरूपे संस्कृतवाङ्मयस्य सेवां कुर्वाणाश्चैते श्रीशास्त्रिणो वर्तन्ते ।
एवमेव श्रीशास्त्रिचरणैर्बहव एव ग्रन्था अपि लिखिताः । एतेन च श्रीशास्त्रिमहाभागैर्मीमांसाग्रन्थानां
पुनरुद्धारो विहितो मीमांसावाङ्मयस्य कृते च नवजीवनं प्रत्तमिति सुस्पष्टं वक्तुं शक्यते ।
इदानीं वृद्धावस्थायामपि चैते शास्त्रिवर्य्याः प्रतिदिनमेवाध्ययनाध्यापन-लेखनात्मकानि कर्माणि
कुर्वाणास्तथा संस्कृतसाहित्यस्याभ्युदये सन्ति संलग्नाः । तथा च वेदमीमांसानुसन्धानकेन्द्रस्य निदेशकरूपे
वर्तमानाः सन्तो वेदं मीमांसाद्याधिकृत्य विशिष्टमनुसन्धानात्मकं कार्यं कारयन्तो वर्तन्ते श्रीशास्त्रिमहाभागाः ।

अपि च श्रीमतामेषां शास्त्रिवर्य्याणां शताधिकाः शिष्याः विश्वविद्यालयानामाचार्या अध्यक्षा निदेशकाः प्राचार्याः प्राध्यापकाश्च सुप्रतिष्ठितेषु स्थानेषु समुचितं कार्यं कुर्वन्तः श्रीशास्त्रिमहाभागानां यशः सर्वतो वितन्वन्तीति सर्वं प्रत्यक्षमेवास्ति।

वस्तुतः सम्प्रति संस्कृतजगति श्रीशास्त्रिमहाभागानामेतेषां परमावश्यकता विद्यते। अतोऽन्ते चाहं हृदयेन कामये यत्—

यशोदानन्दनः कृष्णो जगत्संरक्षणप्रभुः।
शास्त्रिवर्य्यानिमान् कष्टात् लोकेऽस्मिन् रक्षतात् सदा॥

श्रीविद्यारण्यगुरूणामानन्दविषयविवेचनसरणिः

पण्डितराजः एस्० सुब्रह्मण्यशास्त्री
राष्ट्रपतिसम्मानितोविद्वान्, वाराणसी

श्रीविद्यारण्यश्रीचरणाः अस्मिन् भारतमण्डले सर्वत्रैव वेदस्य काण्डत्रयोद्धारकत्वेन बहूनां स्वतन्त्रग्रन्थानां रचनेन च महाप्रभावशालितया प्रसिद्धाः। आश्रमान्तरे च विजयनगरराज्यस्थापकतया वैदिकमर्यादायाः हिन्दूधर्मस्य च रक्षकत्वेन विश्रुता एव। वेदान्ते च पञ्चदशप्रकरणादिस्वतन्त्रग्रन्थरचनेऽपि श्रीशङ्करभगवत्पादोक्तसिद्धान्तानां बहुलीकरणेन तदभिप्रायमेव व्यवृण्वन्। एवं तद्ग्रन्थेषु प्रकरणशब्दं अन्वर्थयन्। शास्त्रैकदेशसंबद्धं शास्त्रकार्यान्तरे स्थितम् आहुः प्रकरणं नाम ग्रन्थभेदं विपश्चितः-इति। यथा च उपदेशसाहस्रीग्रन्थान्ते अध्यक्षस्य पृथक् सिद्धौ आभासस्य तदीयता। आभासस्य तदीयत्वे ह्यध्यक्षव्यतिरिक्तता॥ इत्यादौ आचार्योक्तमेवाभासवादं चित्रदीपे चिच्चातुर्विध्यप्रक्रियामुपक्रम्य प्रातिभासिकजीवाङ्गीकारेणोपपादयामासुः। तथा भगवत्पादैः व्याप्तेश्चासमञ्जसमिति सूत्रे तत्त्वमसिवाक्ये अभ्युपगतं बाधायां सामानाधिकरण्यं मूलीकृत्य प्रातिभासिकजीववादे आत्मसाक्षात्कारेण जीवस्य सर्वथाबाधं तत्त्वमस्यादौ जहल्लक्षणां च स्वीचक्रुः।

तथा ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः इत्यत्र भगवत्पादैः उररीकृतं निर्गुणध्यानं ब्रह्मसाक्षात्कारकारणमुपपादयन् विस्तरेण ध्यानदीपे।

एवं तैत्तिरीयके आनन्दतारतम्यविचारे भगवत्पादोक्तसिद्धान्तस्पष्टीकरणाय आनन्दस्वरूपं विस्तरेणोपपादयितुं पञ्चदश्यां आनन्दपञ्चकाख्यं प्रकरणं रचयामासुः। तदेव चाधिकृत्य किञ्चिद्वक्तुमभिलषामि मान्यानां विदुषां भवतां सन्निधौ।

आनन्दपञ्चकं नाम प्रकरणं आनन्दरूपस्य जीवाभिन्नस्य ब्रह्मणः प्राप्त्युपायप्रदर्शनपरम्। तत्र च प्रथमे योगानन्दे विवेकिनो योगेन आत्मानन्दानुभवप्रकारः प्रादर्शि।

तथाहि—तत्रादौ ब्रह्मानन्दावाप्तेः फलं प्रदर्श्यते—रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति श्रुतिः ब्रह्मणः आनन्दरूपतां तल्लाभेन पुमान् आनन्दी भवतीति च ब्रवीति। आनन्दंलब्ध्वा च अथ सोऽभयं गतो भवति, तरति शोकमात्मवित् आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति इत्यादिश्रुतयः आनन्दप्राप्त्या अस्माकं भयनिवृत्तिं शोकनिवृत्तिं चाचक्षते। द्वितीयाद्वै भयं भवतीति श्रुत्या स्वानुभवेन च द्वितीयदर्शनं भयहेतुरेवेत्यवगच्छामः। अद्वितीयब्रह्मदर्शने च भयहेतुद्वैतनिवृत्तौ भयनिवृत्तिः क्रियते। भीषास्माद्वातः पवतइत्यादिना

महाप्रभावशालिनोऽपि वाय्वादयः भयग्रस्ता इत्युक्तत्वात् तेषां द्वैतदर्शनं न निवृत्तमिति गम्यते। ब्रह्मविदं कृताकृते कर्मणी न तपत इत्युक्त्या अविद्वांसमेते तपत इति सूच्यते। ब्रह्मानन्दः एकोऽप्युपधिभेदात् विविधः ब्रह्मानन्दः विद्यानन्दः विषयानन्द इति। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानिभूतानि जायन्ते इत्यादि भृगुवल्लीवाक्यैः जगदुत्पत्तिस्थिति-लयकारणं ब्रह्म आनन्दरूपमिति गम्यते। यत्र नान्यत्पश्यति स भूमा भूमैव सुखं इत्यादि छान्दोग्यवाक्येपि ब्रह्मणः सुखरूपत्वं स्पष्टम्। यत्र च त्रिपुटी नास्ति तत्र पूर्णानन्दोऽनुभूयते यथा सृष्टेः पूर्वं यथा चाधुनापि समाधिसुषुप्ति मूर्च्छासु। अद्वैतस्य ब्रह्मणः सुखरूपत्वात् तत्र न ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति त्रिपुट्यपेक्षा। सुषुप्तौ च दुःखाभावात् सुखं परिशिष्यते। यद्यपि जडवर्गे दुःखं नास्ति इति न सुखपरिशेषः अचेतनत्वात्। परन्तु मुखदैन्याभावात् दुःखा-भावोऽपि न निश्चेतुं शक्यते। सुषुप्ते तु स्वानुभवादेव दुःखाभावनिर्णयेन सुखपरिशेषः सिद्धः। सुषुप्तये मृदु शय्यादिसंपादनं निद्राप्राप्त्यर्थमेव। सुषुप्तिकालेऽनुभूयमानं सुखं न विषयजन्यं अपि तु आत्मस्वरूपमेव। सौषुप्ता-नन्दे दृष्टान्ततया शकुनिः श्येनः कुमारः महाराजः महाब्राह्मण इत्येते श्रुत्या उपात्ताः तत्र सूत्रनिबद्धः शकुनिः दिशं दिशं पतित्वा अन्ते बन्धनमेव श्रयते श्येनः दिवा आहारार्थं तत्र तत्र चरित्वा अन्ते नीडमेव श्रयते कुमारश्च क्षीरं पीत्वा मृदुशय्यायां शयानः रागद्वेषाद्यभावात् सुखं स्वपिति। तथा महाराजः जितारिः सार्वभौमः मानुषानन्दभाक्। महाब्राह्मणश्च ब्रह्मवित् कृतकृत्यः सौषुप्तमानन्दमनुभवति। सुप्तौ च 'अत्र पिताऽपिता भवति माता अमाता इत्यादिना आत्मनः जीवत्वनिषेधात् जीवः ब्रह्मरूपेणैव स्वरूपसुखमनुभवतीति गम्यते। सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति इति च कैवल्यश्रुतिः इममेवार्थमनुवदति सुषुप्तौ चाज्ञानं साक्षिणैवानुभाव्यम् अज्ञानाकारवृत्तिमपि केचिदिच्छन्ति। सुप्तेः पूर्वं सुखरूपब्रह्मप्रतिबिंबयुक्ता बुद्धिवृत्तिः सुषुप्तौ विलयं प्राप्य आनन्दमयी भवति। अयमानन्दमयः अज्ञानवृत्तिभिः चिद्बिंबयुक्ताभिः ब्रह्मसुखमनुभवति। तत्प्रबोधे तु किञ्चित्कालं ब्रह्मानन्दस्य वासनाऽनुवर्तेत जाग्रत्यपि। पश्चादेवायं नानादुःखानि भावयन् जीवः शनैः ब्रह्मानन्दं विस्मरति। अत एव समेषां दिने दिने निद्रायां पक्षपातः। तथा च यत्र यत्र विषयैर्विना सुखं स्यात् तत्र ब्रह्मानन्द वासना भातीति ज्ञेयम्। तूष्णीं स्थितिकाले विषयैर्विना भासमानोपि आनन्दः ब्रह्मानन्द एव। विषयानन्दवासनानन्दौ च ब्रह्मानन्दस्य कार्यभूतौ। सुखदुःखान्तरायः उदासीनावस्था, तस्यां ब्रह्मानन्दस्य भानं न मुख्यं अहंकारेणाच्छादितत्वात् अपितु वासनैवेयम्। अत एव यावद्यावदहंकारस्य विलयः तावत्तावत् ब्रह्मानन्दो मुख्य आभाति।

तदुक्तं भगवता—प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्॥ इति
यत्रोपरमते, यत्र चैवात्मनात्मानम्, सुखमात्यन्तिम् इति।

तल्लाभाय च स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा इत्यनिर्वेदरूपं साधनमुक्तं उत्सेक उदधेर्यद्वत् इत्यपि माण्डूक्यकारिका श्रद्धालुर्यो भवति सः आनन्दवासनामप्युपेक्ष्य बिंबभूते मुख्ये ब्रह्मानन्दे मनः प्रवर्तयेत्। तादृशो महात्मा बहिर्व्यवहरन्नपि अन्तस्तदेव भावयेत्। तस्य बुद्धिः अविरोधि विषयसुखे ब्रह्मानन्दे च गमागमौ कुर्वन्ती रागद्वेषादिकं विना व्यवहरति इति। एवं तावत् प्रथमेऽध्याये विवेकिनः ब्रह्मानन्दानुभव-मुपपाद्य आत्मानन्दाख्ये द्वितीयाध्याये विवेकविधुरस्य त्वंपदार्थशोधनद्वारा आत्मानन्दानुभवमुपपादयति आचार्यः। याज्ञवल्क्यः मैत्रेय्यै अमृतत्वमाशासानायै तत्प्राप्तये आत्मावा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति आत्म-ज्ञानमुददिशति। आत्मा च परमप्रेमास्पदत्वात् आनन्दरूपः यतः आत्मार्थे पतिपुत्रादिकं सर्वं जगत् प्रियं भवति आत्मा तु नान्यार्थे प्रिय इति बहुभिर्दृष्टान्तैः उपपादयति। यद्यपि सुखसाधनत्वोपाधिना सर्वे अनात्मानः प्रिया

एव परं तु एकं सुखसाधनं त्यक्त्वा अन्योपादानात् विषयेषु प्रीतिर्न नियता आत्मनि तु नियता। आत्मनः अपमानादिपरिहाराय प्राणत्यागं कुर्वाणोऽपि आत्मनि प्रीतिवशादेव प्राणांस्त्यजति आत्मनः हानोपादानासंभवात्।

यद्यपि पुत्रस्यापि आत्मा वै पुत्रनामासि इत्यादौ प्राधान्यं श्रूयते तथापि नासौ मुख्यः। गौणात्मा मिथ्यात्मा मुख्यात्मेति त्रय आत्मानः। पुत्रः गौणात्मा शरीरं मिथ्यात्मा शरीरादिव्यतिरिक्तः मुख्यात्मा साक्षी। मुमूर्षोः गृहरसादौ गौणात्मा विनियुज्यते कृशोऽहं पुष्टिं प्राप्स्यामिति प्रयोगे शरीरात्मकः मिथ्यात्मा भासते। अग्निरधीते इत्यादौ गौणात्मा भासते। अहं मोक्ष्ये इत्यत्र मुख्यात्मभानम् तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात् इति श्रुतिरपि आत्मानं प्रियतममाह।

युक्त्या विचारणायामपि आत्मा स्वप्रकाशचैतन्यानन्दरूप इति निश्चीयते। स च जाग्रदाद्यवस्थानां परस्परव्यभिचारिणां भासकः परमप्रेमास्पदं च। यः आत्मनोऽयं प्रियं ब्रूयात् तं प्रियत्वेन दृष्टं वस्तु रोदयिष्यति स्वनाशादिना इत्यपि स योऽन्यं प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियं रोत्स्यनीति-इति श्रुतिराचष्टे। अत्र चेदं श्रौतवाक्यं शिष्यं प्रति तत्त्वबोधकम्। प्रतिवादिनं प्रति इदं ज्ञानरूपम्। तच्चाह—

> **अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम्।**
> **लब्धोऽपि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते इत्यादिना॥**
> **पित्रोर्दुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा।**

इत्यन्तेन। एवं विविच्य पुत्रादिप्रीतिं त्यक्त्वा आत्मनि प्रीतिं कुर्यात्। आत्मनि प्रीतिबृद्धौ सुखं वर्धत इति श्रुतं सार्वभौमादिषु मनुष्यानन्दादारभ्य ब्रह्मानन्दान्तेषु। एवं प्रकारेण आनन्दमात्मानं विवेचयतः तत्रैव मनसः स्थिरीकरणेन ब्रह्मसाक्षात्कारो जायते। योगस्त्वास्मिन् पक्षे नापेक्षितः "यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि-गम्यते" इति भगवदुक्तेः।

इदानीं तृतीयेऽध्याये आत्मनः ब्रह्मरूपत्वं प्रतिपाद्यते। यतो वा इमानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म इति भृगुवल्यादावुक्त्वा तत्रैवान्ते आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि तानि जायन्ते इत्यादिना जगज्जन्मस्थितिलयाः आनन्देन क्रियन्त इत्युक्त्वा आनन्दो ब्रह्मेति सूचितम् ब्रह्मणः उपादानत्वं च विवर्तोपादानत्वं न तु परिणामित्वं आरम्भकत्वं वा निरवयवत्वात्। निरंशेऽपि विवर्तो दृश्यते आकाशे तल-मलिनतादिकम्। माया तु शक्तिरूपा न शक्तात् पृथक्गणनामर्हति। देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढामिति श्रुतिश्चात्र प्रमाणम्। इयं शक्तिः ब्रह्मणो भिन्नत्वेन वा अभिन्नत्वेन वा सत्त्वेन वा असत्त्वेन वा अनिर्वचनीया। मायामात्र मनिर्वचनीयः—

> **यथोक्तं सघटो न मृदो भिन्नो वियोगे सत्यनीक्षणात्।**
> **नाप्यभिन्नः पुरापिण्डदशायामनवेक्षणात्॥ इति।**

वाचारंभणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यं इति श्रुतिः प्रपञ्चस्यानृतत्वं स्वयमेवाह। तत्र इति-शब्देन कारणमात्रसत्यत्वं बोध्यते। प्रपञ्चस्य असत्यत्वोक्तौ भीताः केचिदिदं वाक्यमन्यथा व्याकुर्वते। अत्र भयस्य हेतुर्नास्ति यतः तन्तवः पटः मृद्घटः सुवर्णं कुण्डलं इत्यभेदमेव व्यवहरामः मृदः इदमवस्थान्तरं यद्घटो नाम यथा देवदत्तस्य बाल्ययौवनादिकं यथा वा तस्यैव प्रसारितपादस्य संकुचितहस्तपादत्वम्। इदानीमपि च एकं रूप्यं इति मुद्राङ्कितं पत्रं मिथ्यारूप्यं रूप्यमिति वदामः। अतो प्रपञ्चमिथ्यात्वे न कोऽपि दोषः। न च मृद्बोधे सति कस्यात्र घटो निवर्तत इति वाच्यं यतो निवर्तत एव सः। यथा दन्तिनि दारुविकारे दारु तिरोभवति। सोऽपि तत्रैव दारुत्वेन ग्रहणे गजोऽपि निवर्तत एव गजबुध्या सह। अतएव शर्करा निर्मितान् गजाद्याकारान् भक्षयन्ति बालाः नायं

गजः शर्करैवैदमिति ब्रुवन्तः। परिणामविवर्तयोरयं विशेषः यत्परिणामे पूर्वरूपं निवर्तते विवर्ते तु न निवर्तत इति। मृदो विज्ञानेन सर्वमृद्विकारज्ञानं तु सर्वेषां मृद्विकाराणां तत्त्वतो ज्ञानादुपपन्नमेव। घटगतमृदंशः सत्यः घटांशस्त्वसत्यः अतो न बोद्धव्यः असत्यत्वात् सच्चिदानन्दांशाः ब्रह्मरूपाः कार्येष्वनुवर्तन्ते सन् घटः भाति घटः प्रियो घट इति।

अत्र च यदनुगतं सच्चिदानन्दरूपं तदेव निरन्तरं ध्येयं यद्व्यावृत्तं नामरूपादिकं तत्रावज्ञा विधेया तच्च ब्रह्माभ्यासात्संपद्यते स च तच्चिन्तनं तत्कथनं अन्योन्यं. तत्प्रबोधनं एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधा इत्युक्तम्। लौकिके बुद्धिरुपेक्षणीया तदैव ब्रह्मचिन्तने निर्विघ्ना प्रवृत्तिः भवेत्।

तृतीयप्रकरणं विद्यानन्दाभिधम्। स च धीवृत्तिरूपश्चतुर्विधः दुःखाभावः कामावाप्तिः कृतकृत्यता प्राप्त प्राप्त व्यतारूपविषयभेदात्।

आत्मानं चेद्विजानीयादम्म्यस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामायशरीरमनुसंज्वरेत्—इति श्रुत्या दुःखाभाव हृन्तः पुण्यपापयोः ज्ञानेन दाहात् तत्कृत सुखदुःख निवृत्तिः—

सर्वका.ाप्तिः सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत्।
सोऽश्नुते सर्वान् समान् सह इति श्रुतिसिद्धा॥

सर्वात्मत्वात् सर्वसुखं युगपदेवानु भवति। दुःखं तु मिथ्या अतो नानुभवति। श्रोत्रियस्य चाकामह तस्येति सर्वेष्वानन्देषु पाठात् सर्वानानन्दाननुभवनीति सिद्धम्। ज्ञानात्पूर्वं बहु कर्तव्यमासीत् ज्ञाने सति परमपुरुषार्थ प्राप्त्या कृतं कृत्यं प्राप्तं प्राप्तव्यम्।

अत्र पञ्चमप्रकरणे विषयानधे विविच्यते। मनसः त्रिगुणात्मकत्वात् सात्विकवृत्तिषु लान्तादिषु आनन्दांशः प्रतिभाति। राजसेषुकामदुः खादिषु घोरेषु न प्रतिबिम्बते मोहभयादिषुतामसेषुसुतराम्। सत्तानु सर्वत्र प्रतिबिम्बते। असत्ता जाड्यं दुःखं च मायारूपाणि असत्ता शशशृङ्गादौ जाड्यं काष्ठादिषु दुःखं लोभादिवृत्तिषु प्रतिबिम्बते सुखं तु सर्वत्र ब्रह्मैव-एतस्यै-उपजीवन्तात्युक्तेः। तत्तद्वस्तुदर्शने तत्र तत्र स्थितं ब्रह्मणो रूपं सत्यज्ञानानन्दात्मकं यथा सम्भवं ध्येयमिति संक्षेपः।

पूज्यःपट्टाभिरामो जयति

रेवाप्रसादद्विवेदी
राष्ट्रपतिसम्मानितोविद्वान्, साहित्यविद्याविभागाध्यक्षः, हिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

१

पूज्यः पट्टाभिरामो जयति बुधवरो यस्य पाण्डित्यसिन्धौ
व्यक्तः सौजन्यसंज्ञः सुरभयति समान् पारिजातो दिगन्तान्।
यस्य प्रज्ञाभिधाने नभसि विलसति न्यायमूर्त्तिर्दिवस्वा-
नेकत्राऽन्यत्र काव्याक्षरममृतरसस्रावि राकेन्दुबिम्बम्॥

२

अप्पय्यस्य द्विरुक्तिर्विबुधमृगपतेर्मल्लिनाथस्य वीप्सा
हेमाद्रेः पौनरुक्त्यं गुरु-कवि-कुटिलापत्यकानां विकल्पः ।
आसेतोरा हिमाद्रेः प्रविततयशसो मण्डनस्यापि पूज्यः
काशीकाञ्ची-समष्टिर्जयति स मतिमान् कोऽपि पट्टाभिरामः ॥

३

श्रीविद्यावारिवस्यं भवति गृहपतिर्यस्य चेतोगृहस्य
श्रीविद्येवास्य दास्यं श्रयति ननु यतः स्वेच्छया स्वैरिणीव ।
श्रीचिन्नस्वामि-विद्या-दुहितृ-पतिरसौ कर्मणि ब्रह्मणीव
प्राज्ञः पट्टाभिरामो विशदयतु दिशामन्तरालं वितानैः ॥

४

आवासे यस्य रात्रिन्दिवमभिचलति ज्ञानसत्रं, महार्हा
ग्रन्था ग्रन्थीन् यतःस्वान् विजहति पुरतः शिष्यकाणां स्वतो हि ।
किं चित्रं तत्र, कीर्णे दिशि दिशि विमले ज्योतिषि स्मेरभावं
स्वैरं सर्वे भजन्ते किमु न सरसिजानामनूहाः समूहाः ॥

५

वाग्देवी यस्य जिह्वामधिवसति रणत्कच्छपी यत्स्वरेण
माधुर्योद्रेकधाम्ना द्रवति रसयितुर्दावलग्नोऽपि भावः ।
गौर्वाणी किं च वाणी परिचरतितरां यस्य गेहे स सूक्ति-
मुक्तानामेकसिन्धुर्जयतु कविपतिः शास्त्रिवर्योऽभिरामः ॥

६

कान्त्या न्यक्कृत-शारदेन्दुमहसो मूर्त्या च दासीकृता-
युग्मेषोः पलितेऽपि यौवनवता सौस्थ्येन शम्भोरिव ।
शृङ्गारे च शमे च तुल्यमनसः पट्टाभिरामस्य को
गाम्भीर्यं कलयेत नो ध्वनिपथे यो लोचनं मोचयेत् ॥

७

उत्कृष्टः कोऽपि वक्ता भवति, भवति वै लेखकः कोऽपि तद्वद्
ग्रन्थार्थे कोऽपि मग्नो भवति, भवति वै कोऽपि सूच्येक-लग्नः ।
पूज्यः पट्टाभिरामस्तदुभय-पदवी-दीक्षितोऽद्यापि सव्य-
साचित्वं सर्वविद्याप्रधनभुवि हृदं काशिकायां वृणीते ॥

८

जाबालेरिव यस्य भट्टभणितिक्षारेऽपि कादम्बरी
स्थेमानं लभतेतरां निवसने पट्टाभिरामं बुधम् ।
तं चेद् भारतवर्षराष्ट्रपतयः संभावयन्ते न
तच्चित्रं पण्डितराजवल्लभतया दिल्ली सदाऽगीयत ॥

देशिकः साक्षात्

पं० प्र० शिवदत्त चतुर्वेदी
साहित्यशास्त्रप्राध्यापक, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी

(१)

मीमांसाकेसरिणं
काव्यसुधासागरायमाणं च ।
पट्टाभिरामशास्त्रिण—
मिह तावत्को न जानाति ॥

(२)

चिन्नस्वामिवराणां
गाम्भीर्यं विद्यते यस्मिन् ।
श्रीमालवीयमनसः
सारल्यं तत्परत्वं च ॥

(३)

ग्रन्थाननेकरूपान्
संग्रथ्नन् यो विशेषतो भाति ।
शिष्यप्रशिष्यनिवहे
विराजितो देशिकः साक्षात् ॥

(४)

ललिता संस्कृतभाषा
विनिर्गता यन्मुखाम्भोजात् ।
सौरभमद्भुतमसमं
विकिरन्ती लक्ष्यते विज्ञैः ॥

(५)

गाम्भीर्यं शास्त्राणां
सारल्ये स्थापयन् महामान्यः ।
पट्टाभिरामवर्यो
रक्षति शास्त्राणि घोरकलिकाले ॥

(६)

अमरगवीसंसेवा-
निरतो नित्यं समेधते विद्वान् ।
तत्र निदर्शनभूतः
सोऽयं साक्षाच्चिरं जयतु ॥

(७)

नित्यप्रसन्नचेताः
कुमारिलो लोक्यते यस्मिन् ।
मम्मटभट्टोऽप्यथवा
काले काले समुन्मिषति ॥

(८)

देशे चाथ विदेशे
कीर्तिर्विपुला विसृत्वरी यस्य ।
आवेदयति नितान्तं
पाण्डित्यं सत्त्वसम्पन्नम् ॥

(९)

सेवा-कार्य-निवृत्ता—
वधिकं संसेव्य शास्त्राणि ।
क्षणमप्येकं नायं
मुञ्चत्यद्यापि संशून्यम् ॥

(१०)

समुपश्लोक्यचरित्र—
स्यैतादृशशास्त्रदक्षस्य ।
पट्टाभिरामवर्यस्ये—
यं प्रणतिः पदाब्जयुगे ॥

शुभाशंसनम्

श्री जगदीश शर्मा, महाराज संस्कृतकालेजस्य भू० पू० साहित्यविभागाध्यक्षः

मीमांसामांसलस्वान्तः साहितीसरसप्रियः ।
अक्षपादपदग्राही कश्चिल्लसति धार्मिकः ॥ १ ॥

शास्त्री पट्टाभिरामश्चतुर्द्धान्वर्थनामकः ।
दक्षिणाशोत्तराशार्थी प्राच्यादिदेशविश्रुतः ॥ २ ॥

बद्धपरिकरस्सोऽयं दैव्या वाचोऽभिवृद्धये ।
प्रचारेऽपि प्रसारेऽस्या विकासेऽप्रतिमाशयः ॥ ३ ॥

गुरुकृपालब्धवर्णो भाषणैर्लेखनैः सदा ।
उद्धर्तुं यततेऽश्रान्तं भारते भारतीमहो ॥ ४ ॥

जीवातवे संस्कृतस्य ग्रन्थोद्धारैकचेतसे ।
अस्मा उत्साहपूर्णाय भद्रं दिश्याद्भवो भवे ॥ ५ ॥

गीर्वाणवाग्विकासे यो गतोऽपि दशमीमलम् ।
प्राणपणैश्च संलग्नः क्रियात्तस्य शिवः शिवम् ॥ ६ ॥

दीर्घायुषा शुभंयुः स्तात्स्वारब्धकार्यधूर्वहः ।
इति प्रार्थयते कश्चि-ज्ज्ञानराशिं सदाशिवम् ॥ ७ ॥

श्रीगुरु-पाद-प्रशस्तिः

श्री रामगोपालशास्त्री, भारती-सम्पादकः जयपुरम्

मीमांसा-न्याय-साहित्य-विद्यासागरमाश्रये ।
यत्प्रसादात्प्रकाशन्ते ज्ञान-रत्नानि मानसे ॥ १ ॥

शास्त्रार्थेषु परान् बुधान्नमयितुं यस्यास्ति शक्तिःपरा,
वाणी यस्य सुधोपमा शमयितुं संसार-दावानलम् ।
काम-क्रोध-मदादिकान् दमयितुं दिव्यो मनस्संयमो
वन्दे तं बुध-वृन्द-वन्द्य-चरणं **पट्टाभिरामं** गुरुम् ॥ २ ॥

सर्वस्वं **विजया** जयं जलधिजा सौभाग्यमार्या सती
वैदुष्यं सुरभारती भजनितां श्रीराजराजेश्वरी ।
यस्मै यच्छति सन्ततं जगति तं शिष्येषु सद्वत्सलं
वन्दे कोविद-वृन्द-वन्द्य-चरणं **पट्टाभिरामं** गुरुम् ॥ ३ ॥

सावित्री हृदि यस्य, मूर्धनि मुदा श्रीशाम्भवी राजते,
पीयूषं सुक्तोपदेशसमये श्रीवैष्णवी वर्षति।
एवं शक्ति-सुसेवितोऽपि सततं सर्वेश्वरे भक्तिमान्
वन्दे तं बुध-वृन्द-वन्द्य-चरणं **पट्टाभिरामं** गुरुम् ॥ ४ ॥

ग्राह्यं विनीतैः सकलार्थदोहं कल्पद्रु-कल्पं गुरुमाश्रये तम्।
यच्छेमुषी-प्राङ्गणमेत्य नूनं **सरस्वती** नृत्यति सावकाशम् ॥ ५ ॥

स्निग्धं स्वशिष्येषु, पदावलीपु श्लिष्टं, विशिष्टं विबुधावलीषु।
हृष्टं सदा, गर्वि-सुधीषु कष्टं ग्रहेषु जीवं गुरुमाश्रयेऽहम् ॥ ६ ॥

लं पृथ्व्यात्मकमर्पयामि विपुले भाले तु गन्धं मुदा
पुष्पं हं गगनात्मकं सुरभितं दिव्यं मया कल्पितम्।
धूपं घ्राण-सुखावहं सुमनसां यं वायुरूपं तथा
दीपं रं ज्वलनात्मकं **वममृतं** नैवेद्यमाविष्कृतम् ॥ ७ ॥

एवं मानस-कल्पितां सुललितां पञ्चोपचारार्चनां
स्वान्तस्थामिह भक्ति-भाव-भरितां श्रीमद्गुरो ! स्वीकुरु।
शृण्वन् ऐं गुरवे नमोऽस्त्विति महामन्त्रं मयोच्चारितं
शिष्यं तेऽनुगृहाण पाद-पतितं भक्त्येदमावेदये ॥ ८ ॥

श्रीसर्वेश्वर-पाद-पद्म-कृपया पूर्णे महीमण्डले
सद्धर्मं श्रुति-संमतं ह्युपदिशन् जीव्याच्चिरं श्रेयसे।
इत्येवं हृदयेन सर्वजगतामीशं मुदा प्रार्थयन्
श्रीमत्सद्गुण-गान-पूत-रसनं धन्यं हि मन्ये जनुः ॥ ९ ॥

आचार्यः श्रीपट्टाभिरामशास्त्रिमहाभागः सादरमभिनन्द्यते

श्री दीनानाथत्रिवेदी मधुपः, भारती–प्रधानसम्पादकः जयपुरम्

लोकाभिरामं श्रीरामं नत्वा भक्त्या नमाम्यहम्।
बुधाभिरामं श्रीमन्तं **पट्टाभिरामशास्त्रिणम्** ॥ १ ॥

मनसा कर्मणा वाचा संस्कृतस्याभिवृद्धये।
यतमानः सदा वन्द्यो मीमांसान्यायकेसरी ॥ २ ॥

योगे वैदिकसाहित्ये मीमांसादर्शने तथा।
प्रकाण्डपण्डितः सोऽयं संस्कृतोद्धारतत्परः ॥ ३ ॥

ग्रामे मद्रासप्रान्तस्य पैलशूराभिधे शुभे।
वत्सरे च तथा ख्रैष्टे वसुखग्रहभूमिते ॥ ४ ॥

श्रीमानाचार्यवर्यः श्रीपट्टाभिरामपण्डितः ।
अभिजातः शुभे लग्ने विविधोपाधिमण्डितः ॥ ५ ॥

छात्राध्यापनकर्मणि स्वसमयो येन प्रयुक्तो मुदा
सम्यग् येन सरस्वती भगवती भक्त्या समाराधिता ।
लोके संस्कृतसेविनां मतिमतां लाभाय ये शास्त्रिणा
सद्ग्रन्था लिखिताश्च तेऽस्य विदुषः पाण्डित्यप्रख्यापकाः ॥ ६ ॥

प्रौढो दार्शनिकः सुलेखनकलादक्षः सुवक्ता च यः,
मूर्द्धन्यो विदुषाञ्च शासकवरो यः 'शास्त्ररत्नाकरः' ।
मीमांसाप्रचुरप्रचारनिपुणः साहित्यकारो महान्
सोऽयं शास्त्रिवरः सदा विजयते विद्वत्प्रियः पण्डितः ॥ ७ ॥

अत्र संस्कृत-कॉलेजे प्राचार्यपदसंस्थितः ।
प्रदेशेषु विभिन्नेषु विश्वविद्यालयेष्वपि ॥ ८ ॥

समुन्नतपदारूढः श्रीमान् शास्त्रिवरः सदा ।
संस्कृतं सेवमानोऽयं स्तूयते सूरिभिर्मुदा ॥ ९ ॥

येन संस्कृतसंसारो भवत्युपकृतोऽधुना ।
प्रसादात् श्रीहरेः सोऽयं शास्त्रिवर्यः प्रमोदताम् ॥ १० ॥

दर्शनशास्त्रतत्त्वज्ञो विद्यावारिधिमण्डितः ।
परया श्रद्धया सोऽयं पण्डितेन्द्रोऽभिनन्द्यते ॥ ११ ॥

गुरु-वन्दनम्

श्री गिरिजाप्रसादः शर्मा गिरिशः, जयपुरम्

१

दिव्या तनुर्नवनलक्षसुधाऽवदाता भस्मत्रिपुण्ड्रललितं विशदं च भालम् ।
लोकाब्धिपीत-निभ-दिव्य-पदाब्जयुग्मम् चैकं शिवाय किमु यत्र समस्तमेतत् ॥

२

माता प्रसूय, परिपाल्य पिता च पुत्रं संसार-कर्म परिपूर्तितटं प्रयातः ।
आजीवनं समुदितो हृदि दिव्यरूपो नाऽयं क्षणाद् विरतिमेति गुरुप्रकाशः ॥

३

जन्होः सुता हिमगिरेरुदधिं प्रयाति प्राच्याः समेति दिननाथविभा प्रतीचीम् ।
शास्त्रोदधेर्घनघनत्वमुपेत्य लोके सर्वत्र मे गुरुमतिः प्रतनोति वृष्टिम् ॥

४

मृद्वीक-मध्य-मधुरा सरसा श्रुतीनाम् पीयूष-पूर्ण-पुटकैः परिपीयमाना ।
जन्मद्वयोद्धृतिकरी गुरुवागियं वः श्रेयोविधानमहिता भविकाय भूयात् ॥

५

मीमांसामुदिता तथा कुसुमिताः साहित्यसत्सम्पदो
न्यायो वृद्धिमुपागतः सुमहितां, वेदाः प्रकाशं गताः ।
शास्त्राणामवरुद्धता विगलिता, मोहं गता कुण्ठता
सम्प्राप्यामरतुल्यविग्रहधरान्, "पट्टाभिरामान् गुरून्" ॥

६

विद्याऽभिरामं हृदयाऽभिरामम्, कृपाऽभिरामं वपुषाऽभिरामम् ।
शिवाऽभिरामं नयनाऽभिरामम् "पट्टाऽभिरामं" हृदि चिन्तयामि ॥

७

मरन्द-भरितः स्वल्पः, भावानां कुसुमाञ्जलिः ।
समर्प्यते मया भक्त्या पाद-पद्मेषु ते गुरो ॥

अष्ट-पदी

श्री प्यारेमोहन शर्मा प्राध्यापकः, महाराज संस्कृतमहाविद्यालयः उदयपुरम्

१

भालत्रिपुण्ड्रेण शिवायितोऽपि, श्रीशायितश्चन्द्रमरीचिगौरः ।
ब्रह्मायितो वेदनिधिर्वरेण्यो, गुरुस्त्रिमूर्तिर्वरदोऽस्तु भूत्यै ॥

२

मुक्तावदाता सरसाससारा, श्रेयः सवित्रीश्रुतिसागरस्य ।
वाणी वरेण्या नु मुदे न कस्य, पुनाति पूतानपि पावनी या ॥

३

दिव्या तनुः स्निग्धदृशो यदीया, मृद्वीकमृद्व्यश्च गिरः पुनीताः ।
सत्त्वप्रधानाश्च धियः प्रशान्ता विभूतयः सन्तु शिवाः समग्राः ॥

४

साहित्यसंसारसुमप्रकर्षः, षड्दर्शनाम्भोनिधितुङ्गदर्पः ।
स केशरीवाद्य विभाति लोके, मीमांसकोऽशेषगुणप्रहर्षः ॥

५

साहित्ये मदनायितो मृदुतरः, सारो रसानामिव,
प्रोद्यत्तिग्मकरप्रहर्षमहितः सूर्यायितो दर्शने ।
मीमांसामृतसिन्धुगर्भललितो यो मन्दरत्वं गतः,
सोऽयं मेऽस्तु विभूतिदो गुरुवरः, पट्टाभिरामः सुधीः ॥

६

कालेजेऽत्र सुरोपिता जयपुरे गीर्वाण-भाषामये
सौम्या मुग्धधियस्तथा सुलघवो ये पादपाः साम्प्रतम् ।
पुष्पौघः प्रमदामरन्दललिताः पुष्पैः फलैर्लालिता-
स्तुन्वन्त्यत्र सदैव जीवनप्रदं पट्टाभिरामं गुरुम् ॥

७

नमन्ते नेतारो, निखिलनिगमाख्यानकुशलम्,
तथा शिष्याः स्तुत्यं, तुहिनकरतुल्यं गुरुवरम् ।
वरेण्या विद्वांसो,, यजनविधिविज्ञं सुरपतिम्
प्रकल्प्य ध्यायन्ते शिवमिव तपोमूर्तिममलम् ॥

८

रूपाभिरामं वचसाभिरामं ज्ञाने विरामं च दयाभिरामम् ।
तं राष्ट्रवन्द्यं प्रणमामि दिव्यं पट्टाभिरामं परिपूर्णकामम् ॥

विशिष्टछात्राणां कतिपयानां परिचयः

(वाराणसी)

१. डॉ० गजानन शास्त्री

अयं महाराष्ट्राभिजनः व्याकरणे काव्येषु च व्युत्पन्नो यथाविधि मीमांसाशास्त्रमधीत्य मीमांसाचार्यपदवीं प्राप्य तत्र तत्राध्यापनकार्यं सम्पादयन् अन्ते हिन्दूविश्वविद्यालये मीमांसाविभागाध्यक्षपदमलङ्कृत्य गृहीतविश्रामः सम्प्रति विविध-ग्रन्थसम्पादनलेखनादिशैक्षणिककार्ये व्यापृतः काश्यां निवसति ।

२. पं० बुद्धिसागरः

अयं नेपालाभिजनः । सक्रमं मीमांसाशास्त्रमधीत्य मीमांसाचार्यं परीक्षामुत्तीर्य काठमाण्डूनगरे अभिलेखालया-ध्यक्षपदे (मातृकापुस्तकालयाध्यक्षपदे) ग्रन्थप्रकाशनादिकार्याणि सम्पाद्य सम्प्रति गृहीतविश्रामो नेपाले तिष्ठति ।

(जयपुरम्)

३. देवर्षि श्रीकलानाथ भट्टः साहित्याचार्यः एम्० ए०

अयं कविशिरोमणीनां विद्वच्चक्रचूडामणिरश्मिरञ्जितचरणनखमयूखानां जगति लब्धप्रतिष्ठानां श्रीमथुरानाथ भट्टमहोदयानां सुपुत्रः संस्कृतते हिन्दीसाहित्ये च गंभीरं पाण्डित्यमावहन् सम्प्रति जयपुरे राजस्थानशासनस्य भाषाविभागस्य निदेशकपदं भूषयन् संस्कृताभ्युन्नतये सततं प्रयतमानो वर्तते ।

४. डॉ० मण्डनमिश्रः

यथाक्रमं जयपुरमहाराजसंस्कृतमहाविद्यालये मीमांसामधीत्य तत्राचार्यपदवीं प्राप्य तत्रैव विद्यालये प्राध्या-पकपदे कानिचन वर्षाणि स्थित्वा 'मीमांसादर्शनम्' इत्यनुसन्धानात्मकग्रन्थप्रणयनद्वारा पी० एच० डी० उपाधि-मवाप्य, जयपुरं परित्यज्य दिल्लीनगरे राजधान्यां श्री लालबहादुरशास्त्रिणां साहाय्येन संस्कृतविद्यापीठं संस्थाप्य तत्र निदेशकरूपेण साधु कार्याणि सम्पादयन् भारतराष्ट्रसर्वकारसाहाय्येन पुरी जगन्नाथ-जम्मूकाश्मीर-प्रयाग-तिरुपति, गुरुवात-पुरप्रभृतिषु स्थानेषु विद्यापीठस्थापनाय प्रयासं विधाय सम्प्रति दिल्लीनगर एव 'श्रीलालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रियसंस्कृत-विद्यापीठस्य' अध्यक्षपदे स्थित्वा संस्कृतोन्नत्यौपयिकानि ग्रन्थप्रकाशनादिविविधकार्याणि कुर्वन्नास्ते ।

५. डॉ० रामनारायण चतुर्वेदी

जयपुरमहाराजसंस्कृतमहाविद्यालयात् पं० केदारनाथ ओझा महोदयसकाशात् व्याकरणशास्त्रं सम्यगधीत्य तत्र तलस्पर्शिपाण्डित्यः व्याकरणाचार्यपरीक्षामुत्तीर्य पं० पट्टाभिरामशास्त्रिणां सकाशे मीमांसां यथावदधीत्य मीमांसाचार्य-वेदाचार्यपदवीमवाप्य सम्प्रति राजस्थानसंस्कृतशिक्षानिदेशककार्यं निर्वहन् जयपुरेऽस्ति ।

६. डॉ० पं० शिवदत्त चतुर्वेदी–साहित्याचार्यः

राजस्थानाभिजनः विमलेन्दुकुन्दकुमुदप्रस्पर्धिसत्कीर्तीनां व्याख्यानवाचस्पतीनां नैकविषग्रन्थप्रणेतॄणां म० म० गिरिधरशर्ममहोदयानामात्मजः सक्रमं सश्रमञ्चालङ्कारशास्त्रमधीत्य सम्प्रति हिन्दू विश्वविद्यालये संस्कृतमहाविद्यालये साहित्या-ध्यापनं कुर्वन् कविताकलायां नैपुण्यञ्चावहन् वाराणस्यां निवसति ।

७. पं० रामगोपालशास्त्री

अयं राजस्थानाभिजनः जयपुरमहाराज संस्कृतमहाविद्यालये पं० पट्टाभिरामशास्त्रिणां सकाशात् साहित्यालङ्कार-शास्त्रमभ्यस्य प्राप्तसाहित्याचार्यविरुदः, तत्रैव विद्यालये साहित्यमध्यापयन् सम्प्रति प्राप्तविश्रामो जयपुरे निवसति ।

८. श्री नाथूराम मधुकरशास्त्री

राजस्थानाभिजनोऽयं जयपुर संस्कृतमहाविद्यालये सक्रमं मीमांसाविद्यामवाप्याचार्यपरीक्षामुत्तीर्य सम्प्रति कोटा-नगरे पुरातत्त्वप्रकाशनकार्यालयाध्यक्ष्यं निर्वहन्नस्ति ।

९. पं० वेणीमाधवशर्मा, मीमांसाचार्यः

अयं जयपुरवास्तव्यः पण्डितप्रकाण्डनां श्री गोपीनाथधर्माधिकारिणामात्मजः, मीमांसाशास्त्रं सश्रममधीत्य सम्प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान अलवरुशाखाया आध्यक्ष्यं करोति ।

(कलकत्ता नगरी)

१०. टि० वेङ्कटाचार्यः

अयं दक्षिणभारताभिजनः आङ्गलविद्यया सह व्याकरणे साहित्ये च वैदुष्यमवाप्य कलकत्ताविश्वविद्यालये मीमांसा-श्रेणीम्प्रविश्य मीमांसाशास्त्रं सश्रममधीत्य एम० ए० परीक्षायामार्हन्तीमवाप्य गोहाटी इटली विश्वविद्यालयेषु छात्रान् सम्यगध्याप्य सप्रति केनडादेशे 'टोरण्टो' विश्वविद्यालये प्राध्यापकपदे वर्तमानः विविधान् ग्रन्थान् प्रकाशयन् अनुसन्धानात्मक-लेखांश्च लिखन् विदेशेषु संस्कृतं प्रचारयन् वर्तते ।

११. डॉ० वाचस्पत्युपाध्यायः

अयमुत्तर भारताभिजनः कलकत्ताविश्वविद्यालये सक्रमं मीमांसामधीत्य तत्र एम० ए० परीक्षामुत्तीर्य नैकविधान् लेखान् ग्रन्थांश्च प्रकाशयन् सम्प्रति दिल्लीविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे रीडरपदमधितिष्ठन् संस्कृताभ्युन्नतये यतमानोऽस्ति ।

१२. डॉ० भवानीप्रसादभट्टाचार्यः, एम्० ए०

वङ्गप्रान्तीयोऽयं सश्रमं वेदविभागं प्रविश्य कलकत्ताविश्वविद्यालयतो एम्० ए० परीक्षामुत्तीर्याश्वलायनश्रौत-सूत्रमवलम्ब्यानुसन्धानात्मकनिबन्धलेखनेन पी० एच्० डी० उपाधिमवाप्य सम्प्रति यादवपुरविश्वविद्यालये संस्कृतविभागे रीडरपदे तिष्ठन् लेखनकार्येष्वपि संल्लग्नो वर्तते ।

१३. डॉ० गोपालनाथभट्टाचार्यः एम्० ए०

वङ्गदेशाभिजनोऽयं कलकत्ताविश्वविद्यालयतः मीमांसायां वेदे च परिश्रम्य एम्० ए० परीक्षामुत्तीर्यानुसन्धाना-त्मकनिबन्धलेखनद्वारा पी० एच्० डी० उपाधिमवाप्य सम्प्रति वर्धमानविश्वविद्यालये रीडरपदमधितिष्ठन् अध्यापनकार्ये निरतोऽस्ति ।

१४. डॉ० रवीन्द्रनाथभट्टाचार्यः एम्० ए०

अयमपि वङ्गदेशाभिजनः मीमांसां सम्यगधीत्य कलकत्ताविश्वविद्यालयतः एम्० ए० परीक्षायां साफल्यमवाप्य 'अर्थवाद' विषयेऽनुसन्धानात्मकनिबन्धद्वारा पी० एच्० डी० इत्युपाधिमवाप्य सम्प्रति कूचबिहारे राजकीयमहाविद्यालये प्राध्यापकपदे तिष्ठति ।

१५. डॉ० समीरणभट्टाचार्य, एम्० ए०

अयमपि वङ्गीयो मतिमान् वेदविभागे प्रविश्य सम्यगधीत्य परीक्षायामार्हन्तीमवाप्य पी० एच्० डी० उपाधि-मवाप्य सम्प्रति कलिकातायां रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालयेऽध्यापयति ।

१६. डॉ० अमरकुमारभट्टाचार्यः एम्० ए०

अयं वेदविभागे समधीत्य एम० ए० परीक्षामुत्तीर्य कलिकातायाम् आशुतोषकालेज इत्यत्र प्राध्यापकपदमधितिष्ठन् श्रौतस्मार्तकर्मणां स्वरूपं छात्रेभ्यो बोधयन् अनुसन्दधानो वर्तते ।

१७. डॉ० व्रजबिहारी एम्० ए०

सश्रमं वेदान्तं मीमांसाञ्चाधीत्य परीक्षास्वार्हन्तीमवाप्य सम्प्रति कलकत्ताविश्वविद्यालय एवाध्यापयन्नास्ते ।

१८. डॉ० गौरी चौधरी एम० ए०

कलकत्ताविश्वविद्यालयत एव वेदविभागे प्रविश्य सश्रमं संहिताब्राह्मणानि श्रौतसूत्राणि चाधीत्य सम्प्रति 'लेडी ब्रिमन कालेज' इत्यत्राध्यापयन्ती वर्तते ।

१९. डॉ० विमलकृष्णमतिलालः

वङ्गदेशाभिजनः कलिकाताविश्वविद्यालये न्यायशास्त्रे सुमहद्वैदुष्यमवाप्य सम्प्रति लन्दननगरे अक्सफर्डविश्वविद्यालयेऽध्यापयन् लन्दननगरे निवसति ।

२०. डॉ० मुकुन्दमाधवशर्मा

कलकत्ताविश्वविद्यालये सश्रमं विद्यामभ्यस्य सम्प्रति गोहाटी विश्वविद्यालये संस्कृतविभागस्याध्यक्षपदं भूषयन्, विविधग्रन्थान् सम्पादयन् संस्कृतोन्नतये सुभृशं परिश्राम्यंश्च वर्तते ।

(वाराणसी)

२१. पं० जगतनारायणपाण्डेयः

सं० सं० विश्वविद्यालयात्साहित्याचार्यपरीक्षामुत्तीर्य सम्प्रति रणवीरसंस्कृतविद्यापीठे जम्मूनगरेऽध्यापयति ।

२२. पं० रामतीर्थः साहित्याचार्यः

अयं सश्रममलङ्कारशास्त्रमधीत्य मुमुक्षुभवनपाठशालायामध्यापयन् ततस्सम्प्रति केन्द्रियसंस्कृतविद्यापीठे पुरीनगरेऽध्यापयन्नस्ति ।

२३. पं० शिवजी उपाध्यायः साहित्याचार्यः

अयं कविताशक्तिसम्पन्नस्सम्प्रति सं० सं० विश्वविद्यालय एव साहित्यमध्यापयन्नस्ति ।

२४. डॉ० प्रियतमचन्द्रशास्त्री साहित्याचार्यः

काश्मीराभिजनोऽयं सं० सं० विश्वविद्यालये साहित्यं सम्यगधीत्य कविवरविल्हणविषयेऽनुसन्धाननिबन्धलेखनद्वारा विद्यावारिध्युपाधिमवाप्य सम्प्रति जम्मूस्थ रणवीरसंस्कृतविद्यापीठेऽध्यापयन्नास्ते ।

२५. पं० श्रीराममिश्रः साहित्याचार्यः

अयं साहित्ये सम्प्राप्तवैदुष्यः सङ्गीतकलामप्यभ्यस्य सम्प्रति गङ्गानाथ झा केन्द्रियविद्यापीठे प्रयागनगरे कार्यं कुर्वन्नास्ते ।

२६. कुमारी हेमाकृष्णन् एम्० ए०

साहित्येऽलङ्कारग्रन्थानधीत्य तत्र सम्प्राप्तवैदुष्या सम्प्रति वाराणस्यामेव 'वसन्त कन्याविद्यालये राजघट्टस्थेऽध्यापयन्त्यस्ति ।

27. ELLIOL–M. Stern.

4427 Cesage Anemue Apt. D. Phisadelfhie Ph. 19104 America

अयममेरिकाभिजनः दक्षिणभारतीयतमिलभाषायां हिन्दीभाषायाञ्च परिचयमवाप्य पट्टाभिराम शास्त्रिभ्यः मीमांसाशास्त्रप्रकरणग्रन्थानधीत्य सम्प्रति विधिविवेकग्रन्थस्याङ्गलभाषयाऽनुवादं कुर्वन् स्वदेशे निवसति ।
